हिन्दी व्या॰रण का इतिहास

लेखक

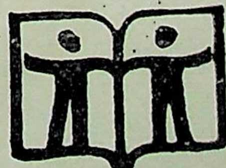
डॉ० अनन्त चौधरी
एम० ए० डी० लिट्-)
ी विभाग, पटना कालेज
ना विश्वविद्यालय, पटना



बिहार हिन्दी ग्रन्थ अक
पटना - ३



हिन्दी व्याकरण का इतिहास



अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष १९७२

हिन्दी व्याकरण का इतिहास

लेखक

डॉ० अनन्त चौधरी

(एम० ए०, डी० लिट्)

हिन्दी विभाग, पटना कॉलेज

पटना विश्वविद्यालय, पटना



बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

पटना-३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण-योजना के अन्तर्गत भारत सरकार
(शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय) के शत-प्रतिशत
अनुदान से बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशित ग्रन्थ संख्या : ३४

प्रथम संस्करण : १९७२
३,०००

मूल्य : छात्र संस्करण : २३·०० (तेईस रुपए)
पुस्तकालय संस्करण : २७·०० (सत्ताइस रुपए)

प्रकाशक :
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना-३

श्री देवेन्द्रनाथ मिश्र द्वारा
युगान्तर प्रेस, पटना-४ में मुद्रित

प्रस्तावना

शिक्षा-सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अँगरेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केन्द्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिन्दीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अन्तर्गत प्रकाश्य ग्रन्थों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ "हिन्दी व्याकरण का इतिहास" डॉ० अनन्त चौधरी की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण मन्त्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रन्थ विश्वविद्यालय-स्तर के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन-सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

पटना
१७-७-७२

अध्यक्ष
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी



प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ "हिन्दी व्याकरण का इतिहास" पटना कॉलेज के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डॉ० अनन्त चौधरी की मौलिक कृति है। डॉ० चौधरी एक अनुभवी लेखक तथा विद्वान् हैं। आशा है; यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य युगान्तर प्रेस, पटना-४ ने किया है। इसके आवरण-शिल्पी श्री बी० के० सेन हैं तथा प्रूफ-संशोधक श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव हैं। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

शिवचन्द्रप्रसाद

निदेशक
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

पटना
१७-७-७२

समर्पण

पूज्यचरण :

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० बाबूराम सक्सेना,

आचार्य देवेंन्द्रनाथ शर्मा, डॉ० उदयनारायण तिवारी

एवं

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

को

सादर-सश्रद्ध-सभक्ति

—अनन्त चौधरी

लेखकीय वक्तव्य

हिन्दी-व्याकरण का इतिहास अद्यावधि एक उपेक्षित विषय रहा है, जबकि हिन्दी में भाषा एवं साहित्य से लेकर साहित्य की गौण से गौण विधाओं तक के इतिहास लिखे जा चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी के उसी अभाव की पूर्त्ति की दिशा में किया गया एक प्रारम्भिक प्रयास है।

इस विषय पर, जॉर्ज ग्रियर्सन के 'भाषा-सर्वेक्षण' में तथा पं० किशोरीदास वाजपेयी-कृत 'हिन्दी-शब्दानुशासन' के अन्तर्गत डॉ० श्रीकृष्ण लाल द्वारा लिखित 'प्रकाशकीय वक्तव्य' में प्राप्त कुछ सूचनाओं के अतिरिक्त, अन्यत्र कोई भी सामग्री उपलब्ध न होने के कारण, यह कार्य मेरे लिए पर्याप्त श्रमसाध्य एवं व्ययसाध्य प्रमाणित हुआ है। हिन्दी के प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों की तलाश में मुझे अनेकानेक स्थानों की एकाधिक बार यात्रा करनी पड़ी है। उस क्रम में, देश के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में, हिन्दी के अनेक दुर्लभ प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों को मैंने जैसी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में देखा है तथा जिन कठिनाइयों के साथ उनका उपयोग किया है, उन अनुभवों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि कुछेक वर्षों में ही उनमें से अधिकांश का कहीं अस्तित्व भी शेष नहीं रहेगा, जबकि अनेक पहले ही लुप्त हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्बन्ध में मेरा यह दावा नहीं है कि इसमें हिन्दी के प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक सभी व्याकरण आ ही गये हैं। निश्चय ही, इसमें वे सारे व्याकरण-ग्रन्थ एवं वैयाकरण अनुल्लिखित रह गये होंगे, जिनकी सूचना मुझे नहीं मिल पायी। इस या ऐसी अन्य भूल-चूकों का यथासाध्य सुधार अगले संस्करण में ही सम्भव हो सकेगा।

सामग्री-सङ्कलन के लिए मैंने देश के जिन-जिन पुस्तकालयों का उपयोग किया, उनमें नागरी-प्रचारिणी सभा काशी तथा राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि हिन्दी के अधिकांश दुर्लभ व्याकरण मुझे इन्हीं दो स्थानों में मिले। 'नागरी-प्रचारिणी' में श्री सुधाकर पाण्डेय जी ने मुझे जो स्नेहपूर्ण सहयोग एवं सहायता दी, उसे भूल पाना कठिन है।

ग्रन्थ का समर्पण देश के जिन पाँच महान भाषाशास्त्रियों के नाम किया गया है, उनमें से प्रत्येक मेरे भाषा-ज्ञान के गुरु रहे हैं। मित्रों में डॉ० गोपाल

राय, डॉ० शोभाकान्त मिश्र, प्रो० पद्मनारायण तथा डॉ० काशीनाथ मिश्र का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनके बहुविध सहयोग तथा अमूल्य सुझावों से मैं सदा उपकृत होता रहा हूँ।

ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन में 'बिहार-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी' के विद्वान निदेशक डॉ० शिवनन्दन प्रसादजी से मुझे आद्यन्त जो सौहार्दपूर्ण सहयोग एवं उपयोगी परामर्श मिलते रहे, उसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ और रहूँगा। सुहृद्वर पण्डित श्री रञ्जन सूरिदेव जी ने प्रूफ-संशोधक के रूप में, श्री जानकी जीवन जी ने टङ्कक के रूप में, युगान्तर प्रेस के सञ्चालक श्री देवेन्द्र नाथ मिश्र जी ने मुद्रक के रूप में तथा उनके कर्मचारी श्री सुग्रीव सिंह जी ने प्रधान संग्रथक के रूप में मेरे लिए जो कठिनाइयाँ झेली हैं, तदर्थ मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ।

ग्रन्थ की वर्तनी, उद्धरणों को छोड़कर, प्रायः मेरी अपनी मान्यताओं के अनुरूप है, जो अकादमी की मान्य वर्तनी से किञ्चित् भिन्न है। इस विषय में लेखक के हठाग्रह को मान्यता देकर अकादमी के अधिकारियों ने निश्चय ही विद्वज्जनोचित उदारता का परिचय दिया है, जिसके लिए उन्हें शतशः धन्यवाद।

—अनन्त चौधरी

हिन्दी विभाग
पटना कॉलेज
पटना विश्वविद्यालय
पटना, २५ जुलाई, १९७२ ई०

विषय-सूची

पूर्वस्रोत

(१—१५३)

विषय — पृष्ठ

सामान्य परिचय — १

संस्कृत व्याकरण शास्त्र की परम्परा — [२–६४]

उद्भव एवं विकास के कारण : — २–४

[प्राकृतिक कारण २–३, धार्मिक कारण ३, सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक कारण ३–४]

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का उद्भव : — ४–२०

[भारतीय मत ४–७, पाश्चात्य मत ७–९, पदपाठ ९–१०, शिक्षा १०–१२, प्रातिशाख्य १२–१५, निघण्टु १५, निरुक्त १५–१९, उपसंहार १९–२०]

पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण : — २०–३७

अष्टाध्यायी में अनुल्लिखित आचार्य : — २१–३३

[ब्रह्मा २१, शिव २१-२३, बृहस्पति २३–२४, इन्द्र २४–२६, वायु २६, भरद्वाज २६–२७, भागुरि २७, पौष्करसादि २८, चारायण २८, काशकृत्स्न २८–२९, शन्तनु २९-३०, वैयाघ्रपद्य ३०, माध्यन्दिनि ३०–३१, रौढि ३१, शौनकि ३१–३२, गौतम ३२, व्याडि ३२–३३]

अष्टाध्यायी में उल्लिखित आचार्य : — ३३–३७

[आपिशलि ३३, काश्यप ३३–३४, गार्ग्य ३४, गालव चाक्रवर्मण ३४–३५, भारद्वाज ३५, शाकटायन ३५, शाकल्य ३६, सेनक ३६, स्फोटायन ३६–३७]

विषय	पृष्ठ
संस्कृत व्याकरण शास्त्र का विकास :	३७–९४
आचार्य पाणिनि :	३७–४५
[परिचय ३७, नाम (दाक्षीपुत्र २७–३८, शालातुरीय ३८–३९, शालङ्कि, ३९, आहिक ४०, पाणिन ४०, पाणिनेय ४०, पणिपुत्र ४१, पाणिनि ४१,), जीवन ४१–४३, काल ४३–४५]	
पाणिनि का महत्त्व :	४५–५१
पाणिनीय सम्प्रदाय :	५१–६७
वार्तिककार ५१–५४, [वार्तिक ५१, वार्तिककार कात्यायन ५२–५४]	
भाष्यकार ५४–५७, [पतञ्जलि और उनका महाभाष्य ५४–५७]	
टीकाकार ५८–६४, [अष्टाध्यायी के टीकाकार ५८-६०, महाभाष्य के टीकाकार ६०–६४, भर्तृहरि ६१–६२, कैयट ६२–६३, नागेश भट्ट ६४]	
प्रक्रियाकार एवं कौमुदीकार :	६४–६७
पाणिनीयेतर सम्प्रदाय :	६७–९४
विख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय :	६९–९०
[कातन्त्र सम्प्रदाय ६९–७२, चान्द्र सम्प्रदाय ७२–७६, जैनेन्द्र सम्प्रदाय ७६–७८, शाकटायन सम्प्रदाय ७९-८१, भोजदेव सम्प्रदाय ८१–८२, हेम सम्प्रदाय ८२–८४ सारस्वत सम्प्रदाय ८४–८६, बोपदेव सम्प्रदाय ८६–८८, जौमर सम्प्रदाय ८८–८९, सौपद्म सम्प्रदाय ८९–९०]	
अख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय :	९०–९२
[क्षपणक ९०, वामन ९०–९१, भट्ट अकलङ्क ९१, शिवस्वामी ९१–९२, बुद्धिसागर सूरि ९२, भद्रेश्वर सूरि ९२]	

विषय **पृष्ठ**

गौण पाणिनीयेतर सम्प्रदाय : ९२–९४

हरिनामामृत सम्प्रदाय ९३, प्रबोध प्रकाश सम्प्रदाय ९३, अन्यान्य व्याकरण ग्रन्थ ९४]

प्राकृत, पालि एवं अपभ्रंश व्याकरण की परम्परा [९५–११३]

सामान्य परिचय : ९५–९६

प्राकृत के आदि वैयाकरण : ९६–९९

प्राकृत के प्रमुख वैयाकरण : ९९–१०८

[वररुचि ९९, चण्ड १००–१०१, पुरुषोत्तम १०१–१०२, हेमचन्द्र १०२–१०३, क्रमदीश्वर १०३–१०४, त्रिविक्रम देव १०४–१०५, सिंहराज १०५, लक्ष्मीधर १०६, अप्पय दीक्षित १०६, मार्कण्डेय १०६–१०८, रामतर्क वागीश १०८]

प्राकृत के अल्पख्यात वैयाकरण : १०८

पालि के वैयाकरण : १०८–११०

[कच्चायन १०९, मोग्गलायन १०९, अग्गवंश १०९-११०]

अपभ्रंश के वैयाकरण : ११०–११३

पाश्चात्य व्याकरण शास्त्र की परम्परा [११४–१५३]

आदि काल : ११४–११९

मध्य काल : ११९–१२६

आधुनिक काल : १२७–१५३

[१९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध १२७–१३५, १९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध १३५–१४०, १९वीं शताब्दी का अन्तिम चरण : नव्य वैयाकरण काल १४०–१४५, २०वीं शताब्दी : (१९०१ ई०–१९२८ ई०) १४५–१५०, वर्णनात्मक भाषाविज्ञान-काल : (१९२८ ई० से वर्तमान समय तक) १५०–१५३]

हिन्दी-व्याकरण का इतिहास

(१५४–६७६)

विषय	पृष्ठ
पूर्वलेखक	१५४–१५५
काल-विभाग	१५५–१५७

आरम्भ काल

(सन् १६७६–१८८५ ई०)

सामान्य परिचय	१५८–१६२
विवेच्य युग में हिन्दी की स्थिति	१६२–१६३
शिक्षा में हिन्दी	१६३–१६८
शासन में हिन्दी	१६८–१७२
आरम्भ-काल के वैयाकरण और उनके व्याकरण :	
जोहन जोशुआ केटेलर	१७३–१८५
बेञ्जामिन शुल्जे	१८५
जॉर्ज हाडले	१८५–१८६
जॉन फरगूसन	१८५–२१३
जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट	२१३–२२२
हेरासिम लेवडेफ	२२२–२२३
रोएबक	२२३
जॉन शेक्सपियर	२२३–२२६
विलियम येट्स	२२६
एम्० टी० आदम	२२६–२२७
विलियम एण्ड्रिउ	२२७
सैण्डफोर्ड आर्नोट	२२७–२३१

विषय	पृष्ठ
जोसेफ हेलिओडोर गार्सां द तासी	२३१
जेम्स आर० बैलेण्टाइन	२३२
डङ्कन फोर्बेस	२१२–२३५
ई० बी० इस्टविक	२३५
जे० डेटलो प्रोखनो	२३५
अलेग्जेण्डर फॉकनर	२३५

विकास-काल

(सन् १८५५–१८७६ ई०)

सामान्य परिचय	२३८–२४३
हिन्दी की स्थिति	२४३–२४४

विकास-काल के प्रमुख वैयाकरण :

पं० श्रीलाल	२४४–२६५
पं० रामजसन	२६५–२६७
मुंशी गुलाम मुहम्मद	२६८
हैदर जङ्गबहादुर एम० आर० ए० एस०	२६८–२७०
सर मोनियर विलियम्स	२७०–२७१
नवीनचन्द्र राय	२७१–२७२
शीतलप्रसाद गुप्त	२७२–२७३
विलियम एथरिङ्गटन	२७३–२९४
पण्डित हरिगोपाल पाध्येय	२९४–२९५
भैरवप्रसाद मिश्र	२९५
जॉन डाउसन, एम० आर० ए० एस०	२९५–२९८
जॉन बीम्स	२९८–३०६
ए० एफ्० रुडोल्फ हॉर्नली	३०६–३११

विषय	पृष्ठ
दामोदर शास्त्री	३११–३१४
पेञ्जोनी विकारिओ	३१४
जॉन टी० प्लाट्स	३१४–३१५
राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द	३१५–३३१

उत्थान-काल

(सन् १८७६–१९२० ई०)

सामान्य परिचय	३३२–३३३
शिक्षा की स्थिति	३३३–३३४
हिन्दी की स्थिति	३३४–३३५
कचहरी और कार्यालय	३३५–३३७
साहित्य	३३७
हिन्दी-उर्दू-व्याकरण	३३७–३३८
हिन्दी-व्याकरण की स्थिति	३३८–३३९
उत्थान-काल के प्रमुख वैयाकरण :	
एस्० एच्० केलॉग	३४०–३५२
अयोध्याप्रसाद खत्री	३५२–३५३
केशवप्रसाद	३५३
वंशीलाल	३५३
गोविन्ददेव शास्त्री	३५३
शिवदयाल उपाध्याय	३५३
पं० बिहारीलाल चौबे	३५३–३५४
पं० मदनमोहन	३५४–३५५
पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी	३५५–३५९
विनायक राव, गणपतिलाल चौबे	३५९–३६१

विषय	पृष्ठ
ई० एच्० पामर	३६१
जॉर्ज ए० ग्रियर्सन	३६१–३६२
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	३६२–३६४
शम्भूलाल कालूराम शुक्ल	३६४
बाबू रामचरण सिंह	३६४–३७९
पं० अम्बिकादत्त व्यास	३७९–३८०
मोहनलाल शर्मा कटिहा	३८०
दीनानाथ देव	३८०
गणपतिलाल चौबे	३८१
हीरानाथ	३८१
महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी	३८१–३८२
कन्हैयालाल त्रिपाठी	३८२
एम्० केम्पसन	३८२
केमिल्लो तेगलिआब्ने	३८२
देवीदयाल	३८२
गोकुल प्रसाद	३८३–३८५
एडविन ग्रीव्स	३८५–३९१
गौरीशङ्कर गङ्गोपाध्याय	३९१
जॉर्ज एस्० ए० रेम्किङ्ग	३९१
ठाकुर रामनाराण सिंह	३९२
पं० नारायण शास्त्री पटवर्धन	३९२–३९४
राजाराम	३९४
माधवप्रसाद पाठक	३९५–३९७
पी० एल्० दरयाव सिंह	३९७
पं० सूर्य्यप्रसाद मिश्र	३९८–३९९
केशवराम भट्ट	३९९–४०८
पौल ह्वाले	४०८
पन्नालाल वाकलींवाल	४०९
आर्० पी० डे	४०९

विषय	पृष्ठ
रामदास राय	४०९–४१०
श्यामसुन्दर दास	४१०–४१३
डब्लू० आर्० एम्० होलरॉयड	४१३–४१५
मेजर एफ्० आर्० एच्० चैपमैन	४१५–४१६
बाबू गङ्गाप्रसाद	४१६–४१८
बाबू माणिक्यचन्द्र जैन	४१८
लेफ्टिनेन्ट कर्नल डी० सी० फिल्लॉट	४१८
अगस्ट सर्डेल	४१९
बद्रीनारायण सिंह	४१९
पं० कन्हैयालाल उपाध्याय	४१९–४२१
पं० रामकर्ण	४२१–४२२
गोविन्दनारायण मिश्र	४२२
रामजीलाल शर्मा	४२२
चन्द्रमुखी ओझा	४२२
चन्द्रमौलि शुक्ल	४२२–४२३
चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा	४२३–४२४
पं० गदाधर शर्मा वैद्यशास्त्री	४२४–४२५
बाबू भगवान दास	४२५–४२६
पं० विश्वेश्वर दत्त	४२६
पं० रामावतार शर्मा	४२६
अध्यापक रामरत्न	४२६–४२७
पं० श्यामजी शर्मा	४२७
मु० अकबर खाँ हैदरी	४२७–४२८
पं० रामदहिन मिश्र	४२८–४२९
बाबू रामलोचन शरण	४२९
जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	४२९–४३३
पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	४३३–४४५

उत्कर्ष-काल

(सन् १९२१–१९४७ ई०)

विषय	पृष्ठ
सामान्य परिचय	४४६–४५१
दक्षिण का हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन	४५१–४६०
हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दू पर वाद-विवाद	४६०–४६१
हिन्दी को राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता	४६१–४६२
उत्कर्ष-काल के प्रमुख वैयाकरण :	
पं० कामताप्रसाद गुरु	४६३–५३०
शिवनारायण लाला	५३०–५३१
अमृतलाल दासगुप्ता	५३१
श्रीनारायण चतुर्वेदी	५३१
बी० एल्० जैन चैतन्य	५३१–५३२
शिवत्र शास्त्री	५३२
देवीप्रसाद वर्मा	५३२
शिवनारायण झा	५३२
बलदेव प्रसाद और भगवानदीन	५३२
सुरेश्वर पाठक विद्यालङ्कार	५३२–५३६
गङ्गाप्रसाद उपाध्याय	५३६
पं० जङ्गबहादुर मिश्र 'रञ्जन'	५३६–५३७
एस्० जी० मुहिउद्दीन कादरी	५३७
पं० गिरिजाप्रसाद शर्मा	५३७
ब्रजनन्दन मिश्र	५३८
सत्यप्रकाश	५३८
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और डॉ० बाबूराम सक्सेना	५३८–५३९
साहित्याचार्य धरणीधर शास्त्री	५३९
भुवनेश्वर मिश्र	५३९

विषय	पृष्ठ
पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी	५३६–५४१
रमानाथ उपाध्याय और पं० विष्णुदत्त उपाध्याय	५४१
रघुनाथ दिनकर काणे	५४१–५४३
पं० गोपाल शास्त्री	५४२–५४३
ललितचन्द्र रैना	५४३
रघुनाथ	५४३
एच्० सी० शोलबर्ग	५४३–५४४
ना० नागप्पा	५४४
केदारनाथ शर्मा	५४४
आत्माराम	५४४
सत्यजीवन वर्मा	५४५–५४६
वी० पी० जोसफ	५४६
रामचन्द्र वर्मा	५४६–५५२
ए० एच्० हार्ली	५५२–५५४
वासुदेव पिल्लै	५५४
ई० बी० ईस्टविक	५५४–५५५
नरदेव विद्यालङ्कार	५५५–५५६

नवचेतना-काल

(सन् १९४७ ई० के पश्चात्)

सामान्य परिचय	५५७–५५९
नवचेतना-काल में हिन्दी की स्थिति और व्याकरण-रचना पर उसका प्रभाव	५५९–५८०
व्याकरण एवं भाषा-सम्बन्धी शोधकार्य	५८१
नवचेतना-काल के प्रमुख वैयाकरण :	
पं० किशोरीदास वाजपेयी	५८२–६५०
आचार्य शिवपूजन सहाय	६५०–६५१

विषय	पृष्ठ
दुनीचन्द	६५१–६५६
डॉ० आर्येन्द्र शर्मा	६५२–६५६
डॉ० ज० म० दीमशित्स	६५६–६७६
कुछ अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ :	६७६–६७८
छात्रोपयोगी व्याकरण :	६७८–६७९
उपसंहार	६७९
परिशेष १ : समीक्षित हिन्दी व्याकरण	६८०–६९१
परिशेष २ : सहायक ग्रन्थ	६९२–६९६
परिशेष ३ : पारिभाषिक शब्द-सूची :	६९७–७०३

पूर्वस्रोत

सांमान्य परिचय :

हिन्दी-व्याकरण का निर्माण-कार्य सर्वप्रथम यूरोपीय विद्वानों के द्वारा प्रारम्भ किया गया था। आगे चलकर भारतीय पण्डितों ने उसे अपने हाथों में लिया। यूरोपीय विद्वानों ने पाश्चात्य व्याकरणिक ढाँचे में हिन्दी-व्याकरण को ढालने का प्रयास किया, किन्तु भारतीय वैयाकरणों में से अनेक ने उसे संस्कृत-व्याकरण के अनुरूप बनाने की चेष्टा की। इस प्रकार, हिन्दी-व्याकरण के निर्माण में पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों ही व्याकरणों की शास्त्रीय परम्पराओं का सम्मिलित योगदान रहा है। ऐसी स्थिति में, हिन्दी-व्याकरण के ऐतिहासिक अध्ययन को उचित परिप्रेक्ष्य प्रदान करने के लिए पूर्वस्रोत के रूप में उक्त दोनों परम्पराओं का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक माना जा सकता है। किन्तु, वे परम्पराएँ वस्तुतः इतनी दीर्घ एवं व्यापक हैं कि उनके सम्यक् विवेचन के लिए सहस्राधिक पृष्ठों के शताधिक ग्रन्थ भी अपर्याप्त ही प्रमाणित होंगे। ऐसी स्थिति में, कुछेक पृष्ठों में उन्हें नाप जाने का मेरा वामन-प्रयास प्रायः हास्यास्पद ही माना जायगा। किन्तु, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि हिन्दी-व्याकरणेतिहास की पीठिका के रूप में उनका विवेचन आवश्यक है, इसलिए हम पहले भारतीय व्याकरणशास्त्र की परम्परा का और तदनन्तर पाश्चात्य व्याकरणशास्त्र की परम्परा का संक्षिप्त परिचय देने के उपरान्त अन्त में हिन्दी-व्याकरण का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

संस्कृत-व्याकरणशास्त्र की परम्परा

उद्भव एवं विकास के कारण :

यह एक ऐतिह्यसिद्ध एवं सर्वसम्मत मत है कि भाषा के शास्त्रीय अध्ययन एवं व्याकरण-निर्माण की परम्परा का प्रारम्भ एवं सम्यक् विकास सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुआ। किन्तु, यहाँ व्याकरण-निर्माण का प्रारम्भ क्यों, कब और कैसे हुआ; आदि वैयाकरण कौन थे; प्रथम व्याकरण कौन था; उसका स्वरूप कैसा था; उसमें किस प्रकार की पद्धति का उपयोग हुआ था; उसका निर्माण किसी एक ही आचार्य के द्वारा एक ही बार में सम्भव हो गया था या उसके पीछे अनेक आचार्यों के चिन्तन-मनन की सुदीर्घ परम्परा वर्त्तमान थी आदि अनेक प्रश्नों के उत्तर पुष्ट एवं सुदृढ प्रमाणों के अभाव में अद्यावधि अनुमानाश्रित एवं विवादग्रस्त ही बने हुए हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय व्याकरणशास्त्र के उद्भव एवं विकास के मूल में मुख्यतः तीन विभिन्न प्रेरक स्थितियाँ या कारण वर्त्तमान रहे हैं : १. प्राकृतिक, २. धार्मिक और ३. सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक।

१. प्राकृतिक कारण : व्याकरण-विषयक चिन्तन का प्रारम्भ सर्वप्रथम उन प्राकृतिक कारणों से हुआ, जिनके प्रेरक तत्त्व भाषा के अपने स्वरूप में ही वर्त्तमान थे।[१] भाषा की उत्पत्ति चाहे जिस प्रकार भी हुई हो, इतना निश्चित है कि उसके प्रयोग में प्रारम्भ से ही कुछ ऐसे आधारभूत नियमों का पालन होने लगा था, जो प्राकृतिक थे। आज भी भाषा में सन्धि आदि के नियम उसी कोटि में आते हैं।[२] ऐसी स्थिति में भाषा में, व्याप्त उन नियमों की ओर प्रारम्भ

---

१. 'The fundamental basis of grammar is not purely artificial but appears to be more or less natural.—P. C. Chakravarti : The Philosophy of Sanskrit Grammar', p.6.

२. 'A careful study of the 'Paribhasha' (generalisations of grammar) and of the rules of euphonic combinations makes it abundantly clear that the principles of grammar have close affinity with popular axioms and laws of nature'.—*Ibid.*

से ही सुधी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होना तथा उनके सम्बन्ध में उनके मन में जिज्ञासाओं का जन्म ग्रहण करना स्वाभाविक था । उन जिज्ञासाओं के समाधानार्थ आदिम विद्वानों के द्वारा जो चिन्तन प्रारम्भ किया गया, वास्तव में उसी से व्याकरण-विषयक चिन्तन का भी प्रारम्भ हुआ ।

२. **धार्मिक कारण :** भारतवर्ष में भाषा-विषयक चिन्तन का प्रारम्भ प्राकृतिक कारणों से और व्याकरण का उद्भव मुख्यतः धार्मिक कारणों से हुआ ।[१] भारतीय आर्यों के बीच वेद प्रारम्भ से ही दिव्यशक्ति का नित्य उपहार माना गया था । वह न केवल ज्ञान-विज्ञान का, अपितु उनके धर्म एवं दर्शन का भी मूल आधार रहा । इस कारण उसके संरक्षण को उन्होंने धार्मिक कर्त्तव्य समझकर अपने जीवन में सर्वोपरि स्थान दिया । वैदिक मन्त्रों के उच्चारण को शुद्ध तथा भाव को बोधगम्य बनाये रखने के लिए उनके द्वारा जो अनेकविध प्रयत्न हुए, उन्हीं प्रयत्नों के समन्वित प्रतिफल के रूप में व्याकरणशास्त्र का उद्भव हुआ । इसीलिए, वह वेदाध्ययन के अनिवार्य अङ्ग के रूप में छहों वेदाङ्गों में प्रमुख माना गया[२] तथा 'वेदानां वेदः',[३] 'उत्तरा विद्या'[४] आदि कहकर उसके अनुपम महत्त्व का उद्घोष किया गया ।

३. **सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक कारण :** जिस प्रकार भाषा-विषयक चिन्तन के प्रारम्भ का मूल कारण प्राकृतिक था और व्याकरण के उद्भव का मुख्य कारण धार्मिक, उसी प्रकार व्याकरण के विकास का प्रधान कारण सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक था । भाषा के निरन्तर परिवर्त्तनशील होने के कारण प्राचीन भाषाओं के वाङ्मय को सुरक्षित तथा बोधगम्य बनाये रखना एवं प्राचीन और नवीन भाषाओं की पारस्परिक भिन्नता को स्पष्ट करते

---

१. 'The most important factor in the evolution of grammar, as a scientific and indispensable branch of study, was the necassity more religious than academic, of devising some practical means ensuring a successful study of the Vedas; and the result was the evolution of Grammar'.—P. C. Chakravarti : The Philosophy of Sanskrit Grammar, p. 7.

२. 'मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।'—पाणिनीयं शिक्षा, ४२ ।

३. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।१ ।

४. 'व्याकरणं नामेयम् उत्तरा विद्या ।'—महाभाष्य, १।२।३२ ।

चलना सांस्कृतिक संरक्षण एवं व्यावहारिक उपयोगिता, दोनों ही दृष्टियों से अनिवार्य होता गया ।[१] उस उद्देश्य की पूर्त्ति एकमात्र व्याकरण के द्वारा ही सम्भव थी । यही कारण था कि जब वैदिकी का स्थान लौकिकी लेने लगी, तब वेदों के संरक्षण के लिए वैदिक व्याकरण का,[२] फिर जब संस्कृत में अनेकरूपता एवं विकृति आने लगी, तब संस्कृत-व्याकरण का,[३] इसी प्रकार प्राकृत, पालि, अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाओं के व्याकरणों का विकास हुआ ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में व्याकरण-विषयक चिन्तन का प्रारम्भ प्राकृतिक कारणों से, व्याकरण का उद्भव धार्मिक कारणों से तथा विकास सांस्कृतिक, व्यावहारिक तथा अन्यान्य कारणों से हुआ ।

संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का उद्भव

संस्कृत-व्याकरणशास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य मतों में मौलिक भिन्नता है । अतः, यहाँ संक्षेप में दोनों पर विचार कर लेना आवश्यक है ।

भारतीय मत :

वेद को नित्य एवं अपौरुषेय मानने वाले वैदिक वाङ्मय के पारखी अधिकांश प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय आचार्यों के अनुसार, अन्यान्य शास्त्रों के समान ही व्याकरणशास्त्र का भी आदि मूल वेद ही है । उनके मतानुसार, जो तपोनिधि ब्रह्मज्ञानी ऋषि, वेद के दिव्यमन्त्रों के द्रष्टा थे, वे ही व्याकरणशास्त्र के भी आदि प्रवक्ता थे । इस प्रकार, व्याकरणशास्त्र का उद्भव वैदिक युग के प्रारम्भ में ही हो चुका था और आगे चलकर उसी के आधार पर शिक्षा, पद-पाठ, प्रातिशाख्य, निरुक्त एवं अन्य व्याकरणों की रचना हुई । इस मान्यता के समर्थन में जो तर्क उपस्थित किये गये हैं, उनका सारांश इस प्रकार है :

---

१. 'The peculiarities of language, specially when the older forms became obsolete and were consequently replaced by new words of spontanious growth, provided the basis, upon which was built the scientific structure of grammar'.—P.C.C.: The Phil. of Sans. Grammar, p. 16.

२. 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् ।'—महा०, पृ० १ ।

३. 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् ।'—कैयट ।

वेद नित्य और अपौरुषेय हैं।[१] वेद की भाषा ही वह मूल भाषा है, जिससे आदि लौकिक भाषाओं का जन्म हुआ।[२] संसार में जितना ज्ञान प्रवृत्त हुआ, सबका आदि मूल वेद है; इसीलिए भगवान् मनु ने 'सर्वज्ञानमयो हि सः'[३] कहकर उसका परिचय दिया है। वह समस्त सारस्वत साधना का उद्गम-स्थल है। ये कथन कल्पना नहीं, सहस्राब्दियों से प्रमाणित अखण्डनीय तथ्य हैं।[४] अतः, जो सभी शास्त्रों का आदि मूल है, उसे ही व्याकरणशास्त्र का भी आदि मूल मानना उचित है।[५]

कई प्राचीन आचार्यों ने अनेक वैदिक मन्त्रों की व्याकरणशास्त्रपरक व्याख्या की है। उदाहरणार्थ, निरुक्तकार यास्क ने 'चत्वारि वाक्'[६] मन्त्र की[७] तथा शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य पतञ्जलि ने 'चत्वारि वाक्'[८], 'चत्वारि शृङ्गाः',[९] 'उतत्वः',[१०] 'सक्तुमिव'[११] एवं 'सुदेवोऽसि'[१२] इन पाँच मन्त्रों की।[१३] इससे भी वेद ही व्याकरण का आदि मूल ठहरता है।

मूलवेदातिरिक्त सम्प्रति उपलब्ध समस्त आर्ष वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का किसी-न-किसी रूप में उल्लेख मिलता है।[१४] ऋक्तन्त्रकार के अनुसार सर्वप्रथम

---

१. "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥"
—महाभा०, शा० पर्व, २३२।२४, (चित्रशाला प्रेस, पूना-सं०, शकाब्द १८५४)।

२. (क) 'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।'
—महाभाष्य, ८।१००।११।

(ख) "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥"—मनु० १।२१।

३. मनु० २।७। मेधातिथि की टीका।

४. देवेन्द्रनाथ शर्मा: भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० २८७।

५. युधिष्ठिर मीमांसक : संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ५४।

६. ऋक्० १।१६४।४५।

७. 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः।'—नि० १३।२।

८. ऋक्० १।१६४।४५।

९. ऋक्० ४।५८।३।

१०. ऋक्० १०।७१।४।

११. ऋक्० १०।७१।२।

१२. ऋक्० ८।६९।१२।

१३. महाभाष्य, अ० १, पा० १, आ० १।

१४. युधिष्ठिर मीमांसक : संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ५८।

ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को और भरद्वाज ने अन्यान्य ऋषियों को शब्दशास्त्र का ज्ञान प्रदान किया ।[१] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार, पुराकाल में वाणी अव्याकृत थी, इसलिए देवताओं ने इन्द्र से उसे व्याकृत करने की प्रार्थना की, तब इन्द्र ने वाणी को व्याकृत किया ।[२] महाभाष्य के अनुसार, बृहस्पति ने सहस्र दिव्य वर्ष तक इन्द्र को प्रति पदपाठ द्वारा शब्द-शास्त्र की शिक्षा दी थी ।[३] रामायण के अनुसार, राम के युग में व्याकरणशास्त्र का सुव्यवस्थित पठन-पाठन होता था ।[४] यास्कीय निरुक्त में अनेक पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों का उल्लेख हुआ है ।[५] समस्त नामशब्दों की धातुओं से निष्पत्ति दरसाने वाला मूर्धाभिषिक्त शाकटायन व्याकरण यास्क के पूर्व रचा जा चुका था । पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी दस पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों का उल्लेख हुआ है ।[६] पाणिनितन्त्र में स्मृत अनेक अन्वर्थ संज्ञाएँ अति प्राचीन हैं, जिनमें से कुछ का निर्देश गोपथब्राह्मण में मिलता है।[७] मैत्रायणी संहिता (१।७।३) में 'विभक्ति' संज्ञा का तथा ऐतरेय ब्राह्मण (७।७) में विभक्ति-रूप से सप्तधा विभक्त वाणी का उल्लेख मिलता है । व्याकरण पद जिस धातु से व्युत्पन्न है, उसका मूल अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग यजुर्वेद (१९।७७) में उपलब्ध होता है । शब्दशास्त्र

---

१. "ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः ।"—ऋक् तन्त्र, १।४ ।

२. "वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति......तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् ।"—तै० सं०, ६।४।७ ।

३. "बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच ।" —महा०, १।१।१ ।

४. "नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् । बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥"—किष्किन्धा०, ३।२९ ।

५. 'न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके ।'—निरुक्त, १।१२ ।

६. आपिशलि (अ० ६।१।९२), काश्यप (अ० १।२।२५), गार्ग्य (अ० ८।३।२०), गालव (अ० ७।१।७४), चाक्रवर्मन् (अ० ६।१।३०), भारद्वाज (अ० ७।२।६३), शाक्टायन (अ० ३।४।१११), शाकल्य (अ० १।१।१६), सेनक (अ० ५।४। ११२) और स्फोटायन (अ० ६।१।१२२) ।

७. ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम् , किं नामाख्यातं, किं लिङ्गं किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः .... ।—गो० ब्रा०, ५।१।२४।

के लिए व्याकरण शब्द का प्रयोग रामायण,[१] गोपथब्राह्मण[२] मुण्डकोपनिषद्,[३] महाभारत[४] आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। पतञ्जलि के अनुसार अत्यन्त पुराकाल में ही व्याकरणशास्त्र का अध्ययन अध्यापन व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ हो गया था।[५] ये सारे प्रमाण यही सिद्ध करते हैं कि व्याकरणशास्त्र का उद्भव सम्प्रति उपलब्ध समस्त आर्ष वैदिक वाङ्मय की रचना से पूर्व हो चुका था[६] तथा उपलब्ध वैदिक पदपाठों की रचना के पहले ही वह अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुका था।[७]

वेद की भाषा जैसी श्लिष्ट, समृद्ध और सुगठित है, उसे देखकर यह अनुमान करना सम्भव नहीं है कि उस समय व्याकरणशास्त्र अस्तित्व में नहीं रहा होगा।

पाश्चात्य मत :

वैदिक वाङ्मय से परिचित यूरोपीय भाषाशास्त्री तथा उनके भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों के समर्थक अनेक भारतीय विद्वान वेद के अपौरुषेय, नित्य तथा सर्वज्ञानमय होने में विश्वास नहीं रखते। उनके मतानुसार वेद की भाषा आदि-भाषा नहीं है और न वेद सभी शास्त्रों का आदिमूल ही। वेद की भाषा स्वयं किसी प्राक्-भारोपीय वंश की भाषा थी, जिसका आज कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है।

उक्त मत के समर्थक विद्वानों के अनुसार भारतीय व्याकरणशास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ, वैदिक और लौकिक भाषाओं के सङ्क्रान्ति-काल में,[८] वैदिक

---

१. रा०, किष्किन्धा, ३।२९।
२. गो० ब्रा०, ५।१।२४।
३. मुण्डको०, १।१।
४. "सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते। तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा।"—महा०, उद्योग० ४३।६१।
५. "पुराकल्प एतदासीत्, संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते।" —महा० १।१।१।
६. युधिष्ठिर मीमांसक : संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ५८।
७. वही, पृ० ५५।
८. (क) It is in all probability in the transitional period...that we may try to find out the crude begining of gramma-

भाषा के अध्ययन से प्रारम्भ हुआ।[१] प्राचीन भारत में 'विद्या' का प्रधान अर्थ 'वेद-विद्या'[२] था और विद्यार्थियों का अध्ययन तबतक अपूर्ण समझा जाता था, जबतक वे वेदों का सम्यक् अध्ययन नहीं कर लेते थे।[३] उन दिनों वैदिक मन्त्रों को शुद्ध रूप में स्मरण रखना धर्म का सर्वाधिक प्रधान कार्य माना जाता था। इस कारण वैदिक द्विजों ने संसारी सुखों का मोह त्यागकर अविप्लुत ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए संहिताओं को कण्ठस्थ करके स्थिर रखा और अपनी सारी शक्ति वैदिक वाङ्मय की रक्षा एवं स्वाध्याय में लगा दी।[४] किन्तु कालगत, स्थानगत, जातिगत, व्यक्तिगत आदि अनेक कारणों से भाषा की निरन्तर प्रवहमाण धारा प्रतिक्षण परिवर्त्तन-ग्रस्त होती रहती है। इस नियम के अनुसार वैदिक भाषा का भी कालान्तर में परिवर्त्तन-ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक था। इस प्रकार, जब वैदिकी का स्थान धीरे-धीरे लौकिकी लेने लगी, तब कण्ठस्थ मन्त्रों के उच्चारण में भेद पड़ जाना स्वाभाविक था। ऐसी परिस्थिति में मूल की रक्षा करने के अनेक उपाय सोचे गये,[५] जिनमें पदपाठ, शिक्षा, प्रातिशाख्य, निघण्टु तथा निरुक्त की रचना विशेष उल्लेखनीय है। इन सबका मूल उद्देश्य

---

tical speculations'.—Prabhat Chandra Chakravarti : The philosophy of Sanskrit Grammar, Introduction, p. 7.

(ख) Belvalkar, Systems of Skt. Grammar, pp. 2–3.

१. (क) 'The origin of Grammar is organically and most intimately connected with the study of the Vedas',—P.C. Chakravarti : The Philosophy of Sankrit Grammar, Introduction, p. 3.

(ख) "भारतीय व्याकरणशास्त्र का इतिहास वैदिक भाषा के अध्ययन से प्रारम्भ होता है।"—डॉ० रामगोपाल, वैदिक व्याकरण, भूमिका, पृ० ७।

२. "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति स्म यद् वेदविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापर ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।"—मुण्डकोपनिषद्।

३. "योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥—मनु० २।

४. डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १३९।

५. तत्रैव।

वैदिक मन्त्रों के उच्चारण और अर्थ की शुद्धता को सुरक्षित बनाये रखना था। इस प्रकार, ये सभी भाषा के विश्लेषण एवं विवेचन से ही सम्बन्ध रखते थे। उक्त मत के समर्थकों के अनुसार इन्हीं से सर्वप्रथम भाषा के शास्त्रीय अध्ययन तथा व्याकरणशास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ हुआ। अतः, यहाँ संक्षेप में इन सबका अलग-अलग संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

पदपाठ :

प्राचीन काल में वेदों के सम्यक् अध्ययन के लिए मन्त्रों के उच्चारण की शुद्धता अनिवार्य शर्त्त थी।[१] अशुद्ध उच्चारण करने वाला न केवल अनिष्ट[२] का, अपितु कुम्भीपाक नरक का भागी माना जाता था[३] और शुद्ध उच्चारण करने वाला स्वर्गलोक का।[४] इसीलिए, मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण को सुरक्षित बनाये रखने के लिए अनेक उपाय किये गये, जिनमें ऐतिहासिक दृष्टि से मन्त्रों के पञ्चविध पाठ का स्थान सर्वप्रथम है। पञ्चविध पाठ के अन्तर्गत मन्त्रपाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ तथा घनपाठ के नाम आते हैं। इनमें पदपाठ की प्रक्रिया सर्वाधिक उपयोगी प्रमाणित हुई; क्योंकि इसी के द्वारा पहले-पहल मन्त्रों को पदों में विभक्त करना सम्भव हो सका।[५] विद्वानों के अनुसार यह भाषा के विश्लेषण का प्रथम प्रयास था और यहीं से व्याकरण-निर्माण की प्रारम्भिक प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ।[६] पदपाठ में सन्धि-विच्छेद, समास-विग्रह

---

१. 'स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम्।'—तै० प्रा०, २४।६।

२. "दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥" —महाभाष्य : पस्पशाह्निक।

३. पाराशरी शिक्षा, पृ० ६५ (शिक्षा-संग्रह)।

४. 'सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।'—पाणिनीय शिक्षा।

५. डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १३९।

६. 'The analytical method upon which is based the fundamental principle of 'Vyakarana' is first seen, though in crude form, in the Pada Patha arrangement of the Samhita texts......the Pada Patha order thus represents the first step towards Grammar'—P. C. Chakravarti : The Philosophy of Skt. Gram., Introduction, p. 14.

तथा धातु उपसर्ग के नियमों का उपयोग हुआ था।[१] इसकी युक्ति शाकल्य ऋषि की रची हुई मानी जाती है।[२] वे ऋग्वेदीय पदपाठ के, गार्ग्य सामवेदीय पदपाठ के तथा माध्यन्दिन यजुर्वेदीय पदपाठ के रचयिता कहे गये हैं।[३]

शिक्षा :

वैदिक मन्त्रों के उच्चारण को शुद्ध बनाये रखने के लिए जो अनेकविध प्रयत्न किये गये, उनमें पदपाठ के बाद शिक्षा का स्थान आता है। शिक्षा का सम्बन्ध ध्वनियों के अनेकविध अध्ययन से था। स्थान, करण तथा प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण एवं विवेचन करना तथा मात्रा, सुर, बलाघात, सन्धि आदि के नियमों का निर्धारण करना शिक्षा के प्रमुख कार्य थे। ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में शिक्षा को परिभाषित करते हुए आचार्य सायण ने कहा है : 'वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा', अर्थात् स्वर-व्यञ्जन के उच्चारण-प्रकार का जिसमें निरूपण हो, वह शिक्षा है। इसी प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याता विष्णुमित्र ने शिक्षा को 'स्वरवर्णोपदेशक शास्त्र' कहा है। इससे स्पष्ट है कि आज जिसे ध्वनि-विज्ञान कहा जाता है, उसी के लिए प्राचीन काल में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग होता था।

शिक्षा का जन्म उस सुदूर अतीत में हुआ, जबकि संसार की प्राचीनतम भाषा वैदिकी शनैः-शनैः जनकण्ठ का सिंहासन त्याग रही थी और उसपर लौकिकी आसीन हो रही थी। शिक्षा-ग्रन्थों के निर्माण का कार्य यदि पदपाठ के प्रचलन के पूर्व नहीं, तो उसके साथ-ही-साथ प्रारम्भ हो गया होगा; क्योंकि पदपाठ में सन्धि के नियमों का उपयोग अनिवार्य था, मुख्यतः शिक्षा का विषय था। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा[४] तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना[५] प्रभृति विद्वानों ने शिक्षा-ग्रन्थों

---

१. 'It is in this method of decomposition that we meet with the beginning of disjoining Sandhi and Samasa, and the addition of Upasarga with the Verbal forms.'—*Ibid.*

२. (क) Ibid. (ख) डॉ० बाबूराम सक्सेना : सा० भा० वि०, पृ० १३९।

३. डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषाविज्ञान, पृ० ५२७।

४. Sidheshwar Verma, 'Critical Studies in the Phonetic observations of Indian Grammarians', Introduction.

५. डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १४०।

की रचना का प्रारम्भ ई० पू० आठवीं-नवीं सदी से माना है। किन्तु, यदि यास्क का समय ई० पू० ८००-७०० के ही बीच माना जाय, जैसा कि वे लोग भी मानते हैं,[१] तो भी शिक्षा-ग्रन्थों के निर्माण का प्रारम्भकाल ई० पू० आठवीं-नवीं सदी से अधिक पहले मानना होगा; क्योंकि यास्क के बहुत पूर्व से ही उनकी रचना होती आ रही थी।

शिक्षा-ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक थी। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने ६५ शिक्षा-ग्रन्थों का उल्लेख किया है। आज यह बता सकना असम्भव है कि सबसे पहला शिक्षा-ग्रन्थ कौन था और उसके रचयिता कौन थे। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार, सम्प्रति उपलब्ध शिक्षा-ग्रन्थों में न्यून-से-न्यून शौनकीया, गालवीया, चारायणी, आपिशली, कौशिकीया और पाणिनीया ये छह शिक्षाएँ पाणिनि के समय अवश्य विद्यमान थीं।[२] अभी जो शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे प्रातिशाख्यों से अर्वाचीन हैं।

शिक्षा का जन्म यों तो धार्मिक कारणों से हुआ था, किन्तु उसकी प्रविधि नितान्त वैज्ञानिक थी।[३] प्रारम्भ में उसका मूल उद्देश्य वेदमन्त्रों की ध्वनि के पृथक् तथा संहित रूप में शुद्ध उच्चारण का निर्देश करना था, किन्तु उसकी उपयोगिता वहीं तक सीमित नहीं थी।[४] भाषा के, शुद्ध उच्चारण-ज्ञान के लिए, अनिवार्य होने के कारण वह स्वभावतः अध्ययन का भी अनिवार्य अङ्ग बन गयी। इसलिए, उन दिनों अध्ययन का आरम्भ ही शिक्षा से होता था।

---

१. डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १४०।

२. युधिष्ठिर मीमांसक : सं० व्या० शा० का० इ०, पृ० २४८।

३. 'However, the authors of our treatises were clearly phoneticians rather than priests, and a scientific curiosity, coupled with keen audition and an effective methodology, led to descriptions which must surely have transcended their original terms of reference.'—W. S. Allen : Phonetics in ancient India, Introduction, p. 6.

४. "We do not, however, fail to see that the 'Siksas', though their main importance lies in the correct recitation of the Vedic hymns, deal with the phonological side of Grammar."—P.C. Chakravarti : The Phil. of Skt. Gram. Introduction, p. 23.

शिक्षाकारों का ध्वनि-सम्बन्धी ज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। उनलोगों ने ध्वनि के सभी सम्भव पक्षों का जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वैज्ञानिक विवेचन अपने विविध शिक्षा-ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है, उसे देखकर आज का बड़ा-से-बड़ा ध्वनिविद् भी दंग रह जाता है। यूरोपीय ध्वनिशास्त्रियों को ध्वनि-विवेचन की सम्यक् दृष्टि, १९वीं शताब्दी में, सर्वप्रथम भारतीय शिक्षा-ग्रन्थों से ही प्राप्त हुई। विद्वानों के अनुसार, भारतीय वैयाकरणों की अपेक्षा भारतीय शिक्षाकारों ने पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों को अधिक प्रभावित किया है।[१]

प्रातिशाख्य :

वैदिक मन्त्रों के उच्चारण तथा अर्थ की शुद्धता को सुरक्षित बनाये रखने की दिशा में प्राचीन आचार्यों के द्वारा जो आरम्भिक प्रयत्न हुए, उनमें पदपाठ तथा मूल शिक्षा-ग्रन्थों के प्रणयन के पश्चात् प्रातिशाख्यों का स्थान आता है। पदपाठ का सम्बन्ध मन्त्रों के प्रतिपदपाठ से था और शिक्षा का सम्बन्ध मन्त्रस्थित ध्वनियों तथा मन्त्रोच्चार-सम्बन्धी नियमों के विवेचन से; किन्तु प्रातिशाख्यों में मन्त्रों की ध्वनि और पद, दोनों का विवेचन करते हुए, पदों के विश्लेषण एवं वर्गीकरण की भी नींव डाली गयी। उसी क्रम में अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दों (संज्ञाओं) का भी निर्माण हुआ, जो आगे चलकर निरुक्त-कारों तथा वैयाकरणों के द्वारा उपयोग में लाये गये।[२] सम्भवतः, इन्हीं कारणों

१. 'Moreover the link between the ancient Indian and the modern western schools of linguistics is considerable closer in phonetics than in Grammar'—W. S. Allen : Phonetics in ancient India, Introduction, p. 3.

२. 'If the nature and contents of our existing Pratishakhyas literature can safely be made the basis of any inference, we may suppose that these earlier treatises (1) classified the Vedic texts into the four forms of speech known to Yaska; (2) framed and carefully defined some of the Primitive 'Samjnas' or technical terms; and (3) possibly also made some more or less crude attempts to reduce the words to their elements and explain the mode of their grammatical formation...'—Dr. Belvalkar (Extracts from The Philosophy of Skt. gram. by P. C. Chakravarti, Intro., p. 24)

से प्रातिशाख्यों को सामान्यतः 'वैदिक चरणों का व्याकरण' कहा जाता है,[१] यद्यपि उनमें व्याकरण के सभी अङ्गों का समावेश नहीं पाया जाता।

'प्रातिशाख्य' शब्द 'प्रतिशाखा' शब्द से बना है और 'प्रतिशाखा' का तात्पर्य वेद की एक-एक शाखा से है: 'शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्'; अर्थात् जिसमें वेद की एक-एक शाखा के नियमों का वर्णन हो, उसे प्रातिशाख्य कहा जाता है।[२] प्राचीन काल में 'प्रतिशाखा' शब्द का प्रयोग 'चरण' के अर्थ में भी होता था।[३] चरण उस प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं (वैदिक विद्यापीठों) को कहते थे, जिनमें वेद की एक-एक शाखा का अलग-अलग अध्ययन-अध्यापन हुआ करता था और जिनके नाम मूल संस्थापकों के नाम पर रखे जाते थे। इस प्रकार, वेद की विभिन्न शाखाओं के लिए अलग-अलग चरण थे और प्रत्येक चरण से सम्बद्ध शाखा, कालान्तर में गुरु-शिष्य-परम्परा के क्रम से पुनः अवान्तर शाखाओं या उपशाखाओं में विभक्त होती गयी थीं।[४] उन सबको एक साथ मिलाकर वेदों की कुल शाखाओं की संख्या सामान्यतः ११३० मानी गयी है। स्थान, काल तथा व्यक्तिगत भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न शाखाओं के वेदपाठियों के मन्त्रोच्चार में शनैः-शनैः पारस्परिक भिन्नता का समावेश होते जाना स्वाभाविक था। प्रातिशाख्यों की रचना का प्रारम्भ उन्हीं भिन्नताओं के अध्ययन, विवेचन तथा शुद्ध-पाठ के निर्धारण के उद्देश्य से हुआ था। इस प्रकार, वेदपाठ की जो पृथक्-पृथक् पद्धतियाँ प्रचलित थीं, उन्हें यथावत् रखना और पाठकों को तत्तत् शाखानुसार शुद्ध उच्चारण का निर्देश देना प्रातिशाख्यों का मुख्य कार्य था।

प्रातिशाख्य के लिए प्राचीन ग्रन्थों में 'पार्षद'[५] और 'पारिषद'[६] शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन काल में प्रातिशाख्यों की संख्या बहुत थी, किन्तु आज केवल शौनक-कृत ऋक्प्रातिशाख्य, कात्यायन-कृत शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य, कृष्ण यजुः के तैत्तिरीय और मैत्रायणी प्रातिशाख्य,

---

१. 'व्याकरणप्रधानत्वात् प्रातिशाख्यस्य।—तैं० प्रा०, वैंदिकाभरण टीका, पृ० ५२५।
२. युधिष्ठिर मीमांसक : सं० व्या० शा० का इ०, भाग २, पृ० २८५।
३. वही, पृ० २८६।
४. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २९०।
५. 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।'—निरुक्त, १।१७।
६. 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्।'—महा०, ६।१।१४।

सामवेद का पुष्पसूत्र और शौनकप्रोक्त अथर्व-प्रातिशाख्य ही उपलब्ध हैं।[1] इनके अतिरिक्त ऋग्वेद के आश्वलायन, शाखायन और वाष्कल-प्रातिशाख्य तथा कृष्णयुजः के चारायणीय प्रातिशाख्य प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत होने के कारण ज्ञात हैं। इनमें कौन-सा प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन है और कौन-सा अर्वाचीन, यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है। परन्तु, कुछ विद्वानों के द्वारा शौनकीय, शाखायन और वाष्कलीय ऋक्प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन माने गये हैं।[2]

उपलब्ध प्रातिशाख्यों में ऋक्प्रातिशाख्य विशेष उल्लेखनीय है। इसमें १८ पटल हैं और प्रत्येक में छन्दोबद्ध सूत्र हैं। अन्य प्रातिशाख्यों में मुख्य रूप से सन्धि, पदपाठ, क्रमपाठ आदि का उल्लेख तो है, किन्तु शिक्षा का वर्णन बहुत संक्षिप्त है; किन्तु ऋक्प्रातिशाख्य के १३वें-१४वें पटलों में शिक्षा के विषय का भी पर्याप्त विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्रातिशाख्यों पर आगे चलकर अनेक व्याख्या-ग्रन्थ भी लिखे गये, किन्तु वे पर्याप्त उपादेय नहीं हो सके। उनमें मूल को स्पष्ट करने की अपेक्षा और अधिक उलझाकर ही रख दिया गया है।[3] श्रेष्ठ व्याख्याकारों में उवट (उव्वट) विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने ऋक्प्रातिशाख्य, शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य, माध्यन्दिनी संहिता तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी पर अपने भाष्य लिखे हैं, जिनमें ऋक्प्रातिशाख्य का भाष्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।[4]

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक : सं० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृ० २४९-५०।

२. वही, पृ० २५०।

३. '...The commentaries that we possess have a habit of wrapping the obvious in obscurity instead of casting light on the numerous difficulties. Moreover, it is clear that the intellectual climate of phonetic study had undergone a marked deterioration between the time when the treatises were composed and the time of our commentaries.'—W. S. Allen : 'Phonetics in ancient India,' Introduction, p. 7.

४. 'The one outstanding exception to the general mediocrity of the Indian commentators is Uvata, whose interpretations of the R. P. and enlightening approach to a variety of phonetic topics.'—*Ibid.*

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने प्रातिशाख्यों की रचना का काल ई० पू० ५०० से १५० के बीच माना है,[1] किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक प्रभृति विद्वानों के अनुसार प्रातिशाख्यों की रचना विक्रम-संवत् से ३००० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई थी।[2] ऐसे विरोधी मतों के बीच प्रातिशाख्यों की रचना के प्रारम्भिक काल के सम्बन्ध में सहसा कोई निश्चित मत दे देना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

निघण्टु :

वैदिक मन्त्रों की उच्चारण-शुद्धता को यथावत् स्थिर रखने के लिए जिस प्रकार पदपाठ, शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों की रचना की गई, उसी प्रकार उनकी अर्थ-शुद्धता को स्थिर बनाये रखने के लिए निघण्टुओं एवं निरुक्तों का प्रणयन किया गया। निघण्टु को सामान्यतः कोष का पूर्व या प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। उसका सम्बन्ध मुख्यतः वैदिक शब्दों से था। आधुनिक कोषों की तरह उसमें शब्दों के अर्थ नहीं दिये गये हैं, किन्तु वैदिक शब्दों को इस प्रकार पर्याय-क्रम से सजाया गया है कि उनके अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। इसीलिए, विद्वानों ने उसे वैदिक शब्दकोष कहा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रारम्भ में बहुत-से निघण्टु बने होंगे, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। मैकडानेल के अनुसार यास्क के समय में पाँच निघण्टु उपलब्ध थे। किन्तु, इस समय केवल एक ही निघण्टु ज्ञात है, जिसके आधार पर यास्क ने अपने निरुक्त की रचना की थी। वह निघण्टु पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में क्रमशः १७, २२ तथा ३० खण्ड हैं। उनमें शब्दों को पर्याय-क्रम से सजाया गया है; इस कारण अर्थ न देने पर भी प्रायः अर्थ स्पष्ट हो जाता है। चौथा अध्याय ३ खण्डों का है। इसमें वेद के कुछ अत्यन्त क्लिष्ट शब्द संगृहीत किये गये हैं। पाँचवाँ अध्याय ६ खण्डों का है, जिनमें देवताओं के नाम दिये गये हैं।[3]

निरुक्त :

'निरुक्त' शब्द का अर्थ है निर्वचन या 'व्युत्पत्ति', अर्थात् यह बताना कि कोई शब्द किन-किन तत्त्वों के मिश्रण से निष्पन्न हुआ है। उसकी रचना

१. उपरिवत्।
२. युधिष्ठिर मीमांसक : सं० व्या० शा० का इ०, भाग २, पृ० २८९।
३. डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषाविज्ञान, पृ० ५२९।

का मुख्य उद्देश्य निघण्टु में संगृहीत वैदिक शब्दों के अर्थतत्त्व एवं रचनातत्त्व का विश्लेषण कर वैदिक मन्त्रों के शुद्धार्थ को सुरक्षित रखना था। निरुक्त की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है :

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

अर्थात्, वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश (वर्णलोप) और धातु का अर्थविस्तार, इन पाँचों का शब्दों में निर्देशपूर्वक उल्लेख निरुक्त कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार निरुक्त में ध्वनि, पद और अर्थ, तीनों का समाहार हो जाता है; इससे उसके क्षेत्र की व्याप्ति का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।[१]

वैदिक मन्त्रों के रचनाकाल से निरुक्तों के रचनाकाल तक आते-आते बहुत सारे वैदिक शब्द अर्थ की दृष्टि से अस्पष्ट हो चुके थे। इस कारण उनके अर्थों का निर्धारण आवश्यक था। किन्तु, अर्थ का निर्धारण तभी सम्भव था, जब उन शब्दों की व्युत्पत्ति का निर्धारण किया जाता। उसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए निरुक्तों की रचना की गई। इस समय यद्यपि एकमात्र यास्कीय निरुक्त ही उपलब्ध है, तथापि उसमें उल्लिखित अनेक पूर्ववर्त्ती निरुक्त-कारों के नाम इस मान्यता के साक्षी हैं कि निरुक्तों की रचना यास्क के बहुत पहले से होती आयी थी और निरुक्त-विषयक साहित्य पर्याप्त समृद्ध और विस्तृत था। निरुक्तकारों में यास्क ही सम्भवतः अन्तिम थे। पतञ्जलि के समय में निरुक्त व्याख्यातव्य ग्रन्थ माना जाता था। महाभाष्य में लिखा है : 'निरुक्तं व्याख्यायते, व्याकरणं व्याख्यायते इत्युच्यते।'[२] दुर्गाचार्य ने अपनी 'निरुक्तवृत्ति' में निरुक्त के १४ प्रभेद माने हैं : 'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्।'[३]

यास्क ने अपने निरुक्त में इस तथ्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि वेदाध्ययन के लिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है।[४] उस समय तक वैदिक

---

१. देवेन्द्रनाथ शर्मा : भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० २९५।
२. पृ० ७४, आनन्दाश्रम, पूना-संस्क०।
३. ४।३।६६।
४. 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।'—निरुक्त, पृ० १९५।

मन्त्रों के अर्थ लोगों के लिए पर्याप्त दुर्बोध बन गये थे। यहाँ तक कि अच्छे-अच्छे विद्वान भी उनके अर्थ नहीं समझ पाने के कारण उन्हें अर्थहीन घोषित करने लगे थे। यास्क ने स्वयं कौत्स नामक एक ऐसे विद्वान का उल्लेख किया है, जिन्होंने वेद-मन्त्रों को अर्थहीन घोषित करते हुए वेद के प्रति लोगों के पूज्य भाव का विरोध किया था।[१] इसी परम्परा में सुगत और चार्वाक जैसे आचार्य भी हुए, जिन लोगों ने वेदों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की थी। ऐसी परिस्थिति में तद्युगीन श्रेष्ठ आचार्यों का ध्यान धर्म के मूल आधार वेद पर होने वाले अनुचित आक्षेपों की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। फलतः, वे लोग अपनी पूरी शक्ति के साथ वेद के पाठ तथा अर्थ को सुरक्षित बनाये रखने के प्रयत्न में जुट गये थे। इस उद्देश्य की सिद्धि में निरुक्तकारों तथा वैयाकरणों के योगदान सर्वाधिक उपयोगी प्रमाणित हुए।[२]

निरुक्तों की रचना को विद्वानों ने संसार में अर्थ-विज्ञान के अध्ययन का सबसे पहला प्रयास माना है।[३] यास्क के समय तक वैदिक भाषा के साथ-साथ तत्कालीन लौकिक संस्कृत के रूपों पर भी तुलनात्मक विचार करने की प्रवृत्ति का उद्भव हो चुका था। अतएव, यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक बार कहा है कि वैदिक भाषा में (अन्वध्यायम्) और तत्कालीन लौकिक संस्कृत (भाषायाम्) में ऐसा प्रयोग-भेद है।[४]

---

१. 'यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थक्यं भवतीति कौत्सोऽनर्थका हि मन्त्राः।'—वही।

२. 'Both Nairuktas and Vaiyakaranas seriously engaged themselves in the arduous task of preserving the Vedic texts intact by advocating the eternity of 'Shabda', on the one hand, and by analysing the entire structure of the Vedic words, on the other. The etymologists sought to bring out the meaning by suggesting derivation of words, while the grammarians took upon themselves the task of supporting the Vedic forms by an analytical process; and those methods, supplementing each other, proved to be of much importance in preserving the sacred texts in their pristine glory',—P. C. Chakravarti : The Phil. of Skt. Gram., Intro., p. 10.

३. डॉ० बाबूराम सक्सेना : भाषाविज्ञान, पृ० १४०।

४. 'नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्।'–नि०, १।४; 'उभयमन्वध्यायम्।'–नि०, १।५।

यास्कीय निरुक्त में दो खण्ड हैं। प्रथम में निरुक्त, अर्थात् वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति तथा दूसरे में निघण्टु है, जिसका परिचय पहले ही दिया जा चुका है। निरुक्त में मुख्यतः यौगिक शब्दों पर विचार किया गया है। यास्क द्वारा प्रस्तुत निरुक्तियों में कुछ तो साधार हैं और कुछ काल्पनिक। काल्पनिक निरुक्तियों के प्रसङ्ग में उन्होंने स्वीकार किया है कि ये अनुमानाश्रित हैं।[1] उन्होंने अपने निरुक्त में पद के पूर्वप्रचलित चार वर्गों—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात को भी ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। उनके पूर्ववर्त्ती दो आचार्यों—शाकटायन और गार्ग्य में इस प्रश्न के सम्बन्ध में विवाद था कि शब्द केवल धातुज हैं या धातुज-अधातुज दोनों। शाकटायन सभी शब्दों को धातुज मानने के पक्ष में थे और गार्ग्य धातुज-अधातुज दोनों। यास्क ने शाकटायन के मत का ही समर्थन किया।

यास्कीय निरुक्त की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में पूर्ण मतैक्य नहीं है। स्कोल्ड[2] तथा डॉ० स्वरूप[3] के अनुसार यास्क का निरुक्त पूर्ण वैज्ञानिक तथा विद्वानों को चकित कर देने वाला ग्रन्थ है, किन्तु बी० के० राजवाडे[4] के अनुसार यह एक नितान्त अवैज्ञानिक कृति है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा[5] ने इसे वैज्ञानिकता तथा अवैज्ञानिकता के बीच की कृति माना है। निरुक्त की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में विपरीत विचार रखने वालों ने वस्तुतः उसे उस ऐतिहासिक एवं भाषाशास्त्रीय पृष्ठभूमि में रखकर देखने का प्रयास नहीं किया है, जिसकी वह उपज है। किन्तु, वैसा करना सीमित ज्ञान वाले व्यक्तियों के लिए सम्भव भी नहीं है; क्योंकि उसके लिए समस्त वैदिक वाङ्मय का दुर्लभ पाण्डित्य अपेक्षित है, जो विरले विद्वानों में ही पाया जाता है।

संक्षेप में, भारतीय व्याकरणशास्त्र के उद्भव के सम्बन्ध में पाश्चात्य मान्यता-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि भारतीय व्याकरण-शास्त्र का प्रारम्भ वैदिकी और लौकिकी के सङ्क्रान्ति-युग में वेदों के अध्ययन के साथ हुआ। व्याकरण के शास्त्रीय रूप का पूर्ण विकास व्याकरण-निर्माण-

---

१. देवेन्द्रनाथ शर्मा : भा० वि० की भू०, पृ० २९६।
२. 'The Nirukta', Lond. 1926, p. 181.
३. 'The Nighantu and the Nirukta', Ox. 1920, Intro, p. 64.
४. 'Yaska's Nirukta', Poona, 1940, p. C. ii, C. iv. etc.
५. 'The Etymologies of Yaska', Hosiyarpur, 1953.

प्रक्रिया के क्रमिक विकास के परिणाम-स्वरूप हुआ, अर्थात् पदपाठ, शिक्षा, प्रातिशाख्य एवं निरुक्त व्याकरण-निर्माण-प्रक्रिया के क्रमिक सोपान थे, जिनके आधार पर आगे चल कर व्याकरण के पूर्ण परिनिष्ठित एवं सर्वाङ्गपूर्ण शास्त्रीय रूप का निर्माण सम्भव हुआ।

उपसंहार :

भारतीय व्याकरणशास्त्र के उद्भव-काल-सम्बन्धी प्रश्न पर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा जो अलग-अलग मत या तर्क दिये गये हैं, उन पर तटस्थ दृष्टि से सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर हम निम्नाङ्कित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :

वेद को चाहे नित्य, अपौरुषेय एवं सर्वज्ञानमय माना जाय या अनित्य, पौरुषेय और सामान्य धर्मग्रन्थ; उसकी भाषा चाहे मूलभाषा मानी जाय या प्राक्-भारोपीय भाषा-परिवार की पुत्री; इतना निश्चित है कि भाषा के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन का प्रारम्भ वैदिक मन्त्रों के रचना-काल में ही प्रारम्भ हो गया था[१] तथा संहिता[२] एवं ब्राह्मण-काल[३] तक आते-आते चिन्तन की वह परम्परा पर्याप्त प्रौढ हो चुकी थी। यदि ऐसा नहीं होता, तो वैदिकी और लौकिकी के सङ्क्रान्ति-काल में पदपाठ, शिक्षा, प्रातिशाख्य एवं निरुक्त का निर्माण एकाएक सम्भव नहीं हो पाता। किन्तु, इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि पदपाठ की युक्ति के निर्धारण के पूर्व भाषा-विषयक चिन्तन का पर्याप्त विकास हो जाने पर भी उसे व्याकरण-निर्माणोपयोगी शास्त्रीय रूप नहीं प्राप्त हो सका था[४]

१. 'The earliest reference to grammatical speculations, we may Venture to add on the authority of Patanjali and Sayana is to be found in RK 'चत्वारि श्रृङ्गाः' (4. 58. 30) etc., which admits of double interpretations-sacrificial and grammatical.'—P. C. Chakravarti : The Phil. of Skt. gram.' Intro., p. 20.

२. 'The Samhita literature represents, of course, the crude beginning of grammatical speculations.'—Ibid.

३. 'There, we turn to Brahmana literature. Here we find the real biginning of grammar'.—Ibid, p. 21.

४. (पृ० १०)...'There is consequently absence of systematisation and elaboration. It is interesting to see that the scientific accuracy of these speculations is almost unquestionable.'—Ibid, p. 19.

और न उसकी व्यावहारिक उपयोगिता ही सिद्ध हो पायी थी। सर्वप्रथम पदपाठ की युक्ति के निर्धारण में उस चिन्तन का व्यावहारिक एवं शास्त्रीय उपयोग किया गया और इस प्रकार वहीं से भाषा विषयक पूर्व निष्कर्षों को शास्त्रीय रूप में सजाये जाने के प्रयत्नों का श्रीगणेश हुआ; जो क्रमशः शिक्षा, प्रातिशाख्य एवं निरुक्तादि में परीक्षित एवं पुष्ट होते हुए अन्त में पूर्ण व्यवस्थित व्याकरणशास्त्र को रूपायित करने में समर्थ हुआ।

इस प्रकार, पहले तो भाषा (या व्याकरण)-विषयक चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा का आधार लेकर पदपाठ, शिक्षा, प्रातिशाख्य एवं निरुक्तादि का निर्माण हुआ, और फिर बाद में इन सबका आधार लेकर व्याकरणशास्त्र का। इस दृष्टि से भारतीय आचार्यों की यह परम्परागत मान्यता सही ही है कि व्याकरण-विषयक चिन्तन का आदि मूल वेद है और उस चिन्तन का समुचित विकास पदपाठ की युक्ति के निर्धारण के पूर्व ही हो चुका था; साथ ही पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता भी सही है कि व्याकरणशास्त्र के निर्माण की यथार्थ प्रक्रिया का प्रारम्भ पदपाठ की युक्ति के निर्धारण के साथ हुआ तथा शिक्षा, प्रातिशाख्य एवं निरुक्त के विभिन्न सोपानों को पार करती हुई अन्त में वह प्रक्रिया व्याकरणशास्त्र को सर्वाङ्गीण रूप में उपस्थित करने में समर्थ हो सकी। यास्क के समय तक अनेक निरुक्तों और व्याकरणों की रचना हो चुकी थी तथा यास्क और पाणिनि के बीच भी अनेक श्रेष्ठ वैयाकरण हुए; किन्तु दुर्भाग्य से इस समय न तो यास्क के पूर्व का कोई निरुक्त उपलब्ध है और न पाणिनि के पूर्व का कोई व्याकरण।

पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण

आज यद्यपि पाणिनि से पूर्व का कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है, तथापि पाणिनि निश्चय ही प्रथम वैयाकरण नहीं थे। उनसे पूर्व अनेकानेक आचार्य व्याकरणशास्त्र का प्रवचन या प्रणयन कर चुके थे। अष्टाध्यायी में उन्होंने स्वयं १० पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मत नामोल्लेख-पूर्वक उद्धृत किये हैं। इसके अतिरिक्त यदि प्रातिशाख्यों में स्मृत सभी आचार्यों को वैयाकरण स्वीकार कर लिया जाय, तो पाणिनि से प्राचीन वैयाकरणों की संख्या ८५ के आसपास पहुँच जायगी। किन्तु, उनमें से अष्टाध्यायी में स्मृत १० के अतिरिक्त केवल १७ और

वैयाकरणों के अस्तित्व के स्पष्ट प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इसलिए, हमने कुल २७ को पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण के रूप में स्वीकार किया है।

अष्टाध्यायी में अनुल्लिखित आचार्य :

१. **ब्रह्मा** : भारतीय ऐतिह्य में ब्रह्मा को सभी शास्त्रों का आदि प्रवक्ता कहा गया है। तदनुसार, व्याकरणशास्त्र के आदि प्रवक्ता भी वे ही माने जाते हैं। ऋक्तन्त्रकार ने इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है : "ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।" (१।४) अर्थात्, सर्वप्रथम ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मणों को व्याकरणशास्त्र का ज्ञान प्रदान किया। 'हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि' में उल्लिखित आठ वैयाकरणों में ब्रह्मा का नाम सर्वप्रथम है।[1] इसी प्रकार, 'ऋग्वेदकल्पद्रुम' के कर्त्ता केशव ने भी ब्रह्मा का उल्लेख आदि वैयाकरण के रूप में किया है।[2] इन प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट है कि व्याकरण के एक देश अक्षर-समाम्नाय के प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा थे, किन्तु यह नाम चूंकि उपाधि के रूप में भी अनेक व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ था, इसलिए जिन्होंने व्याकरणशास्त्र का सर्वप्रथम प्रवचन किया, वे ब्रह्मा कौन थे, कब हुए तथा उनके द्वारा प्रोक्त व्याकरण कौन और कैसा था; इन सारे प्रश्नों का समुचित उत्तर निश्चित और सर्वमान्य प्रमाणों के अभाव में देना हमारे लिए सम्भव नहीं है। यों, कुछ विद्वानों ने ब्रह्मा को निश्चित रूप से ऐतिहासिक व्यक्ति माना है तथा उनका समय इस कल्प के विगत जल-प्लावन के पश्चात् स्थिर किया है।[3]

२. **शिव** : भारतीय ऐतिह्य में ब्रह्मा की तरह शिव को भी प्रायः सभी शास्त्रों का आदि प्रवक्ता कहा गया है। शिव के अनेक नामों में शिव, रुद्र, ईशान, महेश्वर आदि का उल्लेख वैयाकरण के रूप में हुआ है। महाभारत

---

१. "ब्राह्ममैशानमैन्द्रञ्च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्॥" (पृ० ३)

२. "तत्राद्यं ब्राह्ममुदितं द्वितीयं चान्द्रमुच्यते।
तृतीयं याम्यमाख्यातं चतुर्थं रौद्रमुच्यते॥११॥

३. युधिष्ठिर मीमांसक : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० ५८।

के शान्तिपर्व में सात महान वेदपारगों में शिव की भी गणना की गयी है। उन्हें वेदाङ्गों का प्रवर्त्तक कहा गया है : 'वेदान्तषडङ्गान्युद्धृत्य।' इससे शिव का वेदाङ्गों में सर्वाधिक प्रधान अङ्ग व्याकरण का आदि प्रवक्ता होना स्वतः ध्वनित होता है। श्लोकबद्ध 'पाणिनीय शिक्षा' के अन्त में लिखा है :

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ।।

इसी श्लोक के आधार पर चतुर्दश प्रत्याहार-सूत्रों को माहेश्वरसूत्र अथवा शिवसूत्र कहा जाता है। नन्दिकेश्वर ने शिव की डमरु-ध्वनि से इसकी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए अपनी काशिका में लिखा हैं :

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चबारम् ।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।।

'हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि' (पृ० ३) में ऐशान, अर्थात् ईशान (शिव)-प्रोक्त व्याकरण का स्पष्ट उल्लेख है :

ब्राह्ममैशानमैन्द्रञ्च प्राजापत्यं बृहस्पतिम् ।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम् ।।

'ऋग्वेदकल्पद्रुम' के कर्त्ता केशव ने 'यामलाष्टकतन्त्र' के उपशास्त्र-निर्देशक कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें व्याकरण के प्रारम्भिक प्रवक्ताओं में रुद्र, अर्थात् शिव का भी उल्लेख है। वे श्लोक इस प्रकार हैं :

यस्मिन् व्याकरणान्यष्टौ निरूप्यन्ते महान्ति च ।।१०।।
तत्राद्यं ब्राह्ममुदितं द्वितीयं चान्द्रमुच्यते ।
तृतीयं याम्यमाख्यातं चतुर्थं रौद्रमुच्यते ।।११।।
वायव्यं पञ्चमं प्रोक्तं षष्ठं वारुणमुच्यते ।
सप्तमं सौम्यमाख्यातमष्टमं वैष्णवं तथा ।।१२।।

सारस्वत-भाष्य के अनुसार शिवप्रोक्त व्याकरण समुद्रवत् विशाल एवं गम्भीर था :

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ।।

उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि शिव ने निश्चय ही किसी व्याकरण का प्रवचन किया था, जिसके आधार पर शैव, अर्थात् माहेश्वर-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हुआ था। किन्तु, अभी तक न तो वैयाकरण शिव की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य है, न उनके काल का निश्चित निर्धारण हो सका है और न शिवप्रोक्त व्याकरण का कोई अंश ही उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में प्रामाणिक सामग्री के अभाव में वैयाकरण शिव तथा उनके द्वारा प्रोक्त व्याकरण के सम्बन्ध में विश्वास के साथ कुछ भी कह पाना कठिन है।

३. **बृहस्पति** : ऋक्तन्त्र के अनुसार ब्रह्मा के पश्चात् व्याकरणशास्त्र के द्वितीय प्रवक्ता बृहस्पति थे। वे अङ्गिरा के पुत्र होने के कारण आङ्गिरस तथा देवों के पुरोहित एवं आचार्य होने के कारण सुराचार्य के नाम से भी विख्यात हैं। 'मत्स्यपुराण' में उन्हें वाक्पति नाम से स्मरण किया गया है।[1] महाभारत में उन्हें समस्त वेदाङ्गों का प्रवक्ता कहा गया है।[2] बृहस्पति ने अनेक शास्त्रों का प्रवचन किया था, जिनमें एक व्याकरणशास्त्र भी था। महाभाष्य के अनुसार उन्होंने दिव्य सहस्र वर्ष तक इन्द्र को प्रतिपदपाठ के रूप में व्याकरण का उपदेश दिया था।[3] महाभाष्य के 'शब्दपारायणं प्रोवाच' की व्याख्या करते हुए भर्त्तृहरि ने लिखा है : 'शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य।'[4] इसके आधार पर युधिष्ठिर मीमांसक ने बृहस्पति के व्याकरणशास्त्र का नाम 'शब्दपारायण' होने का अनुमान किया है।[5] 'न्यायमञ्जरी' में जयन्त ने बृहस्पति का एक वचन उद्धृत किया है, तदनुसार औशनसों (उशना-प्रोक्त शास्त्र के अध्येताओं) के मत में व्याकरण को 'मरणान्त व्याधि' कहा गया है।[6] 'हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि',

---

१. 'भार्यामर्पय वाक्पतेस्त्वम्।'—मत्स्यपु०, २३।४।

२. 'वेदाङ्गानि बृहस्पतिः।'—शान्ति०, अ० ११२, श्लो० ३२, कुम्भघोषसंस्करण।

३. 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच।'—महाभाष्य, अ० १, पा० १, आ० १।

४. भर्त्तृ० महाभाष्यदीपिका, पृ० २१। तुलनीय : 'शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य।'—कैयट, महाभाष्यप्रदीप, नवा०, पृ० ५१, निर्णयसागर-सं०।

५. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इतिहास, भाग, १, पृ० ६०।

६. "तथा च बृहस्पतिः 'प्रतिपदमशक्यत्वाल्लक्षणस्याप्यवस्थानात् तत्रापि स्खलितदर्शनाद् अनवस्थाप्रसङ्गाच्च मरणान्तो व्याधिर्व्याकरणमिति औशनसाः' इति।"—न्यायमञ्जरी, पृ० ४१८, लाजरस कम्पनी, काशी में मुद्रित।

'यामलाष्टकतन्त्र' और 'सारस्वत-भाष्य' के जो उद्धरण शिव के प्रसङ्ग में हमने उपस्थित किये हैं, उनमें भी बृहस्पति के शब्दशास्त्र-प्रवचन का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु, दुर्भाग्य से इस समय न तो बृहस्पति-प्रोक्त व्याकरण ही कहीं उपलब्ध है और न उनके काल आदि के सम्बन्ध में ही कोई सर्वमान्य मत निर्धारित हो पाया है, इसलिए उनके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा जाना सम्भव नहीं है।

४. **इन्द्र** : भारतीय ऐतिह्यानुसार इन्द्र कश्यप प्रजापति के पुत्र थे और दक्षप्रजापति की पुत्री अदिति उनकी माता थीं।[१] ऋक्तन्त्र[२] एवं महाभाष्य[३] के अनुसार उनके गुरु बृहस्पति थे, जिनसे उन्होंने दिव्य सहस्र वर्ष तक प्रतिपदपाठ के रूप में व्याकरण की शिक्षा पायी थी। उस समय तक लक्षणों का निर्माण नहीं हुआ था। सर्वप्रथम इन्द्र ने ही प्रतिपदपाठ की प्रक्रिया की दुरूहता को समझा और फलतः पदों के प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन द्वारा शब्दोपदेश-प्रक्रिया का प्रवर्त्तन किया।[४] यही कारण था कि यद्यपि उनके पूर्व कई व्याकरण-प्रवक्ता हो चुके थे, किन्तु व्याकरण-निकाय में वे ही प्रथम वैयाकरण के रूप में विख्यात हुए।[५]

'कथासरित्सागर' के अनुसार ऐन्द्रतन्त्र पुराकाल में ही नष्ट हो गया था।[६] फिर भी, उसका उल्लेख जैन शाकटायन-व्याकरण,[७] लङ्कावतारसूत्र[८] सोमेश्वर

---

१. युo मीo : संo व्याo शाo का इo, भाग, १, पृo ८०।

२. ऋक्तन्त्र, १।४।

३. महाभाष्य, अo १, पाo १, आo १।

४. "वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति ......तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।"—तैo संo, ६।४।७।
तुलनीय : 'तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।'—सायण-ऋग्भाष्य, उपोद्घात, पूना-संo, भाo १, पृo २६; मैंo सूo ४।५।८; काo संo २७।३; शतo ४।१।३।११; कपिo ४२।३।

५. (क) तैo संo ६।४।७। (ख) ऑन द ऐन्द्र स्कूल ऑफ संस्कृत ग्रामेरियन्स, पृo ५। (ग) द इण्डियन एण्टिक्वेरी, अप्रैल १८७५, पृo १०२ से।

६. आदि से तरङ्ग ४, श्लोक २४।२५।

७. 'जरायाऽसीन्द्रस्याचि।'—शाo व्याo, १।२।३७।

८. 'इन्द्रोऽपि महामते अनेकशास्त्रविदग्धबुद्धिः स्वशास्त्रप्रणेता......।'—टेक्निकल टर्म्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृo २८० पर उद्धृत।

सूरि-विरचित यशस्तिलकचम्पू,[१] हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि,[२] अल्बेरुनी-लिखित भारत-यात्रा-वर्णन,[३] बोपदेव-कृत कविकल्पद्रुम[४] आदि अनेक ग्रन्थों में हुआ है। महाभारत के टीकाकार देवबोध के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण अपने विषय का प्रथम एवं अत्यन्त विस्तृत ग्रन्थ था।[५] तिब्बतीय ग्रन्थों के अनुसार उसका परिमाण २५,००० श्लोक था।[६]

सम्प्रति, ऐन्द्रतन्त्र के केवल दो श्लोक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। एक सूत्र विक्रम की प्रथम शताब्दी में होने वाले भट्टारक हरिचन्द्र की एक व्याख्या में प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है : "शास्त्रेष्वपि—'अथ वर्णसमूहः' इति ऐन्द्रव्याकरणस्य।"[७] इसके अनुसार ऐन्द्रव्याकरण का प्रथम सूत्र 'अथ वर्ण-समूहः' था। इससे यह अनुमान होता है कि उसमें भी पाणिनीय अष्टक के समान प्रारम्भ में वर्ण-समाम्नाय का उपदेश था। दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त-वृत्ति के प्रारम्भ में ऐन्द्रव्याकरण का एक दूसरा सूत्र उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है : "नैकं पदं जातम्, यथा 'अर्थः पदम्' इत्यैन्द्राणाम्।"[८] अर्थात्, ऐन्द्रव्याकरण में सब अर्थवान् वर्ण-समुदायों की पद-संज्ञा होती है। उनके यहाँ नैरुक्तों तथा अन्य वैयाकरणों के सदृश नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार विभाग नहीं हैं।[९] सुषेण विद्याभूषण ने भी 'अर्थः पदम्' को ऐन्द्र नाम से उद्धृत किया है।[१०] नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ ने 'परिभाषेन्दुशेखर' की व्याख्या करते

---

१. प्रथम आश्वास, पृ० ९०।
२. 'ऐन्द्रेशानादिषु व्याकरणेषु चाज्झलादिरूपस्यासिद्धेः।' (पृ० १०)
३. अल्बेरुनी का भारत, भा० २, पृ० ४०।
४. 'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।' (कविकल्पद्रुम के प्रारम्भ में)।
५. "यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥८॥"
६. जर्नल, गङ्गानाथ झा रिसर्च इंस्टीच्यूट, भा० १, सं० ४, पृ० ४१०, सन् १९४४ ई०।
७. चरकन्यास, पृ० ५८, पं० मस्तराम शर्मा-मुद्रापित।
८. निरुक्तवृत्ति, पृ० १०, पंक्ति ११।
९. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० ८७।
१०. "कलापचन्द्रे सुषेणविद्याभूषणलिखिताद्धेन—'अर्थः पदम्' आहुरैन्द्राः, 'विभक्त्यन्तं पदम्' आहुरापिशलीयाः, 'सुप्तिङन्तं पदम्' पाणिनीयाः।" (सू० २०)।—व्या० द० इ०, यु० हा०, पृ० ४०।

हुए काशिका टीका में परिभाषाओं का आदिमूल ऐन्द्रतन्त्र को ही माना है।[१] किन्तु, मूल के अनुपलब्ध होने के कारण तथा अन्य प्रामाणिक सामग्री के अभाव में इस सम्बन्ध में कोई भी निश्चित निर्णय देना सम्भव नहीं है।

विद्वानों के अनुसार ऐन्द्रसम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व से आरम्भ होकर उनके बाद भी चलता रहा। सम्प्रति, उपलब्ध प्रातिशाख्य इसी सम्प्रदाय के हैं। कात्यायन तथा कातन्त्रकार भी इसी सम्प्रदाय के थे।[२] इन्द्र के काल के विषय में विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है। युधिष्ठिर मीमांसक ने उनका समय ९५०० वर्ष वि० पू० माना है।[३]

५. वायु : तैत्तिरीय संहिता के अनुसार इन्द्र ने वाणी को व्याकृत करने में वायु से सहायता ली थी।[४] इससे स्पष्ट है कि इन्द्र की तरह ही वायु भी निश्चय ही वैयाकरण रहे होंगे। कई स्थानों में वर्षा के लिए 'वाग् वा ऐन्द्रवायवः' जैसे प्रयोग मिलते हैं।[५] वायुपुराण (२।४४) में वायु को 'शब्द-शास्त्रविशारद' कहा गया है। यामलाष्टकतन्त्र में आठ व्याकरणों में वायव्य-व्याकरण का भी उल्लेख है।[६] किन्तु, इस समय न तो वह व्याकरण ही कहीं उपलब्ध है और न उसका कोई अंश ही; साथ ही वायु के काल, ऐतिहासिकता आदि के सम्बन्ध में भी कोई सर्वमान्य मत उपलब्ध नहीं है।

६. भरद्वाज : ऋक्तन्त्र के अनुसार भरद्वाज ने इन्द्र से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था और फिर स्वयं उन्होंने अन्य ऋषियों को उसका ज्ञान प्रदान किया था।[७] ऐतरेय आरण्यक (२।२।४) के अनुसार इन्द्र ने भरद्वाज के

---

१. 'प्राचीन वैयाकरणनये वाचनिकानि' (परिभाषेन्दुशेखर)। 'प्राचीनेति इन्द्रादीत्यर्थः' (का० टी०)।
२. डॉ० वा० स०, सा० भा०, पृ० १४१।
३. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० ८०।
४. "वाग्वैपराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद्वरं वृणे, मह्यं चैव वायवे च सह गृह्यताम् इति।"—तै०सं०, ६।४।७।
५. मैं० सं०, ४।५।८; कपि० सं०, ४२।३।
६. ऋग्वेदकल्पद्रुम की भूमिका में उद्धृत युधिष्ठिर मीमांसक का हस्तलेख, पृ० ११४।
७. 'इन्द्रो भरद्वाजाय, [illegible]' [illegible] १—१४।

लिए घोषवत् और ऊष्म वर्णों का उपदेश दिया था।[1] इस समय यद्यपि भरद्वाज-तन्त्र या उसका कोई वचन कहीं उपलब्ध नहीं है, फिर भी उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर अनेक विद्वानों ने उन्हें एक श्रेष्ठ वैयाकरण के रूप में स्वीकार किया है। कात्यायन ने यजु:प्रातिशाख्य में आख्यात को भरद्वाज-दृष्ट कहा है।[2] इससे यह अनुमान होता है कि भरद्वाज ने अपने व्याकरण में आख्यात पर विस्तार से विचार किया होगा। किन्तु, यह भी निरा अनुमान ही है। भरद्वाज के काल एवं ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी कोई सर्वमान्य प्रामाणिक मत उपलब्ध नहीं है। युधिष्ठिर मीमांसक ने उन्हें देवगुरु बृहस्पति-पुत्र भरद्वाज से अभिन्न माना है तथा उनका न्यूनातिन्यून काल ६३०० वर्ष वि० पू० माना है।[3]

७. **भागुरि :** युधिष्ठिर मीमांसक ने आचार्य भागुरि को वैयाकरण के अतिरिक्त सामवेद की संहिता-शाखा और ब्राह्मण का प्रवक्ता भी माना है तथा उनका समय ४००० वर्ष विक्रम-पूर्व निश्चित किया है।[4] वैयाकरण-निकाय में भागुरि-व्याकरण-विषयक मतप्रदर्शक निम्नाङ्कित श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है :

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥[5]

अर्थात्, आचार्य भागुरि के मत में 'अव' और 'अपि' उपसर्ग के अकार का लोप हो जाता है; यथा अवगाह—वगाह, अपिधान—पिधान तथा हलन्त शब्दों में आप् (टाप्) प्रत्यय लगता है; यथा वाक्—वाचा, निश्—निशा, दिश्—दिशा।

भाषावृत्ति[6] में भागुरि का एक मत तथा जगदीश तर्कालङ्कार-कृत 'शब्दशक्ति-प्रकाशिका'[7] में कई मत उद्धृत मिलते हैं। उनके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि भागुरि का व्याकरण विस्तृत, परिष्कृत तथा श्लोकबद्ध था।

१. 'तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राण... एतदु हैवेन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच।'—ऐ० आ०, २।२।४।
२. 'भारद्वाजाकमाख्यातम्'—च० प्रा०, अ० ८, पृ० ३२७ मद्रास-सं०; उवट : भरद्वाजेन दृष्टमाख्यातम्।
३. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० ९०।
४. उपरिवत्, पृ० ६७।
५. न्यास, ६।२।३७, पृ० ३४६। धातुवृत्ति, इण्धातु, पृ० २४७। प्रक्रियाकौमुदी, भाग १, पृ० १०२।
६. 'नप्तेति भागुरिः।'—भाषावृत्ति, ४।१।१०।
७. काशी-सं०, पृ० ४४४, ४४५, ४४६, ४४७ आदि।

८. **पौष्करसादि** : आचार्य पौष्करसादि का वैयाकरण-रूप में उल्लेख महाभाष्य[1] के एक वार्त्तिक में, तैत्तिरीय[2] एवं मैत्रायणी-प्रातिशाख्य[3] में, काशकृत्स्न धातुपाठ की चन्नवीर कवि-कृत कन्नड़-टीका के आरम्भ में[4] तथा आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में मिलता है। उनके कुछ मत शाङ्खायन आरण्यक (७।८), हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र[5] एवं अग्निवेश्य गृह्यसूत्र[6] में मिलते हैं। ये सब उनके श्रेष्ठ एवं प्राचीन वैयाकरण होने के प्रमाण हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने उनका काल भारत-युद्ध के आसपास (३१०० वि० पू०) माना है।[7] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (५।४०) के माहिषेय भाष्य के अनुसार पौष्करसादि ने कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा का प्रवचन किया था।

९. **चारायण** : चारायण कृष्णयजुर्वेद की चारायणी शाखा के प्रवक्ता कहे गये हैं। उन्होंने किसी व्याकरणशास्त्र का भी प्रवचन किया था, इसका स्पष्ट उल्लेख तो कहीं नहीं मिलता; किन्तु महाभाष्य (१।१।७३) में पाणिनि एवं रौढि के साथ उनका भी नाम आया है; यथा "कम्बलचारायणीयाः ओदनपाणिनीयाः घृतरौढीयाः।" इससे उनका वैयाकरण होना सिद्ध होता है। लौगाक्षिगृह्यसूत्र के व्याख्याता देवपाल ने (५।१ की टीका में) चारायण, अपर नाम चारायणि का एक सूत्र उसकी व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है : "तथा च चारायणिसूत्रम्—'पुरुकृतेच्छछ्रयोः' इति। 'पुरुशब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासङ्ख्यं छे छ्रे परतः। पुरुच्छदनं पुच्छम्, कृतस्य छदनं विनाशनं कृच्छम्' इति।" यदि उक्त सूत्र चारायणीय प्रातिशाख्य का न हो, जिसकी सम्भावना अधिक है, तो निश्चय ही चारायण-व्याकरण का होगा। युधिष्ठिर मीमांसक ने इनका भी समय ३१०० वि० पू० के आसपास माना है।[8]

१०. **काशकृत्स्न** : पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में काशकृत्स्न का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु व्याकरण-निकाय में उनका व्याकरण-प्रवक्तृत्व

१. महाभाष्य, ८।४।४८।
२. तै० प्रा०, पृ० ३७, ३८; १३।१६; १४।२। १७।६।
३. मै० प्रा०, ५।३९।४०; २।१।१६; २।५।६।
४. सद्भिः—इन्द्रचन्द्रापिशलिगार्ग्यगालवपौष्करैः (संस्कृत-रूपान्तर), पृ० १।
५. 'सद्यः पुष्करसादिः।'—हि० के० गृ०, १।६।८।
६. अ० वे० गृ०, १।१।
७. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १०३।
८. उपरिवत्, पृ० १०५।

अत्यन्त प्रसिद्ध है । पतञ्जलि,[1] बोपदेव,[2] क्षीरस्वामी[3] आदि अनेक शाब्दिकों ने उनके वैयाकरण होने का उल्लेख अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। कहीं-कहीं 'काशकृत्स्न' के स्थान पर 'काशकृत्स्नि' पाठ भी मिलता है, जो वास्तव में काशकृत्स्न का ही अपर नाम है ।[4] क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने उन्हें पाणिनि से अर्वाचीन माना है,[5] किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक ने अनेक साक्ष्यों के आधार पर उनके मत का खण्डन करते हुए काशकृत्स्न को महर्षि बादरायण का शिष्य तथा पाणिनि से प्राचीन सिद्ध किया है ।[6] मीमांसकजी के अनुसार काशकृत्स्न-व्याकरण का नाम 'शब्दकलाप' था, जिसमें तीन अध्याय थे और प्रति अध्याय पाद-संख्या चार से अधिक थी । उक्त व्याकरण किसी प्राचीन महातन्त्र का संक्षिप्त और श्लोकबद्ध प्रवचन था, जो संक्षिप्त होते हुए भी पाणिनीयतन्त्र से विस्तृत था ।[7] जिस प्रकार पाणिनीय तन्त्र की विशेषता काल-परिभाषाओं का अनिर्देश है और चान्द्रतन्त्र की विशेषता संज्ञानिर्देश किये विना शास्त्र-प्रवचन, उसी प्रकार काशकृत्स्न-तन्त्र की विशेषता 'गुरुलाघवम्' माना गया है ।[8] सम्प्रति, उक्त तन्त्र के १४० सूत्र उपलब्ध हैं ।[9]

११. **शन्तनु** : शन्तनु के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है । कीथ आदि अनेक विद्वान उन्हें पाणिनि से अर्वाचीन मानते रहे हैं, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक[10] तथा कपिलदेव साहित्याचार्य[11] ने अनेक प्रमाणों के आधार पर उन्हें पाणिनि से प्राचीन सिद्ध किया है । मीमांसकजी ने उन्हें भीष्म के पिता

---

१. 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम् इति ।'—महाभाष्य, प्रथम आह्निक के अन्त में ।
२. कविकल्पद्रुम ।
३. 'काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः—आश्वस्तः, विश्वस्तः ।'—क्षीरतरङ्गिणी, पृ० १८५ ।
४. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १०८ ।
५. टेक्निकल टर्म्स ऑफ संस्कृत ग्रा०, पृ० २७७ ।
६. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १११-११४ ।
७. उपरिवत्, पृ० ११५ ।
८. 'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम् ।'—काशिका, ४।३।११५ ।
९. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १२१ ।
१०. उपरिवत्, भा० २, पृ० २७२-८१ ।
११. क० सा०, सय० व्या० में गणपा० की प० और आचार्य पाणिनि, पृ० २९ ।

शन्तनु से अभिन्न मानते हुए उनका समय ३१०० वि० पू० के आसपास निर्धारित किया है। शन्तनु 'फिट्सूत्रों' के आदि प्रवक्ता कहे गये हैं। अनुमान किया जाता है कि उन्होंने किसी साङ्गोपाङ्ग बृहत् शब्दानुशासन का भी प्रवचन किया था और 'फिट्सूत्र' उसी का एक देश है। किन्तु, इस सम्बन्ध में विश्वास-पूर्वक कुछ कह पाना हमारे लिए कठिन है।

१२. **वैयाघ्रपद्य** : वैयाघ्रपद्य का उल्लेख काशिका,[1] शतपथब्राह्मण,[2] जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण,[3] शाङ्खायन आरण्यक[4] आदि में उपलब्ध है। यदि वे ही वैयाघ्रपद्य व्याकरणशास्त्र के भी प्रवक्ता रहे हों, तो उनका समय निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन माना जायगा। किन्तु, इस सम्बन्ध में निश्चित प्रमाणों का अभाव होने के कारण कोई निश्चित मत देना सम्भव नहीं है। वैयाघ्रपद्य के व्याकरण के सम्बन्ध में भी अभी तक कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। काशिका (४।२६।५) में एक उदाहरण है : 'दशका: वैयाघ्रपदीयाः', इसके आधार पर अनुमान किया जाता है कि वैयाघ्रपद्य के व्याकरण में दस अध्याय थे।

१३. **माध्यन्दिनि** : पाणिनि ने माध्यन्दिनि के पिता मध्यन्दिन का निर्देश उत्सादिगण में किया है, जो वाजसनेय याज्ञवल्क्य के शिष्य थे और जिन्होंने याज्ञवल्क्य-प्रोक्त शुक्लयजुःसंहिता के पदपाठ का प्रवचन किया था।[5] माध्यन्दिनी संहिता के अध्येता माध्यन्दिनों का एक मत कात्यायनीय शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य (८।३५) में उद्धृत है। इन प्रमाणों से मध्यन्दिन-पुत्र माध्यन्दिनि का पाणिनि से प्राचीन होना स्पष्ट है। युधिष्ठिर मीमांसक ने इनका काल विक्रम से लग ग ३००० वर्ष पूर्व माना है।[6] काशिका (७।१।९४) में एक कारिका उद्धृत है, जिसके अनुसार माध्यन्दिनि के मत में 'उशनस्' शब्द के सम्बोधन में 'हे उशनः, हे उशनन्, हे उशन' ये तीन रूप होते हैं। इसी प्रकार, विमलसरस्वर्त -कृत 'रूपमाला' (नपुंसकलिङ्ग-प्रकरण) और 'प्रक्रियाकौमुदी' की

१. 'गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः।'—काशिका, ७।१।९४।
२. श० ब्रा०, १०।६; १।७।
३. जै० उ० ब्रा०, ३।७।३२; ४।९।१।१।
४. शां० आ०, ९।७।
५. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १२५।
६. उपरिवत्।

भूमिका (पृ० ३२) में एक वचन इस प्रकार उद्धृत है : 'इकः षण्ढेऽपि सम्बुद्धौ गुणो माध्यन्दिनेर्मते ।' इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य माध्यन्दिनि ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन अवश्य किया था, किन्तु उसका एक भी सूत्र आज कहीं उपलब्ध नहीं है।

१४. **रौढि** : पाणिनि-तन्त्र में रौढि का उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु पतञ्जलि ने महाभाष्य (१।१।७३) में 'घृतरौढीयाः' उदाहरण दिया है। इसे स्पष्ट करते हुए जयादित्य ने काशिका(१।१।५३) में लिखा है : 'घृतप्रधानो-रौढिः घृतरौढिः, तस्य छात्रा घृतरौढीयाः।' इससे रौढि का एक सम्पन्न आचार्य होना सिद्ध है। वामन ने काशिका (६।२।३६) में उदाहरण दिया है : 'आपिशलपाणिनीयाः पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयाः काशकृत्स्नाः।' इसके आधार पर यह अनुमान किया गया है कि आपिशलि, पाणिनि और काशकृत्स्न वैयाकरण रहे होंगे।[१] महाभाष्य (४।१।६९) में लिखा है : "सिद्धन्तु रौढ्यादिषूपसङ्ख्यानात्। सिद्धमेतत्, कथं ? रौढ्याषूपसङ्ख्यानात् रौढ्यादिषूप-सङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्। के पुनः रौढ्यादयः ? ये क्रौड्यादयः।" इसके सम्बन्ध में कैयट ने लिखा है कि क्रौड्यादि के स्थान में वार्त्तिक-पठित रौढ्यादि पद पूर्वाचार्यों के अनुसार है। इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वाचार्य, पाणिनीय 'क्रौड्यादिभ्यश्च'[२] सूत्र के स्थान पर 'रौढ्यादिभ्यश्च' पढ़ते थे। इससे रौढि का पाणिनि से पूर्ववर्त्ती होना सिद्ध हो जाता है।

१५. **शौनकि** : शौनकि को युधिष्ठिर मीमांसक ने ब्रह्मज्ञाननिधि गृह-पति शौनक का पुत्र माना है और उनका समय ३००० वर्ष वि० पू० निर्धारित किया है।[३] चरकसंहिता के टीकाकार जज्झट ने चिकित्सास्थान (२।७) की व्याख्या में शौनकि का एक मत इस प्रकार उद्धृत किया है : 'कारणशब्दस्तु व्युत्पादितः—करोतेरपि कर्त्तृत्वे दीर्घत्वं शास्ति शौनकिः।' अर्थात्, शौनकि डुकृञ् धातु से कर्त्ता अर्थ में (ल्युट् में) दीर्घत्व का शासन करते हैं। इसी प्रकार, भट्टि-काव्य की जयमङ्गला टीका (३।४७) में उद्धृत वचन का उत्तरार्ध इस प्रकार है : 'धाञ्-कृञोस्तनुनह्योश्चं बहुलत्वेन शौनकिः।' अर्थात्, शौनकि के अनुसार धाञ्, कृञ्,

---

१. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १।
२. अ०, ४।१।८०।
३. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १२९।

त, नु और नह् धातु के परे रहने पर अपि और अव उपसर्ग के अकार का प्रायः लोप हो जाता है। इन प्रमाणों से ऐसा प्रतीत होता है कि शौनकि ने किसी व्याकरणतन्त्र का प्रवचन अवश्य किया था।

१६. गौतम : महाभाष्य (६।२।३६) में उल्लिखित 'आपिशलपाणिनीय-व्याडीयगौतमीयाः' के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि चूँकि इसमें स्मृत आपिशलि, पाणिनि और व्याडि तीनों ही वैयाकरण थे, इसलिए उनके साथ स्मृत गौतम भी अवश्य वैयाकरण रहे होंगे।[१] इसकी पुष्टि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[२] तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य[३] में उद्धृत गौतम के मत से भी होती है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्लाक्षि, कौण्डिन्य और पौष्करसादि के साथ गौतम का निर्देश होने से उनका पाणिनि से प्राचीन होना सिद्ध होता है।

१७. व्याडि : आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं।[४] भाषावृत्ति (६।१।७०) में पुरुषोत्तमदेव ने गालव के साथ व्याडि का भी एक मत उद्धृत किया है।[५] इससे स्पष्ट है कि व्याडि ने किसी शब्दानुशासन की रचना अवश्य की थी। व्याडि का एक अपर नाम दाक्षायण भी माना गया है। वामन ने काशिका (६।२।६९) में उन्हें दाक्षि के नाम से स्मरण किया है। कुछ विद्वान उन्हें पाणिनि का मामा और कुछ उन्हें पाणिनि का ममेरा भाई मानते हैं।[६] इस आधार पर उन्हें पाणिनि का समसामयिक माना जा सकता है। पुरुषोत्तमदेव ने 'त्रिकाण्डशेष' में व्याडि के विन्ध्यस्थ, नन्दिनी-सुत और मेधावी ये तीन पर्याय दिये हैं। इन पर्यायों में व्याडि के प्रसिद्धतम दाक्षायण नाम का उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव के द्वारा दिये गये पर्याय प्राचीन व्याडि के नहीं हैं।[७] वास्तव में, व्याडि नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, उनमें वैयाकरण व्याडि पाणिनि के मामा दाक्षायण

---

१. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १२९।
२. "प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थस्तस्य संस्थानं प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम्।' (५।३८)।
३. मैं० प्रा०, ५।४०।
४. ऋक्प्रातिशाख्य, २।२३।२८; ६।४३; १३।१३१।३७।
५. 'इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।'
६. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इ०, भा० १, पृ० १३१।
७. उपरिवत्, पृ० २६४।

ही थे, जिन्होंने व्याकरण के अतिरिक्त एक सङ्ग्रह-ग्रन्थ भी लिखा था; इसीलिए वे सङ्ग्रहकार व्याडि के रूप में भी विख्यात हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य (२।३।६६) में व्याडि के सङ्ग्रह की प्रशंसा करते हुए लिखा है : 'शोभना खलु दाक्षायणस्य कृतिः', अर्थात् दाक्षायण की 'सङ्ग्रह' नामक कृति मनोहर है। आज न तो व्याडि-कृत व्याकरण ही उपलब्ध है और न उनका सङ्ग्रह ही; किन्तु उन दोनों ही ग्रन्थों के उद्धरण यत्र-तत्र अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

अष्टाध्यायी में उल्लिखित आचार्य :

१. **आपिशलि** : आपिशलि का उल्लेख पाणिनि[१] के अतिरिक्त पतञ्जलि,[२] वामन,[३] जिनेन्द्रबुद्धि,[४] कैयट[५] आदि अनेक आचार्यों ने किया है। 'आपिशलि' के लिए कहीं-कहीं 'आपिशल' का भी प्रयोग मिलता है। पदमञ्जरीकार हरदत्त के लेख से प्रतीत होता है कि आपिशलि पाणिनि से कुछ ही पूर्व हुए थे।[६] पाल्य-कीर्त्ति द्वारा लिखित शाकटायन-व्याकरण की अमोघावृत्ति[७] (३।२।१६१) तथा यक्षवर्मकृत चिन्तामणिवृत्ति (२।४।१८२) के उदाहरणों से विदित होता है कि आपिशल-व्याकरण में आठ अध्याय थे। अष्टाध्यायी से प्राचीन व्याकरणों में केवल आपिशल व्याकरण ही ऐसा है, जिसके सबसे अधिक सूत्र उपलब्ध होते हैं। उन्हें देखने से सहज ही यह अनुमान होता है कि आपिशलि का व्याकरण अष्टाध्यायी के समान ही सर्वाङ्गपूर्ण तथा सुव्यवस्थित रहा होगा। महाभाष्य (४।१।१४) के अनुसार कात्यायन एवं पतञ्जलि के समय में उसका पर्याप्त प्रचार था।

२. **काश्यप** : पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दो स्थानों पर काश्यप के मत उद्धृत किये हैं।[८] इसी तरह वाजसनेय प्रातिशाख्य (४।५) में भी

---

१. 'वा सुप्यापिशलेः।'—अष्टा०, ६।१।९२।
२. "एवं च कृत्वाऽपिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति—धेनुरनञिकमुत्पादयति।" —महाभाष्य, ४।२।४५।
३. काशिका, ७।३।८६।
४. न्यास, ४।२।४५।
५. महाभाष्यप्रदीप, ५।१।२१।
६. पदमञ्जरी, भाग–१, पृ० ६।
७. अष्टका आपिशलपाणिनीयाः।
८. अष्टा०, १।२।२५; ८।४।६७।

शाकटायन के साथ काश्यप का उल्लेख हुआ है। शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अन्त में निपातों को काश्यप कहा गया है : 'निपातः काश्यपः स्मृतः' (अ० ८, सूत्र ५१ के आगे)। इन प्रमाणों से काश्यप का एक श्रेष्ठ वैयाकरण होना सिद्ध है; किन्तु दुर्भाग्य से उनके व्याकरण का कोई भी सूत्र कहीं उपलब्ध नहीं है।

३. गार्ग्य : अष्टाध्यायी में गार्ग्य का उल्लेख तीन स्थानों पर हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त ऋक्प्रातिशाख्य[2] और वाजसनेय प्रातिशाख्य[3] में भी उनके अनेक मत उपलब्ध होते हैं, किन्तु काश्यप की तरह ही उनके व्याकरण का भी कोई सूत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। युधिष्ठिर मीमांसक ने नैरुक्त गार्ग्य और वैयाकरण गार्ग्य को एक ही व्यक्ति माना है। ऐसी स्थिति में गार्ग्य यास्क से भी प्राचीन ठहरते हैं; क्योंकि निरुक्तकार गार्ग्य का उल्लेख यास्कीय निरुक्त में भी मिलता है।

४. गालव : पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख चार स्थलों पर किया है।[4] इसके अतिरिक्त पुरुषोत्तमदेव ने भी 'भाषावृत्ति' (६।१।७७) में गालव-व्याकरण का एक मत उद्धृत किया है। इन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि गालव ने किसी व्याकरणशास्त्र की रचना अवश्य की थी, किन्तु इसके सम्बन्ध में और कोई प्रमाण नहीं मिलता। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने गालव को धन्वन्तरि का शिष्य कहा है।[5] महाभारत के शान्तिपर्व (३४२।१०३।१०४) में पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव को क्रमपाठ और शिक्षा का प्रवक्ता कहा गया है। यदि वे ही वैयाकरण गालव हों, तो उनका समय महाभारत से भी पहले का मानना होगा।

५. चाक्रवर्मण : चाक्रवर्मण के मतों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी[6] और उणादिसूत्रों[7] के अतिरिक्त भट्टोजिदीक्षित के शब्दकौस्तुभ[8] तथा श्रीपतिदेव के कातन्त्रपरिशिष्ट[9] में भी मिलता है। इससे यह अनुमान होता है कि

१. अष्टा०, ७।३।९९; ८।३।२०; ८।४।६७।
२. 'व्याडिशाकल्यगार्ग्याः।'—१३।१३।
३. 'ख्यातेः खयौ कशौ गार्ग्यः सक्ख्योक्ख्यमुक्ख्यवर्जम्।'
४. अष्टा०, ६।३।६१; ७।१।७४; ७।३।९९; ८।४।६७।
५. सु० टी०, १।३।
६. अष्टा०, ६।१।१३०।
७. 'कपश्चाक्रवर्मणस्य।'—पञ्च० उ०, ३।१।४४।
८. श० कौ०, १।१।२७।
९. 'ईतौ वा' सूत्र की वृत्ति।

उन्होंने किसी व्याकरण की रचना अवश्य की होगी; किन्तु आज तक उनके व्याकरण का कोई सूत्र कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। युधिष्ठिर मीमांसक ने उन्हें आपिशलि से पूर्ववर्त्ती माना है।[१]

६. **भारद्वाज** : भारद्वाज नाम के अनेक आचार्यों में वैयाकरण भारद्वाज कौन थे, इस सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य मत उपलब्ध नहीं है। युधिष्ठिर मीमांसक ने उन्हें भारद्वाज बार्हस्पत्य के पुत्र द्रोणभारद्वाज से अभिन्न माना है।[२] अष्टाध्यायी में भारद्वाज का उल्लेख दो स्थलों पर मिलता है।[३] इसके अतिरिक्त उनके व्याकरण-विषयक मत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[४] एवं मैत्रायणी प्रातिशाख्य[५] में भी उद्धृत हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने किसी व्याकरण-शास्त्र का प्रवचन अवश्य किया था, जो आज अनुपलब्ध है।

७. **शाकटायन** : शाकटायन का उल्लेख यास्कीय निरुक्त,[६] अष्टाध्यायी[७] तथा महाभाष्य[८] के अतिरिक्त वाजसनेय प्रातिशाख्य[९] तथा ऋक्प्रातिशाख्य[१०] में भी अनेक स्थलों पर हुआ है। काशिका (१।४।८३ तथा १।४।८७) में अन्य सभी वैयाकरणों को शाकटायन से हीन माना गया है। निरुक्त (१।१२) तथा महाभाष्य (३।३।१) से विदित होता है कि वैयाकरणों में शाकटायन ही ऐसे थे, जो सभी नाम शब्दों को आख्यातज मानते थे। खेद की बात है कि उस महान आचार्य का व्याकरणशास्त्र आज कहीं उपलब्ध नहीं है। नागेश ने महाभाष्यप्रदीप-विवरण के प्रारम्भ में लिखा है कि उसमें केवल लौकिक पदों का अन्वाख्यान था, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक ने उनके मत का खण्डन करते हुए उसमें वैदिक एवं लौकिक उभयविध पदों का अन्वाख्यान होना सिद्ध किया है।[११]

१. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० १५३।
२. उपरिवत्, पृ० १५७।
३. अष्टा०, ४।२।१४५; ७।२।६३।
४. तै० प्रा०, १७।३।
५. मैं० प्रा०, २।५।३।
६. "तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।"—निरु०, १।१२।
७. अष्टा०, ३।४।१११; ८।३।१८; ८।४।५०।
८. ऋ० प्रा०, १।१६; १३।३९।
९. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० १६२।
१०. उपरिवत्, पृ० १६६।
११. उपरिवत्, पृ० १६७।

८. **शाकल्य** : प्राचीन काल में शाकल्य नाम के कई आचार्य हुए थे।[१] उनमें वैयाकरण शाकल्य कौन थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है। युधिष्ठिर मीमांसक ने ऋग्वेद के पदकार वेदमित्र शाकल्य को ही वैयाकरण शाकल्य माना है।[२] शाकल्य के व्याकरण-सम्बन्धी मत पाणिनि की अष्टाध्यायी[३] के अतिरिक्त शौनक,[४] कात्यायन,[५] पतञ्जलि,[६] लक्ष्मीधर[७] आदि अनेक आचार्यों के ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल के नाम से उद्धृत सभी नियम शाकल्य के ही माने गये हैं। उक्त साक्ष्यों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शाकल्य के व्याकरण में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के शब्दों का विवेचन था।

९. **सेनक** : पाणिनि-पूर्व वैयाकरणों में सेनक ही एक ऐसे आचार्य हैं, जिनके सम्बन्ध में अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। अष्टाध्यायी में भी उनका उल्लेख निम्नाङ्कित एक ही सूत्र में हुआ है: 'गिरेश्च सेनकस्य' (५।४।११)। ऐसी स्थिति में प्रमाणाभाव के कारण उनके तथा उनके व्याकरणशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ भी कह पाना हमारे लिए कठिन है। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि वे वैयाकरण थे और पाणिनि से पहले हुए थे।

१०. **स्फोटायन** : सेनक की ही तरह स्फोटायन का भी अष्टाध्यायी में एक ही स्थान पर उल्लेख मिलता है: 'अवङ् स्फोटायनस्य' (६।१।१२३)। पदमञ्जरीकार हरदत्त ने काशिका (६।१।१२३) की व्याख्या करते हुए लिखा है: स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः, ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा (स्फोटशब्दस्य) पाठं मन्यन्ते।" इस व्याख्या से स्पष्ट है कि स्फोटायन का वास्तविक नाम कुछ और था; किन्तु वे स्फोटतत्त्व के उपज्ञाता होने के कारण स्फोटायन के नाम से ही

---

१. यु० मी० : सं व्या० इ०, भा० १, पृ० १६६।
२. उपरिवत्, पृ० १६७।
३. अष्टा०, १।१।१६; ६।१।२७; ८।३।१९; ८।४।५१।
४. ऋ० प्रा०, ३।१३।२२।
५. वाज० प्रा०, ३।१०।
६. महाभाष्य, ६।१।१२७।
७. गार्हस्थ्यकाण्ड, १६९।

विख्यात थे। हेमचन्द्र के 'अभिधानचिन्तामणिकोश' एवं केशव के 'नानार्थार्णव-संक्षेप' के अनुसार स्फोटायन का नाम कक्षीवान् था। किन्तु, कक्षीवान् कौन थे, इस सम्बन्ध में अभी कोई सर्वमान्य मत उपलब्ध नहीं है। अतः, स्फोटायन तथा उनके व्याकरणशास्त्र के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का विकास

आचार्य पाणिनि

परिचय :

प्रमाणभूत-अनल्पमति-वृत्तज्ञ एवं माङ्गलिक आचार्य पाणिनि संसार के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण के रूप में सुविख्यात हैं। इस बात को पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है कि वैसी प्रतिभा और मनीषा का कोई दूसरा भाषाविज्ञानी आजतक उत्पन्न नहीं हुआ।[१]

नाम :

प्राचीन ग्रन्थों में पाणिनि के आठ नाम उपलब्ध होते हैं : १. दाक्षी-पुत्र, २. शालातुरीय, ३. शालङ्कि, ४. आहिक, ५. पाणिन, ६. पाणिनेय, ७. पणिपुत्र और ८. पाणिनि। इनमें से कुछ नाम ऐसे हैं, जिनसे पाणिनि के माता-पिता, गोत्र, जन्मस्थान आदि का सम्बन्ध माना जाता है; अतः यहाँ संक्षेप में सब पर अलग-अलग प्रकाश डाल देना उचित होगा।

१. **दाक्षीपुत्र** : पतञ्जलि ने महाभाष्य (१।१।२०, वा० ५) में पाणिनि का स्मरण 'दाक्षीपुत्र' नाम से किया है; यथा, 'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षी-पुत्रस्य पाणिनेः।" इसी प्रकार, समुद्रगुप्त-विरचित 'कृष्णचरित',[२] श्लोकात्मक

---

१. "Indo-European comparative grammar had (and has at its service only one complete description of a language, the grammar of Panini, For all other Indo-European languages it had only the traditional grammars of Greek and Latin, woefully incomplete and unsystematic...For no language of the past have we a record comparable to Panini's record of his mother tongue, nor is it likely that any language spoken today will be so perfectly recorded."
—L. Bloomfield : Language, V. 270 ff.

२. 'दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः।'—मुनिकविवर्णन, श्लोक, १६।

'पाणिनीयशिक्षा'[१] तथा पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्डशेष'[२] में भी पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा गया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने पाणिनि की माँ का नाम दाक्षी माना है।[३] किन्तु, दाक्षी पद गोत्रप्रत्ययान्त है।[४] इससे इतना तो व्यक्त होता है कि पाणिनि की माता दक्ष-कुल की थीं, किन्तु उनका वास्तविक नाम भी दाक्षी ही था, यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार दक्षों का सम्बन्ध पश्चिमोत्तर भारत या उदीच्य देश से था। काशिका में प्राप्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उनका अपना एक सङ्घराज्य था, जिसकी अपनी बस्ती और अपने ही अङ्क तथा लक्षण (राज्य-चिह्न) भी थे।[५] उन्हीं दक्षों के कुल की कन्या होने के कारण पाणिनि की माँ को दाक्षी तथा उनके पुत्र को दाक्षीपुत्र कहा गया है।

२. **शालातुरीय :** पाणिनि के लिए शालातुरीय या सालातुरीय नाम का प्रयोग वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय के संवत् ३१० के ताम्रशासन,[६] शीलादित्य सप्तम के लेख,[७] भामह के काव्यालङ्कार,[८] काशिका-विवरण-पञ्जिका[९] (न्यास), वर्धमान-कृत गणरत्नमहोदधि[१०] तथा पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्डशेष में हुआ है। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि (पृ० १) में 'शालातुरीय' की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा है : 'शलातुरनाम ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः तत्रभवान् पाणिनिः।' इससे स्पष्ट है कि शलातुर नामक ग्राम पाणिनि का अभिजन था। इसी आधार पर उन्हें शालातुरीय कहा गया है। स्वयं पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी (४।३।९३) में शलातुर से शालातुरीय की सिद्धि दरसायी है।

---

१. 'शङ्करः शाङ्करीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते।'—श्लोक, ५६।
२. 'पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः...।'
३. डॉ० वा० रा० स० : सा० भा०, पृ० १४१।
४. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० १७१।
५. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० ९३।
६. "राज्यसालातुरीयतन्त्रयोरुभयोरपि निष्णातः।"

—यु० मी० : सं० व्या० इ०।

७. फ्लीट : गुप्त-शिलालेख, पृ० १७५।
८. 'सालातुरीयपदमेतदनुक्रमेण।'—६।६२।
९. 'शालातुरीयेण प्राक् २६ इति नोक्तम्।'—न्यास, ५।१।१; भा० २, पृ० ३।
१०. 'शालातुरीयस्तत्र भवान् पाणिनिः।'—पृ० १।

चीनी यात्री ह्वेनसङ्ग सप्तम शताब्दी के आरम्भ में मध्य एसिया के स्थल-मार्ग से भारत आते हुए शलातुर में ठहरा था। उसने लिखा है कि उद्भाण्ड से लगभग बीस लि (लगभग ४ मील) पर शलातुर स्थान था। यही वह जगह है, जहाँ ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ, जिन्होंने शब्द-विद्या की रचना की थी (बील, सियुकि १।१।१४)।[१] शलातुर की पहचान वर्त्तमान लहुर[२] नामक गाँव के साथ की गयी है।

२. **शालङ्कि** : पाणिनि के लिए शालङ्कि नाम का प्रयोग पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्डशेष और केशवकोष के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता। म० म० पं० शिवदत्तशर्मा ने इसे पितृ-व्यपदेशज नाम माना है[३] और पाणिनि के पिता का नाम शलङ्क बताया है। किन्तु, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "शालङ्कि नाम के समर्थन या व्याख्या में विशेष प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं है। महाभाष्य में शालङ्की के युवाछात्रों का उल्लेख है, जो शालङ्क कहलाते थे। किन्तु, इतने से पाणिनि के साथ उनका सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता।" वेबर की सम्मति में शालङ्कियों का सम्बन्ध वाहीक देश से था।[४] वाहीक उदीच्य के क्षेत्र में गिना जाता था और पाणिनि भी उदीच्य देश के ही थे। ह्वेनसङ्ग ने पाणिनि को निश्चित रूप से गन्धार देश का कहा है। पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर गन्धार में ही थी।[५] इस सम्बन्ध में युधिष्ठिर मीमांसक ने म० म० पं० शिवदत्त शर्मा के मत का ही समर्थन किया है और पाणिनि के पिता का नाम शलङ्क मानते हुए उसी आधार पर पाणिनि के शालङ्कि नाम को सम्भव बताया है।[६] गणरत्नावली में यज्ञेश्वरभट्ट ने भी शालङ्कि के पिता का नाम

---

१. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० १४ से उद्धृत।

२. "काबुल और सिन्धु के सङ्गम पर ओहिन्द (प्राचीन उदभाण्डपुर) है, वहाँ से ४ मील उत्तर-पश्चिम की ओर लहुर गाँव है। मरदान से ओहिन्द जानेवाली बसें लहुर होकर जाती हैं।"—उपरिवत्, पृ० १४।

३. महाभाष्य नवाह्निक, निर्णयसागर सं०, भू० पृ० १४।

४. संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० २१८।

५. डॉ० वा० श० अ०, पा० भा०, पृ० १३।

६. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० १७१।

शलङ्क ही लिखा है ।[1] कैयट[2], हरदत्त[3] और वर्धमान[4] शालङ्कि का मूल शलङ्कु मानते हैं ।

४. आहिक : पाणिनि के लिए आहिक नाम पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्ड-शेष और केशवकोषों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता । यह नाम पाणिनि के लिए क्यों प्रचलित हुआ, इसके सम्बन्ध में प्रकाश डालने वाली सामग्री का नितान्त अभाव है ।

५. पाणिन : इस नाम का उल्लेख काशिका (६।२।१४) तथा चान्द्रवृत्ति (२।२।६८) में मिलता है । 'पाणिन' शब्द 'पाणिन्' शब्द में अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय के मिलने से निष्पन्न होता है । इसका निर्देश अष्टाध्यायी (६।४।१६५) में भी मिलता है। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार 'पाणिनीय' शब्द की मूल प्रकृति भी 'पाणिन' अकारान्त शब्द है । उससे (छ) ईय प्रत्यय होकर 'पाणिनीय' प्रयोग उपपन्न होता है । अतः, महाभाष्य में निर्दिष्ट 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्' वचन अर्थ-प्रदर्शनपरक है, विग्रह-प्रदर्शक नहीं । इकारान्त 'पाणिनि' शब्द से 'इञश्च' (४।२।११२) के नियम से प्रोक्तार्थ में अण् प्रत्यय होकर 'पाणिनि' शब्द उपपन्न होता है ।[5] इस विवेचन का सारांश यह है कि पाणिनि के पिता का नाम पणिन् (या पणिन) था, इसीलिए पणिन् का पुत्र पाणिन या पाणिनि कहलाया ।

६. पाणिनेय : यह नाम केवल श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा के याजुष-पाठ (पृ० ३८) में उपलब्ध होता है; "दाक्षीपुत्रः पाणिनेयो येनेदं व्याहृतं भुवि ।" उक्त शिक्षा की शिक्षाप्रकाश नाम्नी टीका में लिखा है : 'पाणिनेय इति पाठे शुभ्रादित्वं कल्प्यम्', अर्थात् पाणिनेय-प्रयोग की सिद्धि 'शुभ्रादिभ्यश्च' (४।१।१२३) सूत्र-निर्दिष्ट गण को आकृति-गण मानकर करनी चाहिए । स्पष्ट है कि पणिन-पुत्र होने के कारण ही पाणिनि को पाणिनेय भी कहा गया है ।

---

१. उपरिवत् ।
२. महाभाष्यप्रदीप, ४।१।९० ।
३. पदमञ्जरी, २।४।५९ ।
४. गणरत्नमहोदधि, पृ० १३५ ।
५. पु० भा० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० १७५ ।

७. **पणिपुत्र** : 'यशस्तिलकचम्पू' में पाणिनि के लिए पणिपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है; यथा 'पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु' (आश्वास २, पृ० २३६)। यह नाम भी पणिन् अथवा पणिन का अपत्य होने के कारण ही पाणिनि के लिए प्रयुक्त हुआ है।

८. **पाणिनि** : उपर्युक्त सभी नामों की अपेक्षा यह नाम सर्वाधिक प्रचलित, विख्यात एवं प्रामाणिक है। कात्यायन एवं पतञ्जलि ने इसी नाम का प्रयोग किया है। इस नाम की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरणों में दो मत हैं। एक मत के अनुसार 'पणिन्' से अपत्यार्थ में 'अण्' होकर 'पाणिन' और फिर उससे अपत्यार्थ में 'इञ्' होकर 'पाणिनि' शब्द बना है।[1] दूसरे मत के अनुसार 'पणिन्' नकारान्त का पर्याय 'पणिन' अकारान्त स्वतन्त्र शब्द है। उससे 'अत इञ्' (४।१।९५) के नियम से 'इञ' होकर पाणिनि शब्द उपपन्न होता है।[2] युधिष्ठिर मीमांसक ने इस दूसरे मत को ही सही सिद्ध किया है।[3]

जीवन :

पाणिनि के विभिन्न नामों से सम्बद्ध उपर्युक्त विवेचन से तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' (११वीं सदी), क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी' (११वीं सदी), बौद्धों के 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' (८वीं सदी), राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' (९वीं सदी), चीनी यात्री ह्वेनसङ्ग के 'भारत-वर्णन' (७वीं सदी), विष्णुशर्मा के 'पञ्चतन्त्र' आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित अनुश्रुतियों से पाणिनि के सम्बन्ध में जो तथ्य प्रकाश में आते हैं, उन्हें एक साथ सजाकर निम्नाङ्कित रूप में उपस्थित किया जा सकता है :

पाणिनि का जन्म गन्धार के शलातुर (वर्त्तमान अटक के समीपस्थ लहुर) नामक ग्राम में हुआ था। वे उदीच्य ब्राह्मण थे। उनकी माता दक्ष गोत्र की थीं, इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों में उन्हें दाक्षी के नाम से तथा पाणिनि को दाक्षी-पुत्र के नाम से स्मरण किया गया है। पाणिनि के पिता का नाम पणिन

---

१. 'पणिनोऽपत्यमित्यण् पाणिनः। पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः।' कैयट, महाभाष्यप्रदीप, १।१।७३।
२. पणिनः मुनिः पाणिनिः (पाणिनस्य पुत्रः)। काशकृत्स्नधातुपाठ की चन्नवीर कवि-कृत टीका, पृ० ४३। कोष्ठान्तर्गत पाठ कन्नड-पाठ का संस्कृत-रूप है।
३. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० १७६।

(अथवा पणिन्) था। शालङ्कियों के कुल में उत्पन्न होने के कारण पणिन को शलङ्क तथा पाणिनि को शालङ्कि नाम से भी अभिहित किया गया है। छन्दः-शास्त्र के आचार्य पिङ्गल पाणिनि के अनुज थे[१] तथा सङ्ग्रहकार व्याडि उनके मामा।[२] पाणिनि के गुरु उपाध्याय वर्ष थे।[३] वार्त्तिककार कात्यायन को किसी-किसी ने पाणिनि का सहपाठी और किसी-किसी ने शिष्य कहा है।[४] स्कन्द-पुराण के अनुसार पाणिनि ने गो पर्वत पर तपस्या की थी और उसी के प्रभाव से वैयाकरणों में प्रमुखता प्राप्त की थी।[५] कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामञ्जरी के अनुसार "पाणिनि आचार्य वर्ष के मन्दबुद्धि शिष्य थे। फिसड्डीपन से दुःखित होकर पाणिनि तप करने हिमालय पर चले गये और वहाँ शिव को प्रसन्न करके नया व्याकरण प्राप्त किया ('प्राप्तं व्याकरणं नवम्')।........... नन्दवंश के सम्राट् से पाणिनि की मित्रता हो गयी और सम्राट् ने उनके शास्त्र को सम्मानित किया।"[६] राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पाटलिपुत्र में होनेवाली शास्त्रकार-परीक्षा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उस परीक्षा में वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिङ्गल, व्याडि, वररुचि, पतञ्जलि आदि ने उत्तीर्ण होकर यशोलाभ किया था।[७]

ह्वेनसङ्ग के अनुसार, "जन्म से ही सब विषयों में पाणिनि की जानकारी बढ़ी-चढ़ी थी। समय की मन्दता और अव्यवस्था को देखकर उन्होंने साहित्य और बोलचाल की भाषा के अनिश्चित और अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमों में सुधार करना चाहा। उनकी इच्छा थी कि नियम निश्चित करें और अशुद्ध प्रयोगों को ठीक करें। उन्होंने शुद्ध सामग्री के सङ्ग्रह के लिए सुदूर प्रदेशों की

---

१. "तथा च सूच्यते भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन—'क्वचिन्नवकाश्चत्वारः'।" वेदार्थदीपिका, ९७, इति परिभाषा, पृ० ७०। शिक्षासङ्ग्रह, काशी-सं०, पृ० ३८५।

२. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० १७९।

३. कथासरित्सागर, लम्बक १, तरङ्ग ४, श्लो० २०।

४. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० १८१।

५. अरुणाचल-माहात्म्य, उत्तरार्द्ध, २।६८, वं० सं०।

६. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० १५ से उद्धृत।

७. "श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा। अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

यात्राएँ कीं। इस प्रकार, अनेक शब्दों का सङ्ग्रह करके उन्होंने व्याकरण का एक ग्रन्थ बनाया, जो एक सहस्र श्लोक-परिमाण का था। आरम्भ से लेकर उस समय तक अक्षरों और शब्दों के विषय में जितना ज्ञान था, उसमें से कुछ भी न छोड़ते हुए, सम्पूर्ण सामग्री से युक्त उस ग्रन्थ को राजा के पास भेजा, जिसने उसका बहुत सम्मान किया और आज्ञा दी कि राज्य-भर में इसका प्रचार किया जाय और शिक्षा दी जाय।"[१]

पाणिनि धन-धान्य-सम्पन्न आचार्य थे। उनके यहाँ छात्रों को विद्या के साथ-साथ भोजन भी प्राप्त होता था। इसी भाव को प्रकट करनेवाला 'ओदनपाणिनीयाः' उदाहरण पतञ्जलि ने महाभाष्य (१।१।७३) में दिया है। उनके अनेक शिष्यों में कौत्स तथा कात्यायन के नाम भी आते हैं।[२]

पञ्चतन्त्र में किसी प्राचीन ग्रन्थ से निम्नाङ्कित श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार पाणिनि की मृत्यु सिंह के द्वारा हुई थी : "सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।" वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी को हुई थी। मास और पक्ष का निश्चय न होने से पाणिनीय वैयाकरण आज भी प्रत्येक त्रयोदशी को अनध्याय करते हैं।

विद्वानों ने पाणिनि के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में उपलब्ध अनुश्रुति-परम्परा को सत्य के निकट होने का अनुमान किया है।[१] यद्यपि यह सामग्री अति संक्षिप्त है, फिर भी इससे आचार्य के जीवन की स्थूल रूपरेखा का परिज्ञान मिल जाता है।

काल :

पाणिनि के समय के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच अभी भी मतैक्य नहीं है। अधिकांश पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने उन्हें ई० पू० ७०० से ई० पू० ४०० के बीच का माना है। गोल्डस्टूकर तथा रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के अनुसार, पाणिनि सातवीं सदी ई० पू० हुए थे। श्री पाठक ने पाणिनि को सातवीं सदी ई० पू० के अन्तिम चरण में महावीर के जन्म से कुछ ही पूर्व रखा था (भण्डारकर इन्स्टीच्यूट की पत्रिका, ११,८३)। देवदत्त रामकृष्ण

---

१. सियुकि, पृ० ११४-१५। डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० १७ से उद्धृत।

२. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० २६।

भण्डारकर ने पहले सातवीं सदी (१९१८, कार्माइकेल-व्याख्यान, पृ० १४१), फिर पीछे छठी सदी के मध्य भाग को पाणिनि का काल माना (प्रा० भा० मु० शा०, १९२१, पृ० ४६)। शारपेन्तिए के मत में यह तिथि ५५० वर्ष ई० पू० होनी चाहिए (जे० आर० ए० एस्०, १९१३, पृ० ६७२-७४)। उनका अपना ही प्रतिसंस्कृत मत था कि यह तिथि ५०० ई० पू० के लगभग थी, (वही, १९२८, पृ० ३४५)। श्री रायचौधुरी का विचार है कि ईरानियों द्वारा गन्धार-विजय का युग जब समाप्त हो गया, तब पाणिनि का समय होना चाहिए, जो ई० पू० छठी सदी के बाद और चौथी सदी से पूर्व का रहा था। इसी तरह ग्रियर्सन ने ४०० ई० पू० के लगभग, मैकडानेल ने ५०० ई० पू० के पहले, बॉथलिङ्क ने ३५० ई० पू० के लगभग, वेबर ने सिकन्दर के भारत-आगमन के पश्चात् तथा लिविश ने बुद्ध के बाद और ई० सन् के पूर्व के बीच पाणिनि का काल निर्धारित किया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उपर्युक्त मतों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "हमारी सम्मति में इस विषय में जो भारतीय अनुश्रुति है, वह सत्य परम्परा पर आश्रित जान पड़ती है, अर्थात् पाणिनि किसी नन्दवंशी राजा के समकालीन थे। यह समय पाँचवीं सदी ई० पू० के मध्य भाग में था।"[१] सामान्यतः, विद्वानों के बीच अब यही मत मान्य समझा जाता है, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक ने उपर्युक्त सभी मतों का खण्डन करते हुए पाणिनि को २९०० वि० पू० का सिद्ध किया है।[२] इस प्रकार, एतद्विषयक विवाद अभी तक समाप्त नहीं हो पाया है।

पाणिनि की अमर रचना 'अष्टाध्यायी' का उल्लेख विद्वानों के द्वारा अष्टक[३], अष्टिका[४], शब्दानुशासन,[५] वृत्तिसूत्र,[६] पाणिनीयतन्त्र, अकालक व्याकरण[७] आदि

---

१. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० ४६९-७०।
२. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० १८५-९८।
३. 'अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य।'—महाभाष्य, ५।१।५८।
४. 'अष्टिका पाणिनीयाष्टाध्यायी।'—बालमनोरमा, भा० १, पृ० ५१५ (लाहौर)।
५. "अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।"—महाभाष्य की प्रथम पङ्क्ति।
६. 'न ब्रूमो वृत्तिसूत्रवचनप्रामाण्यादिति।'—उपरिवत्, २।१।१।
७. 'पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्।'—काशिका, २।४।२१।

अनेक नामों से होता रहा है । इसमें आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय चार-चार पादों में विभक्त है तथा पूरे ग्रन्थ में प्रयुक्त कुल सूत्रों की संख्या ३९९५ है, जिनमें १४ माहेश्वरसूत्र (अथवा प्रत्याहारसूत्र) भी सम्मिलित हैं । अष्टाध्यायी की विस्मयकारी विशेषता संक्षेप है, जिसके लिए प्रत्याहारों के अतिरिक्त अनुबन्ध, गण, घ, लुक्, श्लु आदि संज्ञा; अनुवृत्ति तथा गुण, वृद्धि आदि प्रचलित परिभाषाओं का उपयोग किया गया है । अष्टाध्यायी के अतिरिक्त धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन तथा एक शिक्षाग्रन्थ भी पाणिनि-कृत माने जाते हैं । इन सबको प्रायः अष्टाध्यायी का परिशिष्ट कहा जाता है । कुछ विद्वानों के अनुसार पाणिनि ने अष्टाध्यायी की कोई स्वोपज्ञवृत्ति भी रची थी,[1] जो अब कहीं उपलब्ध नहीं है । इसी प्रकार, जाम्बवती-विजय अथवा पाताल-विजय नामक महाकाव्य के भी पाणिनि-कृत होने की जनश्रुति प्रचलित है, किन्तु इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतान्तर है । उपर्युक्त कृतियों में अष्टाध्यायी ही पाणिनि की सर्वाधिक प्रामाणिक कृति है, जिसे एक ओर यदि संसार के अद्यतन उपलब्ध व्याकरणों में सर्वाधिक प्राचीन होने का गौरव प्राप्त है, तो दूसरी ओर सर्वश्रेष्ठ होने का भी ।

पाणिनि का महत्त्व :

पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी क्रमशः भारतीय मनीषियों एवं भारतीय मनीषा के ऐसे ज्वलन्त अवशिष्ट दृष्टान्त हैं, जिनके सम्मुख संसार को आज भी नतमस्तक होकर भारत को अपना गुरु स्वीकार करने को विवश होना पड़ता है । अष्टाध्यायी संसार के उपलब्ध व्याकरणों में प्राचीनतम है । भारत में, यों तो इसकी रचना के बहुत पूर्व से शब्द-विद्या का विकास होता आ रहा था, किन्तु पूर्ववर्त्ती आचार्यों के द्वारा इस दिशा में किये गये प्रयत्न प्रायः एकाङ्गी थे। उनके निष्कर्ष सम्भवतः एक दूसरे से टकराते भी थे; साथ ही, शब्दों के रूप तथा नियम भी उनमें पूरी तरह घिरकर नहीं आ सके थे। पाणिनि का शास्त्र उक्त दोषों से मुक्त होने के कारण सबका सिरमौर हुआ ।[2] इसकी सर्वाङ्ग-परिपूर्णता से आकृष्ट लोकप्रियता के सम्मुख पुराने शब्दशास्त्र टिक नहीं सके

१. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० २२५ ।

२. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० ५ ।

और उपेक्षित होकर धीरे-धीरे लुप्त हो गये।[१] लोक में इसी का प्रमाण सर्वोपरि माना जाने लगा। पूर्ववर्त्ती आचार्यों में एकमात्र यास्क का निरुक्त बचा है और वह भी केवल इस कारण कि उसका उद्देश्य वैदिक शब्दों को विवृत करना था।[२]

अष्टाध्यायी संस्कृत का एकमात्र ऐसा व्याकरण है, जिसमें वैदिक और लौकिक संस्कृत दोनों की व्याकृति एक साथ की गयी है। लौकिक संस्कृत में भी भारत के विभिन्न भागों में जो प्रयोग-भेद प्रचलित थे, उनका भी निर्देश है। आजकल की भाषावैज्ञानिक शब्दावली में इसे वैभाषिक (डायलेक्टिकल) भेद कहेंगे। इस तरह वैदिक, संस्कृत और वैभाषिक इन तीनों रूपों का भाषिक विश्लेषण कर पाणिनि ने तुलनात्मक भाषाविज्ञान का शिलान्यास किया।[३]

पाणिनि के सूत्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि संस्कृत उस समय बोलचाल की भाषा थी। दूर से पुकारने (दूराद्धूते च, ८।२।८४), अभिवादन का उत्तर देने (प्रत्यभिवादेऽशूद्रे, ८।२।८३), प्रश्नोत्तर (पृष्ट-प्रतिवचने, ८।२।९३), अथवा डाँट-फटकार (भर्त्सने, ८।२।९५) आदि के लिए जिस प्रकार वाक्यों और शब्दों में स्वरों का प्रयोग होता था, उनके नियम सूत्रों में दिये गये हैं, जो उनकी व्यावहारिक उपयोगिता बताते हैं।[४] इस तरह, पाणिनि के सम्मुख संस्कृत-वाङ्मय और लोक-जीवन दोनों का विपुल भाण्डार खुला हुआ था। उस भाण्डार का जो भी शब्द अर्थ और रचना की दृष्टि से कुछ भी निजी विशेषता रखता था, वह पाणिनि की सूक्ष्मेक्षिका से बच नहीं सका। फलतः, तत्कालीन जीवन का कोई भी अङ्ग ऐसा नहीं बचा, जिसके शब्द अष्टाध्यायी में नहीं आये हों। यही कारण था कि उनका शास्त्र तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का विश्वकोष ही बन गया। भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, विद्या-सम्बन्धी जीवन, राजनीतिक जीवन, धार्मिक और दार्शनिक जीवन—सबके विषय में राई-राई करके सामग्री की महाहिमवन्त-शृङ्खला ही उन्होंने खड़ी कर दी।[५] इस प्रकार, एक ओर यदि उन्होंने

---

१. डॉ० प्र० च० च० : 'द फिलॉसफी ऑव संस्कृत ग्रामर', भू० पृ० २९।
२. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० २।
३. दे० ना० श० : भा० भू०, पृ० २९९।
४. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा० पृ० ३।

५. उपरिवत्, पृ० ४।

लोकजीवन में व्याप्त सामग्री का सदुपयोग किया, तो दूसरी ओर पूर्ववर्त्ती आचार्यों की अधिकांश सामग्री को भी अपने शास्त्र समुद्र में समेट लिया। फलतः, वृद्धि शब्द से प्रारम्भ होनेवाला उनका माङ्गलिक शास्त्र, जिसे पतञ्जलि ने विस्तृत महार्णव (भा० १।३।१) कहा है, लोक में अपूर्व सफलता प्राप्त कर सका तथा उसके द्वारा राष्ट्र की भाषा, विचार-शैली और संस्कृति का महान कल्याण हुआ। अष्टाध्यायी के सूत्रों में भूगोल, इतिहास, सामाजिक स्थिति एवं संस्कृति-सम्बन्धी जो सामग्री पायी जाती है, उसकी प्रामाणिकता उतनी ही बढ़ी-चढ़ी है, जितनी प्राचीन शिलालेखों या सिक्कों की मानी जाती है।[१]

पाणिनि के मस्तिष्क की विशालता इससे प्रकट है कि वे शब्दों की लगभग अपरिमित सामग्री को सञ्चित, व्यवस्थित और सूत्र-सन्निविष्ट कर सकें। उनकी तर्कबुद्धि, धारणा-शक्ति एवं निर्दोष शैली का सारे संसार के विद्वानों ने लोहा माना है। पतञ्जलि ने उनके लिए 'अनल्पमति आचार्य' (भा० १।४।५१) विशेषण का प्रयोग कर उनके इन्हीं गुणों की ओर सङ्केत किया है। इसी तरह उन्हें 'वृत्तज्ञ आचार्य' (भा० १।३।२६, वा० १५) कहकर उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि शब्दों का अर्थों के साथ जो सम्बन्ध है, अर्थों को प्रकट करने के लिए जो प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं तथा शब्दों के रूपों में जो परिवर्त्तन होते हैं या उनके अनुसार प्रत्ययों में गुण-वृद्धि करानेवाले जैसे-जैसे अनुबन्ध रखे जाते हैं—इन तीनों बातों की पूरी जानकारी पाणिनि को थी।[२] इसीलिए, लोक में शब्दों के द्वारा अर्थ-विशेष प्रकट करने की जितने प्रकार की वृत्तियाँ थीं, उन सबकी सूची अष्टाध्यायी में सन्निविष्ट करने में वे सफल हुए।

पाणिनि की एक बहुत बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि उन्होंने धातुओं से शब्द-निर्वचन की पद्धति को स्वीकार किया। इसके लिए उन्होंने लोक में प्रचलित धातुओं का एक बड़ा सङ्ग्रह धातुपाठ में किया। फिर, धातुओं से संज्ञा शब्द सिद्ध करने की प्रक्रिया की सामान्य और विशेष रीति से पूरी छानबीन करके कृदन्त-प्रत्ययों की एक लम्बी सूची दी और जिन अर्थों में वे प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं, उनका भी ज्ञान कराया। उनके पूर्व शाकटायन ने

१. डॉ० वा० श० अ० : व्या० भा०, पृ० ४।
२. उपरिवत्, पृ० १०।

भी यह स्वीकार किया था कि शब्द धातुओं से बनते हैं, किन्तु उन्होंने अपने मत को आग्रह का रूप दे डाला था और व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न सभी प्रकार के शब्दों को धातु-प्रत्ययों से सिद्ध करने का क्लिष्ट प्रयत्न किया था, जिसके कुछ उदाहरण यास्क ने अपने निरुक्त में उद्धृत किये हैं। पाणिनि दुराग्रही नहीं, समन्वयवादी थे। वे दो विरोधी मतों के बीच का मार्ग अपनाना अच्छा समझते थे। उन्होंने देखा कि भाषा में कुछ शब्द तो ऐसे हैं, जिनकी सिद्धि धातुओं में प्रत्यय लगाकर सामान्य या विशेष नियम से हो जाती है, किन्तु लोक में शब्दों का भाण्डार बहुत बड़ा है, जिसमें अनेक शब्द ऐसे भी हैं, जिनमें धातु-प्रत्यय की दाल नहीं गलती। हठात् प्रत्यय की थेकली लगाकर उन्हें सिद्ध करना न केवल क्लिष्ट कल्पना है, बल्कि व्याकरण-शास्त्र की हँसी कराना है। ऐसे शब्द लोक में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अर्थों के साथ उनका सम्बन्ध जुड़ जाता है तथा वे लोगों के कण्ठ में रहकर व्यवहार में आते हैं। उनके लिए लोक ही प्रमाण है। ऐसे शब्दों को उन्होंने 'संज्ञा-प्रमाण' (अ० १।२।५३) कहा और उन्हें यथोपदिष्ट मानकर उनकी भी प्रामाणिकता स्वीकार की।

इसी प्रकार, उणादि प्रत्ययों को भी उन्होंने प्रमाण मान लिया, किन्तु ब्योरेवार उनके पचड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं समझी। 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) सूत्र लिखकर उन्होंने उणादि-शैली से शब्द-सिद्धि-प्रक्रिया पर अपनी स्वीकृति की मुहर तो लगा दी, किन्तु 'बहुलम्' कहकर लम्बी छूट भी दे दी कि जो आचार्य जितनी चौकड़ी भरना चाहें, भरें। ऐसा ही एक और उदाहरण द्रष्टव्य है। पाणिनि के पूर्व से ही आचार्यों के बीच इस प्रश्न पर विवाद होता आया था कि शब्द का अर्थ व्यक्ति है अथवा जाति। आचार्य वाजप्यायन का मत था कि 'गौ' शब्द का अर्थ गो जाति-मात्र है—('आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः', भा० १।२।६४।३५); किन्तु आचार्य व्याडि 'गौ' को व्यक्तिवाचक शब्द मानते थे ('द्रव्याभिधानं व्याडिः', भा० १।२।६४।४५)। पाणिनि को दोनों ही मतों में सत्य का अंश दीखा, इस कारण उन्होंने अपने दो अलग-अलग सूत्रों (अ० १।२।५८ तथा १।२ ६४) में दोनों को मान्यता दी। इसी प्रकार, जहाँ-जहाँ मतों का द्वन्द्व था, पाणिनि ने सर्वत्र समन्वय का ही दृष्टिकोण अपनाया।

अष्टाध्यायी का अन्यतम गुण है उसकी संक्षिप्तता, जिसके लिए सूत्रशैली का उपयोग किया गया है। संसार में भारत की इस सूत्रशैली की उपमा अन्यत्र

नहीं है। इस शैली का जन्म पाणिनि से बहुत पूर्व ब्राह्मण-ग्रन्थों के बृहत्काय पोथों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ था और इसका प्रयोग भी श्रौत, धर्म और गृह्यसूत्रों तथा प्रातिशाख्य आदि वैदिक परिषदों के ग्रन्थों में सफलतापूर्वक हो चुका था। किन्तु, इस शैली में अनुपम निखार भरकर इसे इसकी पूरी शक्ति एवं सम्भावना के साथ उपयोग में लाने का श्रेय पाणिनि को ही है।[१] उन्होंने प्रयत्नपूर्वक माँजे और निखारे सूत्रों को 'प्रतिष्णात' कहा है ('सूत्रं प्रतिष्णातम्', ८।३।९०)। अष्टाध्यायी के सूत्र सच्चे अर्थ में प्रतिष्णात सिद्ध हुए। यही कारण था कि यद्यपि पाणिनि के पूर्व तथा बाद में भी अनेक सूत्रकार हुए, किन्तु 'सूत्रकार' संज्ञा पाणिनि को ही प्राप्त हुई: 'पाणिनेः सूत्रकारस्य' (भा० ३।२।११)।

पाणिनि ने ध्वनिवैज्ञानिक आधार पर स्थान एवं प्रयत्नादि के अनुसार चौदह माहेश्वरसूत्रों (अर्थात् प्रत्याहारसूत्रों) में वैदिक तथा संस्कृत-भाषा की ध्वनियों का जैसा वैज्ञानिक प्रस्तवन किया है, वैसा संसार की किसी अन्य भाषा का नहीं हुआ।[२] ये चौदह सूत्र ही अष्टाध्यायी की संक्षिप्तता के प्रमुख आधार हैं। इसी तरह सन्धि-सूत्रों के द्वारा पाणिनि ने ध्वनि-परिवर्त्तनों का व्यापक और निरपवाद निरूपण किया है। ध्वनियों के सन्निकर्ष (सामीप्य) के कारण किस प्रकार आगम, विकार, लोप आदि होते हैं, इसका अष्टाध्यायी में ऐसा व्यापक और वैज्ञानिक निरूपण हुआ है कि वह केवल संस्कृत ही नहीं, भाषामात्र पर लागू हो सकता है।

यास्क ने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में पदों के चार वर्ग माने थे; किन्तु पाणिनि ने उन्हें सुबन्त एवं तिङन्त, इन दो वर्गों में ही समाहित कर दिया। सुबन्त में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, संख्यावाचक, अव्यय ये सब आ गये और तिङन्त में क्रिया। यह विभाजन सरलतम तो है ही, यौक्तिक और वैज्ञानिक भी है। इसी प्रकार, कारक एवं समास-प्रकरण के द्वारा उन्होंने वाक्य एवं अर्थ-विज्ञान को स्पष्ट किया। कारक-प्रकरण तो वाक्य-विज्ञान का प्राण है। समास का महत्त्व वाक्यविज्ञान की दृष्टि से भी है और अर्थविज्ञान की दृष्टि से भी। फिर, स्वर-प्रक्रिया के अन्तर्गत स्वराघात, बलाघात के

१. उपरिवत्, पृ० ६।

२. दे० ना० श० : भा० भू०, पृ० २९८।

नियमों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने भाषा में उनके महत्त्व को भी दरसाया। इस प्रकार ध्वनि, पद, वाक्य और अर्थ भाषा का कोई भी पक्ष अष्टाध्यायी में पूर्णतः विश्लेषित हुए बिना नहीं रहा।[१]

पाणिनि ने एकाग्र मन, सारग्राहिणी बुद्धि, समन्वयात्मक दृष्टि, दृढ़ परिश्रम, सूत्र-रचना की कुशलता एवं विपुल सामग्री की सहायता से जिस अद्भुत शास्त्र का निर्माण किया, वह अनुपम सिद्ध हुआ। उसके स्वागत में सभी ओर से यह ध्वनि गूँज उठी: 'पाणिनीयं महत्सुविहितम्' (भा० ३।२।३), अर्थात् पाणिनि का शास्त्र महान् एवं सुविरचित है। पतञ्जलि के समय तक आते-आते पाणिनि के व्याकरण का अध्ययन आरम्भिक कक्षाओं तक फैल गया: 'आकुमारं यशः पाणिनेः एषास्य यशसो मर्यादा।' (भा० १।४।८९) काशिका के समय तक तो पाणिनि का विमल यश सारे लोक में छा गया था: 'पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते' (का० २।१।६) और सब ओर 'इति पाणिनिः' की धूम मची हुई थी।

पतञ्जलि ने पाणिनि को प्रमाणभूत आचार्य की सम्मानित उपाधि से अभिहित करते हुए उनके सूत्रों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लिखा है: "प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महतायत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म।" अर्थात्, कुशपवित्र-पाणि प्रामाणिक आचार्य ने पवित्र स्थान में पूर्वाभिमुख बैठकर बड़े प्रयत्न से सूत्रों का प्रणयन किया है। उनमें एक वर्ण भी निष्प्रयोजन नहीं हो सकता, सारे सूत्र की तो बात ही क्या? ऐसी अनुपम निष्ठा से जिस शास्त्र का प्रणयन हुआ, उसके प्रति विद्वानों में पूज्यबुद्धि होना स्वाभाविक था। सम्भवतः, पाणिनि के सूत्रों के आधार पर ही यह उक्ति प्रचलित हुई थी कि सूत्र में आधी मात्रा की भी बचत कर लेने पर वैयाकरण को पुत्रजन्मोत्सव-जैसी प्रसन्नता होती है: 'अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा १२२)।

पाणिनि के सर्वातिशायी महत्त्व का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वार्त्तिककार कात्यायन एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि जैसे लोकविश्रुत आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थ के अन्त में पाणिनि के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए श्रद्धातिरेक से उनके लिए 'भगवान्' पद का प्रयोग किया है। कात्यायन का

१. उपरिवत्, पृ० २९९-३००।

अन्तिम वार्त्तिक है : 'भगवतः पाणिनेः सिद्धम्' और महाभाष्य का अन्तिम वाक्य है : 'भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम् ।' पाणिनि की इस महत्ता का स्रोत लोक की दृष्टि में ईश्वरीय शक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता था ? इसी कारण यह अनुश्रुति प्रचलित हुई कि शब्द के आदि आचार्य भगवान शिव की कृपा से पाणिनि को नया व्याकरणशास्त्र प्राप्त हुआ था ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल[1] ने अष्टाध्यायी की उपमा दक्षिण भारत के 'वेरूल' क्षेत्र में स्थित पर्वतोत्कीर्ण विशाल कैलास मन्दिर से दी है, किन्तु मेरी दृष्टि में वह शिव का साक्षात् लीलाधाम कैलास ही है । डॉ० अग्रवाल के अनुसार, 'संस्कृत-भाषा का जहाँ तक विस्तार है, वहाँ तक पाणिनीय शास्त्र का प्रमाण है',[2] किन्तु मेरा विश्वास है कि उसके अनेक अंश न केवल संस्कृत, अपितु भाषामात्र के लिए प्रमाण हैं ।

पाणिनीय सम्प्रदाय

वार्त्तिककार

वार्त्तिक :

पराशर उपपुराण के अनुसार, 'जिसमें उक्त, अनुक्त और दुरुक्त तथ्यों पर विचार किया गया हो, उसे वार्त्तिक कहते हैं ।'[3] ये लक्षण यद्यपि प्राधान्येन भाष्य-ग्रन्थों पर लिखे गये वार्त्तिकों के हैं, पर वैयाकरणीय वार्त्तिकों पर भी घटित होते हैं । युधिष्ठिर मीमांसक[4] के अनुसार वार्त्तिक का अर्थ है : 'वृत्तेर्व्याख्यानं वार्त्तिकम्', अर्थात् जो वृत्ति का व्याख्यान हो, वह वार्त्तिक है । वार्त्तिक के लिए वाक्य, व्याख्यानसूत्र, भाष्यसूत्र, अनुतन्त्र, अनुस्मृति आदि शब्द भी प्रयोग में आये हैं । इसी तरह वार्त्तिककार को कहीं-कहीं वाक्यकार भी कहा गया है ।

पाणिनि से पतञ्जलि तक के बीच अनेक आचार्यों ने अष्टाध्यायी पर वार्त्तिक लिखे जिनमें केवल कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा तथा वाडव के

---

१. डॉ० वा० श० अ० : पा० भा०, पृ० १ ।

२. उपरिवत् ।

३. "उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते ।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञाः मनीषिणः ॥"

४. 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', भा० १, पृ० २८९ ।

नाम महाभाष्य में मिलते हैं। अन्य अज्ञात आचार्यों के वचन 'अपर आहुः' निर्देशपूर्वक उल्लिखित हैं।[१] उक्त वार्त्तिककारों में कात्यायन सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। उनका वार्त्तिक सम्प्रति उपलब्ध भी है। शेष वार्त्तिककारों के नामोल्लेखमात्र मिलते हैं, ग्रन्थ नहीं।

वार्त्तिककार कात्यायन :

अष्टाध्यायी के लोकविश्रुत वार्त्तिककार कात्यायन का इतिवृत्त विवादग्रस्त है। कथासरित्सागर के अनुसार वे कौशाम्बी-निवासी थे,[२] किन्तु पतञ्जलि ने उन्हें दाक्षिणात्य कहा है।[३] इसी तरह कथासरित्सागर उन्हें पाणिनि का समकालीन बताता है, किन्तु आधुनिक विद्वानों की राय में वे पाणिनि से कम-से-कम डेढ़-दो सौ वर्ष बाद हुए थे। अधिकांश विद्वानों ने उनका समय ई० पू० ५०० से ३५० के बीच निर्धारित किया है,[४] किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक नें उन्हें २९००–३००० वर्ष वि० पू० का माना है।[५] इसी तरह कात्यायन नाम के कई आचार्यों में वार्त्तिककार कात्यायन कौन थे, इसका निश्चित पता नहीं है। मीमांसक जी ने उन्हें याज्ञवल्क्य के पौत्र तथा कात्यायन के पुत्र वररुचि कात्यायन से अभिन्न माना है।[६] पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्डशेष-कोष में कात्यायन के कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु, मेधाजित् और वररुचि ये पाँच नामान्तर मिलते हैं।

पाणिनि के पश्चात् और पतञ्जलि के पूर्व जितने वैयाकरण हुए, उनमें कात्यायन सर्वाधिक विख्यात हैं। उन्होंने किसी स्वतन्त्र शब्दशास्त्र की रचना नहीं कर पाणिनि के सूत्रों का ही परीक्षण एवं विवेचन किया था। वे पाणिनि के सबसे योग्य, प्रतिभाशाली और वैज्ञानिक पारखी एवं व्याख्याता थे। उनका व्याकरण-विषयक निजी ज्ञान उच्च कोटि का था। पाणिनि के सूत्रों पर

---

१. उपरिवत्, पृ० २८०।
२. द्र० १।३ या ४।
३. "प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिक-वैदिकेषु प्रयुञ्जते। अ० १, पा० १, आ० १।
४. डॉ० बा० रा० सं० : सा० भा०, पृ० १४२।
५. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० २९०।
६. उपरिवत्, पृ० २८७।

वार्त्तिक रचकर उन्होंने सूत्रों की पृष्ठभूमि का समुचित परिचय दिया एवं उस सम्बन्ध में होनेवाले अनेक विचार-विमर्शों की तुलनात्मक ढङ्ग से समीक्षा की। उन्होंने सूत्रों पर नये विचारों की उद्भावना की, कालान्तर में जहाँ नये प्रयोग उत्पन्न हो गये थे, वहाँ पाणिनि के सूत्रों के साथ उन्हें मिलाने का सुझाव दिया और व्याकरण-सम्बन्धी सिद्धान्तों के जो मत-मतान्तर थे, उन पर शास्त्रार्थ चलाया। कहीं उन्होंने पाणिनि के सूत्रों में पढ़े हुए शब्दों का मण्डन किया है, कहीं दूसरों से उठायी हुई शङ्काओं का उत्तर दिया है, कहीं दूसरों की शङ्काओं की निस्सारता दिखाकर नयी दृष्टि से पाणिनि के सूत्रों में शङ्का-स्थलों का सङ्केत किया है, कहीं अपनी-परायी सभी शङ्काओं का निराकरण करके सूत्र की शुद्धता का मण्डन किया है, एवं जहाँ-जहाँ उन्हें जँचा, वहाँ सूत्र अथवा उसके एक भाग की आवश्यकता भी दिखायी है। उनके वार्तिकों की संख्या लगभग ४२६३ है, जो उनके अपरिमित पाणिनि-विषयक श्रम का परिचय देते हैं। इस प्रकार की बहुमुखी समीक्षा से पाणिनि का शास्त्र एकदम तप गया।[१]

कात्यायन के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति कि भिन्न सम्प्रदाय के होने के कारण तथा पाणिनि के यश से चिढ़े रहने के कारण उन्होंने पाणिनि के सूत्रों की भूलों की ओर सङ्केत करने के उद्देश्य से तथा उन्हें नीचा दिखाने के लिए वार्त्तिकों की रचना की; नितान्त भ्रामक एवं निराधार है। सच बात तो यह है कि कात्यायन ने वार्त्तिक-सूत्रों की रचना करके पाणिनीय शास्त्र को जीवनदान दिया तथा उनके यश एवं गौरव की वृद्धि की। उनके वार्त्तिक पाणिनीय शास्त्र के पूरक हैं।[२] उन्होंने वार्त्तिक में मुख्यतः पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया, किन्तु जहाँ-तहाँ स्वर (अच्), व्यञ्जन (हल्), समानाक्षर (अक्), भवन्ती (लट्) आदि नये शब्द भी दिये हैं।[३]

---

१. डॉ० बा० श० अ० : पा० भा०, पृ० ७।

२. "Katyayana......tried his best to supplement the work of Panini, having paid keen attention to the new stock of forms that gradually obtained currency in the course of linguistic development".—P.C. Chakravarty : The Philosophy of Skt. grammar, p. 29.

३. डॉ० बा० स०, सा० भा० : पृ० १४३।

वार्त्तिक की रचना समाप्त करते समय वे पाणिनि के प्रति श्रद्धातिरेक से भर उठे थे और उन्होंने अपना अन्तिम वार्त्तिक इन भक्ति-भरे शब्दों में समाप्त किया था—'भगवतः पाणिनेः सिद्धम् ।'

भाष्यकार

अष्टाध्यायी के सूत्रों पर पहले वार्त्तिक और फिर वार्त्तिकों का अवलम्ब लेकर भाष्य लिखे गये। विद्वानों का अनुमान है कि महाभाष्य के पूर्व अष्टाध्यायी के अनेक भाष्य हो चुके थे।[१] महाभाष्य में 'अपर आह' आदि लिखकर एक-एक वार्त्तिक की कई-कई व्याख्याएँ उद्धृत की गयी हैं।[२] उनसे भी उक्त मान्यता की पुष्टि होती है। 'महाभाष्य' शब्द में प्रयुक्त 'महत्' विशेषण भी इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है; क्योंकि यदि पहले से (सामान्य) भाष्य नहीं लिखे गये होते, तो महाभाष्य को 'भाष्य' न कहकर 'महाभाष्य' कहने में क्या तुक था ? स्पष्ट है कि चूँकि पतञ्जलि-कृत भाष्य पूर्ववर्त्ती सभी भाष्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत, श्रेष्ठ एवं प्रामाणिक सिद्ध हुआ, इसीलिए उसका 'महाभाष्य' नाम सार्थक हुआ। पतञ्जलि का महाभाष्य अष्टाध्यायी का भाष्य मात्र नहीं है, अपितु उस समय तक उपलब्ध प्रायः समस्त व्याकरणशास्त्र-विषयक ग्रन्थराशि का प्रमाण-भूत सार-सङ्कलन भी है। उसकी श्रेष्ठता एवं लोकप्रियता के कारण प्राचीन भाष्य उसी प्रकार लुप्त हो गये, जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी के कारण प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ तथा कात्यायन के वार्त्तिक के कारण प्राचीन वार्त्तिक।

पतञ्जलि और उनका महाभाष्य :

पाणिनि और कात्यायन के इतिवृत्त की तरह ही पतञ्जलि का इतिवृत्त भी सर्वथा अन्धकारावृत है। प्राचीन ग्रन्थों में उन्हें गोनर्दीय,[३] गोणिकापुत्र,[४]

---

१. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ३०८।

२. 'गोनर्दीयपदं व्याचष्टे भाष्यकार इति''—उद्योत; १।१।२१। ''यस्तु प्रयुङ्क्ते ....तत्प्रमाणमेवेति गोनर्दीयः।'—राजशेखर : का० मी०, पृ० २६। 'गोनर्दीयः पतञ्जलिः।' वैजयन्तीकोष, पृ० ९६, श्लो० १५७।

३. 'गोणिकापुत्रो [illegible]'—नागेश।

नागनाथ,[१] अहिपति,[२] फणिभृत्,[३] शेषराज,[४] शेषाहि,[५] चूर्णिकार,[६] पदकार[७] आदि अनेक नामों से स्मरण किया गया है। किन्तु, इनमें से अधिकांश नामों की ऐतिहासिकता एवं औचित्य अभी तक अनिर्धारित हैं। महाभाष्य के विविध निर्देशों से विदित होता है कि वे मथुरा, साकेत, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र तथा कश्मीर से भली भाँति परिचित थे, किन्तु उनकी जन्मभूमि कहाँ थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यों, कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वे कश्मीर के रहनेवाले थे।[८]

राजशेखर की काव्यमीमांसा में उल्लिखित अनुश्रुति[९] के अनुसार पाणिनि की तरह पतञ्जलि ने भी पाटलिपुत्र की शास्त्रकारपरीक्षा में उत्तीर्ण होकर यशोलाभ किया था। अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने महाभाष्य के कतिपय अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर उन्हें शुङ्गवंशी महाराज पुष्यमित्र का समकालीन मानते हुए उनका समय दूसरी सदी ई० पूर्व के आसपास निर्धारित किया है।[१०] किन्तु, युधिष्ठिर मीमांसक ने महाभाष्य के उक्त स्थलों को प्रक्षिप्तांश मानते हुए पहले तो पतञ्जलि का समय २००० वि० पूर्व माना है, किन्तु बाद में लिखा है कि "यदि हमारे द्वारा प्रदर्शित २००० वि० पूर्व काल न भी माना जाय और उसे (पतञ्जलि को) शुंगवंशीय पुष्यमित्र का समकालीन ही माना जाय, तब भी वह वि० पूर्व १२०० वर्ष से उत्तरवर्त्ती नहीं हो सकता। पाश्चात्य विद्वानों का पुष्यमित्र को १५० ई० पूर्व में रखना भारतीय ऐतिहासिक काल-

---

१. 'तत्र जात इत्यत्र तु सूत्रेऽस्य लक्षणत्वमाश्रित्यैतेषां सिद्धिमभिधास्यति नागनाथः।'—कैयट : प्रदीप।

२. 'पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः।'—चक्रपाणि : चरकटीका।

३. 'वाक्येभ्यो वपुषां मलः फणिभृता भर्त्रेव येनोद्धृतः।'—भोजराज : योगसूत्रवृत्ति।

४. हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि।

५. वल्लभदेव-कृत 'शिशुपालवध की टीका।'—२।११२।

६. स्कन्दस्वामी : निरुक्त, ३।१६ की टीका।

७. उपरिवत्, ११३।

८. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ३१५।

९. "श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा। अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनि-पिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।"

१०. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ३२।

गणना के सर्वथा विपरीत है।[१] इन विविध मान्यताओं में कौन सही है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

पतञ्जलि ने यद्यपि व्याकरण-विषयक किसी स्वतन्त्र या मौलिक ग्रन्थ की रचना न करके अष्टाध्यायी का भाष्य-मात्र किया; जिसमें उनका एक उद्देश्य अष्टाध्यायी के सूत्रों पर लिखे गये वार्त्तिकों का परीक्षण करते हुए वार्त्तिककार के आक्षेपों का खण्डन करना था और दूसरा उद्देश्य पाणिनि के समस्त सूत्रों के अर्थ, औचित्य, व्याप्ति और वैज्ञानिकता का दिग्दर्शन कराना था; किन्तु उनका वह भाष्य न केवल उक्त उद्देश्यों की पूर्त्ति की दृष्टि से या गुण एवं परिमाण की दृष्टि से ही, प्रत्युत भाषा, शैली एवं तथ्य की मौलिकता की दृष्टि से भी इतना सफल, सारगर्भ एवं गम्भीर प्रमाणित हुआ कि वह व्याकरणशास्त्र के श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ मौलिक ग्रन्थों से भी अधिक श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण माना गया। 'संस्कृत-वाङ्मय में महाभाष्य की अभिधा पानेवाला वह एकमात्र ग्रन्थ है।'[२]

अष्टाध्यायी की तरह ही महाभाष्य में भी आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद, जो आह्निकों में विभक्त हैं। उसमें दो प्रकार की शैलियों का प्रयोग हुआ है : चूर्णिका और तण्डक। जहाँ वार्त्तिकों के एक-एक शब्द को अलग करके अत्यन्त सरल, सरस एवं आकर्षक ढङ्ग से उसका अर्थ स्पष्ट किया गया है, उस शैली का नाम चूर्णिका है और जहाँ व्याकरणिक सिद्धान्तों का ऊहापोह एवं खण्डन-मण्डन गम्भीर तथा ओजस्वी ढङ्ग से किया गया है, उसका नाम तण्डक है। भाष्य की इन दो प्राञ्जल एवं प्रसङ्गानुरूप शैलियों के बीच अन्तर्यामी धागे की तरह विषय को पिरोनेवाले कात्यायन के वार्त्तिक हैं, जो यथार्थतः भाष्य के मुख्य आधार हैं।[३] अपने नियमों को पतञ्जलि ने 'इष्टि' की संज्ञा दी है।

पतञ्जलि ने पाणिनि के शास्त्र पर हुए, हो रहे और होनेवाले सभी प्रकार के आक्षेपों का यथोचित निराकरण करते हुए यह सिद्ध कर दिखाया है कि पाणिनि का कोई पूरा सूत्र तो क्या, सूत्र का कोई एक वर्ण भी अनर्थक, अनुपयोगी और अनावश्यक नहीं है।[४] इस प्रकार, उन्होंने उसपर सदा-सदा के लिए

१. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ३२९।
२. दे० वा० शा० : भा० भू०, पृ० ३०२।
३. डॉ० वा० शा० अ० : पा० का० भा०, पृ० ८।
४. महाभाष्य, १ भाग, पा० ७, पृ० ३९।

प्रामाणिकता और वैज्ञानिकता की मुहर लगा दी। इसीलिए, विद्वानों ने महाभाष्य को पाणिनि-शास्त्र के इतिहास की सबसे बड़ी घटना कहा है।[१] "अनेक जलधाराओं के वर्षण से जैसे बहिआ आ जाय और उस जलौघ को एकत्र करके किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाय, उसी प्रकार व्याकरण के विशाल-क्षेत्र पर जो विचार-मेघ बरसे थे, उन सब जलों का सङ्ग्रह करके पतञ्जलि ने महाभाष्य के द्वारा उन्हें सदा के लिए व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की महानदी में मिला दिया।"[२]

महाभाष्य आज भी भाषाशास्त्र-विषयक किसी भी प्रश्न या गुत्थी को सुलझाने की दृष्टि से अन्तिम तथा अन्यतम प्रमाण है।[३] कैयट[४] तथा नागेश[५] जैसे श्रेष्ठ आचार्यों ने इसे अष्टाध्यायी एवं वार्त्तिक से भी अधिक प्रामाणिक स्वीकार किया है। ध्वनि, पद एवं वाक्य का स्वरूप, उनकी प्रकृति, प्रवृत्ति एवं लक्षण, उनके वर्गोपवर्ग तथा उन सबका अर्थ के साथ पारस्परिक सम्बन्ध आदि भाषा वैज्ञानिक समस्याओं की महाभाष्यस्थ मीमांसा अद्भुत, अपूर्व एवं अद्वितीय है। भाषा की सरल-स्वाभाविक प्राञ्जलता, शैली का प्रसङ्गोचित लालित्य तथा ओजस्विता एवं विवेचन की सूक्ष्मता तथा मौलिकता आदि सभी दृष्टियों से यह समस्त संस्कृत-वाङ्मय में आदर्श एवं पुरोगण्य ग्रन्थरत्न माना जाता है।

पतञ्जलि ने जिस क्षेत्र को अपना बनाया था, उसके वे एक प्रकार से चक्रवर्त्ती थे। फिर भी, अपने से ऊपर पाणिनि के महत्त्व को स्थापित करके उन्होंने अपने हृदय की जिस विशालता का एवं भारतीय सारस्वत धर्म के जिस आदर्श का परिचय दिया था, वह अनुपम है। महाभाष्य के अन्त में पाणिनि के लिए 'भगवान्' पद का प्रयोग करते हुए उन्होंने अपनी श्रद्धाञ्जलि इस प्रकार अर्पित की है : 'भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।'[६]

---

१. वा० श० अ० : पा० का भा०, पृ० ८।

२. उपरिवत्।

३. 'Mahabhashya......is still regarded as the highest authority on all Problems of grammar.'—P. C. Chakravrty : Phil. of Skt. gram., p. 29.

४. 'यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्।'—भाष्यप्रदीप, १।१।२९।

५. 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।'—उद्योत, ३।१।८७।

६. महाभाष्य, ८।४।६८।

टीकाकार

पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि संस्कृत-व्याकरण-निकाय में 'मुनित्रय' के नाम से विख्यात हैं। इन तीनों के पश्चात् पाणिनीय सम्प्रदाय के टीकाकारों का स्थान आता है। संस्कृत में व्याकरण-ग्रन्थों की टीकाओं की व्यापक परम्परा मिलती है। उन टीकाओं की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे केवल मूल ग्रन्थों पर ही नहीं लिखी गयी हैं, अपितु टीका की टीका, फिर उसकी टीका, इसी तरह टीकाओं की ६-६, ७-७ पीढ़ियाँ तक वर्त्तमान हैं। उनमें यदि एक ओर पिष्टपेषण और रूढ़िपोषण है, तो दूसरी ओर विभिन्नता एवं मौलिकता भी कम नहीं है। टीकाकारों का प्रधान लक्ष्य अधिक-से-अधिक सूक्ष्मता प्रदर्शित करना है। इस कारण भाषा की शास्त्रीय विवेचना की दृष्टि से उनका अनल्प एवं असन्दिग्ध महत्त्व है। यहाँ सभी टीकाग्रन्थों का विस्तृत परिचय देना न तो आवश्यक है और न सम्भव ही, इसलिए हम केवल प्रमुख ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकारों का संक्षिप्त उल्लेख-मात्र करेंगे।

अष्टाध्यायी के टीकाकार :

अष्टाध्यायी सूत्रशैली में निबद्ध कृति है। सूत्रों का स्वरूप स्वभावतः सङ्केत-प्रधान[१] होने के कारण उनके द्वारा निर्दिष्ट अर्थ-सङ्केत उन सूत्रों की वृत्ति[२] अर्थात् टीका के बिना सबके लिए सहज बोधगम्य या ग्राह्य नहीं होते। इसीलिए, कात्यायन के वार्त्तिक तथा पतञ्जलि के महाभाष्य के अतिरिक्त अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियाँ या टीकाएँ भी की गयीं। अपने शिष्यों को अष्टाध्यायी के सूत्रों का सम्यक् ज्ञान प्रदान करने के लिए सर्वप्रथम स्वयं पाणिनि को ही सूत्रों की वृत्तियों का प्रवचन करना पड़ा था।[३] तबसे आजतक अष्टाध्यायी के टीकाग्रन्थों की एक सुदीर्घ परम्परा वर्त्तमान रही है।

---

१. "लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥"
—भामती वेदान्त, (१।१।१) में उद्धृत।

२. "न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः आत् ऐच् इति। किं तर्हि? 'उदाहरणम्, प्रत्युदाहरणम् वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति।'— महा०, १।१, आ० १।

३. [illegible]

अष्टाध्यायी के ज्ञात टीकाकारों में श्वोभूति, व्याडि, कुणि, माथुर, वररुचि, देवनन्दी (शब्दावतारन्यास), दुर्विनीत, (शब्दावतार), चुल्लिभट्ट, निर्लूर, चूर्णि, जयादित्य-वामन (काशिका), भागवृत्तिकार, भर्त्रीश्वर, भट्ट जयन्त, केशव, इन्दुमित्र, मैत्रेयरक्षित (दुर्घटवृत्ति), पुरुषोत्तमदेव, शरणदेव, भट्टोजिदीक्षित (शब्दकौस्तुभ), अप्पयदीक्षित (सूत्रप्रकाश), नीलकण्ठ वाजपेयी (पाणिनीयदीपिका), अन्नम्भट्ट (पाणिनीय मिताक्षरा), विश्वेश्वर सूरि (व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि), गोपालकृष्ण शास्त्री, गोकुलचन्द्र, ओरम्भट्ट, स्वामी दयानन्द सरस्वती (अष्टाध्यायी-भाष्य) आदि अनेक आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें अधिकांश टीकाकारों की टीकाएँ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं, केवल उनके नाम का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। जितनी टीकाएँ उपलब्ध हैं, उनमें भी कई अभी अप्रकाशित ही हैं। प्रकाशित टीकाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध वामन एवं जयादित्यकृत 'काशिका' है।

काशिका के आठ अध्यायों में प्रथम पाँच जयादित्य के और शेष वामन के लिखे माने जाते हैं। 'काश्' धातु से व्युत्पन्न 'काशिका' नाम्नी टीका सच्चे अर्थ में अष्टाध्यायी के सूत्रार्थों की प्रकाशिका है, साथ ही काशी में रचित होने के कारण भी इसका 'काशिका' नाम सार्थक है। गणपाठ का समावेश इसकी एक प्रमुख विशेषता है। इसमें प्राचीन वृत्तियों से जो उदाहरण उद्धृत हैं, उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। इसकी लोकप्रियता के कारण ही अष्टाध्यायी के अधिकांश टीकाग्रन्थ उपेक्षित होकर लुप्त हो गये। विद्वानों ने सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को इसका रचनाकाल माना है।

"काशिकाकार ने आरम्भ में ही लिखा है कि वृत्ति, भाष्य, धातुपाठ और नामपारायण (नामिक) आदि में जो व्याकरण की सामग्री फैली हुई थी, उसके सार का सङ्ग्रह काशिका में किया गया है। काशिकाकार ने न केवल सूत्रों के गूढ़ अर्थों पर प्रकाश डाला, अपितु गणपाठ को भी शुद्ध किया और प्राचीन श्लोकात्मक इष्टियों का सङ्ग्रह किया।"[1] काशिका के बिना पाणिनि-सूत्रों के अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों का जानना असम्भव हो जाता। पाणिनिशास्त्र की परम्परा में काशिका अत्यन्त भरा-पूरा भाण्डार है, जिसमें पुष्कल प्राचीन

---

१. "इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम॥"

सामग्री सुरक्षित रह गयी है। सच तो यह है कि काशिका पाणिनि के दुग्धामृत की प्राप्ति के हेतु कामधेनु है। काशिका में पाणिनि के विराट् भवन की महिमा अक्षुण्ण दिखाई पड़ती है। सूत्रकार ने जिस प्रकार अपने शास्त्र का ठाठ बाँधा था, उसे जिन प्रकरणों में बाँटकर प्रत्यय और प्रकृति-सम्बन्धी विविध कार्यों को सजाया था, उनके प्रासाद का वह सूत्र-मापन काशिका की कृपा से ज्यों-का-त्यों हमारे पास तक पहुँचा है। पाणिनिशास्त्र का अपना स्वरूप कितना आकर्षक और सुबोध था, यह काशिका वृत्ति से जाना जा सकता है।"[1]

कालान्तर में काशिका की भी अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें जिनेन्द्र-बुद्धिकृत 'काशिकाविवरण पञ्जिका' (अथवा न्यास), इन्दुमित्र-कृत 'अनुन्यास', विद्यासागरमुनि-कृत 'प्रक्रियामञ्जरी', हरदत्तमिश्र-कृत 'पदमञ्जरी' और रामदेव-मिश्र-कृत 'वृत्तिप्रदीप' उल्लेखनीय हैं। इनमें से भी जिनेन्द्रबुद्धि-कृत 'काशिका-विवरणपञ्जिका' अथवा 'न्यास' तथा हरदत्तमिश्र-कृत 'पदमञ्जरी' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी प्रसिद्धि के कारण ही अनेक विद्वानों ने इनकी भी टीकाएँ और फिर इनकी टीकाओं की भी टीकाएँ लिखीं। 'न्यास' की टीकाओं में मैत्रेयरक्षित-कृत 'तन्त्रप्रदीप' तथा 'तन्त्रप्रदीप' की टीकाओं में नन्दनमिश्र-कृत 'तन्त्रप्रदीपोद्योतन' एवं सनातन तर्काचार्य की 'प्रभा' विशेष उल्लेखनीय हैं। न्यास के अन्य टीकाकारों में मल्लिनाथ (न्यासोद्योत) तथा नरपतिमहामिश्र (न्यासप्रकाश) उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार, हरदत्तमिश्र की 'पदमञ्जरी' के टीकाकारों में रङ्गनाथ यज्वा (मञ्जरीमकरन्द) एवं शिवभट्ट (कुङ्कुमविकास) प्रसिद्ध हैं।

महाभाष्य के टीकाकार

अष्टाध्यायी की टीकाओं की तरह ही महाभाष्य की टीकाओं की भी एक सुदीर्घ परम्परा रही है। किन्तु, उनमें से कुछ तो लुप्त हो चुकी हैं और कुछ अज्ञात हैं। ज्ञात टीकाओं में भर्तृहरि-कृत महाभाष्यदीपिका, कैयट-कृत महाभाष्यप्रदीप, पुरुषोत्तमदेव-कृत प्राणपणा, धनेश्वर-कृत चिन्तामणि, शेष-नारायण-कृत सूक्तिरत्नाकर, विष्णुमित्र-कृत क्षीरोदर, नीलकण्ठ वाजपेयी-कृत भाष्य-तत्त्वविवेक, शेषविष्णु-कृत महाभाष्यप्रकाशिका, शिवरामेन्द्र सरस्वती-कृत महाभाष्यरत्नाकर, प्रयागवेङ्कटाद्रि-कृत विद्वन्मुखभूषण, तिरुमल यज्वा-कृत

---

१. डॉ० वा० श० अ०: पा० भा०, पृ० [illegible]

अनुपदा, राजनसिंह-कृत शब्द-बृहती, नारायण-कृत महाभाष्यविवरण, सर्वेश्वर दीक्षित-कृत महाभाष्यस्फूर्त्ति, गोपालकृष्ण शास्त्री-कृत शाब्दिकचिन्तामणि आदि उल्लेखनीय हैं। उक्त टीकाकारों में भर्त्तृहरि और कैयट सर्वाधिक ख्यात हैं। इसलिए, यहाँ उन दोनों का संक्षिप्त परिचय दे देना अनिवार्य है।

भर्त्तृहरि :

भर्त्तृहरि नाम एवं उपाधि वाले अनेक आचार्यों में वैयाकरण भर्त्तृहरि कौन थे, इसका उत्तर अभी विवादग्रस्त है। पाणिनि, पतञ्जलि आदि प्राचीन आचार्यों के काल एवं इतिवृत्त के समान उनका भी काल एवं इतिवृत्त प्रायः अज्ञात ही है। बेलवाल्कर[1] ने चीनी यात्री इत्सिङ्ग[2] के साक्ष्य पर उन्हें काशिकाकार जयादित्य का समकालीन मानते हुए उनका समय ७वीं सदी के मध्य माना है।[3] किन्तु, युधिष्ठिर मीमांसक ने वैयाकरण भर्त्तृहरि को वि०पू० ४०० के आसपास का सिद्ध करने का प्रयास किया है।[4] इन मान्यताओं में कौन सही है, यह स्वतन्त्र शोध का विषय है। इसी प्रकार, इत्सिङ्ग ने भर्त्तृहरि को बौद्ध माना है, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार वे वैदिकधर्मी थे।[5] पुण्यराज के अनुसार उनके गुरु का नाम वसुरात था।[6] व्याकरण-निकाय में पतञ्जलि के अनन्तर भर्त्तृहरि को ही प्रायः सभी वैयाकरण प्रमाण मानते हैं।

भर्त्तृहरि के नाम पर मिलने वाले अनेक ग्रन्थों में महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय एवं उसकी स्वोपज्ञ टीका के रचयिता तो निश्चित रूप से वैयाकरण भर्त्तृहरि थे; किन्तु शतकत्रय भी उन्हीं की रचना है या किसी अन्य भर्त्तृहरि की, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

महाभाष्य की टीकाओं में भर्त्तृहरि-कृत दीपिका सर्वाधिक प्राचीन है। उसका हस्तलेख बर्लिन के पुस्तकालय में था, जिसकी सूचना सर्वप्रथम डॉ० कीलहॉर्न ने और फिर बूलर ने भारतीयों को दी थी। उसकी एक चित्र-

१. सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृ० ४०।

२. इत्सिग की भारत-यात्रा, पृ० २७४-७६।

३. सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृ० ४०।

४. सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ३३८-४६।

५. उपरिवत्, पृ० ३४७।

६. 'न तेनास्मद्गुरोस्तत्र भवतो वसुरातादन्यः।'—पृ० २८४।

प्रति लाहौर के पुस्तकालय में तथा उसकी नकल भारत में कुछ लोगों के पास है। उसका प्रकाशन काशी एवं पूना, दो स्थानों से हो रहा है।

भर्तृहरि के अक्षय यश का मुख्य आधार उनका वाक्यपदीय है। उसमें तीन काण्ड हैं—ब्रह्म अथवा आगम, वाक्य और पद या प्रकीर्ण। भाषा के सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन की दृष्टि से यह अद्वितीय ग्रन्थ है। पतञ्जलि ने वैज्ञानिक आधार पर व्याकरण का विवेचन करते हुए उसके दार्शनिक पक्ष की ओर यत्र-तत्र सङ्केत मात्र किया था, किन्तु भर्तृहरि ने उसे परिपूर्ण दर्शन का रूप प्रदान किया।[१] उन्होंने व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन को सूक्ष्मता की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

वाक्यपदीय पर उन्होंने स्वयं एक विस्तृत वृत्ति भी लिखी थी। अन्य वृत्तिकारों में धर्मपाल, पुण्यराज, हेलाराज, फुल्लराज आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कैयट :

महाभाष्य के टीकाकारों में भर्तृहरि के पश्चात् कैयट का ही नाम पुरोगण्य है। उनका समय ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के लगभग माना जाता है।[२] 'काव्यप्रकाश' की 'सुधाकर' नाम्नी टीका में भीमसेन ने कैयट एवं उव्वट को मम्मट का अनुज तथा शिष्य लिखा है,[३] जो सही नहीं है।[४] सम्भव है, भीमसेन को उक्त तीनों नामों के साम्य के कारण ऐसा भ्रम हुआ हो।[५]

---

१. "It was, therefore, finally in the hands of Bhartrihari that The Philosophical character of grammar became more or more conspicuous and grammar was ultimately established as a distinct system of philosophy".
—P. C. Chakravarti : Phl. Skt. gram. p. 30.

२. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ४१। युधिष्ठिर मीमांसक : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० ३७८।

३. "श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो
भाष्याब्धि निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धि गतः।"

४. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ४२। युधिष्ठिर मीमांसक : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० ३६४।

५. यु० मी० : सं० व्या० इ०, पृ० [illegible]

बेलवाल्कर ने कैयट के नाम को आधार मानकर उन्हें कश्मीर का वासी होने का अनुमान किया है।[1] महाभाष्यप्रदीप के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो वाक्य आया है : "इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृतमहाभाष्यप्रदीपे........", उससे कैयट के पिता का नाम जैयट सिद्ध होता है। बेलवाल्कर के अनुसार उनके गुरु का नाम महेश्वर था[2] और पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार उनके अनेक छात्रों में एक उद्योतकर (न्यायवार्त्तिक के रचयिता से भिन्न) नामक छात्र था, जिसका उल्लेख बृहद्वृत्ति की आनन्दबोधिनी टीका[3] में हुआ है। किन्तु, ये सारे अनुमान सर्वमान्य बनने के लिए अभी और अधिक पुष्ट प्रमाणों की अपेक्षा रखते हैं।

कैयट ने महाभाष्यप्रदीप की रचना में भर्त्तृहरि के ग्रन्थों को अपना मुख्य आधार बनाया था। इसे स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है कि "मैंने यह व्याख्या भर्त्तृहरि-निबद्ध सार-रूपी ग्रन्थ-सेतु के आश्रय से रची है।"[4] प्रदीप से कैयट का प्रौढ़ पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है। महाभाष्य को सम्यक् रूप से समझाने के लिए 'प्रदीप' का स्थान अन्यतम है। उसकी महत्ता इसी से स्पष्ट है कि उसकी बीसों टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमें चिन्तामणि-कृत महाभाष्य कैयटप्रकाश, नागनाथ-कृत महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, रामानन्द सरस्वती-कृत विवरण, अन्नम्भट्टकृत प्रदीपोद्योतन, नागेशभट्ट-कृत महाभाष्य-प्रदीपोद्योत, रामसेवक-कृत महाभाष्यप्रदीपव्याख्या, प्रवर्त्तकोपाध्याय-कृत महाभाष्यप्रदीपप्रकाशिका, आदेन्न-कृत महाभाष्यप्रदीपस्फूर्त्ति, नारायण-कृत महाभाष्य-प्रदीपविवरण आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उक्त टीकाकारों में नागेशभट्ट सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। अतः यहाँ संक्षेप में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

---

१. बेलवाल्कर, उपरिवत्, पृ० ४२।

२. उपरिवत्।

३. हैमबृहद्वृत्ति, उपरिवत्, पृ० ४२।

४. (क) 'तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना......।'

(ख) 'विस्तरेण भर्त्तृहरिणा प्रदर्शितः।'—नवाह्निक, निर्णयसागर-सं०, पृ० २०।

नागेश भट्ट :

नागेशभट्ट का अपर नाम नागोजीभट्ट था। वे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सती देवी था।[१] उन्होंने भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[२] वैद्यनाथ पायगुण्ड उनके प्रधान शिष्य थे।[३] विवाहित होने पर भी नागेश आजीवन ब्रह्मचारी बने रहे[४] और अपने ग्रन्थों को ही अपनी सन्तान समझते रहे।[५] उनका समय १८वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है।[६] यह खेद की बात है कि आज से कुल डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व के इस महान् आचार्य का इतिवृत्त भी हमें प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं।

नागेश केवल वैयाकरण ही नहीं, विविध-शास्त्र-पारङ्गत आचार्य थे। उनके व्याकरण-विषयक ग्रन्थों में महाभाष्यप्रदीपोद्योत के अतिरिक्त शब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, स्फोटवाद आदि प्रमुख हैं। भाषा के तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से विद्वानों ने व्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा को एक अनुपम उपादेय ग्रन्थ स्वीकार किया है।

प्रक्रियाकार एवं कौमुदीकार

संस्कृत व्याकरणेतिहास में पाणिनीय सम्प्रदाय के वार्त्तिककार, भाष्यकार एवं टीकाकारों के अनन्तर अष्टाध्यायी के सूत्रों पर ही आश्रित, किन्तु उसके क्रम से भिन्न, प्रक्रिया-क्रम से सूत्रों को सजाकर रखने वाले प्रक्रियाकारों एवं कौमुदीकारों के नाम आते हैं। अष्टाध्यायी में सूत्रों का क्रम प्रक्रियानुसारी, अर्थात् प्रयोगानुक्रम से नहीं होने के कारण किसी एक रूपसिद्धि के लिए भी प्रायः सम्पूर्ण अष्टाध्यायी का ज्ञान आवश्यक होता है। यह स्थिति पाणिनीयेतर सम्प्रदाय के व्याकरणों के

---

१. "इति श्रीमदुपाध्यायोपनामकशिवभट्टसुतसतीगर्भजनागेशभट्टविरचितलघुशब्देन्दुशेखर......।"
२. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० २९२।
३. उपरिवत्।
४. डॉ० बाबूराम सक्सेना : सा० भा०, पृ० १४३।
५. शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका।
स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया॥
—लघुशब्देन्दुशेखर का अन्तिम श्लोक।
६. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० २९३।

साथ नहीं है; क्योंकि वे मुख्यतः प्रक्रिया-क्रम से लिखे गये हैं। यह एक अलग बात है कि अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन करने पर व्याकरणशास्त्र का जैसा व्यापक, गम्भीर एवं सम्यक् ज्ञान होता है, वैसा भिन्न क्रमवाले व्याकरणों से नहीं; किन्तु उसके लिए सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होनी चाहिए। इसीलिए प्राचीन काल में बचपन में ही छात्रों को अष्टाध्यायी कण्ठाग्र करा देने की परिपाटी थी। किन्तु, कालान्तर में व्याकरणाध्ययन के प्रति लोगों की रुचि एवं उत्साह में जैसे-जैसे कमी आती गयी, अष्टाध्यायी का अध्ययन तथा पारायण भी लोगों को कठिन प्रतीत होने लगा। फलतः, अल्पमेधा तथा लाघवप्रिय लोग अष्टाध्यायी को छोड़कर प्रसङ्गानुक्रम से लिखे गये पाणिनीयेतर व्याकरणों, जैसे कातन्त्रादि के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होने लगे। इससे पाणिनीय शास्त्र का प्रचार कम होने लगा। तब पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरणों ने प्रयोगानुक्रम से अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रिया एवं कौमुदीग्रन्थों में सजाकर उनके पठन-पाठन की नयी प्रणाली का आविष्कार किया।[१] इससे स्पष्ट है कि अष्टाध्यायी के प्रक्रिया-ग्रन्थों या कौमुदीग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य लोकरुचि के आधार पर पाणिनीय शास्त्र को समयानुकूल रूप देकर उसके प्रचार की अभिवृद्धि करना था।

अष्टाध्यायी के प्रक्रिया-ग्रन्थकारों में सबसे पहला नाम बौद्ध आचार्य धर्मकीर्त्ति का है, जिन्होंने अष्टाध्यायी के प्रत्येक अध्याय के विशेष उपयोगी सूत्रों का सङ्कलन करके 'रूपावतार' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[२] इनका समय वि० सं० ११४० के आसपास माना गया है।[३] आगे चलकर 'रूपावतार' की कई टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें शङ्करराम-कृत 'नीवि' नाम्नी टीका के तीन हस्तलेख त्रिवेन्द्रम् के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान हैं।[४]

धर्मकीर्त्ति के पश्चात् दूसरे ख्यात प्रक्रियाग्रन्थकार विमल सरस्वती हैं, जिन्होंने 'रूपमाला' की रचना की थी। इनका समय १४वीं सदी के आसपास माना जाता है।[५] 'रूपमाला' में पहले प्रत्याहार, संज्ञा और परिभाषा के सूत्रों को,

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ४७८।
२. उपरिवत्, पृ० ४८१।
३. उपरिवत्, पृ० ४८२।
४. उपरिवत्।
५. उपरिवत्, पृ० ४८३।

फिर स्वर, प्रकृतिभाव, व्यञ्जन और विसर्ग इन चार भागों में सन्धि के सूत्रों को तथा छह भागों में सुबन्त, स्त्रीप्रत्यय तथा कारकों को स्थान दिया गया है। सबसे अन्त में कृत्, तद्धित और समास-प्रकरण को रखा गया है। इसमें आख्यात पर विस्तार से विचार किया गया है तथा प्रत्येक लकार पर अलग-अलग शीर्षक में प्रकाश डाला गया है। अन्त में लकारार्थमाला के रूप में एक परिशिष्ट भी है। इसकी शैली सुन्दर और विषयों का क्रम समीचीन है।

प्रक्रियाग्रन्थकारों में तीसरा महत्त्वपूर्ण नाम रामचन्द्र का है। इन्होंने पाणिनीय शास्त्र में प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए सरल भाषा एवं शैली में 'प्रक्रियाकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनका समय १५वीं-१६वीं सदी के मध्य निर्धारित किया गया है।[1] प्रकियाकौमुदी की अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें शेषकृष्ण-कृत 'प्रक्रियाकौमुदीप्रकाश', विट्ठल-कृत 'प्रसाद', चक्रपाणिदत्त-कृत 'प्रक्रियाप्रदीप', वारणवनेश-कृत 'अमृतसृति', विश्वकर्मा शास्त्री-कृत 'प्रक्रियाव्याकृति', नृसिंह-कृत 'व्याख्यान', जयन्त-कृत निर्मलदर्पण', विद्यानाथ दीक्षित-कृत 'प्रक्रिया रञ्जन' तथा वरदराज-कृत 'विवरण' नाम्नी टीका विशेष उल्लेखनीय हैं।

कौमुदीकारों में सर्वाधिक प्रसिद्ध भट्टोजिदीक्षित का समय संवत् १५१० से १५७५ के मध्य माना गया है। इन्होंने पाणिनीय व्याकरण पर सिद्धान्त-कौमुदी नाम्नी प्रयोगक्रमानुसारी व्याख्या लिखी। इससे पूर्व के रूपावतार, रूपमाला और प्रक्रियाकौमुदी में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता को पूर्ण करने के लिए भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त-कौमुदी की रचना की। सम्प्रति, समस्त भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन मुख्यतः इसी के आधार पर प्रचलित है। इसकी प्रसिद्धि के कारण इसपर अनेक टीकाग्रन्थ रचे गये। सर्वप्रथम भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं ही इसकी प्रौढ़मनोरमा नाम्नी व्याख्या लिखी, जिसमें उन्होंने 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' पर विशेष बल दिया। सिद्धान्तकौमुदी के अन्य टीकाकारों में ज्ञानेन्द्र सरस्वती (तत्त्वबोधिनी), नीलकण्ठ वाजपेयी (सुखबोधिनी), रामानन्द (तत्त्वदीपिका), नागेशभट्ट (बृहच्छब्देन्दुशेखर और लघुशब्देन्दुशेखर), रामकृष्ण (रत्नाकर), रङ्गनाथ यज्वा (पूर्णिमा), वासुदेव-

---

१. यु० मी० : सं० व्या० शा० इ०, भा० १, पृ० ४८५।

दीक्षित (बालमनोरमा), कृष्णमित्र (रत्नार्णव), तिरुमल द्वादशाहयाज (सुमनोरमा) आदि उल्लेखनीय हैं।

भट्टोजिदीक्षित की प्रौढ़-मनोरमा के खण्डन में भी कतिपय विद्वानों ने ग्रन्थों की रचना की, जिनमें शेष वीरेश्वर पुत्र (प्रौढ़-मनोरमा-खण्डन), चक्रपाणिदत्त (प्रौढ़-मनोरमा-खण्डन) तथा पण्डितराज जगन्नाथ (मनोरमा-कुचमर्दन) के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रौढ़-मनोरमा की 'शब्दरत्न' नाम की एक प्रसिद्ध टीका हरि दीक्षित की है, जो नागेश भट्ट के गुरु थे।

प्रक्रियाग्रन्थकारों में अन्तिम नाम नारायण भट्ट का आता है। इनका समय सं० १६१७ से १७३३ के मध्य माना गया है। इन्होंने 'प्रक्रिया-सर्वस्व' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

विक्रम की १५वीं शताब्दी से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रक्रिया-ग्रन्थों के आधार पर होने लगा और बड़ी त्वरा से इसका प्रचार सम्पूर्ण देश में हो गया। लगभग ४०० वर्षों तक व्याकरणाध्ययन की यही प्रणाली देश में प्रचलित रही। इस बीच अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरणाध्ययन की प्रणाली प्रायः लुप्त-सी रही। किन्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में स्वामी विरजानन्द एवं उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने फिर से अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरणाध्ययन की आवश्यकता पर जोर दिया और उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। उन महानुभावों के सत्प्रयास से अब लोग सिद्धान्तकौमुदी के क्रम को छोड़कर धीरे-धीरे पुनः अष्टाध्यायी के क्रम की ओर प्रवृत्त होने लगे हैं।[1]

पाणिनीयेतर सम्प्रदाय

यों तो, अष्टाध्यायी-जैसे सर्वाङ्गपूष्ट व्याकरण की रचना के पश्चात् संस्कृत के पूर्ण ज्ञान के लिए भी किसी अन्य व्याकरण के प्रणयन की आवश्यकता नहीं रह गयी थी, किन्तु अष्टाध्यायी के चार सहस्र सूत्रों को कण्ठ करना तथा उनके सङ्केतार्थ, अधिकार, अनुवृत्ति आदि पर सम्यक् अधिकार पाना उन दिनों भी, जब संस्कृत जनभाषा थी, सबके लिए सरल एवं सुगम नहीं था। फिर भी, जबतक संस्कृत लोकभाषा बनी रही, तबतक सर्वत्र प्रायः अष्टाध्यायी

१. यु० मी० : सं० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृ० ४८०।

का ही प्रचार रहा और किसी अन्य स्वतन्त्र व्याकरण की रचना नहीं हुई। कालान्तर में जब संस्कृत का वह स्थान प्राकृतों ने ले लिया, तब अष्टाध्यायी का सम्बन्ध मुख्यतः उन्हीं लोगों से रह गया, जो संस्कृत पर विशेषाधिकार प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक समय एवं श्रम देने को प्रस्तुत थे। किन्तु, जो लोग अल्प समय एवं अल्प श्रम में संस्कृत का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहते थे, उनके लिए अष्टाध्यायी की सामान्यतः कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं रह गयी। तब वैसे लोगों के लिए अष्टाध्यायी की अपेक्षा अधिक सरल, सुगम एवं संक्षिप्त व्याकरणों का निर्माण अनिवार्य बन गया। यह एक प्रधान कारण था, जिसने लोकरुचि एवं लोकप्रवृत्ति के पारखी तद्युगीन अनेक आचार्यों को ऐसे व्याकरणों के निर्माण की ओर प्रेरित किया, जो संस्कृत की सामान्य ज्ञानोपलब्धि में सहायक हो सकते थे। वे ही आचार्य आगे चलकर पाणिनीयेतर सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक के रूप में विख्यात हुए।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में लौकिक संस्कृत के अतिरिक्त वैदिक संस्कृत के नियमों को भी सूत्रबद्ध किया था। किन्तु, जो लोग केवल लौकिक संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, उनके लिए वैदिक संस्कृत के नियमों से सम्बद्ध सूत्रों की कोई उपयोगिता नहीं थी। इसके अतिरिक्त वेद-विरोधी धार्मिक सम्प्रदायों के अनेक आचार्य अपनी सङ्कीर्ण मनोवृत्ति तथा धार्मिक कट्टरपन के कारण न केवल वैदिक भाषा से सम्बद्ध सूत्रों की, अपितु उन सूत्रों के ही कारण अष्टाध्यायी की भी अवहेलना करना चाहते थे। यह एक दूसरा प्रमुख कारण था, जिसने अनेक स्वतन्त्र व्याकरण-सम्प्रदायों को जन्म दिया। यहाँ यह बात विशेष उल्लेख्य है कि पाणिनीयेतर सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों ने जिन स्वतन्त्र व्याकरणों की रचना की थी, उनका भी मुख्य आधार पाणिनीय तन्त्र ही था।

विवेचन की सुविधा की दृष्टि से अर्वाचीन पाणिनीयेतर सम्प्रदायों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है: १. विख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय, २. अख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय और ३. गौण पाणिनीयेतर सम्प्रदाय।

विख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय के अन्तर्गत वे सम्प्रदाय आते हैं, जो किसी काल-विशेष में पर्याप्त लोकप्रिय हुए थे तथा जिनके मूल ग्रन्थों पर अनेक टीका या भाष्यग्रन्थ भी लिखे गये, जिनमें से अधिकांश आज भी उपलब्ध हैं। अख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय के अन्तर्गत उन सम्प्रदायों के नाम आते हैं, जिनके ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं; केवल उनका उल्लेख या उनके कुछ उद्धरण यत्र-तत्र

प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। गौण पाणिनीयेतर सम्प्रदाय के अन्तर्गत उन नये सम्प्रदायों को परिगणित किया गया है, जिनके ग्रन्थ विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं होने के कारण विशेष ख्यात एवं लोकप्रिय नहीं हो सके और इसीलिए उनका व्यापक प्रचार भी नहीं हो सका।

विख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय

कातन्त्र-सम्प्रदाय :

प्रचार एवं प्राचीनता की दृष्टि से पाणिनीयेतर सम्प्रदायों में कातन्त्र-सम्प्रदाय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। किन्तु, कातन्त्र-व्याकरण के मूल लेखक कौन थे, वह कब लिखा गया, उसका मूल स्वरूप कैसा था आदि प्रश्न अब भी प्रामाणिक और सर्वमान्य उत्तर नहीं पा सके हैं। प्राचीन ग्रन्थों में कातन्त्र को कलाप, कलापक तथा कौमार नाम से भी स्मरण किया गया है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इनमें से प्रत्येक नाम की अलग-अलग व्याख्या दी है। हेमचन्द्र,[१] दुर्गसिंह आदि कई आचार्यों के अनुसार 'कातन्त्र' का अर्थ 'लघुतन्त्र' अर्थात् 'संक्षिप्त तन्त्र' है। इस आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि कातन्त्र किसी पूर्व-प्रचलित बृहत्तन्त्र का संक्षिप्त रूप है। युधिष्ठिर मीमांसक की मान्यता है कि 'कातन्त्र' वस्तुतः 'काशकृत्स्नतन्त्र' का संक्षेप है।[२]

कथासरित्सागर के चतुर्थ तरङ्ग में उल्लिखित एक अनुश्रुति के अनुसार एक बार आन्ध्र-नरेश सातवाहन रानियों के साथ जलकेलि करते समय किसी रानी के द्वारा 'मोदकं देहि राजन्' कहने पर उसके यथार्थ आशय को नहीं समझ सके और उन्होंने उसे क्षुधित जान उसके लिए मोदक (लड्डू) लाने की आज्ञा दी। इसपर रानियों के द्वारा उपहास किये जाने पर जब उन्हें अपनी भूल का पता चला तब उन्हें संस्कृत-ज्ञान-सम्बन्धी अपनी अल्पज्ञता पर बड़ी ग्लानि हुई। फलतः, उन्होंने शर्ववर्मा नामक पण्डित को यथाशीघ्र एक ऐसे व्याकरण की रचना का आदेश दिया, जिससे न्यूनातिन्यून समय में संस्कृत भाषा का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त हो सके। विवेच्य सम्प्रदाय के वैयाकरणों में

---

१. 'आदिग्रहणात् बृहत्तन्त्रात् कला आपिवन्तीति कलापकाः शास्त्राणि।'—हेम०, उणादिवृत्ति।

२. सं० व्या० शा० इ०, भा० १, पृ० ५०५।

यह किंवदन्ती है कि शर्ववर्मा ने अपनी तपस्या से शिव को प्रसन्न किया। शिव ने कुमार, अर्थात् कार्त्तिकेय को शर्ववर्मा की सहायता करने के लिए कहा। कुमार ने कलाप अर्थात् मयूरपुच्छ पर व्याकरण के सूत्रों की रचना कर शर्ववर्मा को प्रदान किया, इसीलिए वह व्याकरण 'कौमार', 'कलाप' तथा 'कलापक' कहलाया। इस परम्परागत अनुश्रुति का उल्लेख वनमालि के 'कलाप-व्याकरणोत्पत्ति-प्रस्ताव' तथा डा० बूलर[१] के द्वारा सन् १८७५ ई० में लिखित एक रिपोर्ट[२] में भी हुआ है।

उक्त अनुश्रुति से कम-से-कम इतना सङ्केत अवश्य मिलता है कि शर्ववर्मा 'कातन्त्र' के मूल लेखक नहीं थे। उन्होंने सम्भवतः उसके पूर्व-प्रचलित मूलरूप का संक्षेपण एवं पुनःसंस्कार किया था। तिब्बती इतिहास के लेखक तारानाथ के अनुसार कातन्त्र-व्याकरण पाणिनि से पूर्ववर्त्ती ऐन्द्र सम्प्रदाय से सम्बद्ध है।[३] बर्नेल के अनुसार तमिल के प्राचीनतम व्याकरणों में से एक 'तोल्कप्पियम', जो ऐन्द्र सम्प्रदाय का माना जाता है, कातन्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।[४]

बेलवाल्कर[५] की मान्यता है कि कातन्त्र-व्याकरण की रचना का सम्बन्ध व्याकरण के किसी सम्प्रदाय-विशेष से नहीं था। उसकी रचना का उद्देश्य लोकरुचि के अनुकूल व्याकरण-निर्माण की आवश्यकता-पूर्त्ति करने का प्रयास था। उसका विस्तृत प्रचार-क्षेत्र तथा उसके वृत्तिकारों की संख्या को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी समय वह पर्याप्त लोकप्रिय हुआ था। बेवर ने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास (पृ० २२७) में लिखा है कि कातन्त्र की

---

१. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ८२ से उद्धृत।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्, पृ० १० से उद्धृत।
४. उपरिवत्, पृ० ११।
५. "The Katantra grammar was not the creation of a school, but was rather meant to satisfy a real popular need; and looking to the intrinsic merits of the work itself, as also to the host of commentators that have been attracted towards it, it is clear that the work must have served its purpose pretty well, at least for a time"—Ibid, p. 82.

रचना उनलोगों के लिए हुई थी, जो प्राकृत के माध्यम से संस्कृत सीखने की इच्छा रखते थे। उनके अनुसार कच्चायन का पालि-व्याकरण भी कातन्त्र के आधार पर ही लिखा गया था। युधिष्ठिर मीमांसक का अनुमान है कि कातन्त्र की रचना कुमारों, अर्थात् बालकों को संस्कृत-ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से हुई थी, इसीलिए उसका एक नाम कौमार व्याकरण भी है।[१]

बेल्वाल्कर तथा कतिपय अन्य विद्वानों ने ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास कातन्त्र का रचनाकाल सम्भव माना है,[२] किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार वह २००० वि० पू० के लगभग लिखा गया था तथा उसका संक्षिप्त संस्करण भी विक्रम से चार-पाँच सौ वर्ष पहले तैयार हो चुका था। ७वीं-८वीं सदी के आसपास कातन्त्र का प्रचार पूरे कश्मीर में तथा १५वीं सदी तक आते-आते बंगाल में भी हो गया था। शूद्रक-विरचित 'पद्मप्राभृतक' भाण से विदित होता है कि उसके काल में कातन्त्रानुयायियों की पाणिनीयों से बड़ी स्पर्धा थी। कीथ ने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में लिखा है कि कातन्त्र के कुछ भाग मध्य एसिया की खुदाई से प्राप्त हुए थे,[३] जो निश्चय ही बौद्ध भिक्षुओं के माध्यम से वहाँ तक पहुँचे होंगे। इससे स्पष्ट है कि कातन्त्र अपनी सरलता के कारण इतना लोकप्रिय हुआ था कि उसका प्रचार न केवल भारत में, अपितु भारत के बाहर भी हुआ था। सम्प्रति, वह बंगाल के कुछ जिलों में ही पढ़ा-पढ़ाया जाता है।

कातन्त्र-सूत्रपाठ में चार प्रकरण हैं—सन्धि-प्रकरण, नाम-प्रकरण, आख्यात-प्रकरण तथा कृत्-प्रकरण। कथासरित्सागर[४] तथा कातन्त्रवृत्तिटीका[५] के अनुसार, कातन्त्र के आख्यातान्त भाग के कर्त्ता शर्ववर्मा थे। मुसलमान यात्री अल्बेरुनी ने भी शर्ववर्मा का उल्लेख कातन्त्रकार के रूप में किया है। किन्तु, पं० गुरुपद हालदार के अनुसार शर्ववर्मा कातन्त्र के कर्त्ता नहीं, वृत्तिकार थे।

---

१. यु० मी० : सं० व्या० शा० इ०, भा० १, पृ० ५०२।

२. "We may for the present accept the first century after Christ as the century which witnessed the rise of this grammar."—Systems of Skt. Gram., p. 85.

३. कीथ : सं० सा० इ०, पृ० ४३१।

४. लम्बक १, तरङ्ग ६, ७।

५. "तत्र भगवत्कुमारप्रणीतसूत्रान्तरं तदाज्ञयैव श्रीशर्ववर्मणा प्रणीतं सूत्रं कथमनर्थकं भवति।"—परिशिष्ट, पृ० ४१।

इसी प्रकार, युधिष्ठिर मीमांसक भी शर्ववर्मा को कातन्त्र का संस्कर्त्ता या संक्षेपण-कर्त्ता ही मानते हैं। कातन्त्र के वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कातन्त्र के कृत्-प्रकरण का रचयिता कात्यायन को, पदप्रकरणसङ्गति के लेखक योगराज ने शाकटायन को तथा दुर्गसिंह-वृत्ति के व्याख्याता रघुनन्दनशिरोमणि ने वररुचि को माना है। चूँकि वररुचि, कात्यायन का ही मूल नाम माना जाता है, इसलिए अधिकांश अर्वाचीन विद्वान कात्यायन को ही कृत्-प्रकरण का लेखक मानते हैं।

कात्यायन के द्वारा कृदन्त-भाग का समावेश हो जाने पर भी कातन्त्र-व्याकरण में अनेक न्यूनताएँ रह गयी थीं। उन्हें दूर करने के लिए श्रीपतिदत्त ने कातन्त्र-परिशिष्ट की रचना की।[१] फिर, विजयानन्द (या विद्यानन्द) ने 'कातन्त्रोत्तर' नामक ग्रन्थ लिखा। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कातन्त्र का निर्माण अष्टाध्यायी आदि की तरह किसी एक आचार्य की ही लेखनी से नहीं हुआ है, अपितु अनेक विद्वान् समय-समय पर उसको संशोधित एवं परिवर्धित करते रहे हैं।

कातन्त्र की सबसे प्राचीन उपलब्ध वृत्ति दुर्गसिंह की मानी जाती है। पं० गुरुपद हाल्दार के अनुसार शर्ववर्मा तथा वररुचि ने क्रमशः बृहद्वृत्ति तथा चैत्रकूटी नामक वृत्तियों की रचना की थी,[२] किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। बेल्वाल्कर ने दुर्गसिंह का समय ८०० ई० के पूर्व[३] और युधिष्ठिर मीमांसक ने संवत् ६०० से ६८० के बीच माना है।[४] दुर्गसिंह ने स्वरचित कातन्त्र-वृत्ति की एक टीका भी लिखी थी। कातन्त्रवृत्ति की अन्य टीकाओं में उग्रभूति-लिखित 'शिष्यहितन्यास', त्रिलोचनदास-लिखित 'कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका' तथा वर्धमान-लिखित 'कातन्त्रविस्तर' विशेष उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर अनेक विद्वानों ने उक्त टीकाओं की भी टीकाएँ लिखीं।

दुर्गसिंह के अतिरिक्त कातन्त्र के अन्य वृत्तिकारों में उमापति, जिनप्रभसूरि, तथा जगद्धरभट्ट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस समय कश्मीर में प्रचलित अधिकांश व्याकरण कातन्त्र के आधार पर ही रचे गये माने जाते हैं।[५]

---

१. यु० मी० : सं० व्या० शा० इ०, भाग, १, पृ० ५११।
२. व्या० द० इ०, पृ० ३९४, ५७९।
३. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ८८।
४. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० ५१६।
५. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० [illegible]

चान्द्र सम्प्रदाय :

चान्द्र सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक बौद्ध आचार्य चन्द्रगोमिन का इतिवृत्त अज्ञात है। युधिष्ठिर मीमांसक ने उन्हें वङ्ग प्रदेश का निवासी माना है।[1] प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण के अनुसार वे कश्मीर-नरेश अभिमन्यु के समकालिक थे और उन्हीं की आज्ञा से उन्होंने कश्मीर में लुप्तप्राय महाभाष्य का पुनः प्रचार किया था तथा अपने नये व्याकरण की रचना की थी।[2] अभिमन्यु का काल अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। विल्फर्ड ४२३ ई० पू०, बॉथलिंग १०० ई० पू०, प्रिंसेप ७३ ई० पू०, लासेन ४० ई० तथा स्टाइन ४००-५०० ई० के आसपास उनका समय मानते हैं।[3] किन्तु, कल्हण के अनुसार उनका काल न्यूनातिन्यून १००० वि० पू० है। इसी आधार पर युधिष्ठिर मीमांसक ने चन्द्रगोमिन का समय भी १००० वि० पू० माना है।[4] दूसरी ओर बेलवाल्कर ने उनका काल ४७० ई० के आसपास[5] तथा रमेशचन्द्र मजुमदार ने वि० सं० ५०० के आसपास निर्धारित किया है।[6] युधिष्ठिर मीमांसक ने उक्त विद्वद्द्वय की भूल का मूलकारण चान्द्र व्याकरण के एक सूत्र 'अजयत् जर्त्तो हूणान्' (१।१।८१) के स्थान पर 'अजयद् गुप्तो हूणान्' के भ्रामक पाठ को माना है।[7]

प्राचीन ग्रन्थों में चान्द्र व्याकरण का उल्लेख सर्वप्रथम भर्तृहरि के वाक्यपदीय में तथा अन्तिम उल्लेख मेघदूत की मल्लिनाथ-कृत टीका में मिलता है।[8] इस व्याकरण का कुछ अंश सर्वप्रथम डॉ० बूलर को

---

१. "चन्द्रगोमी के उणादि सूत्रों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने से प्रतीत होता है कि वह वंगप्रान्त का निवासी था।"—यु० मी०, सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५३२।

२. "चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्त्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥ राजतरङ्गिणी।

३. निरुक्तालोचन, पृ० ६५ द्रष्टव्य।

४. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५२२।

५. सि० सं० ग्रा० पृ० ५८।

६. ए न्यू हि० ऑव दि इ० पी०, भाग ६, पृ० १९७।

७. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ३२२-३२३।

८. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ५७।

सन् १८७५ ई० में कश्मीर में मिला था। फिर, हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १३५६ ई० की एक नेपाली प्रति नेपाल से प्राप्त की। अन्त में, डॉ० ब्रूमो लीविश के सत्प्रयास से इस व्याकरण का तिब्बती-अनुवाद-सहित मूल रूप उपलब्ध हुआ, जिसे उन्होंने सन् १९०२ ई० में लिपजिग से प्रकाशित किया।[1]

चन्द्रगोमिन ने अपने व्याकरण की रचना मुख्यतः अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य के आधार पर की थी, किन्तु उन्होंने किञ्चित् भिन्न क्रम एवं पद्धति के सहारे उसे सरल, सुगम एवं संक्षिप्त बनाने का प्रयास किया था।[2] उक्त व्याकरण में चार-चार पादों के ६ अध्याय हैं। सूत्रों की संख्या लगभग ३१०० है, जिनमें केवल ३५ सूत्र चन्द्रगोमिन की मौलिक देन हैं। वे सूत्र काशिका में भी उद्धृत हैं, किन्तु काशिकाकार ने चन्द्रगोमिन का नामोल्लेख नहीं किया है। यों, कैयट ने उनकी व्याख्या करते समय सर्वत्र 'अपाणिनीयः सूत्रेषु पाठः' लिखा है। डॉ० बेलवाल्कर[3] और एस० के० डे०[4] के अनुसार चन्द्रगोमिन ने बौद्ध होने के कारण अपने व्याकरण में वेदविषयक सूत्रों को स्थान नहीं दिया।

चन्द्रगोमिन ने पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों में से 'हयवरट्' और 'लण्' को मिलाकर "हयवरलण्" कर दिया है, जिससे प्रत्याहारसूत्रों की संख्या १४ के बदले १३ हो गयी है। उन्होंने उच्चारण की सुविधा के लिए भी पाणिनि के अनेक सूत्रों का रूप परिवर्त्तित कर दिया है; यथा अष्टाध्यायी के 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के स्थान पर 'शिदनेकाल् सर्वस्य' आदि।

चान्द्र व्याकरण का मूल उपजीव्य महाभाष्य है। पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों के जिन न्यासान्तरों को निर्दोष बताया था, उन्हें चन्द्रगोमिन ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया[5] और जिन सूत्रों या सूत्रांशों का पतञ्जलि ने प्रत्याख्यान कर दिया था, उन्हें चन्द्रगोमिन ने भी अपने व्याकरण में स्वीकार नहीं

---

१. उपरिवत्, पृ० ५८।

२. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ५९।

३. उपरिवत्।

४. इ० हि० क्वा०, जून, १९३८ ई०, पृ० २५८।

५. 'तमोलुक् चेच्छायाम्'—चान्द्र, १।१।२२; 'तुमुनन्ताद्वा तस्य लुग्वचनम्'—महाभाष्य, ३।१।७।

किया।[1] किन्तु, अनेकत्र उन्होंने पतञ्जलि के व्याख्यान को भी प्रामाणिक नहीं माना है[2] और उनके स्थान पर अन्य आचार्यों के मतों को मान्यता प्रदान की है।

अपने व्याकरण की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए चन्द्रगोमिन ने स्वोपज्ञवृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है : 'लघुविस्पष्टसम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम्', अर्थात्, यह व्याकरण लघु (संक्षिप्त), सुस्पष्ट एवं पूर्ण है। किन्तु वामनीय-लिङ्गानुशासनवृत्ति[3] के अनुसार उसकी सबसे बड़ी विशेषता उसका असंज्ञक होना है : 'चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्।'

एक समय था, जब चान्द्र व्याकरण का प्रचार केवल भारत ही नहीं, अपितु नेपाल, तिब्बत एवं लङ्का आदि देशों में भी हुआ था; किन्तु मौलिकता की कमी, सङ्कीर्ण धार्मिक पृष्ठाधार तथा बौद्धधर्म के ह्रास के कारण धीरे-धीरे उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गयी।

पं० अम्बालाल प्रेमचन्द्र शाह ने 'इण्डियन एण्टीक्वेरी', भाग २५, पृ० १०३ के आलेख के आधार पर लिखा है कि चान्द्र व्याकरण पर लगभग १५ वृत्ति, व्याख्यान आदि लिखे गये। किन्तु, इस समय केवल एक ही वृत्ति उपलब्ध है, जिसे डॉ० ब्रूमो लीविश ने १९०२ ई० में लिपजिग से रोमनाक्षरों में प्रकाशित कराया था। उसके कुछ कोशों में 'श्रीमदाचार्यधर्मदासस्य कृतिरियम्' पाठ उपलब्ध होता है, जिससे उसका धर्मदास-कृत होने का सन्देह हो सकता है; किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक ने उसे चन्द्रगोमिन की स्वोपज्ञवृत्ति सिद्ध किया है।[4] सम्भव है, धर्मदास ने उसका संक्षेप किया हो। उसके अतिरिक्त बौद्ध भिक्षुक कश्यप ने सं० १२५७ के लगभग चान्द्र सूत्रों पर एक 'बालबोधिनी' नामक वृत्ति लिखी थी, जो कीथ[5] के अनुसार लङ्का में बहुत प्रसिद्ध थी। डॉ० बेलवाल्कर के अनुसार कश्यप ने चान्द्र व्याकरण के ही आधार पर एक 'बालावबोध' नामक व्याकरण लघुकौमुदी के ढङ्ग का लिखा था, जो लङ्का में इतना लोकप्रिय हुआ कि उसके सम्मुख, स्वयं चान्द्र व्याकरण भी उपेक्षित होकर लुप्त हो

---

१. यथा एकशेष-प्रकरण।
२. 'रङ्कोःप्राणिनि वा'—चान्द्र, ३।३९; तुलनीय महाभाष्य, ४।२।१००।
३. उपरिवत्, पृ० ७।
४. सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५२८।
५. हि० सं० लि०, पृ० ४३१।

गया। इस समय लङ्का में प्रचलित प्राय: सभी संस्कृत व्याकरण चान्द्र सम्प्रदाय के ही हैं, किन्तु उनमें मूल का कोई भी अंश अवशिष्ट नहीं है।[१]

जैनेन्द्र-सम्प्रदाय :

जैनों के बीच प्रचलित एक परम्परागत अनुश्रति के अनुसार अन्तिम तीर्थङ्कर जिन, अर्थात् महावीर ने आठ वर्ष की अवस्था में ही इन्द्र के द्वारा पूछे गये कतिपय प्रश्नों के उत्तर में एक व्याकरण का प्रवचन किया था, जो जैनेन्द्र व्याकरण के नाम से विख्यात हुआ। इस अनुश्रुति का उल्लेख कल्पसूत्र की समयसुन्दर सूरि-कृत टीका तथा लक्ष्मीवल्लभ की उपदेशमालार्कणिका में मिलता है।[२] इन्हीं ग्रन्थों के साक्ष्य पर डॉ० कीलहॉर्न ने भी महावीर को ही जैनेन्द्र व्याकरण का कर्त्ता माना था।[३] किन्तु, डॉ० काशीनाथ बापूजी पाठक,[४] वेलवाल्कर,[५] युधिष्ठिर मीमांसक[६] आदि कतिपय विद्वानों ने धनञ्जयकोष, जैन हरिवंश, मुग्धबोध, नन्दिसङ्घपट्टावलि[७] आदि ग्रन्थों का साक्ष्य देते हुए जैनेन्द्र व्याकरण के लेखक पूज्यपाद को जैनाचार्य देवनन्दी से अभिन्न सिद्ध किया है तथा उन्हीं का एक अपर नाम जिनेन्द्र भी माना है। अब प्राय: सभी

---

१. "As a matter of fact, the current Sanskrit grammar in Ceylon belongs to Chandra School but we shall look in vain for any original Mss. either of the Chandra Sutras or of Commentaries thereon. The reason is that about 1200 A. D. a Ceylones Budhistic Priest, Kasyap by name, wrote a popular recast of the Chandra grammar called Balavabodha. The work was so popular in Ceylon that it quite superseded the original Chandra text..."
—Belvalkar : Systems of Skt. gram. p. 62.

२. "यदिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितम्।
ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम्॥"

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२-२४ (द्वि० सं०)।

४. इण्डियन एण्टिक्वेरी, १२; पैं० १९।

५. सि० सं० ग्रा०, पृ० ६३।

६. सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ४१४, ५३१।

७. "यशःकीर्त्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महायतिः।
श्रीपूज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकरः॥

विद्वान यह मानने लगे हैं कि जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता देवनन्दी ही थे, किन्तु इसके साथ ही यह भी सम्भव है कि जैन सम्प्रदाय में देवनन्दी के जैनेन्द्र व्याकरण के पूर्व से भी कोई व्याकरण प्रचलित रहा हो, जो महावीर-प्रोक्त हो। हरिभद्र ने आवश्यकीय सूत्रवृत्ति में और हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में महावीर द्वारा इन्द्र के लिए प्रोक्त व्याकरण का नाम 'ऐन्द्र' माना है।[१] जैनेन्द्र व्याकरण में पूज्यपाद ने श्रीदत्त यशोभद्र, भूतबलि, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन तथा समन्तभद्र इन छह प्राचीन जैन आचार्यों का उल्लेख किया है, जो अनेक विद्वानों के अनुसार निश्चय ही वयाकरण थे।[२] इन तथ्यों से इस बात का स्पष्ट सङ्केत मिलता है कि जैनों के बीच देवनन्दी के जैनेन्द्र व्याकरण के पूर्व भी कोई व्याकरण-सम्प्रदाय प्रचलित था, जिसके प्रवर्त्तक, सम्भव है, तीर्थङ्कर महावीर ही रहे हों। किन्तु, पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है।

जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता देवनन्दी (अपर नाम पूज्यपाद एवं जिनेन्द्र) का जन्म कर्णाटक के काले नामक ग्राम में हुआ था।[३] विद्वानों ने उनका समय पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आसपास निर्धारित किया है।[४] वे जैन सम्प्रदाय के प्रामाणिक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। गणरत्नमहोदधि के कर्त्ता वर्धमान ने उन्हें 'दिग्वस्त्र' नाम से स्मरण किया है।[५]

जैनेन्द्र व्याकरण की रचना मुख्यतः अष्टाध्यायी एवं वार्त्तिक के आधार पर हुई थी। उसमें पाणिनि के प्रत्याहारों को तो तद्वत् स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु प्रत्याहारसूत्रों एवं वैदिक भाषा से सम्बद्ध सूत्रों को छोड़ दिया गया है। इसकी प्रथम विशेषता 'एकशेष प्रकरण का अभाव है : 'देवोपज्ञमनेक-शेषव्याकरणम्'[६] तथा दूसरी विशेषता संक्षिप्त तथा अल्पाक्षरिक संज्ञाओं का

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२-२४ (द्वि० सं०)।

२. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५३५।

३. चन्द्रय्य कवि द्वारा कनाड़ी-भाषा में लिखित पूज्यपाद का चरित्र।

४. डॉ० काशीनाथ बापूजी पाठक : इ० ए०, अक्टू० १९१४ ई०; यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ४९८।

५. 'दिग्वस्त्रो देवनन्दी', पृ० १-२।

६. जैनेन्द्र व्याकरण, औ० सं० १।४।९७; दा० सं० १।४।१९४।

प्रयोग है; यथा—'विभाषा' तथा 'अन्यतरस्याम्' के लिए 'वा', 'मनुष्य' के लिए 'नृ' आदि ।[१]

जैनेन्द्र व्याकरण के सम्प्रति संक्षिप्त एवं विस्तृत दो संस्करण मिलते हैं, जिनमें क्रमशः ३००० और ३७०० सूत्र हैं । संक्षिप्त संस्करण का प्रचार उत्तर में और विस्तृत का दक्षिण में है । इसी आधार पर युधिष्ठिर मीमांसक ने उन्हें क्रमशः औदीच्य और दाक्षिणात्य संस्करण कहा है ।[२] दाक्षिणात्य संस्करण के सम्पादक पं० श्रीलाल शास्त्री के अनुसार दाक्षिणात्य, अर्थात् विस्तृत संस्करण ही पूज्यपाद-विरचित मूल रूप है, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक ने औदीच्य को पूज्यपाद विरचित मूल ग्रन्थ सिद्ध किया है ।[३] उनके अनुसार औदीच्य रूप का ही नाम जैनेन्द्र व्याकरण है और दाक्षिणात्य रूप का 'शब्दार्णवव्याकरण' ।[४] जिस प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता देवनन्दी थे, उसी प्रकार शब्दार्णव व्याकरण के रचयिता गुणनन्दी । गुणनन्दी का समय उन्होंने वि० सं० ६१० से ६६० के मध्य माना है ।[५]

आर्य श्रुतिकीर्त्ति की पञ्चवस्तु-प्रक्रिया के अनुसार जैनेन्द्र व्याकरण पर अनेक न्यास, भाष्य, वृत्ति एवं टीकाएँ लिखी गयी थीं, किन्तु सम्प्रति उनमें से कुछ ही उपलब्ध हैं । आचार्य देवनन्दी ने अपने व्याकरण पर स्वयं भी कोई भाष्य लिखा था, जो अनुपलब्ध है । उपलब्ध भाष्य या टीकाग्रन्थों में अभयनन्दी-कृत 'महावृत्ति', प्रभासचन्द्राचार्य-कृत शब्दाम्भोजभास्करन्यास तथा महाचन्द्र की जैनेन्द्रवृत्ति उल्लेखनीय हैं । प्रक्रियाग्रन्थों में आर्य श्रुतिकीर्त्ति की पञ्चवस्तु तथा वंशीधर की जैनेन्द्रप्रक्रिया मुख्य हैं ।

गुणनन्दी-कृत शब्दार्णवव्याकरण (दाक्षिणात्य विस्तृत संस्करण) पर सोमदेवसूरि-कृत शब्दार्णव चन्द्रिका नामक वृत्ति प्रसिद्ध है ।

जैनेन्द्र-सम्प्रदाय का प्रचार दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक विशेष रहा । तेरहवीं शताब्दी के बाद उसका प्रचार शिथिल पड़ गया । इस समय केवल दक्षिण भारत के दिगम्बर जैनों के बीच इसका यत्र-तत्र प्रचार है ।

---

१. बेलवाल्कर : सि० सं० व्या०, पृ० ६५ ।

२. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५३१ ।

३. उपरिवत्, पृ० ५३२-३३ ।

४. उपरिवत् ।

५. उपरिवत्, पृ० ५३० ।

शाकटायन सम्प्रदाय :

संस्कृत-व्याकरणेतिहास में शाकटायन नाम के दो आचार्य हुए हैं। उनमें से एक पाणिनि से भी पूर्ववर्त्ती थे, जिनका उल्लेख 'पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण' शीर्षक अध्याय में किया जा चुका है। दूसरे शाकटायन एक प्रसिद्ध जैन आचार्य थे, जिनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्त्ति था। डॉ० बेलवाल्कर के अनुसार वे दिगम्बर-सम्प्रदाय के थे,[१] किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक ने उन्हें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्तरालवर्त्ती यापनीय सम्प्रदाय का आचार्य माना है। उनके अनुसार जब यापनीय सम्प्रदाय का लोप हो गया, तब से दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय वाले शाकटायन को अपना आचार्य मानने लगे।[२]

डॉ० कीलहॉर्न ने जैन शाकटायन की ऐतिहासिकता पर सन्देह करते हुए यह अनुमान किया था कि शाकटायन-शब्दानुशासन किसी अर्वाचीन जैन पण्डित के द्वारा प्राचीन शाकटायन के छद्मनाम से लिखा गया ग्रन्थ है; किन्तु प्रो० पाठक नें उनकी उक्त धारणा का सप्रमाण खण्डन करते हुए शाकटायन को राष्ट्रकूट के राजा अमोघवर्ष का समकालीन आचार्य सिद्ध किया।[३] अमोघ वर्ष का समय ८१७ ई० से ८७७ ई० के बीच माना गया है, इसी आधार पर शाकटायन का समय भी उसी के आसपास माना जाता है।[४]

शाकटायन-कृत व्याकरण का नाम शब्दानुशासन है। इसमें चार-चार पादों के चार अध्याय हैं। सब मिलाकर लगभग ३२०० सूत्र हैं। विषयों का क्रम कौमुदीग्रन्थों के समान है।[५] इसमें १३ प्रत्याहार सूत्र हैं। स्वरों में लृ को स्थान नहीं दिया गया है, किन्तु अयोगवाह को ध्वनि का स्थान दिया गया है।[६] इसकी रचना में यों तो प्राचीन सभी प्रमुख व्याकरणों से कुछ-न-कुछ सहायता ली गयी है, किन्तु इसका प्रमुख आधार अष्टाध्यायी, चान्द्र तथा जैनेन्द्र व्याकरण है।[७]

---

१. बेलवाल्कर : सि० सं० व्या०, पृ० ६८।
२. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५४८।
३. इण्डियन एण्टिक्वेरी, अक्टू० १९१४ ई०।
४. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ६९।
५. उपरिवत्, पृ० ७०।
६. उपरिवत्।
७. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ६९।

इसमें अष्टाध्यायी के अनेक सूत्र तो तद्वत् हैं, किन्तु अनेकत्र उनको संक्षिप्त करने का भी प्रयास दीखता है। पारिभाषिक शब्द यों तो मुख्यतः अष्टाध्यायी के ही हैं, किन्तु जहाँ चान्द्र व्याकरण के शब्द अधिक सरल एव संक्षिप्त दीखे हैं, वहाँ उसी के शब्द गृहीत हुए हैं; यथा अष्टाध्यायी के निपात, सर्वनाम, आत्मनेपद तथा परस्मैपद को न लेकर उनके स्थान पर चान्द्र के चादि, सर्वादि, तङ् तथा अतङ् का उपयोग किया गया है। किन्तु, इसमें सबसे अधिक सामग्री जैनेन्द्र व्याकरण से ली गयी है।[१] संक्षेप में यही कहना उचित होगा कि शाकटायन-शब्दानुशासन का कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जिसे पूर्ण मौलिक कहा जा सके। फिर भी, इसमें कई ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण किसी समय यह पर्याप्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ था। इसके टीकाकार यक्षवर्मा[२] ने लिखा है कि शाकटायन-व्याकरण में इष्टियाँ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, सूत्रों से पृथक् वक्तव्य कुछ नहीं है, उपसंख्यानों की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र (जिनेन्द्र), चान्द्र आदि आचार्यों ने जो शब्द-लक्षण कहा है, वह सब इसमें है और जो यहाँ नहीं है, कहीं नहीं है। गणपाठ, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन और उणादि इन चार के अतिरिक्त समस्त व्याकरण-कार्य इस वृत्ति के अन्तर्गत है।

युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार, "इस व्याकरण में पाल्यकीर्त्ति ने लिङ्ग और समासान्त प्रकरण को समास-प्रकरण में और एकशेष को द्वन्द्व-प्रकरण में पढ़कर व्याकरण की प्रक्रियानुसारी रचना का बीज-वपन कर दिया था। उत्तरकाल में इसने परिवृद्ध होकर पाणिनीय व्याकरण पर भी ऐसा आघात किया कि समस्त पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थकर्त्तृ-क्रम की उपेक्षा करके प्रक्रियानुसारी बना दिया गया।'[३]

---

१. उपरिवत्, पृ० ६९-७०।

२. "इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्।
संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने ॥६॥
इन्द्रश्चन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥१०॥
गणधातुपाठयोगेन धातून् लिङ्गानुशासने लिङ्गगतम्।
औणादिकानुणादौ शेषं निश्शेषमत्र वृत्तौ विद्यात् ॥११॥"

३. यु० मी० : सं० व्या० शा० इ०, भा० १, पृ० ५४९।

शाकटायन ने अपने व्याकरण की एक विस्तृत वृत्ति भी लिखी थी, जिसका नाम उन्होंने अपने आश्रयदाता अमोघवर्ष के नाम पर अमोघावृत्ति दिया था। अमोघावृत्ति पर आचार्य प्रभाचन्द्र लिखित 'न्यास' नाम्नी टीका उल्लेखनीय है।

शाकटायन-शब्दानुशासन के दूसरे वृत्तिकार यक्ष वर्मा थे, जिन्होंने अमोघावृत्ति को ही संक्षिप्त करके एक 'चिन्तामणि' नाम्नी लघुवृत्ति रची थी, जिस पर अजित सेन ने मणिप्रकाशिका नाम की टीका लिखी।

शाकटायन शब्दानुशासन के प्रक्रिया ग्रन्थों तथा अन्य टीका ग्रन्थों में अभयचन्द्र-लिखित प्रक्रिया सङ्ग्रह, भावसेन त्रैविद्यदेव-लिखित शाकटायन टीका तथा दयालपाल मुनि-कृत रूपसिद्धि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन वृत्ति, टीका एवं प्रक्रियाग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी समय शाकटायन-सम्प्रदाय पर्याप्त लोकप्रिय रहा होगा, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण की रचना के पश्चात् उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गयी।

भोजदेव-सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक परमारवंशीय धाराधीश्वर सिन्धुलपुत्र सुविख्यात महाराज भोजदेव थे। उनका राज्यकाल सामान्यतया सं० १०७५ से सं० १११० तक माना जाता है।[1] उन्होंने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नाम के दो ग्रन्थों की रचना की थी—एक व्याकरण-ग्रन्थ और दूसरा अलङ्कार-ग्रन्थ। उनके सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण में अष्टाध्यायी के समान ही चार-चार पादों के आठ अध्याय हैं।[2] उसके प्रथम सात अध्यायों में लौकिक संस्कृत का और आठवें अध्याय में वैदिक संस्कृत का विवेचन है।[3] अष्टाध्यायी के पश्चात् एकमात्र उसी व्याकरण में वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के शब्दों का अन्वाख्यान मिलता है। उसमें सूत्रों की संख्या ६४११ है।

सरस्वतीकण्ठाभरण का मुख्य आधार पाणिनीय और चान्द्र व्याकरण है। सूत्र-रचना एवं प्रकरण-विच्छेद में ग्रन्थकार ने अष्टाध्यायी की अपेक्षा चान्द्र

---

१. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५५४।

२. दण्डनाथवृत्ति सहित सरस्वतीकण्ठाभरण' के सम्पादक पं० साम्ब शास्त्री ने लिखा कि इसमें सात ही अध्याय हैं (त्रिवेन्द्रम्, प्रकाशित सं० कं० भा० १, भू० पृ० १), यह उनकी अनवधानता है।

३. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १ पृ० ५५६।

व्याकरण का आश्रय अधिक लिया है। इसमें परिभाषा, लिङ्गानुशासन, उणादि एवं गणपाठ को भी सन्निविष्ट कर देने के कारण इस व्याकरण का अध्ययन करने वाले को धातुपाठ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार, व्याकरण-वाङ्मय में कई दृष्टियों से सरस्वतीकण्ठाभरण का अपना विशिष्ट स्थान है।[१]

भोज ने अपने व्याकरण की स्वयं एक व्याख्या भी लिखी थी। उनके व्याकरण के अन्य व्याख्याकारों में दण्डनाथ नारायण (हृदयहारिणी), कृष्णलीला शुकमुनि (पुरुषकार) तथा रामसिंहदेव (रत्नदर्पण) के नाम उल्लेखनीय हैं।

हेम-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का मूल 'सिद्धहेमचन्द्राभिध स्वोपज्ञ शब्दानुशासन' है, जो मुख्यतः 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' के नाम से विख्यात है। इसके रचयिता प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र सूरि थे। उनका जन्म अहमदाबाद के धुन्धुक नामक गाँव में संवत् ११४५ की कार्तिक-पूर्णिमा को एक मोढवंशीय वैश्य-परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम चाचिग, माता का नाम पाहिनी तथा गुरु का नाम देवचन्द्र अथवा चन्द्रदेव सूरि था। उनका माता-पिता-प्रदत्त नाम चाङ्गदेव और गुरु-प्रदत्त नाम सोमदेव था; किन्तु सूरि-पद की प्राप्ति के बाद वे हेमचन्द्र सूरि के नाम से विख्यात हुए। उनकी माता ने गुरु के आग्रह पर हेमचन्द्र को पाँच वर्ष की अवस्था में ही उन्हें समर्पित कर दिया था। आगे चलकर अपनी प्रतिभा एवं पाण्डित्य के कारण वे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के सर्वप्रधान आचार्य माने गये। इसीलिए, जैनग्रन्थों में उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया गया। गुजरात के महाराज सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल उनके महान भक्त थे। उनके साहाय्य एवं प्रेरणा से हेमचन्द्र ने व्याकरण, न्याय, छन्द, काव्य, धर्म आदि अनेक विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनका निर्वाण संवत् १२०९ में ८४ वर्ष की अवस्था में हुआ।[२]

हेमचन्द्र-विरचित 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं का व्याकरण है। इसकी रचना सिद्धराज जयसिंह के आदेश

---

१. यु० मी० : सं० व्या० इ० भाग १, पृ० ५५६।

२. [illegible] : सि० सं० [illegible]

से हुई थी ।[1] इसमें अष्टाध्यायी की तरह ही चार-चार पादों के आठ अध्याय हैं, प्रारम्भ के सात अध्यायों में संस्कृत-भाषा का व्याकरण है, जिसमें ३५६६ सूत्र हैं। आठवें अध्याय में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि का अनुशासन है। इस अध्याय में १११९ सूत्र हैं। इस प्रकार, अनेकविध प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण सर्वप्रथम हेमचन्द्र ने ही लिखा था। इसकी रचना कातन्त्र के समान प्रक्रियानुसारी है। इसमें यथाक्रम संज्ञा, स्वर-सन्धि, व्यञ्जन-सन्धि, नाम, कारक, षत्व, णत्व, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित-प्रकरण हैं।

हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध आश्रयदाता के लाभार्थ जिस नवीन व्याकरण की रचना की, उसमें उनका मुख्य उद्देश्य पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा कही गयी प्रायः सभी बातों को यथासाध्य संक्षेप में प्रस्तुत करना तथा उस विषय पर और भी जो कुछ नयी बातें कही जा सकती थीं, कहना था। इसीलिए, उन्होंने मुक्त भाव से प्रायः सभी पूर्ववर्त्ती व्याकरणों से भरपूर सहायता ली थी; किन्तु उन्होंने अपना मुख्य आधार शाकटायन-रचित शब्दानुशासन तथा उसकी अमोघावृत्ति को ही बनाया था।[2]

हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन पर बृहद्वृत्ति, मध्यवृत्ति तथा लघुवृत्ति भी लिखी थी। उन्होंने धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन, उणादिसूत्र आदि की रचना भी की थी, किन्तु बेलवाल्कर के अनुसार ये सभी वास्तव में बृहद्वृत्ति के ही अंश हैं, जो बाद में उससे अलग किये गये थे। युधिष्ठिर मीमांसक के

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ६०।

२. Hem Chandra's object in writing a new grammar for the benefit of his illustrious patron was to say in the shortest possible manner not only all that his predecessors had said upon the subject, but everything that could be said. Accordingly he has drawn freely upon the works of all the grammarians and commentrators that had gone before him, indeed in some cases—especially in regard to Sakatayana's Sabdanusasan and the Amoghabritti—his dependence is so close as to amount to almost slavish imitation.'

—Belvalker, Systems of Skt. gram. p. 76.

अनुसार 'शब्दमहार्णवन्यास' के रचयिता भी हेमचन्द्र स्वयं थे, किन्तु बेलवाल्कर ने उसे किसी अज्ञातनामा व्यक्ति की कृति माना है।

हैमव्याकरण पर लिखी गयी टीकाओं में जिनसागर-कृत ढुण्ढिका, देवेन्द्र सूरि-कृत हैमलघुन्यास, विनय विजयगणी-कृत हैमलघुप्रक्रिया तथा मेघविजय-कृत हैमकौमुदी उल्लेखनीय हैं।

सारस्वत-सम्प्रदाय :

वैयाकरणों के बीच प्रसिद्ध एक अनुश्रुति के अनुसार सारस्वत-सम्प्रदाय के आदि आचार्य अनुभूति-स्वरूपाचार्य नाम के एक पण्डित थे, जिन्हें सरस्वती ने स्वप्न में व्याकरण का ज्ञान प्रदान किया था; इसीलिए उस व्याकरण का नाम सारस्वत व्याकरण पड़ा। किन्तु, सारस्वत प्रक्रिया के टीकाकार क्षेमेन्द्र,[1] अमृत-भारती[2] (या अमर भारती) तथा विट्ठलाचार्य का साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए बेलवाल्कर[3] एवं युधिष्ठिर मीमांसक[4] प्रभृति विद्वानों ने उक्त अनुश्रुति का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि उक्त सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक तथा सारस्वत-व्याकरण के वास्तविक सूत्रकार नरेन्द्राचार्य नामक पण्डित थे। अनभूति-स्वरूपाचार्य वास्तव में उसके संस्कर्त्ता या प्रक्रियाकार थे। सम्प्रति, नरेन्द्राचार्य-कृत सारस्वत-व्याकरण का मूल रूप उपलब्ध नहीं है और न उनका इतिवृत्ति ही ज्ञात है। इसी प्रकार, अनुभूति स्वरूपाचार्य का भी हम केवल नाम-भर जानते हैं।

युधिष्ठिर मीमांसक ने मात्र अनुमान के आधार पर 'प्रमाणप्रमेयकलिका' के कर्त्ता ११वीं शती के विद्वान नरेन्द्रसेन को नरेन्द्राचार्य से अभिन्न होने की सम्भावना व्यक्त की है। बेलवाल्कर के अनुसार नरेन्द्राचार्य भारत में मुसलमानों के आगमन के पश्चात् हुए होंगे। इसी प्रकार, अनुभूति-स्वरूपाचार्य का समय उन्होंने १२५० ई० से १४५० ई० के मध्य माना है।

संस्कृत-व्याकरण-वाङ्मय में सारस्वत-व्याकरण को सरलता एवं संक्षेप की दृष्टि से अनुपम कहा जाता है। इसमें कुल ७०० सूत्र हैं। इसमें प्रत्याहार सूत्रों

---

१. 'इतिश्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्रटिप्पणं समाप्तम्।'

२. "यन्नरेन्द्रनगरिप्रभाषितं यच्च वैमलसरस्वतीरितम्।
यन्मयात्र लिखितं तथाधिकं किञ्चिदेव कलितं स्वया धिया॥"

३. सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर।—पृ० ९५।

४. सं० व्या० इ०, पृ० ५७०।

को इत्यर्थक वर्णों से रहित करके प्रस्तुत किया गया है। इसके सूत्रों की भाषा अत्यन्त सरल है। पारिभाषिक शब्द ऐसे चुने गये हैं, जो वैयाकरणों के बीच पूर्ण ख्यात हैं या ऐसे, जो सरल एवं स्पष्ट अर्थवाची हैं; यथा—सवर्ण, सन्ध्यक्षर आदि। इस व्याकरण की रचना का उद्देश्य लोगों को व्याकरणशास्त्र का प्रकाण्ड पाण्डित्य प्रदान करना नहीं था, अपितु संस्कृत-साहित्य में प्रवेश पाने की इच्छा रखनेवालों को संस्कृत-भाषा का सामान्य ज्ञान प्रदान करना भर था। यह अपनी सरलता के कारण पर्याप्त लोकप्रिय हुआ। यहाँ तक कि मुसलमान-शासक गयासुद्दीन खिलजी, सलेम शाह (मालवा) तथा जहाँगीर ने भी इसके अध्ययन को प्रोत्साहन दिया।[१]

सारस्वत-व्याकरण के अनेक टीकाकार हुए हैं, जिनमें क्षेमेन्द्र (टिप्पण), धनेश्वर (क्षेमेन्द्र टिप्पण-खण्डन), अमृत भारती (सुबोधिनी) पुञ्जराज (प्रक्रिया), सत्यप्रबोध (दीपिका), माधव (सिद्धान्त रत्नावली), चन्द्रकीर्त्ति (सुबोधिका वा दीपिका), रघुनाथ (लघुभाष्य), मेघरत्न (ढुण्ढिका), वासुदेव-भट्ट (प्रसाद), रामभट्ट (विद्वत् प्रबोधिनी), काशीनाथभट्ट (भाष्य), सहजकीर्त्ति (प्रक्रिया वार्त्तिक) तथा हंसविजयगणि (शब्दार्थ चन्द्रिका) प्रसिद्ध हैं।

उक्त टीकाकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे व्याख्याकार भी हुए हैं, जिन्होंने सारस्वत-व्याकरण की मात्र व्याख्या ही नहीं लिखी, अपितु उसका बहुत

---

१. 'The extremely simple and brief manner in which the Saraswat treats its entire subject—700 sutras as against the 4000 of Panini—render plausible the inference that the Saraswata School, like the Katantra, arose in response to a definite demand. This time the demand probably came from the Muhammedan rulers of India who felt it necessary to promote the study of Sanskrit,.........only for the purpose of criticising works written in that language. Thus Gaisuddin Khilgi the peaceful and enlightened rular of Malwa, Salemshah (1555-1556) thc emperor who ruled Delhi during Humaun's wanderings, and Jehangir,......all those alike encouraged the study of the Saraswata grammar as being the one calculated to produce greatest results with the least effort.'

—Belvalker, Systems of Skt. gram., p. 92-93.

कुछ रूपान्तर भी कर दिया। ऐसे रूपान्तरकारों में तर्कतिलक भट्टाचार्य एवं रामाश्रमाचार्य (सिद्धान्त चन्द्रिका) उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त और भी कई टीकाकार एवं व्याख्याकार के नाम मिलते हैं, जो उल्लेख्य नहीं हैं। अँगरेज-विद्वान विल्किन ने सारस्वत-व्याकरण के ही आधार पर अपने संस्कृत-व्याकरण की रचना की थी।

वोपदेव-सम्प्रदाय :

वोपदेव के पिता केशव एक प्रसिद्ध वैद्य थे तथा उनके गुरु धनेश्वर एक प्रसिद्ध वैयाकरण।[१] युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार ये वे ही धनेश्वर थे, जिन्होंने महाभाष्य पर 'चिन्तामणि' नाम की व्याख्या लिखी थी।[२] वोपदेव के पिता एवं गुरु दोनों बनारस ज़िले में वरदा नदी के तट पर स्थित सार्थ नामक ग्राम में रहते थे, किन्तु वोपदेव का जन्म दौलताबाद के निकटवर्त्ती किसी स्थान में हुआ था। उन दिनों दौलताबाद पर देवगिरि के यादवों का राज्य था। वोपदेव यादवराज महादेव (सन् १२६० से १२७१ ई०) के मन्त्री हेमाद्रि के आश्रित थे। वोपदेव का उल्लेख कुमार-सम्भव की मल्लिनाथ-कृत टीका में मिलता है, जिसका रचनाकाल १४वीं शताब्दी के आसपास माना गया है। इन साक्ष्यों के आधार पर वोपदेव का समय भी १३वीं १४वीं शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।[३]

वोपदेव अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य थे। उनका मुग्धबोध संस्कृत के सरलतम व्याकरणों में से एक माना जाता है। उन्होंने कविकल्पद्रुम नाम से धातु-पाठ का भी एक सङ्ग्रह किया था और उसपर कामधेनु नाम की व्याख्या लिखी थी। इसके अतिरिक्त, उन्होंने मुक्ताफल, हरिलीला-विवरण, शतश्लोकी (वैद्यक ग्रन्थ) आदि और भी कई ग्रन्थों की रचना की थी।[४]

वोपदेव के समय में एक ओर पाणिनीय सम्प्रदाय के टीकाकार व्याकरण को सरल बनाने के प्रयास में उसे जटिलतर बनाते जा रहे थे, दूसरी ओर पाणिनीयेतर सम्प्रदाय के वैयाकरण स्वतन्त्र व्याकरण की रचना करते समय

१. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० १०४।

२. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५७७।

३. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० १०४-५।

४. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० [illegible]।

भी अपने को सङ्कीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति एवं पूर्वाग्रहों से ऊपर उठाने में असमर्थ हो रहे थे। ऐसे समय में सरल-सुबोध व्याकरणों की रचना की आवश्यकता ज्यों-की-त्यों बनी थी। वोपदेव ने मुग्धबोध की रचना के द्वारा उसी अभाव की पूर्त्ति का प्रयास किया था। इसलिए, उसकी मुख्य विशेषता सरलता एवं संक्षेप है।[१]

वोपदेव ने विषय को प्रस्तुत करने के लिए प्रायः उसी स्वाभाविक पद्धति का उपयोग किया है, जो कातन्त्र में उपलब्ध है। उन्होंने पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों एवं प्रत्याहारों में इच्छानुसार परिवर्त्तन कर दिये हैं।[२] स्वर तथा वैदिक प्रकरण को बिलकुल ही त्याग दिया है। उन्होंने उदाहरणों में प्रायः हरि, हर एवं उन्हीं के अन्यनामादि का उपयोग कर अपनी धार्मिक भावना का परिचय दिया है।[३] परवर्त्ती वैयाकरणों में यह प्रवृत्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गयी।

उपर्युक्त कारणों से तथा पारिभाषिक शब्दों के रूप में अप्रचलित अपाणिनीय शब्दों के प्रयोग के कारण मुग्धबोध का जैसा प्रचार होना चाहिए था, नही हुआ। फिर भी, मराठा-राज्य एवं पाणिनीय शास्त्र के पुनरुत्थान के पूर्व तक वह पर्याप्त लोकप्रिय रहा,[४] जो भट्टोजिदीक्षित-कृत मनोरमा की निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट है :

वोपदेवमहाग्राहग्रस्तो वामनदिग्गजः।
कीर्त्तिरेव प्रसङ्गेन माधवेन विमोचितः॥

मुग्धबोध के प्रचार की अल्पावधि में ही उसके अनेक व्याख्याकार हुए, जिनमें नन्दकिशोर भट्ट, रामानन्द, देवीदास, काशीश्वर, विद्यावागीश, रामभद्र विद्यालङ्कार, भोलानाथ, विद्यानिवास, दुर्गादास विद्यावागीश, श्री रामशर्मा, श्री काशीश, गोविन्द शर्मा, श्री वल्लभ, कार्तिकेय आदि अनेक उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश के हस्तलेख इण्डिया ऑफिस लन्दन के हस्तलेख सङ्ग्रह में संरक्षित हैं।

---

१. उपरिवत्, पृ० १०५-६।

२. पाणिनि द्वारा प्रयुक्त धातु, वृद्धि, शानच्, सर्वनाम आदि के स्थान पर क्रमशः धू, वृ, शान, श्रि आदि का प्रयोग।

३. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० १०६।

४. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० १०७।

बेलवाल्कर के अनुसार मुग्धबोध के परिशिष्ट लेखकों में नन्दकिशोर, काशीश्वर एवं रामतर्कवागीश के नाम उलेखनीय हैं। रामचन्द्र तर्कवागीश ने सं० १७४५ में परिभाषा पाठ की वृत्ति भी लिखी थी।

जौमर-सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय का नामकरण जुमरनन्दी नामक आचार्य के नाम पर हुआ है, किन्तु इसके वास्तविक प्रवर्त्तक आचार्य क्रमदीश्वर थे।[१] जुमरनन्दी ने क्रमदीश्वर के 'संक्षिप्तसार' नामक व्याकरण को परिष्कृत एवं संक्षिप्त करके उसपर 'रसवती' नाम की वृत्ति लिखी थी। इसकी पुष्टि संक्षिप्तसार के हस्तलेखों के अन्त में उपलब्ध निम्नलिखित पङ्क्ति से होती है—"इति वादीन्द्रचक्रचूड़ामणिमहापण्डितश्रीक्रमदीश्वरकृते संक्षिप्तसारे महाराजाधिराज जुमरनन्दि-शोधितायां वृत्तौ रसवत्यां....।" इससे यह भी स्पष्ट है कि जुमरनन्दी किसी प्रदेश के राजा थे। किन्तु, अभीतक क्रमदीश्वर एव जुमरनन्दी के जीवनवृत्त एवं कालादि के सम्बन्ध में कहीं कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। ऑफ्रेख्त ने जौमर-सम्प्रदाय को वोपदेव से पूर्ववर्त्ती माना है, किन्तु कोलब्रुक उसे परवर्त्ती मानते हैं।[२] युधिष्ठिर मीमांसक ने क्रमदीश्वर को सं० १३०० से पूर्ववर्त्ती माना है।[३]

बेलवाल्कर का अनुमान है कि क्रमदीश्वर का 'संक्षिप्तसार' वास्तव में अष्टाध्यायी का ही संक्षिप्त सार था, जिसकी रचना उन्होंने सम्भवतः भर्तृहरि की महाभाष्य दीपिका की पद्धति पर की थी तथा जिसके अधिकांश उदाहरण भट्टिकाव्य से लिये थे। उनका उद्देश्य अष्टाध्यायी के आधार पर एक सरल, संक्षिप्त तथा नवीन क्रम एवं पद्धति से लिखा गया एक नया व्याकरण प्रस्तुत करना था। इसीलिए, उन्होंने अष्टाध्यायी के जटिल तथा आवश्यकता से अतिरिक्त सूत्रों को बिलकुल छोड़ दिया और शेष सूत्रों को यथासाध्य परिवर्त्तित करके अपने व्याकरण में उन्हें नये क्रम से सजाया। इस दृष्टि से वह अष्टाध्यायी के प्रक्रिया-ग्रन्थों की रचना के पूर्व अपने ढङ्ग का एक पहला व्याकरण था।[४] उसके प्रथम सात पादों में क्रमशः सन्धि, तिङन्त, कृदन्त,

१. उपरिवत्, पृ० १०८।
२. उपरिवत्, पृ० १०९।
३. यु० मी० : सं० व्या० इ०, पृ० ५६८।
४. बेलवाल्कर : सि० सं० व्या०, पृ० १०८-९।

तद्धित, कारक, सुबन्त एवं समास का विवेचन है और आठवें पाद में प्राकृत का, जो सम्भवतः प्रक्षेप है।

संक्षिप्त सार के प्रथम परिष्कारक और सर्वश्रेष्ठ वृत्तिकार जुमरनन्दी थे, जिन्हें भ्रमवश कुछ लोगों ने जुलाहा कहा है। उनके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के दूसरे प्रसिद्ध टीकाकार गोपीचन्द्र थे, जिनकी टीका के व्याख्याकारों में तारक पञ्चानन, चन्द्रशेखर, वंशीवादन, हरिराम, गोपाल चक्रवर्त्ती आदि के नाम आते हैं। इस सम्प्रदाय का प्रचार अब भी पश्चिमी बङ्गाल के कुछ हिस्सों में है।

सौपद्म-सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक पद्मनाभ दत्त नाम के एक मैथिल आचार्य थे, जिनके पिता का नाम दामोदरदत्त और पितामह का नाम श्रीदत्त था। पद्मनाभ दत्त ने 'सुपद्म' नामक एक संक्षिप्त व्याकरण की रचना की थी, जो इस सम्प्रदाय का आदि ग्रन्थ है। बेलवाल्कर ने पृषोदरादि वृत्ति के कर्त्ता पद्मनाभ दत्त को 'सुपद्म' के कर्त्ता से भिन्न व्यक्ति माना है; किन्तु दोनों को समकालीन माना है। पृषोदरादि वृत्ति की रचना सन् १३७५ ई० में हुई थी, इसी आधार पर उन्होंने 'सुपद्म' के लेखक, पद्मनाभ दत्त का काल भी चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है।[१]

सुपद्म पाँच अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम अध्याय में संज्ञा और सन्धि, दूसरे में कारक, तीसरे में आख्यात, चौथे में कृत् एवं उणादि तथा पाँचवें में तद्धित प्रकरण है। इसमें पाणिनि के प्रत्याहारों, पारिभाषिक शब्दों तथा अनेक सूत्रों को भी ज्यों-का-त्यों ले लिया गया है। अनेक स्थलों पर पाणिनि के सूत्रों में कारण का सङ्केत करते हुए परिवर्तन भी किया गया है; यथा 'आदिरन्त्येन सहेता' के स्थान पर 'आदिरितान्त्येन समध्यः' आदि। पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होने के कारण इस सम्प्रदाय के छात्रों को पाणिनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अध्ययन में भी कठिनाई नहीं होती। यह लाभ वोपदेवादि इतर सम्प्रदाय के छात्रों को प्राप्त नहीं है, जिनमें पाणिनि-भिन्न पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।[२]

पद्मनाभ दत्त ने अपने व्याकरण पर स्वयं 'सुपद्मपञ्जिका' नाम की टीका लिखी थी। परवर्त्ती टीकाकारों में कोलब्रुक के अनुसार कन्दर्पसिद्धान्त,

१. उपरिवत्, पृ० १११।
२. बेलवाल्करः सि० सं० ग्रा०, पृ० १११-१२।

काशीश्वर, श्रीधर चक्रवर्त्ती, रामचन्द्र तथा विष्णु मिश्र उल्लेखनीय हैं। इनमें विष्णु मिश्र की सुपद्ममकरन्द नाम्नी टीका सर्वश्रेष्ठ है। सम्प्रति, इस सम्प्रदाय का प्रचार बङ्गाल के कुछ जिलों में है।[१]

अख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय

अख्यात पाणिनीयेतर सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों में निम्नलिखित वैयाकरणों के नाम प्रसिद्ध हैं :

क्षपणक :

मैत्रेयरक्षित के तन्त्रप्रदीप में क्षपणक नामक वैयाकरण के कुछ मत नाम-निर्देशपूर्वक उद्धृत किये गये हैं।[२] इससे स्पष्ट है कि उन्होंने किसी व्याकरण-ग्रन्थ की रचना अवश्य की थी; किन्तु वे कौन थे, कब हुए तथा उन्होंने किस व्याकरण की रचना की थी; ये सारी बातें अज्ञात हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में प्रसिद्ध क्षपणक को तथा जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर अपर नाम क्षपणक को वैयाकरण क्षपणक से अभिन्न माना है।[३] किन्तु, पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस विषय पर कोई निश्चित मत देना सम्भव नहीं।

वामन :

वामन ने विश्रान्त विद्याधर नामक एक व्याकरण की रचना की थी, जिसका उल्लेख हेमचन्द्र तथा वर्धमान के ग्रन्थों में हुआ है।[४] वर्धमान-कृत गणरत्न-महोदधि में उक्त व्याकरण के कई सूत्र भी उद्धृत किये गये हैं तथा वामन को 'सहृदय-चक्रवर्त्ती' की उपाधि से विभूषित किया गया है।[५] किन्तु, वामन नामक कतिपय आचार्यों में वैयाकरण वामन कौन थे तथा उनका समय क्या था आदि बातों पर प्राचीन आचार्यों में से किसी ने कहीं कोई प्रकाश नहीं डाला है।

---

१. उपरिवत्, ११२-१३।
२. "अतएव नावमात्मानं मन्यते इति विगृह्य परत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति नावं मन्ये इति क्षपणकव्याकरणे दर्शितम्।"--तन्त्रप्र०, १।४।५५।"
३. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५२९-३०।
४. उपरिवत्, पृ० ५४२।
५. सहृदयचक्रवर्त्तिना वामनेन तु हेमन्तः इति सूत्रेण... पृ० ६६८।

युधिष्ठिर मीमांसक ने काश-कुशावलम्ब-न्याय से उनका समय संवत् ४०० से ६०० के मध्य अनुमानित किया है।[१] उनके अनुसार वामन ने अपने व्याकरण पर स्वयं दो टीकाएँ भी लिखी थीं। उनके अतिरिक्त तार्किक-शिरोमणि मल्लवादी ने विश्रान्त विद्याधर पर एक न्यास लिखा था।[२] वामन के व्याकरण-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ भी ज्ञात नहीं है।

भट्ट अकलङ्क :

लन्दन के इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय में सुरक्षित भट्ट अकलङ्क-रचित मञ्जरीमकरन्द नामक टीका ग्रन्थ के हस्तलेख के प्रथम पाद के अन्त में लिखा है: 'इतिश्रीभट्टाकलङ्कदेवविरचितायां स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तेर्भाषा मञ्जर्याष्टीकायां मञ्जरी-मकरन्द-समाख्यायां प्रथमः पादः।' इससे स्पष्ट है कि भट्ट अकलङ्क ने किसी व्याकरण की रचना अवश्य की थी, जिसपर उन्होंने उक्त टीका लिखी थी। किन्तु, उनके व्याकरण की अन्यत्र कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती। सीताराम जोशी ने अपने 'संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में अकलङ्क का काल सन् ७५० ई० के आसपास माना है।[३]

शिव स्वामी :

'कप्फणाभ्युदय' महाकाव्य के रचयिता बौद्ध आचार्य शिवस्वामी ने किसी व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की थी; इसका प्रमाण क्षीरतरङ्गिणी[४], गणरत्न महोदधि, कातन्त्र गणधातुवृत्ति, माधवीय धातुवृत्ति[५] आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत उनके मतों से मिलता है। वर्धमान ने एक स्थान पर 'परःपाणिनिः, अपरः शिव-स्वामी, उदाहरण दिया है।[६] इससे स्पष्ट है कि वर्धमान की दृष्टि में शिवस्वामी पाणिनि-परवर्त्ती वैयाकरणों में श्रेष्ठ थे। वे कश्मीराधिपति अवन्ति वर्मा के

१. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५४२-४६।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्, पृ० ५४६-४७।

४. चान्तोऽयं (—सश्च) इति शिवः, १-१२२, पृ० ४१। धूञ् इति इहामुं शिवस्वामी दीर्घमाह, ५-१०, पृ० २२६-२७।

५. 'अत्र वृत्तिकारशिवस्वामिभ्यां भाष्यनैक्रम स्वस्य स्वत्वेन करणं प्रसिद्धिवशात् पाणिग्रहण विषय उपसंहृतम्'' —धातुवृत्ति. पृ० १९६। 'शिवस्वामी वकारोपधं पपाठ'; पृ० ३५७।

६. गणरत्न, पृ० २९।

राज्यकाल में विद्यमान थे ।[१] अवन्ति वर्मा का राज्यकाल संवत् ९१४ से ९४० तक माना जाता है, अतः शिवस्वामी भी इसी के आसपास हुए होंगे ।[२] पण्डित गुरुपद हाल्दार ने (व्या० द० इ०, पृ० ४५२) शिवस्वामी को वैदिक धर्मावलम्बी आचार्य शिवयोगी से अभिन्न माना है, किन्तु उनकी मान्यता निराधार होने के कारण सर्वमान्य नहीं है ।

बुद्धिसागर सूरि :

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने 'बुद्धिसागर' नामक एक व्याकरण-ग्रन्थ रचा था, जिसका दूसरा नाम 'पञ्चग्रन्थी' भी था। उस व्याकरण का उल्लेख हेमचन्द्र ने 'लिङ्गानुशासन-विवरण' तथा 'हैम अभिधान चिन्तामणि' की व्याख्या में किया है। बुद्धिसागर सूरि का समय ११वीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है ।[३]

भद्रेश्वर सूरि :

गणरत्न महोदधि के उल्लेखों से विदित होता है कि भद्रेश्वर सूरि आचार्य ने किसी 'दीपक' व्याकरण की रचना की थी ।[४] किन्तु, वह व्याकरण कहीं उपलब्ध नहीं है। पण्डित गुरुपद हाल्दार ने भद्रेश्वर सूरि एवं उपाङ्गी भद्रबाहु सूरि, दोनों को एक ही माना है ।[५] जैन विद्वानों के अनुसार भद्रबाहु सूरि चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालिक थे ।[६] अतः, यदि हाल्दार महोदय की मान्यता सही हो, तो भद्रेश्वर सूरि को चन्द्रगुप्त का समकालीन मानना होगा ।

गौण पाणिनीयेतर सम्प्रदाय

गौण पाणिनीयेतर सम्प्रदायों में क्रमशः वैष्णवों और शैवों के निम्नलिखित दो सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं :

---

१. 'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ रा० त०, ४, ३०।
२. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भा० १, पृ० ५५२।
३. उपरिवत्, पृ० ५६१-६२।
४. 'मेधाविनः प्रवरदीपककर्तृयुक्ताः', गणरत्न म० पृ० १। 'दीपककर्त्ता भद्रेश्वर सूरिः। प्रवरश्चासौ दीपककर्त्ता च प्रवरदीपककर्त्ता। प्राधान्यं चास्याधुनिक वैयाकरणापेक्षया।—उपरिवत्, पृ० २।
५. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृ० ४५२।
६. जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३४, ३५।

हरिनामामृत सम्प्रदाय :[१]

यह वैष्णवों का सम्प्रदाय है। इसका प्रवर्त्तन चैतन्य के प्रसिद्ध शिष्य रूपगोस्वामी ने किया था। चैतन्य का समय सन् १४८४ से १५३३ ई० तक माना जाता है, इस आधार पर विवेच्य सम्प्रदाय का प्रारम्भ १६वीं सदी के प्रथम चरण में माना जा सकता है। इस सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ रूपगोस्वामी-रचित हरिनामामृत-व्याकरण है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें व्याकरण-विषयक विवेचन की अपेक्षा हरिनाम-स्मरण का ही विशेष महत्त्व है। इस व्याकरण में केवल उदाहरणों के लिए ही नहीं, अपितु पारिभाषिक शब्द के रूप में भी राधा एवं कृष्ण के विभिन्न नामों का उपयोग किया गया है। इस सम्प्रदाय का यह सिद्धान्त ही रहा है :

साङ्केत्यं परिहासं वा स्तोत्रं हेलनमेव च।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

इस सम्प्रदाय में हरिनामामृत नामक एक दूसरा व्याकरण भी है, जिसके लेखक जीव गोस्वामी थे। किन्तु, रूप गोस्वामी के हरिनामामृत से इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस सम्प्रदाय में एक तीसरा व्याकरण चैतन्यामृत भी है, किन्तु उसके लेखक का अभी तक सही-सही पता नहीं चल सका है। ये व्याकरण एक बहुत ही सीमित समुदाय के लोगों को ध्यान में रखकर लिखे गये थे। इन पर नाममात्र के लिए दो-एक टीका ग्रन्थ भी लिखे गये, किन्तु वे उल्लेख्य नहीं हैं। ये व्याकरण यद्यपि आज भी बङ्गाल के कुछ वैष्णवों के द्वारा पढ़े-पढ़ाये जाते हैं, किन्तु इनसे भक्ति-भावना के परितोष के अतिरिक्त व्याकरण-सम्बन्धी विशेष ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

प्रबोध प्रकाश-सम्प्रदाय :[२]

यह शैवों एवं शाक्तों का सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय का मुख्यग्रन्थ प्रबोध-प्रकाश है, जिसके लेखक बालराम पञ्चानन थे। बालराम का काल एवं इतिवृत्त अज्ञात है। उन्होंने एक धातुप्रकाश की भी रचना की थी। प्रबोध प्रकाश में पारिभाषिक शब्दों के रूप में प्रायः शिव एवं शक्ति के नामों का उपयोग किया गया है।[३] हरिनामामृत की तरह ही यह भी विषय-ज्ञान की दृष्टि से महत्त्वहीन ग्रन्थ है।

---

१. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ११३-१४।

२. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ११४।

३. यथा—'अमृडशम्भूनां रुद्रो प्रथमः ; इसको व्याख्या है—
मृड्वर्जशम्भुवर्णानां स्थाने प्रथमवर्णः स्याद्रुद्रे परे।

अन्यान्य व्याकरण-ग्रन्थ :

पाणिनीयेतर गौण सम्प्रदाय के अन्तर्गत और भी अनेक व्याकरण आते हैं, जिनमें विज्जलभूपति-कृत प्रबोध चन्द्रिका[१], विनय सुन्दर-कृत भोज-व्याकरण,[२] विनायक-कृत भावसिंह प्रक्रिया,[३] चिद्रूपाश्रम-कृत दीप व्याकरण,[४] नारायण सुरनन्दकृत कारिकावली,[५] नरहरि-कृत बालबोध व्याकरण,[६] शुभचन्द्र-कृत चिन्तामणि व्याकरण,[७] भरतसेन-कृत द्रुतबोध व्याकरण,[८] रामकिङ्कर कृत आशुबोध व्याकरण,[९] रामेश्वर-कृत शुद्धाशुबोध व्याकरण,[१०] शिवप्रसाद-कृत व्याकरण,[११] काशीश्वर कृत ज्ञानामृत व्याकरण[१२] आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। ये अत्यन्त निम्न स्तर के व्याकरण हैं, अतः इनका विशेष परिचय देना आवश्यक नहीं। इसी प्रकार, अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी कई संस्कृत-व्याकरणों की रचना की है, किन्तु मौलिकता की कमी के कारण उनके ग्रन्थ भी अनुल्लेख्य ही माने जायेंगे।

---

३. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ११५।
४. उपरिवत्, पृ० ११५-१६।
५. उपरिवत्, पृ० ११६।
६. उपरिवत्।
१. बेलवाल्कर : सि० सं० ग्रा०, पृ० ११६।
२. उपरिवत्।
३. यु० मी० : सं० व्या० इ०, भाग १, पृ० ५८१।
४. उपरिवत्।
५. उपरिवत्।
६. उपरिवत्।
७. उपरिवत्।
८. उपरिवत्।

प्राकृत, पालि एवं अपभ्रंश-व्याकरण की परम्परा

सामान्य परिचय

प्राकृत का उपयोग जब लोक-व्यवहार तक ही सीमित न रहकर साहित्य-सृजन के लिए भी होने लगा, तो स्वाभाविक था कि आचार्यों का ध्यान उसके व्याकरण-निर्माण की ओर भी आकृष्ट होता। फलतः अनेक आचार्यों ने संस्कृत-व्याकरण की पद्धति का अनुसरण करते हुए प्राकृत व्याकरणों की रचना की। उनमें से कुछ तो संस्कृत-व्याकरणों के परिशिष्ट के रूप में लिखे गये थे और कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में।

प्राकृत व्याकरणों के सम्बन्ध में यह सर्वसम्मत मान्यता है कि वे संस्कृत-व्याकरणों के समान सर्वाङ्गपुष्ट एवं सफल नहीं हैं। इसका कारण केवल यही नहीं है कि प्राकृत में कोई पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि या भर्तृहरि के समान आचार्य नहीं हुए, अपितु इसके और भी कई महत्त्वपूर्ण कारण थे। उदाहरणार्थ, प्राकृत संस्कृत के समान कोई एक भाषा नहीं थी, प्रत्युत उसके अनेक प्रान्तीय भेद थे; जिनमें व्याकर्णिक दृष्टि से समानता कम और भिन्नता ही अधिक थी। इस कारण, प्राकृत-वैयाकरणों को एक ही साथ प्राकृत-भेदों का तुलनात्मक विवेचन करना पड़ता था, जो निश्चय ही किसी एक भाषा का व्याकरण लिखने की तुलना में कठिन कार्य था। इसीलिए प्राकृत-वैयाकरणों को प्रकृति के रूप में संस्कृत को आधार मानकर प्राकृत के विविध रूपों के नियमों को सूत्रबद्ध करने में तथा उन रूपों की पारस्परिक समानता एवं भिन्नता को सम्यक् रूपेण स्पष्ट करने में वैसी सफलता नहीं मिल सकी, जैसी अपेक्षित थी। दूसरे, संस्कृत चिरकाल से एक व्यापक जनसमुदाय के धर्म, साहित्य-दर्शन, विज्ञान आदि विविध विषयों की भाषा के रूप में प्रायः समस्त भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का माध्यम बनती आयी थी; इसलिए उसके प्रति आचार्यों के हृदय में जो पूज्यभाव था, वह प्राकृत के लिए कभी सम्भव नहीं था। यों, प्राकृत-कवियों में से कुछ ने इसे संस्कृत की अपेक्षा अधिक सरस, कोमल एवं श्रेष्ठ अवश्य घोषित किया था[1], किन्तु गम्भीरमति आचार्यों के लिए वह विश्वसनीय

---

१. परुसा सक्कअ-बन्धा पाउअ-बन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरिस-महिलाणं जेत्तिअ-मिहन्तरं तेत्तिअ मिमाणं ॥—क० म० १।

बात नहीं थी। फलतः संस्कृत-व्याकरण की रचना में उनलोगों ने जैसी रुचि एवं तन्मयता का परिचय दिया, वैसी प्राकृत-व्याकरण की रचना में नहीं। सम्भवतः इसलिए भी प्राकृत के व्याकरण उतने सफल नहीं उतर सके, जितने संस्कृत के। उनकी असफलता का एक तीसरा कारण यह भी था कि वे प्राकृत के जनगृहीत जीवन-रूप को ध्यान में न रखकर केवल संस्कृत-नाटकों के प्राकृत-अंशों तथा प्राकृत-साहित्य में प्रयुक्त रूपों को आधार बनाकर लिखे गये थे। इस कारण उनके द्वारा प्राकृत के जो रूप सामने आते हैं, वे स्वाभाविक की अपेक्षा अधिक कृत्रिम ही प्रतीत होते हैं। फिर भी, उन व्याकरणों का इतना महत्त्व अवश्य है कि उनके अभाव में हम प्राकृतों के सम्बन्ध में उतना भी नहीं जान पाते, जितना जानने की स्थिति में हैं। वे ऐसे वातायन हैं, जिनसे मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के अन्तःप्रकोष्ठ की पूरी नहीं, तो कम-से-कम अधूरी झाँकी तो मिल ही जाती है।

प्राकृत के आदिवैयाकरण :

प्राकृत के आदिवैयाकरण कौन थे, इसका प्रमाणपुष्ट सुनिश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में मुख्यतः जिन तीन अतिप्राचीन आचार्यों के नाम यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं; वे हैं आदिकवि वाल्मीकि, आचार्य पाणिनि एवं आचार्य भरत। इनमें से दो के द्वारा प्राकृत-व्याकरण की रचना का कहीं कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता और न ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी कोई प्रत्यक्ष सम्भावना ही दीखती है; किन्तु आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में प्राकृत-व्याकरण-विषयक कुछ श्लोक मिलते हैं। अतः यदि वे श्लोक प्रक्षेप नहीं हों और उन्हें प्राकृत-व्याकरण मान लिया जाय, तो आचार्य भरत को सामान्यतः तबतक के लिए प्राकृत का आदिवैयाकरण स्वीकार किया जा सकता है, जबतक इसके विरुद्ध प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाते। यहाँ संक्षेप में उक्त तीनों आचार्यों के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध एतद्विषयक उल्लेखों की चर्चा कर देना आवश्यक है।

वाल्मीकि का इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेख १४वीं शताब्दी में लिखित 'शम्भुरहस्य'[1] नामक ग्रन्थ में मिलता है। सम्भवतः उसी के आधार पर देशिकाचार्य ने त्रिविक्रम-सूत्रों के पूर्व और अन्त में वाल्मीकि के नाम का

१. पी० एल० वैद्य के 'प्राकृत ग्रामर ऑव त्रिविक्रम' की भूमिका, पृ० २४।

उल्लेख करते हुए उन्हें वाल्मीकि-कृत मान लिया।[1] आगे चलकर 'षड्भाषा-चन्द्रिका' के प्रणेता १६वीं शताब्दी के आचार्य लक्ष्मीधर भी उसी भ्रान्ति के शिकार बन गये। उन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में 'वाल्मीकिर्मूलसूत्र-कृत्'[2] लिखकर इस विवाद को और अधिक जटिल बना दिया कि वे सूत्र जिनपर त्रिविक्रम की वृत्ति, उनकी अपनी चन्द्रिका तथा सिंहराज का प्राकृत-रूपावतार आश्रित है, आदिकवि वाल्मीकि-विरचित हैं। इसी तरह मद्रास ओरियण्टल लाइब्रेरी में उपलब्ध सूत्र और वृत्ति को 'वाल्मीकिसूत्रम् सवृत्ति' नाम से निबद्ध किया गया है।[3] एक दूसरी पाण्डुलिपि के प्रारम्भिक माङ्गलिक श्लोकों में रामायण और षड्भाषा के रचयिता वाल्मीकि को नमस्कार किया गया है और समाप्ति में 'वाल्मीकीयसूत्र' उल्लिखित है।[4] इस प्रश्न पर विचार करते हुए रायबहादुर कमलाशङ्कर प्राणशङ्कर त्रिवेदी ने यह समाधान उपस्थित किया था कि उक्त ग्रन्थों में उल्लिखित वाल्मीकि आदिकवि वाल्मीकि न होकर कोई नवीन वाल्मीकि थे। किन्तु, डॉ० परशुराम शर्मा वैद्य ने त्रिवेदीजी की विचारधारा का खण्डन करते हुए अत्यन्त युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि वाल्मीकि-रचित माने जानेवाले सूत्र न तो आदिकवि वाल्मीकि के हैं और न किसी नवीन वाल्मीकि के, अपितु वे त्रिविक्रम के द्वारा ही रचे गये हैं।[5] स्वयं त्रिविक्रम ने अपनी वृत्ति में 'निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्'[6] लिखकर उन

---

१. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० ९।

२. वाग्देवी जननी येषां वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत्।
भाषाप्रयोगा ज्ञेयास्ते षड्भाषाचन्द्रिकाध्वना॥—षड्भाषा, १५।

३. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० ८।

४. येन श्रीरामचरितमधिगम्य सुरर्पितः।
श्रीमद्रामायणं प्रोक्तं तस्मै वाल्मीकये नमः॥
येन निर्मलिता वाग्षड्भाषाकृतयो नृणाम्।
विमलैः सूक्तकनकैस्तस्मै वाल्मीकये नमः॥
इति श्रीवाल्मीकीयेषु सूत्रेषु द्वितीयस्याध्यायस्य पादश्चतुर्थः।

५. षड्भाषा चन्द्रिका की अँगरेजी भूमिका और प्राकृत शब्दानुशासन की अँगरेजी भूमिका।

६. तथैव प्राकृतादीनां षड्भाषाणां महामुनिः।
आदिकाव्यकृदाचार्यो व्याकर्त्ता लोकविश्रुतः॥१५॥
प्राकृतपदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्।
वृत्तिर्यथार्थसिध्यै त्रिविक्रमेणागमक्रमात् क्रियते॥
—त्रिविक्रम प्राकृत शब्दानुशासन, ९।

सूत्रों को अपना सूत्र बताया है और उनपर स्वयं वृत्ति लिखी है। इससे स्पष्ट है कि आदिकवि वाल्मीकि के द्वारा प्राकृत व्याकरण की रचना के उपर्युक्त सारे उल्लेख भ्रान्तिमूलक हैं।

पाणिनि को प्राकृत का वैयाकरण माननेवालों में मलयगिरि[१] तथा कवि-कण्ठपाश के लेखक केदारभट्ट[२] के नाम उल्लेख्य हैं। उक्त विद्वानों के अनुसार पाणिनि ने अष्टाध्यायी के अतिरिक्त एक प्राकृत-लक्षण नामक प्राकृत-व्याकरण की भी रचना की थी। किन्तु, प्राकृत-लक्षण के लेखक चण्ड थे, पाणिनि नहीं। सम्भव है कि जिस प्रकार त्रिविक्रम के प्राकृत-व्याकरण के सम्बन्ध में वाल्मीकि के कर्त्तृत्व की भ्रान्ति हो गयी थी, उसी प्रकार चण्ड की कृति के विषय में पाणिनि की भ्रान्ति हो गयी हो।[३] इस सम्बन्ध में पिशेल की मान्यता है कि 'पाणिनि प्राकृत के व्याकरण पर भी बहुत कुछ लिख सकता था और सम्भव है कि उसने व्याकरण के परिशिष्ट रूप में प्राकृत व्याकरण लिखा भी हो; किन्तु इस समय न तो उसका प्राकृत-व्याकरण उपलब्ध है और न उसके उद्धरण ही कहीं पाये जाते हैं।'[४] मेरी दृष्टि में पिशेल की यह सम्भावना निराधार है कि पाणिनि ने प्राकृत व्याकरण की रचना की होगी। अतः पाणिनि के प्राकृत व्याकरण या उसके उद्धरण के कहीं उपलब्ध होने की आशा या सम्भावना की चर्चा ही व्यर्थ है।

आचार्य भरत का प्राकृत-वैयाकरण के रूप में सबसे प्राचीन उल्लेख मार्कण्डेय के 'प्राकृत सर्वस्व' के प्रारम्भिक श्लोक में मिलता है। मार्कण्डेय ने अपने व्याकरण की रचना जिन प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों की सहायता से की थी, उनमें शाकल्य, कोहल, वररुचि, भामह तथा वसन्तराज के साथ भरत को भी उन्होंने स्मरण किया है।[५] इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में

१. वेबर : इण्डिशे स्ट्राइफेन २, ३२५' नोट सं० २; इण्डिशे स्टूडिएन १०, २७७, नोट सं० १।

२. दालविश : ऐन इण्ट्रोडक्शन टू कच्चायनाज ग्रामर ऑफ दि पाली लैङ्ग्वेज (कोलम्बो, १८८३) की भूमिका, पृ० २५।

३. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० १०।

४. रिचर्ड पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, (हिन्दी अनुवाद, वि० रा० प०), पृ० ६६।

५. शाकल्य-भरत-कोहल-वररुचि-भामह-वसन्तराजाद्यैः।
प्रोक्तान् ग्रन्थान्नानालक्ष्याणि च निपुणमालोक्य॥
आव्याकीर्णं विशदसारं स्वल्पाक्षरग्रथितपद्यम्।
मार्कण्डेयकवीन्द्रः प्राकृतसर्वस्वमारभते॥

आचार्य भरत के वैयाकरण होने का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु, आधुनिक विद्वानों में पिशेल ने अपने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' में प्राचीन प्राकृत-वयाकरणों का परिचय देने के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम आचार्य भरत को ही स्मरण किया है। उनके अनुसार प्राकृत के विषय में जिन भारतीय लेखकों ने अपने विचार प्रकट किये हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ भरत को मानना चाहिए।[१] भरत के नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में श्लोक ६ से १० तक प्राकृत में और फिर श्लोक ११ से २५ तक संस्कृत में प्राकृत-व्याकरण के कुछ नियम मिलते हैं। सम्भव है, मार्कण्डेय ने नाट्यशास्त्र के इसी अंश का अपने व्याकरण में उपयोग किया हो और इसी आधार पर आचार्य भरत को प्राकृत-वैयाकरणों में से एक माना हो। पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण की रचना के समय नाट्यशास्त्र की जिस हस्तलिखित प्रति का उपयोग किया था, उसमें १७वें अध्याय के श्लोक ६ से २३ तक ही प्राकृत-व्याकरण के नियम थे।[२] उन्होंने भी उसी के आधार पर भरत का उल्लेख प्राकृत के आदिवैयाकरण के रूप में किया था। यदि नाट्यशास्त्र के उक्त अंश को प्राकृत का संक्षिप्त (चाहे अति अपूर्ण ही सही) व्याकरण मान लिया जाय, तो ज्ञात प्राकृत वैयाकरणों में उन्हें ही आदिवैयाकरण मानना होगा।

प्राकृत के प्रमुख वैयाकरण

वररुचि :

प्राकृत के उपलब्ध स्वतन्त्र एवं व्यवस्थित व्याकरणों में वररुचि-कृत 'प्राकृत-प्रकाश' सर्वाधिक प्राचीन है। वररुचि का पूरा नाम वररुचि कात्यायन है। पाश्चात्य विद्वानों में वेबर,[३] वेस्टर गार्ड,[४] ब्लॉख[५] आदि ने वररुचि कात्यायन को वार्त्तिककार कात्यायन से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है; किन्तु, कौवेल,[६] मैक्समूलर,[७] पिशेल,[८] कोनो प्रभृति विद्वानों ने दोनों को भिन्न सिद्ध

१. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी अनु०, वि० रा० प०), पृ० ६५।
२. वही।
३. इण्डिशे स्ट्राइफेन २, ५३ और उसके बाद ३, २७७ और उसके बाद।
४. इयूवर डेन एल्टेस्टेन त्साइटरौम आदि (ब्रेस्लौ, १८६२), पृ० ८६।
५. वररुचि उण्ट हेमचन्द्र, पृ० ९ और उसके बाद।
६. द प्राकृतप्रकाश २, भूमिका, पृ० ४।
७. हास्यार्णव, पृ० १४८, २३९।
८. डे ग्रामाटिकिस, प्राकृतिकिस, पृ० ९ और उसके बाद।

किया है। अधिकांश भारतीय विद्वान उक्त दूसरे मत के ही पोषक हैं।[१] वररुचि के काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग उन्हें ईसा-पूर्व तीसरी सदी का और कुछ उन्हें पाँचवीं शताब्दी ई० के आस-पास का मानते हैं।

'प्राकृतप्रकाश' में १२ परिच्छेद हैं। पहले ९ परिच्छेद में संस्कृत को आधार मान कर महाराष्ट्री का विवरण दिया गया है, दसवें में शौरसेनी के आधार पर पैशाची का, ग्यारहवें में शौरसेनी के ही आधार पर मागधी का और बारहवें में संस्कृत को आधार बताकर शौरसेनी का विवरण है। शौरसेनी के भेदक लक्षणों को देकर अन्त में ग्रन्थकार ने कह दिया है कि शेष को महाराष्ट्री के समान समझना चाहिए।[२] उन्होंने अपने ग्रन्थ में अपभ्रंश का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

'प्राकृतप्रकाश' के टीकाकारों में प्रसिद्ध अलङ्कारशास्त्री भामह सर्वाधिक प्राचीन माने गये हैं। उनके द्वारा की गयी टीका का नाम 'मनोरमा' है। उसमें बारहवें परिच्छेद की टीका नहीं है। पिशेल आदि विद्वानों का मत है कि भामह की टीका में अशुद्धियों की भरमार का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने वररुचि को सही-सही समझा ही नहीं है। 'प्राकृतप्रकाश' की एक दूसरी टीका 'पदमञ्जरी' नाम की है। यह पद्य-बद्ध है। इसके लेखक कौन थे, इसका सही पता नहीं चल सका है। यह टीका भी अत्यन्त सामान्य स्तर की मानी गयी है।[३]

चण्ड :

प्राकृत के दूसरे प्रसिद्ध वैयाकरण चण्ड थे। उनके व्याकरण का नाम 'प्राकृतलक्षणम्' है। चण्ड के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद रहा है। हॉर्नले ने उन्हें वररुचि से भी पूर्ववर्त्ती माना था।[४] दूसरी ओर ब्लॉख ने उन्हें हेमचन्द्र से परवर्त्ती सिद्ध करते हुए यह निष्कर्ष दिया था कि उन्होंने अपने व्याकरण की रचना हेमचन्द्र के व्याकरण के आधार पर की।[५]

१. डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १४४।

२. वही।

३. रिचर्ड : पिशेल, 'प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण' (हिन्दी-अनु०, वि० रा० प०) पृ० ७०-७१।

४. 'द प्राकृत लक्षणम् और चण्डाज ग्रामर ऑफ द एनसियण्ट प्राकृत', भा० १, कलकत्ता, १८८० ई० की भूमिका।

५. वररुचि तथा हेमचन्द्र, पृ० ८१।

किन्तु, पिशेल ने उक्त दोनों विद्वानों की मान्यता का खण्डन करते हुए यह स्थापना दी कि चण्ड वास्तव में वररुचि से परवर्त्ती, किन्तु हेमचन्द्र से पूर्ववर्त्ती थे और हेमचन्द्र ने जिन पूर्ववर्त्ती आचार्यों के ग्रन्थों से सामग्री लेकर अपना व्याकरण लिखा था, उनमें एक चण्ड भी थे।[1]

चण्ड ने मुख्यतः महाराष्ट्री प्राकृत का व्याकरण लिखा है, किन्तु, उसके साथ-ही-साथ उन्होंने अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी, पैशाची तथा अपभ्रंश की भी चर्चा की है। 'प्राकृत-लक्षणम्' में चार परिच्छेद है, जिनमें क्रमशः विभक्ति-विधान, स्वर-विधान, व्यञ्जन-विधान तथा भाषान्तर-विधान का विवेचन है। प्रथम में संज्ञा और सर्वनाम के रूपों का, दूसरे में स्वरों का, तीसरे में व्यञ्जनों का और चौथे में महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी को छोड़कर अन्य भाषाओं के नियमों और विशेषताओं की चर्चा की गयी है।[2] बूलर[3] एवं भण्डारकर[4] ने इस अन्तिम परिच्छेद के नाम पर सम्पूर्ण ग्रन्थ का ही नाम 'भाषान्तर-विधान' रख दिया था और इसके लेखक का नाम चन्द्र बताया था। किन्तु, पिशेल ने उक्त विद्वानों के भ्रम का निवारण करते हुए वास्तविक तथ्य को प्रकाश में लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। चण्ड ने अपने ग्रन्थ में क्रियाओं के रूपों पर कुछ भी नहीं लिखा है, या सम्भव है, वह अंश नष्ट हो गया हो।

पुरुषोत्तम :

पुरुषोत्तम ११वीं शताब्दी के एक बौद्ध आचार्य थे।[5] उन्होंने 'प्राकृतानुशासन'-नामक एक प्राकृत-व्याकरण की रचना की थी। उक्त व्याकरण में उन्होंने प्राकृत-भाषाओं के साथ-साथ अपभ्रंश-भाषाओं का भी विवेचन किया है। अपभ्रंश को उन्होंने नागरक, व्राचड़ और उपनागरक इन तीन वर्गों में विभक्त किया है। 'प्राकृतानुशासन' के १७वें अध्याय में १ से ९० सूत्र तक

---

१. रिचर्ड पिशेल, प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण, (हिन्दी-अनु०, वि० रा० प०), पृ० ७२-७४।

२. वही।

३. त्साइट श्रिफ्ट डेर मौरगेन लैण्डिशन गेजेल-शाफ्ट ४२, ५५६।

४. लिस्ट, पृ० ५८।

५. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अ० भा० अ०, पृ० १३।

नागरक का, १८वें अध्याय में १ से १३ सूत्र तक ब्राचड़ का और १४ तथा १५ सूत्रों में नागर और ब्राचड़ के साङ्कर्य से उत्पन्न उपनागरक का विवेचन किया गया है। तदनन्तर, पाञ्चालादियों को सूक्ष्मान्तर तथा लोकगम्य बताकर वदर्भी, लाटी, लट्टी, कैकेयी, गौड़ी इत्यादि की भेदक विशेषताओं को एक-एक सूत्र में निबद्ध किया गया है। अन्त में ढक्क, बक्कर, कुन्तल, पाण्डि, सिङ्घलादि भाषाओं के सम्बन्ध में इसी प्रकार अनुमान करने के लिए कहा गया है।[१] प्राकृत भाषाओं के विवेचन में मुख्यतः वररुचि का आधार लिया गया है।

हेमचन्द्र :

१२वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र, जिनका परिचय संस्कृत-वैयाकरण के रूप में पहले दिया जा चुका है, प्राकृत-व्याकरणकार के रूप में सर्वाधिक विख्यात हैं। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश, इन तीनों भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण, उन्होंने अपने ग्रन्थ में एक-एक कर तीनों ही भाषाओं के व्याकरण लिखे। उनके 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' के प्रारम्भिक सात अध्यायों में संस्कृत का विवेचन है तथा आठवें अध्याय में प्राकृत और अपभ्रंश का। अपभ्रंश को प्राकृत के ६ भेदों में से एक भेद मानते हुए उक्त अध्याय में उन्होंने क्रमशः उनका महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश नाम से बड़ा ही सुन्दर एवं विस्तृत परिचय दिया है। हेमचन्द्र का प्राकृत-व्याकरण (अर्थात् सिद्ध हेमशब्दानुशासन का आठवाँ अध्याय) चार पादों में विभक्त है। उनमें से प्रारम्भिक दो पादों में ध्वनि-विवेचन, तीसरे पाद में शब्द-रूप-विवेचन तथा चौथे पाद में सूत्र १ से २५९ तक महाराष्ट्री, २६० से २८६ तक शौरसेनी, २८७ से ३०२ तक मागधी, ३०३ से ३२४ तक पैशाची, ३२५ से ३२८ तक चूलिका पैशाची तथा ३२९ से ४४६ तक अपभ्रंश के नियमों का विवेचन है। आगे के सूत्रों में अन्य सामान्य बातों की चर्चा की गयी है।[२]

हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण की रचना में अनेक पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों से सहायता ली थी; किन्तु, उन्होंने किसी के नाम का अपने ग्रन्थ में

१. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अ० भा० अ०, पृ० ३६।

२. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी-अनु० वि० रा० प०), पृ० ७७।

स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इस सम्बन्ध में याकोबी ने यह मान्यता व्यक्त की थी कि हेमचन्द्र का वररुचि से वही सम्बन्ध है, जो कात्यायन का पाणिनि से; तथा हेमचन्द्र ने वररुचि के सूत्रों के आधार पर उसी प्रकार अपना व्याकरण तैयार किया था, जिस प्रकार भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनि के आधार पर अपनी 'सिद्धान्त-कौमुदी'।[१] किन्तु, पिशेल[२] तथा ब्लॉख[३] ने याकोवी की उक्त मान्यता का खण्डन किया था। पिशेल के अनुसार हेमचन्द्र ने चण्ड के व्याकरण से अधिक सहायता ली थी तथा यह भी असम्भव नहीं कि उन्होंने वररुचि से भी यत्र-तत्र सहायता ली हो।[४]

हेमचन्द्र ने स्वयं अपने व्याकरण की दो टीकाएँ भी लिखी थीं। एक का नाम है, 'बृहतीवृत्ति' और दूसरी का 'लघुवृत्ति'। 'लघुवृत्ति' का एक नाम 'प्रकाशिका' भी है।[५] उदय सौभाग्य गणिन् ने इस वृत्ति की एक टीका लिखी थी, जिसका नाम 'हैमप्राकृतवृत्ति ढुण्ढिका' है और पूरी पुस्तक का नाम 'व्युत्पत्ति-दीपिका' है। इसके अतिरिक्त नरेन्द्रचन्द्र सूर्य ने 'प्राकृत-प्रबोध' नाम की एक टीका हेमचन्द्र के व्याकरण के केवल आठवें अध्याय पर लिखी थी।[६]

क्रमदीश्वर :

क्रमदीश्वर का इतिवृत्त एवं काल अभी तक अज्ञात है। कुछ विद्वानों के अनुसार वे हेमचन्द्र के पहले और कुछ के अनुसार उनके बाद हुए थे।[७] क्रमदीश्वर ने अपना व्याकरण, जिसका नाम 'संक्षिप्तसार' है, हेमचन्द्र की ही भाँति आठ अध्यायों में विभक्त किया है। उसके प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत का और आठवें में प्राकृत का व्याकरण है। इन कुछेक स्थूल बातों के अतिरिक्त हेमचन्द्र और क्रमदीश्वर के प्राकृत व्याकरण में और कोई साम्य नहीं है।[८]

---

१. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी-अनु०, वि० रा० पा०), पृ० ७७, (येनायेर लिटरट्रूर त्साइटुङ्ग, १८७६, ७९७)।
२. पिशेल की हेमचन्द्र-सम्बन्धी पुस्तक २, १४५।
३. वररुचि उण्ट हेमचन्द्र, पृ० २१ तथा उसके बाद।—इ० ए० २, १७।
४. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी-अनु० वि० रा० पा०), पृ० ७७-७८।
५. उपरिवत्, पृ० ७६।
६. उपरिवत्, पृ० ७६-७७।
७. उपरिवत्, पृ० ८१।
८. उपरिवत्।

क्रमदीश्वर ने अपने 'प्राकृत-व्याकरण' की रचना वररुचि के आधार पर की थी, किन्तु, लासन के अनुसार वे अनेक स्थलों पर वररुचि से दूर भी चले गये हैं।[१] पिशेल के अनुसार ऐसे स्थलों की सामग्री क्रमदीश्वर ने किसी अन्य वैयाकरण से ली होगी।[२] क्रमदीश्वर के व्याकरण में अपभ्रंश की भी चर्चा है, किन्तु वररुचि में नहीं।

क्रमदीश्वर ने अपने व्याकरण की एक टीका भी लिखी थी, जिसका नाम 'रसवती' था। जुमरनन्दी ने उसी 'रसवती' की विस्तृत व्याख्या की थी। आगे चलकर चण्डीदेव शर्मन् ने क्रमदीश्वर के व्याकरण के केवल प्राकृतपाद पर 'प्राकृतदीपिका' नाम की टीका लिखी। फिर, जटाधर के प्रपौत्र, बाणेश्वर के पौत्र एवं नारायण के पुत्र विद्याविनोद ने 'प्राकृत पाद टीका' नाम की एक दूसरी टीका लिखी।[३]

त्रिविक्रमदेव :

आदित्य वर्मन के पौत्र और मल्लिनाथ के पुत्र त्रिविक्रमदेव का समय विद्वानों ने १३वीं शताब्दी के लगभग माना है।[४] वे दिगम्बर जैन थे। पी० एल० वैद्य के अनुसार वे दाक्षिणात्य[५], सम्भवतः आन्ध्र निवासी थे।[६]

त्रिविक्रम ने मुख्यतः हेमचन्द्र के आधार पर अपने 'प्राकृत शब्दानुशासन' (या द्वादशपदी) का निर्माण किया था तथा उसकी वृत्ति लिखी थी। देशिकाचार्य तथा लक्ष्मीधर ने त्रिविक्रम के सूत्रों को भ्रमवश या किसी अज्ञात कारण से आदिकवि वाल्मीकि-कृत मान लिया था, किन्तु पी० एल० वैद्य ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि वे सूत्र वास्तव में त्रिविक्रम के अपने हैं।[७] इसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं।

---

१. इंस्टीट्यूत्सीओनेस का परिशिष्ट, पृ० ४० और उसके बाद।

२. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, (हिन्दी अनु०, वि० रा० प०), पृ० ८२।

३. उपरिवत्।

४. उपरिवत्, पृ० ८४।

५. प्राकृत शब्दानुशासन की भूमिका, पृ० ३३।

६. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० १२।

७. उपरिवत्, पृ० ८-९।

त्रिविक्रम ने अपने व्याकरण में संक्षेपार्थ कुछ नये पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया था; यथा ह्रस्वार्थ ह, दीर्घार्थ दि, समासार्थ स आदि। यह एक प्रकार की नवीनता तो थी, किन्तु इससे स्पष्टता में कमी आ गयी। उन्होंने ऐसे नये शब्दों को अपने व्याकरण के आरम्भ में ही अर्थ देकर समझाने का प्रयास किया था।[1] इस एक नवीनता के अतिरिक्त अधिकांश बातों में उन्होंने हेमचन्द्र की ज्यों-की-त्यों नकल की थी। इसी तरह आगे चलकर त्रिविक्रम का अनुसरण करते हुए सिंहराज ने 'प्राकृत रूपावतार' की, लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषा-चन्द्रिका' की तथा अप्पय दीक्षित ने 'प्राकृत मणिदीप' की रचना की।

सिंहराज :

सिंहराज का समय १५वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[2] वे समुद्र-बन्धयज्वन के पुत्र थे।[3] उन्होंने त्रिविक्रम के व्याकरण को कौमुदी के ढङ्ग से तैयार किया। ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने संज्ञा-विभाग और परिभाषा-विभाग में परिभाषिक शब्दों को स्पष्ट किया है तथा संहिता विभाग में सन्धि और लोप के नियम बताये हैं। फिर, सुबन्त विभाग में शब्द-रूपावली एवं अव्ययों के नियम तथा तिङन्त विभाग में धातुओं के रूपों के नियम के साथ धात्वादेश भी शामिल है। इसके अनन्तर शौरसेन्यादि विभाग है, जिसमें शौर-सेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची एवं अपभ्रंश के नियम दिये गये हैं। इस ग्रन्थ में प्रत्येक प्रकार की संज्ञा के लिए अलग-अलग रूपावली दी गयी है। इसी प्रकार, क्रियापदों की भी। इस दृष्टि से सिंहराज का ग्रन्थ पर्याप्त महत्त्व-पूर्ण है। कहीं-कहीं तो उन्होंने हेमचन्द्र एवं त्रिविक्रम से भी अधिक रूप दिये हैं। किन्तु, उनमें से अधिकांश नये-नये रूप उन्होंने व्याकरण के नियमों के अनुसार स्वयं गढ़ लिये हैं, जिनका प्रयोग न तो किसी काव्य-ग्रन्थ में मिलता है और न जिनकी चर्चा किसी अन्य वैयाकरण ने ही की है। इस प्रकार, व्याकरण के नियमों के आधार पर नितान्त नये रूपों की रचना कर, स्वयं उन्हें सिद्ध करने वाले वैयाकरणों में सिंहराज अग्रगण्य माने जा सकते हैं।[4]

---

१. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी अनु०, वि० रा० प०), पृ० ८४।

२. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० १२।

३. पिशेल (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ), पृ० ८५।

४. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी अनु०, वि० रा० प०), पृ० ८५-८६।

लक्ष्मीधर :

लक्ष्मीधर का समय १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आसपास माना जाता है।[१] उन्होंने अपनी 'षड्भाषाचन्द्रिका' की रचना मुख्यत: त्रिविक्रम के आधार पर 'कौमुदी' के ढङ्ग से की। उन्हें त्रिविक्रम की वृत्ति बहुत गूढ़ लगी थी, इसीलिए उन्होंने उसकी व्याख्या की आवश्यकता समझी।[२] उन्हें इस बात का अभिमान था कि उनकी 'षड्भाषा चन्द्रिका' के बिना कविशार्दूल षड्भाषा की कृष्णरात्रियों में अपशब्द के महागर्त्त में पड़ जाते हैं।[३] किन्तु, विद्वानों का मत है कि कवियों को महागर्त्त से बचाने का अभिमान करनेवाले लक्ष्मीधर स्वयं प्राकृत की अत्यल्प जानकारी रखते थे और उन्होंने अपनी 'चन्द्रिका' की रचना मात्र गतानुगतिक न्याय से की थी।[४]

अप्पयदीक्षित :

अप्पयदीक्षित का काल १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आसपास माना जाता है। उन्होंने अपने 'प्राकृत मणिदीप' की रचना में त्रिविक्रम एवं लक्ष्मीधर के ग्रन्थों का अनुसरण किया था, साथ ही हेमचन्द्र, भोज, वररुचि आदि से भी यत्र-तत्र किञ्चित् सामग्री ली थी।[५] सिंहराज और लक्ष्मीधर के समान ही अप्पयदीक्षित का ग्रन्थ भी 'सिद्धान्त-कौमुदी' की पद्धति पर त्रिविक्रम की वृत्ति की टीकामात्र है।

मार्कण्डेय :

प्राकृत वैयाकरणों में वररुचि एवं हेमचन्द्र के पश्चात् मार्कण्डेय का ही नाम अग्रगण्य माना जाता है। मार्कण्डेय उड़ीसा के रहनेवाले थे और महाराज मुकुन्ददेव के समय वर्त्तमान थे। स्टर्लिङ्ग के अनुसार मुकुन्ददेव ने १६६४ ई० तक राज्य किया। इसी आधार पर मार्कण्डेय १७वीं शताब्दी के आचार्य माने

---

१. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० १२।

२. वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधाः।
षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥१६॥

३. अपशब्द-महागर्त्ते षड्भाषाकृष्णरात्रिषु।
पतन्ति कविशार्दूलाः षड्भाषाचन्द्रिकां विना ॥२१॥

४. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० १२-१३।

५. उपरिवत्, पृ० १३।

जाते हैं।[1] उनके व्याकरण का नाम 'प्राकृत सर्वस्व' है, जिसकी रचना में उन्होंने शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि, भामह तथा वसन्तराज के ग्रन्थों से सहायता ली थी।[2] इनमें से वसन्तराज की 'प्राकृत सञ्जीवनी' को कौवेल[3] एवं ऑफ्रेख्त[4] ने वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' की टीका कहा है। किन्तु, पिशेल ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए यह लिखा है कि वसन्तराज नें वररुचि से कुछ सहायता अवश्य ली थी, फिर भी उनका ग्रन्थ स्वतन्त्र है। पिशेल के अनुसार 'प्राकृत सञ्जीवनी' के लेखक वसन्तराज, काट्यवेम के दामाद वसन्तराज से जो किसी नाट्यशास्त्र के लेखक थे—अभिन्न हैं। काट्यवेम के शिलालेख ई० सन् १३९१, १४१४ और १४१६ के मिलते हैं; इसी आधार पर पिशेल ने मार्कण्डेय का काल १५वीं शताब्दी में होने का अनुमान किया है।[5] किन्तु, अधिकांश विद्वान उन्हें १७वीं शताब्दी में ही रखते हैं।

• 'प्राकृत सर्वस्व' में विषय-प्रवेश के पश्चात् मार्कण्डेय ने प्राकृत-भाषाओं का वर्गीकरण किया है। उन्होंने प्राकृतों के भाषा, विभाषा एवं अपभ्रंश—तीन वर्ग स्थापित किये हैं। भाषा के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, आवन्ती और प्राच्या को स्थान दिया है; विभाषा में शाकारी, शाबरी, चाण्डाली, आभीरी और ढक्की (या टक्की) की गणना है तथा अपभ्रंश के रूप में नागर, व्राचड़ और उपनागर के नाम हैं। उक्त तीनों वर्गों के अतिरिक्त पैशाची को एक अलग वर्ग माना गया है; जिसके अन्तर्गत केकय पैशाचिकी, शौरसेन पैशाचिकी तथा पाञ्चाल पैशाचिकी का उल्लेख है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थ में प्राकृत-भाषाओं का सार-रूप से व्याकरण दिया है। उन्होंने सर्वप्रथम महाराष्ट्री-प्राकृत के नियम

---

१. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी अनु० वि० रा० प०), पृ० ८६।

२. शाकल्य-भरत-कोहल-वररुचि-भामह-वसन्तराजाद्यैः।
प्रोक्तान् ग्रन्थान्नानालक्ष्याणि च निपुणमालोक्य॥
आव्याकीर्णं विशदसारं स्वरूपान्तरे ग्रथितपद्यम्।
मार्कण्डेयकवीन्द्रः प्राकृत सर्वस्वमारभते॥
—मार्कण्डेय, प्रा० स०।

३. 'वररुचि' की भूमिका, पृ० १० और उसके बाद।

४. काटालोगुस काटलोगुरुम्, १३६०।

५. रि० पिशेल : प्रा० भा० व्या० (हिन्दी अनु०, वि० रा० प०), पृ० ८७।

बताये हैं, जो आठ पादों में पूरे हुए हैं। ग्रन्थ का यह सबसे बड़ा खण्ड वररुचि के आधार पर है। ९वें पाद के ९वें प्रकरण में शौरसेनी के, १०वें पाद में प्राच्य भाषा के, ११वें में आवन्ती और वाह्लीकी के तथा १२वें पाद में मागधी तथा अर्धमागधी के नियम हैं। ९ से १२ पाद तक के खण्ड का नाम 'भाषा-विवेचनम्' है। १३ से १६ पाद तक विभाषा का, १७ से १८ पाद तक अपभ्रंश का तथा १९ से २० पाद तक पैशाची का विवेचन है।[1] विभिन्न प्राकृतों एवं अपभ्रंशों के अध्ययन की दृष्टि से 'प्राकृत सर्वस्व' को विद्वानों ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ स्वीकार किया है।

रामतर्कवागीश :

रामतर्कवागीश का 'प्राकृत कल्पतरु' किसी लङ्केश्वर नामक आचार्य लिखित 'प्राकृत कामधेनु' के आधार पर लिखा गया प्राकृत-व्याकरण है। यह मार्कण्डेय के 'प्राकृत सर्वस्व' से बहुत अंशों में मेल खाता है।[2]

प्राकृत के अल्पख्यात वैयाकरण :

प्राकृत के उपर्युक्त वैयाकरणों के ग्रन्थों के अतिरिक्त छोटे-मोटे और भी अनेक व्याकरण-ग्रन्थों का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है, जो विशेष ख्यात नहीं हैं। उनमें नरसिंह-कृत 'प्राकृत-शब्द-प्रदीपिका',[3] शुभचन्द्र-कृत 'शब्द-चिन्तामणि',[4] शेष कृष्ण-कृत 'प्राकृत-चन्द्रिका',[5] करञ्ज कवि सार्वभौम वामनाचार्य-कृत 'प्राकृत-चन्द्रिका'[6] आदि उल्लेखनीय हैं।

पालि (या पाली) के वैयाकरण :

बौद्धों की धर्म-भाषा होने के कारण पालि का प्रचार बौद्धधर्म के साथ-ही-साथ भारत के अतिरिक्त अन्यान्य देशों में भी हुआ था। फलतः, पालि-व्याकरणों की रचना न केवल भारत में, अपितु भारत के बाहर भी हुई।

---

१. रिचर्ड पिशेल : प्रा० भा० व्या० (हिन्दी-अनु०, वि० रा० प०), पृ० ८७।
२. उपरिवत्, पृ० ८८।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्, पृ० ८८-८९।
५. उपरिवत्, पृ० ८९।
६. उपरिवत्।

पालि-वैयाकरणों में कच्चायन (या कात्यायन), मोग्गलान (या मोग्गलायन या मौद्गल्यान) तथा अग्गवंश (या अग्नि वंश) विशेष प्रसिद्ध हैं। इन तीनों के आधार पर पालि-व्याकरण की अलग-अलग तीन शाखाओं की भी कल्पना की गयी है।[1]

कच्चायन :

कच्चायन (या कात्यायन) का समय ८वीं-९वीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। ये संस्कृत-वैयाकरण कात्यायन से भिन्न थे। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें एक 'कच्चायन-व्याकरण' नाम का पालि-व्याकरण भी है। यह पालि-भाषा के स्वरूप का स्थूल परिचय देनेवाला सामान्य कोटि का ग्रन्थ है। विद्वानों के अनुसार इसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। इस पर कई टीकाएँ भी लिखी गयीं, जिनमें विमल बुद्धि-कृत 'न्यास' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कच्चायन शाखा के अन्य व्याकरणों में छ पद-कृत 'सुत्तनिद्देश' तथा संघरक्खित-कृत 'सम्बन्ध चिन्ता' विशेष उल्लेख्य हैं।

मोग्गलान :

मोग्गलान या मोग्गलायन का समय १२वीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। इनका व्याकरण 'मोग्गलायन-व्याकरण' के नाम से प्रसिद्ध है। यह व्याकरण कच्चायन-व्याकरण की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होने पर भी पालि के स्वरूप-विश्लेषण की दृष्टि से पूर्ण सफल नहीं है। इसकी रचना में पूर्ववर्त्ती पालि-व्याकरणों के अतिरिक्त पाणिनि एवं चन्द्रगोमिन् के व्याकरणों से भी सहायता ली गयी है। इसके पारिभाषिक शब्द कच्चायन से भिन्न हैं। मोग्गलायन ने स्वयं इस पर 'मोग्गलायन-पञ्चिका' नामक टीका भी लिखी थी। इसकी अन्य टीकाओं में पियदस्सिन-कृत 'पदसाधन' तथा राहुल-कृत 'मोग्गलायन पञ्चिकापदीय' विशेष उल्लेख्य हैं।

अग्गवंश :

अग्गवंश ब्रह्मदेश (बर्मा) के निवासी थे। इनका समय १२वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। इनके व्याकरण का नाम 'सिद्ध नीति' है। इसकी

---

१. डॉ० भो० ना० ति० : भा० वि०, पृ० ५४३।

रचना मुख्यत: कच्चायन के व्याकरण के आधार पर हुई है; इसलिए कुछ लोग इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ न मानकर कच्चायन-शाखा के अन्तर्गत ही परिगणित करते हैं। इसका प्रचार मुख्यत: वर्मा एवं लङ्का में ही हुआ। पालि के स्वरूप-निर्धारण की दृष्टि से यह भी एक अति सामान्य व्याकरण ही है। वास्तव में, प्राकृत एवं अपभ्रंश के ही समान पालि का भी कोई सर्वाङ्गपुष्ट समीचीन व्याकरण नहीं लिखा गया।

अपभ्रंश के वैयाकरण :

अपभ्रंश यद्यपि कई शताब्दियों तक जनजीवन के साथ साहित्य की भी भाषा बनी रही, किन्तु किसी ने कभी उसका कोई स्वतन्त्र व्याकरण नहीं लिखा। उसके प्रति वैयाकरणों की इस उपेक्षा के मूल में कई प्रकार के कारण वर्त्तमान थे। वह संस्कृत और प्राकृत की तरह किसी सम्प्रदाय-विशेष की धर्मभाषा नहीं थी। उसे उक्त भाषाओं की तरह कभी किसी प्रबल राजा का आश्रय भी नहीं प्राप्त हुआ। वह जनजीवन के दैनिक उपयोग और साहित्य की भाषा तो थी, किन्तु, ज्ञान-विज्ञान-दर्शनादि विषयों की भाषा कभी नहीं बन सकी। उसके विभिन्न प्रान्तीय रूपों का अलग-अलग ऐसा समानान्तर विकास हुआ कि उनमें से कोई रूप अन्तर्देशीय नहीं बन सका। इन कारणों से अपभ्रंश-युग में भी आचार्यों का ध्यान मुख्यत: संस्कृत एवं गौणत: प्राकृत पर ही केन्द्रित रहा। फलतः किसी वैयाकरण ने स्वतन्त्र रूप से अपभ्रंश के व्याकरण-निर्माण की आवश्यकता नहीं समझी। यदि किसी-किसी ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा भी, तो प्राकृत-व्याकरणों के परिशिष्ट के रूप में ही। वैसे वैयाकरणों में कुछ तो मूलत: संस्कृत के वैयाकरण थे और अधिकांश प्राकृत के। प्राकृत-वैयाकरणों में भी सबने अपभ्रंश का व्याकरण नहीं लिखा। उदाहरणार्थ, प्राकृत के सर्वाधिक प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' में अपभ्रंश का उल्लेख तक नहीं किया। सम्भव है, उनके समय तक अपभ्रंश शिष्ट भाषा की श्रेणी में नहीं आ पायी हो।

अपभ्रंश पर विचार करनेवाले वैयाकरणों में चण्ड का नाम सर्वप्रथम आता है। चण्ड ने अपने 'प्राकृत लक्षणम्' के भाषान्तर विधान नामक चौथे परिच्छेद में अपभ्रंश का भी उल्लेख किया है। उसमें एक सूत्र (३।३८), तो स्पष्ट ही अपभ्रंश का है, साथ ही कुछ और भी ऐसे सूत्र हैं, जिन्हें अपभ्रंश

पर घटित किया जा सकता है; उदाहरणार्थ २।२७१ सूत्र पर उदाहृत निम्नाङ्कित दोहा अपभ्रंश का ही है :

कालु लहे विणु जोइया जिव-जिव मोहु गलेइ ।
तिव-तिव दंसणु लहइ जो णिअमें अप्पु मुणेइ ।।

इसी तरह और स्थलों पर भी उन्होंने अपभ्रंश के रूप दिये हैं ।

अपभ्रंश पर प्रकाश डालनेवाले दूसरे वैयाकरण पुरुषोत्तम थे। उन्होंने 'शेषं शिष्टप्रयोगात्' (१७।६०) में स्पष्ट रूप से अपभ्रंश-भाषा के लिए शिष्टजनों के प्रयोग की प्रामाणिकता स्वीकार की। उन्होंने अपने 'प्राकृतानुशासन' के १७वें और १८वें अध्याय में कुछ विस्तार से अपभ्रंश का विवेचन किया, जिसकी चर्चा प्राकृत वैयाकरण के प्रसङ्ग में पहले हो चुकी है। यहाँ केवल इतना और उल्लेख कर देना आवश्यक है कि पुरुषोत्तम ने अपभ्रंश के नागरक, व्राचड़ और उपनागरक नाम के जो तीन वर्ग किये थे, उन्हें १७वीं शताब्दी के वैयाकरण मार्कण्डेय ने भी ज्यों-का-त्यों मान लिया था ।

अपभ्रंश पर सर्वाधिक विशद रूप में विचार करने का श्रेय हेमचन्द्र को है। उन्होंने अपने व्याकरण 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' के ८वें अध्याय के चतुर्थपाद में सूत्र संख्या ३२९ से ४४८ तक अपभ्रंश के नियमों का निर्धारण किया है और प्रयोगों के उदाहरणार्थ अपभ्रंश-काव्यों के उद्धरण भी दिये हैं। 'कुमार पाल चरित' के अष्टम सर्ग में उनके स्वनिर्मित श्लोक भी अपभ्रंश-भाषा का व्याकरणानुमत स्वरूप स्थापित करते हैं। उन्होंने 'देशी नाम माला' नामक एक कोश भी लिखा है, जिससे अपभ्रंश-शब्दाभाण्डार का बहुत कुछ पता चल जाता है। इस प्रकार, अपभ्रंश-व्याकरण का प्रणयन तथा देशी शब्द-राशि का सञ्चय करके हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा के अध्ययन की प्रचुर सामग्री उपस्थित कर दी है। अपने 'काव्यानुशासन' में महाकाव्य का स्वरूप-निर्धारण करते हुए, 'अपभ्रंश भाषा निबद्ध सन्धिबद्ध अब्धि मथनादि' का और 'ग्राम्य अपभ्रंश भाषा निबद्ध अवस्कन्धबद्ध भीम काव्यादि' का उदाहरण देते हुए उन्होंने न केवल परिनिष्ठित अपभ्रंश में ही, अपितु लोक-प्रयुक्त ग्राम्य अपभ्रंश में भी महाकाव्य-निर्माण की सूचना दी है। इतना ही नहीं, 'काव्यानुशासन' से यह भी स्पष्ट है कि अपभ्रंश में कथा भी लिखी जाती थी।[1]

---

१. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अ० भा० अ०, पृ० ११-१२।

हेमचन्द्र के पश्चात् अपभ्रंश-वैयाकरणों में त्रिविक्रम का नाम आता है, जिनके 'प्राकृत शब्दानुशासन' या 'द्वादशपदी' के सूत्रों को लोगों ने भ्रमवश वाल्मीकि-रचित मान लिया था। हेमचन्द्र से भिन्न पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करने पर भी त्रिविक्रम के सूत्र उनके सूत्रों से बहुत अधिक साम्य रखते हैं। इस आधार पर सहज ही यह अनुमान होता है कि त्रिविक्रम ने निश्चय ही हेमचन्द्र को अपना आधार बनाया होगा। त्रिविक्रम ने भी हेमचन्द्र की ही तरह ११७ सूत्रों में अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है।[१] देशी शब्दों को उन्होंने अपने विभिन्न छह सूत्रों के अन्तर्गत कर दिया है, विशेषत: ३।४।७२ में। अपभ्रंश-प्रकरण में उन्होंने प्रायः हेमचन्द्रोद्धृत दोहे ही संस्कृत-छाया के साथ दे दिये हैं।[२]

सिंहराज का 'प्राकृत रूपावतार', लक्ष्मीधर की 'षड्भाषाचन्द्रिका' तथा अप्पय दीक्षित का 'प्राकृत मणिदीप' मुख्यतः त्रिविक्रम का ही अनुसरण करते हैं। भिन्नता केवल इतनी है कि त्रिविक्रम के सूत्रों का अनुक्रम प्रकरण के अनुसार परिवर्त्तित करके सिंहराज एवं लक्ष्मीधर ने अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं। अपने सूत्रों पर त्रिविक्रम की अपनी वृत्ति पाणिनीय सूत्रों पर 'काशिका वृत्ति' के समान है और सिंहराज तथा लक्ष्मीधर की वृत्तियाँ भट्टोजिदीक्षित की 'सिद्धान्त कौमुदी' के समान।[३] ग्रियर्सन ने त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज, अप्पयदीक्षित इत्यादि को प्राकृत-वैयाकरणों का पश्चिमी सम्प्रदाय स्वीकार किया है तथा प्राच्य सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक वररुचि को माना है।[४]

अपभ्रंश के सर्वाधिक प्रसिद्ध वैयाकरणों में हेमचन्द्र के पश्चात् मार्कण्डेय का नाम ही लिया जाता है। मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत सर्वस्व' के अपभ्रंश-प्रकरण की रचना में हेमचन्द्र, पुरुषोत्तम आदि अनेक पूर्ववर्त्ती अपभ्रंश वैयाकरणों के ग्रन्थों से सहायता ली थी। उन्होंने अपने ग्रन्थ के १७वें एवं १८वें पाद में विस्तृत रूप से अपभ्रंश का विवेचन किया है। यों तो अपभ्रंश के मुख्य भेदों में उन्होंने नागर, ब्राचड एवं उपनागर इन तीन की ही गणना की है, किन्तु ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने 'सूक्ष्म भेद व्यवस्थित' २७ भेद गिनाये हैं। उनमें

१. पं० जगन्नाथ राय शर्मा : अपभ्रंश दर्पण, पृ० २८।
२. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अ० भा० अ०, पृ० १२।
३. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अ० भा० अ०, पृ० १२।
४. इ० ए०, जनवरी १९२२, द अपभ्रंश स्तबकाज ऑफ् राम शर्मा।

बर्बर, आवन्त्य, मालव, आन्ध्र और वेव ये पाँच ऐसे भेद हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र नहीं मिलती। पिशेल ने मार्कण्डेय के अपभ्रंश-विवेचन को 'बहुत शुद्ध और ठीक-ठीक'[1] स्वीकार किया है।

अपभ्रंश के शेष वैयाकरणों में रामतर्कवागीश विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका 'प्राकृतकल्पतरु' मार्कण्डेय के 'प्राकृत-सर्वस्व' से बहुत अधिक साम्य रखता है। 'प्राकृत कल्पतरु' की तीसरी शाखा के दूसरे स्तबक में ३१ पद्यों में नागर अपभ्रंश के नियम हैं। तीसरे स्तवक में उन्होंने बताया है कि ब्राचड़ अपभ्रंश सिन्धुदेश में प्रसिद्ध है और उसकी सिद्धि नागर से हो जाती है। तदनन्तर ब्राचड़ की कुछ विशेषताएँ देकर उपनागर को पूर्ववर्णित दोनों भाषाओं का सङ्कर बताया है। फिर टाक्की विभाषा को उपर्युक्त तीनों भाषाओं के मिश्रण से टाक्की अपभ्रंश निर्धारित किया है। अन्त में नागर, ब्राचड़ आदि अपभ्रंश-भेद ही कुछ विशेषताओं के कारण पाञ्चालिका आदि २० अन्य भेदों में परिणत होते बताये गये हैं। उनके नाम हैं: पाञ्चालिका, मागधी, वैदर्भिका, लाटी, औड्री, कैकेयिका, गौड़ी, कौन्तली, पाण्डी, सैंहली (या सैप्पली), कलिङ्गजा, प्राच्या, आभीरिका, कर्णाटिका, मध्यदेश्या, गौर्जरी, द्राविड़ी, पाश्चात्यजा, वैतालिकी और काञ्ची। इनमें से अधिकांश नाम भारत के विभिन्न भू-विभागों के आधार पर हैं। इस गणना के पश्चात् तर्कवागीश ने लिखा है कि : 'तद्देशीय भाषा-पद सम्प्रयोग से और भी अधिक अपभ्रंश हो सकते हैं, परन्तु उनका विशेष उल्लेख इसलिए नहीं किया कि उन भेदों का निर्धारण कठिन है।' पिशेल ने तर्कवागीश का विवेचन मार्कण्डेय के पश्चात् किया है, किन्तु डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने उन्हें मार्कण्डेय से पूर्ववर्त्ती माना है।

---

१. रिचर्ड पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी अनु०, वि० रा० प०) पृ० ८७।

पाश्चात्य व्याकरणशास्त्र की परम्परा

आदिकाल

(५०० ई० पू० से १६०० ई०)

पाश्चात्य जगत में भाषा-विषयक प्राचीनतम उल्लेख ईसाइयों के धर्मग्रन्थ 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के 'बुक ऑफ जेनेसिस' में मिलता है। उसके दूसरे अध्याय में पशुओं के नामकरण[१] की तथा ग्यारहवें अध्याय में बेबेल के टावर[२] की कथाएँ वर्णित हैं। उन कथाओं से भाषा की उत्पत्ति तथा उसकी अनेकरूपता के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्तों की पुष्टि होती है। इस कारण, आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में उनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

यूरोप में भाषा-विषयक शास्त्रोपयोगी चिन्तन, यथार्थतः पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता सुकरात (४६९–३९९ ई० पू०) ने दार्शनिक विवेचन के क्रम में शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी विचार किया था। उनके सम्मुख विवेच्य भाषा के रूप में ग्रीक उपस्थित थी। उसके शब्द और अर्थ में नैसर्गिक सम्बन्ध का प्रमाण नहीं ढूँढ़ पाने के कारण, उन्होंने यह स्थापना दी थी कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध रूढ़ होता है। किन्तु, वे ऐसी भाषा की सम्भावना पर भी विश्वास करते थे, जिसमें दोनों का समवाय सम्बन्ध हो।

ग्रीस के दूसरे तत्त्ववेत्ता प्लेटो (४२९–३४७ ई० पू०) ने अपने 'क्रेटिलस' नामक ग्रन्थ में भाषा को निसर्गजात स्वीकार करते हुए वस्तु और उसके नाम

---

१. "And out of the ground the Lord God formed every beast of the field, and every fowl of the air; and brought them unto Adam to see what he would call them : and whatsoever Adam called every living creature, that was the name thereof. And Adam gave names to all cattle, and to the fowl of the air, and to every beast of the field."—Old Testament, Gen, 2 : 19–20.

२. Ibid, Gen. 11 : 1–19

को नित्य सम्बन्धी घोषित किया।[1] उनकी धारणा थी कि भाव या विचार भाषा के अन्तरङ्ग रूप होते हैं। भाषाशास्त्र के क्षेत्र में उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य ग्रीक ध्वनियों का घोष एवं अघोष के वर्गों में विभाजन था।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०) की भाषा-विषयक मान्यताएँ अपने गुरु से प्रायः भिन्न एवं अधिक स्पष्ट थीं। उन्होंने अपने 'ऑन इण्टरप्रिटेशन' शीर्षक निबन्ध में पारस्परिक मतक्य या समझौते को भाषोत्पत्ति का आधार माना था[2] और उसी के आधार पर शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को यादृच्छिक घोषित किया था। वर्ण को अविभाज्य ध्वनि के रूप में स्वीकार करते हुए उन्होंने उसके स्वर, व्यञ्जन एवं अन्तःस्थ तीन भेद किये थे। इसी तरह शब्दों को संज्ञा, क्रिया एवं सम्बन्धसूचक के तीन वर्गों में तथा वाक्य को उद्देश्य एवं विधेय के दो खण्डों में विभाजित किया था। इसके अतिरिक्त, कारक, लिङ्ग, अल्पप्राण, महाप्राण तथा मात्रा पर भी उन्होंने यत्किञ्चित् प्रकाश डाला था। इन्हीं कारणों से वे पाश्चात्य जगत में व्याकरण-शास्त्र के जन्मदाता के रूप में विख्यात हैं।[3]

उपर्युक्त तीनों ग्रीक विद्वान मुख्यतः दार्शनिक थे, इस कारण उनके भाषा-विषयक विवेचन में वैज्ञानिक निरीक्षण की अपेक्षा दार्शनिकता एवं कल्पना का ही प्राधान्य था।[4] दूसरे, उनका क्षेत्र ग्रीक भाषा तक ही सीमित था। इस कारण, उनके विवेचन में शास्त्रोपयोगी व्यापक दृष्टि का भी

---

१. "Plato apparantly believed 'that there was an outologically valid and compelling connection between a thing and its name."—John T. Waterman, Perspectives in Linguistics. p. 5,

२. "Aristotle, the father of grammar in the occidental world belived and taught that language was arrived at by convention or agreement."—Waterman; Perspectives in Linguistics. p. 6.

३. Ibid.

४. "Unlike the linguistic investigations of the Indians, which were mainly analytic, those of the Greeks were very largely speculative and philosophical."–L.M, Gray, Foundations of Language, p. 422–23.

अभाव था। फिर भी पाश्चात्य जगत के आदिभाषा-चिन्तकों के रूप में उनके नाम सदा स्मरणीय रहेंगे।

उपर्युक्त ग्रीक दार्शनिकों के पश्चात् व्याकरण के क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवालों में स्टोइक वर्ग (जिसकी स्थापना ३०८ ई० पू० में जेनो ने एथेन्स में की थी) के दार्शनिकों का स्थान आता है। सर्वप्रथम इसी वर्ग के दार्शनिकों ने ग्रीक व्याकरण को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। अरस्तू ने कारक-सम्बन्धों की जो संक्षिप्त चर्चा की थी, उनके नामकरण का श्रेय इसी वर्ग के दार्शनिकों को है। आज भी, अधिकांशतः उन्हीं के रखे नाम लैटिन अनुवाद के रूप में पाश्चात्य भाषा के व्याकरणों में प्रचलित हैं।

अलेक्जेण्डर का युग (३००-१५० ई० पू०) ग्रीक के अध्ययन का स्वर्ण-युग था।[१] उस युग में ग्रीक भाषा एवं साहित्य के विविध पक्षों का व्यापक एवं गम्भीर अध्ययन करने वालों में, एरिटार्कस होमर की काव्य-भाषा के समीक्षक के रूप में, एपोलोनियस डिस्कोलस ग्रीक की साहित्यिक भाषा के विवेचक तथा वाक्य-विचार के लेखक के रूप में तथा थ्रैक्स ग्रीक के प्रथम व्याकरण-लेखक के रूप में विख्यात हैं। थ्रैक्स ने अपने ग्रीक-व्याकरण की रचना कुल ४०० पंक्तियों से भी कम में ही की थी, जिसके आधार पर परवर्त्ती वैयाकरणों ने ग्रीक व्याकरण-शास्त्र का विशाल भवन निर्मित किया।[२] थ्रैक्स के व्याकरण में ग्रीक की ध्वनि तथा शब्द के स्वरूप-विवेचन एवं वर्गीकरण के अतिरिक्त लिङ्ग, वचन, विभक्ति, पुरुष, काल एवं वृत्ति का परिचय तो था ही, साथ ही कर्त्ता एवं क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी संक्षेप में सूक्ष्मतापूर्वक प्रकाश डाला गया था।

---

१. In many ways the Alexandrian Age of literature may be considered the high point of Greek linguistics studies."
—Waterman; Perspectives in Linguistics, p. 8.

२. "Dionysios Thrax, who wrote the first formal grammar of Greek; a book of less than four hundred lines, yet acknowledged to the Prototype for all subsequent conventional grammars of both Greek and Latin."
—Ibid.

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि उन ग्रीक विद्वानों ने, जिनकी बौद्धिक जिज्ञासा चरमोत्कर्ष तक पहुँची हुई थी, ग्रीक के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा की चर्चा तक करने की आवश्यकता नहीं समझी।[१] इस कारण ग्रीस के उत्थान-काल तक यूरोप की अन्यान्य भाषाएँ उपेक्षित ही पड़ी रहीं। किन्तु, बाद में ग्रीस से प्रभुता और सभ्यता का केन्द्र जब रोम पहुँचा, तो ग्रीक का महत्त्व गौण पड़ गया और उसके स्थान पर लैटिन के अध्ययन-विवेचन का युग प्रारम्भ हुआ। किन्तु, दुर्भाग्य से रोमन विद्वानों में न तो भाषा के मौलिक विवेचन की क्षमता थी और न उनकी दृष्टि ही भाषावैज्ञानिक थी। फलतः, लैटिन-व्याकरण के निर्माण में उन्होंने उसके स्वरूप पर स्वतन्त्र चिन्तन करने के बदले ग्रीक-व्याकरण के बने-बनाये ढाँचे को ही ज्यों-का-त्यों अपना लिया और उसी चौकठे में येन-केन प्रकारेण लैटिन को कसने का असफल प्रयास करते रहे। इस प्रकार, लैटिन के जितने व्याकरण निर्मित हुए, वे ग्रीक की नकल[२] होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टि से तो महत्त्वहीन थे ही, साथ ही वे लैटिन के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान देने में भी असमर्थ थे। उनमें स्वतन्त्र चिन्तन का नितान्त अभाव था। यहाँ तक कि उनमें ग्रीक पारिभाषिक शब्दों के जो लैटिन अनुवाद प्रस्तुत किये गये, वे भी प्रायः सफल एवं निर्दोष नहीं थे। उन सदोष पारिभाषिक शब्दों में से कई तो यूरोप की आधुनिक भाषाओं के व्याकरणों में आज भी ज्यों-के-त्यों प्रयुक्त हो रहे हैं।

लैटिन के प्रथम उल्लेख्य वैयाकरण फेरों (११६–२७ ई० पू०) थे, जिन्होंने २६ खण्डों में 'डि लिङ्गुआ लैटिना' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आज उसके ५ से १० खण्ड तक ही उपलब्ध हैं। अन्य प्रसिद्ध वैयाकरणों में चौथी शताब्दी के एलियस डोनेटस का नाम सर्वाधिक विख्यात है, जिनका 'आर्स माइनर' नामक ग्रन्थ, लैटिन के सामान्य ज्ञान के लिए मध्ययुग तक

---

१. "Oddly enough, the Greeks, whose intellectual curiosity was well nigh insatiable, showed almost no interest in any language other than their own."—Ibid.

२. (a) The Romans constructed Latin Grammars on the Greek modal'—Bloomfield, Language, p. 6.

(b) As in so many other areas of learning and culture, the Romans were content to accept the legacy of Greece. Their dictionaries and grammers are all cast in traditional Grecian mold."

—Waterman, Perspectives in Linguistics, p. 9.

एक आदर्श ग्रन्थ माना जाता रहा। उसकी अतुलनीय लोकप्रियता का बहुत कुछ अनुमान इस एक तथ्य से ही लगाया जा सकता है कि मध्ययुग में जब मुद्रण-कार्य के लिए लकड़ी की टाइप का उपयोग प्रारम्भ हुआ, तो उस टाइप से सर्वप्रथम मुद्रित होने का गौरव उसी ग्रन्थ को प्राप्त हुआ। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त, क्विण्टीलियन-कृत 'इंस्टीच्यूटियो ओरिटोरियो' की भी अच्छी ख्याति हुई, किन्तु उसका सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कारशास्त्र से था।

चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक आते-आते रोमन साम्राज्य के विघटित एवं नष्टप्राय हो जाने के कारण वहाँ का वातावरण लेखकों एवं विद्वानों के अनुकूल नहीं रह गया। फलतः, वहाँ के लेखक एवं विद्वान नयी राजधानी कांस्टेटिनेपुल में जाकर बसने लगे। वहीं प्रीसियन (५१२–६० ई०) ने मध्ययुग के सर्वाधिक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण लैटिन व्याकरण 'ग्रामेटिकल केटेगोरीज' की रचना की, जिसके प्रारम्भिक १८ खण्डों में शब्द-विचार एवं अन्तिम दो खण्डों में वाक्य-विचार पर प्रकाश डाला गया था। आधुनिक युग के पूर्व तक लैटिन के व्यवस्थित एवं गम्भीर ज्ञान के लिए वही ग्रन्थ सर्वाधिक प्रामाणिक एवं उपयोगी माना जाता रहा। उसके अतिरिक्त अलेक्जेण्डर डि विल्ला डेइ द्वारा सन् ११९९ ई० में लिखित 'डॉक्ट्रिनाले प्यूरोरम' की भी पाठ्यग्रन्थ के रूप में अच्छी ख्याति हुई।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यूरोप में सर्वप्रथम ग्रीक का और तदनन्तर लैटिन का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। ई० सन् के पूर्व ही से उनके व्याकरण भी लिखे जाने लगे थे। किन्तु, यूरोप की अन्यान्य भाषाएँ तबतक उपेक्षित बनी रहीं जबतक उन्हें ईसाई पादरियों का सम्पर्क नहीं प्राप्त हुआ। ईसा के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से उन धर्मप्रचारकों ने सुदूर देशों की यात्रा की, वहाँ की भाषाओं का अध्ययन किया तथा उनमें अपने धर्म-ग्रन्थ बाइबल का अनुवाद प्रस्तुत किया।[१] बाइबल का गॉथिक अनुवाद चौथी शताब्दी में,

१. "The spread of christianity had as one of its secular benifits a vast widening of linguistic horizons. In accordance with christ's commission to the Apostles to go into all the world and preach the Gospel to everyc reature, missionaries ventured far beyond the boundries of the Greco Roman world. Translating the Scriptures into the vernaculars."—Waterman, Perspectives in Linguistics, p. 11

अर्मेनियना अनुवद पाँचवीं शताब्दी में तथा चर्च स्लाव्रोनिक अनुवाद नवीं शताब्दी में हुआ था। अनुवाद के क्रम में ही उन पादरियों ने भिन्न-भिन्न भाषाओं के कोषों एवं व्याकरणों की भी रचना की। किन्तु, उनके व्याकरण लैटिन व्याकरण की नकल होने के कारण भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रायः महत्त्वहीन थे।[१]

मध्यकाल

(सन् १६०० से १८०० ई०)

सोलहवीं शताब्दी के पूर्व, जबतक मुद्रण-कला का विकास नहीं हुआ था;, समग्र यूरोप में धर्म, सभ्यता, साहित्य एवं राजनीति की प्रमुख भाषा के रूप में लैटिन् का ही प्राधान्य था। उस समय तक ग्रीक एवं लैटिन के अतिरिक्त अन्यान्य यूरोपीय भाषाओं के अध्ययन की दिशा में जो यत्किञ्चित् प्रयत्न हुए भी थे, वे व्यावहारिक रूप से भले ही उपयोगी सिद्ध हुए हों, किन्तु उनका भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं था। सोलहवीं शताब्दी में जब मुद्रण-कला का विकास हुआ, तो एकाएक यूरोपीय भाषाओं के व्याकरणों की बाढ़-सी आ गयी। किन्तु, वे सबके-सब लैटिन व्याकरण के साँचे में ढले होने के कारण दोषग्रस्त थे;[२] क्योंकि लैटिन व्याकरण स्वयं ग्रीक व्याकरण की नकल होने के कारण अवैज्ञानिक था। इस प्रकार, मध्ययुग के अन्त तक यूरोपीय वैयाकरण सिद्धान्त एवं प्रविधि, दोनों ही दृष्टियों से ग्रीक वैयाकरणों के पदचिह्नों का ही

---

२. "Some even compiled grammars and dictionaries of exotic languages......These works can be used only with caution, for the authors, untrained in the recognition of foreign speech-sounds, could make no accurate record, and knowing only the terminology of Latin Grammar, distorted their exposition by fitting it into this frame."
—Bloomfield : Language, p. 7.

१. "They stated the grammatical features of lauguage in philosophical terms and took no account of the structural difference between languages but obscured it by forcing their descriptions into the scheme of Latin grammar'.—Bloomfield : Laoguage, p. 8.

अनुसरण करते रहे। फलतः, पाश्चात्य व्याकरणशास्त्र ई० सन् के पूर्व जहाँ तक पहुँचा था, मध्ययुग के अन्त तक भी वहीं रुका रहा।[१]

व्याकरण की तरह ही भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में भी मध्ययुग तक कोई प्रगति नहीं हुई। इसका सबसे प्रधान कारण यह था कि पाश्चात्य विद्वान आरम्भ से ही अपने मूल धर्मग्रन्थ की भाषा हिब्रू को संसार की सभी भाषाओं की जननी मानते आ रहे थे।[२] इस मान्यता के कारण वे लोग मध्य युग तक यूरोपीय भाषाओं के शब्दों का मूल हिब्रू में ढूँढ़ने का निष्फल प्रयत्न करते रहे। उनका यह भ्रम तबतक दूर नहीं हुआ, जबतक उन्हें संस्कृत भाषा एवं व्याकरण का परिचय प्राप्त नहीं हो गया।[३]

१८वीं शताब्दी :

यों तो यूरोपीय भाषाओं का वास्तविक वैज्ञानिक अध्ययन १९वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ, किन्तु उसकी सुनिश्चित पीठिका १८वीं शताब्दी में ही प्रस्तुत हो चुकी थी। १८वीं सदी में भी कुछ तो ऐसे विद्वान हुए, जो ग्रीक दार्शनिकों की तरह अनुमान तथा कल्पना के सहारे भाषोत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना करते रहे, जिनका कोई पुष्ट वैज्ञानिक आधार नहीं था, उदाहरणार्थ : रूसो का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (सोशल कण्ट्रैक्ट थिअरी) तथा कोण्डिलक का भावाभिव्यञ्जकतावाद (पुहपुह थिअरी)। किन्तु, दूसरी ओर विद्वानों का एक ऐसा भी वर्ग था, जिसने भाषाओं के प्रत्यक्ष

---

१. "However, as far as grammatical theory and practice are concerned the western world followed faithfully the paths marked out by the Greeks. Although we must mention briefly certain achievements of the late Middle Ages and Early Modern Period, we shall find little actually new in the study of language until we reach the eighteenth, or even indeed, the nineteenth century."

—Waterman ; Perspectives in Linguistics, p. 10.

२. (a) Bloomifield, Language, p. 9; (b) Jesperson : Language, p. 21

३. 'It was the discovery of Sanskrit that was the real turning point in the history of lingustics'. 0. Jespersen : Language, p. 33.

निरीक्षण एवं वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर ऐसी शोधपूर्ण स्थापनाएँ दीं, जिनसे पहली बार भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन को उचित दिशा-निर्देश मिला। इस वर्ग के विद्वानों में गॉट फ्रेड विल्हेल्म फ़ान लेबिनिज़, जोहन गॉट फ्रेड फ़ान हर्डर तथा ज़ेनिश के नाम उल्लेखनीय हैं।

लेबनिज (सन् १६४६–१७१६ ई०) की ख्याति यों तो मुख्य रूप से दार्शनिक तथा गणितज्ञ के रूप में ही है, किन्तु भाषाशास्त्र के क्षेत्र में भी उनके कार्यों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। उनकी रुचि मुख्यतः भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की खोज तथा परिवारों की स्थापना की ओर थी। उन्होंने उस समय तक प्रचलित इस भ्रान्त धारणा का, कि संसार की सभी भाषाएँ हिब्रू से विकसित हैं, विरोध किया तथा विद्वानों को भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर पूर्वाग्रह-रहित होकर स्वतन्त्र शोध करने को प्रोत्साहित किया।[1] उन्होंने स्वयं यूरोप, एसिया तथा इजिप्ट की भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जो सन् १७१० ई० में बर्लिन अकादमी के स्मृति-अङ्क में प्रकाशित हुआ। उन्होंने अपने समकालीन विद्वानों का ध्यान जीवित भाषाओं के अध्ययन की ओर भी आकृष्ट किया। उन्हीं के अनुरोध से रूस की जारीना कैथेराइन द्वितीय ने पी० एस० पल्लस (सन् १७४१-१८११ ई०) से एशिया और यूरोप की प्रायः २०० भाषाओं के नमूने का एक सङ्ग्रह तैयार कराया था, जिसमें उन भाषाओं के २८५ शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। लेबनिज ने रूस के जार पीटर महान को भी रूसी साम्राज्य में प्रचलित सभी भाषाओं का अध्ययन कराने तथा उनके कोष एवं व्याकरण तैयार करवाने की प्रेरणा दी थी। वे शिक्षा एवं साहित्य के माध्यम के रूप में जनभाषा के प्रयोग के प्रबल हिमायती थे। उन्होंने स्वयं भी कई निबन्ध जर्मन भाषा में लिखकर प्रकाशित कराये थे, जबकि उन दिनों लैटिन एवं फ्रेञ्च ही साहित्यिक माध्यम की सर्वमान्य भाषाएँ थीं।

---

१. "Leibniz realised that scholars would have to abandon their sterile practice of trying to relate all languages to biblical Hebrew, Instead he encouraged his contemporaries to examine and describe extant languages, and, on the basis of mutually shared features, seek to establish valid genealogies."—Watcrman, Perspectives in Lingus-tics, p. 14.

दूसरे विद्वान जोहन गॉट फ्रेड हर्डर (सन् १७४४-१८०० ई०) भी अपने युग के गम्भीर चिन्तकों में से थे। उन्होंने यद्यपि भाषा के वैज्ञानिक अनुसन्धान की दिशा में कोई विशेष महत्त्व अर्जित नहीं किया था, किन्तु भाषाविज्ञान के उत्थान का पथ प्रशस्त करने में समुचित योगदान दिया था। उन्होंने सन् १७७२ ई० में बर्लिन अकादमी के तत्त्वावधान में पुरस्कार प्रतियोगितार्थ घोषित 'भाषा की उत्पत्ति' शीर्षक विषय पर एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया था, जिसमें उन्होंने भाषा के ईश्वर-प्रदत्त होने की धारणा का खण्डन करते हुए अपनी यह मान्यता उपस्थित की थी कि भाषा न तो ईश्वर-प्रदत्त है और न उसे मनुष्य ने अपनी इच्छा से रचा है, अपितु वह आवश्यकता के परिणामस्वरूप मनुष्य की प्रकृति से उसी प्रकार सामान्य एवं स्वाभाविक रूप से निकल पड़ी; जिस प्रकार गर्भ से शिशु।[१] इस सम्बन्ध में उनका तर्क था कि यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती, तो उसमें सर्वत्र एकरूपता और यौक्तिकता होती, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है।[२]

भाषा पर स्वतन्त्र दृष्टि से चिन्तन करने वाले १८वीं शताब्दी के विद्वानों में डी० जेनिश का अपना विशिष्ट स्थान है। उन्होंने सन् १७९४ ई० में बर्लिन अकादमी द्वारा प्रतियोगितार्थ घोषित 'पूर्ण भाषा का आदर्श' शीर्षक विषय पर एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखकर प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था। उसके दो वर्ष बाद उनका निबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। उस ग्रन्थ में जेनिश ने कई मौलिक स्थापनाएँ दी थीं। उन्होंने प्रतिपादित किया था कि भाषा में मनुष्य का समस्त बौद्धिक एवं नैतिक निचोड़ अभिव्यक्त होता है; इसलिए जङ्गली या असभ्य लोगों की भाषा स्थूल और रुक्ष होती है तथा

---

१. "Language was not deliberately framed by man, but sprang of necessity from his innermost nature, the genesis of language according to him is due to an impulse similar to that of the nature enebryo pressing to be borne."—Jespersen : Language, p. 27.

२. 'Herder's strongest argument is that if language had been framed by God and by Him instilled into the mind of man, we should expect it to be much more logical, much more inclined with pure reson than it is an actual matter of fact."—Ibid.

सभ्य लोगों की भाषा कोमल और पारिमार्जित।[१] उनकी दूसरी मान्यता यह थी कि सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में भाषा की सार्थकता केवल इस बात में है कि वह क्षण-विशेष की माँग तथा आवश्यकता के अनुरूप हमारे भाव एवं विचारों को दूसरों तक सफलतापूर्वक पहुँचा दे।[२] जेनिश ने आदर्श भाषा के लिए चार आवश्यक गुण माने थे—सम्पन्नता, ऊर्जा, स्पष्टता और सुश्राव्यता। उन्होंने एक बात यह भी बतायी थी कि किसी भाषा में उत्कृष्ट साहित्य का होना या न होना पूर्णतः आकस्मिक वस्तु है; अतः भाषा का अध्ययन उसके साहित्यिक उत्कर्ष को पृथक् रख कर करना उचित है।[३] इस प्रकार, जेनिश ने भाषा के सम्बन्ध में जिन तथ्यों का उद्घाटन किया, वे सर्वथा नये थे और अभी तक विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ था। किन्तु, उन दिनों यूरोपीय भाषाशास्त्री भाषा सम्बन्धी अन्य समस्याओं के समाधान में ही उलझे हुए थे, इस कारण जेनिश के विचारों की ओर उनका ध्यान नहीं गया और न उन लोगों ने उन्हें कोई महत्त्व ही दिया।

पाश्चात्य व्याकरणशास्त्र या भाषाशास्त्र के इतिहास में १८वीं शताब्दी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी संस्कृत की खोज।[४] संस्कृत भाषा एवं

---

१. "In language, the whole intellectual and moral essence of a man is to some extent revealed. 'Speak and you are', is rightly said by the oriental. The language of the natural man ls savage and rude, that of the cultured man is elegant and polished."

—Jespersen : Language, p. 30.

२. "Language as the organ for communicating our ideas and feelings accomplishes its end if it represents idea and feelings according to the actual want or need of the mind at the given moment."—Ibid.

३. "It depends to a great extent on accidental circumatances whether a lauguage has been or has not been used in elevated literature, and its merits should be estimated, so far as this is possible, independently of the perfection of its literature."—Ibid.

४. "Shortly before the close of the eighteenth century, the linguistic importance of Sanskrit had been realised and with this recognition, the science of linguisticcs really began."

—L. N. Gray; 'Foundations of Language', p. 435.

व्याकरणशास्त्र का परिचय पाने के पूर्व भाषाओं के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों के द्वारा किये गये सारे प्रयत्न भ्रामक कल्पनाओं एवं अन्ध मान्यताओं से ग्रस्त थे। फलतः, उनके समस्त निष्कर्ष सदोष तथा सभी स्थापनाएँ आधारहीन बनी हुई थीं। वे मानों किसी अँधेरी कोठरी में उस काली बिल्ली को ढूँढ़ लेने का प्रयास कर रहे थे, जो वहाँ नहीं थी। किन्तु, १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कतिपय प्रतिभाशाली विद्वानों के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप जब पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों को संस्कृत भाषा का परिचय प्राप्त हुआ, तो उनकी आँखें अनायास खुल गयीं और उसके आलोक में उन्हें पहली बार अपने पूर्ववर्त्ती विद्वानों के द्वारा दी गयी स्थापनाओं तथा किये गये कार्यों की निस्सारता का बोध हुआ।[१] आगे चलकर जब उनकी दृष्टि संस्कृत के विस्मयविमुग्धकारी व्याकरणशास्त्र पर पड़ी, तो उनके लिए मानों ज्ञान के एक नये विश्व का द्वार ही खुल गया। फिर तो, पाश्चात्य देशों में संस्कृत के अध्ययन की होड़-सी लग गयी और उक्त दिशा में जैसे-जैसे उनका अध्ययन विगाढ़ एवं विस्तीर्ण होता गया, वैसे-वैसे उनके हृदय में भारतीय मनीषा एवं भारतीय मनीषियों के प्रति श्रद्धा एवं पूजा के भाव भरते गये। संस्कृत के परिचय ने पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों के चिन्तन की दिशा ही बदल दी, जिससे वे पुनः एक बार नये सिरे से ग्रीक, लैटिन, हिब्रू आदि प्राचीन भाषाओं के पुनर्मूल्याङ्कन में जुट गये। यहीं से भाषाओं के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन का वास्तविक सूत्रपात हुआ।

भाषाओं के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिए संस्कृत के ज्ञान की अनिवार्यता एवं महत्त्व की ओर पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट करने वाले प्रारम्भिक यूरोपीय विद्वानों में फ्रांसीसी पादरी कुर्दो एवं अँगरेज विद्वान सर विलियम जोन्स के नाम सर्वाधिक विख्यात हैं।

कुर्दो ने सन् १७६७ ई० में फ्रांसीसी प्रतिष्ठान के सम्मुख अपना एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया था, जिसमें उन्होंने संस्कृत तथा लैटिन के

---

१. "It was the discovery of Sanskrit that was the real turning point in the history of linguistics...It must be said that the first acquaintance with this language gave a mighty impulse to linguistic studies and exerted a lasting influence on the way in which most European Languages were viewed by scholars."

—Jespersen : Language. p. 33.

कतिपय शब्दों की तुलना करते हुए उनके पारस्परिक साम्य पर प्रकाश डाला था। इसके अतिरिक्त, उन्होंने दोनों भाषाओं में 'अस्' धातु के विभिन्न रूपों की भी तुलना की थी, और उनमें पाये जानेवाले साम्य के आधार पर उन्हें एक ही परिवार से सम्बद्ध होने का अनुमान किया था। किन्तु, दुर्भाग्य से ४० वर्षों तक वह निबन्ध प्रकाशित नहीं हो सका। उस बीच अन्यान्य विद्वान भी अपने स्वतन्त्र अनुसन्धानों से उक्त निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे तथा उसे सर्वविदित बनाकर प्रथम यश के भागी बन चुके थे।[१] उन विद्वानों में सर विलियम जोन्स सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इसीलिए, इस सम्बन्ध में जो श्रेय कुर्दो को मिलना चाहिए था, वह सर विलियम जोन्स को प्राप्त हुआ।

अँगरेज विद्वान सर विलियम जोन्स कलकत्ता हाई कोर्ट के न्यायाधीश थे। उन्होंने वहाँ रह कर बड़े परिश्रम से संस्कृत सीखी थी और ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन यूरोपीय भाषाओं के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन किया था। अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप, वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे थे, उसे २ फरवरी, १७८६ ई० में कलकत्ता की रॉयल एसिएटिक सोसायटी की स्थापना के अवसर पर विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था कि "संस्कृत का पुरातनत्त्व चाहे जो हो, इसका गठन विस्मयोत्पादक है; जो ग्रीक से भी अधिक पूर्ण, लैटिन से भी अधिक पुष्ट तथा दोनों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है। फिर भी, इन तीनों के धातुओं एवं व्याकरणिक रूपों में इतनी अधिक समता है कि कोई भी भाषाशास्त्री इनका अध्ययन इस विश्वास से अलग होकर नहीं कर सकता कि इनका विकास किसी एक ही स्रोत से हुआ है, जो अब लुप्त हो चुका है। इसी तरह, गॉथिक, केल्टिक तथा प्राचीन फारसी का भी संस्कृत के साथ प्रायः वैसा ही पारिवारिक सम्बन्ध है।" अनेक विद्वानों की मान्यता है कि यूरोप में सही अर्थ में भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का प्रारम्भ जोन्स की इसी घोषणा से हुआ।[२] यों तो, जोन्स के पूर्व और भी कई विद्वानों ने

---

१. Jespersen : Language, p. 33.

२. "It is infact customary to date the beginning of modern comparative grammar in a general way from a statement contained in a speech which Jones delivered before the 'Asiatick Society' on February 2, 1786."

—Waterman : Perspectives in Linguistics, p. 16.

उक्त भाषाओं में समानता की चर्चा की थी, किन्तु किसी ने भी जोन्स की तरह सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर पूर्ण विश्वास के साथ यह नहीं कहा था कि ये भाषाएँ किसी एक ही स्रोत से उद्भूत हैं, जो स्रोत अब लुप्त हो चुका है।

यूरोप के प्रारम्भिक संस्कृतज्ञ विद्वानों में हेनरी थॉमस कोलब्रुक (सन् १७६५–१८३७ ई०) का नाम भी उल्लेखनीय है। वे संस्कृत के अतिरिक्त, प्राकृत, अरबी, फारसी आदि अनेक भाषाओं के विद्वान थे। उन्होंने कई विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखकर जोन्स के कार्य को आगे बढ़ाया था।

संस्कृत के परिचय ने पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों की इस परम्परागत अन्ध धारणा को सदा के लिए दूर कर दिया कि "हिब्रू संसार की सभी भाषाओं की जननी है।" इस तरह, एक बार भाषाशास्त्र के क्षेत्र से जब धर्म एवं अन्ध-विश्वास का आधिपत्य समाप्त हो गया, तो उस नवालोक में भाषाओं के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के नये मार्ग स्वतः उद्भासित होने लगे।[१] अब विद्वानों की समझ में अनायास यह बात आने लगी कि भाषा की धारा निरन्तर प्रवहमाण एवं परिवर्त्तनशील रहती है, इसीलिए, सभी भाषाओं का अपना-अपना इतिहास होता है। अतः, भाषाओं की वंश-परम्परा एवं उनके विकास-क्रम का व्यवस्थित एवं तुलनात्मक अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है। इस प्रकार, संस्कृत के ज्ञान ने पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों की चिन्ताधारा में आमूल परिवर्त्तन ला दिया तथा भाषा के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन को पहली बार एक सर्वथा निर्दोष वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।[२] यहीं से तुलनात्मक भाषाशास्त्र के आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ।

---

१. "Once the authority of religion and tradition had been successfully challanged, the way was clear to approach the study of language in the new perspectives."

—Waterman : Perspectives in Linguistics, p. 16.

२. "The discovery of Śanskrit disclosed the possibility of a comparative study of language."

—Bloomfield : Language, p. 11.

आधुनिक काल

(सन् १८०० से वर्त्तमान समय तक)

१९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध :

१९वीं शताब्दी तुलनात्मक व्याकरणशास्त्र के निर्माण की शताब्दी थी। उस शताब्दी में भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन को सर्वप्रथम वैज्ञानिक प्रविधि एवं शास्त्रीय रूप प्रदान करने वाले यूरोपीय संस्कृतज्ञों में जर्मनी के फ्रेडरिख फान श्लेगेल (सन् १७७२–१८२९ ई०) का नाम अग्रगण्य है।[1] उन्होंने पेरिस जाकर एक युद्धबन्दी सैनिक अलेक्जेण्डर हैमिल्टन से (जो कई वर्षों तक भारत में रहने के कारण संस्कृतज्ञ बन गये थे), संस्कृत सीखी थी। फिर, उन्होंने संस्कृत के काव्य, दर्शन एवं व्याकरण का अध्ययन किया। फलतः, वे भारतीय भाषा एवं मनीषा के प्रबल प्रशंसक बन गये थे। उनका एतद्विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऑन द लैङ्ग्वेज ऐण्ड द विजडम ऑफ द इण्डियन्स' सन् १८०८ ई० में प्रकाशित हुआ था। यों तो उनके पूर्व कुर्दो, जोन्स आदि कई विद्वान संस्कृत के साथ ग्रीक, लैटिन आदि के पारिवारिक सम्बन्ध की घोषणा कर चुके थे, किन्तु फिर भी अभी अनेक विद्वानों के मन में इस तथ्य की सत्यता के प्रति सन्देह बना ही हुआ था। श्लेगेल ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक संस्कृत, ग्रीक, लैटिन एवं जर्मन के अनेक ऐसे शब्दों का, जिनमें ध्वनि एवं अर्थ दोनों का साम्य था, सङ्ग्रह प्रस्तुत कर लोगों के सन्देह का निराकरण किया तथा यूरोप में संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित किया। वे संस्कृत के साथ यूरोप की प्राचीन भाषाओं के व्याकरण के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में भी विद्वानों को प्रेरित करने वालों में अग्रणी थे। इसी प्रकार संसार की भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का भी प्रथम प्रयास उन्होंने ही किया था। उन्होंने संसार की भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा था—१. संस्कृत एवं सगोत्र भाषाओं का वर्ग और २. इतर भाषाओं का वर्ग।

फ्रेडरिख फान श्लेगेल के अग्रज अडोल्फ श्लैगेल (सन् १७६७-१८४५ ई०) भी अपने भाई की तरह ही संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित एवं भाषाशास्त्री थे।

१. "He is the first to speak of comparative grammar but like Moses, he only looks into this promised land without entering it."—Jespersan : Languages, p. 34.

उन्होंने संस्कृत तथा सगोत्र भाषाओं को संयोगात्मक एवं वियोगात्मक वर्गों में विभक्त किया था। आगे चलकर, इसी आधार पर भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण की परम्परा चली।

श्लेगेल बन्धुओं के पश्चात् यूरोपीय भाषाशास्त्र के इतिहास में उन तीन महान भाषाविज्ञानियों के नाम आते हैं, जिनसे भाषाविज्ञान के आधुनिक युग का प्रारम्भ माना जाता है तथा इसीलिए जो आधुनिक भाषाविज्ञान के 'संस्थापकत्रय' के रूप में विख्यात हैं, उनमें महत्त्व की दृष्टि से सबसे पहला नाम डेन विद्वान रैस्मस क्रिश्चियन रास्क का, दूसरा जर्मन विद्वान याकोव ग्रिम का और तीसरा फ्रान्त्स बॉप का आता है। इन विद्वानों के अनुसन्धानों के आलोक में भाषा सम्बन्धी अनेक प्राचीन निष्कर्ष भ्रामक प्रमाणित हुए तथा ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन को ठोस आधार एवं वैज्ञानिक प्रविधि प्राप्त हुई, जिससे भाषा विज्ञान के क्षेत्र में एक नये युग का आविर्भाव हुआ।[१]

डेन विद्वान रैस्मस क्रिश्चियन रास्क (सन् १७८७-१८३२ ई०) का जन्म एक साधारण किसान परिवार में हुआ था। वे अपनी बाल्यावस्था से ही भाषा एवं व्याकरण के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे। उन्होंने सर्वप्रथम आइसलैण्ड की भाषा का अध्ययन करके 'आइसलैण्डिक ग्रामर' की रचना की, जो सन् १८११ ई० में प्रकाशित हुआ। उसके प्रकाशित होते ही वे एक श्रेष्ठ वैयाकरण के रूप में विख्यात हो गये। यूरोपीय भाषाओं के व्याकरणों में वह पहला व्याकरण था, जो पूर्णतः वैज्ञानिक विवेचनात्मक पद्धति से लिखा गया था। तदनन्तर सन् १८१४ ई० में उन्होंने 'डेनिश एकेडेमी ऑफ साइन्स' द्वारा प्रतियोगितार्थ घोषित 'आइसलैण्ड की भाषा प्राचीन नॉर्स की उत्पत्ति का अनुसन्धान' पर अपना एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने

---

१. "Through their efforts so much new light had been shed on a number of linguistic phenomena that...most of what had been written about etymology and kindered subjects in the eighteenth century seemed to the new school utterly antiquated, mere fanciful vagaries of incompetent blunders, where as now scholars had found firm ground on which to raise a magnificent structure of solid science."—Jespersen : Language, p. 63.

आधुनिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धान्त एवं प्रविधि-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक तथ्यों का उद्घाटन किया था। उन्होंने सिद्ध किया था कि किसी देश की सभ्यता, संस्कृति एवं इतिहास के ज्ञान के लिए धर्म, रीति या अन्य संस्थाओं के अध्ययन की अपेक्षा भाषा अधिक उपयोगी साधन है; क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक स्थिर है। उनकी दूसरी मान्यता थी कि भाषाओं में पारस्परिक सम्बन्ध-स्थापनार्थ उनके व्याकणिक स्वरूप का तथा सर्वनामों एवं संख्यावाची शब्दों का विशेष महत्त्व है; क्योंकि वे भाषा के मौलिक अंश हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम जेन्द (अवेस्ती) को आर्य परिवार में उचित स्थान दिलाया था तथा फीनी एवं उग्री भाषाओं का प्रामाणिक वर्गीकरण किया था। वे यहाँ भी आये थे और सर्वप्रथम उन्होंने ही द्रविड़ (मालावारिक) भाषाओं को संस्कृत से भिन्न परिवार का बतलाया था। उन्होंने आइसलैण्डी के अतिरिक्त फ्रीजी, लाप, ऐङ्ग्लोसैक्सन आदि कई अन्यान्य भाषाओं का व्याकरण लिखा था। सन्निकर्ष-जनित स्वर-परिवर्त्तन (उमलाउत) की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रथम श्रेय उन्हीं को है।

भाषाविज्ञान के क्षेत्र में रास्क की देन अमूल्य होने पर भी उन्हें जितना यश मिलना चाहिए था, नहीं मिला। इसका प्रधान कारण यह था कि उन्होंने अपने निबन्ध डेनी भाषा में लिखे थे, जिसका अन्य देशों में प्रचार नहीं था। यदि डेनी के बदले उन्होंने जर्मन या फ्रेञ्च को अपनाया होता, तो निश्चय ही, वे आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक माने जाते, जो श्रेय आगे चलकर ग्रिम को प्राप्त हुआ।[१]

याकोब ग्रिम (सन् १७८५—१८६३ ई०) का जन्म जर्मनी के एक वकील परिवार में हुआ था। इस कारण वे प्रारम्भ में कानून के ही छात्र रहे। किन्तु, आगे चलकर वे भाषाओं के शास्त्रीय अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। पहले उन्होंने जर्मन एवं सगोत्रीय भाषाओं का अध्ययन किया और 'देवभाषा व्याकरण' (ड्वेत्शे ग्रामेटिक) नामक जर्मन-भाषाओं के एक तुलनात्मक व्याकरण की रचना की, जो सन् १८१९ ई० में प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने रास्क द्वारा उपस्थापित सामग्री का विस्तारपूर्वक उपयोग किया था। सन् १८२२ ई० में उस ग्रन्थ का

१. "Had he written in German or French rather than in Danish, and had the scope of his essay not been so limited, he might well have earned fame as the founder of modern linguistics."—Ibid.

दूसरा संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें वह ध्वनि-नियम भी था, जो आगे चलकर ग्रिम-नियम के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका वास्तव में पता लगानेवाले प्रथम व्यक्ति रास्क थे।

ग्रिम के पूर्व तक प्रायः प्राचीन भाषाओं को ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था। ग्रिम ने हुम्बोल्ट की तरह ही यह प्रतिपादित किया कि साधारण-से-साधारण भाषा या बोली का भी विज्ञान की दृष्टि से वही महत्त्व है, जो किसी समृद्ध भाषा का होता है, इसलिए जिस लगन एवं तत्परता से इञ्जील की भाषा हिब्रू का या ग्रीक एवं लैटिन का अध्ययन होता है, उसी प्रकार वर्त्तमान भाषाओं एवं बोलियों का भी अध्ययन होना चाहिए। उन्होंने भाषाओं के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन पर विशेष बल दिया। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में स्वर-क्रमादि के लिए उनके द्वारा गढ़े गये अनेक पारिभाषिक शब्द यथा 'उमलाउट', 'एवलाउट' आदि आज भी ज्यों-के-त्यों प्रचलित हैं। वे एक भाषा के व्याकरणिक ढाँचे को दूसरी भाषाओं पर आरोपित किये जाने की प्रथा के प्रबल विरोधी थे तथा भाषा के विवेचन में निर्देश की अपेक्षा वर्णन को ही अधिक महत्त्व देते थे।[१] यों तो उनके द्वारा स्थापित नियमों एवं निष्कर्षों में अनेक भ्रान्तियाँ थीं, साथ ही उन पर रास्क आदि कई पूर्ववर्त्ती विद्वानों के अध्ययन की गहरी छाप थी; किन्तु उनकी शोध-पद्धति की वैज्ञानिकता पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे १९वीं शताब्दी के शीर्षस्थ भाषाविज्ञानियों में अन्यतम थे।[२]

आधुनिक भाषाविज्ञान के संस्थापकत्रय में रास्क एवं ग्रिम के पश्चात् तीसरा नाम बॉप (सन् १७९१–१८६७ ई०) का आता है। जस्पर्सन के

---

१. "Grimm emphasises his wish to describe not prescribe; he is interested only in discribing that which has grown naturally, and he advises every native-born German to forsake the pedanty of schoolmaster's rules and speak the language as he learned it at his mother's knee."

—Ibid, p. 20.

२. "Seen in proper pérspective, however, both his methods of research and his findings were sound enough to ensure his status as one of the greatest of the nineteenth century linguists."—Ibid.

अनुसार बॉप उक्त दोनों ही से श्रेष्ठ विद्वान थे। उनके समय तक विद्वानों के मन में यह बात घर कर गयी थी कि संस्कृत-ज्ञान के विना यूरोपीय भाषाओं का व्यवस्थित तुलनात्मक अध्ययन सम्भव नहीं है। इसीलिए, बॉप ने पेरिस जाकर संस्कृत सीखी थी और उसपर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। रास्क एवं ग्रिम उस समय तक ध्वनियों के अध्ययन को पर्याप्त विकसित कर चुके थे, किन्तु शब्द या पद के अध्ययन की दिशा में अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया था। बॉप ने रूपविज्ञान को ही अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनाया। उनकी प्रथम पुस्तक 'धातु प्रक्रिया' सम्बन्धी थी, जो सन् १८१६ ई० में प्रकाशित हुई। विद्वानों का मत है कि बॉप की उस पुस्तक ने तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव को पूर्णतः सुदृढ़ बना दिया।[१] सन् १८२० ई० में उसका परिवर्द्धित संस्करण निकला, जिसमें संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा ट्यूटॉनिक भाषाओं का विश्लेषणात्मक पद्धति से तुलनात्मक अध्ययन किया गया था। सन् १८२२ ई० में वे बर्लिन अकादमी के प्रोफेसर नियुक्त किये गये। बॉप का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृत, जेन्द, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनी, गॉथी एवं जर्मन भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' था, जिसका प्रकाशन सन् १८३३ से १८५२ ई० तक कई खण्डों में पूर्ण हुआ। उसका दूसरा संस्करण सन् १८५७ ई० में और तीसरा संस्करण सन् १८६८ ई० में हुआ। इन संस्करणों में बॉप ने उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त प्राचीन स्लावी, केल्टी तथा अल्बानी भाषाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन को भी जोड़ दिया था।

बॉप यह जानना चाहते थे कि व्याकरण के रूपों की उत्पत्ति कैसे हुई? इसके उत्तर के लिए उन्होंने संस्कृत को ही मुख्य आधार बनाया था।[२] संस्कृत के प्रति अधिक श्रद्धावान होने के कारण उन्होंने अन्य भाषाओं के शब्दों का विश्लेषण भी संस्कृत शब्दों की विश्लेषण-पद्धति से ही करने का प्रयास किया था। किन्तु, अन्य भाषाओं के रूपों में संस्कृत के सन्धि-नियम की वैज्ञानिकता

१. "Indeed, Indo-European comparative linguistics had its true beginning only when approached through the Sanskrit. The scholar most responsible for widening the base of comparative grammar to include the indispensable Indic and Iranian was another German professor Bopp."—Ibid, p. 30.

२. Jespersen : Language, p. 48.

नहीं होने के कारण उनके सारे निष्कर्ष आगे चलकर सदोष प्रमाणित हुए। फिर भी, वे भाषाओं के विश्लेषण की एक सर्वथा नवीन वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करने के कारण तथा तुलनात्मक अध्ययन में संस्कृत के महत्त्व को व्यावहारिक रूप में स्थापित करने के कारण, विद्वानों के बीच अक्षय यश के भागी माने गये।[१]

बॉप की मान्यता थी कि यद्यपि संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन एक ही मूलस्रोत से निकली हैं, फिर भी मूल भाषा का रूप ग्रीक एवं लैटिन की अपेक्षा संस्कृत में ही अधिक सुरक्षित है। इसी प्रकार, यूरोपीय भाषाओं के एँ, ओँ के स्थान पर संस्कृत में केवल अ की उपस्थिति को उन्होंने लिपि की अपूर्णता का परिणाम माना था। किन्तु, आगे चल कर ग्रिम के प्रभाव के कारण उन्होंने भी अ, इ, उ को ही मूल स्वर मान लिया। यह भ्रम सन् १८८० ई० में तालव्य-नियम के स्थापित होने पर दूर हुआ।

बॉप ने संस्कृत एवं ग्रीक के स्वराघात का भी अध्ययन प्रस्तुत किया था। प्रत्ययों के सम्बन्ध में उनका भी विश्वास था कि वे कभी स्वतन्त्र शब्द रहे होंगे। उन्होंने भाषाओं के तीन वर्ग किये थे : १. धातु आदि व्याकरण-नियम रहित भाषा; जैसे—चीनी, २. एकाक्षर धातु वाली; जैसे—आर्य तथा ३. द्वयक्षर धातु वाली; जैसे—सामी। उन्होंने चूँकि भाषा-सम्बन्धी बहुत सारी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया था; इसलिए वे किसी की गहराई तक नहीं जा सके। यही उनके विवेचन का सबसे बड़ा दोष था।

रास्क, ग्रिम एवं बॉप के अनुसन्धानों से भाषाविज्ञान का स्वरूप जितना स्पष्ट हुआ तथा उसमें जितनी प्रगति हुई, उसे देखते हुए उन्हें आधुनिक भाषा-विज्ञान का 'संस्थापकत्रय' कहना उचित ही है, किन्तु उन्हीं के समकालीन विल्हेल्म फान हुम्बोल्ट का भी महत्त्व भाषावैज्ञानिक विकास की दृष्टि से उनमें से किसी से कम नहीं कहा जा सकता। हुम्बोल्ट (सन् १७६७–१८३५ ई०) अपने युग के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा गम्भीर भाषा-

---

१. "Although Bopp's prejudiced and fanciful theories robbed his results of any lasting worth, his new technique of analysis and his demonstration of the obvious value of Sanskrit in comparative studies secured him a high degree of recognition and influence."

—Waterman : Perspectives in Linguistics. p. 31.

शास्त्री थे। उन्होंने अनेक भाषाओं का अध्ययन किया था तथा भाषा-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें जावा की कविभाषा-सम्बन्धी उनका ग्रन्थ, जिसका प्रकाशन उनकी मृत्यु के पश्चात् सन् १८३६–४० ई० में हुआ था, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।[१] उनके ग्रन्थों में भाषा-विषयक चिन्तन की सूक्ष्मता एवं गम्भीरता दार्शनिकता की कोटि तक पहुँची हुई थी। यही कारण था कि आगे चल कर उनके एक-एक सिद्धान्त की, कई-कई व्याख्याएँ विद्वानों ने प्रस्तुत कीं।[२] उनकी मान्यता थी कि भाषा वस्तु नहीं, अपितु निरन्तर घटने वाला व्यापार है।[३] परवर्त्ती विद्वानों में सोस्यूर ने भाषा के स्वरूप-विवेचन में इसी मत को अपना आधार बनाया। हुम्बोल्ट भाषा को जातीय एवं राष्ट्रीय चरित्र का प्रतीक मानते थे तथा उन्होंने विकसित-अविकसित सभी प्रकार की भाषाओं को समान रूप से महत्त्वपूर्ण बतलाया था।[४] उनकी रुचि भाषा के विस्तृत विवेचन की अपेक्षा उसके सूक्ष्म चिन्तन की ओर अधिक थी। उनकी मान्यताएँ परवर्त्ती युग के अनेक श्रेष्ठ भाषाविज्ञानियों के लिए प्रेरणादायिनी सिद्ध हुईं। स्ताइन्थाल, सोस्यूर तथा ब्लूमफील्ड जैसे विद्वानों पर भी उनके विचारों का प्रचुर प्रभाव पड़ा था।

उपर्युक्त विख्यात विद्वानों के अतिरिक्त उस अवधि के अन्यान्य भाषा-विज्ञानियों में पॉट, रैप तथा ब्रेड्सडोर्फ के नाम भी उल्लेखनीय हैं। पॉट (सन् १८०२–८७ ई०) ने व्युत्पत्तिशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इटिमोलॉजिकल इन्वेस्टिगेशन्स' सन् १८३३–३६ ई० में प्रकाशित हुआ था, जिसके आधार पर वे पाश्चात्य जगत में व्युत्पत्तिशास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं।[५] उन्होंने ही सर्वप्रथम तुलनात्मक ध्वनियों की सारणी भी प्रस्तुत की थी तथा बॉप के व्याकरण का संस्कार भी किया था।

---

१. Jespersen : Language, pp. 55–56.

२. Ibid, p. 56.

३. "Language is not a substance of finished work, but action."—Ibid.

४. Ibid, p. 57.

५. "Our modern etymologies in the Indo European languages are due largely to the researches of Pott."

—Bloomfield : Languages, p. 15.

रास्क के शिष्य रैप ने ध्वनिशास्त्र का अच्छा अध्ययन किया था तथा उस पर चार खण्डों में एक बृहद् ग्रन्थ की भी रचना की थी, जो क्रमश; सन् १८३६, १८३९, १८४० तथा १८४१ ई० में प्रकाशित हुए थे। वे जीवित भाषाओं के अध्ययन के प्रबल समर्थक थे। उनकी मान्यता थी कि किसी भाषा के प्राचीन इतिहास का अध्ययन अपने-आपमें पूर्ण नहीं है। उसके साथ उससे सम्बद्ध जीवित भाषाओं का अध्ययन भी अनिवार्य है। उन्होंने ध्वन्यात्मक अनुलेखन का प्रयोग कर ध्वनि एवं लिपि में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। किन्तु, ग्रिम के कुछ सिद्धान्तों का विरोध करने के कारण उनके ग्रन्थ एवं सिद्धान्तों का समुचित स्वागत नहीं हुआ।

डेनी विद्वान ब्रेड्सडोर्फ ने भाषा के विकास के कारणों पर प्रकाश डाला था। इस विषय पर उनका ग्रन्थ सन् १८२१ ई० में प्रकाशित हुआ था, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण था। उसमें उन्होंने भाषा के विकास के आठ प्रमुख कारणों का विस्तृत विवेचन किया था, यथा—दुःश्रवण, दुरवबोध, दुःस्मृति, विकलाङ्गता, आलस्य, सादृश्य, स्पष्टता का आग्रह तथा नये विचारों की अभिव्यक्ति की आवश्यकता।

उपर्यक्त तीनों विद्वानों के कार्य अपने-अपने क्षेत्र में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण थे, किन्तु उनमें पिष्टपेषण का प्राधान्य एवं मौलिकता की कमी थी। सब मिलाकर १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जो कार्य हुए, उनका सिंहावलोकन करने पर निम्नाङ्कित निष्कर्ष सामने आते हैं :

उस काल तक भाषाओं के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिए संस्कृत का महत्त्व पूर्णतः स्थापित हो चुका था। समकालीन जीवित भाषाओं के महत्त्व को सिद्धान्ततः स्वीकृति मिल जाने पर भी अधिकांश विद्वान प्राचीन भाषाओं के अध्ययन में ही लगे हुए थे। लिपिबद्ध भाषाओं के एकान्त अध्ययन के कारण अभी तक वाणी के प्रकृत रूप की अवहेलना ही हो रही थी। जीवित भाषाओं का, जो थोड़ा-बहुत अध्ययन हुआ भी था, उसमें पुराने लक्षणों की खोज पर ही अधिक बल दिया गया था। सामान्यतः तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन का सूत्रपात हो चुका था, किन्तु, भाषाओं की तुलना करते समय सामान्य लक्षणों का ही विवेचन किया जाता था। भाषाओं के पारिवारिक एवं आकृतिमूलक वर्गीकरण की कल्पना धीरे-धीरे प्रत्यक्ष रूप ग्रहण करने लगी थी। प्रत्ययों को लोग मूलतः सार्थक शब्दों का अवशेष मानने लगे थे।

ध्वनि के साथ पद का शास्त्रीय विवेचन भी प्रौढता प्राप्त करने लगा था। भाषाविज्ञान को लोग अन्य विज्ञानों की तरह निश्चित वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास करने लगे थे। सब मिलाकर उस समय तक भाषाविज्ञान-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री एकत्र हो चुकी थी, इसीलिए कुछ विद्वानों ने १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को सामग्री-सङ्कलन-काल कहकर पुकारा है।

१९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध :

१९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध यदि ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान का सामग्री-सङ्कलन-काल था, तो उत्तरार्द्ध उसका वास्तविक निर्माण-काल। इस काल में भाषाओं के शास्त्रीय अध्ययन की दिशा में अभूतपूर्व प्रगति हुई। इस काल के भाषाविज्ञानियों को उनके कार्यों के वैविध्य के आधार पर तीन पृथक् वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में उन विद्वानों के नाम आते हैं, जिन्होंने पूर्ववर्त्ती विद्वानों की स्थापनाओं का समर्थन करते हुए कुछ नयी स्थापनाएँ भी दीं। दूसरे वर्ग में वे विद्वान थे, जिन्होंने उस समय तक उपलब्ध सारे निष्कर्षों को साहित्यिक एवं व्यावहारिक रूप देकर उसके व्यापक प्रचार का प्रयास किया। तीसरे वर्ग के विद्वानों ने पूर्ववर्त्ती विद्वानों की स्थापनाओं में दोष दिखाते हुए नवीन वैज्ञानिक पद्धति का अनुसन्धान किया तथा इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाने की चेष्टा की। आगे चलकर इसी वर्ग के विद्वान नव्य वैयाकरण के नाम से विख्यात हुए।

प्रथम वर्ग के विद्वानों में बहुभाषाविद् ऑगुस्त श्लाइखर (सन् १८२१—१८६८ ई०) का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ए कम्पेण्डियन ऑफ कम्परेटिव ग्रामर ऑफ इण्डोयूरोपियन लैङ्ग्वेजेज' सन् १८६१ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपनी भाषावैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता का सुन्दर परिचय दिया था। भाषाविज्ञान के अतिरिक्त दर्शन एवं प्राकृतिक विज्ञान में भी उनकी गहरी रुचि थी। इस कारण उनके विवेचन में उक्त विषयों की गहरी छाप थी। वे हिगेल तथा डार्विन से बहुत अधिक प्रभावित थे।[१] उन्होंने भाषाविज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी में

१. "Schleichar was interested in three subjects : Philosophy, natural science, and linguistics. As a student of Tubingen he became an ardent Hegelian, later in

प्रतिष्ठापित करने का अनथक प्रयास किया था। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य-जाति का वर्गीकरण खोपड़ी की गोलाई, लम्बाई आदि के आधार पर न करके भाषा की भिन्नता के आधार पर करना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि भाषा अपेक्षाकृत अधिक स्थिर वस्तु है। उन्होंने आकृति के आधार पर भाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया था : १. अयोगात्मक, २. अश्लिष्ट योगात्मक और ३. श्लिष्ट योगात्मक। उनकी मान्यता थी कि उपर्युक्त तीन वर्ग भाषा के विकास के क्रमशः तीन सोपान हैं तथा योगात्मक श्लिष्टता उस विकास की चरम परिणति है, जिसके बाद उसका विकास सम्भव नहीं होता। श्लाइखर के इस वर्गीकरण को मैक्समूलर तथा ह्विटनी जैसे विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में यथावत् स्वीकार कर लिया था; इस कारण सदोष होने पर भी कुछ दिनों तक यह वर्गीकरण पर्याप्त लोकप्रिय बना रहा। श्लाइखर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन, चाहे वह सदोष ही क्यों न हो, मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण है।[1] उन्होंने भारोपीय वर्ग की प्राचीन भाषाओं के आधार पर मूल भारोपीय भाषा की ध्वनि, पद एवं वाक्य का कल्पित रूप उपस्थित किया था। इतना ही नहीं, उन्होंने उस भाषा में एक कहानी भी लिखी थी। यों तो श्लाइखर के अधिकांश निष्कर्ष आगे चलकर सदोष प्रमाणित हुए, किन्तु उनके प्रयासों का अपना विशिष्ट महत्त्व था। मुख्यतः अपनी सशक्त भाषा तथा प्राञ्जल शैली के कारण वे अपने जीवनकाल में भाषाशास्त्रियों में अग्रगण्य माने जाते रहे।

---

his life he was strongly influenced by Charles Darwin, and in his last years he sought, by a synthesis of Hegal's theory of history and Darwin's theory of natural selection, to present a logical and demonstrable theory of language."

—Waterman : Perspectives in Linguistics, p. 31.

१. "Scheicher's three most noble contributions to linguistics are his theory of language relationship, his Comparative method of reconstructing parent language, and his classification of languages into types (taxonomy)"

—Ibid, p. 32.

इस वर्ग के दूसरे विद्वान जॉर्ज कुर्टिउस (सन् १८२०—१८८५ ई०) भी श्लाइखर के समान ही एक अधिकारी भाषाशास्त्री थे।[१] उनमें प्राचीन स्थापनाओं के प्रति विशेष आग्रह का भाव तथा नव्य वैयाकरणों के प्रति अनास्था थी। वे ग्रीक भाषा के विशेषज्ञ थे। ग्रीक-क्रिया तथा ग्रीक-शब्दों की व्युत्पत्ति पर उन्होंने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। उन्होंने नव्य वैयाकरणों की इस मान्यता का कि ध्वनि-नियम निरपवाद होते हैं, प्रतिवाद किया था; साथ ही पद-रचना में सादृश्य के नियम को भी मानने से अस्वीकार किया था। इन कारणों से उन्हें नव्य वयाकरणों की कटु आलोचना का शिकार बनना पड़ा था।

प्राचीनतावादी अन्य विद्वानों में जोहन निकोलाइ मैडबिग ग्रीक एवं लैटिन के माने हुए विद्वान थे। तर्कवादी होने के कारण वे भाषा-विवेचन में अस्पष्टता, रहस्यात्मकता तथा दैवी सिद्धान्तों के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने व्युत्पत्ति एवं ध्वनि-सम्बन्धी अध्ययन को विशेष महत्त्व न देकर भाषा के मूल तत्त्वों के विवेचन पर ही अधिक बल दिया था।[२] उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना डेनी भाषा में की थी, इस कारण उन्हें जितनी प्रसिद्धि मिलनी चाहिए थी, नही मिली।

१९वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक अधिकांश भाषाशास्त्री यूरोप की प्रमुख भाषाओं के अध्ययन में ही लगे रहे। परिणामतः, उस समय तक भिन्न-भिन्न भाषाओं से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आये, जिनमें ग्रीक पर कुर्टिउस तथा मैडविग की, संस्कृत पर वेस्टरगार्ड तथा बेनफी की, स्लावी पर मिकलोसिख तथा श्लाइखर की, कैल्टिक पर जेउस की तथा रोमन पर डीज की कृतियाँ विशेष प्रसिद्ध हुईं। फ्रेडरिक डीज (सन् १७९४–१८७६ ई०) का 'ग्रामर ऑफ द रोमान्स लैङ्ग्वेजेज' सन् १८३६—४४ ई० में प्रकाशित हुआ था, जोहन कास्पर जेउस (सन् १८०६-५६ ई०) का 'ग्रामेटिका कैल्टिका' सन् १८५३ ई० में तथा मिक्लोसिख (सन् १८१३-९१ ई०) का 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ स्लाविक लैङ्ग्वेजेज' सन् १८५२—७५ ई० में। इन ग्रन्थों में तुलनात्मक पद्धति के सहारे भाषाओं के स्वरूप एवं इतिहास का सुन्दर विवेचन किया गया था।

---

१. "Second only to Schleicher among the linguists of those days was Georg Curtius."—Jespersen : Language, p. 83.

२. Ibid, p. 84.

इस प्रकार, भाषा-विवेचन की दिशा में उस समय तक सामान्य, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक तीनों ही क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। किन्तु, सामान्य शिक्षित-समुदाय को उन भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों का अभी तक कोई ज्ञान नहीं था; क्योंकि अभीतक किसी विद्वान ने भाषाविज्ञान को सामान्य शिक्षित-समुदाय तक पहुँचने की दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया था।[१] इस कार्य को सर्वप्रथम सफलतापूर्वक पूर्ण करने का श्रेय जर्मन विद्वान फ्रेडरिख मैक्समूलर तथा अमरीकी विद्वान विलियम ड्वाइट ह्विटनी को प्राप्त हुआ।

मैक्समूलर (सन् १८२३—१९०० ई०) यद्यपि थे जर्मन, किन्तु आजीवन इङ्गलैण्ड में रहे। वे संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अनेक यूरोपीय भाषाओं के भी अच्छे पण्डित थे। प्राच्यविद्याओं के प्रति उनको गहरी रुचि तथा अपार श्रद्धा थी। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक के रूप में उन्होंने पर्याप्त यश अर्जित किया था तथा इङ्गलैण्ड में संस्कृतज्ञों की एक परम्परा ही स्थापित कर दी थी। सन् १८६१ ई० में उन्होंने भाषाविज्ञान पर तीन व्याख्यान दिये, जिनके पुस्तकाकार प्रकाशित होते ही उनकी ख्याति चतुर्दिक व्याप्त हो गयी। उस ग्रन्थ में यद्यपि कोई भी मौलिकता नहीं थी, केवल उस समय तक की भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों का सङ्कलन एवं विवेचन था, तथापि उसकी भाषा एवं प्रतिपादन शैली इतनी आकर्षक, सरस और प्राञ्जल थी कि जिन लोगों की भाषाविज्ञान में कोई रुचि नहीं थी, वे भी उसमें रुचि लेने को विवश हो उठे।

मैक्समूलर मुख्य रूप से साहित्यिक थे और गौण रूप से भाषाविज्ञानी; फिर भी सामान्य शिक्षित-वर्ग को भाषाविज्ञान की ओर आकृष्ट करने में जितनी सफलता उन्हें मिली, उतनी किसी दूसरे को नहीं। अपने ग्रन्थ में

---

१. "Working, as we have seen in many fields, linguistics had now brought to light a school of interesting facts affecting a great many languages and had put forth valuable theories to explain these facts; but most of their work remained difficult of access except to the specialist, and very little was done by the experts to impart to educated people in general those results of the new science which might be enjoyed without deeper study.

—Jespersen : Language, p. 85.

उन्होंने भाषा की उत्पत्ति,प्रकृति, विकास, विकास के कारण, वर्गीकरण आदि विषयों पर उस समय तक किये गये कार्यों को व्यवस्थित रूप में सङ्कलित करके जनता के परिचयार्थ उपस्थित किया था। उन्होंने भाषाविज्ञान को विज्ञान सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया था, किन्तु इसमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली। उनके ग्रन्थ का नवीन संस्करण सन् १८९० ई० में हुआ। उसकी भूमिका में उन्होंने सन् १८६१ ई० से १८९० ई० के बीच किये गये सारे अनुसन्धानों के परिणामों का उल्लेख कर दिया था। उन्होंने भाषाविज्ञान के अतिरिक्त प्राच्य-विद्याओं से सम्बद्ध ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे, जो उनके नाम को सदा सम्मान्य बनाये रखेंगे। उनमें 'भारत हमें क्या सिखा सकता है' (ह्वाट इण्डिया कैन टीच अस) के अतिरिक्त सायणभाष्यसमन्वित ऋग्वेद का संस्करण तथा 'पूरब की पवित्र पुस्तक-माला' (सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट) के अन्तर्गत भारत के प्राचीन ग्रन्थों का लगभग ५० जिल्दों में अँगरेजी अनुवाद उनकी अमर कृतियाँ हैं।

विलियम ड्वाइट ह्विटनी (सन् १८२७–१८९४ ई०) अमेरिका के प्रथम संस्कृतज्ञ वैयाकरण थे। वे न्यू हेवन के येल कॉलेज में संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषाशास्त्र के अध्यापक थे। मैक्समूलर की तरह उन्होंने भी अपने ग्रन्थों में भाषाविज्ञान पर उस समय तक के किये गये कार्यों का सार-सङ्कलन किया था। किन्तु, उनकी शैली मैक्समूलर की तरह आकर्षक एवं प्राञ्जल नहीं थी; इस कारण उन्हें मैक्समूलर के समान लोकप्रियता नहीं मिली। उनका 'भाषा और भाषा का अध्ययन' नामक ग्रन्थ सन् १८६७ ई० में, 'भाषा का जीवन और विकास' सन् १८७५ ई० में तथा 'संस्कृत व्याकरण' सन् १८७९ ई० में प्रकाशित हुआ था। वे आजीवन मैक्समूलर के प्रतिद्वन्द्वी बने रहे तथा अपने ग्रन्थों में उनके काल्पनिक सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की। मैक्समूलर ने साहित्यिकों की भाँति जिन रोचक दृष्टान्तों से अपने पाठकों को मुग्ध किया था, ह्विटनी ने उन्हें अनुपयुक्त एवं अवैज्ञानिक सिद्ध किया। अनेक विद्वानों का मत है कि वे मैक्समूलर की अपेक्षा अधिक गम्भीर एवं ठोस भाषाशास्त्री थे, इसीलिए सामान्य शिक्षित लोगों के लिए उनकी तरह सहज बोधगम्य नहीं बन सके। किन्तु, मैक्समूलर के समान ही उनके विवेचन में भी कोई मौलिकता नहीं थी।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के तीसरे वर्ग के विद्वानों में उन उत्साही एवं प्रतिभासम्पन्न वैयाकरणों के नाम आते हैं, जिन्होंने भाषाविज्ञान के

क्षेत्र में यह सिद्ध कर दिखाया कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'। प्रारम्भ में इस वर्ग के वैयाकरणों की क्रान्तिकारी स्थापनाओं से प्राचीनतावादी विद्वान तिलमिला उठे थे तथा इनके सिद्धान्तों की कटु आलोचना की थी। इतना ही नहीं, श्लाइखर आदि कई प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों ने तो 'नौसिखुए वयाकरण' कहकर इन लोगों का उपहास भी किया था। किन्तु जैसे-जैसे इन 'नौसिखुओं' की स्थापनाएँ सिद्ध हो-होकर सर्वमान्य सिद्धान्त का रूप लेती गयीं, वैसे-वैसे प्राचीनतावादी भाषाशास्त्रियों का महत्त्व स्वतः गौण पड़ता गया। आगे चलकर ये ही वैयाकरण युगप्रवर्त्तक नव्य वैयाकरण के रूप में विख्यात हुए तथा इनका युग 'नव्य वैयाकरणों का युग' अथवा 'नवीन युग' कहलाया।

१९वीं शताब्दी का अन्तिम चरण : नव्य वैयाकरणों का काल :

पाश्चात्य व्याकरणशास्त्र के नवीन युग अथवा नव्य वैयाकरणों के युग का प्रारम्भ सन् १८७० ई० के आसपास से हुआ। इस युग के वैयाकरणों ने अपने पूर्ववर्त्ती भाषाशास्त्रियों की मान्यताओं के अनेक दोषों का निराकरण किया। प्राचीन भाषाशास्त्री जहाँ किसी भी ध्वनि-नियम को निरपवाद मानने के पक्ष में नहीं थे, वहाँ नये वैयाकरणों ने यह सिद्ध किया कि ध्वनिनियम सर्वथा निरपवाद होते हैं। इसी प्रकार, प्राचीन भाषाशास्त्री जहाँ एक ओर व्याकरण के नियमों पर बहुत बल देते थे तथा दूसरी ओर शब्दों की व्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में भी अपवादों को असङ्गत नहीं मानते थे, वहाँ नये वैयाकरणों ने यह बताया कि भाषा चूँकि संसर्ग से अर्जित वस्तु है, इसलिये उसका प्रयोग करने-वाले पहले से सीखे शब्दों के सादृश्य पर नये शब्द ढालते चलते हैं। ऐसी स्थिति में यदि भाषा के अनेक शब्दों या रूपों की सिद्धि व्याकरण के पूर्व-निर्धारित नियमों से नहीं होती, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे अपवाद हैं, बल्कि उनके सम्बन्ध में ढूँढ़ना केवल यह है कि वे किन अन्य पूर्वस्मृत शब्दों या रूपों के सादृश्य पर ढले हैं और उनके सादृश्य पर क्यों ढले हैं। इस प्रकार, नव्य वैयाकरणों ने सादृश्य के नियम को बहुत अधिक महत्त्व दिया।[१] जबकि

---

१. "Of more immediate interest is a discussion of the methods used by the neogrammarians to explain the apparent exceptions to their 'laws' especially their reference to analogy a vital factor in linguistic change."

—Perspectives in Linguistics, p. 51–52.

प्राचीन भाषाशास्त्री उसकी उपेक्षा करते आ रहे थे। नये वैयाकरणों ने यह भी स्पष्ट किया कि ध्वनि एवं अर्थ भाषा के क्रमशः बाह्य एवं आन्तरिक तत्त्व हैं; अतः दोनों का अलग-अलग अध्ययन होना चाहिये। ये लोग भाषा के केवल वाचिक रूप को ही अध्ययन के योग्य मानते थे, इस कारण इन लोगों ने लिपिबद्ध भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषाओं के अध्ययन पर ही विशेष बल दिया। भाषा की उत्पत्ति तथा वर्गीकरण जैसे प्रश्नों की इन लोगों ने उपेक्षा की तथा भाषा के अध्ययन में ध्वनि एवं पद के अध्ययन की तरह वाक्य एवं अर्थ के अध्ययन को भी आवश्यक बतलाया।

नवीन युग के वैयाकरणों में स्ताइन्थाल (सन् १८२५—१८९९ ई०) का नाम अग्रगण्य माना जाता है। वे नव्य वैयाकरणों के प्रतिनिधि तथा मुख्य नेता थे। उन्होंने भाषाविज्ञान तथा व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त तर्कशास्त्र एवं मनोविज्ञान का भी विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन किया था। भाषा को मानसिक प्रक्रिया मानते हुए, उन्होंने यह सिद्ध किया था कि बिना मनोविज्ञान की सहायता के भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव ही नहीं है। उनका पहला ग्रन्थ सन् १८५५ ई० में प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने व्याकरण, तर्कशसात्र एवं मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध का सुन्दर विवेचन किया था। उस समय श्लाइखर आदि प्राचीनतावादी भाषाशास्त्रियों ने, जो उस समय प्रसिद्धि के ऊर्ध्वबिन्दु पर थे, इस ग्रन्थ को नौसिखिए वैयाकरण का ग्रन्थ कह कर उनका बड़ा उपहास किया था।[1] किन्तु, आगे चलकर श्लाइखर आदि के अपने ही मत भ्रामक सिद्ध हुए। स्ताइन्थाल का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जो भाषा के गठन के प्रकारों से सम्बद्ध था, सन् १८६१ ई० में प्रकाशित हुआ। उनके समय तक भारोपीय वर्ग की भाषाओं का पर्याप्त अध्ययन हो चुका था; इस कारण उन्होंने उनके अध्ययन को पिष्टपेषण समझ कर छोड़ दिया, तथा अपने अध्ययन का प्रमुख विषय चीनी तथा नीग्रो जैसी उपेक्षित भाषाओं को बनाया। यह भी एक प्रधान कारण था, जिससे वे प्राचीनतावादी भाषाशास्त्रियों की उपेक्षा एवं निन्दा के पात्र बने। दूसरे, उनकी प्रतिपादन-शैली भी विझर्झर एवं अप्रभविष्णु थी। इन कारणों से, उन्हें अपने जीवनकाल में समुचित यश एवं लोकप्रियता की प्राप्ति नहीं हुई। किन्तु, जीवित एवं उपेक्षित भाषाओं के अध्येता तथा भाषा के अध्ययन में मनोविज्ञान के महत्त्व को स्थापित करनेवाले विद्वान के रूप में उनका नाम सदा स्मरणीय

१. डॉ० बा० सक्सेना : 'सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १५४।

रहेगा। वे अपने नये विचारों के लिए बहुत हद तक हुम्बोल्ट के विचारों के ऋणी थे।

नव्य वैयाकरणों में सर्वाधिक ख्याति कार्ल ब्रुगमन (सन् १८४६–१९१६ ई०) को मिली। उन्होंने बर्थोल्ड डेलब्रुक (सन् १८४२–१९२२ ई०) के साथ मिल कर 'आउट लाइन ऑफ द कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ द इण्डोयूरोपियन लैङ्ग्वेजेज' की रचना पाँच खण्डों में की, जिसका प्रकाशन सन् १८८६ ई० में प्रारम्भ हुआ था तथा जिसका नवीन संस्करण सन् १८९७ ई० से १९१६ ई० के बीच हुआ। वह ग्रन्थ आज भी अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ माना जाता है। उस ग्रन्थ के पाँचवें खण्ड में वाक्य का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया था, जो उस समय तक भाषाविज्ञान का प्रायः उपेक्षित अङ्ग था। ब्रुगमन ने ही 'अनुनासिक सिद्धान्त' (सोनेण्ट नेजल थिअरी) को भी ढूँढ़ निकाला था, जिसके आधार पर ग्रिम-नियम की अनेक शङ्काओं एवं अपवादों का समाधान हुआ था। इसके अतिरिक्त, ऑस्टोफ के साथ मिल कर उन्होंने रूप-विज्ञान पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इस विषय पर उनका ग्रन्थ आज भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है।

इस वर्ग के विद्वानों में जिन लोगों ने भाषाविज्ञान की अन्य शाखाओं के अतिरिक्त ध्वनि पर विशेष रूप से कार्य किया था, उनमें अस्कोली, ग्रासमन, वर्नर, लेस्किन, थॉम्सन, कॉलिज आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। अस्कोली ने सन् १८०७ ई० में सिद्ध किया कि मूल भारोपीय की 'क' ध्वनि कुछ भाषाओं में तो 'क' ही रही, किन्तु कुछ में 'श' या 'स' के रूप में परिवर्त्तित हो गयी। इसी आधार पर भारोपीय कुल की भाषाओं को केन्तुम् एवं शतम्, दो वर्गों में विभक्त किया गया। इसी प्रकार, ग्रासमन ने मूल भारोपीय शब्दों में महाप्राण ध्वनियों के प्रभाव का विश्लेषण किया, जो आगे चलकर ग्रासमन-नियम कहलाया। सन् १८७५–७७ ई० में डेन विद्वान कार्ल वर्नर का 'ऐन एक्सेप्शन टु द कन्सोनेण्ट शिफ्ट' प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने भारोपीय ध्वनियों पर बलाघात तथा सुर के प्रभावों का विस्तृत विवेचन किया था। वही विवेचन आगे चल कर वर्नर-नियम के नाम से विख्यात हुआ। इन नियमों के प्रकाश में ग्रिम-नियम के प्रायः सभी अपवाद नियम-सङ्गत सिद्ध हो गये। इसी आधार पर वर्नर ने यह मान्यता व्यक्त की कि ध्वनि-नियम का कोई भी अपवाद अनियमित नहीं होता। दूसरी ओर सन् १८७६ ई० में अगस्ट लेस्किन

(सन् १८४०–१९१६ ई०) ने उनसे एक कदम और आगे बढ़ कर यह घोषणा की कि ध्वनि-नियम सर्वथा निरपवाद होते हैं।[१] इन विद्वानों ने ध्वनि-नियम को पूर्णतः निरपवाद सिद्ध करने के लिए सादृश्य-नियम को अपना अन्तिम अस्त्र बनाया था।

विल्हेम थॉम्सन, कॉलिज आदि कई विद्वानों ने सन् १८८० ई० के आसपास तालव्य-नियम भी खोज निकाला,[२] जिसके आधार पर मूल भारोपीय की तृतीय श्रेणी की कवर्गी ध्वनियों का संस्कृत में कहीं कवर्ग और कहीं चवर्ग के रूप में द्विधा विकास स्पष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त मूल भारोपीय में अ, एँ, ओँ तीन मूल स्वर निश्चित हुए, जिसके फलस्वरूप संस्कृत का सर्वांश में मूल भाषा के सन्निकट माने जाने की धारणा समाप्त हो गयी तथा स्वर-क्रम के निष्कर्षों में भी संशोधन करना पड़ा। इसके साथ ही पहले की इस धारणा को भी बदलना पड़ा कि धातु के मूल रूप ही मौलिक हैं और गुण-वृद्धिवाले रूप उत्तरकालीन।

१९वीं शताब्दी के समाप्त होते-होते ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषाशास्त्र की प्रविधि एवं सिद्धान्त प्रायः पूर्णतः सुनिश्चित एवं स्थिर हो गये। इस विषय पर हर्मन पॉल का 'प्रिन्सिपुल्स ऑफ लिङ्ग्विस्टिक हिस्टरी' सन् १८८० ई० में प्रकाशित हुआ, जो ऐतिहासिक भाषाशास्त्र की प्रविधियों के ज्ञान के लिए एक श्रेण्य ग्रन्थ माना गया।[३] पॉल ने उस ग्रन्थ में भाषा-परिवर्त्तन के प्रायः

---

१. "In 1876, one of them, the Slavicist August Leskin coined the now famous phrase : 'Sound-laws have no exception."

—Waterman : Perspectives in Linguistics, p. 50.

२. "Of the several men who worked in this area, we may mention the Italian scholar Graziadio Ascoli, the Dam Vilhelm Thomsen, the Swess Savant Ferdinand de Saussure, and the German Hermann Collitz."

—Ibid. P. 43

३. Bloomfield, Language, p. 16 :

"One of these faults is Paul's neglect of descriptive language study...The other great weakness of Paul's principles is his insistence upon psychological 'interpretation."

—Ibid, p. 16–17.

सभी कारणों एवं स्थितियों का विस्तृत विवेचन किया था। इस काल के विख्यात शैलीकार एण्टोनी मेइये का 'इण्ट्रोडक्शन टु द कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ इण्डोयूरोपियन' आज भी एक आदर्श ग्रन्थ माना जाता है। अनुसन्धित्सुओं के लिए पॉल के ग्रन्थ का पाँचवाँ संस्करण (सन् १९२० ई०) और मेइये के ग्रन्थ का तीसरा संस्करण (सन् १९१३ ई०) विशेष उपादेय हैं। पॉल के ग्रन्थ की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उसमें वर्णनात्मक प्रविधि की उपेक्षा की गयी थी।

श्लाइखर ने सगोत्रीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्राक्-भारोपीय भाषा की पुनः रचना एवं अध्ययन की जो आधारशिला रखी थी, उस क्षेत्र में आगे चलकर प्रसिद्धि पानेवाले विद्वानों में स्विस-भाषाविज्ञानी फर्डिनेण्ड डि सोस्यूर, इटली के ग्रैजियाडिओ अस्कोली, डेनमार्क के विल्हेल्म थॉम्सन तथा जर्मनी के हर्मन कॉलिज के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सोस्यूर का मूलभारोपीय भाषा की ध्वनि-व्यवस्था सम्बन्धी ग्रन्थ 'ए स्टडी ऑफ द-प्रिमिटिव वोवेल सिस्टम ऑफ द इण्डोयुरोपियन लैङ्ग्वेजेज' सन् १८७९ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रारम्भ में इस ग्रन्थ के महत्त्व की ओर विद्वानों का ध्यान विशेष आकृष्ट नहीं हुआ। किन्तु, आगे चलकर हिट्टाइट भाषा के प्रकाश में आने पर जब उक्त ग्रन्थ में सोस्यूर द्वारा स्थापित 'लेरिन्जियल थिअरी' की सत्यता प्रमाणित हो गयी, तब से विद्वानों का ध्यान उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होने लगा।[१] 'लेरिन्जियल थिअरी' की विस्तृत व्याख्या पी० लेहमन की 'प्रोटो इण्डोयूरोपियन फोनोलॉजी' (सन् १९५५ ई०) में उपलब्ध है।

इस काल के अन्य प्रमुख विद्वानों में हेनरी स्वीट, ब्रील, ऑटो जस्पर्सन, वुण्ट, मूलर आदि के कार्य अन्य विद्वानों के कार्यों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहे जाते। स्वीट ने बोलचाल की भाषाओं के अध्ययन को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण

---

१. "Only after Hitite finally became generally accessible to scholars did they realise that there was empirical confirmation of what Saussure had proposed so many years before, and only today is proto-Indo-European being reconstructed so as to confirm to the evidence brought to light cuniform inscription from the excavations, at Boghaz-koi. I refer to what is known as the 'laryngeal theory."—Waterman : Persp ectives, in Lingustics pp. 43-44.

योगदान दिया था। ब्रील ने अर्थविज्ञान पर एक सुन्दर ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका प्रकाशन सन् १८८२ ई० में पेरिस से हुआ था। उनका 'अँगरेजी-भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण' एक विशिष्ट कृति है। विल्हेल्म वुण्ट के सामाजिक मनोविज्ञान का प्रथम खण्ड सन् १९०० ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमें भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष का सुन्दर विवेचन था। मूलर का सामान्य भाषाविज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थ सन् १८७६–८८ ई० में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार, १९वीं शताब्दी के अन्त तक सामान्य, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान का अध्ययन तो पर्याप्त समृद्ध हो ही गया, साथ ही वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की भी एक व्यापक पीठिका प्रस्तुत हो गयी। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन की तुलनात्मक प्रविधि को वर्णनात्मक आधार देने का भी प्रयत्न किया, जिससे ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक अध्ययन के पारस्परिक सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट हुआ। उन विद्वानों में बॉथलिङ्क, मूलर, निकोलस, फिङ्क, सोस्यूर आदि प्रमुख थे।

२०वीं शताब्दी, (सन् १९०१–१९२८ ई० तक) :

१९वीं शताब्दी को यदि ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषाशास्त्र का स्वर्णयुग कहा जाय, तो २०वीं शताब्दी को वर्णनात्मक तथा संरचनात्मक भाषा-विज्ञान का स्वर्णयुग कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। इस शताब्दी के प्रारम्भ होते ही नव्य-वैयाकरणों का प्रभाव शिथिल पड़ने लगा तथा भाषाविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र केवल जर्मनी तक ही सीमित न रह कर यूरोप के अन्यान्य देशों से होते हुए अमेरिका तक फैल गया। पेरिस की भाषाविज्ञान-परिषद् ने भाषा के उद्गम, वर्गीकरण, विश्वभाषा-निर्माण आदि-जैसे जिन विषयों के विवेचन का प्रतिषेध कर दिया था, उनका विवेचन पुनः प्रारम्भ हो गया। प्राचीन भाषाओं का अध्ययन प्रायः गौण पड़ने लगा तथा उनके स्थान पर आधुनिक भाषाओं एवं बोलियों के वाचिक रूप के वर्णनात्मक अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। ध्वनियों के सूक्ष्म अध्ययन के लिए कृत्रिमतालु तथा कायमोग्राफ आदि का प्रयोग तो १९वीं शताब्दी से ही होने लगा था, इस शताब्दी में और भी अनेक प्रकार के यन्त्रों के निर्माण एवं प्रयोग की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट होने लगा। इससे भाषाविज्ञान का यान्त्रिक पक्ष दिनानुदिन सबल होने लगा तथा भाषाओं के सम्बन्ध में अधिक पुष्ट एवं वैज्ञानिक निष्कर्ष सामने आने लगे। इस शताब्दी के प्रारम्भिक भाषाविज्ञानियों में स्विस विद्वान

फर्डिनेण्ड डि सोस्यूर और अमरीकी विद्वान लियोनार्ड ब्लूमफिल्ड सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

फर्डिनेण्ड डि सोस्यूर (सन् १८५७–१९१३ ई०) नवीन युग के उन श्रेष्ठ सिद्धान्तकारों में थे, जिन्होंने पहली बार भाषा की संरचना-सम्बन्धी तत्त्वों को सुपरिभाषित सिद्धान्तों का रूप दिया। किन्तु, उन्हें अपने जीवनकाल में समुचित यश की प्राप्ति नहीं हुई, जिसकी चर्चा उनके 'ए स्टडी ऑफ द प्रिमिटिव वोवेल सिस्टम ऑफ द इण्डो-यूरोपियन लैङ्ग्वेजेज' (सन् १८७९ ई०) तथा 'लिरीञ्जियल थिअरी' के विवेचन के प्रसङ्ग में पहले की जा चुकी है। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके दो शिष्यों—चार्ल्स वेली तथा अल्बर्ट सेचेहाय ने सन् १९१५ ई० में उनके भाषणों को सङ्कलित एवं सम्पादित करके 'कोर्स डि लिङ्ग्विस्टिक जेनराले' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित किया तथा सन् १९५९ ई० में वाड़े बास्किन ने 'कोर्स इन जेनरल लिङ्ग्विस्टिक्स' के नाम से उसका अँगरेजी अनुवाद प्रस्तुत किया।

सामान्य भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सोस्यूर की सबसे बड़ी देन भाषा के यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन एवं परिभाषाओं का निर्माण है।[१] उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भाषा विचार एवं अभिव्यक्ति के बीच की कड़ी है।[२] विचार एवं अभिव्यक्ति का संयोग कोई वस्तु नहीं, अपितु यादृच्छिक व्यापार है। इसे ही उन्होंने भाषावैज्ञानिक चिह्न या प्रतीक (लिङ्ग्विस्टिक साइन) कहा[३] तथा यह भी स्पष्ट किया कि यादृच्छिक होने के कारण उस चिह्न या प्रतीक का सम्बन्ध किसी नियम से न होकर परम्परा से होता है।[४] सोस्यूर अपनी इन मान्यताओं के लिए बहुलांश में हुम्बोल्ट के ऋणी थे।

---

१. "Saussure's great service to the study of language lies in series of rigorous distinctions and difinitions which he made concerning the nature of language."—Ibid, p. 61.

२. "Language serves as a link between thought and sound."
—Ibid, p. 42.

३. Ibid.

४. "Because the sign is arbitrary, it follows no law other than that of tradition, and because it is based on tradition, it is arbitrary."
—Saussure : Course, p. 74—Ibid, p. 63.

सोस्यूर का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य भाषाओं के ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक अध्ययन की सीमाओं का स्पष्टीकरण था। उन्होंने भाषाओं के वैयक्तिक रूप को सामाजिक रूप से भिन्न बताया था। वैयक्तिक भाषा को उन्होंने 'पेरोल' कहा था और सामाजिक भाषा को 'लाङ्ग' की संज्ञा दी थी। इन दोनों से परे भाषा के सूक्ष्म समष्टिगत रूप को उन्होंने 'ला लाङ्ग' कहा था। फिर, उन्होंने भाषा के साङ्कालिक या स्थित्यात्मक (सिन्क्रोनिक) अध्ययन से कालक्रमिक या गत्यात्मक (डाइक्रोनिक) अध्ययन की भिन्नता स्पष्ट की थी तथा पहले को वर्णनात्मक भाषाविज्ञान और दूसरे को ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत स्थान दिया था। उनकी मान्यता थी कि चूँकि इन दोनों के अध्ययन के धरातल परस्पर भिन्न हैं; इस कारण दोनों के अध्ययन के लिए एक प्रकार की शोध-पद्धतियों का उपयोग उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।[१] इस तरह उन्होंने एक ओर जहाँ दोनों प्रकार के अध्ययनों की सीमाओं को स्पष्ट किया था, वहाँ दूसरी ओर दोनों ही के लिए अलग-अलग प्रविधियों का भी उपयोग आवश्यक बतलाया था। किन्तु, यहाँ यह बता देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि सन् १९२८ ई० में सोस्यूर के ही ग्रन्थ से प्रेरणा-प्राप्त विद्वानों में से कुछ ने, जिनमें ट्रबेट्सकॉय, जैकोब्सन तथा कार्चेव्स्की के नाम उल्लेखनीय हैं; हेग की प्रथम अन्तर राष्ट्रीय भाषाविज्ञान-परिषद् के सम्मुख उनकी उपर्युक्त मान्यता में संशोधन करते हुए यह घोषित किया कि ध्वनि-वैज्ञानिक प्रविधि का उपयोग वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के अध्ययनों के लिए समान रूप से उपयुक्त एवं लाभप्रद है।[२]

सोस्यूर के सिद्धान्तों ने वर्त्तमान शताब्दी के भाषाविज्ञानियों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। पाश्चात्य जगत में आज तक मुख्यतः वर्णनात्मक या

१. "Synchronic linguistics is the study of linguistic events on the same time level, while diachronic studies are concerned with linguistic events through successive layers of time. The one is descriptive, the other is historical. It is a major tenet of Saussure's teaching that investigations on these two distinct and different linguistic planes are not amenable to the same methods of research and that the boundaries of each study should always be clearly delineated."—Waterman : Perspectives..., p. 65.

२. Ibid, p. 72.

गठनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जो भी प्रगति हुई है, उसका मूल सोस्यूर की स्थापनाओं में ढूँढ़ा जा सकता है।[१] उनके ही सिद्धान्तों की प्रेरणा से ट्रवेट्सकाय एवं जैकोब्सन प्रभृति विद्वानों ने भाषाविज्ञान के 'प्राग स्कूल' की तथा जेमस्लेव आदि ने 'कॉपेनहेगेन स्कूल' की स्थापना की, जिनकी चर्चा आगे की जायगी।

वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक भाषाविज्ञानियों में लियोनार्ड ब्लूमफिल्ड (सन् १८८७–१९४८ ई०) को सोस्यूर से अधिक यश प्राप्त हुआ। उन्होंने भाषाविज्ञान की केवल ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक शाखाओं को ही नहीं, जिनके वे सर्वमान्य विशेषज्ञ एवं यशस्वी प्राध्यापक थे, अपितु वर्णनात्मक शाखा को भी एक प्रबुद्ध आचार्य की तरह अभिनव उत्थान एवं समुचित पथ-निर्देश दिया। उनका 'टेगलॉग टेक्स्ट्स विथ ग्रामेटिकल एनालिसिस' सन् १९१७ ई० में तथा दूसरा बहुमान-पुरस्सर ग्रन्थ 'लैङ्ग्वेज' (जिसे विद्वानों ने भाषाविज्ञान का 'बाइबिल' तक कहा है) सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ।

ब्लूमफिल्ड की सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह थी कि उन्होंने भाषा के अध्ययन को सच्चे अर्थ में विज्ञान बना दिया।[२] उनका ज्ञान जितना व्यापक एवं गम्भीर था, उनकी भाषाशैली उतनी ही अधिक सरल, स्वाभाविक एवं प्राञ्जल थी। उन्होंने भाषा के सभी अङ्गों के विश्लेषण एवं विवेचन की वैज्ञानिक पीठिका प्रस्तुत की तथा भाषाविज्ञान की सभी शाखाओं को अपने मौलिक चिन्तन, सम्यक् विवेक तथा सधी लेखनी से सुधार-सँवार कर उपस्थित किया।

ब्लूमफिल्ड ने नव्य वैयाकरणों की स्थापनाओं को मान्यता प्रदान की तथा उनका जोरदार समर्थन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने उनके द्वारा स्थापित नियमों और परिभाषाओं को सुधार-सँवार कर उन्हें वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय शैली में उपस्थित किया तथा उनके अपवादों की सम्भावनाओं का भी

---

१. "Saussure's influence upon subsequent linguistic theory has understandably been of major importance. Indeed, in this western world at any rate, all of structuralism have come under his influence."—Ibid, p. 66.

२. "There can be no doubt that Bloomfield's greatest contribution to the study of language was to make a science of it."

—Bernard Block, Language, (Journal) xxv, 92.

निराकरण किया।[1] सोस्यूर की स्थापनाओं को भी उन्होंने सम्मान की दृष्टि से देखा तथा उनसे प्रेरणा भी ग्रहण की।[2] इस प्रकार, उनके पूर्व भाषाविज्ञान में जो कुछ भी उत्तम था, उसका सार उन्होंने ग्रहण किया और उसके आधार पर अपने मौलिक चिन्तन से नवीन सम्भावनाओं का द्वार उन्मुक्त किया। उनकी सद्ग्राही बुद्धि, दूरदर्शी एवं सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि, मौलिक सूझ एवं स्वच्छ प्रदिपादन शैली के कारण अमरीकी भाषाविज्ञानी उन्हें आधुनिक भाषाविज्ञान का जनक मानते हैं तथा सन् १९३३ ई० से १९५० ई० तक की अवधि को ब्लूमफिल्ड-युग कह कर पुकारते हैं।[3]

ब्लूमफिल्ड के 'लैङ्ग्वेज' नामक ग्रन्थ का परवर्त्ती भाषाविज्ञानियों पर जितना अधिक प्रभाव पड़ा, उतना कभी किसी दूसरे भाषाविज्ञानी के किसी एक ग्रन्थ का नहीं पड़ा। आज भाषाविज्ञान यद्यपि ब्लूमफिल्ड से बहुत आगे बढ़ चुका है, किन्तु भाषा-सम्बन्धी तथ्य आज भी वे ही हैं, जो उनके समय थे। बर्नर्ड ब्लॉक ने उनके सम्बन्ध में लिखा है कि 'यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि सन् १९३३ ई० से आज तक भाषा की विश्लेषणात्मक प्रविधि में जो भी परिष्कार हुआ है, उसके मूल में ब्लूमफिल्ड के ग्रन्थ की प्रमुख प्रेरणा रही है। यदि आज हम अपनी भाषावैज्ञानिक प्रविधियों को उनकी अपेक्षा अधिक विकसित पाते हैं तथा भाषा की संरचना के कुछेक पक्षों को उनसे अधिक स्पष्ट रूप से देखने में समर्थ हैं, तो इसका कारण यह है कि हम उन्ही के कन्धों पर खड़े हैं।'[4]

ब्लूमफिल्ड के समकालीन अमरीकी भाषाविज्ञानियों में फ्रेन्ज बॉस (सन् १८५८–१९४२ ई०) तथा उनके शिष्य एडवर्ड सपीर (सन् १८८४–

---

१. "Waterman : Perspectives in Linguistics." p. 89.

२. Ibid. p. 92.

३. "To the extent that it was given over to a clarification and elaboration of the theories and methods set forth in Bloomfield's 'Language' the period from 1933 to about 1950 may appropriately be called the 'Bloomfieldian era' in the history of American linguistic scholarship."

—Waterman : 'Perapectives in Linguistics', p. 96.

४. Bernard Block : Language (Journal), xxv, 92.

१९३९ ई०) ने भी भाषाविज्ञान की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। बॉस का हैण्डबुक ऑफ अमेरिकन इण्डियन लैङ्ग्वेजेज' सन् १९११ ई० में तथा सपीर का 'लैंङ्ग्वेज' सन् १९२१ ई० में और 'सेलेक्टेड राइटिङ्ग्स इन लैङ्ग्वेज' सन् १९४९ ई० में प्रकाशित हुआ।

ब्लूमफिल्ड के अन्य समकालीनों में व्याकरण पर विशेष रूप से कार्य करने वाले ऑटो जस्पर्सन को भी पर्याप्त ख्याति मिली। उनका 'फोनेटिक' सन् १८९९ ई० में, 'लैङ्ग्वेज' सन् १९२२ ई० में, 'द फिलॉसफी ऑफ ग्रामर' और 'लॉजिक ऐण्ड ग्रामर' सन् १९२४ ई० में तथा 'एसेंसियल्स ऑफ इङ्गलिश ग्रामर' सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ। सबसे अन्त में उन्होंने अपना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिस्टोरिकल इङ्गलिश ग्रामर' लिखा, जो अपने ढङ्ग की एक निराली कृति है।

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान-काल (सन् १९२८ ई० से वर्त्तमान समय तक) :

वर्त्तमान शताब्दी में सन् १९२८ ई० से वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के नये युग का प्रारम्भ माना जा सकता है, क्योंकि उसी वर्ष हेग में प्रथम अन्तर राष्ट्रीय भाषाविज्ञान परिषद् की बैठक हुई, जिसमें वर्णनात्मक अध्ययन के महत्त्व को सर्वमान्यता प्राप्त हुई तथा ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन में भी उसका उपयोग अनिवार्य करार दिया गया। उसके बाद से वर्णनात्मक अध्ययन की दिशा में बड़ी तेजी से प्रगति हुई। उन्हीं दिनों भिन्न-भिन्न देशों में भाषा के भिन्न-भिन्न पक्षों को लेकर अलग-अलग सिद्धान्तों के आधार पर कई भाषा-वैज्ञानिक स्कूलों अर्थात् शोध-केन्द्रों की स्थापना हुई, जिनमें लन्दन स्कूल, अमरीकी स्कूल, प्राग स्कूल तथा कॉपेनहेगेन स्कूल विशेष प्रसिद्ध हैं।

लन्दन स्कूल का ध्वनिविज्ञान के अध्ययन से विशेष सम्बन्ध रहा है; इस कारण यह ध्वनिविज्ञानीय स्कूल (फोनेटिक स्कूल) के नाम से विख्यात है। यह ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन में ध्वनियों के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल देता है तथा भाषा के साङ्कालिक अध्ययन को प्राथमिकता देता है। इस स्कूल के भाषाविज्ञानियों में डेनियल जोन्स, जॉन जे० रुपर्ट फर्थ, इडा कोरोलिन वार्ड, ट्रिम, हाउस होल्डर, ब्रर्टेण्ट पेज आदि उल्लेखनीय हैं। इस स्कूल ने एसिया तथा अफ्रिका की अनेक भाषाओं की ध्वनियों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस स्कूल के प्रमुख ग्रन्थों में डेनियल

जोन्स का 'ऐन आउट लाइन ऑफ इङ्गलिश फोनेटिक्स' (सन् १९३२ ई०) 'द फोनीम' (सन् १९५० ई०) तथा 'द प्रोनन्सियेशन ऑफ इङ्गलिश' (सन् १९५० ई०, तृ० सं०) एवं फर्थ का 'पेपर्स इन लिङ्ग्विस्टिक्स' (सन् १९५७ ई०) विशेष प्रसिद्ध हैं।

अमरीकी स्कूल की स्थापना सपीर तथा ब्लूमफिल्ड के आदर्शों को लेकर हुई थी। इस स्कूल की प्रथम देन स्वनिम-विज्ञान है, इसलिए इसे स्वनिम विज्ञानीय स्कूल (फोनेमिक स्कूल) भी कहा जाता है। इस स्कूल में स्वनिम-विज्ञान के अतिरिक्त, ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, भाषा-पुनर्निर्माण, भाषा-भूगोल, भाषा-काल-क्रम-विज्ञान, लिपि-विज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। अर्थविज्ञान इस स्कूल का उपेक्षित विषय रहा है; क्योंकि इसे वहाँ भाषाविज्ञान से बाहर का विषय माना जाता है। ध्वनि के सूक्ष्म एवं बहुविध अध्ययन के लिए वहाँ के भाषाविज्ञानियों ने अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण यन्त्रों का भी निर्माण किया है, जिनके सहारे अपने निष्कर्षों को वे अधिक वैज्ञानिक रूप देने में कृतकार्य हुए हैं तथा हो रहे हैं। इस क्षेत्र में उनकी प्रगति बड़ी त्वरा से हो रही है। यहाँ भाषाविज्ञान की अन्यान्य शाखाओं के अतिरिक्त एक प्रायोगिक शाखा भी है, जिसमें अनुवाद, भाषा-प्रशिक्षण, उच्चारण-संशोधन आदि पर महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। यहाँ के विद्वानों ने भाषा के विश्लेषण-विवेचन में अन्यान्य शास्त्रों के अतिरिक्त साङ्ख्यिकी तथा 'इनफॉरमेशन थिअरी' से भी सहायता ली है। इस स्कूल के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत प्रमुख ग्रन्थों में सपीर एवं ब्लूमफिल्ड के ग्रन्थों के अतिरिक्त ब्लॉक और ट्रेगर लिखित 'आउट लाइन ऑफ लिङ्ग्विस्टिक एनालिसिस', पाइक कृत 'फोनेटिक्स' (सन् १९४२ ई०) और 'फोनेमिक्स (सन् १९४७ ई०), नायडा कृत 'मॉर्फोलॉजी' (सन् १९४६ ई०), हॉकेट कृत 'ए मैनुअल ऑफ फोनोलॉजी' (सन् १९५५ ई०) और 'ए कोर्स इन मॉडर्न लिङ्ग्विस्टिक्स' (सन् १९५८ ई०), ग्लीसन-कृत 'ऐन इण्ट्रोक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिङ्ग्विस्टिक्स' (सन् १९५५ ई०), जेलिग हैरिस-कृत 'मेथड इन स्ट्रक्चरल लिङ्ग्विस्टिक्स' (सन् १९५१ ई०) आदि विशेष प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनमें हैरिस के ग्रन्थ ने भाषा के संरचनात्मक अध्ययन को सर्वथा नवीन आदर्श एवं अभूतपूर्व उत्थान दिया है। इसी प्रकार, मोरिस स्वडेश के तुलनात्मक कालक्रम विज्ञान (ग्लोटो क्रोनोलॉजी, सन् १९५० ई०) ने भाषाओं के काल-निर्धारण की समस्या का समाधान प्रस्तुत करके भाषाओं के तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन

के पथ को प्रशस्त कर दिया है। भाषा के गठनात्मक अध्ययन को आगे बढ़ाने वाले अन्य विद्वानों में नोमचोम्स्की, आर्चीवल्ड, ए० हिल तथा राबर्ट ए० हॉल के नाम भी उल्लेखनीय हैं। वर्त्तमान समय में भाषा-विज्ञान पर सर्वाधिक कार्य इसी स्कूल में हो रहा है।

प्राग स्कूल (जेकोस्लोवाकिया) की स्थापना मुख्यतः सोस्यूर के सिद्धान्तों की प्रेरणा से सन् १६२८ के आसपास हुई थी। इसके प्रमुख संस्थापकों में ट्रबेट्सकॉय एवं रोमन जकोब्सन विशेष प्रसिद्ध हैं। इस स्कूल के कार्य मुख्यतः ध्वनि, बलाघात, सुर, सङ्गम आदि से सम्बद्ध हैं। यहाँ के आचार्यों की स्थापनाएँ बहुत जटिल हैं। इस स्कूल से सम्बद्ध विद्वानों में उपर्युक्त दो के अतिरिक्त हैले, फाण्ट, मार्टिने तथा मैथियस विशेष उल्लेखनीय हैं। ट्रबेट्स्काय (सन् १८६०—१६३८ ई०) का 'फोनोलॉजी' से सम्बद्ध प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ग्रण्डजुगे डेर फोनोलॉजी' (सन् १६३६ ई०) तथा जकोब्सन एवं हैले कृत 'फण्डामेण्टल्स ऑफ लैङ्ग्वेज' (सन् १६५६ ई०) इस स्कूल की प्रमुख कृतियाँ हैं। इस स्कूल पर रूसी तथा फ्रेञ्च विद्वानों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

कोपेन हेगेन स्कूल (डेनमार्क) की स्थापना भी सोस्यूर के सिद्धान्तों की प्रेरणा से ही सन् १६३० ई० के आसपास हुई थी। इसके संस्थापकों में जेल्मस्लेव एवं उल्डाल प्रमुख हैं। उन्होंने भाषिक इकाई तथा अर्थ के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया है। इस स्कूल को ग्लासमैटिक स्कूल भी कहते हैं; क्योंकि यहाँ के आचार्यों ने स्वनिम से भी अल्पसंख्यक ध्वनि-इकाई ग्लासिम का पता लगाया है। इस स्कूल के आचार्यों के सिद्धान्त सर्वाधिक जटिल एवं सूक्ष्म हैं। बीजगणित के सिद्धान्तों के सहारे उन लोगों ने भाषाविज्ञान को पूर्णतः विज्ञान बना देने का प्रयास किया है। जेल्मस्लेव का ग्रन्थ सन् १६४० ई० में प्रकाशित हुआ था। जिसका अँगरेजी अनुवाद 'प्रोलेगोमना टु ए थिअरी ऑफ लैङ्ग्वेज' सन् १६५३ ई० में निकला। इनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ, जिसकी रचना उन्होंने उल्डाल के साथ मिल कर की थी, 'आउट लाइन ऑफ ग्लासमेटिक्स' के नाम से सन् १६५७ ई० में प्रकाशित हुआ।

वर्त्तमान समय में भाषाविज्ञान पूर्णतः विज्ञान का रूप ग्रहण करता जा रहा है। इसके अध्ययन के लिए उसी तरह प्रयोगशालाएँ खड़ी होती जा रही हैं, जिस तरह अन्य विज्ञानों के लिए नित्य नये यन्त्रों का आविष्कार इसके अध्ययन को और तेजी से आगे खींचता जा रहा है। अन्य विषयों के समान इसमें भी विशेषीकरण की प्रवृत्ति आ गयी है। आज इसकी इतनी

शाखाएँ हो गई हैं तथा प्रत्येक शाखा पर इतना अधिक साहित्य तैयार हो चुका है कि किसी एक व्यक्ति का सभी पर समान अधिकार प्राप्त कर लेना प्राय: असम्भव-सा दीखता है ।

किन्तु, इतना होने पर भी यदि पाश्चात्य जगत की अद्यावधि समस्त उपलब्धियों को मिला कर भारत के प्राचीन वैयाकरणों की उपलब्धियों से उनकी तुलना की जाय, तो यह समझते देर न लगेगी कि भाषा-विवेचन के कुछ क्षेत्रों (जैसे प्रायोगिक वर्णनात्मक आदि) में पाश्चात्य भाषाविज्ञानी निश्चय ही आगे बढ़ गये हैं; किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में वे उनसे अभी भी बहुत पीछे हैं। मुख्यत: व्याकरण के क्षेत्र में उसके सभी अङ्ग-उपाङ्गों का जैसा व्यवस्थित, व्यापक, सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचन संस्कृत वैयाकरणों ने प्रस्तुत किया था, वह पाश्चात्य वयाकरणों के लिए आज भी आदर्श ही बना हुआ है और आगे भी बना रहेगा ।

हिन्दी-व्याकरण का इतिहास

पूर्वलेखक

हिन्दी-व्याकरण के विकास-क्रम का समीक्षात्मक विवेचन अद्यावधि एक उपेक्षित विषय रहा है। सर्वप्रथम पं० कामता प्रसाद गुरु ने अपने 'हिन्दी-व्याकरण' की भूमिका में कुछ प्राचीन व्याकरणों का अति संक्षिप्त परिचय दिया था। हिन्दी के आदिवैयाकरणों के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं रहने के कारण उन्होंने लिखा था कि 'हिन्दी-व्याकरण का प्रारम्भिक इतिहास अन्धकार में पड़ा हुआ है। हिन्दी-भाषा के पूर्वरूप 'अपभ्रंश का व्याकरण हेमचन्द्र ने बारहवीं शताब्दी में लिखा, पर हिन्दी-व्याकरण के प्रथम आचार्य का पता नहीं लगता।'[1] उन्होंने इसे स्वतन्त्र खोज का विषय बताते हुए हिन्दी-व्याकरणेतिहास का आरम्भ अनुमानतः उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से माना था, जो सही नहीं है।

'गुरुजी' के पश्चात् हिन्दू हाईस्कूल, जमानियाँ (उत्तरप्रदेश) के एक अध्यापक आचार्य पं० रामदेव त्रिवेदी ने, संवत् २००० (१९४३ ई०) में प्रकाशित अपने 'व्याकरण का इतिहास' नामक ग्रन्थ में संस्कृत-व्याकरणों के साथ हिन्दी-व्याकरण की भी चर्चा की थी। किन्तु, हिन्दी-वैयाकरणों के सम्बन्ध में उनकी जानकारी कितनी कम थी, यह इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने 'गुरुजी' की तुलना नागेशभट्ट से करते हुए उन्हें हिन्दी का आदि वैयाकरण माना था।[2]

हिन्दी-व्याकरणेतिहास का कुछ व्यवस्थित, किन्तु अपर्याप्त परिचय डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने पं० किशोरीदास वाजपेयी के 'हिन्दी शब्दानुशासन' के 'प्रकाशकीय वक्तव्य' में दिया है। उससे उक्त विषय का सामान्य परिचय तो मिल जाता है; किन्तु वह परिचय विषय की व्यापकता एवं गम्भीरता के सम्मुख नगण्यप्राय ही माना जायगा। उसमें न तो काल-विभाजन एवं नामकरण का प्रयास है और न व्याकरण ग्रन्थों का विधिवत समीक्षात्मक

---

१. का० प्र० गु० : 'हिन्दी-व्याकरण', भूमिका, पृ० ५।

२. पं० रामदेव त्रिवेदी : 'व्याकरण का इतिहास, पृ० ५१।

परिचय ही। इसके अतिरिक्त उसमें अधिकांश प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रसिद्ध वैयाकरणों का नामोल्लेख भी नहीं किया गया है। जगह-जगह तिथि-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ भी हैं। फिर भी डॉ० लाल के उस प्रयास का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है; क्योंकि इस विषय पर अभी तक किसी अन्य विद्वान के द्वारा उससे अधिक नहीं लिखा गया। कुछ अन्य व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न व्याकरण-ग्रन्थों की भूमिका में तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर यत्किञ्चित् प्रकाश डालने का प्रयास किया है, किन्तु उनमें से किसी का भी प्रयास उल्लेखनीय नहीं है। दुर्भाग्य से आजतक किसी विद्वान ने स्वतन्त्र रूप से इस विषय के शोधपूर्ण विवेचन का प्रयास नहीं किया।

काल-विभाग

हिन्दी-व्याकरण का निर्माण-कार्य, हिन्दीभाषा के उद्भव के लगभग सात सौ वर्ष बाद, सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, हिन्दी गद्य के सूत्रपात के साथ-ही-साथ प्रारम्भ हुआ। उसके पूर्व हिन्दी-व्याकरण के प्रणयन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नहीं होने के अनेक कारणों में दो मुख्य थे। पहला यह कि उस समय तक हिन्दी गद्य के साहित्यिक रूप का विकास नहीं हो पाया था और दूसरा यह कि देववाणी संस्कृत की तुलना में लोक-वाणी (आधुनिक आर्यभाषाओं) का महत्त्व आचार्यों की दृष्टि में उस समय भी नगण्य ही था। इन्हीं कारणों से जहाँ रामानन्द, नागेशभट्ट, पण्डितराज जगन्नाथ आदि अनेक आचार्यों ने संस्कृत-व्याकरण-सम्बन्धी अनेक रचनाएँ की, वहाँ हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं की ओर उस समय तक किसी का ध्यान नहीं गया।[1]

अद्यावधि उपलब्ध प्राचीनतम व्याकरणों के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-व्याकरण के निर्माण की दिशा में आरम्भिक प्रयत्न करने वाले प्रायः सब-के सब विद्वान विदेशी थे। वे भारत में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से निवास करनेवाले अपने-अपने देशवासियों के लिए हिन्दी-ज्ञान की अनिवार्यता का अनुभव अच्छी तरह कर चुके थे। इसीलिए, व्याकरण-रचना में उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दी के स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण-विवेचन या उसके वास्तविक व्याकरणिक गठन का उद्घाटन करना न होकर, देश के व्यापारिक, प्रशासनिक

१. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : हिन्दी शब्दानुशासन, प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ० १।

तथा धर्म-प्रचार के कार्यों में लगे हुए, अथवा उसकी इच्छा रखनेवाले अपने-अपने देशवासियों को हिन्दी का, जो उस समय तक सम्पूर्ण देश की सम्पर्क-भाषा बन गयी थी, कामचलाऊ ज्ञान प्रदान करना था। इस तथ्य को तद्‌युगीन अधिकांश वैयाकरणों ने स्वयं ही बड़े स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

हिन्दी के उन विदेशी वैयाकरणों का हिन्दी-ज्ञान अत्यन्त सीमित था। उन्हें हिन्दी के स्वरूप, प्रवृत्ति एवं प्रकृति की वास्तविक परख नहीं थी। इस कारण वे चाहकर भी हिन्दी का व्यवस्थित व्याकरण लिखने में असमर्थ थे। फलतः, उनलोगों ने विवेच्य भाषा के आधार पर उसके व्याकरण का स्वतन्त्र ढाँचा निर्मित करने के बदले, यूरोपीय भाषाओं के व्याकरणों के बने-बनाये ढाँचे को ही यथावत स्वीकार कर लिया और उसमें यथास्थान हिन्दी की सामान्य बोलचाल के शब्दरूपों एवं वाक्यों को उदाहरणों के रूप में सजाते हुए, हिन्दी के तथाकथित व्याकरण-ग्रन्थों की रचना कर डाली। इस प्रकार, उन आरम्भिक हिन्दी-वैयाकरणों के द्वारा जो व्याकरण निर्मित हुए, वे विदेशियों के लिए हिंदी स्वबोधिनी के रूप में भले ही उपयोगी सिद्ध हुए हों; किन्तु भाषा के वास्तविक विश्लेषण-विवेचन की दृष्टि से तथा व्याकरण के परम्परा-निर्माण की दृष्टि से हिन्दी के लिए नितान्त अनुपयोगी तथा अहितकर प्रमाणित हुए। आगे चलकर, लगभग ढाई सौ वर्षों तक उस अवैज्ञानिक परम्परा का हिन्दी वैयाकरणों के द्वारा इस प्रकार अन्धानुकरण होता रहा कि पं० कामता प्रसाद गुरु जैसे उच्चकोटि के वैयाकरण भी उसके मोह से नहीं बच सके। अपने व्याकरण के सम्बन्ध में इस तथ्य की चर्चा करते हुए, उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि 'यह व्याकरण, अधिकांश में, अँगरेजी-व्याकरण के ढङ्ग पर लिखा गया है। इस प्रणाली के अनुसरण का मुख्य कारण यह है कि हिन्दी के आरम्भ से ही इसी प्रणाली का उपयोग किया गया है और आजतक किसी लेखक ने संस्कृत-प्रणाली का कोई पूर्ण आदर्श उपस्थित नहीं किया।'[१]

निश्चय ही यह हिन्दी का बहुत बड़ा दुर्भाग्य था कि उद्देश्य, आदर्श, पद्धति आदि सभी दृष्टियों से उसके व्याकरण-निर्माण का कार्य अनधिकारी व्यक्तियों के द्वारा नितान्त अनुपयुक्त एवं अवैज्ञानिक रूप से प्रारम्भ किया गया। उसी का यह व्यापक दुष्परिणाम है कि लगभग तीन सौ वर्षों की दीर्घ अवधि के व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी, आजतक, हिन्दी-व्याकरण का कोई ऐसा पूर्णतः

---

१. का० प्र० गु० : हिन्दी-व्याकरण, भूमिका, पृ० ३।

सर्वमान्य रूप स्थिर नहीं हो पाया है, जो हिन्दी के यथार्थ स्वरूप, प्रकृति, एवं प्रवृत्ति आदि का सम्यक् दिग्दर्शन कराने में समर्थ हो। इसके साथ ही, हिन्दी-भाषा के रूप एवं प्रयोगों में पायी जाने वाली विविधता, अस्थिरता तथा अनेकरूपता का भी मूल कारण यही है।

हिन्दी-व्याकरणेतिहास के आरम्भिक युग से अद्यावधि व्याकरण-निर्माण की पद्धति में तो विशेष उल्लेखनीय अन्तर नहीं आया है, किन्तु उद्देश्य, आदर्श, नियम-निर्धारण, वर्गीकरण, परिभाषा-निर्माण, विश्लेषण-विवेचन तथा शब्दावली आदि में निरन्तर परिवर्त्तन होते रहने के कारण उसके स्वरूप में दिनानुदिन निखार एवं स्वच्छता अवश्य आती गयी है। उक्त दृष्टियों से हिन्दी-व्याकरण के स्वरूप-विकास का सम्यक् समीक्षात्मक अध्ययन करने के उद्देश्य से, उसके सम्पूर्ण इतिहास के लगभग तीन सौ वर्षों की अवधि को निम्नलिखित पाँच काल-खण्डों में विभाजित किया जा सकता है :

१. आरम्भ-काल : लगभग सन् १६७६—१८५५ ई०
२. विकास-काल : सन् १८५५—१८७६ ई०
३. उत्थान-काल : सन् १८७६—१९२० ई०
४. उत्कर्ष-काल : सन् १९२०—१९४७ ई०
५. नवचेतना-काल : सन् १९४७ से वर्त्तमान काल तक

हिन्दी व्याकरणेतिहास के उपर्युक्त काल-खण्डों में प्रत्येक के साथ व्याकरण के स्वरूप-विकास की क्रमशः स्पष्ट होती जाने वाली विभिन्न रेखाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक काल-खण्ड का प्रारम्भ एवं समाप्ति किसी विशेष प्रवृत्ति, विशेष उद्देश्य तथा विशिष्ट वैयाकरणों की प्रभावावधि के प्रारम्भ एवं समाप्ति के साथ संलग्न है। उक्त काल-विभाजन में एतद्विषयक प्रायः सभी सम्भव आधारों के सामञ्जस्य पर ध्यान रखा गया है। किन्तु, जहाँ तक काल-खण्डों के नामकरण का सम्बन्ध है; यह सम्भव नहीं है कि किसी काल-खण्ड का कोई एक ऐसा नाम दिया जाय, जिसमें सभी आधारों का सामञ्जस्य हो। इसलिए, भिन्न-भिन्न आधारों पर प्रत्येक काल-खण्ड के अनेक नाम सम्भव हैं। उपर्युक्त नामकरण में हमने हिन्दी-व्याकरण के स्वरूप में क्रमिक रूप से होने वाले विकास को आधार बनाया है।

आरम्भ-काल

(सन् १६७६—१८५५ ई०)

सामान्य परिचय

हिन्दी-व्याकरण का निर्माण-कार्य सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ हुआ। यह एक विलक्षण, किन्तु वास्तविक तथ्य है कि हिन्दी-व्याकरणेतिहास के प्रारम्भ के लगभग पौने दो सौ वर्षों (सन् १६७६–१८५५ई०) तक केवल विदेशियों के द्वारा हिन्दी-व्याकरण लिखे जाते रहे। उक्त अवधि में किसी भी भारतीय पण्डित ने हिन्दी-व्याकरण के निर्माण का प्रयास नहीं किया। इसके अनेक कारण थे, जिन पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

यह इतिहास-सिद्ध तथ्य है कि भारत में मुसलमानों की साम्राज्य-स्थापना से खड़ी बोली को अपने विकास के लिए अप्रत्याशित अनुकूल अवसर मिला। इसके अतिरिक्त, उनके साम्राज्य-विस्तार के साथ-ही-साथ इसका भी प्रचार-प्रसार होता रहा तथा उनके साम्राज्य-पतन के पूर्व एवं विदेशियों के भारत-प्रवेश होने तक यह सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गयी। विदेशी व्यापारी छिट-पुट रूप से अकबर के शासन-काल में ही आने लगे थे। जहाँगीर के समय तक आते-आते डच, पुर्तगीज, फ्रेन्च तथा अँगरेज सब-के-सब यहाँ पर्याप्त संख्या में एकत्र हो गये। फिर, धीरे-धीरे जब उनका व्यापार चमक उठा, तब उनके साथ धर्म-प्रचारक भी आने लगे। आगे चलकर उन विदेशियों के कार्य केवल व्यापार और धर्म-प्रचार तक ही सीमित नहीं रहे। वे शनैः-शनैः देश के विभिन्न भागों के शासक भी बनते गये। इस प्रकार, इस देश के साथ उनका सम्बन्ध मुख्यतः तीन क्षेत्रों में बँट गया—व्यापार, धर्म-प्रचार और शासन-कार्य। इन तीनों ही क्षेत्रों में पूर्णतः सफल होने के लिए यहाँ की किसी ऐसी भाषा की जानकारी उनके लिए अनिवार्य थी, जिससे देश के सभी भागों में उनका कार्य चलता। ऐसी भाषा उस समय एकमात्र हिन्दी ही थी, जो आसेतुहिमाचल बोली समझी जाती थी। इस कारण सर्वप्रथम हिन्दी सीखने की ओर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था। किन्तु, उनके लिए हिन्दी एक अपरिचित और विदेशी भाषा थी, जिसका

व्यवस्थित ज्ञान व्याकरण की सहायता के विना सम्भव नहीं था। दूसरी ओर हिन्दी का उस समय तक कोई व्याकरण था ही नहीं। गद्य का अभाव, संस्कृति के प्रति परम्परागत मोह, देशी भाषाओं के प्रति उपेक्षा-भाव तथा सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में अनवरत अशान्ति के कारण उस समय तक भारतीय आचार्यों का ध्यान हिन्दी-व्याकरण-निर्माण की ओर गया ही नहीं था। साथ ही, उनके लिए उस समय हिन्दी-व्याकरण की वैसी अनिवार्यता भी नहीं थी जैसी विदेशियों के लिए। इसलिए, लाचार होकर भारतीयों से पहले विदेशियों को ही हिन्दी-व्याकरण के निर्माण का कार्य शुरू करना पड़ा।

हिन्दी के आदि वैयाकरण कौन थे, उनका व्याकरण कौन था और कब लिखा गया था; इन प्रश्नों का समुचित उत्तर निश्चित एवं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में दिया जाना सम्भव नहीं है। किन्तु, इटली के प्रसिद्ध विद्वान एमिल्यो तेस्सा,[१] इङ्गलैण्ड के डॉ० जार्ज ग्रियर्सन[२] तथा भारत के डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी[३] के साक्ष्य पर, अद्यावधि ज्ञात हिन्दी-वैयाकरणों में सर्वाधिक प्राचीन हालैण्ड निवासी जोहन जोशुआ केटेलेर को माना जा सकता है, जिनका 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' सन् १६९८ ई० में या उसके कुछेक वर्ष पूर्व लिखा गया था। उसके आधार पर हिन्दी-व्याकरणेतिहास का 'आरम्भ-काल' सन् १६९८ ई० के आस-पास से माना जाना चहिए। किन्तु, हमने कतिपय कारणों से सन् १६७६ ई० के आस-पास से इसका आरम्भ माना है। इसका एक कारण तो यह है कि केटेलेर के पूर्व मिर्जा खाँ ने सन् १६७६ ई० में एक ब्रजभाषा-व्याकरण की रचना की थी;[४] जिसको देखने से यह निश्चित अनुमान होता है कि हिन्दी-व्याकरण के निर्माण की परम्परा केटेलेर के भारत-आगमन के बहुत पूर्व शुरू हो गयी होगी। आज केटेलेर के पूर्व का कोई हिन्दी-व्याकरण उपलब्ध नहीं है; किन्तु यह इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं माना जायगा कि उसके पूर्व किसी अन्य व्याकरण की रचना हुई ही नहीं होगी। इसका एक

---

१. सु० कु० च० : 'ऋतम्भरा', पृ० १४४।
२. लिं० स० इं०, वॉ० ९, भाग १, पृ० ६-८।
३. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, 'हिन्दुस्तान का सबसे प्राचीन इतिहास', सु० कु० च०, सन् १९३६ ई०, पृ० ३६३।
४. A Grammar of Brajbhaka by Mirza Khan (1676 A, D.)
—Edited by M. Ziauddin.

दूसरा कारण भी है। हिन्दी के प्रायः सभी इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि 'अकबर और जहाँगीर के समय में खड़ी बोली भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी।'[१] अकबर के शासनकाल में ही हिन्दी-गद्य-साहित्य का सूत्रपात भी हो गया था, जो गङ्ग कवि द्वारा सन् १५७२ ई० में लिखित 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' से स्पष्ट है। जहाँगीर के समय तक आते-आते हिन्दी-गद्य विकासोन्मुख हो चुका था। दूसरी ओर उस समय तक डच, पोर्तुगीज तथा फ्रांसीसी व्यापारियों के साथ अँगरेज-व्यापारी भी पर्याप्त संख्या में यहाँ आ चुके थे; जिन्हें आने के साथ ही यहाँ की भाषा सीखने की आवश्यकता पड़ी होगी। ऐसी स्थिति में सम्भावना तो इस बात की है कि हिन्दी-व्याकरण का निर्माण सन् १६७६ ई० से भी बहुत पूर्व प्रारम्भ हो चुका होगा; किन्तु निश्चित प्रमाणों के अभाव में हमने मिर्ज़ा खाँ के व्याकरण के रचना-काल सन् १६७६ ई० के आस-पास से ही हिन्दी-व्याकरण के 'आरम्भ-काल' का प्रारम्भ माना है।

सन् १६७६ ई० के आसपास से सन् १८५५ ई० तक के जितने भी व्याकरण उपलब्ध हैं; वे सब-के-सब विदेशियों के द्वारा लिखित हैं। उनमें उद्देश्य, पद्धति एवं आदर्श, सभी दृष्टियों से समानता है। इन्हीं कारणों से हमने उक्त अवधि को एक स्वतन्त्र काल-खण्ड मानते हुए, उसको 'आरम्भकाल' कहा है। इस काल के वैयाकरणों में केटेलेर का व्याकरण सर्वाधिक प्राचीन होने के कारण तथा पादरी आदम का व्याकरण हिन्दी में लिखित पहला व्याकरण होने के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस काल के वैयाकरणों का प्रधान उद्देश्य विदेशियों को हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्रदान करना था। उनकी पद्धति तथा आदर्श दोनों ही विदेशी थे। उनलोगों ने यूरोपीय भाषाओं के व्याकरण के ढाँचे को ही, स्वल्प परिवर्त्तन के साथ, हिन्दी के लिए ग्रहण कर लिया था। उनमें से किसी का भी हिन्दी-ज्ञान व्याकरण-लेखन के लिए पर्याप्त नहीं था। इस कारण उनके द्वारा निर्धारित अधिकांश नियम तथा उदाहरण दूषित थे। उनका ध्यान भाषा के शिष्ट रूप पर उतना नहीं था, जितना बाजारू बोलचाल के रूप पर। उक्त कारणों से, हिन्दीभाषी भारतीयों के लिए इस काल के व्याकरणों की कोई उपयोगिता नहीं थी। यह चूँकि हिन्दी-व्याकरण-रचना का प्राथमिक प्रयास-

१. हि० सा० इ० : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४१०।

युग था, इस कारण उसका स्वरूप बिल्कुल ही स्पष्ट नहीं हो पाया था। इस युग के कई व्याकरण 'अँगरेजी-हिन्दी-कोश' की भूमिका या परिशिष्ट के रूप में लिखे गये थे।

इस काल में हिन्दी-व्याकरण के अतिरिक्त व्रजभाषा तथा उर्दू के भी कुछ व्याकरण लिखे गये। व्रजभाषा-व्याकरणों में मिर्जा खाँ का व्याकरण सन् १६७६ ई० में तथा लल्लूलाल का सन् १८११ ई० में रचा गया था। लल्लूलाल ने 'हिन्दी कवायद' नामक किसी हिन्दी-व्याकरण की भी रचना सन् १८०४ ई० के आसपास की थी, जिसका उल्लेख 'गुरुजी' आदि कई विद्वानों ने किया है, किन्तु वह ग्रन्थ कहीं उपलब्ध नहीं होता। स्वयं 'गुरुजी' को भी वह कहीं नहीं मिला था।[1]

उर्दू व्याकरणों में सैयद इंशा अल्ला खाँ का 'दरियाए लताफत' सन् १८०२ ई० में, मौलवी अमानतुल्लाह का 'सर्फ ए उर्दू' सन् १८१० ई० में, बहादुर अली हुसैनी का 'गिलक्राइस्ट उर्दू सिसालह' सन् १८२० ई० में, मौलवी मुहम्मद इब्राहीम का 'तोहफए अलफिस्टन' सन् १८२३ ई० में, अहमद अली का 'फैज़ का चश्म' सन् १८४५ ई०, मुंशी करीमुद्दीन का 'क़वायदुल मुब्त दी' सन् १८४५ ई० में, मौलवी इमाम बक्श का 'उर्दू-ग्रामर' सन् १८४६ ई० में तथा वाजिद अली खाँ का 'गुलदस्तए अञ्जुमन' सन् १८४६ ई० में प्रकाशित हुआ था। उक्त वैयाकरणों में से कुछ की चर्चा ग्रियर्सन ने अपने लिङ्ग्विस्टिक सर्वे (वो० ६, भा० १, पृ० १८-२१) में की है तथा कुछ का उल्लेख एजाज़हुसेन के 'उर्दू साहित्य का इतिहास' (पृ० २२४) में हुआ है।

'आरम्भकाल' के उपर्युक्त मुसलमान वैयाकरणों को छोड़कर शेष सबने हिन्दी और उर्दू के सम्मिलित अर्थ में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया था। हिन्दुस्तानी से उनका तात्पर्य हिन्दी और उर्दू के उस जनप्रचलित रूप से था, जो आसेतुहिमाचल प्रयोग में आता था तथा जिसमें संस्कृत, अरबी, फारसी, तुर्की, अँगरेजी, पोर्तुगीज, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं के जनगृहीत शब्दों का सहज रूप से प्रयोग होता था। उन वैयाकरणों के अनुसार हिन्दी और उर्दू, हिन्दुस्तानी की ही दो बोलियाँ या शैलियाँ थीं, जिनका उद्भव-स्रोत एक

---

१. का० प्र० गु० : हिन्दी-व्याकरण, भूमिका, पृ० ६।

होने के कारण व्याकरणगत रूप भी एक ही था।'[१] १८वीं शताब्दी के अन्त तक यह मान्यता ज्यों-की-त्यों बनी रही; किन्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई और गिलक्राइस्ट ने हिन्दी के संस्कृतनिष्ठ 'भाखा' रूप तथा अरबी-फारसी-निष्ठ 'हिन्दुस्तानी' रूप में अलग-अलग साहित्य निर्माण के लिए अलग-अलग भाखा मुंशियों की नियुक्ति की, तो उक्त मान्यता शिथिल पड़ने लगी। आगे चलकर अनेक राजनैतिक, धार्मिक तथा अन्यान्य कारणों से लोग हिन्दी और उर्दू को एक दूसरे से नितान्त भिन्न सिद्ध करने पर तुल गये और उस भाषा-विवाद ने देश में बड़ा ही विषाक्त वातावरण उपस्थित कर दिया। उसके अनेक दुष्परिणाम हुए, जिनमें हिन्दी और उर्दू के व्याकरणों का अलग-अलग लिखा जाना भी एक था। ऊपर जिन मुसलमान वैयाकरणों का उल्लेख हुआ है, वे सब-के-सब फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के बाद व्याकरण-रचना के लिए प्रेरित हुए थे और सबने उक्त स्थिति से प्रभावित होकर उर्दू-व्याकरणों की रचना की थी। किन्तु, विदेशी वैयाकरण (कुछेक को छोड़कर) आरम्भ-काल की समाप्ति तक हिन्दी और उर्दू दोनों को अभिन्न मानकर 'हिन्दुस्तानी' के नाम से ही अभिहित करते रहे। इस कारण, उक्त काल में उनलोगों के द्वारा लिखे गये व्याकरणों को हिन्दी तथा उर्दू; दोनों का व्याकरण माना जा सकता है।

विवेच्य युग में हिन्दी की स्थिति :

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी-व्याकरणेतिहास के प्रारम्भ के पूर्व ही हिन्दी प्रायः सम्पूर्ण देश की सम्पर्क-भाषा बन चुकी थी। इसीलिए, उसके

१. "Throughout the extensive empire of India, from Cape-Comorin to Kashmir and from Brahmaputra to the Indus the Hindustani is the language most generelly used. It consists of two dialects, that of the Musalmans called the Urdu or Rekhta and that of the Hindus, called Hindi. As the both dialects, however, follow in the main, the same grammatical rules, they are understood here to be both included under the general name Hindustani, which means, par excellence, the language of Hindustan."—Duncan Forbes, 'Hindustani Manual,' Part I, Sec 1. p. 1

ज्ञान को अपने लिए अनिवार्य समझ कर विदेशी विद्वान व्याकरण-निर्माण की ओर प्रवृत्त हुए थे। किन्तु, देश की सर्वाधिक व्यापक भाषा होने पर भी उस समय न तो इसकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी और न शासन या न्यायादि के कार्यों के लिए ही इसका उपयोग होता था।

शिक्षा में हिन्दी :

विलियम आदम[१], लुडलो[२], वार्ड[३], मैलकॉम[४] आदि विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों एवं इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों एवं विवरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल के प्रारम्भ में सम्पूर्ण देश में देशी पद्धति की पाठशालाओं एवं मकतबों की भरमार थी, जिनमें क्षेत्रीय भाषाओं की सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त संस्कृत और फारसी की शिक्षा का विशेष प्रचलन था। इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दी-प्रान्तों की पाठशालाओं एवं मकतबों में हिन्दी-हिन्दुस्तानी की भी सामान्य शिक्षा अवश्य दी जाती रही होगी, किन्तु उन शिक्षालयों को राजकीय संरक्षण एवं पोषण नहीं मिलने के कारण उनकी दशा दिनानुदिन दयनीय होती जा रही थी। इसके अतिरिक्त, कुछ प्रसिद्ध विद्यापीठों को छोड़कर शेष अधिकांश विद्यालयों की शिक्षा भाषा के लिखने-पढ़ने के सामान्य ज्ञान तक ही सीमित थी।

प्रारम्भ में देशी शिक्षा-पद्धति से भिन्न शिक्षा-पद्धति के लागू करने का सर्वप्रथम प्रयत्न ईसाई-मिशनरियों, स्वतन्त्र व्यक्तियों तथा वैयक्तिक समितियों द्वारा हुआ।[५] इस तरह के प्रयत्न पहले मद्रास में और फिर बङ्गाल में शुरू हुए। चूँकि मिशनरियों का प्रमुख कार्यक्षेत्र उन्हीं दोनों प्रान्तों में था, इस कारण हिन्दीभाषी क्षेत्र उनके प्रयत्नों से विशेष लाभान्वित नहीं हुआ। फिर भी, आगरा (सन् १८१३ ई०), मेरठ (सन् १८१५ ई०), बनारस (सन् १८१७ ई०), आजमगढ़ और जौनपुर (सन् १८३१ ई०) में मिशनरियों ने अपने अनेक

१. 'The Development of Modern Education', Bhagwan Dayal, p. 12.
२. Ibid, p. 18.
३. 'View of the Hindus', : Ward, Part I, p. 160.
४. 'History of Education in India during the British Period' : S. Nurulla & J. P. Nayak, p. 22.
५. 'हिन्दी की समस्याएँ' : कामेश्वर शर्मा।

केन्द्रों एवं स्कूलों की स्थापना की। उनलोगों ने शिक्षा में अँगरेजी के साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं को भी महत्त्व दिया; क्योंकि वे निम्नस्तरीय लोगों के बीच काम करते थे, जो अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त और किसी भाषा से परिचित नहीं थे। उनके द्वारा स्थापित स्कूलों में क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी।[१]

अपने शासनकाल के प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतीयों की शिक्षा के प्रति बिलकुल उदासीन थी। सन् १८१८ ई० के मराठा-युद्ध तक कम्पनी-सरकार को भारत की शिक्षा-व्यवस्था के भूत-वर्त्तमान-भविष्य पर सोचने की न तो इच्छा थी और न अवकाश ही। उसकी सारी शक्ति का व्यय नव-स्थापित राज्यशक्ति को दृढ़मूल करने में ही हो रहा था।[२] इसीलिए, सर्वप्रथम सन् १८७३ ई० के 'चार्टर ऐक्ट' में जब विल्वर फोर्स, चार्ल्स ग्राण्ट तथा उनके मित्रों ने इस आशय का खण्ड (क्लॉज) सम्मिलित कराने का प्रयास किया कि 'कम्पनी भारतीयों की शिक्षा के लिए प्रयत्न करे', तो निदेशकों ने इसका घोर विरोध किया था। एक निदेशक ने तो यहाँ तक कहा कि "हमने अभी तुरत अपनी मूर्खता से स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना करके अमरीका को खोया है; हमलोग भारत में उसी मूर्खता को दुहराना नहीं चाहते।"[३] किन्तु, आगे चलकर जब चार्ल्स ग्राण्ट को कम्पनी के डाइरेक्टरों में स्थान प्राप्त हुआ तथा वे इङ्गलैण्ड की संसद् सभा के भी सदस्य हुए, तब उन्होंने कम्पनी के 'कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स' को उक्त प्रस्ताव पर गम्भीरतापूर्वक सोचने को बाध्य किया। फलतः, सन् १८१३ ई० में जब कम्पनी का 'चार्टर ऐक्ट' नवीकरण के लिए प्रस्तुत किया गया, तो उसमें भारतीयों की शिक्षा के विकास के लिए एक लाख रुपये का अनुदान स्वीकृत किया गया।

सन् १८२३ ई० में शिक्षा-प्रसार की योजना के कार्यान्वयन के लिए एक 'जनशिक्षा की सामान्य समिति' की स्थापना की गयी, जिसके प्रयत्न से कलकत्ता-मदरसा तथा बनारस-संस्कृत-कॉलेज का पुनस्सङ्गठन किया गया तथा

---

१. 'History of Education in India during British Period': . Nurulla & J. P. Nayak. p. 91–92.

२. 'हिन्दी की समस्याएँ', कामेश्वर शर्मा, पृ० ५।

३. 'The Development of Modern Education', Bhogwan Daya, I..

कलकत्ता, आगरा और दिल्ली में प्राच्यविद्या के महाविद्यालय खोले गये। इसके अतिरिक्त, संस्कृत और अरबी-पुस्तकों के प्रकाशन तथा उपयोगी ज्ञान की अँगरेजी-पुस्तकों के इन भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत करने की योजना भी बनायी नयी। किन्तु, उक्त समिति की शिक्षा-सम्बन्धी नीति से बङ्गाल के नेता, विशेषकर राजाराममोहन राय सहमत नहीं थे। वे अँगरेजी के माध्यम से आधुनिक ढङ्ग की पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा का प्रचार चाहते थे[१], जिसकी पूर्त्ति उक्त समिति की शिक्षा-नीति से सम्भव नहीं थी। इसलिए, उन्होंने सन् १८२३ ई० के ११ दिसम्बर को गवर्नर जेनरल एमहर्स्ट के पास अपना क्षोभ व्यक्त करते हुए एक पत्र लिखा, जिसमें भारतीय शिक्षा-पद्धति के साथ संस्कृत-व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा, न्याय आदि विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन को व्यर्थ प्रमाणित करते हुए पाश्चात्य पद्धति से पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के प्रचार की माँग की गयी थी। समिति के एक दूसरे प्रभावशाली सदस्य एच० टी प्रिंसेप संस्कृत एवं अरबी की शिक्षा को आवश्यक मानते थे, इसलिए सन् १८३४ ई० की ६ जुलाई, को प्रकाशित एक 'मिनट' में उन्होंने उक्त भाषाओं के अध्ययन का समर्थन किया। इस प्रकार, 'जन-शिक्षा की सामान्य समिति' के सदस्यों में शिक्षानीति को लेकर मतभेद हो गया, जिसने आगे चलकर उग्र विवाद का रूप धारण कर लिया। समिति के एक दल के सदस्य अँगरेजी के माध्यम से पाश्चात्य-शिक्षा के प्रचार का समर्थन कर रहे थे और दूसरा दल संस्कृत-अरबी के अध्ययन को अनिवार्य मानता था। इस विवाद का अन्त मैकॉले के सन् १८३५ ई० की २ फरवरी, वाले उस इतिहास-प्रसिद्ध टिप्पण से हुआ, जो आधुनिक भारतीय शिक्षा-पद्धति का 'मैग्नाकार्टा' समझा जाता है।

शिक्षा के माध्यम के रूप में उस समय सरकार के सामने तीन विकल्प थे: १. क्षेत्रीय भाषएँ, २. प्राच्य श्रेण्य भाषाएँ और ३. अँगरेजी। मैकाले ने अपने टिप्पण में क्षेत्रीय भाषाओं को नितान्त दरिद्र, अविकसित और असमर्थ बताया था।[१] इसी प्रकार, उसने संस्कृत भाषा, साहित्य एवं शास्त्र, तीनों की

---

१. "The dialects commonly spoken among the natives of this part of India contain neither literary nor scientific information, and are, moreover, so poor and rude that, until they are enriched from some other quarter, it will not be easy to translate any valuable work into them."

अत्यन्त कटु एवं तीव्र निन्दा करते हुए[१] अन्त में अँगरेजी की प्रशंसा के पुल बाँधे थे[२] और अँगरेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्यशिक्षा-पद्धति के प्रचार पर जोर दिया था। उसने भारतीयों के प्रति अत्यन्त अभद्रता प्रदर्शित करते हुए लिखा था कि यह आश्चर्य की बात है कि अधिक बुद्धिमान जाति मूर्ख जाति की शिक्षा का भार ले और उसी से पूछे कि तुम्हें क्या पढ़ाया जाय ? पाठ्यक्रम का निर्धारण शिक्षक करते हैं, शिक्षार्थी नहीं। इसलिए, यहाँ के निवासियों को क्या पढ़ाना है—यह बताना हमारा कर्त्तव्य है, उनलोगों का नहीं, जिन्हें यह भी पता नहीं कि यह चाँद क्या है, ये तारे क्या हैं ?

अँगरेजी-शिक्षा के पीछे निहित अपने मुख्य उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उसने लिखा था कि हमें अभी एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना है, जो सरकार तथा उसकी भारतीय प्रजा के बीच दुभाषिये का काम कर सके, एक ऐसा वर्ग— जो केवल रङ्ग और खून में तो भारतीय रहे, किन्तु अन्य सभी बातों में अँगरेज बन जाय।[३]

---

१. "It is confessed that the language (Sanskrit) is barren of useful knowledge. We are to teach it because it is fruitful of monstrous superstitions. We are to teach false history, false astronomy, false medicine, because we find them in company with a false religion......It is, I believe, no exaggeration to say that all the historical information which has been collected from all the books written in Sanskrit language is less valuable than what may be found in the most Paltry abridgements used at preparatory schools in England.........A single self of a good European Library was worth the whole native literature of India and Arabia."

२. "English is better worth knowing than Sankrit or Arabic."

३. "We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern : a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect."

'मिनट' के अन्त में उसने लिखा था कि "सरकार को यदि हमारे सुझाव मान्य हों, तो मैं इस नयी शिक्षा-पद्धति को लागू करने में सबसे अधिक उत्साह के साथ जुट जाऊँगा, और यदि ये अमान्य हों, तो मेरी प्रार्थना है कि मुझे इस समिति की अध्यक्षता से मुक्त हो जाने की अनुमति प्रदान की जाय।" मैकाले का ब्रह्मास्त्र काम कर गया और गवर्नर जेनरल विलियम वैण्टिङ्क ने उस पर हस्ताक्षर करते हुए केवल एक पंक्ति लिखी कि 'मैं इस मिनट में व्यक्त विचारों का पूर्णरूपेण समर्थन करता हूँ।'[१]

इस प्रकार, ७ मार्च, सन् १८३५ ई० के सङ्कल्प में विलियम बैण्टिङ्क के द्वारा मैकॉले के सभी सुझावों को मान लिए जाने के कारण हिन्दी तथा अन्यान्य क्षेत्रीय भाषाओं के विकास का मार्ग अनिश्चित काल तक के लिए तिमिराच्छन्न हो गया। उक्त सङ्कल्प में यह घोषित किया गया कि सरकार भारतीयों में अँगरेजी भाषा के माध्यम से यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान की शिक्षा का प्रसार करेगी और शिक्षा के लिए निश्चित समस्त निधि केवल अँगरेजी-शिक्षा पर खर्च की जायगी।[२] उक्त सङ्कल्प के मूल में मैकॉले के सुझाव के साथ बैण्टिङ्क का अपना पूर्वाग्रह भी था; क्योंकि उसने सन् १८३० ई० में ही अँगरेजी को न्यायालयों की भाषा बनाने की बात सोची थी और इस सम्बन्ध में कम्पनी के निदेशकों के पास लिखा भी था।[३]

आगे चलकर लार्ड आकलैण्ड ने भी बैण्टिङ्क की नीति का ही समर्थन किया। 'जनशिक्षा की सामान्य समिति' भी हिन्दी या अन्य किसी देशी भाषा के विकास के पक्ष में नहीं थी।[४] सन् १८४२ ई० में उसके स्थान पर एक शिक्षा-परिषद् (कौन्सिल ऑफ एजुकेशन) की स्थापना की गयी और सन् १८४४ ई० में सरकार ने अँगरेजी-पद्धति से शिक्षित भारतीयों को सरकारी सेवाओं में नियुक्त करने की अपनी नीति घोषित की। इस घोषणा से अँगरेजी शिक्षा के विकास को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला और सरकारी नौकरी के लोभ

---

१. हिन्दी की समस्याएँ : कामेश्वर शर्मा, पृ० १५।
२. 'History of Education in India etc.' : S. Nurulla & J. P. Nayak. p. 109-10.
३. 'The Development of Modern Education.' ; Bhagwan Dayal. p. 215.
४. Ibid, p. 216.

से सब जगह (विशेषकर बङ्गाल और मद्रास में) अँगरेजी-शिक्षा की धूम मच गयी।

फिर, सन् १८५४ ई० में ऊड्स का 'एजुकेशन डिस्पैच' प्रकाशित हुआ, जिसके अनुसार शिक्षा-सम्बन्धी कई नवीन योजनाओं का आरम्भ हुआ; जैसे, सभी प्रान्तों में शिक्षा-विभाग की स्थापना, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय की स्थापना, देश में ग्रेडेड स्कूल की शिक्षा में वृद्धि आदि। उक्त 'डिस्पैच' में, देशी पद्धति के प्राथमिक विद्यालयों को राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति की नींव के रूप में स्वीकार किया गया था तथा कॉलेजों में शिक्षा के माध्यम के रूप में अँगरेजी को और माध्यमिक विद्यालयों में अँगरेजी के साथ क्षेत्रीय भाषाओं को उपयोग में लाने का सुझाव दिया गया था। इसके अतिरिक्त उसमें आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास-कार्य को भी प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया गया था। किन्तु, उपर्युक्त सुझावों में कुछ तो विकृत रूप में कार्यान्वित हुए, कुछ बहुत बाद में कार्यान्वित हुए और कुछ अँगरेजी-शासनकाल में कार्यान्वित हुए ही नहीं।[१] फिर भी, सन् १८५४ ई० के बाद शिक्षा-प्रसार का कार्य तेजी से आगे बढ़ा। किन्तु, इस काल में शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी उपेक्षित बनी रही।

शासन में हिन्दी

मुस्लिम-शासनकाल में फारसी देश की राजभाषा बनी रही और जब मुगल दरबार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर को मञ्जूरी दी, तो इस शर्त्त के साथ कि फारसी ही राजभाषा बनी रहेगी।[२] तदनुसार, सन् १८३६ ई० तक कम्पनी-सरकार की राजभाषा भी फारसी ही रही। किन्तु, मुगलसाम्राज्य के पतन के पश्चात् फारसी का महत्त्व क्षीण होने लगा। मुगल-शासन के अन्तिम दिनों में फारसी का स्थान उस भाषा ने ले लिया, जिसे उस जमाने के मुसलमान-यात्रियों ने ज़वानेहिन्द, हिन्दवी, हिन्दी, हिन्दुई, ज़वाने देहली, ज़वाने हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तानी आदि नामों से अभिहित किया है।[३] किन्तु, अदालतों

---

१. 'हिन्दी-कथा-साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव', डॉ० गोपाल राय, पृ० १०२।

२. 'The rise and growth of Hindi journalism', R. R. Bhatnagar, p. 11.

३. एहतेशाम हुसैन : आलोचना १, पृ० २५।

एवं दफ्तरों में घुसते ही किस प्रकार उसका रूप इन सबसे अलग निखालिश उर्दू का हो गया, यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट होगा।

२१ दिसम्बर, सन् १७९८ ई० की सरकारी सूचना में यह घोषणा की गयी कि १ जनवरी, सन् १८०१ ई० के बाद 'सिविल सर्विस' का कोई भी कर्मचारी भारतीय भाषा का ज्ञान प्राप्त किये विना तथा तत्सम्बन्धी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए विना किसी भी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में न्याय, माल और व्यापार विभागों के लिए जिन-जिन भाषाओं का ज्ञान आवश्यक समझा गया, उनका विवरण इस प्रकार है: बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा और बनारस में न्याय-विभागीय पदाधिकारियों के लिए हिन्दुस्तानी और फारसी; बङ्गाल और उत्तरप्रान्त में मालगुजारी उगाहने वाले समाहर्त्ताओं तथा चुङ्गी, व्यापार या नमक के अभिकर्त्ताओं के लिए बँगला; बनारस और बिहार-प्रान्त में मालगुजारी उगाहने वाले समाहर्त्ताओं तथा चुङ्गी, व्यापार या अफीम के अभिकर्त्ताओं के लिए हिन्दुस्तानी।[1]

सन् १८०० ई० में जब फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई, तब उसमें देश की कई भाषाओं के साथ हिन्दुस्तानी (अर्थात् अरबी-फारसीनिष्ठ हिन्दी) के अध्यापन के लिए तो प्रोफेसर नियुक्त करने का निश्चय किया गया; किन्तु हिन्दुस्तानी के 'भाखा'-रूप (अर्थात् संस्कृतनिष्ठ हिन्दी) का अध्यापन आवश्यक नहीं समझा गया, जबकि कम्पनी ने हिन्दी के 'भाखा' और 'हिन्दुस्तानी' दोनों रूपों को अलग-अलग भाषा के रूप में स्वीकार किया था। वास्तव में, यहीं उस 'विभाजन द्वारा शासन' वाली नीति का बीजारोपण हुआ, जिसने आगे चलकर हिन्दी-उर्दू और हिन्दु-मुस्लिम-सङ्घर्ष को जन्म दिया।

फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष गिलक्राइस्ट इसे अच्छी तरह जानते थे कि 'हिन्दुस्तानी' शिक्षित मुसलमानों, मुंशियों, खानसामों और आयाओं की भाषा थी और 'हिन्दवी' या 'भाखा' देश के व्यापक जनवर्ग की।[2] फिर भी, उन्होंने राजनैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए जान-बूझकर कॉलेज में 'हिन्दुस्तानी' के फारसी-शिथिल रूप के अध्ययन को ही प्रश्रय दिया और 'हिन्दवी' की उपेक्षा की। लिपि भी उन्होंने फारसी ही पसन्द की; क्योंकि 'हिन्दुस्तानी' के पुराने लेखकों और कवियों ने इसी लिपि का प्रयोग

१. फोर्ट विलियम कॉलेज : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ७।
२. 'हिन्दी की समस्याएँ' : कामेश्वर शर्मा, पृ० ८३।

किया था। यहाँ तक कि कॉलेज की मुहर पर भी फारसी लिपि का ही प्रयोग किया गया।[1]

कम्पनी के अधिकारी भी हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि के महत्त्व से अपरिचित नहीं थे। जैसे-जैसे उत्तरी भारत में कम्पनी की राज्य-सीमा बढ़ती गयी, वैसे-वैसे नागरी में लिखित 'हिन्दवी' का महत्त्व उनकी दृष्टि में बढ़ता गया। सन् १८०४ ई० में लगभग समस्त उत्तरी भारत अँगरेजों के कब्जे में आ गया और २ मार्च, सन् १८०८ ई० में कोर्ट के डाइरेक्टरों ने 'गवर्नर जेनरल इन कौन्सिल' से हर्टफोर्ट कॉलेज में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के, भारतीय शासन-पद्धति में दक्षता प्राप्त करने के लिए नागराक्षरों में लिखित हिन्दुस्तानी पत्र तथा हिन्दवी-भाषा की समग्री माँगी, जो सन् १८०८ ई० के दिसम्बर तक सङ्कलित करके कोर्ट के पास भेज दी गयी।[2] इससे स्पष्ट है कि कम्पनी के शासक इस बात से अपरचित नहीं थे कि उत्तरी भारत की प्रधान और सामान्य भाषा हिन्दी थी—हिन्दुस्तानी, अर्थात् उर्दू नहीं। किन्तु, अपनी कुटिल नीति की सिद्धि के लिए जान-बूझकर वे हिन्दी की उपेक्षा कर रहे थे।

टेलर ने २५ जुलाई, १८१५ ई० को 'कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स' के पास जो पत्र भेजा था, उसमें हिन्दी को स्पष्ट रूप से भारत के समस्त उत्तर-पश्चिम प्रान्त की भाषा के रूप में स्वीकार किया था।[3] २५ जुलाई, १८१५ ई० को फोर्ट विलियम कॉलेज के वार्षिक अधिवेशन में भाषण देते हुए ऑनरेबुल एन० वी० एडमान्सटन ने कहा था कि "हिन्दी का हिन्दुस्तानी भाषा के साथ वही सम्बन्ध है, जो ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी की सैक्शन का आधुनिक अँगरेजी भाषा से है। व्रजभाषा भी इसी की एक बोली है। इस समय भारत की अधिकांश जनसङ्ख्या की भाषा हिन्दी है, जो विविध रूप धारण करके और अरवी-फारसी शब्दों के सम्मिश्रण के बाद उस शिष्ट और परिमार्जित भाषा का रूप धारण कर लेती है, जिन्हें उर्दू अथवा हिन्दुस्तान की दरबारी भाषा कहते हैं। हिन्दी का अध्ययन भारतीय जनसमाज के सभी वर्गों के साथ व्यापक संसर्ग और व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने वालों के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं, आवश्यक भी है। इसलिए,

---

१. हिन्दी की समस्याएँ, कामेश्वर शर्मा, पृ० ८३।

२. 'फोर्ट विलियम कॉलेज' : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ७९-८०।

३. उपरिवत्।

यह अत्यन्त वाञ्छनीय है कि ऐसी भाषा कॉलेज में भी सभी के अध्ययन का विषय बने ।[१] फिर भी, कॉलेज में गिलक्राइस्ट की भाषा-नीति का ही अनुसरण होता रहा । आगे चल कर विलियम प्राइस के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप, जब वहाँ हिन्दी को स्थान मिला भी, तो उसी समय कॉलेज का अस्तित्व ही सङ्कटग्रस्त हो गया और सन् १८५४ ई० में वह बन्द कर दिया गया ।

फारसी के राजभाषा रहने के कारण न केवल जनता को, अपितु शासनाधिकारियों तथा उनके कर्मचारियों को भी शासन-कार्य में पर्याप्त कठिनाई होती थी । उसको दूर करने के लिए सन् १८०३ ई० में कम्पनी सरकार की ओर से प्रत्येक जिला के कलक्टरों एवं न्यायाधीशों को आदेश दिया गया कि वे नये कानूनों को फारसी तथा नागरी दोनों में लिखा कर कचहरी में लटकावें ।[२] फिर, २९ सितम्बर, १९३० ई० में 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' का यह आज्ञापत्र प्रसारित हुआ कि "यहाँ के वासियों को जज की भाषा सीखने के बदले जज को भारतवासियों की भाषा सीखना सुगम होगा । अतएव, हम लोगों की सम्मति है कि न्यायालय की समस्त कार्रवाई उस स्थान की भाषा में ही हो ।"[३] किन्तु, इस आज्ञापत्र का सन् १८३७ ई० के पूर्व पालन नहीं हुआ ।

सन् १८३७ ई० में अदालती भाषा से सम्बद्ध, जो अधिनियम (ऐक्ट २९) स्वीकृत हुआ, उसके अनुसार हिन्दी हिन्दी-प्रदेश की अदालती भाषा स्वीकार की गयी; किन्तु मुसलमानों, हिन्दू वकीलों तथा मुंशियों के षड्यन्त्र एवं सरकार की उदासीनता के कारण हिन्दी-प्रान्तों की अदालतों में हिन्दी के बदले उर्दू को स्थान प्राप्त हो गया । पहले (सन् १८४० ई० के लगभग) नागरी के स्थान पर फारसी लिपि का और फिर धीरे-धीरे हिन्दी के स्थान पर अरबी-फारसी शब्दों, वाक्यांशों और मुहावरों से लदी हुई उर्दू भाषा का प्रचार हो गया ।[४] यह बात सन् १८३७ ई० के उक्त अधिनियम (ऐक्ट २९) के सर्वथा विरुद्ध थी, किन्तु सरकार ने इस पर जान-बूझ कर कोई ध्यान नहीं दिया ।

---

१. उपरिवत्, पृ० १२४–२५ ।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४२९ ।

३. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग २, सन् १८९८ ई०, 'पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा ।'

४. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ३३२ ।

सन् १८३७ ई० के बाद हिन्दुस्तानी बनाम उर्दू ने जो रूप ग्रहण किया, उसमें विदेशीपन अधिक आ गया। १९ अप्रैल, १८३९ ई० में सदर दीवानी अदालत ने अरबी-फारसी के क्लिष्ट प्रयोगों की निन्दा की। २८ अगस्त, १९४० ई० को 'बोर्ड ऑफ रेवन्यू' ने भी अपने आदेश में इसी आशय को व्यक्त किया। इसी प्रकार, पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार ने ५ जनवरी, १८५४ ई० के आदेश के द्वारा क्लिष्ट उर्दू के स्थान पर सरल हिन्दुस्तानी के प्रयोग को उचित बताया; किन्तु वे सारे आदेश नक्कारखाने में तूती की आवाज बन गये।[1] सन् १८३७ ई० के पूर्व की हिन्दुस्तानी हिन्दी से अधिक दूर नहीं थी, जैसा कि 'बैताल पचीसी', 'सिंहासन बतीसी', 'चहार दरवेश' आदि की भाषा को देखने से स्पष्ट होता है। उस समय तक हिन्दुस्तानी के लिए नागरी लिपि का भी प्रयोग होता था। किन्तु, सन् १८५० ई० तक आते-आते हिन्दुस्तानी केवल फारसी में लिखी जाने लगी और उसका रूप भी हिन्दी से बहुत भिन्न हो गया। इस प्रकार, सन् १८३७ ई० के बाद फारसी के स्थान पर हिन्दी के बदले उर्दू का प्रयोग अदालती भाषा के रूप में होने लगा; फलतः जीविका तथा सम्मान-प्राप्ति के लिए उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का ज्ञान लोगों के लिए आवश्यक हो गया।[2] यह स्थिति विवेच्य काल के बाद भी अनेक वर्षों तक ज्यों-की-त्यों बनी रही।

---

१. 'खड़ी बोली का आन्दोलन' : शितिकण्ठ मिश्र, पृ० ७४।
२. 'हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव।'
डॉ० [illegible] राय, पृ० [illegible]

आरम्भ-काल के वैयाकरण और उनके व्याकरण

जोहन जोशुआ केटेलेर :

केटेलेर का जन्म प्रसा के एलविङ्गन नामक स्थान में हुआ था। वे 'डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी' का एलची (राजदूत) बनकर भारत आये थे और लगभग दो दशाब्दियों तक भारत में रहने के पश्चात् सन् १७१६ ई० में फारस चले गये थे। उनकी मृत्यु फारस में ही हुई थी :[1]

भारत-निवास की अवधि में, केटेलेर को हमेशा कार्य-वश सूरत से दिल्ली, आगरा, लाहौर आदि शहरों में जाना-आना पड़ता था। उसी पर्यटन के क्रम में उन्होंने हिन्दी का सामान्य ज्ञान अर्जित किया था, जिसके आधार पर अपने व्याकरण की रचना की थी। वे न तो भाषाशास्त्र के पण्डित थे और न उनका हिन्दी-ज्ञान इतना व्यापक और गम्भीर था कि वे किसी व्यवस्थित व्याकरण की रचना में समर्थ होते। वे केवल व्यावसायिक सुविधा की दृष्टि से डच लोगों को हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्रदान करने के लिए हिन्दी-व्याकरण लिखने को प्रेरित हुए थे।[2]

केटेलेर के 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' का वास्तविक रचनाकाल अज्ञात है। ग्रियर्सन ने सन् १७१५ ई० के आसपास उसका रचनाकाल माना था।[3] सन् १९३१ ई० में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी ग्रियर्सन के मत का ही समर्थन किया था।[4] किन्तु, सन् १९३२ ई० के अक्टूबर में हालैण्ड के लाइडन नगर में स्थित 'कर्न इन्स्टीच्यूट' के मुख्य अधिष्ठाता डॉ० फोगल ने डॉ० चटर्जी के पास एक पत्र लिखकर केटेलेर के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दीं,

---

१. ग्रियर्सन कम्मेमोरेशन वॉल्यूम : 'द ओल्डेस्ट ग्रामर ऑफ हिन्दुस्तानी' : सु० कु० च०।
२. ऋतम्भरा : सु० कु० च०, पृ० १४६।
३. ग्रियर्सन : लि० स० इं०, ख० ९, भाग १, पृ० ६-८।
४. ग्रियर्सन कम्मेमोरेशन वॉल्यूम : 'द ओल्डेस्ट ग्रामर ऑफ हिन्दुस्तानी' : सु० कु० च०, पृ० ३६३।

जिनसे अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हुआ, साथ ही उनके व्याकरण के रचना-काल के सम्बन्ध में भी नये तथ्य प्रकाश में आये।

डॉ० फोगल के अनुसार "इस मूल डच-पुस्तक की एक नकल इसाक फानदर हूफे नामक एक हॉलैण्डीय ने सन् १६९८ ई० में लखनऊ में की थी। यह नकल आजकल हॉलैण्ड के हेग नगर के पुराने राजकीय पत्रों के सङ्ग्रहालय में संरक्षित है।"[१] फोगल की इस सूचना से इतना स्पष्ट हो जाता है कि केटेलेर का व्याकरण सन् १६९८ ई० के पूर्व लिखा जा चुका था, किन्तु इससे उसके निश्चित रचनाकाल का पता नहीं चलता। अनुमानतः, वह सन् १६९५ ई० से १६९७ ई० के बीच लिखा गया होगा।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने केटेलेर के 'हिन्दुस्तानी-व्याकरण' का परिचय देते हुए लिखा था : 'एक यूरोपियन की लिखी हुई हिन्दुस्तानी खड़ी बोली के व्याकरण की एक पुस्तक हमारे समक्ष है, जो हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण है। ऐसी पुस्तक का विवेचन हिन्दी-संसार के लिए कौतूहलोद्दीपक होगा। सन् १८९५ ई० के जनवरी महीने में इटली के रोमनगर की 'रिअले एकेडेमिआ डी लिन्सी' सभा में इटली-देशीय पण्डित सिजोर एमिल्यो तेत्सा ने इस व्याकरण की ओर आधुनिक विद्वन्मण्डली का ध्यान आकृष्ट किया था। भारतीय भाषातत्त्व के आलोचकों के अग्रणी सर जार्ज ग्रियर्सन ने, तदनन्तर भारतवर्ष में इस पुस्तक की बात सुनायी।[२] अपने विराट् ग्रन्थ 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' के हिन्दी-विषयक खण्ड में ग्रियर्सन साहब ने इस व्याकरण का एक छोटा-सा वर्णन और इसके लेखक का कुछ परिचय भी दिया है।'[३]

डॉ० चटर्जी का अनुमान है कि एमिल्यो तेत्सा तथा डॉ० ग्रियर्सन में से किसी ने भी मूल पुस्तक का स्वयं अवलोकन नहीं किया था। केटेलेर की पुस्तक का सर्वप्रथम उल्लेख बी० शुल्जे के 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' में मिलता है, जो सन् १७४४ ई० में सैक्सोनी के हाल नगर से प्रकाशित हुआ था। सिजौर एमिल्यो तेत्सा ने शुल्जे के ही ग्रन्थ का सम्भवतः अवलोकन किया था और उसी

१. सु० कु० च० : ऋतम्भरा, पृ० १४५।
२. लि० स० इं०, वॉ० ९, (वेस्टर्न हिन्दी ऐण्ड पञ्जाबी), पृ० ६-८।
३. ऋतम्भरा, पृ० १४४।

के साक्ष्य पर केटेलेर के ग्रन्थ की चर्चा की थी। केटेलेर ने अपने ग्रन्थ में 'लॉर्डस् प्रेयर' का जो हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया था, उसे शुल्जे ने भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया था। बाद में उससे तेत्सा ने और फिर तेत्सा से ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ[३] में उद्धृत किया।

केटेलेर की मूल पुस्तक का प्रकाशन कभी हुआ कि नहीं, इस सम्बन्ध में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसकी रचना के लगभग ५० वर्षों के बाद सन् १७४३ ई० में दाविद मिल या मिल्लिउस नामक एक विद्वान ने डच-भाषा से लैटिन में उसका अनुवाद कर हॉलैण्ड के लाइडन नगर से प्रकाशित किया। मिल अरबी, हिब्रू आदि प्राच्यभाषाओं के पण्डित थे और हॉलैण्ड के उत्रेख्ट नगर के विश्वविद्यालय में प्राच्यभाषाओं के अध्यापक थे।[४] डॉ० चटर्जी के अनुसार मिल ने पुस्तक की भूमिका में स्वयं लिखा है कि 'केटेलेर की पुस्तकें हॉलैण्ड की डच-भाषा में थीं, जिनका स्वयं उन्होंने (मिल ने) लैटिन भाषा में अनुवाद किया।[५]

मिल द्वारा अनूदित तथा प्रकाशित केटेलेर की उस दुष्प्राप्य व्याकरण-पुस्तक की एक प्रति, जिसमें अन्य भी कई ग्रन्थ संलग्न है, डॉ० चटर्जी के पास है, जिसे उन्होंने इङ्गलैण्ड में एक पुरानी पुस्तकों की दूकान से खरीदी थी; ऐसा उन्होंने स्वयं लिखा है।[१] पता नहीं, उस पुस्तक की प्रति को अपने पास रखते हुए भी उन्होंने 'ग्रियर्सन कम्मेमोरेशन वॉल्यूम' में प्रकाशित अपने निबन्ध के प्रारम्भ में यह लिखने की भूल क्यों की कि 'केटेलेर ने लैटिन-भाषा में अपना हिन्दुस्तानी व्याकरण लिखा था',[२] जबकि उसकी भूमिका में अनुवादक तथा प्रकाशक मिल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मूल पुस्तक डच में थी, जिसका उन्होंने लैटिन में अनुवाद कर प्रकाशित किया।

केटेलेर के व्याकरण का विवरण प्रस्तुत करते हुए डॉ० चटर्जी ने लिखा है कि "यह व्याकरण की वास्तव में एक छोटी-सी पुस्तक है। हिन्दुस्तानी पदसाधन

---

१. लिं० स० इं०, वॉ० ९, भा० १, पृ० ६-८।
२. ऋतम्भरा, पृ० १४४-४५।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्।
५. 'जोहन जोशुआ केटेलेर : रोट इन लैटिन द फर्स्ट ग्रामर ऑफ हिन्दुस्तानी' ग्रि० क० भॉ०, पृ० ३६३।

के कुछ सूत्रमात्र उदाहरण के साथ इसमें दिये गये हैं। पृ० ४५५ से पृ० ४८८ तक इन ३२ पन्नों में ही कुल व्याकरण आ गया है। पुस्तक आद्यन्त रोमन लिपि में छपी है। हिन्दुस्तानी शब्द रोमन में ही दिये गये हैं। केटेलेर की मातृभाषा जर्मन थी, पर उन्होंने यह पुस्तक डच-भाषा में, विशेषतया डच लोगों के लिए ही लिखी थी। इसलिए, रोमन वर्णों के मुख्यतः डच-उच्चारण ही इसमें व्यवहृत हुए हैं। डच-भाषा में हमारे परिचित रोमन-अक्षरों के उच्चारण में कुछ विशेषता आ जाती है।

पुस्तक का प्रारम्भ 'ॐ गणेशाय नमः' से हुआ है। फिर, 'ॐ नमः सिद्धः' लिखने के बाद प्रथम अनुच्छेद में ग्रन्थकार ने नागराक्षर के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। ग्रन्थकार का कहना है कि ब्राह्मणों में एक प्रकार की पवित्र वर्णमाला का व्यवहार होता है, जो विशेषतया काशी के विद्यालयों में पायी जाती है। साधारण हिन्दुस्तानियों में एक दूसरे प्रकार की वर्णमाला का प्रचलन है, जो 'अक्षर नागरी' कहलाती है। ब्राह्मणों में व्यवहृत प्राचीनतम लिपि का नाम उन्होंने देवनागर बताया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में देवनागरी अक्षर 'बालबन्धु' नाम से प्रचलित है। तंगुती या प्राचीन तथा आधुनिक तिब्बती और मङ्गोल जाति की वर्णमालाओं के साथ हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की वर्णमाला बराबरी रखती है।

लेखक के अनुसार, हिन्दुस्तानी भाषा दो प्रकार की है : एक 'पटनाई' (Padanika) जो पटना (Patthena) शहर के नाम पर विदित है और दूसरी दखिनी (Daknika, अर्थात् Dhakon, Dhakan या दखन) दक्षिण प्रदेश की।

पुस्तक में वर्णमाला के पाँच चित्र दिये गये हैं। प्रथम में नागरी अक्षर (Akar nagari) नाम से और द्वितीय में 'देवनागरम्' और 'बालबन्धु' नाम से। ऐसे ही तीन बार नागरी-वर्णमाला दी गयी है। तृतीय चित्र में प्राचीन और नवीन तिब्बती अक्षर तथा मङ्गोल अक्षर हैं। इन तीनों चित्रों के अक्षर बहुत खराब हैं। चतुर्थ चित्र में ब्राह्म वर्णमाला (Alphabetum Brahm) नाम से फिर देवनागर वर्णमाला और पञ्चम चित्र में बँगला-वर्णमाला है। इन दोनों चित्रों की लिपियाँ बड़ी ही सुन्दर हैं। प्रथम और द्वितीय चित्र में जो तीन बार देवनागरी अक्षर लिखे हैं, उनके रोमन प्रत्यक्षरीकरण में बहुत कुछ

अन्तर है। इससे प्रकट होता है कि ग्रन्थकार या प्रकाशक ने विभिन्न स्थानों से सोच्चारण नागरी-लिपि का सङ्ग्रह किया था।

पुस्तक में नागरी-अक्षरों के रूप इस प्रकार दिये गये हैं : (अ, आ) इ ई उ ऊ रि री लि ली ए ऐ ओ औ अं अः। क ष (ख) ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। य र ल व श ष स ह। ल क्ष। इन अक्षरों के रोमन प्रत्यक्षर नितान्त दोषपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ क, ष और ग तीनों के लिए ka, घ के लिए dgja, च के लिए tgja छ के लिए tscha ज के लिए dhea; इसी प्रकार अन्य वर्णों के जो रोमन लिप्यन्तर दिये गये हैं, उनके आधार पर नागरी अक्षरों को पहचान पाना अत्यन्त दुष्कर है। डॉ० चटर्जी ने इसके लिए केटेलेर को दोषी नहीं मानकर उस व्यक्ति को दोषी ठहराया है, जिसने नागरी वर्णों के उच्चारण को शुद्ध रूप में नहीं सुन पाने के कारण उनका अशुद्ध रोमन प्रत्यक्षर प्रस्तुत किया होगा।[१]

आज से ढाई सौ वर्ष पूर्व जिन बेचारे यूरोपीय लोगों ने नागरी अक्षरों की आवाज कान से सुन कर उन्हें अपनी लिपि में प्रकट करने की चेष्टा की थी, वे कैसी आफत में फँसे, यह ऊपर के तीन-चार प्रत्यक्षीकरण से प्रकट हो जाता है। सौभाग्य से लेखक ने हिन्दी शब्दों की इस प्रकार की वर्त्तनी (स्पेलिङ्ग) केवल आरम्भिक अक्षरों में ही व्यवहृत की है। व्याकरण में सरल 'रोमन स्पेलिङ्ग' ही काम में लायी गयी है, नहीं तो व्याकरण के हिन्दी शब्दों को पढ़ना लोहे के चने चबाना हो जाता।

पुस्तक में शब्द-रूप इस प्रकार दिये गये हैं :—

कारक	**एकवचन**	**बहुवचन**
कर्त्ता	बेटा	बेटे
	बुढ़िया	बुढ़ियें
	आदमी	आदमियों

---

१. The pronunciation as indicated seems to have been written down by someone with a very bad ear for foreign sounds and a worse way of representing them—it may be that Keteler himself was not responsible for it.—Gr. com. Vol, p. 366.

कारक	एकवचन	बहुवचन
सम्बन्ध	बेटा का	बेटों का
	बुढ़िया का	बुढ़ियों का
	आदमी का	आदमियों का
सम्प्रदान	बेटा कों	बेटों कों
	बुढ़िया कों	बुढ़ियों कों
	आदमी कों	आदमियों कों
कर्म	बेटा कों	बेटों कों
	बुढ़िया कों	बुढ़ियों कों
	आदमी कों	आदमियों कों
सम्बोधन	ऐ बेटा	ऐ बेटे
	ऐ बुढ़िया	ऐ बुढ़ियों
	ऐ आदमी	ऐ आदमियों
अपादान	बेटा से	बेटे से
	बुढ़िया से	बुढ़ियों से
	आदमी से	आदमियों से

इसी प्रकार, बेटी—बेटिया, आँड़ू (बैल)—आँड़ुओं, जोरू—जोरुओं, बाप—बापे, आँख—आँखे आदि शब्दों के रूप माने गये हैं ।

सर्वनाम के रूप इस प्रकार हैं :—

कारक	उत्तमपुरुष		मध्यमपुरुष		अन्यपुरुष	
कर्त्ता	मैं	हम	तू,	तुम	वह	इनने
सम्बन्ध	मेरे	अपणे	तेरा	तुम्हारे	इसका	इनके
सम्प्रदान	मुकों (मोकों)	हमकों	तेरे कों	तुमकों	इसकों	इनकों
कर्म	मेरा	हमारे	तेरा	तुम्हारे	वह	इनका
सम्बोधन	ऐ मैं	ऐ हम	ऐ तू	ऐ तुम	ऐ वह	ऐ इन
अपादान	मैं से	हम से	तू से	तुम से	इससे	इनसे

प्रश्नसूचक सर्वनाम में क्या, क्यों और कौन को व्यक्तिवाचक बताया गया है। इनके प्रयोग इस प्रकार प्रदर्शित किये गये हैं—कौन है, कौन है उधर, कौन दौड़ता, कौन बोलता। क्या खबर, क्या चाहता। क्यों नहीं, किस वास्ते, क्यों, कित्ता (कितना)।

षष्ठी विभक्ति से सम्बद्ध पद स्त्रीलिङ्ग होने से षष्ठी विभक्ति में जो 'ई' प्रत्यय आता है, उसका उदाहरण इस प्रकार है—मेरी माँ, तेरी माँ, तुम्हारी बहन।

आदर प्रदर्शित करने के लिए 'हम' तथा 'तुम' का एकवचन में क्रमशः 'मैं' तथा 'तू' के स्थान पर प्रयोग बताया गया है। 'तू' का 'तुम' से पार्थक्य इस प्रकार बताया गया है—तुम साहब है, तुम मेरा साहब है। तू चाकर है, तू मेरा गुलाम है।

न अर्थक अनुज्ञा में क्रियापद के साथ 'मत' अव्यय का प्रयोग दिखाया गया है। जैसे—मत जाओ, मत खाओ, दौड़ो मत, कहो मत, सोओ मत।

सर्वनाम का प्रकरण समाप्त करने के पश्चात् लेखक ने विशेषण की संक्षिप्त चर्चा की है। विशेषण में 'ई' प्रत्यय लगाकर किस प्रकार भाववाचक संज्ञा बनायी जाती है, इसके निम्नलिखित उदाहरण हैं—खूब—खूबी, गुस्सा—गुस्सी, दिवाना—दिवानी, जोरावर—जोरावरी, चङ्गा—चङ्गाई, सख्त—सख्ती, अल्लाह—अल्लाही।

संस्कृत के 'तर-तम' के स्थान पर हिन्दुस्तानी में क़िस प्रकार 'इससू' (इससे) और 'सबसू' (सबसे) से काम चलाया जाता है, इसके निम्नलिखित उदाहरण दिये गये हैं: काला—इससू काला, कड़ुआ—इससू कड़ुआ, गहरा—इससू गहरा, मोटा—इससू मोटा, सबसू खूब, सबसू कड़ुआ इत्यादि।

तत्पश्चात् दार, गार, ची, वाला, दाज, प्रत्ययों के योग से कर्तृवाचक विशेष्य बनाने की रीति उदाहरणों द्वारा दिखायी गयी है। जैसे: कर्ज—कर्जदार, दाढ़ी—दाढ़ीदार, चौकी—चौकीदार, खेजमत (खिदमत)—खेजमतदार, तोप—तोपची, बन्दूक—बन्दूकची, लकड़ी—लकड़ीवाला, पत्थर—पत्थरवाला, तीर—तीरन्दाज, दिक्क—दिक्कवाज। इनके अतिरिक्त गलती से निशान—निशानवरदार तथा सोना—सोनार ये दो, 'दार' प्रत्ययान्त शब्दों में शामिल किये गये हैं।

कई ईकारान्त शब्दों के अन्त में 'इन' प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिङ्ग बनाये जाते हैं। जैसे : धोबी—धोबिन, गरेड़ी—गरेड़िन, माली—मालिन मोची—मोचिन।

आदरार्थे 'जीव' (जी) शब्द के प्रयोग का उल्लेख भी लेखक ने किया है। जैसे : बाप जीव, साहब जीव, बहन जीव, दोस्त जीव, दोस्तनी जीव। 'अमुक' के अर्थ में 'फलाँ' शब्द के प्रयोग की भी चर्चा लेखक ने की है। इसके पश्चात् 'सू' और 'से' अनुसर्ग के प्रयोग से 'तर-तम' का अर्थ व्यञ्जित करने के उदाहरण हैं। जैसे : आदमी घोड़ा सू खूब है, हाथी बैल से बड़ा है।

विशेषण के पश्चात् क्रियापद के विवेचन में अस्तिवाचक 'हो' धातु का रूप सबसे पहले दिया गया है। इस धातु-रूप में बहुत कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई गयी हैं, जो आजकल की बोली में नहीं दिखाई देतीं। सम्भव है कि बहुत-से प्रयोग या उदाहरण लेखक ने गलती से दिये हों।

'होना' क्रिया

काल	उ० पु०		म० पु०		अ० पु०	
१. वर्त्तमान	मैं है	हम हू	तू है	तुम हू	वह है	इन्ने हू
२. अतीत	मैं हुआ	हम हुए	तू हुआ	तुम हुए	वह हुआ	इन्ने हुए
३. अनद्यतन-अतीत	मैं हुआ था	हम हुए थे	तू हुआ था	तुम हुए थे	वह हुआ था	इन्ने हुए थे
४. समाप्त अतीत	मैं हो गया	हम हो गये	तू हो गया	तुम हो गये	वह हो गया	इन्ने हो गये
५. भविष्यत्	मैं हूँगा	हम हूँगे	तू हूँगा	तुम हूँगे	वह हूँगा	इन्ने हूँगे
६. द्वितीय-भविष्यत्	मैं होऊँगा	हम हओंगे	तू होऊँगा	तुम होओंगे	वह होऊँगा	इन्ने होओंगे
७. अनुज्ञा	—	—	तू हो	तुम होए	—	—
८. असमापिका-क्रिया	मैं हुआ	हम हुए	तू हुआ	तुम हुए	वह हुआ	इन्ने हुए

'करना' क्रिया

काल	उ० पु०		म० पु०		अ० पु०	
वर्त्तमान	मैं करता	हम करते	तू करता	तुम करते	वह करता	इन्ने करते
अतीत	मैं करता था	हम करते थे	तू करता था	तुम करते थे	वह करता था	इन्ने करते थे
अनद्यतन-अतीत	मैं कर चुका	हम कर चुके	तू कर चुका	तुम कर चुके	वह कर चुका	इन्ने कर चुके
द्वितीय अतीत	मैं किया	हम किये	तू किया	तुम किये	वह किया	इन्ने किये
समाप्त अतीत	मैं किया था	हम किये थे	तू किया था	तुम किये थे	वह किया था	इन्ने किये थे
द्वितीय-भविष्यत्	मैं करेगा	हम करेंगे	तू करेगा	तुम करेगे	वह करेगा	इन्ने करेंगे
अनुज्ञा	--	--	तू करो	तुम करे	--	--
असमापिका-क्रिया	--	--	तू करे	तुम करे	वह करे	इन्ने करे

इसी प्रकार, 'खाना', 'पीना', 'गाना' तथा 'हँसना' क्रिया के रूप प्रदर्शित किये गये हैं। इसके बाद ४७४ पृष्ठ से ४८५ पृष्ठ तक अन्य क्रियापदों के अनेक प्रकार के रूप और प्रयोग दिखाये गये हैं। जैसे : मैं नमाज कर चुका, मैं समझाऊँगा, मैं जीऊँगा, मैं सच बोल चुका था, मैं लड़ेगा, मैं कुछ खाया, मैं जवाब दिया था, मैं लिखता, मैं चुप रहूँगा इत्यादि। कर्मवाच्य की क्रिया के प्रसङ्ग में सर्वनाम 'मुझे' और 'तुझे' का प्रयोग दिखलाया गया है। जैसे : मुझे प्यार करते, तुझे पकड़ता है, एक को फुसलावते, हमको दिलासा देते, तुमको जलाया, इन्ने को ढूँढ़ते आदि।

पुस्तक के अन्त में ईसाई-धर्म के कुछ उपदेश एवं विनय हैं। उपदेश की भाषा भी देखने योग्य है : "जुम्मा का दिन तुम याद और साफ राखे, छे दिन तुम काम और तुम्हारे खोज मत करो, वास्ते कि सातमे दिन है खुदा साहब तुम्हारे अल्लाह का, तद तुम मत काम करो, तुम और तुम्हारे बेटा और तुम्हारी बेटी, और तुम्हारी लौण्डी, और तुम्हारे जानवर, और तुम्हारे मुसाफर, वह तुम्हारे दरवाजा में है, वास्ते छे दिन में खुदा आसमान और जमीन बनाया, दरिया और सबके अन्दर है, और सुस्तायी सातमे दिन, इस वास्ते साहब साफा रखते और इन्ने साथ करते।'

केटेलेर का हिन्दुस्तानी व्याकरण यहीं पर समाप्त होता है। व्याकरण के सूत्र नितान्त संक्षिप्त हैं, पर थोड़ा-सा भाषा-ज्ञान प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त हैं। केटेलेर ने जो हिन्दुस्तानी सीखी थी और जिसे उन्होंने दूसरों को सिखाने की कोशिश की थी, उदाहरण और अनुवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुद्ध खड़ीबोली नहीं, बाजारू बोली है और विशेषतया बम्बई, सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के ढङ्ग की बाजारू हिन्दुस्तानी है। इसकी भाषा चाहे जैसी हो, परन्तु खड़ीबोली के इतिहास की चर्चा करते समय इस व्याकरण की उपयोगिता को सभी विद्वान स्वीकार करेंगे।[1]

निष्कर्ष : केटेलेर के 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' के सम्बन्ध में डॉ० चटर्जी के उपर्युक्त उद्धरण का विश्लेषण करने से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं :

१. केटेलेर का व्याकरण सन् १६९८ ई० के पूर्व (अनुमानतः सन् १६९५ से १६९७ ई० के बीच) लिखा गया। मूल ग्रन्थ की रचना डच-भाषा में हुई थी। सन् १६९८ ई० में हॉलैण्ड के इसाक फानदर हूफे नामक व्यक्ति ने लखनऊ में उस पुस्तक की प्रतिलिपि तैयार की थी, जो हॉलैण्ड के हेग नगर के पुराने राजकीय पत्रों के सङ्ग्रहालय में संरक्षित है। सन् १७४३ ई० में दाविद मिल ने सम्भवतः उसी प्रति से अपना लैटिन-अनुवाद तैयार कर उसे हॉलैण्ड के लाइडन नामक नगर से प्रथमबार प्रकाशित किया था। सन् १७४४ ई० में बी० शुल्ज़ े ने अपने 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' में सर्वप्रथम उस व्याकरण का उल्लेख करते हुए उसका कुछ अंश उद्धृत किया था। उसके बहुत वर्षों के पश्चात् सन् १८९५ ई० में इटली के विद्वान सिजोर एमिल्यों तेत्सा ने केटेलेर के व्याकरण की ओर आधुनिक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। तदनन्तर, डॉ० ग्रियर्सन ने अपने 'लिङ्ग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' के हिन्दी-विषयक खण्ड में केटेलेर का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसके व्याकरण का छोटा-सा विवरण प्रस्तुत किया। फिर, सन् १९३१ ई० में डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने केटेलेर के 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' पर एक विस्तृत निबन्ध अँगरेजी में लिखा, जो सन् १९३६ ई० में 'ग्रियर्सन कम्मेमोरेशन वॉल्यूम' में प्रकाशित हुआ। बाद में उस निबन्ध का हिन्दी-अनुवाद 'हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण' नाम से 'द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ' तथा 'ऋतम्भरा' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ।

---

१. ऋतम्भरा : सु० कु० च०, पृ० १४५-१५७।

२. केटेलेर की ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य हिन्दी का व्यवस्थित व्याकरण प्रस्तुत करना नहीं था और न वे पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए ही उस ओर उन्मुख हुए थे। उनका हिन्दी-ज्ञान इतना गम्भीर, व्यापक और परिपक्व नहीं था कि वे इस भाषा का सफल व्याकरण बना पाते। साथ ही, उस समय उनके सम्मुख सम्भवतः हिन्दी का कोई व्याकरण भी नहीं था, जिससे उन्हें अपने ग्रन्थ की रचना में कुछ सहायता मिलती। वे डच-व्यापारियों को, जो इस देश के लोगों के साथ व्यापार-कार्य में संलग्न थे, हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्रदान करना चाहते थे। क्योंकि उस समय एकमात्र हिन्दी ही ऐसी भाषा थी, जो भारत के सभी शहरों में बोली-समझी जाती थी। इस प्रकार, केटेलेर का उद्देश्य पूर्ण रूप से व्यावहारिक और व्यावसायिक था। हम आगे चलकर देखेंगे कि केटेलेर के बाद भी जितने विदेशियों ने हिन्दी-भाषा का व्याकरण लिखा, उनमें से अधिकांश का उद्देश्य प्रायः व्यावसायिक या धर्म-प्रचार ही था। हिन्दी के प्रति सेवा-भावना से शायद ही कोई विद्वान प्रेरित हुआ था।

३. केटेलेर के समय में (सन् १६९८ ई० के पूर्व ही) हिन्दी-भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द प्रचलित हो गया था, जो उनके ग्रन्थ के 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' नाम से ही स्पष्ट है। उस समय भारतवर्ष में हिन्दी की दो मानक शैलियाँ प्रचलित थीं, जिनका स्पष्ट उल्लेख केटेलेर ने अपने ग्रन्थ में किया है। एक शैली को उन्होंने 'पटनिका', अर्थात् पटनाई शैली कहकर पुकारा है, जो पटना शहर तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में प्रचलित थी और दूसरी को 'दखनिका', अर्थात् 'दखिनी शैली' कहा है, जो दक्षिणी प्रान्तों में प्रयुक्त होती थी।

४. केटेलेर ने जिस हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया था तथा जिसके व्याकरण की रचना की थी, वह शुद्ध परिनिष्ठित हिन्दी या हिन्दुस्तानी नहीं थी, अपितु वह बम्बई, सूरत आदि दक्षिणी नगरों की बाजारू हिन्दी थी। यह बात उनके व्याकरण में दिये गये शब्द-रूपों, प्रयोगों तथा भाषा के स्वरूप को देखने से स्पष्ट हो जाती है। हिन्दी-भाषा का अपर्याप्त ज्ञान होने के कारण केटेलेर ने अपने व्याकरण में बहुत स्थलों पर सम्भवतः अनुमान से ही काम चलाया था। उदाहरणार्थ, मैं' के साथ 'है' का प्रयोग, 'हम', 'तुम' के साथ 'हू' का प्रयोग, 'वह' के लिए 'इन्ने' बहुवचन रूप का प्रयोग, 'होंगे', होएँगे' के लिए 'हूँगे' तथा 'होवोंगे' के प्रयोग, 'बाप' के लिए 'बापे' बहुवचन का प्रयोग आदि ऐसे अनेक

अशुद्ध काल्पनिक प्रयोग पुस्तक में भरे पड़े हैं, जो लेखक के भाषा-ज्ञान की अपर्याप्तता सर्वत्र घोषित करते हैं।

५. केटेलेर ने अपने व्याकरण के लिए पारिभाषिक शब्दावली तथा ढाँचा दोनों ही, पाश्चात्य स्रोत, मुख्यत: लैटिन से ग्रहण किया। वह स्रोत हिन्दी की प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं था। इस कारण हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में भाषा एवं व्याकरण के वैषम्य का बीजारोपण यहीं हो गया। आगे चलकर अन्य वैयाकरणों ने भी प्राय: केटेलेर के पदचिह्नों का ही अनुसरण किया। यही कारण है कि केटेलेर के समय से लेकर आजतक के लगभग तीन सौ वर्षों में, यद्यपि कहने के लिए सहस्राधिक व्याकरण-ग्रन्थ रचे गये, तथापि कोई भी व्याकरण पूर्णरूप से हिन्दी का अपना व्याकरण नहीं बन सका। केटेलेर का ध्यान हिन्दी-भाषा के विश्लेषण-विवेचन के आधार पर नियमों के निर्धारण की ओर नहीं था। अपने हिन्दी-ज्ञान की अपर्याप्तता के कारण वे चाहकर भी वैसा नहीं कर सकते थे। इसलिए, उन्होंने व्याकरण के बने-बनाये विदेशी ढाँचे के लिए हिन्दी से चुन-चानकर कुछ शुद्ध-अशुद्ध उदाहरण जुटा देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली। परवर्त्ती वैयाकरणों में से भी अधिकांश ने प्राय: ऐसा ही किया।

उपर्युक्त त्रुटियों के रहते हुए भी केटेलेर का नाम अद्यतन ज्ञात प्रथम हिन्दी-वैयाकरण के रूप में हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में सदा अमर रहेगा। केटेलेर के सन्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। आजतक केटेलेर के मूल व्याकरण को हिन्दी के किसी अधिकारी विद्वान ने नहीं देखा है और यदि देखा भी हो, तो किसी ने उसके सम्बन्ध में आधिकारिक रूप से कुछ लिखा नहीं है। हमारे सम्मुख उस व्याकरण के अनुवाद का जो उद्धृत अंश उपलब्ध है; वह मूल ग्रन्थ का किस मात्रा में प्रतिनिधित्व करता है, कहना कठिन है। क्योंकि, प्रारम्भ से लेकर आजतक उस ग्रन्थ के जितने भी प्रतिलिपिक या अनुवादक हुए, उनमें कोई की हिन्दी का अधिकारी विद्वान नहीं था। उदाहरणार्थ, सन् १६९८ ई० में मूल डच-प्रति से प्रथम बार प्रतिलिपि तैयार करनेवाले इसाक फानदर हूफे हिन्दी के विद्वान नहीं थे। फिर, सन् १७४३ ई० में उस नकल से लैटिन-अनुवाद करके उसे प्रकाशित करने वाले दाविद मिल अरबी, हिब्रू आदि कई भाषाओं के पण्डित अवश्य थे, किन्तु वे हिन्दी के विशेषज्ञ नहीं थे। इसी प्रकार, डॉ० चटर्जी, जिन्होंने लैटिन-प्रति के कुछ अंश का हिन्दी में अनुवाद कर उसे अपने निबन्ध में प्रकाशित किया, वे भी भारत के एक

श्रेष्ठ भाषाशास्त्री अवश्य हैं, किन्तु उन्हें भी हिन्दी का अधिकारी विद्वान नहीं स्वीकार किया जा सकता। ऐसी स्थिति में केटेलर के व्याकरण में पाये जाने वाले दोषों में से कितने मूल लेखक के हैं और कितने उसके प्रतिलिपिकों और अनुवादकों के, इस सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं दिया जा सकता।

बेन्जामिन शुल्जे[1] :

पादरी शुल्जे का 'ग्रामेटिका हिन्दोस्तानिका' नामक हिन्दी-व्याकरण सन् १७४४ ई० में 'सैक्सोनी' के 'हाल' नगर से प्रकाशित हुआ था। उसके एक वर्ष पूर्व केटेलर के व्याकरण का लैटिन अनुवाद प्रकाशित हो चुका था। शुल्जे ने अपने व्याकरण की भूमिका में उसका उल्लेख किया था। शुल्जे का व्याकरण लैटिन में लिखा गया था, किन्तु उसमें हिन्दी-शब्दों के लिए फारसी-लिपि का प्रयोग किया गया था। ग्रन्थ में देवनागरी-वर्णमाला का परिचय भी दिया गया था। शुल्जे को मूर्धन्य तथा महाप्राण ध्वनियों की पहचान नहीं थी, इसलिए उसने अपने व्याकरण में तज्जन्य वर्णों की उपेक्षा की थी। उसे कर्त्ताकारक के 'ने' चिह्न का भी ज्ञान नहीं था। उसने अपने ग्रन्थ में केटेलर के द्वारा उपस्थापित 'लॉर्ड्स प्रेयर' के हिन्दी-अनुवाद को यथावत् उद्धृत किया था।

जॉर्ज हाड्ले[2] :

हाड्ले का हिन्दी-व्याकरण-विषयक एक ग्रन्थ 'ग्रामेटिकल रिमार्क्स ऑफ द प्रैक्टिकल ऐण्ड वल्गर डायलेक्ट ऑफ द इन्दोस्तान लैङ्ग्वेज, कॉमनली कॉल्ड मूर्स, विथ ए वोकेवुलेरी, इङ्गलिश ऐण्ड मूर्स' सन् १७७२ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसके अन्य संस्करण क्रमशः सन् १७७४ ई०, १७८४ ई०, १७९७ ई०, १८०१ ई०, १८०४ ई० तथा १८०९ ई० में प्रकाशित हुए। पाँचवें संस्करण (सन् १८०१ ई०) में, जिसका संशोधन लखनऊ के मिर्जा मुहम्मद फितरत ने किया था, ग्रन्थ का नाम बदलकर 'ए कम्पेण्डियस ग्रामर ऑफ द करेण्ट करप्ट डायलेक्ट ऑफ द जार्गन ऑफ हिन्दुस्तान कॉमनली काल्ड मूर्स.......' कर दिया गया था। सन् १७७९ ई०

---

१. ग्रियर्सन, लिं० स० इं०, वॉ० ९, भाग-१, पृ० ८।

२. ग्रियर्सन, लिं० स० इं०, वॉ०, ९, भाग—१, पृ० १०, १६-१७।

में हाड्ले का एक दूसरा व्याकरण 'ए शॉर्ट ग्रामर ऑफ द मूर्स लैङ्ग्वेज, लन्दन से प्रकाशित हुआ।

यहाँ यह सङ्केत कर देना आवश्यक है कि अट्ठारहवीं शताब्दी तक अनेक विदेशी, हिन्दुस्तानी भाषा (हिन्दी) को 'मूर्स', अर्थात् 'असभ्य लोगों की अशिष्ट और गँवारू बोली' समझा-कहा करते थे, जिसका उनके अनुसार कोई व्यवस्थित व्याकरण लिखा जाना सम्भव नहीं था। हाड्ले ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थों में उक्त धारणा का खण्डन करते हुए हिन्दी के जन-प्रचलित बाजारू रूप के सामान्य व्याकरणिक गठन को स्पष्ट करने का प्रयास किया था। उसके ग्रन्थ अँगरेजी-भाषा में लिखे गये थे, किन्तु हिन्दी-शब्दों तथा वाक्यों के लिए रोमन तथा फारसी-लिपियों का उपयोग किया गया था।

जॉन फरगूसन[१] :

हिन्दी के प्राचीन वैयाकरणों में जॉन फरगूसन का नाम कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व का अधिकारी है। इनका 'हिन्दुस्तान भाषा का कोष'[२] जिसके प्रारम्भ के ५८ पृष्ठों में 'हिन्दुस्तान भाषा का व्याकरण' निबद्ध है, सन् १७७३ ई० में, लन्दन से प्रकाशित हुआ था। पुस्तक का प्रकाशन लेखक ने स्वयं किया था और उसे तत्कालीन ब्रिटिश-सम्राट् के नाम समर्पित किया था। पुस्तक बड़ी सज-धज़ के साथ प्रकाशित हुई थी और उसका मूल्य दो गिनी रखा गया था। पुस्तक आद्यन्त अँगरेजी भाषा में लिखी गयी थी और उसमें हिन्दी के उदाहरण भी रोमन-लिपि में ही थे।

फरगूसन ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीनस्थ कैप्टेन थे। उन्हें भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में अनेक वर्षों तक रहने का अवसर प्राप्त हुआ था। इसके परिणामस्वरूप वे यहाँ की कई भाषाओं से परिचित हो गये थे। उन्होंने

---

१. फरगूसन ने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ में हिन्दी-भाषा के अर्थ में 'हिन्दुस्तान' शब्द का प्रयोग किया है।

२. "A dictionary of the Hindustan language' in two parts : (1) English and Hindustan, (2) Hindustan and English, the latter containing a great variety of phrases, to point out the idiom and facilitate the acquisition of the language, to which is prefixed."—'A Grammar of the Hiudustan Language' by John Fergusan.

संस्कृत, फारसी तथा हिन्दी की तत्कालीन स्थिति की चर्चा करते हुए अपने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है : "संस्कृत इस देश के ब्राह्मणों की भाषा है, जिसे वे अपने धर्म के नितान्त गोपनीय रहस्यों के समान विदेशियों से छिपाकर गुप्त रखते हैं। फारसी का प्रयोग अदालती कामों और शिक्षित लोगों के पारस्परिक सम्भाषण तक सीमित है। केवल 'हिन्दुस्तान' ही देश के सर्वसामान्य की भाषा है, जिसे देश के सभी पेशे और स्तरों के लोग, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित, दरबारी हों या किसान तथा हिन्दू हों या मुसलमान; समान रूप से समझते हैं और व्यवहार में लाते हैं। इसीलिए, वह विदेशियों के वास्ते सर्वाधिक उपयोगी भाषा है।"[१] भारतवर्ष में प्रचलित अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में फरगूसन का कथन है कि "उपर्युक्त तीन भाषाओं के अतिरिक्त देश में और भी अनेक प्रान्तीय भाषाएँ हैं; जैसे—बँगला, उड़िया, तेलङ्ग, मालावार आदि; किन्तु इन सबका प्रचार अपने प्रान्तों तक ही सीमित है, जबकि 'हिन्दुस्तान' इस साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक समझी और बोली जाती है।"[२]

फरगूसन के पूर्व यद्यपि केटेलेर एवं शुल्ज हिन्दी-व्याकरण की रचना कर चुके थे, किन्तु उनमें से किसी के मूल ग्रन्थ की प्रति भारतवर्ष में उपलब्ध नहीं है। अतः उनके सम्बन्ध में हमारी जानकारी अन्य विद्वानों के उल्लेख पर ही आश्रित है। किन्तु, फरगूसन के ग्रन्थ की यथादर्श-प्रति (फोटो-स्टेट-कॉपी) सौभाग्य से कलकत्ता के 'राष्ट्रीय पुस्तकाल' में सुरक्षित है, जहाँ उसे देखने का

---

१. "The Sanskrit is the language of Brahmins, preserved by them as sacred from the unhallowed lips of strangers, as the most secret mysteries of their religion. The persic is confined to the court, to public treatise and negotiations and to the learned. The Hindustan is the general language of the country equally understood by all ranks and profession of men, by the learned and ignorant, by the courtier and peasant and by the Hindu and Muhamedan; it is therefore the language most useful to a stranger."
—Ibid (Intro).

२. "The Hindustan has a much wider range, being understood from the one end of this extensive empire to the other".—Ibid. (Introduction.)

अवसर मुझे प्राप्त हुआ। फरगूसन ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में हिन्दी के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं, वे हिन्दी-भाषा, हिन्दी-साहित्य तथा हिन्दी-व्याकरण, तीनों के अध्येताओं के लिए अतिशय महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी के सम्बन्ध में इतनी विस्तृत महत्त्वपूर्ण सूचना शायद ही इसके पूर्व के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध हो।

भाषाओं के अध्ययन के प्रति फरगूसन के भीतर विद्यार्थी-जीवन में ही स्वाभाविक रुचि उत्पन्न हो गयी थी। इस कारण, उन्हें हिन्दी सीखने में कोई विशेष कठिनाई नही हुई थी। किन्तु, हिन्दी पर विशेष अधिकार प्राप्त करने की प्रेरणा उन्हें जॉन ग्राहम से मिली थी, जो उस समय मेदनापुर में रहते थे। उन्होंने ही फरगूसन को हिन्दी सीखने के लिए अनुकूल अवसर प्रदान किया था। इसी प्रकार, हिन्दी का कोष तथा व्याकरण लिखने की प्रेरणा उन्हें एडिनबरा के जॉन डेविड्सन से मिली थी, जो उस समय स्कॉटलैण्ड के एटर्नी जेनरल् थे। फरगूसन ने अपने ग्रन्थ में इन दोनों सज्जनों का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक नामोल्लेख किया है।[१]

जॉन डेविड्सन से प्रेरणा पाकर सन् १७७० ई० में फरगूसन ने अपने ग्रन्थ की योजना कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स' के सम्मुख स्वीकृति के लिए रखी थी। स्वीकृति मिल जाने पर लगभग तीन वर्षों में पुस्तक तैयार कर उन्होंने सोत्साह उसे सन् १७७३ ई० में प्रकाशित किया था। ग्रन्थ की रचना फरगूसन ने भारत से इङ्गलैण्ड लौट जाने के पश्चात् वहीं की थी। उन्होंने इसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि अगर वे इस ग्रन्थ की रचना अपने भारत-निवास काल में करते तो निश्चय ही यह अधिक पूर्ण और अधिक बड़ा होता।[२] ऐसा लिखने का कारण यह है कि लेखक को इङ्गलैण्ड में हिन्दी के अधिकारी विद्वानों का सहयोग पाना सम्भव नहीं था, जो भारत में सहज ही प्राप्त होता।

---

१. Ibid.

२. "If the author had formed to himself, while in India, the most distant idea of attempting a work of this kind, the following performence would certainly have been much larger and fuller, and in every respcet more complete and perfect".—Ibid.

कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स' ने ग्रन्थ लिखने की स्वीकृति देते समय यह परामर्श भी दिया था कि ग्रन्थ में रोमन लिपि का ही प्रयोग हो और शब्दों की वर्त्तनी में रोमन वर्णों को इस क्रम में रखा जाय कि कोई इङ्गलैण्डवासी जब उन वर्णों के क्रम के अनुसार उस शब्द का उच्चारण करे, तो भारतीयों को उसे समझने में कठिनाई न हो। फरगूसन ने यथासाध्य इस पद्धति के निर्वाह पर ध्यान रखा, किन्तु रोमन वर्णों की ध्वनि-बहुरूपता के कारण वे इसमें पूर्ण सफल न हो सके, इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है।[१]

हिन्दी भाषा के साथ-साथ अपने ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए फरगूसन ने लिखा है कि 'यद्यपि लोग हिन्दुस्तान (हिंन्दी) को एक ऐसी अव्यवस्थित भाषा मानते हैं, जिसे किसी निश्चित व्याकरणिक ढाँचे में निबद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि लोगों की उपर्युक्त धारणा हिन्दी भाषा के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित होने के कारण भ्रामक है। फरगूसन ने अपने ग्रन्थ को भी सर्वथा निर्दोष और सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा है। उनके अनुसार 'हिन्दुस्तान' भाषा का इससे अधिक श्रेष्ठ और निर्दोष व्याकरण सम्भव है और वैसा वे स्वयं भी लिख सकते थे, यदि उन्हें कुछ अधिक अनुकूल अवसर प्राप्त होता।[२]

---

१. "It is no easy matter to retain an uniform matter of spelling where the ear is the only guide. The powers also of the vowels in English are so various that it is very difficult to avoid ambiguity in the use of them."
—Ibid.

२. "The Hindustan has been represented irregular and anomallous language incapable of being reduced to any system of grammar, but the author flatters himself, that in the course of the following work it will appear, this opinion has proceeded form a superficial knowledge of the language. He at the same time begs leave to acquaint his readers, that the following treatise is defective and much enferior to such a system of grammar as the language is capable of, and which even he himself, with better opportunity might have given."—Ibid.

फरगूसन ने ग्रन्थ की भूमिका की प्रारम्भिक पङ्क्तियों में ही ग्रन्थ-रचना के अपने उद्देश्य की चर्चा की है।[१] उनका कथन है कि हिन्दुस्तान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध होने से ग्रेटब्रिटेन को अपार लाभ है। इस कारण, वहाँ की भाषा के प्रोन्नयन का तथा उसे सीखने की सुविधा प्रदान करने वाले प्रयास का हार्दिक स्वागत करना, इङ्गलैण्डवासियों का परम कर्त्तव्य है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति का सर्वाधिक प्रभावोत्पादक एव स्वाभाविक मार्ग इङ्गलैण्ड-वासियों को हिन्दुस्तान-भाषा (हिन्दी) से परिचित कराना है। लेखक ने इसी उद्देश्य को सामने रख कर इस ग्रन्थ की रचना की है और उसका दृढ़ विश्वास है कि इङ्गलैण्ड की जनता उसके इस प्रयास का सोत्साह स्वागत करेगी।" फरगूसन के इस कथन से स्पष्ट है कि उनका मुख्य उद्देश्य अपने देशवासियों को हिन्दी का ज्ञान प्रदान करना था। उनके हृदय में हिन्दी के प्रति सेवा-भावना भी अवश्य थी, किन्तु उसका आधार भाषा-शास्त्रीय न होकर व्यावसायिक ही था। उन्होंने पुस्तक की उपयोगिता की चर्चा करते हुए स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है कि "इससे उन अँगरेजों को सर्वाधिक लाभ होगा, जो भारतवर्ष में रहते हैं तथा हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, साथ ही इससे उन जिज्ञासु व्यक्तियों को भी मनोरञ्जन एवं सन्तोष प्राप्त होगा, जो इङ्गलैण्ड में रहते हुए भी विदेशी भाषाओं में रुचि रखते हैं।[२] इस प्रकार, पुस्तक की भूमिका में पुस्तक-सम्बन्धी सभी अपेक्षित

१. "The advantages which the Great Britain derives from its Commerce with Hindustan are great and important. Any attempt therefore to facilitate and promote thier intercourse deserves a favourable reception from the public. To render the language of Hindustan familiar to the inhabitants of this country is the most natural and effectual means of obtaining this end. This is the object of the author in the following work, and whatever opinion may be entertained of the execution, he flatters himself that the intention will meet with the public approbation."—Ibid.

२. "But such as it is, he flatters himself, it may be of the greatest utility to gentlemen in India desirous of acquiring a knowledge of the Hindustan language and that

बातों का सविस्तर विवेचन करने के पश्चात् लेखक ने मूल ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है।

भूमिका समाप्त करने के पश्चात् फरगूसन ने सर्वप्रथम व्याकरण की परिभाषा[१] दी है। उनके अनुसार व्याकरण विचारों को उचित अभिव्यक्ति देने की शिक्षा प्रदान करता है। उन्होंने व्याकरण के दो प्रकार माने हैं।[२] सर्वभाषिक (युनिभर्सल) और एकभाषिक (पर्टिकुलर)। सर्वभाषिक व्याकरण में उन नियमों का विवेचन होता है, जो सभी भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं और एकभाषिक व्याकरण में किसी भाषा-विशेष के नियमों का विवेचन होता है। अपने व्याकरण को उन्होंने इसी दूसरी कोटि में रखा है।

तदनन्तर, उन्होंने हिन्दी-वर्णों का विवेचन किया है। उनके अनुसार वर्ण शब्द का लघुतम और सरलतम अंश होता है।[३] उन्होंने हिन्दी में २० स्वर और ३६ व्यञ्जन माने हैं। हिन्दी की वर्णमाला के लिए देवनागरी वर्णों का प्रयोग नहीं करके उनके स्थान पर रोमन प्रत्यक्षर ही दिये हैं, किन्तु उसके साथ ही यह उल्लेख भी कर दिया है कि हिन्दी के वर्णों को रोमन-वर्णों के द्वारा सफलतापूर्वक प्रत्यक्षरित नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है कि : इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग-अलग वर्ण हैं, जो रोमन-वर्णों के द्वारा पूर्ण रूप से प्रदर्शित नहीं किये जा सकते। इसके अतिरिक्त, इसमें प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में जो समय की मात्रा लगती है, उसके लिए भी अलग-अलग चिह्न हैं। शब्दों में प्रत्येक वर्ण की ध्वनि का रूप एवं उच्चारण निश्चित है और उसमें सर्वत्र

---

it may afford entertainment, and even satisfaction to such of the curious in this country as amuse themselves with the study of foreign languages."—Ibid

१. "Grammar teaches us to Communicate out thoughts in proper expressions."—Ibid. p. 1.

२. "Grammar is either universal or particular, universal grammar treats of the principles common to all languages. Particular grammar which is the object of our attention, treats of the principles of particular language."—Ibid.

३. 'A letter is the least and simplest part of the word.'
—Ibid.

एकरूपता पायी जाती है; जिसके फलस्वरूप विदेशियों के लिए उन्हें सीखना तथा उनके उच्चारण पर अधिकार प्राप्त करना सरल है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखन-कला के ज्ञान की पूर्णता में भारतीय पहले से ही यूरोपवालों से आगे बढ़े-चढ़े रहे हैं।[१]

लोगों की दासता की मनोवृत्ति की ओर सङ्केत करते हुए फरगूसन ने लिखा है—'हिन्दुस्तान-भाषा की वास्तविक लिपि नागरी है, जो यूरोपीय लिपि के समान बाँयीं ओर से दाँयीं ओर लिखी जाती है। किन्तु, अधिकांश लोग इस भाषा के लिए सामान्य रूप से फारसी-लिपि का ही प्रयोग करते हैं। भारत में चूँकि फारसी बोलना और लिखना अभिमान की बात समझा जाता है, इसलिए जो लोग हिन्दुस्तान-भाषा (हिन्दी) में लिखते हैं, वे भी फारसी-लिपि का ही प्रयोग करते हैं।'[२] फरगूसन के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि वे हिन्दी-भाषियों के फारसी-लिपि के प्रति मोह को उचित नहीं मानते थे; क्योंकि उनकी दृष्टि में नागरी-लिपि न केवल फारसी-अपितु सभी यूरोपीय लिपियों से अधिक पूर्ण और श्रेष्ठ लिपि है और वही हिन्दी की अपनी लिपि है। ऐसी लिपि को छोड़कर फारसी में हिन्दी लिखना और उसपर गर्व करना एक हास्यास्पद बात थी। किन्तु, सदियों से पराधीन रहनेवाले देश के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

---

१. "It would be vain to attempt to give an idea of the different sounds of the vowels and consonants by Roaman letters. It may be observed in general, that the Hindus have not only different characters for the different sounds, but also for the different lengths of time, in which the sounds are pronounced. ....Hence it appears that the Indians have carried the art of expressing sounds by proper characters to greater perfection than the Europeans have ever attained.'—Ibid, p. 2.

२. The Nagari is the proper character of the Hindustan language. ....But Persic is the character most commonly used in this language. It is matter of vanity in India to write and speak persic, hence, even those who write in the Hindustan language make use of the persic character '—Ibid.

यहाँ इस तथ्य पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है कि हिन्दी से उर्दू की उत्पत्ति के भ्रम का प्रधान कारण यद्यपि लोग हिन्दी-भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों के अधिक प्रयोग को मानते आ रहे हैं, किन्तु, वास्तव में बात ऐसी नहीं। हिन्दी से उर्दू को भिन्न आभासित करने वाला प्रधान कारण हिन्दी का फारसी-लिपि में लिखा जाना था और गौण कारण उसमें अरबी-फारसी शब्दों का प्रचुर प्रयोग था। इस सम्बन्ध में मेरी मान्यता यह है कि यदि हिन्दी को फारसी-लिपि में लिखने की प्रथा नहीं चली होती तो उर्दू को हिन्दी से भिन्न मानने के भ्रम का जन्म ही नहीं हुआ होता। आज भी मुख्य रूप से लिपि की भिन्नता के कारण ही कुछ लोग उर्दू को हिन्दी से भिन्न समझने का भ्रम पाल रहे हैं। किन्तु, संसार की भाषाओं का इतिहास साक्षी है कि लिपि की भिन्नता या विदेशी शब्दों के प्रयोग-बाहुल्य से कभी एक भाषा से दूसरी नवीन भाषा का जन्म नहीं होता। नयी भाषा की उत्पत्ति के मुख्य कारणों में उपर्युक्त दोनों कारणों को कोई भी स्थान नहीं दिया जा सकता।

हिन्दी-वर्णों के विवेचन के पश्चात् शब्द की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द एक या एक से अधिक वर्णों से निर्मित होता है और वह अपने-आप में सार्थक होता है।[१] उन्होंने शब्द के ९ भेद किये हैं—१. आर्टिक्ल, २. संज्ञा, ३. सर्वनाम, ४. विशेषण, ५. क्रिया, ६. क्रियाविशेषण, ७. सम्बन्ध-बोधक, ८. समुच्चय बोधक (या) संयोजक एवं ९. विस्मयादि बोधक। इस प्रसङ्ग में लेखक ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि अपने ग्रन्थ की रचना में उन्होंने प्रसिद्ध वैयाकरण डॉ० लोथ के व्याकरण को आधार बनाया है।[२]

शब्द-भेदों का नामोल्लेख करने के पश्चात् लेखक ने एक-एक कर सबका विवेचन किया है। 'आर्टिक्ल' की परिभाषा में उन्होंने लिखा है कि आर्टिक्ल वह शब्द है, जो संज्ञा के साथ प्रयुक्त होकर उसके अर्थद्योतन के विस्तार को सङ्केतित करता है। इसके प्रयोग के द्वारा जातिवाचक संज्ञा व्यक्तिवाचक के

---

१. 'A word consists of one or more letters and is significant by itself.'—Ibid.

२. 'In this work we will follow the arrangement of the eligant and engenious grammarian Dr. Loath.'—Ibid.

समान अर्थ देनेवाली बन जाती है।'[१] उन्होंने आर्टिक्ल के दो प्रकार माने हैं; एक के अन्तर्गत अँगरेजी में प्रयुक्त होनेवाले 'ए', 'ऐन' और 'दी' है और दूसरे प्रकार का आर्टिक्ल सार्वनामिक होता है, जैसे—यह, वह आदि। लेखक के अनुसार हिन्दी में दूसरे प्रकार के आर्टिक्ल ही पाये जाते हैं। हिन्दी में 'यह' और 'वह' क्रमशः निकटता और दूरी की सूचना देते हैं। आर्टिक्ल के रूप में जब इनका प्रयोग होता है, तब इनके रूप में कोई विकार नहीं होता, किन्तु जब ये सर्वनाम के रूप में व्यवहृत होते हैं, तब इनके रूप में परिवर्त्तन हो सकते हैं। किन्तु, हिन्दी में आर्टिक्ल की कल्पना भ्रामक एवं निराधार है। फरगूसन के द्वारा इस प्रकार की भूल का प्रधान कारण यह है कि उन्होंने हिन्दी-भाषा के आधार पर व्याकरणिक कोटियों का निर्धारण नहीं करके अँगरेजी के लिए बने-बनाये व्याकरणिक ढाँचे में ही हिन्दी को फिट करने का प्रयास किया था।

संज्ञा की परिभाषा देते हुए उन्होंने यह बताया है कि 'संज्ञा किसी वस्तु के नाम को कहते हैं। इसमें वचन और लिङ्ग दो प्राकृतिक उपलक्षण होते हैं।'[२] हिन्दी में वचन दो प्रकार के होते हैं, एकवचन और बहुवचन। इसमें भिन्न-भिन्न स्वरान्तवाले एकवचन के शब्दों को अलग-अलग पद्धति से बहुवचन बनाया जाता है। आकारान्त पुलिङ्ग संज्ञाओं का, कर्त्ता तथा सम्बोधन में 'ए' लगाकर और शेष कारकों में 'ओं' लगाकर बहुवचन बनाया जाता है, जैसे—कर्त्ता में 'दादा' से 'दादे' और सम्बन्ध में 'दादों का'। आकारान्त स्त्री० संज्ञाओं का कर्त्ता और सम्बोधन में 'एँ' तथा अन्य में 'ओं' लगाकर बहुवचन बनाया जाता है, जैसे—कर्त्ता में 'बुढ़िया' से 'बुढ़िये' और सम्बन्ध में 'बुढ़ियों का।' ईकारान्त पुलिङ्ग संज्ञाओं के अन्त में 'ओं' लगाकर, जैसे—'डाँड़ी' (केवट) से 'डाँड़ियों'; और ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग संज्ञाओं के अन्त में सर्वत्र 'आ' लगाकर बहुवचन बनाया जाता है, जैसे—'भौजी' से 'भौजिआ' तथा 'भौजिआ का'। ऊकारान्त संज्ञाओं के अन्त में 'ओं' लगाकर बहुवचन बनता है, जैसे—'बालू' से 'बालुओं' और 'बालुओं का'। अकारान्त संज्ञाओं में 'ए' लगाकर बहुवचन बनाया जाता है, जैसे—'अंग' से 'अंगे' आदि। ग्रामीण

---

१. "The article, which joined to a substantive points out the extant of its signification. By means of it a common name is made to signify an individual object."—Ibid.

२. "A substantive is the name of thing. The natural accidents of substantives are number and gender.–'Ibid. p. 3.

भाषा (वलगर लैङ्ग्वेज) में 'लोग' शब्द लगाकर बहुवचन बनाने का चलन है, जैसे—'आदमी लोग', 'औरत लोग' आदि ।[1]

लिङ्ग के सम्बन्ध में फरगूसन का कथन है कि अँगरेजी के समान हिन्दी में भी लिङ्ग का आधार प्राकृतिक है । स्त्री० और पु० की भिन्नता केवल पशुओं के नाम में होती है, अन्य संज्ञाएँ क्लीव या नपुंशक लिङ्ग के अन्तर्गत आती हैं । संज्ञाओं के लिङ्ग का निर्णय, अन्त मे आनेवाले वर्ण के आधार पर होता है । आकारान्त पु० संज्ञाओं में 'ई' लगाकर; जैसे—दादा से दादी, बेटा से बेटी । ईकारान्त संज्ञाओं के अन्त में 'इन' लगाकर; जैसे—धोबी से धोबिन, माली से मालिन; स्त्रीलिङ्ग बनाया जाता है । लेखक के अनुसार व्यञ्जनान्त पु० संज्ञाओं के स्त्री० रूप में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है, जैसे—'मेहतर्' से 'मेहतरनी,' 'हिरन्' से 'हिरिन्', 'डायन्' से 'डाइन' । नपुंसक लिङ्ग के अन्तर्गत सभी अप्राणीवाचक संज्ञाएँ आती हैं, जिनका रूप पु० संज्ञाओं के समान बनता है ।[2]

संज्ञाओं की रूप-रचना के सम्बन्ध में फरगूसन ने लिखा है कि प्राचीन भाषाओं में शब्दों का (वाक्य में) पारस्परिक सम्बन्ध कारक, अर्थात् संज्ञान्त में कारक-विभक्तियों के प्रयोग के द्वारा व्यञ्जित किया जाता था । अँगरेजी तथा अधिकांश अन्यान्य यूरोपीय भाषाओं में यह कार्य पूर्वसर्ग (प्री-पोजीशन) के प्रयोग के द्वारा होता है तथा हिन्दी में इसके लिए निपात (पार्टिकल) का प्रयोग होता है, जो केवल स्थान को छोड़कर अन्य सभी बातों में अँगरेजी के पूर्वसर्ग के समान ही होते हैं । ये शब्दों के पूर्व आने के बदले शब्दों के बाद आते हैं, अतः इन्हें परसर्ग (पोस्ट-पोजीशन) कहना अधिक उपयुक्त है । हिन्दी में सम्बन्ध कारक के लिए 'का', सम्प्रदान तथा कर्म के लिए 'को' तथा अपादान के लिए 'से' का प्रयोग होता है ।[3]

हिन्दी संज्ञाओं की रूप-रचना की, कर्त्ता एकवचन रूपों के अन्त्य वर्णों की भिन्नता तथा बहुवचन बनाने की पद्धति की भिन्नता के आधार पर, चार श्रेणियाँ हो सकती है—१. आकारान्त, २. ईकारान्त, ३. ऊकारान्त तथा ४. व्यञ्जनान्त । आकारान्त शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में निम्नाङ्कित प्रकार से दिये गये हैं[4]—

१. डि० हि० लैं० ग्रा० हि० लै०, फरगूसन, पृ० ३-४ ।
२. उपरिवत्, पृ० ४ ।
३. डि० हि० लैं०, ग्रा० हि० लै०, फरगूसन, पृ० ५ ।
४. उपरिवत्, पृ० ६-७ ।

आकारान्त शब्द

कारक		(पु०) भाँजा	(स्त्री०) आया	(न०) सहाना (बाजा)
कर्त्ता	ए० व०	भाँजा	आया	सहाना
	ब० व०	भाँजे	आयें	सहाने
सम्बन्ध	ए० व०	भाँजा का	आया का	सहाना का
	ब० व०	भाँजों का	आयों का	सहानों का
सम्प्रदाय	ए० व०	भाँजा को	आया को	सहाना को
	ब० व०	भाँजों को	आयों को	सहानों को
कर्म	ए० ब०	भाँजा को	आया को	सहाना को
	ब० व०	भाँजों को	आयों को	सहानों को
सम्बोधन	ए० व०	ओ भाँजा	ओ आया	ओ सहाना
	ब० व०	ओ भाँजे	ओ आयें	ओ सहाने
अपादान	ए० व०	भाँजा से	आया से	सहाना से
	ब० व०	भाँजों से	आयों से	सहाने से
		इसी प्रकार पु० 'दादा' शब्द का रूप दिया गया है।	इसी प्रकार स्त्री० 'बुढ़िया' शब्द का रूप दिया गया है।	इसी प्रकार न० जग्गा (जगह्) शब्द का रूप दिया गया है।

ईकारान्त शब्दों में पु० हाथी और दूल्ही[1] (दूल्हा के अर्थ में) की, स्त्री० बीबी और नानी की और न० सीटी तथा शादी की रूप-रचना दी गयी है। ऊकारान्त शब्दों में पु० डाकू, स्त्री० जोरू और न० आबरू के, तथा व्यञ्जनान्त शब्दों में पु० खसम् और साँढ्, स्त्री०, दूल्हिन् और बेगम् तथा न० बिल्लौर् (पत्थर) और जंग् के रूप दिये गये हैं।[2] फरगूसन ने अकारान्त संज्ञाओं को भ्रम से व्यञ्जनान्त मान लिया है। इस प्रकार की भूल कई आधुनिक भाषा-शास्त्रियों ने भी की है। फरगूसन ने अधिकांश शब्दों के रूप प्रायः अशुद्ध ही दिये हैं, जिनकी चर्चा आगे की जायगी।

---

1. फरगूसन ने भ्रम से दूल्हा के लिए दूल्ही शब्द का प्रयोग किया है।
2. उपरिवत्, पृ० ७-१३।

फरगूसन के अनुसार, "सर्वनाम वह शब्द है, जो संज्ञा के स्थान पर उसके बदले में आकर, उसका अभिप्राय व्यञ्जित करता है। सर्वनाम के माध्यम से दो अपरिचित व्यक्ति भी बात कर सकते हैं।"[१] वार्त्तालाप में मुख्य रूप से तीन सदस्य होते हैं—वक्ता, श्रोता और वह, जिसके सम्बन्ध में वार्त्तालाप किया जाय। इसीलिए, सर्वनाम में तीन पुरुष होते हैं—प्रथमपुरुष अर्थात् उत्तमपुरुष, द्वितीय पुरुष अर्थात् मध्यमपुरुष और तृतीयपुरुष अर्थात् अन्यपुरुष। हिन्दी में मैं, तू और वह क्रमशः उपर्युक्त तीनों पुरुष के सर्वनामों के उदाहरण हैं।[२] इस विवेचन के प्रसङ्ग में फरगूसन ने 'हैरिस हर्मिस' (Harris's Hermes) नामक किसी वैयाकरण या व्याकरण-ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है, जिसके आधार पर उन्होंने सर्वनाम का यह विवेचन प्रस्तुत किया है।

आगे चलकर, फरगूसन ने यह लिखा है कि चूंकि वक्ता, श्रोता और विषय की संख्या एक से अधिक भी हो सकती है, इसलिए सभी पुरुषवाची सर्वनामों के एकवचन और बहुवचन दोनों ही रूप होते हैं। इसके अतिरिक्त, भिन्न-भिन्न कारकों के सर्वनामों के रूप भी अलग-अलग होते हैं।[३] सर्वनाम में लिङ्ग की चर्चा के प्रसङ्ग में फरगूसन ने एक बड़ी भूल की है। उन्होंने लिखा है कि "वार्त्तालाप में वक्ता और श्रोता एक दूसरे के सम्मुख उपस्थित रहने के कारण परस्पर एक दूसरे के लिङ्ग से परिचित रहते हैं, इस कारण उत्तमपुरुष और मध्यमपुरुष के सर्वनामों में लिङ्ग-भेद नहीं होता; किन्तु अन्यपुरुष वहाँ अनुपस्थित रहता है, जिसका लिङ्ग ज्ञात नहीं भी रह सकता, इसलिए अन्यपुरुष सर्वनाम में लिङ्ग-भेद होता है। उदाहरणार्थ—अन्यपुरुष पु०—वह जाता (ही गोज), स्त्री० वही जाता (शी गोज) और न० वह जाता (इट गोज)।"[४] यहाँ स्पष्ट है कि फरगूसन का ध्यान हिन्दी पर न

---

१. A pronoun is a word which supplies the place of a noun, as the name imports. By means of pronouns; two individuals quite unaquainted with one another, can carry on a conversation, which purpose could not be answered by substantive nouns.—Ibid, p. 14.

२. उपरिवत्, पृ० १४।

३. उपरिवत्।

४. "The pronouns of the first and second person do not admit of any gender, because the persons denoted by

होकर अँगरेजी पर था। चूँकि अँगरेजी में थर्ड पर्सन (अ० पु०) में 'ही' का स्त्री० रूप 'शी' होता है, इसलिए उन्होंने यह सोचा होगा कि हिन्दी में भी अन्यपुरुष सर्वनाम का स्त्री० रूप अवश्य होगा और जब उन्हें वैसा नहीं मिला, तो उन्होंने अपनी कल्पना से ही 'वह' में स्त्री० प्रत्यय 'ई' लगाकर कल्पित स्त्री० रूप 'वही' बना लिया। किसी भाषा पर जब दूसरी भिन्न भाषा का व्याकरण लादा जाता है तथा जब अनधिकारी व्यक्ति किसी भाषा का व्याकरण लिखने बैठता है, तब उसका परिणाम ऐसा ही भ्रमोत्पादक और अहितकर होता है। यहाँ सबसे बढ़कर आश्चर्य की बात यह है कि लेखक ने 'वह' से स्त्री० 'वही' बना लिया; किन्तु उसके साथ 'जाता' क्रिया को पु० ही रहने दिया।

पुरुषवाची सर्वनामों की रूप-रचना के विषय में फरगूसन ने लिखा है कि प्रायः सभी भाषाओं में, जहाँ तक मैं जानता हूँ, पुरुषवाची सर्वनामों की रूप-रचना अनियमित (इर्रेगुलर) होती है।[१] उन्होंने सर्वनामों के रूप इस प्रकार दिये हैं--

पुरुषवाची सर्वनाम[२]

कारक		उत्तमपुरुष	मध्यमपुरुष	अन्यपुरुष पु०	अन्यपुरुष स्त्री०	अन्यपुरुष न०	अन्यपुरुष ब० तीनों लिङ्गों का
कर्त्ता--	ए० व०	मैं	तू	वह	वही	वह	
	ब० व०	हम	तुम				इन
सम्बन्ध—	ए० व०	मैं का मेरा	तेरा	इसीका	उसका	वहका	
	ब० व०	हमका हमारा	तुम्हारा				इनका
सम्प्रदान–	ए० व०	मैं को	तूको	इसीको	उसको	वहको	
	ब० व०	हमको	तुमको				इनको

them being present to one another have an opportunity of knowing each other's sex from dress and other circumstances. As the pronoun of the third person refers to an absent object, whose sex may be unknown, it admits of gender."—Ibid.

१. It is curious to observe that in all languages, as far as I know, the personal pronouns are irregularly declined. —Ibid.

२. Ibid, p. 16.

कारक		उत्तमपु०	मध्यमपु०	अन्यपु०			अन्यपु० ब०
				पु०	स्त्री०	न०	तीनों लिङ्गों का
कर्म०—	ए० व०	मुझको	तुझको	इसीको	उसको	वह	
	ब० व०	हमारे, हमका	तुम्हारे, तुमको				इन
सम्बो०—	ए० व०	ओ मैं	ओ तू	—	—	—	
	ब० व०	ओ हम	ओ तुम				—
अपा०—	ए० व०	मैं से	तू से	इसीसे	उसीसे	वहसे	
	ब० व०	हमसे	तुम से				इनसे

फरगूसन के अनुसार, पुरुषवाची सर्वनाम का स्वरूप संज्ञा के समान होता है, किन्तु पुरुषवाची के अतिरिक्त अन्य सभी सर्वनामों का स्वरूप विशेषण के समान होता है। सम्बन्धवाची सर्वनाम से सम्बन्ध का बोध होता है और इसकी रचना पुरुषवाची सर्वनाम के सम्बन्धकारक वाले रूप से होती है, जैसे—मेरा, तेरा, उसका, उसकी। इसके रूप निम्नलिखित होते हैं[1]—

कारक	मेरा		तेरा	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
कर्त्ता	मेरा	हमारा	तेरा	तुम्हारा
सम्बन्ध	मेरा का	हमारा का	तेरा का	तुम्हारा का
सम्प्रदान	मेरा को	हमारा को	तेरा को	तुम्हारा को
कर्म	मेरा, मेरा को	हमारा	तेरा, तेरा को	तुम्हारा
सम्बोधन	ओ मेरा	ओ हमारा	ओ तेरा	ओ तुम्हारा
अपादान	मेरा से	हमारा से	तेरा से	तुम्हारा से

उनके अनुसार 'उसका' में कारकों के कारण रूप-परिवर्त्तन नहीं होता। सम्बन्धवाची सर्वनामों का लिङ्ग विशेषण के समान ही अपने विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार होता है, जैसे—मेरा बाप, मेरी माँ, मेरी चीज; तेरा बाप, तेरी माँ, तेरी चीज; उसका बाप, उसकी माँ, उसकी चीज।[2]

उपर्युक्त सर्वनामों के अतिरिक्त यह, वह, दूसरा, कोई, कोई नहीं, कुछ, जो, कौन. क्या, जो कोई, जो कुछ, सकल आदि सर्वनाम हैं। इनमें यह, वह,

---

१. फरगूसन, पृ० १६-१७।

२. उपरिवत्, पृ० १७।

दूसरा, कोई, कोई नहीं, जो, कौन और क्या विकारी होते हैं और शेष अविकारी। 'वह' और 'दूसरा' का रूप विशेषण के समान परिवर्तित होता है। अन्य की रूप-रचना निम्नलिखित प्रकार से होती है[1]—

कारक	यह	कोई	जो	कौन	क्या
कर्त्ता	यह	कोई	जो	कौन	क्या
सम्बन्ध	इसका	किसका	जो का	किसका	क्या का
सम्प्रदान	इसको	किसको	जो को	किसको	क्या को
कर्म	इसको	किसको	जो को	किसको	क्या को
सम्बोधन	—	—	—	—	—
अपादान	इससे	किससे	जो से	किससे	क्या से

हिन्दी में 'आप' और 'अपना' दो भिन्न शब्द हैं। आप (स्वयं) मैं, तू और वह के साथ रहने वाला पुरुषवाची सर्वनाम है और 'अपना' मेरा, तेरा और उसका के साथ रहने वाला सम्बन्धवाची। उदाहरणार्थ—मैं आप घर में रहेगा, तू आप जाओ, वह आप लिखता कुछ; मेरा अपना घर है, तेरा अपना कौन है, उसका अपना लड़का भेज दिया (ही सेण्ट हिज ओन चाइल्ड)। इनके प्रयोग से पुरुषवाची तथा सम्बन्धवाची सर्वनामों में विशेष प्रकार का बल आ जाता है। 'आप' और 'अपना' की रूप-रचना क्रमशः समान अन्त वाले संज्ञा और विशेषण शब्दों के समान होती है।[2]

फरगूसन के अनुसार, "विशेषण संज्ञा के साथ युक्त होकर उसका गुण व्यक्त करता है। यह विशेषता बताने में क्रिया के समान ही होता है, किन्तु इससे निश्चयात्मक कथन तथा काल की सूचना क्रिया के समान नहीं मिलती।"[3] कारकों के कारण हिन्दी-विशेषणों के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ—भला आदमी—भला आदमी का, भली बीबी—भली बीबी का,

---

१. उपरिवत्, १७-१८।

२. उपरिवत्, पृ० १९।

३. "An adjective is a word joined to a substantive to express its quality. It agrees with a verb in expressing an attribute, it differs from it in not connecting any assertion, and in not having any reference to time."

—Ibid. p. 19.

भला चीज—भला चीज का। वचन के आधार पर हिन्दी-विशेषणों के रूप में विकार होता है, जैसे—भला—भले, भारी—भारियों (?)। आकारान्त विशेषणों में लिङ्ग के कारण भी विकार होता है, जैसे—भला बेटा, भली आया, अच्छा आदमी, अच्छी बीबी।[१]

गुण की मात्रा के आधार पर लेखक ने विशेषण की तीन अवस्थाएँ मानी हैं—मूलावस्था या सामान्य गुण-सूचक (पोजीटिव डिग्री), उत्तरावस्था या तुलनात्मक गुण-सूचक (कम्पेरेटिव डिग्री) और उत्तमावस्था या सर्वाधिक्य सूचक (सुपरलेटिव डिग्री)। हिन्दी में उत्तरावस्था तथा उत्तमावस्था की सूचना के लिए लेखक के अनुसार क्रमशः 'इससू' और 'सबसू' निपात (पार्टिक्ल) का प्रयोग होता है, जिसे वे तुलनात्मक क्रियाविशेषण कहना अधिक उचित मानते हैं, जैसे—बड़ा, इससू बड़ा और सबसू बड़ा।[२]

क्रिया के प्रकरण के प्रारम्भ में क्रिया, कृदन्त और विशेषण का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करते हुए फरगूसन ने 'हैरिस हर्मिस' के आधार पर लिखा है कि "क्रिया से विशेषता या महत्त्व, निश्चयात्मकता और काल (ऐट्रिब्यूट, एसर्सन ऐण्ड टाइम) तीनों की सूचना मिलती है, कृदन्त से केवल महत्त्व और काल की तथा विशेषण से केवल विशेषता या महत्त्व की। जब वाक्य में कर्त्ता प्रमुख होता है और कर्म उसका अनुगमन करता है, तो क्रिया कर्तृप्रधान (ऐक्टिभ) होती है, जब कर्मप्रधान और कर्त्ता गौण होता है, तब क्रिया कर्मप्रधान (पैसिभ) होती है और जब कर्त्ता और कर्म दोनों एकीभूत रहते हैं, तो क्रिया नपुंसक अर्थात् अकर्मक होती है, जैसे—मैं प्यारता दोस्त को (आइ लभ ए फ्रेण्ड), मैं से दोस्त प्यारा है (ए फ्रेण्ड इज लव्ड बाइ मी), मैं सोता (आइ स्लीप)। लेखक के अनुसार हिन्दी में अँगरेजी की तरह क्रिया के आगे 'होना' के भूतकालिक कृदन्त का प्रयोग कर कर्मवाच्य बनाया जाता है, जैसे—मैं सुना है (आइ एम हर्ड), मैं सुना हुआ (आइ वाज हर्ड)।"[३]

फरगूसन ने आगे लिखा है कि क्रिया में वचन, पुरुष, काल और विधि या प्रकार (मूड) होते हैं। हिन्दी क्रिया में दो वचन और तीन पुरुष होते हैं। वचन को समानता रहने पर पुरुषों के कारण क्रिया के रूप में कोई परिवर्त्तन

१. Ibid, p. 19.
२. Ibid, p. 20.
३. Ibid, p. 22.

नहीं होता। उदाहरणार्थ—मैं आता, तू आता, वह आता; मैं है, तू है, वह है। विभिन्न कालों की आकारान्त क्रियाओं के बहुवचन में 'ए' लगता है, किन्तु ऐसा अन्य प्रकार के अन्त्यस्वर वाली क्रियाओं में नहीं होता। जैसे—हम आते, हम है।[१]

काल क्रिया के प्रारम्भ, मध्य या अन्त के समय की सूचना देते हैं। किन्तु, समय के सम्बन्ध में अनेक दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। इस कारण, उनको स्पष्ट करने के लिए काल भी अनेक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए वर्त्तमान काल में भी प्रारम्भ, मध्य और अन्त की स्थितियाँ हो सकती हैं, इसी प्रकार भूत और भविष्य में भी। इनको स्पष्ट करने के लिए सभी भाषाओं में भिन्न-भिन्न काल होते हैं। किसी में यह व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और किसी में कम पूर्ण होती है। किन्तु, कोई भी भाषा ऐसी नहीं, जिसमें काल की व्यवस्था सर्वथा पूर्ण हो।[२]

अँगरेजी में केवल दो ही कालों में क्रिया के रूप-परिवर्त्तन के द्वारा काल-रचना का कार्य सम्पन्न हो जाता है, शेष में सहायक क्रियाओं की सहायता लेनी पड़ती है। इस दृष्टि से हिन्दी अँगरेजी की अपेक्षा अधिक पूर्ण है, क्योंकि इसमें क्रियाओं के अन्त की भिन्नता के आधार पर कालों के रूप सुनिश्चित हैं। हिन्दी में कालों की संख्या ६ है—सामान्य वर्त्तमान (द प्रेजेण्ट), अपूर्ण काल (द इम्परफैक्ट),, सम्भाव्य भूत (द परफेक्ट), तात्कालिक भूत (द प्लू परफैक्ट), सम्भाव्य भविष्य और निश्चित भविष्य (टू फ्यूचर्स)।[३]

क्रिया के अर्थ को कई प्रकार से प्रकट किया जा सकता है, इसलिए उसके अनेक 'अर्थ' या 'प्रकार' (मूड) हो सकते हैं। फरगूसन के अनुसार, हिन्दी में क्रिया के चार 'अर्थ' या 'प्रकार' (मूड्स) होते हैं—निश्चयार्थ (इण्डिकेटिव), सम्भावनार्थ (पोटेंशियल), आज्ञार्थ (इम्परेटिव) और क्रियार्थक संज्ञा (इन-फिनीटिव)। निश्चयार्थ में किसी कार्य के होने या नहीं होने का सामान्य कथन होता है, सम्भावनार्थ में सम्भावना व्यक्त की जाती है, आज्ञार्थ में आदेश प्रकट होता है और क्रियार्थक संज्ञा पुरुष, वचन आदि सबसे रहित होकर व्यक्त

---

१. उपरिवत्, पृ० २१।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्।

होती है। हिन्दी में सम्भावनार्थ के लिए क्रिया में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। उसका रूप क्रियार्थक संज्ञा और सहायक क्रिया 'सकना' के योग से बनता है। काल की भिन्नता सहायक क्रिया के रूपान्तर से प्रकट होती है, जैसे मैं लिखना सकता (आइ कैन राइट), मैं लिखना सकता था (आइ कुड राइट)। हिन्दी में सभी क्रियार्थक संज्ञाएँ (इनफिनीटिव) 'ना' में समाप्त होती है। हिन्दी में क्रियार्थक संज्ञा के बाद 'को' जुटता है, जैसे—'फीरना को' (टु वाक), हँसना को (टु लाफ)। किन्तु, यह 'को' सामान्य रूप से रहने पर भी सर्वत्र आवश्यक नहीं है। क्रियार्थक संज्ञा के आगे से, में, के वास्ते आदि लगने पर उससे कृदन्त या संज्ञा का अर्थ सूचित होता है, जैसे—मैं लड़ने में जखमी पाया, वह नाचने में गिर गया, मैं मुलुक में सौदागरी करने के वास्ते आया।[१]

फरगूसन के अनुसार सामान्य भूत और तात्कालिक भूत की रचना की दृष्टि से हिन्दी क्रियाओं का रूपान्तर दो प्रकार से होता है। प्रथम रूपान्तर में क्रिया के अन्त में 'आना' जुड़ता है और दूसरे में भिन्न अन्त की क्रियाएँ रहती हैं।[२]

लेखक ने सर्वप्रथम सहायक क्रिया 'सकना' का रूपान्तर दिया है; क्योंकि उनके अनुसार विना इसके अन्य क्रियाओं की रूप-रचना नहीं हो सकती। फिर 'होना' क्रिया का रूपान्तर दिया है। ये रूपान्तर निम्नलिखित हैं—

'सकना' निश्चयार्थ[३]

सामान्य वर्त्तमान		अपूर्ण काल	
ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
मैं सकता	हम सकते	मैं सकता था	हम सकता थे
तू सकता	तुम सकते	तू सकता था	तुम सकता थे
वह सकता	इनने सकते	वह सकता था	इनने सकता थे

सामान्य भूत		तात्कालिक भूत	
मैं सका	हम सके	मैं सका था	हम सका थे
तू सका	तुम सके	तू सका था	तुम सका थे
वह सका	इनने सके	वह सका था	इनने सका थे

१. फरगूसन, पृ० २१-२२।
२. उपरिवत्, पृ० २२।
३. उपरिवत्, पृ० २३-२४।

सम्भाव्य भविष्य		निश्चित भविष्य	
मैं सकूँगा	हम सकूँगे	मैं सकेगा	हम सकेगे
तू सकूँगा	तुम सकूँगे	तू	तुम सकेगे
वह सकूँगा	इनने सकूँगे	वह	इनने सकेगे

सम्भावनार्थ[१]

सामान्य वर्त्तमान		अपूर्ण काल	
मैं तू सकना सकता वह	हम तुम सकना सकते इनने	मैं तू सकना सकता था वह	हम तुम सकना इनने सकते थे

सामान्य भूत		तात्कालिक भूत	
मैं सकना सका	हम सकना सके	मैं सकना सका था	हम सकना सके थे
तू सकना सका	तुम सकना सके	तू सकना सका था	तुम सकना सके थे
वह सकना सका	इनने सकना सके	वह सकना सका था	इनने सकना सके थे

सम्भाव्य भविष्य		निश्चित भविष्य	
मैं सकना सकूँगा	हम सकना सकूँगे	मैं सकना सकेगा	हम सकना सकेंगे
तू सकना सकूँगा	तुम सकना सकूँगे	तू सकना सकेगा	तुम सकना सकेंगे
वह सकना सकूँगा	इनने सकना सकूँगे	वह सकना सकेगा	इनने सकना सकेंगे

निश्चयार्थ 'होना क्रिया'

सामान्य वर्त्तमान		अपूर्ण काल	
मैं है	हम है	मैं हुआ	हम हुए
तू है	तुम है	तू हुआ	तुम हुए
वह है	इनने है	वह हुआ	इनने हुए

सामान्य भूत		तात्कालिक भूत	
मैं हुआ था	हम हुआ थे	मैं हो गया	हम हो गये
तू हुआ था	तुम हुआ थे	तू हो गया	तुम हो गये
वह हुआ था	इनने हुआ थे	वह हो गया	इनने हो गये

---

१. फरगसन, पृ० २४-२५।

सम्भाव्य भविष्य		निश्चित भविष्य	
मैं हूँगा	हम होंगे	मैं हूगा	हम होगे
तू हूँगा	तुम होंगे	तू हूगा	तुम होगे
वह हूँगा	इनने होंगे	वह हूगा	इनने होगे

सम्भावनार्थ (पोटेंशियल मूड)

सामान्य वर्त्तमान		अपूर्ण काल	
मैं होना सकता	हम होना सकते	मैं होना सकता था	हम होना सकता थे
तू होना सकता	तुम होना सकते	तू होना सकता था	तुम होना सकता थे
वह होना सकता	इनने होना सकते	वह होना सकता था	इनने होना सकता थे

सामान्य भूत		तात्कालिक भूत	
मैं होना सका	हम होना सके	मैं होना सकता था	हम होना सकता थे
तू होना सका	तुम होना सके	तू होना सकता था	तुम होना सकता थे
वह होना सका	इनने होना सके	वह होना सकता था	इनने होना सकता थे

सम्भाव्य भविष्य		निश्चित भविष्य	
मैं होना सकूँगा	हम होना सकेंगे	मैं होना सकेगा	हम होना सकेगे
तू होना सकूँगा	तुम होना सकेंगे	तू होना सकेगा	तुम होना सकेगे
वह होना सकूँगा	इनने होना सकेंगे	वह होना सकेगा	इनने होना सकेगे

फरगूसन के अनुसार, हिन्दी-क्रियाओं के प्रधान कालों के रूप वर्त्तमान आज्ञार्थ (Present imperative) के आधार पर निम्नलिखित पद्धति से बनते हैं। आज्ञार्थ में 'ना' लगाकर क्रियार्थक संज्ञा (Infinitive) जैसे लाव से लावना, 'व' के स्थान पर 'ता' लगाकर वर्त्तमान निश्चयार्थ, जैसे—लाव से लाता, 'व' के स्थान पर 'इआ' लगाकर भूत, जैसे—लाव से लाया, 'ऊँगा' लगाकर सम्भाव्य भविष्य, जैसे—'लाव' से 'लाऊँगा', 'एगा' लगाकर निश्चित भविष्य, जैसे—'लाव' से 'लावेगा'। वर्त्तमान में 'था' लगाकर अपूर्णकाल (इम्परफैक्ट), जैसे—'लावता' से 'लावता था' या लाता था, और सामान्य भूत में 'था' लगाकर तात्कालिक भूत, जैसे—'लाया' से 'लाया था' वर्त्तमान कालिक कृदन्त वर्त्तमान निश्चयार्थ के समान ही होता है, जैसे—मैं लावता है और इसी प्रकार भूतकालिक कृदन्त भूतनिश्चयार्थ के समान होता है, जैसे—मैं लाया है।[1]

1. फरगूसन, पृ० २९-३०।

इसके बाद, लेखक ने पृष्ठ ३० से ५० तक लाना, जाना, फेंकना, लेना तथा करना क्रियाओं के रूप दिये हैं, जो 'होना' और 'सकना' के उपर्युक्त रूपों के समान ही हैं। कर्मवाच्य के जो रूप दिये गये हैं, वे भी प्राय: सर्वत्र अशुद्ध ही हैं, जैसे—वर्त्तमान निश्चयार्थ,—मैं फेका है (आई एम थ्रोन), अपूर्ण निश्चयार्थ—मैं फेका हुआ (आइ वाज थ्रोन) आदि।[1] इस प्रकार, फरगूसन के द्वारा विभिन्न कालों की क्रियाओं के जो रूपान्तर प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें प्राय: कोई रूप परिनिष्ठित हिन्दी के लिए शुद्ध नहीं कहा जा सकता।

फरगूसन के अनुसार, 'क्रियाविशेषण क्रिया या विशेषण के साथ युक्त होकर उसके तात्पर्य को अधिक स्पष्ट करता है।'[2] क्रिया और विशेषण में मात्रा, गुण, सम्बन्ध, परिमाण, समय तथा स्थान आदि के कारण अनेक प्रकार के परिवर्त्तन सम्भव हैं। इस कारण उन्हें स्पष्ट करने के लिए अधिक संख्या में क्रियाविशेषणों की अपेक्षा होती है। हिन्दी में कालवाचक, स्थानवाचक, प्रश्नवाचक, विधिवाचक तथा निषेधवाचक क्रिया-विशेषण पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। किन्तु, इसमें अँगरेजी के समान मात्रावाचक (जैसे; एकसीडिङ्गली, टॉलरेवली आदि), गुणवाचक (जैसे; ऑनेस्टली, व्रेवली आदि), सम्बन्धवाचक (जैसे; लेस, इक्वली आदि), वचनवाचक (जैसे; वन्स, ट्वाइस आदि) क्रिया विशेषणों का अभाव है। इनके लिए हिन्दी में या तो क्रियाविशेषण के अर्थ में उनके स्थान पर विशेषणों का प्रयोग होता है या कथन के ढङ्ग में ही परिवर्त्तन कर दिया जाता है, जैसे—'ही इज ग्रेटली डिस्ट्रेस्ट' के बदले हिन्दी में 'ही सफर्स ग्रेट डिस्ट्रेस' या 'ही इज इन ग्रेट डिस्ट्रेस' कहा जाता है। इस प्रकार के प्रयोग इस भाषा में मुहावरों के समान होते हैं।[3]

हिन्दी क्रियाविशेषण के लेखक ने निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं;—स्थान-वाचक—कहाँ, कहाँ नहीं, हिआँ, हुआँ, भीतर में, अन्दर में, बाहर, किधर, इधर, उधर; कालवाचक—अभी, आज, तब, आज, इतीवेर, बाद, अबतक, तलक, कब, कभी, बीच में, फिर, हमेशा; विधि, निषेध तथा प्रश्नवाचक—अलबत्ता, हरगिज नहीं, ना, मत, क्यों, किस वास्ते, क्या वास्ते, किस तरह से।[4]

---

१. उपरिवत्, पृ० ४३।
२. "An adverb is a word joined to a verb or an adjective, to modify its signification."—Ibid, p. 51.
३. Ibid.
४. Ibid.

फरगूसन ने हिन्दी परसर्ग के लिए 'प्रीपोजीशन' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि अँगरेजी में प्रीपोजीशन, शब्द के पूर्व आता है और हिन्दी में शब्द के पश्चात्।[१] 'परसर्ग दो शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए उन्हें जोड़ने का कार्य करता है'।[२] परसर्ग का प्रधान कार्य संज्ञाओं को परस्पर सम्बद्ध करना होता है। लेखक के अनुसार संज्ञा अपना सम्बन्ध क्रिया तथा विशेषण के साथ सहज ही स्थापित कर लेती है, किन्तु संज्ञा का संज्ञा से सम्बन्ध जुड़ना उतना आसान नहीं होता। परसर्ग इसी को सम्भव बनाता है। ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में जो कार्य कारक-विभक्तियों के द्वारा होता था; अँगरेजी और हिन्दी में वही कार्य परसर्ग (प्रीपोजीशन) के द्वारा होता है।[३]

हिन्दी में सर्वाधिक प्रचलित परसर्ग निम्नलिखित हैं—

का, को, में, से, का वास्ते, आगू, पास, इसतरफ, बाहर, भीतर, अन्दर, नीचे, ऊपर, पर, पीछे, बाद, साथ, जबसे।[४] लेखक ने इस प्रसङ्ग में कहीं भी 'ने' का उल्लेख नहीं किया है।

लेखक के अनुसार, 'समुच्चयबोधक' शब्द का वह प्रकार है, जो दो या अधिक वाक्यों को परस्पर मिलाता है।'[५] समुच्चयबोधक वाक्यों को और परसर्ग शब्दों को मिलाता है। उदाहरणार्थ—मैं और तू कलकत्ता जाऊँगे, साईस या गाड़ीवान बुलाओ। फिर समुच्चय बोधक के दो भेद किये गये हैं—संयोजक (कपुलेटिव) और विकल्पवाची या वियोजक (डिसजङ्क्टिव) संयोजक वाक्यों के साथ उनके अर्थ को भी मिलता है। विकल्पात्मक या वियोजक के उदाहरण हिन्दी में और, जो, इस वास्ते, वास्ते, जैसा, अगर, लेकिन आदि हैं।[६]

---

१. Ibid.

२. "A preposition is a part of speech which serves to connect words with one another, and to show the relation between them."—Ibid, p. 52.

३. Ibid, p. 52.

४. Ibid, p. 52-53.

५. 'A conjuction is a part of speech which connects two or mor sentences into one.'—Ibid, p. 53.

६. Ibid.

फरगूसन ने लिखा है कि विस्मयादिबोधक उस प्रकार के शब्द हैं, जो वाक्य के गठन तथा अर्थ को बिना प्रभावित किये मनोरागों तथा संवेदनों को व्यक्त करते हैं।'[१] चूँकि ये प्राकृतिक शब्द होते हैं, इस कारण इस वर्ग के शब्दों में, अन्य वर्ग के शब्दों की अपेक्षा, सभी भाषाओं में अधिक समता होती है। भिन्न-भिन्न मनोरागों के लिए अलग-अलग विस्मयादिबोधक शब्द होते हैं, जैसे हिन्दी में वाह, ओह, अरे, बाप रे, छी, चुप रह आदि हैं।[२]

फरगूसन ने लिखा है कि किसी भाषा के व्याकरण के लिए उस भाषा के शब्दों की व्युत्पत्ति[३] के नियमों पर प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक कार्य है। किसी भाषा के ज्ञानार्जन में इससे जितनी सुविधा होती है तथा भाषा की प्रकृति और आत्मा को समझने के लिए, इससे जैसी अन्तर्दृष्टि मिलती है, उतनी और वैसी और किसी से नहीं। व्याकरण के ऐसे और महत्त्वपूर्ण अङ्ग की, वैयाकरणों के द्वारा उपेक्षा किये जाने पर लेखक ने अपार आश्चर्य प्रकट किया है। इसके पश्चात् हिन्दी के भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति के निम्नलिखित नियम दिये गये हैं :—

१. **विशेषण से संज्ञा शब्दों की व्युत्पत्ति**—कुछ विशेषणों के अन्त में 'ई' लगा कर भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं, जैसे—खूब से खूबी, खराब से खराबी, सख्त से सख्ती, सर्द से सर्दी। कुछ आकारान्त विशेषणों के अन्त के 'आ' को 'ई' में परिवर्त्तित करके भाववाचक संज्ञाएँ बनायी जाती हैं, जैसे—भला से भली, सड़ा से सड़ी, पतला से पतली। कुछ के अन्त में 'की' जोड़ कर, जैसे—ज्यादा से ज्यादाकी, मन्दा से मन्दाकी।

२. **संज्ञा से संज्ञा की व्युत्पत्ति**—कुछ संज्ञाओं में 'ई' लगा कर भाववाचक संज्ञाएँ बनायी जाती हैं, जैसे—अल्लाह से अल्लाही, दोस्त से दोस्ती, दुश्मन से दुश्मनी, नौकर से नौकरी, गुलाम से गुलामी, सौदागर से सौदागरी। कुछ पुरुषवाचक संज्ञाओं की व्युत्पत्ति भाववाचक संज्ञाओं से होती है, जैसे—बेपार

---

१. "Interjections are parts of speech thrown in without affecting the construction or sense of the sentence to express the natural sentiment and emotions of the speaker."—Ibid,

२. Ibid.

३. Ibid, pp. 54–57.

से बेपारी (व्यापारी)। कुछ संज्ञाओं में दार, गार, बरदार, परदार, आर, वाला, वाज आदि प्रत्यय लगा कर पुरुषवाचक संज्ञाएँ बनायी जाती हैं, जैसे—जमीन से जमीन्दार, गुनाह से गुनाहगार, जहाज से जहाजवरदार, हुकुम से हुकुम परदार, सोना से सोनार, बन्दूक से बन्दूक वाला, दगा से दगाबाज। कुछ में 'दान' लगा कर, जैसे—कलम से कलमदान।

३. कुछ क्रियाओं में 'वाला' लगा कर संज्ञा बनती है, जैसे—करना से करनावाला।

४. कुछ संज्ञाओं में का, मन्द लगा आदि लगाने से विशेषण बनते हैं, जैसे—बाप से बाप का, दौलत से दौलतमन्द, धूल से धूललगा।

५. कुछ संज्ञाओं में वे, ना, गैर, बद आदि उपसर्ग लगा कर विपरीत अर्थवाची संज्ञाएँ बनायी जाती हैं, जैसे—बेआबरू, नालायक, गैरहाजिर, बद-दुआ आदि।

६. कुछ संज्ञाओं में 'ना' लगा कर क्रिया बनायी जाती है, जैसे—मार से मारना। कुछ के अन्त्य स्वर को 'ना' में बदल कर, जैसे—हँसी से हँसना। कुछ संज्ञाओं के साथ सहायक क्रियाओं को जोड़ कर संयुक्त क्रिया की रचना होती है, जैसे—मोल से मोल करना, गाली से गाली देना आदि। इनकी रूप-रचना साधारण क्रिया के समान होती है, किन्तु इनके प्रारम्भिक संज्ञा-अङ्ग में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

७. प्रेरणार्थक क्रिया की चर्चा करते हुए फरगूसन ने लिखा है कि हिन्दी में एक विचित्र प्रकार की क्रियाओं की जाति होती है, जिसके लिए कोई खास नाम देना कठिन है। इस वर्ग की क्रियाओं द्वारा व्यापार की सूचना नहीं व्यक्त होकर व्यापार के कारण की सूचना मिलती है। इनकी रूप-रचना साधारण क्रियाओं के समान होती है। हिन्दी में ऐसी क्रियाओं का होना, उसके लिए एक बड़ा लाभ है।[१] ऐसी क्रियाएँ, साधारण क्रियाओं में कहीं

---

१. "There is a particular species of verbs in the Hindustan for which it is difficult to find a proper name, but whose character is to express not any action but the causing of an action. It is no small advantage in the Hindustan to have a particular species of verbs to express this particular meaning."—Ibid, p. 57.

'आना' कहीं 'लाना' आदि के योग से बनती हैं, जैसे; करना—कर—कराना, देना—दे—देलाना आदि। कुछ के रूप अनियमित होते हैं, जैसे; खाना—खा—खिलाना, लेना—ले—लिआना।

वाक्य-विचार के सम्बन्ध में फरगूसन ने लिखा है कि चूँकि हिन्दी और अँगरेजी की वाक्य-योजना लगभग समान पद्धति से होती है, इस कारण इसके सम्बन्ध में विस्तार से कुछ लिखना व्यर्थ है।[1] हिन्दी में प्रत्येक क्रिया का कर्त्ता वाक्य में व्यक्त या अव्यक्त रूप से ज्ञात होता है। क्रिया का वचन कर्त्ता के वचन के अनुसार होता है, जैसे—मैं जाता, हम जाते। सकर्मक क्रिया के साथ कर्म आता है; जैसे—आदमी को भेज दे। क्रिया में अँगरेजी के समान ही सम्प्रदान आता है, जैसे—मैं को खत दे। इस भाषा में एक साथ दो कर्म भी आते हैं। सकर्मक क्रिया का कर्म या विशेषण उसके बाद आता है, जैसे—वह है सिपाही, सिपाही है जोरावर। क्रियार्थक संज्ञा में एक क्रिया दूसरी के अधीन होती है, जैसे—उसको जाना हुकुम कर। अधिकार का सम्बन्ध सम्बन्ध-कारक के द्वारा व्यक्त होता है, जैसे—साहब का हुकुम। विशेषण विशेष्य के पूर्व आता है। जब एक संज्ञा दूसरी संज्ञा के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से प्रयुक्त होती है, तो दोनों का कारक समान होता है, जैसे—तैमर वेग फत्तेदार (तैमर द कम्करर)।

वाक्य में शब्दों की व्यवस्था या क्रम की दृष्टि से हिन्दी ग्रीक और लैटिन के समान है। इसमें शासित शब्द हमेशा शासक शब्द के पूर्व आता है। क्रिया वाक्य के अन्त में आती है। विशेषण संज्ञा के ठीक पूर्व आता है। पुरुषवाचक सर्वनाम वाक्य के प्रारम्भ में आते हैं। सम्बन्धवाचक सर्वनाम उस संज्ञा के ठीक बाद आता है, जिससे उसका सम्बन्ध होता है। क्रियाविशेषण क्रिया के पूर्व रहते हैं, किन्तु कभी-कभी अपवाद स्वरूप बाद में भी आते हैं। परसर्ग शब्द के बाद आता है।[2] इन्हीं पङ्क्तियों के साथ फरगूसन के व्याकरण की समाप्ति होती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि फरगूसन का व्याकरण हिन्दी के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से भ्रामक एवं महत्त्वहीन है।

---

१. "It is unnecessary to enter into any very particular detail in regard to syntax. In the general rules of it, this language agrees with our own."—Ibid, p. 57.

२. डि० हि० लैं०, ग्रा० हि० लैं० : फरगूसन, पृ० ५८।

उनके सम्बन्ध में यह पहले ही बताया जा चुका है कि वे भाषाशास्त्री नहीं थे और न शुद्ध शास्त्रीय आधार पर हिन्दी का विश्लेषण और नियम-निर्धारण उनका उद्देश्य था। वे कम्पनी के अधीनस्थ भारतीय सेना के कैप्टन थे, इस कारण कुछ वर्षों तक उन्हें भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रहने का अवसर प्राप्त हुआ था। भाषाओं के प्रति विद्यार्थी-जीवन से ही रुचि होने के कारण उन्होंने यहाँ रह कर हिन्दी का साधारण कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वैसे अपर्याप्त ज्ञान के आधार पर इससे अच्छा व्याकरण लिखा भी नहीं जा सकता था।

फरगूसन ने अपने भारत-निवास की अवधि में इस बात का अच्छी तरह अनुभव किया था कि अँगरेजों के लिए भारतीयों के साथ किसी भी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध बिना हिन्दी भाषा के ज्ञान के सम्भव नहीं है। इसीलिए, जब वे लौट कर स्वदेश गये थे, तब उनके मन में, अपने देशवासियों को हिन्दी का परिचय देने के लिए हिन्दी भाषा का कोष और व्याकरण लिखने की इच्छा उत्पन्न हुई थी, जिसे उन्होंने सोत्साह कार्यरूप में परिणत किया था। उनका व्याकरण वास्तव में व्याकरण न होकर, एक सामान्य 'हिन्दी शिक्षक'[१] था, जिस ढङ्ग के सैकड़ों ग्रन्थ आगे चल कर भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा लिखे गये।

फरगूसन ने अपने ग्रन्थ के लिए डॉ० लोथ और हेरिस के अँगरेजी व्याकरण को आधार बनाया था। उनके ग्रन्थ के सैद्धान्तिक विवेचन का अधिकांश प्रायः इन्हीं दोनों के ग्रन्थों से लिया गया है। उदाहरणार्थ—पारिभाषिक शब्द, व्याकरणिक वर्ग, परिभाषाएँ तथा विवेचन; ये सब-के-सब ज्यों-के-त्यों उपर्युक्त विद्वानों के अँगरेजी व्याकरण से ले लिये गये हैं। केवल तदनुरूप उदाहरणों के चयन में लेखक ने अपने अपर्याप्त हिन्दी ज्ञान तथा विशेषतः अपने अनुमान का सहारा लिया है। ग्रन्थ का सैद्धान्तिक विवेचन अँगरेजी व्याकरण से ज्यों-का-त्यों उधार लिया गया है; इस कारण अधिकांश स्थलों पर उसका हिन्दी से कोई मेल नहीं बैठता। उदाहरण के लिए, हिन्दी शब्दों के भेद में आर्टिक्ल की कल्पना, सभी अप्राणीवाचक शब्दों को नपुंसक लिङ्ग मानना, अन्यपुरुष सर्वनाम में

१. ऐसा ग्रन्थ, जो विदेशियों को हिन्दी का प्रारम्भिक ज्ञान देने वाला हो।

लिङ्ग-भेद, जैसे—'वह' का स्त्री० रूप 'वही' (अँगरेजी के ही-शी के समान) आदि ऐसे ही स्थल हैं।

फरगूसन के व्याकरण की दूसरी दुर्बलता यह है कि हिन्दी से उदाहरण देते समय, जहाँ हिन्दी-शब्दों का शुद्ध रूप उनकी समझ में नहीं आया है, वहाँ उन्होंने अनुमान से ही कोई कल्पित रूप रख दिया है, जैसे—भौजी का भौजिआ, अङ्ग का अङ्गे, भारी का भारियों, वह का इन आदि। इसी प्रकार, 'दूल्हा' के स्थान पर 'दूल्ही' शब्द का प्रयोग, 'मैं' के साथ 'है' का प्रयोग, मेरा—हमारा, तेरा—तुम्हारा के साथ का, को और से परसर्गों का प्रयोग आदि उपर्युक्त भूल के ही परिणाम हैं। किन्तु, सम्भावना इस बात की भी है कि ऐसे प्रयोग उन दिनों किसी प्रान्त-विशेष में प्रचलित रहे हों।

फरगूसन के ग्रन्थ की तीसरी दुर्बलता यह है कि उन्होंने उसमें हिन्दी के जितने वाक्यों का प्रयोग किया है, उनमें शायद ही कुछ वाक्य शुद्ध और अपेक्षित अर्थ देने वाले हों। उदाहरणार्थ—मैं सुना है (आइ एम हर्ड), मैं सुना हुआ (आइ वाज हर्ड), मैं लड़ने में जखमी पाया, मैं को खत दे, मैं फेका है (आइ एम थ्रोन), में फेका हुआ (आइ वाज थ्रोन) आदि।

फरगूसन ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में 'ने' परसर्ग की न तो कहीं चर्चा की है और न उसका प्रयोग किया है। कारकों में करण और अपादान का कहीं उल्लेख नहीं है। स्वरों की संख्या २० मानी है। शब्द-रूप तथा क्रियाओं की रूप-रचना में भी सर्वत्र दोष है। अकारान्त शब्दों को व्यञ्जनान्त कहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ ऐसी अशुद्धियों और त्रुटियों से भरा है कि उसे हिन्दी का व्याकरण कहना, हिन्दी तथा व्याकरणशास्त्र दोनों का अपमान करना है।

फरगूसन के ग्रन्थ के उपर्युक्त दोषों के मूल तीन कारण थे :—१. लेखक का अपर्याप्त हिन्दी-ज्ञान, २. इङ्गलैण्ड में पुस्तक की रचना करना, जहाँ हिन्दी के किसी अधिकारी विद्वान के अभाव में लेखक न तो अपने सन्देहों के निवारण में समर्थ था और न ग्रन्थ का उचित संशोधन ही सम्भव था और ३. हिन्दी ध्वनियों को प्रत्यक्षरित करने में रोमन लिपि की असमर्थता। लेखक ने ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं ही अपनी इन तीनों सीमाओं का उल्लेख किया है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

किन्तु, इन समस्त दोषों के रहते हुए भी फरगूसन के व्याकरण का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। यह उस समय लिखा गया था, जिस समय हिन्दी के

पास नाम के लिए ही दो-एक व्याकरण थे। साथ ही, फरगूसन ने ग्रन्थ की भूमिका में हिन्दी की तत्कालीन स्थिति, महत्त्व एवं योग्यता पर जितने विस्तार से प्रकाश डाला है तथा उसके सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं, वे हिन्दी भाषा तथा व्याकरण दोनों के इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए बहुमूल्य हैं। इस दृष्टि से ग्रन्थ से अधिक महत्त्व उसकी भूमिका का ही है।

जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट :

गिलक्राइस्ट सन् १८०१ ई० में कलकत्ते के फ्रोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी भाषा के प्रोफेसर नियुक्त किये गये थे। उसके पूर्व ही हिन्दुस्तानी भाषा, कोष तथा व्याकरण सम्बन्धी उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे तथा उसके बाद भी अनेक वर्षों तक उनके विविध ग्रन्थ प्रकाशित होते रहे। ग्रियर्सन के अनुसार उनका पहला ग्रन्थ 'इङ्गलिश-हिन्दुस्तानी कोष'[1] कलकत्ते से सन् १७८७—९६ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसका दूसरा संस्करण एडिनबरा से सन् १८१० ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमें 'हिन्दुस्तानी फिलोलॉजी' नामक एक भाग और बढ़ा दिया गया था तथा तीसरा संस्करण लन्दन से सन् १८२५ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमें व्याकरण-सम्बन्धी बातें भी जोड़ दी गयी थीं। गिलक्राइस्ट के अन्य प्रमुख ग्रन्थों में 'ए ग्रामर ऑफ द हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज' का सन् १७९६ ई० में,[2] 'द ओरिएण्टल लिङ्ग्विस्ट' का सन् १७९८ ई० में तथा 'द स्ट्रैञ्जर्स ईस्टगाइड टु हिन्दुस्तानी' का १८०२ ई० में, कलकत्ते से प्रकाशन हुआ था। इन ग्रन्थों के भी अनेक संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण निकले थे, जिनमें से कुछ के नामों में भी किञ्चित परिवर्त्तन कर दिये गये थे। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने और भी कई ग्रन्थों की रचना की थी। वे प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-व्याकरण से सम्बद्ध नहीं होने के कारण यहाँ उल्लेखनीय नहीं है।

---

१. 'A Dictionary, English and Hindoostanee, in which the words are marked with their distinguishing Initials as Hinduwee, Arabic and Persian, with an appendix.'
—Ibid, p. 17.

२. डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने इसका प्रकाशन-काल सन् १७९० ई० माना है, जो सही नहीं है। द्र० 'हिन्दी शब्दानुशासन', प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ० २।

उपर्युक्त ग्रन्थों की रचना में गिलक्राइस्ट का भी मुख्य उद्देश्य, पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की तरह अपने देशवासियों को हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना था। उनका हिन्दी-ज्ञान अपेक्षाकृत कुछ अधिक व्यवस्थित था; यही कारण था कि उन्होंने हिन्दी को 'मूर्स' तथा 'जार्गन' अर्थात् 'बर्बर एवं अशिष्ट बोली' माननेवालों का विरोध करते हुए, यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि वह एक शिष्ट एवं समृद्ध भाषा है, जिसका व्यवस्थित व्याकरण लिखा जाना सम्भव है।[१]

कुछ राजनैतिक कारणों से गिलक्राइस्ट का झुकाव, हिन्दी के जन-प्रचलित सामान्य सरल रूप हिन्दुस्तानी को उर्दू मानने की ओर अधिक था। यही कारण था कि उन्होंने हिन्दी तथा उर्दू या हिन्दुस्तानी के ग्रन्थों की रचना के लिए अलग-अलग 'भाखा-मुंशियों' की बहाली की थी। इस प्रकार हिन्दी से उर्दू या हिन्दुस्तानी को भिन्न मानने की भ्रान्त धारणा की बुनियाद उन्होंने ही डाली थी। पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की तरह ही उनके 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' का ढाँचा तथा आदर्श भी पूर्ण रूप से विदेशी था।

गिलक्राइस्ट के पूर्वोल्लिखित ग्रन्थों में से 'गाइड' को छोड़कर शेष सभी, इस देश में प्रायः दुर्लभ हो चुके हैं। अतः उनके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कुछ कहा जाना सम्भव नहीं है। 'गाइड' के तीसरे संस्करण[२] (सन् १८२० ई०) की एक प्रति, जिसका प्रकाशन लन्दन में हुआ था, कलकत्ता के 'राष्ट्रीय पुस्तकालय' में संरक्षित है। यह ४२७ पृष्ठों का ग्रन्थ है, जिसके आरम्भ में ३० पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसका समर्पण लेखक ने अपने १६ प्रिय

---

१. (i) The Anti-jargonist, or a short Introduction to the Hindoostanee language (called Moors), Calcutta, 1800.'

(ii) 'The Stranger's East India Guide to the Hindoostanee, or grand popular Language of India (improperly called Moors). Calcutta, 1802.

२. 'Stranger's infallible East-India Guide, or Hindoostanee Multum in Parvo, as a grammatical compendium of the grand popular and military Language of all India, (long, but improperly called the Moors or Moorish jargon), London, 1820.

शिष्यों के नाम किया है। ग्रन्थ में पृ० १ से २१७ तक व्याकरण है, पृ० २१८ से ३०० तक अँगरेजी अनुवाद के साथ हिन्दुस्तानी गद्य एवं पद्य के उदाहरण हैं तथा पृ० ३०१ से ४२४ तक अँगरेजी-हिन्दुस्तानी कोष है।

ग्रन्थ की भूमिका के प्रारम्भ में लेखक ने हिन्दुस्तान से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विदेशी के लिए हिन्दुस्तानी के ज्ञान को अनिवार्य माना है। हिन्दुस्तानी के शुद्ध रूप के ज्ञानार्जन की दृष्टि से उन्होंने अपने ग्रन्थ को सर्वाधिक उपादेय तथा अपने से पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों को सदोष तथा अनुपयुक्त बतलाया है।[१] एक उद्धरण[२] के साक्ष्य पर लेखक ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि की है कि किसी भाषा के व्याकरणसम्मत शिष्ट रूप का ज्ञान प्राप्त करना, प्रारम्भ में उतना ही आसान होता है, जितना उसके विकृत तथा अशिष्ट रूप का।[३] लेखक का आशय यह सङ्केतित करना है कि उनके पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों ने हिन्दुस्तानी के जिस रूप का परिचय अपने-अपने ग्रन्थों में दिया है, वह उस भाषा का शिष्ट रूप नहीं है। इसलिए उसके शिष्टरूप का ज्ञान केवल उनके अपने ग्रन्थ के द्वारा ही सम्भव है।

अपने ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य, लेखक ने, कम-से-कम समय में अपने देशवासियों को हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान प्रदान करना माना है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंने उस समय तक प्रकाशित अन्य सभी ग्रन्थों की अपेक्षा अपने ग्रन्थ को अधिक श्रेष्ठ, सरल तथा स्पष्ट बताया है।[४] अपनी इस

---

१. गिलक्राइस्ट : भूमिका, पृ० १।

२. 'Aut inrtes, aut insani, aut quibus egestas imperet Qui sibi semitom non sapiunt, alteri monstrant viam.' —Ibid, p. 1.

३. "That it is as easy to learn at first the polished and grammatical style of any speech, as it can be to acquire its currupt and barbarous idiom, is a fact which will stand the test of person's experience through all quarters of the globe, and in none more satisfactorily than among the various nations of Hindustan."—Ibid, p. 1-2.

४. "The present introduction is on the whole much easier and plainer than anything yet published on the colloquial speech of India."

मान्यता की पुष्टि में उन्होंने साक्ष्य के रूप में, ग्रन्थ के प्रारम्भिक संस्करण की प्रशंसा में लिखी गयी, एच्० टी० कोलब्रुक की पंक्तियों को उद्धृत किया है।[१]

एच्० टी० कोलब्रुक ने एसियाटिक जर्नल के वॉल्यूम ७, पृ० २२३ में गिलक्राइस्ट के ग्रन्थ की समीक्षा के प्रसङ्ग में हिन्दी के स्वरूप और तत्कालीन स्थिति पर भी सविस्तर प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि गिलक्राइस्ट के ग्रन्थ ने उस भाषा के अध्ययन को सरल बना दिया है, जो सम्पूर्ण भारतवर्ष में आम व्यवहार की भाषा है। उन्होंने हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति कन्नौजी से मानी है तथा उसे उर्दू से लेकर असभ्य लोगों की बोली तक की अनेक बोलियों का समूह कहा है। उनके अनुसार भारत में रहने वाले यूरोपीय लोगों तथा उनके भारतीय सेवकों के बीच, हिन्दुस्तानी के अशिष्ट रूप का ही प्रचार है। कोलब्रुक ने इसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानी का ही दूसरा अधिक उपयुक्त नाम हिन्दी है, जिसके अन्तर्गत अनेक स्थानीय तथा प्रान्तीय बोलियों का समाहार है, जिनमें अरबी, फारसी तथा संस्कृत शब्दों के भिन्न-भिन्न मात्रा में मिश्रण के कारण परस्पर थोड़ी-सी भिन्नता पायी जाती है। इसके अतिरिक्त उनमें कुछ उच्चारण-सम्बन्धी तथा कुछ आधारभूत भिन्नता भी है।[२]

---

१. Ibid, p. 3.

२. "On the subject of modern dialect of upper India, I with pleasure refer to the works of Mr. Gilchriat, whose labours have now made it easy to acquire the knowledge of an eligent language, which is used in every part of Hindustan and the Dakhin, which is the common vehicle of colloquial intercourse among all educated natives and among the illiterate also in many provinces of India, and which is almost intelligible to some among the inhabitants of every village...Thus Hindustan, which seems to be the lenial discendant of the Kankubje, comprises numerous dialects, from the Urdu Zawan, or language of the royal Camp and Court, to the barbarous jargon which reciprocal mistakes have introduced among European gentlemen and their native servants. The same tongue, under its more appropriate denomi-

इसी प्रकार, गिलक्राइस्ट ने भी हिन्दुस्तानी का परिचय देते हुए लिखा है कि जिस भाषा का पहले 'मूर्स' के नाम से बर्बरों की बोली कहकर उपहास किया जाता था, इस समय वही, हिन्दुस्तानी के नाम से विख्यात है। हिन्दुस्तानी को ही लोग हिन्दी, उर्दू तथा रेख्ती कहकर भी पुकारते हैं। इसमें अरबी, फारसी तथा संस्कृत या 'भाखा' का मिश्रण है। संस्कृत या भाखा पहले हिन्दुस्तान के सामान्य व्यवहार की भाषा थी।[१]

गिलक्राइस्ट ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यों तो हिन्दुस्तान के विभिन्न जिले तथा प्रान्तों में अलग-अलग बोलियों का प्रचार है, किन्तु हिन्दुस्तानी उन सबसे अधिक उपयोगी और आवश्यक है।[२] हिन्दुस्तानी के इस व्यापक प्रचार का समस्त श्रेय लेखक ने मुसलमानों को प्रदान किया है। उनके अनुसार मुसलमान जहाँ-जहाँ गये, उनके साथ यह भाषा भी गयी। इस प्रकार, कन्या-कुमारी से लेकर काबुल तक के, २४,००० मील लम्बाई तथा गङ्गा के भीतर १४०० मील चौड़ाई वाले इस देश में, कोई भी बड़ा गाँव या शहर ऐसा नहीं, जहाँ मुसलमानों के साथ इस भाषा का प्रचार नहीं हुआ हो। यहाँ तक कि

---

nation of Hindi, comprihends many dialects strictly local and provincial. They differ in the proposition of Arabic, persian and Sanskrit, either pure or slightiy corrupted, which they contain, and some shades of difference may be also found in the pronunciation and even in the basis of each dialect."—H. T. Colbrook.

१. "The language which was long degraded under the name of Moors (as a jargon) but at present best known as the Hindustan, is also frequently demominted Hindi, Urdu and Rekhti. It is compounded of the Arabic, Persian and Sanskrit or Bhakha, which last appears to have been in former ages the current language of Hindustan.'
—Guide : Introduction, p. 8.

२. "Although, it may be granted, that particular dialects are spoken by the inhabitants of several districts and provinces of India. Yet we may boldly assert, that none of them, taken individually is so generally useful and necessary as Hindustani."—Ibid, p. 10.

पूर्वीय द्वीपों के समुद्रतट वाले भाग में भी यह भाषा आसानी से समझी जाती है।[1]

लेखक ने ब्रिटिश शासकों के द्वारा ऐसी महत्त्वपूर्ण भाषा की उपेक्षा करके, अपने पूर्ववर्त्ती शासकों की भाषा (सम्भवत: फारसी) को प्रश्रय देने की नीति की कटु आलोचना की है तथा इसे न्यायविरुद्ध और भारतीय जनता के लिए असन्तोष का करण बतलाया है।[2] उन्होंने आगे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि किसी देश की लोकप्रिय भाषा में यदि वैज्ञानिक पुस्तकों का अभाव हो, तो केवल इस कारण से वह उपेक्षणीय नहीं मानी जा सकती। उसमें शासन, व्यापार, सेना तथा न्याय-सम्बन्धी अन्य सारे कार्य तो हो ही सकते हैं।[3] इस सम्बन्ध में लेखक ने अपनी अँगरेजी-भाषा का दृष्टान्त देते हुए लिखा है कि "अभी बहुत शताब्दियाँ नहीं बीती हैं; जबकि हमारे देश (इङ्गलैण्ड) में कानून,

---

१. "Nearly from cape comorin to Kabul, a country about 2000 miles in length and 1400 in breadth within the Ganges, few persons will be found in any large village or towns, which have ever been conquered or much frequented by Musalmans, who are not sufficiently conversant in the Hindustan and in many places far beyond the Ganges, even on the source of eastern isles, this language is current and familiar, or so wellknown that it can be readily understood.'—Ibid, p. 12.

२. "When the conquerors and rulers of a country are so unacquainted with the current speech of their subjects, that they prefer the language of their former subdoers. the natural consiquence must evidently be injustice on the one part and great disaffection on the other, independently of various causes of alienation from the galling yoke of any foreign power."—Ibid, p. 13.

३. "Although, in the popular language of any country, there may be deficiency of books of science, still that language is the most proper and necessary for conducting colloquially the affairs of civil government and commerce, of military as well as judicial concerns.'

—Ibid.

धर्म आदि का अध्ययन-अध्यापन और संरक्षण एकाधिक विदेशी भाषाओं में होता था; किन्तु अब सौभाग्य से अँगरेजी ने ही सबका स्थान ले लिया है। यह इस तथ्य का एक बहुत बड़ा प्रमाण है कि किसी देश की प्रचलित भाषा ही, जन-सम्पर्क तथा स्वाध्याय के लिए, वहाँ की सर्वाधिक उपयुक्त भाषा होती है।"[१]

भूमिका के अन्त में अपना निष्कर्ष देते हुए गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि व्यापारी हो या पर्यटक, नागरिक अधिकारी हो या सैनिक अफसर, वकील हो या धर्मोपदेशक तथा दार्शनिक हो या चिकित्सक; संक्षेप में, कोई भी ऐसा व्यक्ति, जिसका भारत के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध है; उसके लिए हिन्दुस्तानी अन्य सबकी अपेक्षा सामान्यतः अधिक लाभप्रद एवं आवश्यक भाषा है। अतः, इस सर्वाधिक उपयोगी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना, (विदेशियों का) सबसे पहला उद्देश्य होना चाहिए।[२]

हिन्दुस्तानी के अध्ययन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि हमारे देश (इङ्गलैण्ड) में भी; कोई जज या सैनिक-असैनिक

---

१. "It may be observed that many centuries have not illapsed since the learning, laws and religion of our own country were preserved, communicated and studied in more than one foreign language, those languages, however, have been fortunately superseeded by the English, a sufficient proof that the current language of the country should always be deemed most worthy of public cultivation and private study.'—Ibid.

२. "The conclusion from the premises is therefore this, that to the merchant, the traveller, the civil and military officers, the lawyer and divine, the philosopher and physician; in short, to everyone, who caries on concerns of any movement in India, or who wishes to exist there, in safety and happiness, the Hindustan language is more generally necessary and advantagious than any other and on this amount, it ought to be the very first object of acquisition and ever afterwards most cultivated and esteemed for paramount utility over all the rest."

—Ibid, p. 14–15.

अधिकारी चाहे कितने भी बड़े विद्वान क्यों न हों; यदि उन्हें वहाँ की भाषा का ज्ञान नहीं है, तो वे अपने पद के लिए नितान्त अनुपयुक्त प्रमाणित होंगे। चूँकि हिन्दुस्तान के लिए हिन्दुस्तानी का वही स्थान है, जो युनाइटेड किङ्गडम के लिए अँगरेजी का तथा टर्की के लिए तुर्की का; इसलिए हिन्दुस्तानी के अध्ययन के सम्बन्ध में निष्कर्ष क्या होना चाहिए, यह सहज ही समझा जा सकता है।[1] इस प्रकार, लेखक ने भूमिका में हिन्दुस्तानी भाषा की योग्यता, स्थिति तथा महत्त्व का विस्तृत परिचय दिया है तथा हिन्दी, उर्दू और रेख्ता को अभिन्न मानते हुए, सबका एक ही साथ हिन्दुस्तानी के नाम से परिचय दिया है।

निष्कर्ष—ग्रन्थ में, जहाँ तक हिन्दुस्तानी भाषा के सैद्धान्तिक विवेचन का सम्बन्ध है, कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है। नियम-निर्धारण में लेखक ने पूर्ववर्त्ती लेखकों के समान ही निगमनात्मक पद्धति का सहारा लिया है। अँगरेजी भाषा की बनी-बनायी व्याकरणिक कोटियों को पहले ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया गया है, फिर उनके अनुरूप उदाहरण हिन्दी से चुनकर दिये गये हैं। चूँकि इसमें विवेच्य भाषा के विश्लेषण के आधार पर नियमों की खोज का प्रयास नहीं किया गया है, इसलिए इसके अन्तर्गत बहुत-सी ऐसी बातों का भी विवेचन हो गया है, जिनका हिन्दी के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे : आर्टिक्ल आदि। किन्तु, फिर भी इस ग्रन्थ में कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इसे पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और महत्त्व-पूर्ण प्रमाणित करती हैं, जिनके सम्बन्ध में लेखक ने भूमिका में उचित ही दावा किया है।

एतद्विषयक पूर्ववर्त्ती सभी ग्रन्थों की अपेक्षा, गिलक्राइस्ट का ग्रन्थ अधिक विस्तारपूर्वक हिन्दुस्तानी भाषा का परिचय देता है। उन्होंने प्रायः शिक्षक की

---

१. "We must admit, that however learned our British judges, civil and military officers, might otherwise be, they would all prove nowadays wholly unfit for their respective offices in our country, without an adequate knowledge of their mother tongue; and the Hindoostanee being exactly to India, what the English language is colloquially to the U. K., or what the Turkish is to that empire, the inference is so very plain, that he who runs may read."—Ibid, p. 19.

शैली में अपनी बातों को अधिक-से-अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा उनके उदाहरण भी अपेक्षाकृत सही हैं। ग्रन्थ में प्रारम्भ से ही उन्होंने तुलनात्मक पद्धति के सहारे अँगरेजी के आधार पर हिन्दुस्तानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ हिन्दी-ध्वनियों का परिचय देते समय उन्होंने केवल उनके लिए रोमन प्रत्यक्षर ही नहीं दे दिये हैं, अपितु अँगरेजी-शब्दों के माध्यम से उन्हें स्पष्ट भी किया है। जैसे : 'ए, ऊ' का परिचय देने के लिए उन्होंने यह समझाया है कि इसका उच्चारण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अँगरेजी 'फूल' में 'डबल ओ' का।[1] हिन्दी-ध्वनियों की उच्चारण-पद्धति को स्पष्ट करने के लिए बताया गया है कि जिस प्रकार स्कॉटलैण्ड वाले लैटिन का सीधा, विस्तृत, पूर्ण, विवृत तथा परुष उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार का उच्चारण हिन्दुस्तानी ध्वनियों के लिए उपयुक्त है।[2]

गिलक्राइस्ट का प्रधान उद्देश्य हिन्दुस्तानी का सम्यक् व्याकरण लिखना नहीं था। वे अँगरेजों को सरल पद्धति से किसी प्रकार हिन्दुस्तानी सिखाना चाहते थे। इस कारण, उनके सम्मुख जहाँ कहीं भाषा की कोई कठिन समस्या आ खड़ी हुई है, वहाँ या तो अशास्त्रीय ढङ्ग से उन्होंने कोई कामचलाऊ मार्ग बता दिया है या उसे अनियमित घोषित कर अपना पिण्ड छुड़ा लिया है। उदाहरण के लिए लिङ्ग-प्रकरण में उन्होंने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा निर्दिष्ट कुछ सामान्य नियमों का उल्लेख करने के पश्चात् यह भी लिख दिया है कि जहाँ किसी शब्द के लिङ्ग में सन्देह हो, वहाँ उसका व्यवहार पुलिङ्ग में करना चाहिए।[3] इसी प्रकार, आकारान्त संस्कृत तत्सम शब्दों को अधिकतर

---

१. गिलक्राइस्ट, पृ० १६।

२. "The plain, broad, full, open, manly scottish articulation of Latin is more applicable and appropriate to Hindoostanee orthoepy than any other."—Ibid, p. 1.

३. "In cases of dubiety on the score of gender, from innumerable deviations which take place, the masculine modification should be preferred to the feminine, that the error may be less conspicuous, and temporary ignorance may be also concealed (which is the next best thing to the possession of knowledge) under the more accommodating veil of masculine construction so predominent among the illiterate natives in this language."—Ibid, p. 99.

आकारान्त तद्भव शब्दों के विपरीत स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होते हुए देखकर संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण उन्होंने लिखा है कि सब-के-सब शब्द लिङ्ग की दृष्टि से अनियमित हैं।

ऐसे अनेक उदाहरण ग्रन्थ में भरे पड़े हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उनका हिन्दी-ज्ञान इस योग्य नहीं था कि वे इस भाषा के सफल वैयाकरण बन पाते।

हेरासिम लेबेडेफ :

लेवेडेफ का व्याकरण[१] सन् १८०१ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। ग्रियर्सन के अनुसार वह व्याकरण अत्यन्त सामान्य कोटि का था, जिसमें अनेक प्रकार की त्रुटियाँ थीं; किन्तु लेखक के जीवन के साहसिक वृत्तान्त की दृष्टि से उसका नाम विशेष उल्लेखनीय है। एडेलङ्ग के अनुसार वह यूक्रेम के एक किसान का लड़का था। उसे बचपन से ही सङ्गीत के प्रति विशेष अभिरुचि थी। उसकी सङ्गीत-प्रतिभा से प्रभावित होकर ही राजकुमार रासमोस्की उसे अपने साथ इटली ले गये थे। वहाँ एक महान सङ्गीतज्ञ के रुप में उसकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। फिर, वह पेरिस, लन्दन आदि स्थानों का भ्रमण करने के पश्चात् भारत आया।[२]

लेवेडेफ ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में अपने जीवन का जो परिचय दिया है, उसके अनुसार वह सन् १७८५ ई० में मद्रास में बैण्डमास्टर था। वहाँ दो-तीन वर्षों तक रहने के बाद वह कलकत्ता चला आया। वहाँ आकर एक पण्डित से उसने संस्कृत, बँगला तथा हिन्दुस्तानी का ज्ञानार्जन किया। तदनन्तर, उसने अँगरेज़ी के दो नाटकों का बँग़ला में अनुवाद किया, जिनमें एक का रङ्गमञ्च पर बहुत ही सफल प्रदर्शन करने के कारण उसे पर्याप्त

---

१. "A Grammar of pure and mixed East Indian Dialects, with Dialogues affixed, spoken in all the Eastern countries, methodically arranged an Calcutta, according to the Brahminian system, of the Shanscrit Language. etc., etc.,...London 1801." Ling. Sur. of India, V. 9, Part. —I, p. 8.

२. Mithridates, 1. 185.

३. Ling. Sur. of India, V. 9, Part I, P. 10.

प्रसिद्धि मिली। फिर मुगल-दरबार में थिएटर-मैनेजर के रूप में उसकी नियुक्ति हुई। अन्त में, लगभग २० वर्षों तक भारत-निवास के पश्चात् वह इङ्गलैण्ड चला गया। वहाँ जाकर सन् १८०१ ई० में उसने अपना व्याकरण प्रकाशित किया। वहीं उसका परिचय रूसी राजदूत वोरोञ्जोव से हुआ, जिसने उसे रूस भेज दिया। वहाँ वह विदेशी-कार्यालय में नियुक्त किया गया तथा एक संस्कृत-प्रेस की स्थापना का कार्य भी उसे सौंपा गया। ग्रियर्सन के अनुसार लेवेडेफ को संस्कृत तथा बँगला का जैसा ज्ञान था, वैसा हिन्दुस्तानी का नहीं।[१] इसीलिए उसका व्याकरण सफल नहीं हो सका।

रोएबक :

हिन्दी के प्रारम्भिक वैयाकरणों में रोएबक की चर्चा विद्वानों के द्वारा अत्यन्त आदर के साथ की गयी है। इनका 'द इङ्गलिश ऐण्ड हिन्दुस्तानी डिक्शनरी विथ ए ग्रामर प्रिफिक्स्ड'[२] नामक ग्रन्थ सन् १८११ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था।[३] इस ग्रन्थ का व्याकरण-भाग फोर्ट विलियम कॉलेज में पढ़ाया जाता था और टेलर के मतानुसार उस समय का सर्वोत्तम व्याकरण था।[४] आगे चलकर उक्त ग्रन्थ के कई संशोधित संस्करण प्रकाशित हुए। संशोधनकर्त्ता विलियम कारमाइकल स्मिथ थे। रोएबक के व्याकरण की प्रति उपलब्ध नहीं होने के कारण उसके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कुछ कहा जाना सम्भव नहीं है।

---

१. Ibid.

२. An English and Hindostanee Naval Dictionary of technical Terms and Sea Phrases, as also the various words of command given in working a ship, ect. With many sentences of great use at sea; to which is prefixed a short grammar of Hindoostan Language, etc, etc......—Calcutta-1801, Ling. Sur. of India, V. 9, Part I, p. 18-19.

३. डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने इसका प्रकाशन-काल सन् १८१० ई० लिखा है। द्र० हिन्दी-शब्दानुशासन-प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ० २।

४. उपरिवत्।

जॉन शेक्सपियर :

हिन्दी के प्राचीन वैयाकरणों में जॉन शेक्सपियर के 'ए ग्रामर ऑफ द हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज' की पर्याप्त ख्याति हुई थी। वह सन् १८१३ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसके अन्य संस्करण क्रमशः सन् १८१८ ई०, सन् १८४३ ई०, सन् १८४६ ई० तथा सन् १८५८ ई० में लन्दन से ही प्रकाशित हुए थे। चौथे संस्करण में 'दखिनी हिन्दी' का भी संक्षिप्त व्याकरण उसमें जोड़ दिया गया था। उक्त व्याकरण अपने युग में कितना लोकप्रिय हुआ था, इस बात का अन्दाज उसके संस्करणों की संख्या को देखकर आसानी से लगाया जा सकता है। परवर्त्ती अनेक वैयाकरणों ने बड़े आदर के साथ अपने-अपने ग्रन्थों में शेक्सपियर का नामोल्लेख किया है। दुर्भाग्य से उनके ग्रन्थ की प्राप्ति भारत में दुर्लभ हो जाने के कारण उसके गुण-दोष के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा जाना अब सम्भव नहीं है।

वैयाकरण के अतिरिक्त कोषकार के रूप में भी जॉन शेक्सपियर की पर्याप्त ख्याति हुई थी। उनका 'ए डिक्शनरी, हिन्दुस्तानी ऐण्ड इङ्गलिश' सन् १८१७ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसके भी अनेक संस्करण निकले थे।

उनका तीसरा ग्रन्थ 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु द हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज' सन् १८४५ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसकी एक प्रति राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता में सुरक्षित है।

वह ५६४ पृष्ठों का बृहदाकार ग्रन्थ है, जिसमें ८७ पृष्ठ तक हिन्दुस्तानी का व्याकरण है, ८८ से ३९९ पृष्ठ तक अँगरेजी-हिन्दुस्तानी-शब्दकोष है और शेष भाग में अँगरेजी अनुवाद के साथ फारसी तथा देवनागरी लिपि में हिन्दुस्तानी के छोटे-मोटे वाक्य, वार्तालाप, कहानियाँ तथा रचना एवं अनुवाद सम्बन्धी बातें हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेखक ने भूमिका के स्थान पर अपने ग्रन्थ का विज्ञापन ही दिया है, जिसमें भारत आने को इच्छुक अँगरेज विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी के ज्ञान की अनिवार्यता समझाते हुए लेखक ने उसकी प्राप्ति के लिए अपने ग्रन्थ की उपयोगिता और महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

शेक्सपियर का भी मुख्य उद्देश्य पूर्ववर्त्ती लेखकों के समान ही अँगरेज-विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी का सामान्य ज्ञान प्रदान करना था। इसलिए,

उन्होंने भी प्रधानतः अँगरेजी-व्याकरण के आधार पर ही अपने ग्रन्थ के व्याकरण-भाग की रचना की थी। उसमें पूर्ववर्त्ती लेखकों के ग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली गयी है। ग्रन्थ में कहीं कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है।

हिन्दुस्तानी के लिए लेखक ने फारसी तथा देवनागरी दोनों ही लिपियों का प्रयोग किया है और इसका कारण बताते हुए लिखा है कि हिन्दू लोग हिन्दुस्तानी को देवनागरी में और मुसलमान लोग फारसी में लिखा करते हैं।[१] लेखक ने हिन्दुस्तानी का जो रूप देवनागरी में प्रस्तुत किया है, वह फारसी लिपि की वर्त्तनी-शैली से आक्रान्त है।[२] आगे चल कर हिन्दुस्तानी का यही रूप उर्दू भाषा का आदर्श बना।

कैप्टेन विलियम प्राइस :

प्राइस का 'हिन्दुस्तानी ग्रामर'[३] सन् १८२७–२८ ई० में लन्दन से

---

१. "The most common dialect of India, whether that of Hindustan proper or that of the Dakhan, are often found written in the Persian or Arabic characters, especially by the Musalman population of the country; by Hindus, however, the Devanagari (a word often contracted to Nagari) or characters allied to the Devanagari are usually adopted; the alphabets and other orthographical signs, therefore, made use of in each of those two systems of writing claim the earliest attention of the learner; and will in the first place be submitted to his notice."—Johu Shakespear; p. 1.

२. "एक शखस् बादशाह के ऐन कलूए के नीचे लूटा गया उसने बादशाह की खिदमत् में अर्ज की कि जहान्‌पनाह मुझे कज्जाकों ने हुजूर के कलूए की दीवार के नीचे लूट लिया, बादशाह ने फर्माया कि तू हुशयार क्यूँ न रहा बोला कि गुलाम को मअलूम न था कि हजरत के जेर झरोखे मुसाफिर लूटे जाते हैं बादशाह ने कहा क्या तूने यह मसल नहीं सुनी चिराग के नीचे अन्धेरा।"—जॉन शेक्सपीयर, पृ० ४६७।

३. "A new Grammar of the Hindoostanee Language, with selections from the best authors, to which are added familiar phrases and Dialogues in the proper character. London, 1827–28."—Ling. Sur. of India, V. 9, Part I, p. 19.

प्रकाशित हुआ था। वह सम्भवतः सामान्य कोटि का व्याकरण था, इसलिए वैयाकरणों के द्वारा उसकी कोई चर्चा नहीं की गयी और न उसका कोई दूसरा संस्करण ही हुआ।

विलियम येट्स :

येट्स का 'इण्ट्रोडक्शन टु द हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज' सन् १८२७ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था।[1] उसके तीन खण्ड थे, प्रथम खण्ड में व्याकरण, दूसरे में कोष तथा तीसरे में अभ्यास के लिए पाठ (रीडिङ्ग लेसन्स) दिये गये थे। उक्त ग्रन्थ पर्याप्त लोकप्रिय हुआ था। इस कारण, उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए थे।[2] येट्स ने अपने ग्रन्थ के व्याकरण-भाग की रचना पूर्ववर्त्ती व्याकरणों के आधार पर ही की थी, किन्तु विषय-प्रतिपादन की शैली सरल होने के कारण विदेशियों के बीच उसकी पर्याप्त ख्याति हुई थी।

एम० टी० आदम :

पादरी आदम का 'हिन्दी-भाषा का व्याकरण'[3] सन् १८२७ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। वे हिन्दी-भाषा में हिन्दी का व्याकरण लिखने वाले प्रथम वैयाकरण थे। यों, उनके पूर्व लल्लूलाल के 'हिन्दी कवायद' का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है, किन्तु उसके सम्बन्ध में किसी ने यह नहीं स्पष्ट किया है कि वह किस भाषा में लिखा गया था तथा किस प्रकार का व्याकरण था। ग्रियर्सन ने 'लिङ्ग्विस्टिक सर्वे' में उनके 'व्रजभाषा-व्याकरण' की चर्चा तो की है, किन्तु 'कवायद' का उल्लेख तक नहीं किया है। 'गुरु' आदि जिन विद्वानों ने उसका उल्लेख किया है, उनमें से किसी ने उसे स्वयं नहीं देखा था। ऐसी स्थिति में उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

आदम साहब ने हिन्दी में केवल हिन्दी का व्याकरण ही नहीं, अपितु हिन्दी का पहला कोष[4] भी लिखा था, जो सन् १८२९ ई० में कलकत्ता से

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' के 'प्रकाशकीय वक्तव्य' में इसका प्रकाशन काल सन् १८२४ ई० माना है।

२. लिं० स० इं०, वॉ० ९, भा० १, पृ० १९

३. "A Hindee Grammar, for the Instruction of the young in the form of easy questions and answers. Calcutta, 1827."—Ling. Sur. of India, v. 9. Part I, p. 19.

४. Hindi Kosha, a Dictionary of the Hindee language. Calcutta, 1829.—1bid.

प्रकाशित हुआ था। कुछ लोगों ने भ्रम से उनके व्याकरण का प्रकाशन-काल सन् १८२९ ई० और कोष का सन् १८२७ ई० माना है, जो सही नहीं है। विदेशी वैयाकरणों में आदम ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दुई' आदि के बदले 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया था।

आदम साहब का व्याकरण प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा गया था। 'गुरु' जी ने अपने 'हिन्दी-व्याकरण' की भूमिका में उसका परिचय देते हुए लिखा है कि "लल्लूलाल के व्याकरण के लगभग २५ वर्ष पश्चात् कलकत्ता के पादरी आदम साहब ने हिन्दी-व्याकरण की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी, जो कई वर्षों तक स्कूलों में प्रचलित रही। इस पुस्तक में अँगरेजी-व्याकरण के ढङ्ग पर हिन्दी-व्याकरण के कुछ साधारण नियम लिखे गये हैं। पुस्तक की भाषा पुरानी, पण्डिताऊ और विदेशी लेखक की स्वाभाविक भूलों से भरी हुई है। इसमें पारिभाषिक शब्द बँगला-व्याकरण से लिये गये जान पड़ते हैं और हिन्दी में समझाते समय विषय की कई भूलें भी हो गई हैं।"[१] किन्तु, इन दोषों के रहते हुए भी आदम के व्याकरण का हिन्दी-व्याकरणेतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। दुर्भाग्य से उसकी प्रति इस देश में अब दुर्लभ हो चुकी है। इस कारण, उसका विस्तृत परिचय दिया जाना सम्भव नहीं है।

विलियम एण्ड्रिउ :

एण्ड्रिउ का 'ए कम्प्रिहेन्सिव सिनॉप्सिस ऑफ द एलिमेण्ट्स ऑफ हिन्दुस्तानी ग्रामर' सन् १८३० ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। यह अत्यन्त सामान्य कोटि का ग्रन्थ था, इस कारण न तो इसकी ख्याति ही हो सकी और न कोई अन्य संस्करण ही प्रकाशित हुआ।

सैण्डफोर्ड आर्नोट :

हिन्दी के विदेशी विशेषज्ञों में आर्नोट का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने हिन्दी-भाषा-विषयक कई ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें दो विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका पहला ग्रन्थ[२], जिसमें उन्होंने हिन्दी की उत्पत्ति, बनावट आदि पर प्रकाश डाला था, सन् १८२८ ई० में लन्दन में प्रकाशित हुआ था

---

१. का० प्र० गु० : हिन्दी व्याकरण, भूमिका, पृ० ६।

२. "On the origin and structure of the Hindoostan Tongue, or General Language of British India." London, 1828."
—Ling, Sur. of India, v. 9, Part I, p. 13.

और दूसरा ग्रन्थ 'हिन्दुस्तानी ग्रामर'[१] था, वह भी सन् १८३१ ई० में लन्दन से ही प्रकाशित हुआ था। आगे चलकर, 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' का जो दूसरा संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण[२] सन् १८४४ ई० में लन्दन से निकला, उसका पहले संस्करण की तुलना में बिल्कुल कायापलट ही हो गया था। उसका महत्त्व डङ्कन फोर्वेस की महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक टिप्पणियों के कारण और भी बढ़ गया था।

आर्नोट प्रारम्भ में प्राच्य भाषाओं के प्राध्यापक रह चुके थे। वे पेरिस के एसिएटिक सोसाइटी के एक सम्मान्य सदस्य थे। अपने ग्रन्थ की रचना भारत से लौट जाने के बाद उन्होंने इङ्गलैण्ड में की थी। ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने हिन्दी की तत्कालीन स्थिति का परिचय देते हुए लिखा है कि 'हिन्दुस्तानी ब्रिटिश-साम्राज्य की दस करोड़ भारतीय प्रजा की सामान्य बोलचाल की भाषा है तथा वह शीघ्र ही भारत के न्याय, व्यापार, सेना तथा राजनीति-सम्बन्धी कार्यों के उपयोग की भाषा बनने वाली है। ऐसी महत्त्वपूर्ण भाषा की ओर इङ्गलैण्ड के लोगों का ध्यान जिस मात्रा में आकृष्ट होना चाहिए, अभी तक नहीं हुआ।'[३]

अपने पूर्ववर्त्ती हिन्दी-वैयाकरणों की चर्चा करते हुए आर्नोट ने लिखा था कि 'आजतक केवल दो प्राच्य भाषाविदों ने हिन्दुस्तानी के लिए पूर्ण व्याकरण लिखने का प्रयास किया है। उनमें से एक ने हिन्दुस्तानी शब्दों के लिए भी

१. "A new self-instructing Grammar of the Hindustani Tongue, the most useful and general Language of British India in the Oriental and Roman character. London, 1831."—Ibid, p. 19.
२. "A Grammar of the Hindustani Tongue in the Oriental and Roman character with Lythographic, Copper Plate and Typographical illustrations of the Sanskrit, Arabic, and Persian systems of alphabetic writing by the Late S. Arnot, member of the Asi. Soc. of Paris, to which is added a selection of easy Extracts for Reading in the Persi–Arabic and Devanagari characters, with a copious vocabulary and Notes, by Duncan Forbes, M.A., A new ediction, London, 1844.
३. Ibid. Preface.

केवल रोमन-लिपि का प्रयोग किया है और दूसरे ने उनके लिए यद्यपि हिन्दुस्तानी-लिपि का तो प्रयोग किया है, किन्तु उसके साथ रोमन प्रत्यक्षर नहीं दिये हैं। फलतः, पहले के द्वारा हिन्दुस्तानी-लिपि का ज्ञान नहीं होने के कारण छात्र हिन्दुस्तानी साहित्य के अध्ययन तथा हिन्दुस्तानियों के साथ पत्राचार करने में असमर्थ रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त, वह ऐसी अनेक दुर्बोध सैद्धान्तिक परिकल्पनाओं से भरा-पड़ा है, जिनका सम्बन्ध किसी भाषा-विशेष के व्याकरण की अपेक्षा उसके दर्शन तथा तत्त्वज्ञान से ही अधिक प्रतीत होता है। दूसरे में हिन्दुस्तानी शब्दों के लिए रोमन प्रत्यक्षर का अभाव होने के कारण उस ग्रन्थ के अध्ययन का आरम्भ करने के पूर्व ही हिन्दुस्तानी-लिपि तथा उसकी ध्वनियों एवं शब्दों के उच्चारण का ज्ञान अपेक्षित होता है, जो तभी सम्भव है, जब कुछ समय तक भारत में रहकर विद्यार्थी सीखें। किन्तु, उतने समय में तो व्यक्ति अन्य सुबोध व्याकरणों के सहारे हिन्दुस्तानी के नियमों पर भी अधिकार कर सकता है। इस कारण उपर्युक्त व्याकरणों की कोई उपयोगिता नहीं है। आर्नोट का कथन है कि उनके ये विचार, विद्वान भारतीयों की भाषा के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा शिक्षण-पद्धति के व्यापक अनुभव पर आधृत है।[१] उन्होंने अपने ग्रन्थ में जिन दो वैयाकरणों की चर्चा की है, उनके नामों का उल्लेख कहीं नहीं किया है।

अपने ग्रन्थ के उद्देश्य की चर्चा करते हुए आर्नोट ने लिखा है कि हमारा पहला उद्देश्य हिन्दुस्तानी भाषा का एक ऐसा स्पष्ट और व्यवस्थित परिचय प्रस्तुत करना है, जो उस प्रकार की दुर्बोध सैद्धान्तिक परिकल्पनाओं से सर्वथा रहित हो, जिनसे विद्यार्थी हतबुद्धि हो जाया करते हैं तथा उनके मन में भाषा-अध्ययन के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है। दूसरा उद्देश्य उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की विशेषताओं का समाहार तथा दोषों का त्याग कर एक उपयोगी ग्रन्थ की रचना करना है। इसीलिए, इसमें हिन्दुस्तानी शब्दों को उनकी अपनी लिपि के साथ-ही-साथ उच्चारणानुसार रोमन-लिपि में भी प्रत्यक्षरित किया गया है। तीसरे, इसमें हिन्दुस्तानी संज्ञाओं के लिङ्ग-निर्धारण के लिए संक्षिप्त नियम अपवादों की तालिका के साथ प्रस्तुत किये गये हैं, जो इस देश में प्रकाशित इसके पूर्व के किसी भी व्याकरण-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं तथा जिनको जाने विना भाषा के शुद्ध प्रयोग का ज्ञान असम्भव है। इसके द्वारा अँगरेजी-

१. ग्रा० हि० टं०, सै० ग्रा०, भूमिका।

हिन्दी के एकमात्र कोष 'इङ्गलिश ऐण्ड हिन्दुस्तानी' के उपयोग में भी विद्यार्थियों को सुविधा होगी; क्योंकि उसमें भी शब्दों के लिङ्ग का निर्देश नहीं किया गया है। चौथे, इस ग्रन्थ का उद्देश्य संज्ञा का अधिक पूर्ण परिचय देना है तथा कर्म और कर्तृ कारक के रूप को स्पष्ट करना है, जिन्हें पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों ने कर्त्ता और करण के रूप में सन्दिग्ध बना दिया था। पाँचवें, इसका उद्देश्य कर्तृवाच्य (ऐक्टिव भर्व) और भाववाच्य (निउटर भर्व) के अन्तर को स्पष्ट करना तथा करण और कर्तृ कारक के प्रयोग को, उनके परसर्गों के साथ स्पष्ट करना है। छठे, इसका उद्देश्य नियमित क्रियाओं का, जिनके कालों की संख्या ११ मानी गयी है, संक्षिप्त परिचय देना तथा अनियमित क्रियाओं की तालिका प्रस्तुत करना है। ग्रन्थ का सातवाँ और अन्तिम उद्देश्य वाक्यविधान के नियमों को अधिकारी लेखकों के ग्रन्थों से उद्धरण देकर स्पष्ट करना है।[१]

ग्रन्थ के नवीन संस्करण के सम्पादकीय वक्तव्य में डङ्कन फोर्बेस ने ग्रन्थ का उद्देश्य, भारत जानेवाले प्रत्येक यूरोपीय के लिए वहाँ की भाषा का सामान्यज्ञान प्रदान करने के लिए एक अवसर उपस्थित करना माना है। विदेशियों को हिन्दुस्तानी सिखाने की पद्धति के सम्बन्ध में फोर्बेस ने लिखा है कि हिन्दुस्तानी के नियम अत्यन्त सरल और बहुत कम हैं, जिन्हें सीखने के लिए नियमों को रटने की अपेक्षा भाषा का अभ्यास करना अधिक लाभप्रद हो सकता है। इसके अध्ययन के पूर्व केवल संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रियाओं के रूपान्तर, परसर्गों (का, के, की) और निपात (ने) का प्रयोग तथा वाक्य के अन्तर्गत शब्द-व्यवस्था के क्रम के सामान्य नियमों का ज्ञान अपेक्षित है। इसके पश्चात् विद्यार्थी को शब्दकोष की सहायता से, विना अँगरेजी-अनुवाद का सहारा लिये, वाक्यों की रचना का अभ्यास कराना उचित है। अपने श्रम से विद्यार्थी जितने वाक्य रचेंगे, वे उन्हें स्मरण रहेंगे; किन्तु अँगरेजी-अनुवाद की सहायता लेने पर वैसा होना सम्भव नहीं है। ज्ञान के बदले में प्रकृति उसके मूल्य के रूप में श्रम माँगती है। जो वह मूल्य चुकाता है, उसे ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।[२]

---

१. Ibid.

२. "The Hindustani is a language of few and simple principles, the acquisition of which depends more on practice than on precept; hence the old fashioned plan

आर्नोट ने अपने व्याकरण के लिए जिस प्रकार की योजना बनायी थी, उसके अनुरूप उसे बनाने में तो वे समर्थ नहीं हो सके थे, फिर भी विदेशियों को हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्रदान करने की दृष्टि से उनका ग्रन्थ पर्याप्त उपयोगी था।

जोसेफ हेलिओडोर गार्सां द तासी :

फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान गार्सां द तासी ने सन् १८२९ से १८४८ ई० के बीच हिन्दी-भाषा तथा व्याकरण-सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे थे, जो पेरिस के एसिएटिक जर्नल में तथा यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे।[२] उनमें से कई निबन्ध बाद में पुस्तकाकार भी छपे थे। इसके अतिरिक्त उक्त विषयों पर उन्होंने कई स्वतन्त्र पुस्तकों की भी रचना की थी। वैसी पुस्तकों में 'रुडिमेण्ट्स डि ला लैङ्गुए हिन्दोस्तानी' का प्रकाशन सन् १८२९ ई० में पेरिस से हुआ था। उसका परिशिष्ट भाग, जिसमें व्याकरण-सम्बन्धी बातें भी थीं, सन् १८३३ ई० में प्रकाशित हुआ था। फिर, 'रुडिमेण्ट्स डि ला लैङ्गुए हिन्दुई' सन् १८४७ ई० में पेरिस से प्रकाशित हुआ था। तासी अपने युग के सम्मान्य विद्वानों में थे। उन्होंने सन् १८३९ ई० में हिन्दी-साहित्य का एक इतिहास भी लिखा था। प्रारम्भ में वे हिन्दी के बहुत बड़े प्रशंसक एवं समर्थक थे, किन्तु बाद में कतिपय (राजनैतिक, धार्मिक आदि) कारणों से वे हिन्दी के विरोधी तथा उर्दू के पक्षधर बन गये थे। उनका व्याकरण फ्रेञ्च-भाषा में होने के कारण इस देश में ख्यात नहीं हो सका था।

---

of making the people waste weeks and months on the dry technicalities of the grammar is utterly preposterous. All that is required to start with is a clear knowledge of the inflections of the nouns, pronouns and verbs, the applications of the postpositions 'Ka, Ke, Ki' and of the particle 'ne', together with a brief memorendom of the usual mode of arranging the words in a sentence... Labour is the price which nature demands of us in return for knowledge, if we pay the proper price, we are sure of good article.'—Ibid, editor's preface.

२. लिं० स० इं०, वॉ० ९, भाग १, पृ० २०।

जेम्स आर० बैलेण्टाइन :

बैलेण्टाइन ने हिन्दी-व्याकरण-सम्बन्धी तीन ग्रन्थों की रचना की थी। उनका 'ग्रामर ऑफ द हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज विथ ग्रैमेटिकल एक्सरसाइजेज' सन् १८३८ ई० में, 'एलिमेण्ट्स ऑफ हिन्दी ऐण्ड व्रजभाषा ग्रामर' सन् १८३९ ई० में तथा 'ए ग्रामर ऑफ द हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज विथ नोटिसेज ऑफ द व्रज ऐण्ड दखिनी डायलेक्टस्' सन् १८४२ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था।[१] उक्त ग्रन्थ सामान्य कोटि के थे। अपने तीसरे ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि व्रजभाषा ही वह मूलस्रोत है, जिससे हिन्दुस्तानी की अधिकांश बोलियाँ विकसित हुईं।[२] आगे चलकर, सम्भवतः बैलेण्टाइन की उक्त मान्यता के आधार पर ही अनेक विद्वानों ने भ्रमवश खड़ी बोली को व्रजभाषा से उद्‌भूत सिद्ध करने की असफल चेष्टा की।

डङ्कन फोर्बेस :

फोर्बेस का 'हिन्दुस्तानी मैनुअल'[३] सन् १८४५ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसके दो भाग थे। प्रथम भाग में व्याकरण और दूसरे में कोष : उस ग्रन्थ की बहुत अधिक ख्याति हुई थी। उसके १२ से भी अधिक संस्करण निकले थे। उनका दूसरा ग्रन्थ 'ए ग्रामर ऑफ द हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज'[४] सन् १८४६ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था।[५] मैनुअल के समान ही उस व्याकरण की भी बड़ी प्रसिद्धि हुई थी। उसके भी अनेक संस्करण निकले थे।

फोर्बेस का व्याकरण बहुत कुछ आर्नोट के व्याकरण की छाया लिये हुए था। आर्नोट के व्याकरण का जो दूसरा संस्करण सन् १८४४ ई० में प्रकाशित हुआ था, उसके सम्पादक फोर्बेस ही थे। उसमें उन्होंने बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ लिखी थीं। सम्भवतः उसी क्रम में उनके

---

१. Ling. Sur. of India, V. 9, Part I, p. 20.

२. "The Braz dialect (described in chapter nine) is probably the original from which all the other dialects of the Hindustani took their rise."—Ballantyne, James, R.

३. Ling. Sur. of India, V. 9, Part I, p. 21.

४. Ibid.

५. श्रीकृष्ण लाल ने भ्रमवश इसका प्रकाशन-काल सन् १८५६ ई० माना है।
—हिन्दी-शब्दानुशासन', प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ० २।

मन में आर्नोट के व्याकरण को सुधार कर उसके आधार पर एक नवीन व्याकरण लिखने की बात आयी थी। फलतः, उन्होंने जो व्याकरण लिखकर प्रकाशित किया, वह सभी दृष्टियों से आर्नोट के व्याकरण से श्रेष्ठ प्रमाणित हुआ। उसके कारण वे अपने युग में हिन्दी के विशेषज्ञ तथा श्रेष्ठ वैयाकरण माने गये। परवर्त्ती वैयाकरणों में से अनेक ने अत्यन्त आदरपूर्वक उनका नामोल्लेख किया है।

फोर्बेस के 'मैनुअल' के सन् १८७३ ई० वाले संस्करण की एक प्रति राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता में संरक्षित है। उसमें १८८ पृ० हैं। भूमिका में लेखक ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि व्याकरण का अध्ययन भाषा के माध्यम से तथा भाषा का अध्ययन व्याकरण के माध्यम से ही सम्भव है। एक के बिना दूसरे का अध्ययन का प्रयास निष्फल होता है।[१] शिक्षा की सबसे निकृष्ट पद्धति वह है, जिसमें शिक्षार्थी को स्वयं सोचने का अवसर नहीं दिया जाता।[२]

ग्रन्थ-रचना के उद्देश्य की चर्चा करते हुए उन्होंने पूर्णरूप से स्पष्ट कर दिया है कि उनका उद्देश्य भारत में निवास करने वाले भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए अपने देशवासियों को हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्रदान करना है।[३]

---

१. "The Grammar of any language is to be learned only through the language and language by means of the grammar, but to learn or rather to attempt to learn, the one without the other, is about as profitable a pursuit as the manufacturing of bricks from straw without clay or from clay without straw."—'altera alterius auxilio eget', D. Forbes, 'The Hindustani Manual, Preface, p. 7.

२. "Of all the bad methods of teaching the very worst is that which takes away from the learner the necessity of thinking."—Ibid, p. 8.

३. "Those who are destined to pass a portion of their lives in India may be divided into three classes : First, Her Mejesty's Civil, Military and Medical servants, all of whom must pass an examination in Hindustani; and for the use of these the Manual is especially intended... etc."—Ibid.

ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तानी की दो बोलियाँ मानते हुए उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानी से हिन्दी और उर्दू दोनों का बोध होता है तथा उनमें व्याकरण की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है।[१]

लेखक ने नागरी तथा फारसी दोनों की वर्णमाला दी है। तदनन्तर, अँगरेजी व्याकरण के आधार पर हिन्दी-व्याकरण की अति स्थूल बातों की संक्षिप्त चर्चा की गयी है। उदाहरणार्थ : अँगरेजी 'आर्टिकल' की चर्चा करते हुए बताया गया है कि हिन्दी में 'डिफनिट आर्टिकल' 'द' का कोई निश्चित प्रतिरूप नहीं है।[२] संज्ञा के लिङ्ग के सम्बन्ध में बताया गया है कि क्षुद्र जीवों तथा अप्राणीवाचक शब्दों का लिङ्ग-ज्ञान प्रयोग को देखकर ही प्राप्त किया जा सकता है।[३] इसी प्रकार अँगरेजी पूर्वसर्ग (प्रीपोजीशन) की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि हिन्दी में पूर्वसर्ग का कार्य परसर्गों के द्वारा सम्पादित होता है।[४] ग्रन्थ के अन्त में अँगरेजी में अनेक विषयों पर वार्त्तालाप हैं,

---

१. "Throughout the extensive empire of India, from Capcomorin to Kashmir and from the Brahmaputra to the Indus, the Hindustani is the language most generally used. It consists of two dialects; that of the Musalmans called the Urdu or Rekhta, and that of the Hindus, called Hindi........... As the both dialects, however follow, in the main, the same grammatical rules, they are understood here to be both included under the general name Hindustani, which means, Par excellence, the language of Hindustan."—Ibid, Part I, Sec. I, p. 1.

२. "The Hindustani like the Latin, has no word which corresponds exactly with our difinite article 'the'. etc."
—Ibid, p. 8.

३. "Males are of course masculina, and females feminine, but with regard to the gender of inferior animal and of all lifeless things. practice alone can determine."
—Ibid, p. 8.

४. "The Hindustani does not, strictly speaking, possess that part of speech which we call preposition, the deficiency, however, is emply supplied either by the post positions... or by employing certain substantives."—Ibid, p. 22.

जिनके साथ ही रोमन लिपि में उनके हिन्दी अनुवाद भी दिये गये हैं। यह ग्रन्थ विदेशियों को हिन्दी की सामान्य शिक्षा देने की दृष्टि से उपयोगी है।

इ० बी० इस्टविक :

इस्टविक का 'ए कनसाइज ग्रामर ऑफ द हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज'[१] सन् १८४७ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसका दूसरा संस्करण जी० स्मॉल के द्वारा लन्दन से ही सन् १८५८ ई० में प्रकाशित किया गगा था। वह एक सामान्य स्तर का व्याकरण था।

जे० डेटलो प्रोखनों :

प्रोंखनो जर्मन भाषा के विद्वान थे। उन्होंने जर्मन-भाषा में ही एक हिन्दी-व्याकरण[२] की रचना की थी, जो सन् १८५२ ई० में बर्लिन से प्रकाशित हुआ था।

अलेग्जेण्डर फॉकनर :

फॉकनर बम्बई में चुङ्गी (कस्टम्स) विभाग के एसिस्टेण्ट कलक्टर थे। उनका 'द ओरिएण्टेलिस्ट्स ग्रामेटिकल वादे-मेकम' नामक ग्रन्थ सन् १८५३ ई० में बम्बई के अमेरिकन मिशन प्रेस के द्वारा प्रकाशित किया गया था। ग्रियर्सन ने इसका प्रकाशन-काल सन् १८५४ ई० माना है,[३] जो सही नहीं है। इसमें हिन्दुस्तानी, फारसी तथा गुजराती, तीनों भाषाओं का अलग-अलग संक्षिप्त व्याकरण दिया गया है।

लेखक के मतानुसार ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य, उपर्युक्त भाषाओं की सूक्ष्म जटिलताओं में विना प्रवेश किये हुए, उनके व्याकरण तथा रचना-सम्बन्धी उन प्रारम्भिक स्थूल सिद्धान्तों का परिचय देना है, जिन्हें जान लेने पर

---

१. Ling. Sur. of India, v. 9, Part I, p. 21.
२. Ibid.
३. Ibid.

उच्चस्तरीय व्याकरण ग्रन्थों को समझने में सुविधा हो।[१] इसमें संक्षेप में अधिक-से-अधिक कहने का प्रयास किया गया है तथा तथ्यों को क्रम से सजाया भी गया है।[२]

ग्रन्थ के प्रणयन में लेखक ने फोर्बेस, शेक्सपीयर, विलियम जोन्स तथा क्लार्कसन के ग्रन्थों को अपना आधार बनाया है। इनके नामों का सादर उल्लेख करते हुए लेखक ने उनके ग्रन्थों को अधिक उच्चस्तरीय और उपयोगी माना है। किन्तु, इसके साथ ही लेखक ने यह भी स्वीकार किया है कि वे ग्रन्थ भी सर्वथा निर्दोष नहीं है।[३]

---

१. "The object of this work is to faciliate the aquisition of the Hindustani, Persian and Gujrati language, by conveying to the eye, at first sight, all that is essentially necessary to know regarding their grammatical forms and coustruction without distracting it with the extended and intricate rules and examples which exhibit themselves on a cursory glance at larger works, such as the grammar of Forbes, Shakespear, Sir William jones, and Mr. Clarkson which are so useful in their own place to the advanced student. When once the simple rules and principles here laid down are thoroughly mastered and fixed in the memory, they will serve as key, to the speedy understanding of more abstruse and elaborate works on philology.—W. Faulkner, Preface.

२. "These outlines have been compiled in such a manner as to convey the greatest number of facts in the fewest possible words."—Ibid.

३. "In the compilation of this little volume, the compiler's obligations are due to the grammars of Dr. Forbes, Mr. Shakespear, Sir William Jones and Mr. Clarkson from whose works he acknowledges to have borrowed largely............It would be prisumptuous to think that they are altogether free from the inaccuracies and defects."—W. Faulkner, Preface.

यह ग्रन्थ अत्यन्त सामान्य स्तर का है, जिसकी अधिकांश बातें पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से ली गयी हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं भी कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है। लेखक ने स्पष्ट शब्दों में इसे स्वयं स्वीकार भी किया है कि उन्होंने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों में अव्यस्थित रूप से बिखरे हुए तथ्यों को क्रमिक रूप से सजाने का प्रयास भर किया है।[1]

फॉकनर हिन्दी-व्याकरणेतिहास के आरम्भ-काल के अन्तिम वैयाकरण थे। उनके पूर्व के सारे हिन्दी-वैयाकरण विदेशी थे। किन्तु, उनके पश्चात् विदेशियों के साथ-साथ भारतीय पण्डित भी हिन्दी-व्याकरण के निर्माण-काय नें योगदान देने लगे, जिनका विवेचन आगे विकास-काल में किया जायगा। आरम्भ-काल में क्लार्कसन आदि और भी अनेक हिन्दी-वैयाकरण हुए, किन्तु उनके ग्रन्थों का पता नहीं चलने के कारण हमने उनका उल्लेख नहीं किया है।

---

१. "Their compiler takes credit to himself only for having methodised, briefly defined, and arranged under their proper heads, matter that appeared to him to be scattered, and sometimes misplaced in the different grammars from which he has freely extracted."—Ibid.

विकास-काल

(सन् १८५५-१८७६ ई०)

सामान्य परिचय :

हिन्दी-व्याकरणेतिहास के विकास-काल का प्रारम्भ पं० श्रीलाल के 'भाषा चन्द्रोदय' के प्रकाशन के साथ, सन् १८५५ ई० से हुआ। उसके पूर्व, आरम्भ-काल की समाप्ति तक, हिन्दी के जितने भी व्याकरण प्रकाशित हुए थे; वे प्रायः सब-के-सब विदेशियों के द्वारा प्रणीत थे। उस समय तक भारतीय पण्डितों का ध्यान हिन्दी-व्याकरण-निर्माण की ओर आकृष्ट नहीं हुआ था। किन्तु, सिपाही-विद्रोह के कुछ वर्ष पूर्व से भारतीयों के भीतर अन्यान्य क्षेत्रों की तरह भाषा और व्याकरण के क्षेत्र में भी कुछ जागरूकता का सञ्चार हुआ। भारतीय विद्वानों में पं० श्रीलाल हिन्दी के प्रथम वैयाकरण थे।[1] उनका 'भाषा-चन्द्रोदय' सन् १८५५ ई० में प्रकाशित हुआ था, जो आधार, उद्देश्य और आदर्श, तीनों ही दृष्टियों से विदेशियों के द्वारा लिखित आरम्भ-काल के व्याकरणों से भिन्न प्रकार का था। इस प्रसङ्ग में यहाँ उन कारणों और स्थितियों पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है, जिनसे प्रेरित होकर भारतीय विद्वान हिन्दी-व्याकरण के निर्माण-कार्य में संलग्न हुए थे।

मुस्लिम-शासनकाल में भारतीय शिक्षण-संस्थाओं एवं पुस्तकालयों को राजकीय पोषण एवं संरक्षण मिलने की अपेक्षा उनको नष्ट करने के प्रयास ही अधिक हुए, जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारतीय पण्डितों का ध्यान प्राचीन ग्रन्थों के संरक्षण एवं संस्कृतादि प्राचीन भाषाओं को जिलाये रखने की ओर अधिक गया। उनके उस आचरण के मूल में भाषा और साहित्य के प्रेम से अधिक प्रबल, वह विशुद्ध धार्मिक प्रेम था, जो उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से मानवीय मूल्यों को यथार्थ रूप में समझने और परखने की क्षमता प्रदान करता आया था। उस अवधि में भारतीय पण्डित देशी भाषाओं के विकास की ओर विशेष रूप से उन्मुख नहीं हुए। किन्तु, मुस्लिम-साम्राज्य के पतन तथा राजसत्ता के शनैः-शनैः अँगरेजों के अधीन हस्तान्तरण के समय उक्त स्थिति में परिवर्त्तन आने लगा। अँगरेज-जाति स्वभाव से विद्याव्यसनी होने के कारण प्रारम्भ से ही प्राचीन भारतीय

वाङ्मय के प्रति जिज्ञासु थी। इस कारण उनसे उसके नष्ट किये जाने का कोई विशेष भय नहीं था। जब भारतीय पण्डितों को इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया, तब उनका ध्यान धीरे-धीरे देशी भाषाओं के विकास की ओर भी उन्मुख होने लगा, जिनमें हिन्दी सर्वाधिक प्रमुख थी। फलतः, पहले लोग हिन्दी के साहित्य-निर्माण की ओर, फिर व्याकरण-निर्माण की ओर प्रेरित हुए।

सन् १८५५ ई० के पूर्व तक विदेशियों के द्वारा अपने-अपने देशवासियों को हिन्दी का ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से अनेक छोटे-बड़े व्याकरण लिखे जा चुके थे, जो उनकी तात्कालिक आवश्यकता की पूर्त्ति की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी प्रमाणित हुए थे। किन्तु, विदेशी भाषाओं में लिखे होने के कारण भारतीय छात्रों के लिए उनकी कोई उपयोगिता नहीं थी। दूसरी ओर शासक-वर्गीय अँगरेज राजनीतिज्ञों की सोद्देश्य उपेक्षा तथा मुसलमानों के द्वारा अनवरत विरोध किये जाते रहने पर भी, जनता में बड़ी तेजी से हिन्दी-शिक्षा का प्रचार-प्रसार होता जा रहा था। उस समय हिन्दी-भाषा की व्यवस्थित शिक्षा के लिए प्रारम्भिक एवं माध्यमिक पाठशालाओं से उच्च विद्यालयों तक की विभिन्न कक्षाओं के लिए हिन्दी में लिखित भिन्न-भिन्न स्तर के अनेक छात्रोपयोगी व्याकरणों की आवश्यकता थी। किन्तु, सन् १८५५ ई० के पूर्व तक पादरी आदम साहब के 'हिन्दी-व्याकरण' को छोड़कर कोई भी दूसरा व्याकरण हिन्दी में नहीं लिखा गया था। वैसी स्थिति में भारतीय विद्वानों के लिए अविलम्ब हिन्दी-व्याकरण-निर्माण-कार्य में जुट जाने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं था। यह एक प्रधान कारण था, जिससे वे हिन्दी-व्याकरण की रचना के लिए अग्रसर हुए।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी अँगरेजों की 'विभाजन के द्वारा शासन' वाली नीति (डिवाइड ऐण्ड रूल पॉलिसी) का शिकार नहीं बनी थी। उस समय तक प्रायः सब-के-सब अँगरेज विद्वान उर्दू को हिन्दी का मुसलमानी रूप मानते थे तथा दोनों के जन-प्रचलित रूप को 'हिन्दुस्तानी' कहते थे। किन्तु, सन् १८०० ई० में जब कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हो गयी, तबसे उनकी भाषानीति में प्रत्यक्ष अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा। वे धीरे-धीरे हिन्दी की उपेक्षा और उर्दू का समर्थन करने लगे। यह जानते हुए भी कि हिन्दी ही देश के व्यापक जनसमूह की सर्वसामान्य भाषा है, वे उर्दू को 'अहलेजबान' बताकर उसे अनुचित तरजीह

देने लगे तथा मुसलमानों को हिन्दी तथा हिन्दुओं के विरुद्ध उभाड़ने लगे। हिन्दी तथा हिन्दुओं के प्रति उनकी उस अन्यायपूर्ण नीति की देश में बड़ी व्यापक प्रतिक्रिया हुई। अबतक जो भारतीय पण्डित हिन्दी की ओर से आँखें मूँदे हुए संस्कृत की मोहनिद्रा में मग्न पड़े थे, उनकी आँखें बरबस खुल गयीं और वे जी-जान से हिन्दी की स्वत्व-रक्षा तथा विकास के कार्य में जुट गये। हिन्दी के प्रति ज्यों-ज्यों अँगरेजों की उपेक्षा और दमननीति तथा मुसलमानों का विरोध बढ़ता गया, त्यों-त्यों हिन्दुओं का हिन्दी-प्रेम दृढ़ से दृढ़तर होता गया। फलतः, जब मुसलमानों ने अँगरेजी और फारसी व्याकरण के आदर्श पर उर्दू के व्याकरण-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया, तब हिन्दुओं के लिए भी संस्कृत व्याकरण के आधार पर हिन्दी व्याकरण का निर्माण अनिवार्य हो गया।

सन् १८५५ ई० तक हिन्दी में गद्य-निर्माण का कार्य भी जोर पकड़ने लगा था। उस समय तक हिन्दी के कई महत्त्वपूर्ण गद्य-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे, जो पर्याप्त लोकप्रिय हुए थे। किन्तु, व्याकरण के अभाव में लेखकों के सम्मुख भाषा के मानक रूप का कोई आदर्श नहीं रहने के कारण उनकी भाषा अव्यस्थित प्रतीत होती थी। यह भी एक कारण था, जिसने हिन्दू विद्वानों को हिन्दी-व्याकरण के निर्माण की ओर प्रेरित किया।

सन् १८५५ ई० तक आते-आते भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना का भी जागरण हो चुका था, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण सन् १८५७ ई० की जनक्रान्ति के रूप में सामने आया। उस समय भारतीयों के हृदय में जहाँ एक ओर देश को स्वतन्त्र देखने की लालसा लहरें लेने लगी थीं, वहीं दूसरी ओर अपनी सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य, धर्म आदि सबके प्रति गौरव-भाव उदित होने के कारण, उनकीरक्षा तथा विकास की कामना भी बलवती होने लगी थी। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना का जागरण भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था, जिससे हिन्दी-विद्वानों को हिन्दी का व्याकरण लिखने की प्रेरणा मिली थी।

उपर्युक्त सभी कारणों एवं स्थितियों ने सामूहिक रूप से भारतीय पण्डितों को हिन्दी-व्याकरण के निर्माण-कार्य की ओर प्रेरित किया था, जिसके परिणामस्वरूप सन् १८५५ ई० के बाद से हिन्दी-व्याकरणेतिहास में एक नये युग का प्रवर्त्तन हुआ, जिसे हमने 'विकास-काल' की संज्ञा दी है।

विकस-काल में आरम्भ-काल की अपेक्षा व्याकरण-रचना के उद्देश्य, आदर्श, आधार आदि सबमें मौलिक परिवर्त्तन दृष्टिगोचर हुए। आरम्भ-काल के

वैयाकरणों का मुख्य उद्देश्य विदेशियों को हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्रदान करना था; किन्तु विकास-काल के वैयाकरणों का मुख्य उद्देश्य भारतीय छात्रों को हिन्दी के स्वरूप का व्याकरणिक परिचय देना था। आरम्भ-काल के वैयाकरणों का आदर्श सर्वांशतः विदेशी था, जबकि विकास-काल के वैयाकरणों का आदर्श भारतीय था। आरम्भ-काल के वैयाकरणों ने यूरोपीय भाषाओं के व्याकरण को हिन्दी-व्याकरण का आधार बनाया था, किन्तु विकास-काल के वैयाकरणों ने यथासाध्य संस्कृत-व्याकरण के आधार पर अपने व्याकरणों की रचना की। आरम्भ-काल के वैयाकरणों ने जहाँ विदेशी भाषाओं में हिन्दी-व्याकरणों की रचना की, वहाँ विकास-काल में अधिकांश हिन्दी-व्याकरण हिन्दी भाषा में लिखे गये।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि विवेच्य काल के अधिकांश वैयाकरण भारतीय थे, जिन्होंने प्रधानतः संस्कृत-व्यकरण के आधार पर हिन्दी में हिन्दी-व्याकरणों की रचना की। किन्तु, दूसरी ओर विदेशी वैयाकरणों के द्वारा अँगरेजी-व्याकरण के आधार पर भी हिन्दी-व्याकरण की रचना होती रही। इस युग के विदेशी वैयाकरण मुख्यतः दो दलों में विभक्त थे। एक दल उन लोगों का था, जो स्वजातीय शासक-वर्ग के इशारे पर चल रहा था और 'विभाजन द्वारा शासनवाली नीति' का अनुसरण कर रहा था। इस दल के लोग मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध उकसाते रहने के उद्देश्य से उर्दू को हिन्दी से भिन्न तथा श्रेष्ठ प्रमाणित करने के प्रयत्न में लगे हुए थे। किन्तु, विदेशियों का दूसरा दल, जिसमें बीम्स, हॉर्नले आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, शुद्ध भाषावैज्ञानिक आधार पर हिन्दी तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन में लगा हुआ था। इस दल के विद्वानों ने अपने शोधगत निष्कर्षों के आधार पर पुष्ट प्रमाणों का साक्ष्य देते हुए उर्दू को हिन्दी से अभिन्न घोषित किया था। किन्तु, क्षुद्र राजनैतिक उद्देश्य तथा अन्यान्य स्वार्थपूर्ण कारणों से शासकवर्ग के लोग तथा मुसलमानों के नेता जान-बूझकर उक्त सत्य की उपेक्षा कर रहे थे। हिन्दी के प्रति अँगरेज-शासकों एवं मुसलमानों की उपेक्षा एवं दमननीति उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी, जब जनता की इच्छा के विरुद्ध फारसी-लिपि के साथ उर्दू को अदालत की भाषा बना दी गयी तथा स्कूलों एवं कॉलेजों में हिन्दी की पढ़ाई को अनावश्यक बताते हुए, उसके स्थान पर उर्दू एवं अँगरेजी की पढ़ाई पर जोर दिया जाने लगा। इस घटना की हिन्दू जनता एवं हिन्दी-विद्वानों पर

जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। अब तक वे उर्दू को हिन्दी का फारसीनिष्ठ रूप मानते आ रहे थे, किन्तु अब वह उनकी दृष्टि में म्लेच्छों के द्वारा भ्रष्ट की गयी अपवित्र भाषा बन गयी, जिसे वे भी हिन्दी मानने को तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त, अब हिन्दी-भाषा से भी चुन-चुन कर विदेशी शब्दों को निकाल बाहर किया जाने लगा तथा हिन्दी का तात्पर्य उस शुद्ध हिन्दी से माना जाने लगा, जिसमें एक भी विदेशी शब्द का प्रयोग न हो। आगे चलकर, हिन्दी के इसी शुद्ध एव परिनिष्ठित रूप को अँगरेजों ने 'हाइ हिन्दी' (उच्च हिन्दी) की संज्ञा दी। उस समय हिन्दी के विशुद्धतावादी दल में कुछ ऐसे भी विद्वान थे, जिन्होंने हिन्दी को न केवल विदेशी शब्दों से अपितु संस्कृत के तत्सम शब्दों से भी मुक्त करने का प्रयास किया। वैसे विद्वानों में राजा लक्ष्मण सिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हिन्दी का जो रूप सामने आया, उसे 'ठेठ हिन्दी' के नाम से अभिहित किया जाने लगा। हिन्दी-विद्वानों का एक तीसरा दल, जिसके नेता राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द थे, उस समय भी हिन्दी और उर्दू के बीच की बढ़ती हुई खाई को पाटने के प्रयत्न में लगा हुआ था। 'सितारेहिन्द' हिन्दी के उस 'आमफहम खासपसन्द' रूप के समर्थक थे, जिसमें देशी-विदेशी सभी भाषाओं के जनगृहीत शब्दों का प्रयोग हो। हिन्दी के इसी रूप को आरम्भकाल के विदेशी वैयाकरणों ने 'हिन्दुस्तानी' की संज्ञा दी थी। किन्तु, विकास-काल तक आते-आते शासकवर्ग के लोगों के प्रोत्साहन से, मुसलमानों ने उसे अप्रचलित एवं क्लिष्ट अरबी-फारसी शब्दों से भरकर बेतरह बोझिल बना दिया था, जिसके फलस्वरूप 'हिन्दुस्तानी' शब्द अब हिन्दी का वाचक न रहकर उर्दू का पर्याय बन गया था। हिन्दी के अधिकांश विद्वान, चूँकि उर्दू से चिढ़े हुए थे, इसलिए उनलोगों ने 'सितारेहिन्द' के द्वारा प्रस्तावित हिन्दी के 'हिन्दुस्तानी' रूप का खुलकर विरोध किया; क्योंकि उन्हें उसमें उर्दू की बू मिलती थी। फिर भी, हिन्दी के इस तीसरे रूप 'हिन्दुस्तानी' का भी अनेक लेखकों के द्वारा साहित्य में प्रयोग होता ही रहा।

इस प्रकार, विवेच्य युग में हिन्दी के तीन रूप सामने आये : परिनिष्ठित या 'हाइ हिन्दी', 'ठेठ हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी'। इस युग के भारतीय वैयाकरणों में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द को छोड़कर शेष सबने मुख्यतः संस्कृत-व्याकरण के आधार पर हिन्दी के प्रथम दो रूपों के व्याकरणों की रचना की और विदेशी वैयाकरणों में से पादरी एथरिङ्गटन को छोड़कर शेष

सबने प्राय: अँगरेजी-व्याकरण की नकल पर हिन्दुस्तानी का व्याकरण लिखा। इस प्रकार, इस काल में हिन्दी-व्याकरण-निर्माण की दो मुख्य परम्पराओं का प्रारम्भ हुआ। हिन्दी और उर्दू को अभिन्न भाषा माननेवालों का व्याकरण मूलत: अँगरेजी व्याकरण का अनुसरण करता था और हिन्दी को उर्दू से स्वतन्त्र भाषा माननेवालों का व्याकरण संस्कृत-व्याकरण का अनुसरण करता था। किन्तु, संस्कृत-व्याकरण के आधार पर लिखे जाने वाले व्याकरणों में भी कुछ-न-कुछ अँगरेजी-व्याकरण की छाया रहती थी। इसका प्रधान कारण यह था कि इस काल के अधिकांश व्याकरण किसी-न-किसी शिक्षाधिकारी की आज्ञा से रचे तथा प्रकाशित किये गये थे और शिक्षा-विभाग अँगरेजी-व्याकरण के अनुसरण पर लिखे गये व्याकरण को ही अधिक पसन्द करता था।

सन् १८५५–१८७६ ई० तक हिन्दी-व्याकरण-निर्माण की दिशा में पं० श्रीलाल के अतिरिक्त पं० रामजसन, बाबू नवीनचन्द्र राय, शीतलप्रसाद गुप्त, पादरी एथरिङ्गटन, पं० हरिगोपाल पाध्ये, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द प्रभृति श्रेष्ठ विद्वानों के द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हुए, किन्तु भाषा के वास्तविक स्वरूप-विश्लेषण की दृष्टि से स्थिति तबतक ज्यों-की-त्यों बनी रही, जबतक सन् १८७६ ई० में केलॉग का व्याकरण प्रकाशित नहीं हो गया। फिर भी, आरम्भ-काल की अपेक्षा विकास-काल में हिन्दी-व्याकरण के स्वरूप में अधिक निखार और स्पष्टता आयी। इसका प्रधान कारण यह था कि इस काल के अधिकांश वैयाकरण भारतीय थे, जिनका हिन्दी पर विदेशियों की अपेक्षा अधिक अधिकार था। इसके अतिरिक्त वे हिन्दी की पूर्व-परम्परा से भी परिचित थे तथा उन्हें भारतीय व्याकरण-शास्त्र का भी अल्पाधिक ज्ञान था।

हिन्दी की स्थिति :

हिन्दी-व्याकरणेतिहास के विकासकाल में शिक्षा एवं शासन दोनों क्षेत्रों में हिन्दी उपेक्षित बनी रही। शासनाधिकारी अँगरेज पहले से ही हिन्दी की उपेक्षा और उर्दू का समर्थन कर रहे थे, सर सैयद अहमद एवं गार्सां द तासी के प्रभाव से वे हिन्दी का दमन भी करने लगे। किन्तु, हिन्दी जनजीवन की भाषा थी; इसलिए, सरकार की बड़ी-से-बड़ी उपेक्षा भी उसे नष्ट करने में समर्थ नहीं थी।

विवेच्य काल में कॉलेजों एवं स्कूलों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई, किन्तु शिक्षा के माध्यम के रूप में सर्वत्र अँगरेजी ही बनी रही। माध्यमिक स्कूलों में वैकल्पिक विषय के रूप में आधुनिक भारतीय भाषाओं की पढ़ाई होती थी,

वह भी नाममात्र के लिए ही। सरकारी कार्यालयों तथा अदालतों में उर्दू का साम्राज्य रहने के कारण अभिभावक अपने बच्चे को हिन्दी की अपेक्षा उर्दू ही पढ़ाना अधिक पसन्द करते थे। मुसलमान बराबर इस प्रयत्न में लगे रहते थे कि प्राथमिक स्कूलों में भी हिन्दी के बदले उर्दू की ही पढ़ाई हो। हिन्दी-विरोधियों के नेता सर सैयद अहमद हिन्दी को 'गँवारी बोली' बताकर अँगरेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार कोशिश करते आ रहे थे। सन् १८६८ ई० में पश्चिमोत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष एम० एस० हैवेल ने यहाँ तक लिखा था कि "यह अधिक अच्छा होता, यदि हिन्दू-बच्चों को उर्दू सिखायी जाती, न कि एक ऐसी 'बोली' में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता, जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"[१]

इस काल में प्रारम्भ से अन्त तक सरकारी अदालतों एवं कार्यालयों में उर्दू का एकछत्र आधिपत्य बना रहा। सन् १८५७ ई० की जनक्रान्ति के पश्चात् हिन्दीप्रेमियों ने हिन्दी की स्वत्वोपलब्धि के लिए जमकर प्रयत्न करना आरम्भ किया। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, राजा लक्ष्मण सिंह, श्रीकेशवचन्द्र सेन, पं० श्रद्धाराम फुलौरी, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ने अपने लेखों तथा भाषणों के द्वारा इसे सरकारी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में स्थान दिलाने का बहुत अधिक प्रयत्न किया। फलतः, सन् १८६० ई० के बाद हिन्दी का प्रचार तेजी से बढ़ा। सन् १८७०–१८७५ ई० के बीच हिन्दी-उर्दू-सङ्घर्ष चरम सीमा पर पहुँचता दिखाई देने लगा। एक ओर भारतेन्दु-मण्डल के हिन्दीप्रेमी पत्र-पत्रिकाओं में विविध लेखादि लिखकर, सभा-गोष्ठियों में भाषण देकर तथा अन्य विविध प्रकार से हिन्दी को अदालतों एवं कार्यालयों में स्थान दिलाने का व्यापक आन्दोलन चलाते रहे, तो दूसरी ओर मुसलमान नेताओं एवं अँगरेजों की सारी कोशिशें उस आन्दोलन को नाकाम कर देने में लगी रहीं। हिन्दी के लिए उस सङ्घर्ष का एक हितकर परिणाम यह हुआ कि हिन्दीप्रेमियों के भीतर उसके उत्थान एवं स्वत्व-रक्षा के प्रति अधिक जागरूकता आयी; साथ ही, अनेक लेखकों एवं सुधी विद्वानों का ध्यान उसके विविध अङ्गों की पूर्त्ति की ओर भी आकृष्ट हुआ। परिणामतः, इस युग में विदेशियों से अधिक भारतीय विद्वानों ने ही हिन्दी-व्याकरण की रचना की, जिनका विवेचन काल-क्रम से आगे किया जायगा।

---

१. हि० सा० का इ० : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४४४।

विकास-काल के प्रमुख वैयाकरण

पं० श्रीलाल :

संस्कृत-व्याकरण को आधार बना कर हिन्दी-व्याकरण की रचना का प्रारम्भिक प्रयास करने वाले भारतीय विद्वानों में बिहार के पं० श्रीलाल का नाम अग्रगण्य है। उनका 'भाषा-चन्द्रोदय' अर्थात् 'भारतवर्षीय हिन्दी-भाषा का व्याकरण' जो 'श्रीमन्महाराजाधिराज पश्चिमदेशाधिकारी श्रीयुत् लफ्टनेण्ट गवर्नर बहादुर की आज्ञानुसार साहिब डरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन बहादुर के सररिश्ते में'[1] रचा गया था तथा सर्वप्रथम सन् १८५५ ई० में प्रकाशित हुआ था; हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में एक युगान्तरकारी प्रयास था। उसके पूर्व के प्रायः सभी हिन्दी-व्याकरणों की रचना अँगरेजी-व्याकरण के ढाँचे को आधार बना कर की गयी थी। पण्डित जी ने पहले-पहल संस्कृत-व्याकरण के आधार पर हिन्दी का व्याकरण लिख कर, उसे एक अधिक अनुकूल तथा अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य आदर्श प्रदान किया।

ग्रन्थ के प्रारम्भिक ११ पाठों में, जो प्रायः पूर्वपीठिका के रूप में प्रस्तुत हैं, व्याकरण की परिभाषा[2] तथा देवनागरी की वर्णमाला का परिचय दिया गया है। स्वर-विवेचन के प्रसङ्ग में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत; अनुस्वार, विसर्ग, अनुनासिक चिह्न (चन्द्रबिन्दु), गुण, वृद्धि, हल्चिह्न तथा मात्राचिह्न, सब पर प्रकाश डाला गया है।[3] व्यञ्जन वर्णों में क्ष, त्र और ज्ञ की उपस्थिति का कारण स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि "वे वर्णमाला के अक्षरों के संयोग से, अर्थात् मेल से ही बन जाते हैं, कुछ अलग नहीं हैं, जैसे—क् ष मिलकर क्ष, त् र मिलकर त्र और ज् ञ मिलकर ज्ञ होता है। इन्हें वर्णमाला के साथ इसलिए पढ़ाते हैं कि इनमें उन अक्षरों का कोई चिह्न प्रकट नहीं होता, जिनके संयोगसे ये बने हैं। इन्हें छोड़ और संयोगियों से मिलनेवाले अक्षरों का कुछ रूप दिखाई देता है।"[4]

---

१. पं० श्रीलाल : भा० च०, मुख पृष्ठ।

२. "व्याकरण विद्या से लोगों को शुद्ध और अशुद्ध शब्दों की विवेचना और उनके योजना का ज्ञान होता है।"—उपरिवत्, पृ० ३।

३. उपरिवत्, पृ० ३–६।

४. उपरिवत्, पृ० ६–७।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् मात्रा सहित व्यञ्जनों के रूप, अर्थात् वर्त्तनी बतायी गयी है, जिसमें कृ, कॄ, क्लृ और क्लॄ रूप भी दिखाये गये हैं।[१] फिर, संस्कृत-व्याकरण के आधार पर स्वरों एवं व्यञ्जनों के उच्चारण-स्थान निरूपित किये गये हैं।[२] मूर्द्धन्य ध्वनियों में ड ढ के साथ ड़ ढ़ का भी विवेचन है। इस प्रकरण के अन्त में और भी कई छोटी-मोटी, किन्तु उपयोगी बातों का उल्लेख किया गया है; जैसे—किसी अक्षर के बाद 'कार' जोड़ कर उसका परिचय देने की पद्धति; यथा—ककार, रकार आदि; रेफचिह्न के प्रयोग का नियम, 'संयोग' की परिभाषा, व्यञ्जनों को संयुक्त करने के नियम, संयुक्त व्यञ्जनों की मात्रा-गणना तथा उच्चारण की पद्धति आदि।[३] पण्डित जी ने संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण तथा मात्रा-गणना की दृष्टि से संस्कृत और हिन्दी में अन्तर बताते हुए लिखा है कि "संस्कृत में संयोगी की आदि का ह्रस्व स्वर सर्वत्र दीर्घ बोला जाता है, परन्तु भाषा में ऐसा कहीं होता है और कहीं नहीं। भाषा में संयोगी की आदि का स्वर वहीं द्विमात्रिक बोला जाता है, जहाँ कि एक ही अक्षर का द्वित्व हो, जैसे—कुत्ता।........वर्गों के दूसरे अक्षर ख छ ठ थ फ का द्वित्व हो, तो द्वित्व में से पूर्व के अक्षर को अपने-अपने वर्ग का पहला अक्षर क च ट त प हो जाता है, जैसे—रख्खा—रक्खा, अछ्छा—अच्छा। भिन्न अक्षर के संयोग से पूर्व का एकमात्रिक बहुधा भाषा में ह्रस्व ही बोला जाता है, जैसे—सत्रह, इक्यावन आदि और संस्कृत के ऐसे शब्द, जो भाषा में आते हैं, उनके बोलने में कवि की इच्छा है, भाषा की रीति पर बोलें वा संस्कृत की रीति पर।"[४]

प्रथम अध्याय में शब्दों का विवेचन है। इसमें सर्वप्रथम शब्द की परिभाषा[५] दी गयी है, जो बहुत स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ७।
२. उपरिवत्, पृ० ७–८।
३. उपरिवत्, पृ० ९।
४. उपरिवत्, पृ० ९–१०।
५. "यद्यपि शब्द आघात अर्थात् वस्तुओं के भिड़ने से भी होता है, परन्तु व्याकरण विद्या में वाचक शब्दों का वर्णन है, इसलिए यहाँ उन्हीं शब्दों को जानना चाहिए, जो मुख से बोले जाते हैं। उच्चारण-मात्र को शब्द कहते हैं। वह केवल स्वर या स्वर-व्यञ्जन के योग से बनता है, परन्तु केवल व्यञ्जन से नहीं बनता।"—उपरिवत्, पृ० ११।

शब्द से ध्वनि और पद दोनों का अर्थ ग्रहण किया गया हो। इस प्रसङ्ग में यह भी बताया गया है कि हिन्दी-शब्दों में संस्कृत की कौन-कौन-सी ध्वनियाँ नहीं आतीं तथा कौन-कौन-सी ऐसी नवीन ध्वनियाँ आ गयी हैं, जो संस्कृत में नहीं हैं।[1] यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'भाषा-चन्द्रोदय' के पूर्व के किसी भी हिन्दी-व्याकरण में संस्कृत और हिन्दी-ध्वनियों के परस्पर तुलनात्मक विवेचन का ऐसा प्रयास नहीं किया गया था।

हिन्दी में दीर्घ उपधा[2]वाले प्रायः सभी अकारान्त शब्दों का अन्तिम स्वर 'अ', ध्वनि वैज्ञानिक कारणों से, ह्रस्वार्द्ध उच्चरित होता है। इस तथ्य को नहीं समझ सकने के कारण, हिन्दी के अनेक पुराने तथा नये वैयाकरणों ने हिन्दी के अधिकांश अकारान्त शब्दों को हलन्त माना है। यह भूल पं० श्रीलाल जी से भी हुई थी। उन्होंने हिन्दी के धन, वन, आस, विकास, पत्थर, चाल आदि सभी अकारान्त शब्दों को हलन्त माना था।[3] किन्तु, उनके समय में भी, प्रयोग में लोग ऐसे शब्दों को अकारान्त ही माना करते थे, जिसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'कवि लोग इन्हीं को काम पड़े पै छन्द में अकारान्त मानकर उसकी एक मात्रा गिन लेते हैं।'[4]

पण्डित जी ने शब्द को पहले सार्थक और निरर्थक दो वर्गों में बाँटा है, जिनके लिए उन्होंने क्रमशः वाचक और अपशब्द शब्दों का प्रयोग किया है। फिर वाचक शब्द के तीन भेद माने हैं—१. संज्ञा, २. सङ्केतवर्ण और ३. क्रिया।[5] उनके अनुसार 'संज्ञा और क्रिया का अर्थ स्वाश्रय रहता है,

---

१. "ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ये स्वर और ङ ञ ण श ष ञ, ये व्यञ्जन भाषा के शब्दों में नहीं आते। जिस शब्द में इनमें से कोई अक्षर होगा, वह अवश्य संस्कृत का होगा।......इस देशभाषा में अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ, ये ही दस स्वर आते हैं, परन्तु इस भाषा में दो स्वर ऐसे भी आते हैं, जिनका उच्चारण संस्कृत में भी नहीं हैं, जैसे—ऐ ओर औ। इनका उच्चारण 'है' और 'चौड़ा' में देखो।"—भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ११-१२।

२. शब्द के अन्तिम स्वर के पूर्व का स्वर।

३. "शब्द के अन्त में हल् हो, तो उसके नीचे हल् चिह्न लगाने की कुछ आवश्यकता नहीं, जैसे—इस, उस। हलन्त के आगे 'ने', 'को' आदि वर्ण वा कोई शब्द आवे, तो हल् का चिह्न कर देते हैं, जैसे—इस्का-इस्का, उस्का-उस्का।"—भाषा-चन्द्रोदय, पृ० १२।

४. उपरिवत्।

५. उपरिवत्, पृ० १३।

अर्थात् इनका अर्थ जानने में दूसरे की सहायता आवश्यक नहीं होती, जैसे—'धन कहने से द्रव्य का बोध विना दूसरे पद की सहायता के होता है। ऐसे ही 'खाता' है, इस क्रिया का अर्थ भी दूसरे पद की सहायता के विना ही जाना जाता है, परन्तु सङ्केतवर्णों के अर्थ में दूसरे पद की सहायता आवश्यक है।'[१] सङ्केतवर्ण के अन्तर्गत उन्होंने विभक्तियों (परसर्गों), जैसे—ने, को, से आदि को तथा प्रत्ययों[२] को स्थान दिया है।

'भाषा-चन्द्रोदय' में संज्ञा का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है।[३] 'एक में उसके तीन भेद किये गये हैं, रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि और दूसरे में उसको पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है—जातिवाचक, प्रकृतिनामवाचक गुणवाचक, भाववाचक और संज्ञाप्रतिनिधि। इनमें से प्रकृतिनामवाचक शब्द का व्यक्तिवाचक के अर्थ में, गुणवाचक का विशेषण तथा क्रियाविशेषण के अर्थ में और संज्ञा-प्रतिनिधि का मुख्य रूप से सर्वनाम के अर्थ में प्रयोग हुआ है। इस प्रसङ्ग में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि 'भाषा-चन्द्रोदय' के पूर्व के प्रायः सभी हिन्दी-व्याकरणों में, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रियाविशेषण को शब्द-भेद के अन्तर्गत स्थान दिया गया था। पं० श्रीलाल ने, सर्वप्रथम, संस्कृत-व्याकरण का आधार लेकर, इन्हें शब्द के वर्ग (संज्ञा) का उपवर्ग माना।

संज्ञा के उपर्युक्त सभी भेदों के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक भेद-अभेद का विवेचन पूर्णरूप से संस्कृत व्याकरण के अनुसार किया गया है। जातिवाचक और प्रकृतिनामवाचक को प्रायः अभिन्न प्रमाणित करते हुए पण्डित जी ने लिखा है, "तत्त्वतः कोई संज्ञा प्रकृतिनामवाचक नहीं है; क्योंकि किसी भी संज्ञा का एक ही अर्थ नहीं होता, यथा—देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम के और मनुष्य इकट्ठे हो जायँ, तो वे शब्द भी जातिवाचक ही गिने जायेंगे; क्योंकि देवदत्त के पुकारने से सभी देवदत्त बोल उठेंगे। फिर, क्योंकर वह संज्ञा प्रकृतिनामवाचक हो सकती है ? हाँ, जहाँ तक उस नाम का और कोई मनुष्य उसके साथ में नहीं हो, तो उस नाम को प्रकृतिनामवाचक कह सकते हैं।

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० १३।

२. "प्रत्यय उसे कहते हैं, जो कि आप इकल्ला अर्थ न देवे और पद के सङ्ग आने से उसके पूर्व अर्थ में कुछ विशेषता देय।"—उपरिवत्।

३. उपरिवत्, पृ० १४।

घोड़ा जातिवाचक है, परन्तु किसी मनुष्य को एक ही घोड़ा हो, तो 'घोड़ा भाग गया', यह कहते ही उसी एक घोड़े को समझ लेगा। ऐसी जगह जाति-वाचक भी प्रकृतिनामवाचक हो जाता है।"[1] प्रकृतिनामवाचक संज्ञा वस्तुतः किस अर्थ में जातिवाचक से भिन्न है, इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'प्रकृतिनामवाचक उसी संज्ञा को कहते हैं, जिससे विशेषकर एक ही वस्तु का ज्ञान हो, परन्तु ठीक प्रकृतिनामवाचक, विशेषण लगाने से होता है, जैसे—'घोड़ा' जातिवाचक है, पर 'काला घोड़ा' उसकी अपेक्षा प्रकृतिनामवाचक है। कदाचित् काले घोड़े भी बहुत-से हों, तो फिर 'काला घोड़ा' भी जातिवाचक हो जायगा। उनमें से भी एक घोड़ा छाँट कर कहना होगा तो और कुछ विशेषण लगाना पड़ेगा।"[2]

गुणवाचक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "गुणवाचक उसे कहते हैं, जिससे गुण पाया जाय, जैसे—काला-पीला आदि। गुणवाचक केवल (अकेले) नहीं आते, किन्तु विशेषण होके किसी विशेष्य के साथ आते हैं, जैसे—मीठा पानी, खट्टा नीबू आदि।'[3] अन्य संज्ञाओं से गुणवाचक बनाने की पद्धति पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि "बहुधा हलन्त और अकारान्त संज्ञाओं के आगे 'वान्' अथवा 'ई' लगाने से गुणवाचक होता है, जैसे—गुणवान् और गुणी।............ कहीं-कहीं ईकारान्त जातिवाचक को ह्रस्व करके 'या' लगाने से गुणवाचक हो जाता है, जैसे—मिट्टी—मटिया।............धातुवाचक के अन्त को ह्रस्व करके हकार लगाकर आगे 'री' बढ़ाने से गुणवाचक हो जाता है, जैसे—सोना—सुनहरी, रूपा—रुपहरी। ऐसे और भी अपनी युक्ति से जानो।"[4]

भाववाचक की परिभाषा या स्वरूप-विवेचन न देकर, केवल उसकी व्युत्पत्ति के नियमों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रसङ्ग में पण्डित जी ने लिखा है कि "संस्कृत में तो जातिवाचक और गुणवाचक शब्दों के अन्त में 'त्व' और 'ता' आने से भाववाचक होता है, जैसे—मृदुत्व, मृदुता, मनुष्यत्व, मनुष्यता; परन्तु भाषा में पन, ई, स, प, ट, प्रत्यय होने से भाववाचक होते हैं, जैसे—भलापन, भलाई। जिन पदों में ई, स, पा प्रत्यय होती हैं, उनका आदि अक्षर

---

१. भाषा-चन्द्रोद, पृ० १५।

२. उपरिवत्, पृ० १६।

३. उपरिवत्।

४. उपरिवत्।

का स्वर ह्रस्व हो जाता है। ह्रस्व करने की रीत यह है—आ को अ; ई, ए, ऐ को इ; ऊ, ओ, औ को उ। जिस शब्द के अन्त में स्वर होता है, उसके आगे तो 'ई' प्रत्यय अलग ही रहती है, जैसे—भलाई, परन्तु हलन्त से आगे 'ई' आती है, तो उसका अन्त हल् 'ई' में जा मिलता है, जैसे—राजपूत से 'ई' प्रत्यय की तो 'राजपूती' भाववाचक हुआ।"[१]

संज्ञा-प्रतिनिधि के पाँच भेद किये गये हैं[२]—सर्वनामवाचक, निश्चयवाचक, अनिश्चयवाचक, सम्बन्धवाचक तथा परिप्रश्नवाचक। इनका विस्तृत परिचय सर्वनाम के प्रकरण में दिया गया है। प्रथम अध्याय के अन्त में संज्ञा के लिङ्ग पर अत्यन्त सामान्य ढङ्ग से विचार किया गया है।[३] उसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है।

दूसरे अध्याय में शब्द की अवस्थाओं के रूप में कारकों का विवेचन है। शब्द की आठ अवस्थाएँ मानी गयी हैं और तदनुसार क्रमशः कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन, ये आठ कारक माने गये हैं।[४] कारक-चिह्नों को विभक्ति-प्रत्यय कहा गया है। सबका परिचय मुख्य रूप से संस्कृत-व्याकरण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। सम्बन्ध-कारक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "सम्बन्ध योग को कहते हैं। वह दो में रहता है, जिनमें से एक सम्बन्धी और दूसरा जात-सम्बन्धी होता है। सम्बन्ध की विभक्ति 'का, की, के', ये जात सम्बन्धी ही से होती है और वह विभक्ति-समेत सम्बन्धी का विशेषण होता है, जैसे—राजा का घोड़ा, यहाँ घोड़ा सम्बन्धी और राजा जात-सम्बन्धी। 'राजा का' पद घोड़े की विशेषता बताता है, इसलिए विशेषण भी है।"[५]

कारकों की परिभाषा तथा चिह्नों को स्पष्ट करने के पश्चात् कारक-रचना के नियमों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रसङ्ग में, लिङ्ग-वचन के अनुसार होने वाले परिवर्त्तनों का सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया गया है।[६] अकारान्त

१. यभाषा-चन्द्रोदय, पृ० १७।
२. उपरिवत्, पृ० १८।
३. उपरिवत्, पृ० १८-१९।
४. उपरिवत्, पृ० २०।
५. उपरिवत्, पृ० २१।
६. उपरिवत्, पृ० २२-३२।

शब्दों का विवेचन हलन्त मानकर किया गया है।[१] हलन्त (या अकारान्त) पु० बालक, स्त्री० चील; आकारान्त पु० लड़का, स्त्री० गैया; इकारान्त पु० हरि, स्त्री० बुद्धि; ईकारान्त पु० माली, स्त्री० घोड़ी; उकारान्त पु० भानु, स्त्री० धेनु; ऊकारान्त पु० शालू, स्त्री० झाड़ू तथा एकारान्त पु० पाण्डे शब्द के रूप सभी कारकों के दोनों वचनों में प्रदर्शित किये गये हैं।[२] इन सभी शब्दों के रूप पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की अपेक्षा अधिक शुद्ध हैं। आकारान्त शब्द के प्रसङ्ग में बताया गया है कि "भाषा में कितने ही आकारान्त शब्द ऐसे हैं कि जिनके कर्त्ताकारक में एकवचन के समान बहुवचन भी होता है और शेष साधना स्त्रीलिङ्ग शब्दों से मिलती है।"[३] ऐसे शब्दों में काका, मामा, नाना मैया आदि के उल्लेख हैं। दादा के रूप कर्त्ता बहुवचन में दादा और दादे, दोनों को शुद्ध स्वीकार किया गया है।[४]

तीसरे अध्याय में संज्ञा-प्रतिनिधियों का सविस्तर विवेचन है। इस प्रसङ्ग में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि पण्डित जी ने पाँच संज्ञा-प्रतिनिधियों में से केवल सर्वनामवाचक (पुरुषवाचक और निजवाचक सर्वनाम) और निश्चयवाचक को ही स्पष्ट रूप से सर्वनाम कहा है, शेष अनिश्चयवाचक, सम्बन्धवाचक और परिप्रश्नवाचक को प्रायः उनके अपने नामों से ही विवेचित किया है। इसके विपरीत अन्य पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों ने उन्हें सर्वनाम के भेद के अन्तर्गत परिगणित किया था।

सर्वनाम की विशेषता एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए पण्डितजी ने लिखा है कि 'सर्वनाम संज्ञा नाममात्र की वाचक होती है। इसी से उसे सर्वनाम कहते हैं। जिस नाम को कह कर फिर उसके कहने का काम पड़ता है, तो उसकी जगह सर्वनाम लाते हैं। उससे वही संज्ञा जानी जाती है और उससे यही लाभ है कि बार-बार कोई संज्ञा नहीं कहनी पड़ती है। इससे न तो विशेष बात बढ़ती है और न वाक्य कुढङ्गा होता है। सर्वनामों की यह भी प्रकृति है कि वे पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में एक ही से बने रहते हैं।[५]

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० २२-२४।
२. उपरिवत्, पृ० ३२।
३. उपरिवत्, पृ० २६।
४. उपरिवत्, पृ० २७।
५. उपरिवत्, पृ० ३३।

इसके उपरान्त मैं, तू और वह को क्रमशः उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्य-पुरुष के रूप में प्रदर्शित करते हुए, सम्बोधन के अतिरिक्त अन्य सभी कारकों के दोनों वचनों और दोनों लिङ्गों में उनकी रूप-रचना प्रस्तुत की गयी है।[1]

'आप' के सम्बन्ध में आदरसूचक और निजत्वसूचक दोनों ही रूपों में विचार करते हुए बताया गया है कि "मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष की उत्कर्षता के लिए तू और वह को आप हो जाता है। उसके बहुवचन में कुछ विशेषता नहीं और कारक सब हलन्त पुल्लिङ्ग के समान होते हैं।'[2] फिर, निजत्वसूचक अर्थ में बताया गया है कि 'आप, यह सर्वनाम निज का वाचक हो के संज्ञा और सर्वनाम के कर्त्ता का विशेषण भी होता है, जैसे—मैं आप जाऊँगा।' तू आप आ, वह आप रहेगा।'[3] इसी प्रसङ्ग में 'अपना के सम्बन्ध में बताया गया है कि 'इस संज्ञा से निज का सम्बन्ध जाना जाता है और वह सम्बन्धवान् का विशेषण होती है, जैसे—देवदत्त अपने घोड़े पै चढ़ा चला जाता है।'[4]

निश्चयवाचक संज्ञा-प्रतिनिधि के सम्बन्ध में लिखा गया है कि 'यह संज्ञा-प्रतिनिधि निश्चयवाचक सर्वनाम है और वस्तु को प्रत्यक्ष करवाने के लिए आता है। इसके कारक तो 'वह' शब्द के ही तुल्य होते हैं परन्तु इतना विशेष है कि कर्त्ता के एकवचन में 'यह', बहुवचन में 'ये' तथा शेष एकवचन में 'इस' और बहुवचन में 'इन' और 'इन्हों' आदेश होता है।'[5] इसके पश्चात् प्रारम्भिक सात कारकों के दोनों वचनों में 'यह' का रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है, साथ ही 'इसी', 'उसी', 'इन्ही' और 'उन्हीं' की व्युत्पत्ति समझायी गयी है।[6]

अनिश्चयवाचक संज्ञा-प्रतिनिधि 'कोई' की कारक-रचना केवल एकवचन में ही प्रदर्शित की गयी है। इसके सम्बन्ध में बताया गया है कि 'इसका कर्त्ता-कारक 'कोई' होता है और शेष में 'कोई' को 'किसी' हो जाता है। इसके कारक एकवचन में ही होते हैं।[7]

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ३३-३९।
२. उपरिवत्, पृ० ३७।
३. उपरिवत्, (भा० च०), पृ० ३८।
४. उपरिवत्, पृ० ३८।
५. उपरिवत्, पृ० ३९।
६. उपरिवत्, पृ० ४०।
७. उपरिवत्, पृ० ४०।

प्रश्नवाचक संज्ञा-प्रतिनिधि 'कोन' (कौन) के रूपान्तर के सम्बन्ध में बताया गया है कि 'इसके कर्त्ताकारक के एकवचन और बहुवचन में कोन (कौन) होता है और शेष एकवचनों में 'किस' और बहुवचनों में 'किन' और 'किन्हें' तथा 'को' पूर्ववत् आदेश होता है।'[1] इसके जो रूपान्तर प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें बहुवचन रूप 'किनको', 'किनसे' आदि के साथ 'किन्हों को' 'किन्हों से' आदि रूप भी दिये गये हैं, जो प्रयोग में नहीं आते। 'क्या' और 'कुछ' को प्रश्नवाचक अव्यय के समान माना गया है।[2]

सम्बन्धवाचक संज्ञा-प्रतिनिधि के रूप में जो—सो का विवेचन है। इनके सम्बन्ध में बताया गया है कि 'जहाँ 'जो' का कारक होगा, वहाँ 'सो' का भी अवश्य होगा। 'जो' का रूप कर्त्ता के एकवचन और बहुवचन में 'जो' और शेष में 'जिन' और 'जिन्हों' कर देते हैं और कर्म की विभक्ति को पूर्ववत् आदेश होता है।................ऐसे ही 'सो' के भी कारक जानों। उसके एकवचन में 'तिस' और बहुवचन में 'तिन' और 'तिन्हों' आदेश होता है, पर कर्त्ता के एकवचन-बहुवचन में 'सो' ही होता है।'[3] इस प्रसङ्ग में यह भी बताया गया है कि उस, इस, किस, जिस और तिस, इनके सकार को 'तना' आदेश कर देने से वे परिमाण के वाचक हो जाते हैं, जैसे—उतना, इतना, कितना, जितना, तितना। प्रश्नवाचक के ही समान सम्बन्धवाचक के जो-सो की कारक-रचना में बहुवचन रूप जिनको, तिनको, जिनसे, तिनसे आदि के साथ क्रमशः जिन्होंको-तिन्होंको, जिन्होंसे-तिन्होंसे आदि रूप भी दिये गये हैं,[4] जो प्रयोग-सिद्ध नहीं हैं। अध्याय के अन्त में यह भी सङ्केत दे दिया गया है कि 'संज्ञा प्रतिनिधियों को भी 'ने' के योग में अपने-अपने उक्त आदेश होते हैं, जैसे--उसने, उनने, उन्होंने आदि।................जिस कर्त्ता में कुछ चिह्न नहीं होता, उसे प्रधानकर्त्ता और जिसमें 'ने' होता है, उसे अप्रधान कर्त्ता कहते हैं। संज्ञा-प्रतिनिधि शब्दों का सम्बोधन नहीं होता।'[5]

---

३. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ४०-४१।

७. उपरिवत्, पृ० ४०।

१. उपरिवत्, (भा० च०), पृ० ४१-४२।

२. उपरिवत्, पृ० ४२।

३. उपरिवत्, पृ० ४३।

चौथे अध्याय में क्रिया का विवेचन है। क्रिया और धातु का अन्तर स्पष्ट करते हुए पण्डित जी ने लिखा है कि 'वाक्य अर्थात् बात क्रिया से पूरी होती है और क्रिया धातु से बनती है। धातु उसे कहते हैं, जिसके अर्थ से देह का वा मन का कुछ व्यापार अर्थात् हिलना-चलना आदि पाया जाय, जैसे—खाना, करना, होना आदि।'[१] धातु को सिद्ध धातु और अनुकरण धातु के दो वर्गों में बाँटा गया है। सिद्ध धातु के अन्तर्गत 'करना' आदि को और अनुकरण धातु के अन्तर्गत हिनहिनाना, चिग्घारना आदि अनुकरण मूलक (ओनोमोटोपोयटिक) धातुओं को स्थान दिया गया है। 'ना' को धातु-चिह्न माना गया है और 'व्यापार के समुदाय' को क्रिया की संज्ञा दी गयी है।[२]

धातु के पुनः अकर्मक और सकर्मक दो भेद किये गये हैं। सकर्मक के एककर्मक और द्विकर्मक, दो वर्ग माने गये हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः खाना और लेना दिये गये हैं। द्विकर्मक में दूसरे कर्म को सम्प्रदान के रूप में आना बताया गया है, जैसे—देवदत्त ने यज्ञदत्त से पोथी ली।[३]

प्रेरणार्थक की प्रासङ्गिक चर्चा करते हुए पण्डित जी ने लिखा है कि 'प्रेरणार्थक धातु की क्रिया में पूर्वावस्था से एक-एक कर्म और भी बढ़ जाता है, अर्थात् एककर्मक धातु द्विकर्मक और द्विकर्मक धातु त्रिकर्मक हो जाती है। जहाँ धातु द्विकर्मक या त्रिकर्मक होती है, वहाँ एक कर्म तो अपने चिह्न से और दूसरा अपादान रूप से आता है और शेष तीसरा बिना चिह्न धातु के सङ्ग मिल जाता है, जैसे—देवदत्त यज्ञदत्त से पौथी लिखाता है।'[४] इसी प्रसङ्ग में अकर्मक से सकर्मक तथा प्रेरणार्थक बनाने की पद्धति समझायी गयी है तथा यह भी बताया गया है कि 'ये सब क्रिया कर्तृप्रधान होती हैं, अर्थात् कर्त्ता के लिङ्गवचन के अनुसार क्रिया का भी लिङ्ग-वचन होता है, परन्तु सकर्मक धातु हो तो सामान्य-भूत क्रिया वा उसके योग की क्रिया में कर्मप्रधान हो जाता है, अर्थात् कर्म ही के लिङ्ग-वचन के अनुसार क्रिया का भी लिङ्ग-वचन होता है।'[५]

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ४३।
२. उपरिवत्, पृ० ४४।
३. उपरिवत् (भा० च०), पृ० ४४-४५।
४. उपरिवत्, पृ० ४५।
५. उपरिपत्, प० ४६-४७।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् क्रिया के भूत, वर्त्तमान और भविष्य, तीन काल माने गये हैं, किन्तु इनके उपभेदों तथा विधि और सम्भावना को मिलाकर क्रिया को निम्नलिखित कुल दस वर्गों में सीमित किया गया है—१. हेतु-हेतुमद्भूत, २. अपूर्णभूत, ३. सामान्यभूत, ४. पूर्णभूत, ५. आसन्नभूत, ६. सन्दिग्ध-भूत, ७. वर्त्तमान, ८. विधि, ९. सम्भावना और १० भविष्यत्।[1]

पण्डित जी के अनुसार 'हेतुहेतुमद्भूत क्रिया वहाँ आती है, जहाँ कार्य और कारण का फल भूतकाल का कहना होता है। अपूर्णभूत उसे कहते हैं, जिसमें भूतकाल तो पाया जाय, परन्तु क्रिया पूर्ण न हो गई हो। सामान्यभूत-काल उसे कहते हैं, जिसमें क्रिया की पूर्णता तो पायी जाय, परन्तु भूतकाल की विशेषता न पायी जाय। पूर्णभूत उसे कहते हैं, जिसकी क्रिया भी समाप्त हो गई हो और उससे भूतकाल भी पाया जाय। आसन्नभूत क्रिया से वर्त्तमान के पास का भूतकाल जाना जाता है। वर्त्तमान का अर्थ प्रसिद्ध है। सन्दिग्ध भूतक्रिया से करी हुई क्रिया का सन्देह कहा जाता है। विधि क्रिया उसे कहते हैं, जिसमें क्रिया के कर्त्ता पै आज्ञा पाई जाय। यह क्रिया केवल मध्यम-पुरुष के लिए ही आती है। सम्भावना की क्रिया से किसी बात की चाहना जानी जाती है। भविष्यत् की क्रिया होनहार कहने के लिए कही जाती है।'[2]

क्रिया की रूप-रचना के प्रसङ्ग में लिङ्ग और वचन के कारण होने वाले विकारों को स्पष्ट करने के पश्चात् उपर्युक्त दसो वर्ग के रूपान्तर के नियम निम्नलिखित रूप में अलग-अलग समझाये गये हैं :

१. धातु के ना को ता कर देने से हेतुहेतुमद्भूत क्रिया हो जाती है; जैसे—'होना' धातु के ना को ता करने से होता हुआ।

२. हेतुहेतुमद्भूत क्रिया के आगे 'था' आने से अपूर्णभूतकाल की क्रिया हो जाती है, जैसे—होता था।

३. धातु के चिह्न ना का लोप करने से हलन्त शेष रहे, तो उसके अन्त में आ करने से बहुधा भूतसामान्य क्रिया हो जाती है, जैसे—मारा, पड़ा। परन्तु, करना की भूतसामान्य क्रिया किया और रखना की रखा होती है। धातु के ना का लोप करने से शेष आकारान्त रहे, तो उसके आगे या करने से

---

१. भागा-चन्द्रोदय, पृ० ४७।

२. उपरिवत्, (भा० च०), पृ० ४८।

वह क्रिया बन जाती है, जैसे—खाना की खाया, पढ़ाना की पढ़ाया इत्यादि। परन्तु जाना की क्रिया गया होती है। एकारान्त वा ईकारान्त शेष रहे, तो उसे ह्रस्व करके उसके आगे या कर देते हैं, जैसे—लेना–लिया, और ओकारान्त शेष रहे, तो उसके आगे अलग आ किया जाता है, जैसे—पोना–पोआ, सोना–सोआ, खोना–खोआ। परन्तु, होना की क्रिया हुआ होती है। इस प्रसङ्ग में पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनाने के नियम तथा 'ने' के प्रयोग के नियम और उससे क्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव की भी चर्चा की गयी है।

४. धातु की सामान्यभूत क्रिया के आगे 'था' का योग करने से पूर्णभूत क्रिया हो जाती है, जैसे—हुआ था, किया था।

५. वर्त्तमान क्रिया में, जिसे आगे बतावेंगे, तीनों पुरुषों के अलग-अलग (क्रमशः निम्नलिखित) चिह्न होते हैं—हूँ,—है, है—हो और है—हैं। अकर्मक धातु की तो सामान्य भूतक्रिया के आगे कर्त्ता के अनुसार इन चिह्नों के आने से आसन्नभूत क्रिया हो जाती है, परन्तु सकर्मक में ये चिह्न कर्म के अनुसार आते हैं।

६. उ० पु० होऊँ–होवें, म० पु० हो–हो और अ० पु० हो (होवे)—होवे। सकर्मक धातु में ये चिह्न भूतसामान्य क्रिया के आगे कर्म के पुरुष के, और अकर्मक में कर्त्ता के पुरुष के अनुसार होते हैं, जैसे—हुआ, होऊ किया हो।

७. हेतुहेतुमद्‌भूत क्रिया के आगे, वे ही हूँ आदि चिह्न जो आसन्नभूत क्रिया में लिख आये हैं, रखने से वर्त्तमान क्रिया हो जाती है, जैसे—होता हूँ, करता हूँ।

८. धातु के चिह्न ना का लोप करने से जो शेष रहता है, वही मध्यम पुरुष के एकवचन की विधिक्रिया होती है। उसी के आगे ओ कर देने से बहुवचन की हो जाती है। परन्तु, शेष हलन्त हो, तो उस हल् को आ में मिला देते और स्वरान्त हो, तो ओ को अलग रखते हैं। होना की विधिक्रिया एकवचन और बहुवचन दोनों ही में हो होती है। लेना और देना की विधि-क्रिया के बहुवचन में एकार का लोप करके ओकार में पूर्वहल् को मिला देते हैं, जैसे—मार–मारो, हो–होवे, खा–खाओ, ले–लो, दे–दो।

९. उ० पु०, ऊँ–एँ, म० पु० ए–ओ और अ० पु० ए—एँ। धातु के चिह्न ना का लोप करने से हलन्त शेष रहे, तो उसको इन स्वरों में मिलाने से

और स्वरान्त शेष रहे, तो ऊँ और ओ को छोड़कर शेष स्वरों में व मिलाने वा ए को य और एँ को यँ कर देने से अपने-अपने पुरुष की क्रिया हो जाती है, जैसे—मारूँ–मारें, स्वरान्त शेष का उदाहरण—खाऊँ–खावें वा खायँ। होना धातु में इतनी और भी विशेषता है कि एक पक्ष में एँ का लोप और हो को सानुनासिक कर देते हैं, जैसे—हम हों, होवें, होयँ। लेना और देना के ए का लोप करके ऊँ आदि स्वर में शेष को मिला देते अथवा जिन स्वरों में सामान्य से कह आये हैं उनमें व मिला देते हैं, जैसे—लूँ—लें, वा, लेवें, लो इत्यादि।

१०. भावनार्थ क्रिया के आगे गा कर देने से भविष्यत्काल की क्रिया हो जाती है, जैसे—होऊँगा, होंगे, होवेंगे, होयँगे।[१]

इसी प्रसङ्ग में पूर्वकालिक क्रिया बनाने की पद्धति भी समझायी गयी है, जैसे—"धातु के चिह्न ना का लोप करके शेष के आगे के, कर, करके लगा देने से पूर्वकालिक क्रिया हो जाती है, जैसे—होके, होकर, हो करके।"[२]

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् होना तथा करना क्रिया के रूप उक्त सभी वर्गों के तीनों पुरुषों, दोनों वचनों तथा दोनों लिङ्गों में प्रस्तुत किये गये हैं,[३] जो अधिकांशतः प्रयोगसिद्ध हैं। क्रिया की इतनी निर्दोष रूप-रचना हिन्दी के किसी भी वैयाकरण ने इसके पूर्व नहीं दी थी। पण्डित जी ने कर्त्तृप्रधान क्रिया के रूप के अतिरिक्त कर्मप्रधान क्रिया के रूप भी दिखलाये हैं।[४] साथ-ही-साथ उन्होंने एक 'कर्मक्रिया' की भी स्थापना की है, जिसका परिचय देते हुए लिखा है कि "उसमें कर्त्ता नहीं आता, किन्तु कर्म ही कर्त्ता के रूप में आता है। उसके बनाने की यह रीत है कि सकर्मक धातु की सामान्य भूतक्रिया के आगे जाना धातु लगा देते हैं। उसी की क्रिया कर्मक्रिया कहाती है, जैसे—किया जाता।"[५] पण्डित जी की यह 'कर्मक्रिया' अँगरेजी के 'पैसिव वॉयस' के आधार पर कल्पित प्रतीत होती है।

क्रिया-प्रकरण में योगधातु (संयुक्त क्रिया) पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि "कई धातु हैं, जो और धातुओं के सङ्ग मिलकर आती हैं। इनके

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ४९–५४।
२. उपरिवत्, पृ० ५४।
३. उपरिवत् (भा० च०), पृ० ५५–६५।
४. उपरिवत्, पृ० ६५–६७।
५. उपरिवत्, पृ० ६५।

योग से पहली क्रिया के करने में कर्त्ता की सामर्थ्य समझी जाती है, जैसे—चौकी गढ़ ला, छप्पर छा दिया, पढ़ लेता है, पढ़ देता है। ऐसी धातु का अकर्मक और सकर्मक होना पहली ही धातु से समझा जाता है। ········योगधातुओं में लेना, देना, रहना, जाना ये सब धातुओं के अन्त में आती हैं, इनके सिवाय पढ़ना आदि और धातु भी योग में आती हैं, जैसे—चौंक पड़ना, गिर पड़ना आदि।"[१]

क्रिया-प्रकरण को समाप्त करने के पश्चात् पुनः धातु की चर्चा करते हुए पण्डित जी ने बताया है कि "धातु से केवल क्रिया ही नहीं, किन्तु कर्त्तृवाचक, कर्मवाचक, भाववाचक और क्रियाद्योतक ये चार संज्ञा भी निकलती हैं।"[२] उन्होंने इन सबका परिचय देते हुए सबकी व्युत्पत्ति की पद्धति भी बतायी है।[३] कर्त्तृवाचक का उदाहरण—करने वाला, करने हारा, कर्मवाचक का—मारा हुआ, किया हुआ, भाववाचक का—मारपीट, लूट, चाह, घेरा, फेरा तथा क्रियाद्योतक संज्ञा का—मारता हुआ, लेता हुआ है।

पाँचवें अध्याय में पद-योजना के क्रम का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम विशेष्य और विशेषण के स्वरूप और सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है।[४] इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "गुणवाचक शब्द जबतक किसी जातिवाचक वा प्रकृतिनामवाचक वा भाववाचक अथवा संज्ञा-प्रतिनिधि के सङ्ग न आवेगा तबतक उसके अर्थ की योजना न होगी।··········इसीलिए, गुणवाचक शब्द का कोई लिङ्ग वा वचन नियत नहीं, किन्तु विशेष्य के ही लिङ्ग और वचन के अनुसार उसका भी लिङ्ग और वचन होता है।"[५] इसके बाद आकारान्त विशेषण में विशेष्य के लिङ्ग-वचन के कारण होनेवाले रूपान्तरों पर प्रकाश डाला गया है तथा यह भी समझाया गया है कि "विभक्ति को मानकर विशेष्य को आदेश हो वा न हो, परन्तु विशेषण आकारान्त होगा, तो उसे आदेश अवश्य होगा, जैसे—भला बालक, भले बालक इत्यादि।"[६]

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ६८।
२. उपरिवत्, पृ० ६९।
३. उपरिवत्, पृ० ६९–७०।
४. उपरिवत् (भा० च०), पृ० ७१: 'मुख्य संज्ञा को विशेष्य कहते हैं और गुणवाचक को विशेषण।'
५. उपरिवत्, पृ० ७१–७२।
६. उपरिवत्, पृ० ७३।

गुणवाचक के अतिरिक्त अन्य प्रकार के शब्द भी विशेषण का कार्य करते हैं। उनके सम्बन्ध में अलग-अलग चर्चा की गयी है तथा उनके रूपान्तर के नियम बताये गये हैं।[१] उदाहरणार्थ, संज्ञा प्रतिनिधि अर्थात् सर्वनाम के सम्वन्ध में वताया गया है कि "संज्ञा प्रतिनिधि विशेषण होके आवेगा तो उसे वचन के अनुसार आदेश होंगे, जैसे—उस घोड़े पै, उन घोड़ों पै।"[२] संज्ञा प्रतिनिधि के अतिरिक्त अव्यय (जैसे—सु–अति–कु–अ–अस–नि–निर–दुर आदि), कर्तृवाचक (जैसे—मारने वाला), कर्मवाचक (जैसे—मरा हुआ) तथा क्रियाद्योतक संज्ञाएँ (जैसे—दौड़ता हुआ) भी विशेषण के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इन सबकी चर्चा करने के पश्चात् पण्डित जी ने लिखा है कि गुणवाचक पद तो विशेषण होता ही है, परन्तु कहीं-कहीं संज्ञा भी संज्ञा का विशेषण हो जाती है। पर उसे उद्देश्य और विधेय भाव कहते हैं। उनमें विशेष्य उद्देश्य और गुणवाचक विधेय कहलाता है। वहाँ क्रिया का लिङ्ग-वचन उद्देश्य के लिङ्ग-वचन के अनुरोध से होता है, जैसे—इस कुण्ड का पानी कीचड़ हो गया। यहाँ पानी का मैलापन गुण कीचड़ पद से जाना जाता है। परन्तु कीचड़ गुणवाचक नहीं, संज्ञा है। इस कारण यहाँ उद्देश्य-विधेय भाव हुआ और उद्देश्य पानी है, इसलिए उसी के लिङ्ग-वचन के अनुसार क्रिया का भी लिङ्ग-वचन हुआ।"[३]

पण्डित जी ने क्रिया-विशेषण के लिए अलग वर्ग नहीं मानकर, उसे भी गुणवाचक (अर्थात् विशेषण) के वर्ग में ही समाहित कर दिया है। उनके अनुसार "गुणवाचक पद क्रिया के भी विशेषण होते हैं, जैसे—घोड़ा धीरे चलता है, अर्थात् घोड़े की क्रिया जो 'चलना' है, वह 'धीरे' है, इसी कारण 'धीरे' यह शब्द चलना क्रिया का विशेषण हुआ। ऐसे ही—सुन्दर लिखता है, यहाँ 'सुन्दर' पद 'लिखना' क्रिया का विशेषण हुआ।"[४]

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् वाक्य की रचना के नियम संक्षेप में बताये गये हैं। इस प्रसङ्ग में पण्डित जी ने लिखा है कि "कारक समेत संज्ञा पद और क्रिया के योग से वाक्य बनता है। यद्यपि वाक्य में सभी कारक आ सकते हैं,

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ७३–७४।

२. उपरिवत्, पृ० ७३।

३. उपरिवत् (भा० च०), पृ० ७४।

४. उपरिवत्, पृ० ७४।

परन्तु उसमें कर्त्ता और क्रिया का होना अवश्य है और क्रिया सकर्मक हो, तो उस वाक्य में कर्म को भी रखो। यह बात कर्तृप्रधान क्रिया की है। पदों की योजना का यह क्रम है कि वाक्य की आदि में तो कर्त्ता, अन्त में क्रिया और शेष कारकों की आवश्यकता हो तो, उनके बीच में रखो। परन्तु पद सब ऐसे शुद्ध होने चाहिये कि जिनके अर्थ का आपस में सम्बन्ध हो। क्योंकि; पद अनमिल होंगे तो उनकी योजना से कुछ भी अर्थ न मिलेगा और वह वाक्य भी अशुद्ध ठहरेगा।"[1] वाक्य की शुद्धता के लिए पण्डित जी ने न केवल व्याकरणिक शुद्धता को, अपितु उसमें अर्थद्योतन की क्षमता को भी अनिवार्य माना है। जिसमें वह क्षमता नहीं, वह वाक्य व्याकरण के अनुसार शुद्ध होने पर भी अशुद्ध होता है। ऐसे वाक्य को उन्होंने असम्बद्ध वाक्य कहा है, जैसे—बनियाँ बसूले से कपड़े को सींचता है।"[2]

कर्मप्रधान वाक्य के सम्बन्ध में उन्होंने बताया है कि कर्तृप्रधान क्रिया के वाक्य में कर्त्ता का होना अवश्य है, वैसे ही कर्मप्रधान क्रिया के वाक्य में कर्म का होना अवश्य है। कर्त्ता की कुछ अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वही कर्म हो कर्त्ता के रूप में आता है और जिन कारकों का प्रयोजन होता है, उन्हें कर्म और क्रिया के बीच में रखते हैं, जैसे—घोड़ा मारा गया,............आटा चक्की से पीसा जाता है।"[3]

जिस वाक्य में विशेषण विशेष्य के साथ नहीं रहता, उसे दूरान्वयी वाक्य बताया गया है, जैसे—बड़े बैठा हुआ एक लड़का छोटा घोड़े पै चला जाता है (अर्थात्, एक छोटा लड़का बड़े घोड़े पै बैठा चला जाता है)। पण्डित जी की मान्यता है कि "यद्यपि ऐसे वाक्य अशुद्ध नहीं कहाते, पर क्लिष्ट होते हैं।"[4] इस विवेचन के पश्चात् प्रत्येक काल के वाक्यों के अलग-अलग उदाहरण देकर क्रिया का रूप स्पष्ट किया गया है। हेतुहेतुमद्भूत के सम्बन्ध में बताया गया है कि "कार्यकारण का फल कहने के लिए सदा हेतुहेतुमद्भूत ही की नहीं, किन्तु और काल की भी क्रिया आती हैं, जैसे—मैं जाता हूँ तो लाता हूँ अथवा

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ७५–७६।

२. उपरिवत्, पृ० ७६।

३. उपरिवत् (भा० च०), पृ० ७७।

४. उपरिवत्, पृ० ७८।

जाऊँगा तो लाऊँगा।"[१] सामान्यभूत के सम्बन्ध में लिखा है कि "सामान्यभूत क्रिया पास के और दूर के दोनों भूतकालों को जतलाती है, जैसे—मैंने आज दो घड़ी दिन चढ़े रोटी खाई, विक्रम राजा बड़ा प्रतापी हुआ।"[२] पूर्वकालिक क्रिया के सम्बन्ध में बताया गया है कि "जिस क्रिया को समाप्त करके दूसरी क्रिया में कर्त्ता प्रवृत्त होता है, वह क्रिया पूर्वकालिक क्रिया कहाती है। उदाहरण—देवदत्त पगड़ी बाँध के बाहर को गया।"[३] अन्य कालों के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं कही गयी है।

छठे अध्याय में कारकों पर फिर से प्रकाश डाला गया है। उसमें 'ने' युक्त कर्त्ता को अप्रधान और चिह्न-रहित कर्त्ता को प्रधान बताया गया है। प्रधान कर्त्ता की क्रिया का लिङ्ग-वचन कर्त्ता के अनुसार और अप्रधान की क्रिया का लिङ्ग-वचन, कर्म के 'को' चिह्न के नहीं रहने पर कर्म के अनुसार और रहने पर एकवचन, पुलिङ्ग और अन्यपुरुष में होता है।[४] द्विकर्मक क्रिया के सम्बन्ध में लिखा गया है कि "क्रिया में दो से अधिक कर्म होते हैं तो उनमें से एक तो मुख्यकर्म होता है और शेष कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान के रूप में आते हैं, पर वे अगले पण्डितों के अनुसार कर्म कहे जाते हैं।"[५] करण के सम्बन्ध में लिखा गया है कि साथ के अर्थ में या गुण की विशेषता जताने के लिए या हेतु का बोध कराने के लिए भी जब 'से' चिह्न आता है, तो वहाँ करण कारक होता है।[६] उदाहरण क्रमशः ये हैं—देवदत्त से मेरा वैर है, देवदत्त से यज्ञदत्त छोटा है और साँप से डर होता है। सम्प्रदान के प्रसङ्ग में लिखा गया है कि "देना धातु का मुख्य कर्म सम्प्रदान होता है। उसका चिह्न को वा के लिए है।"[७] अपादान के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं कही गयी है। सम्बन्ध पर विस्तारपूर्वक विचार करते हुए बताया गया है कि ऊपर, नीचे आदि नित्य सम्बन्धवान के पहले सम्बन्ध का आना आवश्यक है।" केवल धातु

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ७८।

२. उपरिवत्, पृ० ७९।

३. उपरिवत्, पृ० ८१।

४. उपरिवत्, पृ० ८३–८४।

५. उपरिवत्, पृ० ८६–८७।

६. उपरिवत् (भा० च०), पृ० ८८।

७. उपरिवत्, पृ० ८८–८९।

वा भाववाचक के प्रयोग में सकर्मक धातु के कर्म का 'को' चिह्न नहीं किन्तु सम्बन्ध का चिह्न 'का' आता है, जैसे—रोटी का खाना, पानी का पीना आदि।…………धातु और भाववाचक के योग में कर्त्ता से आगे भी सम्बन्ध का चिह्न आता है, जैसे—नदी का चढ़ना वा चढ़ान। सम्बन्ध के चिह्न का लोप भी हो जाता है तो उसे मानकर जो आदेश होता है, वह बना रहता है, जैसे—लड़के बिन घर सूना।"[१] अधिकरण और सम्बोधन के विवेचन में कोई विशेष बात नहीं कही गयी है।

सातवें अध्याय में 'वाक्यों को मिलाकर वार्त्ता बनाने का क्रम', अर्थात् संयोजकों पर विचार किया गया है। पण्डित जी ने उनका परिचय अव्यय कहकर दिया है। उन्होंने लिखा है कि "जिन वाक्यों में आपस में मेल होता है, उनके मिलने से बात पूरी होती है, उनमें बहुधा इन अव्ययों का काम बहुत पड़ता है—और, पुनि, फिर, ही, भी, क्यों, हाँ, कि, वा, यद्यपि, जों, तों, पर, परन्तु, न, नहीं, मानो, जैसा, वैसा, क्योंकि, अब, कब, जब, तब, क्या, कुछ आदि।" इनके सम्बन्ध में अलग-अलग विचार करते हुए बताया गया है कि इनमें से कुछ तो वाक्य, क्रिया, पद आदि को केवल जोड़ने का कार्य करते हैं और कुछ निश्चय, अनिश्चय, स्वीकृति, अस्वीकृति, प्रश्न, विशेषता, प्रतिज्ञा, अनुमान, उत्प्रेक्षा आदि को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं।[२] सबको सोदाहरण समझाने का प्रयास किया गया है। इसी प्रसङ्ग में उपमेय, उपमान, श्लेष, वक्रोक्ति आदि की भी संक्षिप्त चर्चा कर दी गयी है।[३]

संयोजक अव्ययों का विवेचन समाप्त करने के पश्चात् समास पर अत्यन्त संक्षेप में विचार किया गया है। उसमें केवल तीन समासों, तत्पुरुष, कर्मधारय और बहुव्रीहि की चर्चा की गयी है, जो अति अपर्याप्त है।[४] दस के ऊपर की संख्याओं के समास के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार सामान्य ढङ्ग से सङ्केत दिये गये हैं।[५]

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ९०।

२. उपरिवत्, पृ० ९४–१००।

३. उपरिवत्, पृ० १००।

४. उपरिवत्, पृ० १००–१०१।

५. उपरिवत्, पृ० १०१–१०३।

ग्रन्थ के अन्त में ५ दोहे दिये गये हैं,[1] जिनमें 'भाषा-चन्द्रोदय' (विवेच्य ग्रन्थ), व्याकरण, वैयाकरण तथा विद्याध्ययन के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है ।

'भाषा-चन्द्रोदय' के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पं० श्रीलाल ने विवेच्य व्याकरण की रचना में संस्कृत-व्याकरण से सहायता तो अवश्य ली थी, किन्तु उनकी दृष्टि मुख्य रूप से हिन्दी-भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति और प्रयोग पर ही थी । संस्कृत-व्याकरण का उपयोग उन्होंने व्याकरणिक कोटियों के निर्धारण, विवेचन एवं पारिभाषिक शब्दों के चयन में ही विशेष रूप से किया था । उनमें भी जहाँ कहीं उन्हें संस्कृत से हिन्दी में भिन्नता प्रतीत हुई, वहाँ उन्होंने न केवल उसका उल्लेख कर दिया, अपितु उसका स्वतन्त्र रूप से यथासाध्य विवेचन भी प्रस्तुत किया । आवश्यकतानुसार उन्होंने अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी स्वयं निर्माण किया, जैसे—परसर्ग के लिए सङ्केत-वर्ण, सर्वनाम के लिए संज्ञा-प्रतिनिधि, संयुक्त या यौगिक क्रिया के लिए योगधातु आदि । हिन्दी के तद्भवशब्दों में संस्कृत के सन्धि-नियमों का निर्वाह नहीं होते देखकर उन्होंने अपने ग्रन्थ में सन्धि-प्रकरण को बिलकुल छोड़ ही दिया । उदाहरण यथासाध्य उन्होंने हिन्दी के अपने (तद्भव) शब्दों से ही चुनकर देने की चेष्टा की । संज्ञा-शब्दों के रूपान्तर तथा क्रियाओं की रूप-रचना को पहली बार उन्होंने शुद्ध और प्रामाणिक ढङ्ग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया । इस प्रकार, 'भाषा-चन्द्रोदय' को उन्होंने यथासाध्य हिन्दी का आदर्श व्याकरण बनाने का प्रयत्न किया ।

---

१. "भाषा चन्द्रोदय भयो जग के बीच अनूप ।
ता प्रकाश सूझें परें छोटे मोटे रूप ।।१।।
बिना पढ़े व्याकरण के हुओ चहे परवीन ।
पण्डित मण्डल बीच जो सो नर हो छविहीन ।।२।।
शाब्दिक के मुखवचन कों कैसे कोउ डुलाय ।
जस दृढ़ जड़ तरु ना हिले पवन झकोरे पाय ।।३।।
यह मैं निश्चय करि कहों सुनो जु तुम दै कर्ण ।
विद्यावारिधि तरन को लखो नाव व्याकर्ण ।।४।।
तज के सबही काम को।धरु विद्या में ध्यान ।
विद्या ते नर जग लहें विषद कीर्त धन धाम ।।५।।"

—उपरिवत् (भा० च०), पृ० १०३

किन्तु, इसका यह आशय कदापि नहीं कि 'भाषा-चन्द्रोदय' सर्वथा निर्दोष और हिन्दी का एक पूर्ण आदर्श व्याकरण है। वस्तुतः, इसमें भी अल्पाधिक मात्रा में वे सारे दोष वर्त्तमान हैं, जो किसी भाषा के प्रारम्भिक व्याकरणों में हुआ करते हैं। इसमें भाषा के अनेक महत्त्वपूर्ण अंश अविवेचित ही छोड़ दिये गये हैं, जैसे—उपसर्ग, प्रत्यय, तद्धित, कृदन्त, अव्यय, सन्धि आदि। जिन पक्षों का विवेचन हुआ भी है, उनमें भी अधिकांश या तो अपूर्ण हैं, या अस्पष्ट। उदाहरणार्थ सर्वनाम, विशेषण, लिङ्ग, काल, समास आदि के प्रकरणों को लिया जा सकता है। अनेक स्थापनाएँ ऐसी भी हैं, जो वैज्ञानिक या प्रयोग-सिद्ध नहीं कही जा सकतीं, जैसे—सभी अकारान्त शब्दों को हलन्त मानना, जिन्हों को, किन्हों को आदि शब्द-रूप इत्यादि। किन्तु, इन समस्त दोषों पर विचार करते समय हमें इस यथार्थ सत्य को भी नहीं भूलना है कि जिस समय विवेच्य ग्रन्थ की रचना हुई, हिन्दी अपने साहित्यिक रूप की प्रारम्भिक निर्माणावस्था में ही थी और उसके अनेक शब्दरूप प्रयोग की भूमि पर स्थिर नहीं हो पाये थे।

उस युग के परिप्रेक्ष्य में रखकर यदि 'भाषा-चन्द्रोदय' का महत्त्व-निर्धारण किया जाय, तो इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि 'भाषा-चन्द्रोदय' अपने पूर्ववर्त्ती सभी हिन्दी-व्याकरणों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ था। इसकी श्रेष्ठता के अनेक कारणों में सबसे बड़ा कारण यह था कि भारतीय पण्डित होने के कारण पं० श्रीलाल का हिन्दी-ज्ञान अपने पूर्ववर्त्ती सभी विदेशी हिन्दी-वैयाकरणों की अपेक्षा अधिक पूर्ण और व्यवस्थित था। इस कारण वे इस भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति और प्रयोग की सूक्ष्मताओं को समझने की जितनी क्षमता रखते थे, उतनी विदेशियों के लिए सम्भव नहीं थी। दूसरा कारण यह था कि पण्डित जी ने आधार-रूप में अँगरेजी-व्याकरण के ढाँचे को न अपनाकर संस्कृत-व्याकरण का सहारा लिया था, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी अधिक उचित और उपादेय था; क्योंकि हिन्दी की, संस्कृत से जितनी निकटता है, उतनी अँगरेजी से नहीं। एक तीसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि विदेशी हिन्दी-वैयाकरणों के समान पं० श्रीलाल ने विदेशियों को हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से अपने ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। उन्होंने हिन्दी का व्याकरण लिखने के उद्देश्य से 'भाषा-चन्द्रोदय' का निर्माण

किया था। इस दृष्टि से 'भाषा-चन्द्रोदय' को हिन्दी का प्रथम सुनियोजित व्याकरण मानना अनुचित नहीं होगा।

यह हिन्दी का दुर्भाग्य था कि परवर्त्ती युग के अधिकांश हिन्दी-वैयाकरणों ने पं० श्रीलाल के आदर्श को नहीं अपनाया और वे विदेशियों के बताये अँगरेजी के भ्रामक मार्ग पर ही बहुत दिनों तक चलते रहे। इसी प्रकार कुछ लोग संस्कृत और अँगरेजी, दोनों ही भाषाओं के व्याकरणगत आदर्शों और पद्धतियों के समन्वय का व्यर्थ प्रयास करते रहे। जिसका एक दुष्परिणाम तो यह हुआ कि सैकड़ों का संख्या में लिखे गये व्याकरणों में कोई भी व्याकरण हिन्दी का अपना व्याकरण नहीं बन सका और दूसरा यह कि हिन्दी का रूप जितनी शीघ्रता से स्थिर और परिष्कृत हो जाना चाहिए था, नहीं हुआ।

पं० रामजसन :

पं० रामजसन की 'भाषातत्त्वबोधिनी' सन् १८५८ ई० में बनारस से प्रकाशित हुई थी। प्रारम्भिक संस्करण की प्रति के प्रथम पृष्ठ पर पुस्तक का परिचय इन शब्दों में मुद्रित था—भाषातत्वबोधिनी अर्थात् हिन्दी-भाषा का व्याकरण जिसे श्रीमान् अति दयावान नारमल पाठशालाध्यक्ष श्री ट्रेशम साहिब की आज्ञा से रामजसन पण्डित ने बनाया और जो बनारस नारमल कालिज में छापी गई सन् १८५८ ई०।' यह पुस्तक तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (आज के उत्तरप्रदेश) की पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित थी। सन् १८६५ ई० तक इसके दस संस्करण हो चुके थे। दसवाँ संस्करण 'बनारस चन्द्रप्रभा प्रेस कम्पनी लिमिटेड के प्रबन्ध से' छापा गया था और उसके प्रथम पृष्ठ पर पुस्तक का नाम और परिचय, प्रथम संस्करण से भिन्न रूप में, इस प्रकार छपा था—'भाषातत्वबोधिनी अर्थात् नागरी भाषा का व्याकरण। इस ग्रन्थ को संस्कृत व्याकरण के लक्षणों के अनुसार बनारस कालिज के पण्डित रामजसन ने सरल हिन्दी में बनाकर छपवाया।' यहाँ यह जिज्ञासा सहज ही किसी के मन में उठ सकती है कि प्रथम संस्करण में भाषातत्त्वबोधिनी को 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' कहा गया था, फिर आगे चलकर उसे 'नागरी भाषा का व्याकरण' क्यों कहा गया? इसका समाधान निम्नाङ्कित विवेचन से स्वतः हो जायगा।

'भाषातत्त्वबोधिनी' यथार्थतः कोई मौलिक या स्वतन्त्र कृति न होकर मुख्य रूप से पण्डित श्रीलाल के 'भाषा-चन्द्रोदय' के आधार पर लिखी गयी

पुस्तक थी। यह तथ्य, दोनों पुस्तकों के किसी भी प्रकरण को मिलाकर देखने से प्रत्यक्ष हो जाता है। दोनों में मात्र शीर्षक और विस्तार का अन्तर है। 'भाषा-चन्द्रोदय' विस्तृत व्याखयात्मक टिप्पणियों के कारण १०३ पृष्ठों का ग्रन्थ है, जबकि उन टिप्पणियों को संक्षिप्त कर देने के कारण 'भाषातत्त्वबोधिनी' कुल ५८ पृष्ठों में ही समाप्त हो गयी है। विषय की दृष्टि से दोनों में मुख्य भिन्नता केवल इतनी है कि 'भाषातत्त्वबोधिनी' के अन्त में सन्धि और छन्द के दो अतिरिक्त अनुच्छेद जुड़े हुए हैं, जो 'भाषा-चन्द्रोदय' में नहीं हैं।

पण्डित श्रीलाल ने 'भाषा-चन्द्रोदय' का परिचय 'भारतीय हिन्दी भाषा का व्याकरण' के नाम से दिया था। पण्डित रामजसन ने उसमें से 'भारतीय' शब्द को हटाकर 'भाषातत्त्वबोधिनी' को 'हिन्दी-भाषा का व्याकरण' कहा। किन्तु, बाद में उन्हें शीर्षक के शेष अंश का साम्य भी रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ, इसीलिए उन्होंने 'हिन्दी-भाषा' के स्थान पर 'नागरी-भाषा' कर दिया। इस परिवर्त्तन में, 'हिन्दी' को 'नागरी' मानने का उनका कोई सैद्धान्तिक आग्रह कदापि नहीं था; क्योंकि अपनी पुस्तक में उन्होंने अन्यत्र सर्वत्र ही हिन्दी को हिन्दी के नाम से विवेचित किया है। अतः, उपर्युक्त परिवर्त्तन का एकमात्र सम्भव कारण यही प्रतीत होता है कि वे शीर्षक की भिन्नता की आड़ लेकर ग्रन्थ की वास्तविक अमौलिकता पर आवरण डालना चाहते थे।

पुस्तक के अन्तर्गत विषय-विवेचन में भी पण्डित रामजसन ने पण्डित श्रीलाल के शब्दों को यत्र-तत्र परिवर्त्तित कर देने मात्र में ही अपनी मौलिकता की सिद्धि तथा अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली है। उदाहरणार्थ : पण्डित श्रीलाल ने शब्द के जिन दो भेदों को वाचक और अपशब्द की संज्ञाएँ दी थीं; पण्डित रामजसन ने उन्हें ही बदलकर सार्थक और निरर्थक कर दिया है। पण्डित श्रीलाल ने सार्थक शब्दों को संज्ञा, क्रिया और सङ्केत-वर्ण की कोटियों में बाँटा था; पण्डित रामजसन ने 'सङ्केत-वर्ण' के स्थान पर अव्यय शब्द को बिठा दिया है। पण्डित श्रीलाल ने संज्ञा के जिन भेदों को प्रकृतिनामवाचक और संज्ञा-प्रतिनिधि के नाम से अभिहित किया था; पण्डित रामजसन ने उन्हें ही व्यक्तिवाचक और सर्वनाम कहकर पुकारा है। इसी प्रकार, अन्य कतिपय पारिभाषिक शब्दों के लिए भी पण्डित रामजसन ने अपनी ओर से नये शब्द दिये हैं, किन्तु जहाँ तक उनके विवेचन का प्रश्न है; वह प्रायः ज्यों-का-त्यों पण्डित श्रीलाल के ग्रन्थ से उठाकर रख दिया है। धातु और वाक्य के प्रकरण में तो उदाहरण के वाक्य भी वे ही रखे गये हैं, जो 'भाषा-चन्द्रोदय' में हैं,

जैसे—शुद्ध वाक्य—राम ने रावण को मारा,[१] असम्बद्ध वाक्य—बनियाँ बसूले से कपड़े को सींचता है,[२] दूरान्वयी वाक्य—बड़े बैठा हुआ एक लड़का छोटा घोड़े पै चला जाता है[३] आदि। कहीं-कहीं तो भूल की भी यथावत् नकल कर ली गयी है।

'भाषा-चन्द्रोदय' से 'भाषातत्त्वबोधिनी' में भाषा–भाव–भूल, तीनों के समवेत अपहरण को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—(क) "धातु से केवल क्रिया ही नहीं निकलती है, उनसे कर्त्तृवाचक, कर्मवाचक भाववाचक और क्रियाद्योतक चार संज्ञा भी निकलती हैं।"[४] (ख) "कर्त्तृप्रधान क्रिया के वाक्य में कर्त्ता का होना अवश्य है, वैसे ही कर्म-प्रधान क्रिया के वाक्य में कर्म का होना अवश्य है और कर्त्ता की कुछ अपेक्षा नहीं होती।"[५] आदि।

अतः, निष्कर्ष के रूप में यह कहने में कोई अनौचित्य नहीं कि पण्डित रामजसन द्वारा लिखित 'भाषातत्त्वबोधिनी', पण्डित श्रीलाल के 'भाषाचन्द्रोदय' का ही संक्षिप्त छात्रोपयोगी रूपान्तर है।

किन्तु, 'भाषातत्त्वबोधिनी' के साथ कम-से-कम दो ऐसे ऐतिहासिक तथ्य जुड़े हुए हैं कि हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में पण्डित रामजसन के नाम की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पहला यह कि पण्डित रामजसन, ऐसे प्रथम हिन्दी वैयाकरण थे, जिन्होंने सन्धि और छन्द के प्रकरण को हिन्दी-व्याकरण में स्थान दिया था, जिनका विवेचन परवर्त्ती व्याकरण-ग्रन्थों में बहुत दिनों तक, प्रायः अनिवार्य माना माना जाता रहा। दूसरा यह कि यद्यपि पण्डित रामजसन के द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द, पण्डित श्रीलाल के पारिभाषिक शब्दों की छाया और सङ्केत पर ही गढ़े गये थे, किन्तु परवर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा पण्डित रामजसन के पारिभाषिक शब्दों को ही मान्यता प्रदान की गयी। उदाहरणार्थ—पण्डित श्रीलाल के वाचक, अपशब्द, प्रकृतिनामवाचक, संज्ञा-प्रतिनिधि आदि शब्दों के स्थान पर पण्डित रामजसन के सार्थक, निरर्थक व्यक्तिवाचक, सर्वनाम आदि शब्द ही वैयाकरणों को ग्राह्य हुए।

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ७५; भाषातत्त्वबोधिनी, पृ० ४९।
२. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ७६; भाषातत्त्वबोधिनी, पृ० ४९।
३. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ७८; भाषातत्त्वबोधिनी, पृ० ५१।
४. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ६९; भाषातत्त्वबोधिनी, पृ० ४५।
५. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ७७; भाषातत्त्वबोधिनी, पृ० ५०।

मुंशी गुलाम मुहम्मद :

मुंशी गुलाम मुहम्मद का 'कोलोकियल डायलॉग्स इन हिन्दुस्तानी' नामक ग्रन्थ सन् १८५८ ई० में बम्बई से प्रकाशित हुआ था।[१] ग्रन्थ का समर्पण लेखक ने वहीं के तत्कालीन गवर्नर सर एच० बार्टले के नाम से किया था। यह ग्रन्थ मुख्य रूप से यूरोपीय लोगों को हिन्दुस्तानी भाषा में वार्त्तालाप की शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखा गया था, किन्तु इसमें हिन्दुस्तानी का संक्षिप्त व्याकरण भी जुड़ा हुआ था।

हैदर जङ्गबहादुर, एम्० आर्० ए० एस्० :

हैदर जङ्गबहादुर की 'की टु हिन्दुस्तानी' सन् १८६१ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुई थी। वे मद्रास-युनिवर्सिटी के गवर्नर रह चुके थे और अँगरेजों के बड़े वफादार होने के कारण उनके कृपापात्रों में से थे। उन्होंने अपनी 'हिन्दुस्तानी की कुञ्जी' अँगरेजों को सरल पद्धति से हिस्दुस्तानी सिखाने के उद्देश्य से ही लिखी थी। इसकी रचना में उन्होंने अँगरेजी की किसी वर्त्तनी की पुस्तक (स्पेलिङ्ग बुक) के ढाँचे का सहारा लिया था, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है।[२]

१ नवम्बर, १८५८ ई० की अपनी राजकीय घोषणा में महारानी विक्टोरिया ने यह इच्छा व्यक्त की थी कि उनकी भारतीय तथा ब्रिटिश-प्रजा के बीच पारस्परिक भाव-विनिमय के माध्यम के रूप में कोई एक जनप्रिय भाषा गृहीत होनी चाहिए। फलतः, उनके उच्चाधिकारियों ने सभी सैनिक तथा सैनिकेतर पदों पर नियुक्ति पाने की इच्छा रखनेवाले अभ्यर्थियों के लिए हिन्दुस्तानी भाषा का समुचित ज्ञान अनिवार्य कर दिया था। इस कारण अँगरेजों की एक बड़ी संख्या के लिए इस भाषा का ज्ञान नितान्त आवश्यक

---

१. डॉ० ग्रियर्सन ने लिं० स०, वॉ० ९, भा० १, पृ० २२ में इसे सन् १८५९ ई० में लन्दन से प्रकाशित माना है। किन्तु, वह वास्तव में ग्रन्थ वा दूसरा संस्करण था। प्रथम संस्करण सम् १८५८ ई० में बम्बई से छपा था, जिसकी एक प्रति कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय में संरक्षित हैं।

२. "An easy method of acquiring Hindustani in the original character arranged on the plan of an English spelling book."—Hyder Jung Bahadoor, 'Key to Hindustani', Front page.

बन गया था।[१] हैदर साहब ने उन्हीं के हितार्थ अपनी 'कुञ्जी' की रचना की थी और इस प्रकार अपनी वफादारी तथा योग्यता का परिचय देना चाहा था।

दुर्भाग्य से भाषा-शास्त्र में समुचित प्रवेश नहीं होने के कारण तथा सम्भवतः कुछ साम्प्रदायिक एवं राजनैतिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होने के कारण, हैदर साहब ने अपने सभी पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की मान्यता के विपरीत 'हिन्दुस्तानी भाषा' से केवल उर्दू-भाषा का तात्पर्य ग्रहण किया था।

'हिन्दुस्तानी' का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि 'हिन्दुस्तानी, जो हिन्दुस्तान के समस्त मुस्लिम-जनसमुदाय की भाषा है; अरबी, फारसी और हिन्दी के मिश्रण से बनी हुई है, जिनमें से प्रथम दो तो उनके पितृपक्षीय पुरखों (पैटर्नल एनसेस्टर्स) की और अन्तिम मातृपक्षीय पुरखों (मैटर्नल एनसेस्टर्स) की भाषा रही है। चूँकि हिन्दुस्तानी को कमोबेश हिन्दू भी समझ लेते हैं, इसीलिए यह इस देश की सर्वसामान्य भाषा कही जाती है।[२]

---

१. "The anxious wish expressed by Her Majesty Queen Victoria in her most gracious proclamation of the Ist of November 1858, that an intercourse of the most friendly and intimate nature should be cultivated between the Indian and British subjects and the determination of the authorities that all their officers, whether Civil or Military should, by possessing a competent knowledge of the Hindustani tongue, be the better qualified for fully and efficiently discharging their respective duties, have rendered the acquirement of that language indispensably necessary for a very numerous class of English man."—Ibid, Preface.

२. "Hindustani, the native language of the entire Musalman population of India, is a mixture of three different ones Viz. the Arabic, the Persian and the Hindi : the two first having been the idiom used by the paternal and the last that spoken by the maternal ancestors of that people, but from the cercumstances of Hindustani being more or less understood by the Hindoos also, it is regarded as the general language of India."—Ibid.

हिन्दुस्तानी के उत्थान का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "अपने प्रारम्भिक काल में हिन्दुस्तानी घरेलू बोलचाल की तथा कविता के सामान्योपयोग की भाषा थी। देश पर अँगरेजों का आधिपत्य होने के पूर्व; यह न तो यहाँ की जनसामान्य-भाषा बन पायी थी और न इसका रूप ही श्रेण्य साहित्य की रचना के अनुकूल बन पाया था। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ होने के पश्चात् सरकार की आज्ञा से इसके व्याकरण लिखे गये तथा कतिपय उपयोगी फारसी-ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद हुआ साथ ही अनेक अँगरेज उच्चाधिकारियों ने तो इस भाषा का ऐसा समुचित और पर्याप्त ज्ञान अर्जित किया कि वे श्रेष्ठ लेखकों के रूप में विख्यात हो गये। उन विद्वानों में हण्टर, गिलक्राइस्ट, शेक्सपिअर तथा फॉर्बेस के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। फॉर्बेस का व्याकरण और कोष तो इस भाषा के श्रेष्ठतम ग्रन्थों में परिगणित होने योग्य हैं, जिनसे उनके भाषा सम्बन्धी विलक्षण पाण्डित्य का प्रमाण मिलता है।"[१] हैदर साहब के ग्रन्थ की पूरी भूमिका इसी प्रकार की चाटुकारिता एवं भ्रामक स्थापनाओं से भरी हुई है।

जहाँ तक ग्रन्थ में विषय-विवेचन का सम्बन्ध है, वह इतना स्थूल, अमौलिक और सामान्य-स्तरीय है कि उसकी चर्चा भी यहाँ अपेक्षित नहीं मानी जा सकती। प्रारम्भ के कुछ पृष्ठों में व्याकरण की स्थूल बातें हैं और शेष भाग में अँगरेजी-उर्दू कोष है। पुस्तक में केवल रोमन और फारसी लिपि का प्रयोग किया गया है। देवनागरी की वर्णमाला तक भी कहीं नहीं दी गयी है। इस प्रकार, 'हिन्दुस्तानी' को केवल 'उर्दू' के अर्थ में रूढ़ बताते हुए लेखक ने उर्दू को ही सम्पूर्ण देश की सर्वमान्य तथा सर्वाधिक लोकप्रिय भाषा प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

सर मोनियर विलियम्स :

सर मोनियर विलियम्स अपने युग में भारतीय भाषाओं के इने-गिने विशेषज्ञों में से थे। उन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी भाषा सम्बन्धी भी कई पुस्तकों की रचना की थी। उनका 'रुडिमेण्ट्स ऑफ हिन्दुस्तानी ग्रामर' नामक एक हिन्दी व्याकरण सन् १८५८ ई० में कैल्टेनहम से प्रकाशित हुआ था।[२] उसी

---

१. Ibid.

२. Ling. Sur. of India, v. 9, part I, p. 22.

वर्ष लन्दन से उनका दूसरा ग्रन्थ 'ऐन ईजी इण्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ हिन्दुस्तानी' प्रकाशित हुआ।[१] फिर, सन् १८६० ई० में लन्दन से ही 'हिन्दुस्तानी प्राइमर' का प्रकाशन हुआ, जिसमें व्याकरण की प्रारम्भिक बातों के साथ-ही-साथ लघु कोष, मुहावरे, कहानियाँ आदि का सङ्कलन भी था।[२] हिन्दी विषयक उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ए प्रैक्टिकल हिन्दुस्तानी ग्रामर' था जो सन् १८६२ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था।[३] डाउसन के अनुसार वह पूर्ववर्त्ती सभी व्याकरणों से श्रेष्ठ था। उसकी एकमात्र कमी यही थी कि वह पूर्णरूप से रोमन लिपि में ही लिखा गया था, जिसके कारण उसके द्वारा हिन्दुस्तानी लिपि का ज्ञान लोगों को नहीं होता था।[४] डाउसन के अतिरिक्त अन्य परवर्त्ती विदेशी वैयाकरणों ने भी मोनियर विलियम्स के उक्त ग्रन्थ का सादर उल्लेख किया है।

नवीन चन्द्र राय :

नवीन चन्द्र राय का 'नवीन चन्द्रोदय' सन् १८६८ ई० में प्रकाशित हुआ था। नवीन बाबू तथा उनके ग्रन्थ का परिचय देते हुए डॉ० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है कि 'बाबू नवीन चन्द्र राय एक बङ्गाली सज्जन थे जिन्होंने पञ्जाब में हिन्दी-प्रचार का प्रशंसनीय कार्य किया था। इन्हीं के अथक उद्योग से पञ्जाब विश्वविद्यालय में 'प्रॉफिसिएन्सी' और 'हाइ प्रॉफिसिएन्सी' नाम की दो परीक्षाएँ हिन्दी में नियत हुईं। उन्हीं परीक्षाओं के पाठ्क्रम के लिए सम्वत् १९२५ (सन् १८६८ ई०) में श्री नवीनचन्द्र राय ने 'नवीन चन्द्रोदय' नामक व्याकरण

---

१. Ibid.
२. Ibid.
३. Ibid.
४. "The Grammar of Prof. Monier Williams made a great step in advance, and the author of this book fully admits his obligations to it, for the help it has given him as a teacher, and for the assistance it has afforded in the preparation of this work. But Prof. Williams' Grammar is printed entirely in the Roman character, and is unfitted for the use of young officials who have to read and write the language in the character which the natives themselves employ."—John Dowson, 'A Gram. of the Urdu or Hindustani' preface.

ग्रन्थ की रचना की। इसकी भूमिका में बाबू साहब ने 'उर्दू मार्तण्ड' के सम्बन्ध में लिखा है कि "उसमें यद्यपि हिन्दी-शब्दों के रूप सिद्ध हुए हैं, वस्तुतः उसका उद्देश्य उर्दू भाषा के नियम-ज्ञापन से है, इसलिए हिन्दी के यथार्थ व्याकरणों की गिनती में से उसे निकाल देना चाहिए।"[१] 'नवीन चन्द्रोदय' से पूर्व हिन्दी व्याकरणों में संस्कृत शब्द (तत्सम), जो हिन्दी में व्यवहृत होते हैं, उनके नियम नहीं दिये गये थे; क्योंकि तत्कालीन शिक्षा-विभाग की भाषा सम्बन्धी नीति यही थी कि वे तत्सम शब्दों को हिन्दी मानते ही नहीं थे और तत्सम प्रधान हिन्दी को वे एक नये 'उच्च हिन्दी' (हाइ हिन्दी) नाम से पुकारते थे। 'नवीन चन्द्रोदय' इस दृष्टि से हिन्दी का पहला व्याकरण था, जिसमें तत्सम शब्दों के लिए भी नियम दिये गये थे।[२] यह व्याकरण अपने युग में पर्याप्त लोकप्रिय हुआ था।

शीतल प्रसाद गुप्त :

शीतल प्रसाद गुप्त की 'शब्दप्रकाशिका' सन् १८७० ई० में, मुंशी नवल किशोर यन्त्रालय, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। गुप्तजी उन्नाव के गवर्नमेण्ट स्कूल में हेडमास्टर थे। उन्होंने उक्त व्याकरण-ग्रन्थ की रचना 'श्रीमद्विलियम हैण्डफोर्ड साहब बहादुर अवधदेशीय डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन की आज्ञानुसार'[३] की थी।

'शब्द प्रकाशिका' कुल ५९ पृष्ठों में लिखा गया हिन्दी का व्याकरण है। यह अक्षरबोध, पदबोध, वाक्यबोध तथा छन्दोबोध के चार खण्डों में विभक्त है।[४] सबका विवेचन सरल तथा सामान्य है। चूँकि यह स्कूलों के पाठ्यक्रम में निर्धारित कराये जाने के उ`श्य से ही लिखा गया है, इस कारण लेखक ने इसे यथासाध्य छात्रोपयोगी बनाने का प्रयास किया है। पुस्तक में आद्यन्त अँगरेजी व्याकरण का सहारा लिया गया है। प्रायः, अँगरेजी की नकल पर ही प्रत्येक काल के साधारण, आद्य, मध्य और अन्त्य चार भेद किये गये हैं। क्रिया की रूप-रचना निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत की गयी है[५] :

---

१. नवीन चन्दोदय : सन् १९१५ ई० का संस्करण, पञ्जाब इकॉनोमिकल यन्त्रालय लाहौर से मुद्रिय ग्रन्थकार की उक्ति, (ख)।
२. हिन्दी शब्दानुशासन, 'प्रकाशकीय वक्तव्य', डॉ० श्रीकृष्ण लाल, पृ० १-२।
३. शी० प्र० गु०, श० प्र०, मुख पृष्ठ।
४. उपरिवत्, पृ० १।
५. उपरिवत्, पृ० ३०-३३।

उत्तमपुरुष, एकवचन, पुल्लिङ्ग

	वर्त्तमान	भूत	भविष्य
साधारण —	मैं पढ़ता हूँ	मैं पढ़ा हूँ या मैंने पढ़ा है	मैं पढ़ूँगा
आद्य —	मैं पढ़ने पर हूँ	मैं पढ़ने पर था	मैं पढ़ने पर रहूँगा
मध्य —	मैं पढ़ रहा हूँ	मैं पढ़ रहा था या पढ़ता था	मैं पढ़ता रहूँगा या मैं पढ़ा करूँगा
अन्त्य —	मैं पढ़ चुका हूँ	मैं पढ़ चुका था या मैं पढ़ाया था	मैं पढ़ चुकूँगा

उस युग में छात्रोपयोगी हिन्दी-व्याकरण-ग्रन्थों की रचना करनेवाले वैयाकरण किस प्रकार अँगरेजी व्याकरण का अन्धानुकरण कर रहे थे, यह उपर्युक्त क्रिया-रूपों को देखने से ही स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

विलियम एथरिङ्गटन :

हिन्दी के लोकप्रिय विदेशी वैयाकरणों में बनारस के पादरी विलियम एथरिङ्गटन का नाम शीर्षस्थानीय है। उन्होंने सन् १८७० ई० में अपना प्रथम व्याकरण 'स्टूडेण्ट्स ग्रामर ऑफ द हिन्दी लैङ्ग्वेज' अँगरेजी में लिखा था, जो उसी वर्ष बनारस के 'मेडिकल हॉल कॉलेज' से प्रकाशित हुआ। वह व्याकरण तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश के डी० पी० आइ० साहब को इतना पसन्द आया था कि उन्होंने स्वयं उसकी प्रशंसात्मक समीक्षा लिखी थी तथा सरकार से ग्रन्थ-लेखक को पुरस्कृत करने का लिखित अनुरोध किया था। किन्तु, उस समय सरकार की ओर से केवल हिन्दी की ही श्रेष्ठ पुस्तकों पर पुरस्कार देने की व्यवस्था थी। इस कारण डी० पी० आइ० के अनुरोध के उत्तर में लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने लिखा था कि "यदि उक्त ग्रन्थ का हिन्दी-रूपान्तर कर उसे हिन्दी-छात्रों के उपयोगानुकूल बना दिया जाय, तो उससे हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा होगी; साथ ही, उस स्थिति में लेखक सब प्रकार से पुरस्कार का

उचित अधिकारी बन जायगा।"[१] इस परामर्श का पालन करते हुए एथरिङ्गटन ने सन् १८७१ ई० में उक्त अँगरेजी-ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर 'भाषा-भास्कर' नाम से प्रकाशित कराया। 'भाषा-भास्कर' वास्तव में उनके अँगरेजी-ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र नहीं था। उसमें इतने परिवर्त्तन और परिवर्द्धन कर दिये गये थे कि वह प्रायः नया ग्रन्थ ही बन गया था।[२] सरकार ने उस ग्रन्थ पर ५०० रुपये का नकद पुरस्कार देकर एथरिङ्गटन को सम्मानित किया था तथा ग्रन्थ के दूसरे संस्करण का 'कॉपीराइट' भी खरीद लिया था। सरकार की ओर से हिन्दी-व्याकरण पर मिलने वाला यह पहला पुरस्कार था, जिसको प्राप्त करने का गौरव 'भाषा-भास्कर' के लेखक एथरिङ्गटन को प्राप्त हुआ था।

एथरिङ्गटन ने अपने 'द स्टूडेण्ट्स ग्रामर ऑफ द हिन्दी लैङ्ग्वेज' की विस्तृत भूमिका में कई महत्त्वपूर्ण बातों की चर्चा की थी, जिनका पुनरुल्लेख 'भाषा-भास्कर' में उन्होंने नहीं किया। उक्त अँगरेजी-ग्रन्थ की भूमिका के प्रारम्भ में उन्होंने हिन्दी-भाषियों की अनुमित संख्या, हिन्दी-भाषी क्षेत्र तथा हिन्दी के विस्तार-क्षेत्र पर प्रकाश डाला था।[३] उर्दू से हिन्दी की तुलना करते हुए उन्होंने अपनी यह मान्यता व्यक्त की थी कि उर्दू की प्रधानता भारत के किसी भी प्रदेश में नहीं है और वह मुसलमानों के अतिरिक्त न तो किसी अन्य

---

१. "Being a work in the English language, it hardly comes within the scope of the prize notification, which relates only to Vernacular literature,.........the book, if put into a form suitable for use in Vernacular education, would be a valuable contribution to the vernacular literature, and, as such, a fit subject for a prize."—Bhasha Bhasker, Preface to the first edition.

२. "Being designed for native youth, this is not a mere translation of the 'Students Hindı Grammar'. In the following pages the reader will find much that is new, as regards both matter and arrangement, in every chaper."—Ibid.

३. Hindi is the mother-tongue of probably, not less than twenty-five millions of the people of India. It is spoken throughout the Noth Western Provinces, the Punjab, the greater part of Rajputana, Central India and Bihar;

वर्ग के लोगों की भाषा रही है और न आगे उसके होने की सम्भावना ही प्रतीत होती है।[१]

हिन्दी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने अपना यह विचार प्रकट किया था कि हिन्दी संस्कृत से उद्भूत भाषा है। संस्कृत के साथ हिन्दी की जितनी गहरी समानता है; उतनी बँगला को छोड़कर अन्य किसी भी भाषा की नहीं। हिन्दी के ९० प्रतिशत शब्दों का मूल संस्कृत में ढूँढ़ा जा सकता है। हिन्दी में कुछ ऐसे शब्दों के अस्तित्व के आधार पर, जिनके मूल संस्कृत में नहीं मिलते तथा दोनों में व्याकरणिक भिन्नता के आधार पर, जो यह स्थापना दी जाती है कि हिन्दी का स्रोत संस्कृत से नितान्त भिन्न था; इसमें कोई सङ्गति या बल नहीं है। यों तो, जबसे हिन्दी का संस्कृत से प्रादुर्भाव हुआ; तबसे लेकर आज-तक की कई शताब्दियों में इसके शब्द-रूपों तथा व्याकरणिक रूपों में होने वाले सभी परिवर्त्तनों का आकलन असम्भव है, किन्तु अनेक ऐसे शब्द, जिनका स्रोत पहले अज्ञात माना जाता था, उनके भी मूल; प्राकृत के माध्यम से संस्कृत में ही मिल गये हैं। हिन्दी का विशिष्ट चिह्न 'ने', जो सकर्मक भूतक्रिया के कर्त्ता के आगे आता है और जिसकी व्युत्पत्ति सर्वाधिक विलक्षण है; उसके भी मूल का स्पष्ट पता, संस्कृत में प्राप्त हो गया है। प्राकृत के समुचित अध्ययन से

---

and in the form in which it is used in Benaras it is readily understood by Sikhs, Guzarattis, Maharathas, Nepalis and other tribes having distinct dialects of their own. Whether, then, we think of the extent of country over which it is spoken, or of the number and importance of the tribes that speak it, Hindi, if any, may be regarded as the language of Nothern India."

—Ethrington, preface 3.

१. "But spoken in the cities and in many of the larger towns of Northern India by many educated Hindus also as a second language, Urdu has predominance in no province of India, it never has been, and in the nature of things, it never can become the language of any class of the people except the Mahommedans."—Ibid.

ऐसे और भी अनेक अज्ञात-कुल-शील माने जाने वाले शब्दों से उद्भव-स्रोत पर प्रकाश पड़ेगा।[१]

हिन्दी की तत्कालीन स्थिति को स्पष्ट करते हुए एथरिङ्गटन साहब ने लिखा था कि "हिन्दी को अभी तक परिष्कृत और समृद्ध बनाने का बहुत कम प्रयास हुआ है, इस कारण अन्य भाषाओं की तुलना में इसका शब्द-भाण्डार अपर्याप्त है। किन्तु, इसमें श्रेष्ठ भाषा के सभी तत्त्व वर्त्तमान हैं, साथ ही यह अपनी मातृभाषा संस्कृत की अपार शब्द-राशि को शनैः-शनैः ग्रहण करती हुई समृद्ध बनती जा रही है। इसे किसी विदेशी भाषा की सहायता की अपेक्षा नहीं है। विदेशी भाषाओं के तत्त्वों को हठात् सन्निकट करने के प्रयत्न इसके

---

१. "Hindi is a derivative from the Sanskrit to which it bears a greater affinity than any modern Indian tongue, except the Bengali. Not less than nine-tenths of its vocabulary is traceable to Sanskrit roots, many of the words being pure Sanskrit and others varying only in the permutation of certain letters. The existence in Hindi of some words apparently not traceable to Sanskrit together with the fact that many of its grammatical forms differ from the language, has given rise to the theory that Hindi may have once existed apart from Sanskrit. The theory has but little to support it, for though it may now be impossible to account for all the changes that have taken place in words and grammatieal forms during the centuries that have elapsed since Hindi was formed from Sanskrit. Yet many words that at first seemed obscure have been satisfactorily traced to the Sanskrit through the Prakrit.........Further study of the Prakrit, in which the Sanskrit began to be broken up and which formed an important part of the process by which Hindi and other living languages of Northern India were formed, will tend to throw light upon the origin of many words that are now not satisfactorily traceable to Sanskrit or to any other language."

—Ibid, p. 4.

स्वाभाविक विकास में सहायक नहीं होकर बाधक ही प्रमाणित होंगें।"[१] इसी मान्यता के कारण एथरिङ्गटन ने अपने ग्रन्थ में विदेशी शब्दों के प्रयोग का तथा उनके रूप-विवेचन का सर्वथा बहिष्कार किया था।[२] उन्होंने हिन्दी के नाम पर ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन तथा प्रचार के प्रति हार्दिक क्षोभ प्रकट किया था, जिनमें हिन्दी का विशुद्ध रूप न होकर अनेक भाषाओं का शब्द-साङ्कर्य था। वैसे सभी ग्रन्थों को उन्होंने शिक्षा-प्रसार के मार्ग में अवरोधक तथा सुरुचि का बाधक घोषित किया था।[३]

हिन्दी में अच्छे व्याकरण-ग्रन्थों के अभाव की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था[४] कि डॉ० बैलेण्टाइने के 'द एलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दी ऐण्ड ब्रजभाषा' के

---

१. "Hindi has been but little cultivated, its vocabulary is therefore poor as compared with other languages; it possesses however, the element of a fine language and has in its parent, the Sanskrit, ample resources both as to matter and form from which it is continually being enriched. It needs no foreign aid, and all attempts to force such aid upon it only tend to mutilate it and obstruct its natural growth."—Ibid, p. 4.

२. "I have rejected all words of Arabic, Persian or Urdu origin, as well as all consrtuctions that seem to me to belong more to Urdu than to Hindi."—Ibid, p. 4.

३. "The Jargon in which several educational books have lately been published, some may be pleased to term Hindi; but in reality it is a strange medley of Sanskrit, Arabic, Persian, Urdu and Hindi. To understand some of it would imply considerable acqaintance not only with the words, but also with the syntax of three or four languages. It is much to be regretted that such books have found favour with any; they interfere with the spread of education, and are most offensive to a correct taste."—Ibid, p. 5.

४. "The want of Hindi grammar has been long felt; no attempt that I am aware of has hither to been made to supply it, except 'the elements of Hindi and Brajbhakha grammar by the late Dr. Ballantyne', which though good so far it goes, contains but the bare outline of the subject in thirty seven large print pages."—Ibid, p. 5.

बाद इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं हुआ। उस ग्रन्थ के ३७ बड़े पृष्ठों में भी विषय का मात्र प्रारूप ही दिया गया है।" अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध में उन्होंने बताया था कि "मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ को भाषा की वर्त्तमान स्थिति के अनुरूप व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है।"[१] हिन्दी के रूप में प्रान्तीय भिन्नता की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रचलित हिन्दी के रूपों में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है, अतः मेरे लिए किसी एक रूप को आदर्श मानकर चलना आवश्यक था, और मैंने बनारस में प्रचलित रूप को ही आदर्श माना है; क्योंकि वही सर्वाधिक शुद्ध समझा जाता है।"[२]

भूमिका के अन्त में एथरिङ्गटन ने शेक्सपियर, फॉर्बेस, मॉनियर विलियम्स तथा पण्डित श्रीलाल के ग्रन्थों का उल्लेख किया था, जिनसे अपने ग्रन्थ की रचना में उन्होंने सहायता ली थी।[३] इस प्रसङ्ग में, मुङ्गेर के पादरी जॉन पार्सन को यूरोपीय हिन्दीविदों में सर्वश्रेष्ठ बताते हुए, उन्होंने उनसे प्राप्त होनेवाले सहयोग के प्रति विशेष रूप से आभार व्यक्त किया था।[४] बनारस के पण्डित रामजसन का उल्लेख ग्रन्थ के वाक्य-विचार के संशोधक के रूप में

---

१. "I have endeavoured to make the following work as comprehensive as the present state of the language will admit."—Ibid, p. 5.

२. "As Hindi varies a good deal in different provinces, it was necessary to adopt some one form of it as standard; and, as that of Banaras is genarally ackowledged to be the purest, I have followed it."—Ibid, p. 5.

३. "I have consulted to works of Shakespeare, Forbes, and Monier Williams and have derived some aid from them. I am especially indebted to the last named writer, whose Sanskrit Dictionary, Sanskrit grammar and Urdu grammar have been of great use to me. I have also read the Bhasha-Chandrodaya and the Sandhi in the Vyakaran Ki Upakramanika from which a few of my examples are taken."—Ibid, p. 5-6.

४. "I am most of all indebted to the suggestions of the late Rev. John Parsons, Missionary at Monghir, perhapse the most accomplished Hindi scholar that has yet appeared among Europeans. He most kindly undertook to service my manuscripts before they were sent to the press; the latter part of the syntex was with him when he died."—Ibid, p. 6.

किया था[1] और सबसे अन्त में मुङ्गेर के जॉन क्रिश्चियन नामक विद्वान के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन्हें छन्दःशास्त्र का महान पण्डित तथा अपने ग्रन्थ के छन्दः प्रकरण का वास्तविक लेखक बताया था।[2] अपनी भूमिका की समाप्ति एथरिङ्गटन ने जॉन क्रिश्चियन की ही पंक्तियों[3] से की थी, जिनमें

---

१. "Pandit Ramjasan also, the dead Sanskrit and Hindi teacher, Queen's College, Benaras, read with me nearly all the examples in the syntax and approved of them."
—Ibid, p. 6.

२. "My thanks are also due to John Christian Esq. of Moghir who at my request wrote the chapter on Prosody for this work. From his extensive acquaintance with Hindi poetic writings, he is more capable than any one that I know to perform such a task."—Idid.

३. "Students of language should not think that Prosody constitutes but an ornamental part of grammar. In the study of Hindi grammar especially, prosody will be found to be no less useful than ornamental. The Hindus have a natuaral predilection for numbers, which is evident from the fact that few books of any note are written by them in prose. Their ideas whether relating to the art, science, language or philosophy, are embodied in measured language which ls brought to bear upon even the concerns of their every day life. Few Hindus will be found whose memory is not the repositary of some scraps of their proverbial poetry which they readily and aptly quote.

The Hindu mind is exhibited in poetry, and it is in the poetry of the people that their manners and customs are portrayed; hence, if the student, whether of a literary or philosophical turn of mind, whether a minister of the Gospal or an official of Government, be desirous of studying the Hindus, a highly interesting nation, he must study their poetry.

छन्द के अध्ययन के महत्त्व, उपयोगिता एवं आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया था।

एथरिङ्गटन ने 'द स्टूडेण्ट्स ग्रामर ऑफ द हिन्दी लैङ्ग्वेज' की रचना में यद्यपि अनेक देशी-विदेशी वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों से सहायता ली थी, फिर भी वह ग्रन्थ विशेष प्रसिद्धि नहीं पा सका। सम्भवतः, इसीलिए उसका कोई दूसरा संस्करण भी प्रकाशित नहीं हुआ। इसके विपरीत, 'भाषा-भास्कर' की इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई कि उसके बीसों संस्करण छपे तथा लाखों प्रतियाँ बिकीं। अपने प्रकाशन-काल से लगभग तीन-चार दशाब्दियों तक वह हिन्दी-छात्रों का कण्ठहार बना रहा।

'भाषा-भास्कर' के मुख पृष्ठ पर ग्रन्थ-परिचय इस प्रकार मुद्रित है—"भाषा-भास्कर अर्थात् हिन्दी-भाषा का व्याकरण। काशी नगर के पादरी एथरिङ्गटन साहिब ने विद्यार्थियों की शिक्षा के निमित्त बनाया। यीसुहि शीश नवाइ के कियो नयो यह ग्रन्थ। भाषा-भास्कर याहि लखि लखैं लोग पद पन्थ"।

एथरिङ्गटन ने 'भाषा-भास्कर' की भूमिका अत्यन्त संक्षेप में लिखी है। इसमें उन्होंने उन बातों का उल्लेख नहीं किया है, जिनकी चर्चा उन्होंने अपने अँगरेजी-ग्रन्थ की भूमिका में की थी। विवेच्य ग्रन्थ के सम्बन्ध में केवल इतना बताया है कि यह उनके अँगरेजी-ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र नहीं है, अपितु विषय-वस्तु तथा विन्यास, दोनों ही दृष्टियों से इसमें नवीनता है।[१] उन्होंने इस बात

The study of the prosody of the language is in itself delightful. The student will find in his progress towards the Indian Parnassus that his path lies through a rich and variegated field of orient flowers to be culled by every traveller who has a taste for what is pleasing and beautiful."—John Christian, Ibid, p. 6-7.

१. "Being designed for Native youth, this is not a mere translation of the 'Student's Hindi Grammar' which would not have served the purpose, that book being adopted to the wants of Europeans having no knowledge of the Indian dialects. In the following pages the reader will find much that is new, as regards both matter and arrangement, in every chapter, especially in the treatment of the Noun and the Verb."

—Ethrington, (भाषा-भास्कर), Preface.

का कोई उल्लेख नहीं किया है कि इसकी रचना में उन्हें किन ग्रन्थों से सहायता मिली है। इस प्रसङ्ग में केवल बनारस के पण्डित विष्णुदत्त के सहयोग का संक्षिप्त उल्लेख[१] कर भूमिका समाप्त कर दी गयी है।

'भाषा-भास्कर' में सब मिलाकर १२ अध्याय हैं।[२] पहले अध्याय के प्रारम्भ में भाषा की परिभाषा, व्याकरण की परिभाषा, व्याकरण की उपयोगिता, भाषा के खण्ड तथा व्याकरण के प्रमुख अङ्गों का विवेचन करने के पश्चात् 'वर्ण-विचार' का प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। वर्णों को स्वर और व्यञ्जन के वर्गों में बाँटकर उनका अलग-अलग परिचय दिया गया है। १४ स्वरों में से ९ को मूल स्वर माना गया है।[३] स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत, तीन भेद किये गये हैं। ॠ, ऌ, ॡ के विषय में लिखा गया है कि "ये वर्ण हिन्दी शब्दों में नहीं आते, केवल देवनागरी-वर्णमाला की पूर्णता के निमित्त रखे गये हैं।"[४] ए, ऐ, ओ, औ को दीर्घ-संयुक्त स्वर कहा गया है। स्वरों के अनुनासिक-चिह्न चन्द्रबिन्दु के सम्बन्ध में बताया गया है कि "वर्णों के शिर पर ऐसा ँ चिह्न देने से सानुनासिक होता है, परन्तु भाषा में प्राय: अनुस्वार ही लिखा जाता है।"[५] सम्पूर्ण ग्रन्थ में चन्द्रबिन्दु के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग किया है। स्वरों के मात्रा-चिह्नों का परिचय देते हुए बताया गया है कि "स्वर जब व्यञ्जन से नहीं मिले रहते, तब उन्हें स्वर कहते हैं; व्यञ्जनों से मिलते हैं, तो इनका स्वरूप पलट जाता है और ये मात्रा कहाते हैं।"[६]

---

१. "I am, in a great measure, indebted to the advice and suggestions of the acomplished Pandit Vishnu Dutta, who prepared the greater part of the last chapter and revised the entire book with me."—Ibid.

२. वर्णविचार, संधिप्रकरण, शब्द-साधन, सर्वनामों के विषय में क्रिया के विषय में, कृदन्त के विषय में, कारक, तद्धित, समास, अव्यय, वाक्य-विन्यास और छन्दोनिरूपण।

३. अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ।—एथरिङ्गटन : भा० भा०, पृ० २।

४. उपरिवत्।

५. उपरिवत्, पृ० ४।

६. एथरिङ्गटन : भा० भा०, पृ० ३।

व्यञ्जनों में ५ वर्ग स्पर्श के, एक अन्तस्थ के और एक ऊष्म के किये गये हैं। फिर, उन्हें अल्पप्राण और महाप्राण के वर्गों में बाँटा गया है। अनुस्वार और विसर्ग का अलग से परिचय दिया गया है। संयुक्त व्यञ्जन क्ष, त्र, ज्ञ के सम्बन्ध में लिखा है कि "बहुधा संयुक्त अक्षरों की लिखावट में मिले हुए व्यञ्जनों का रूप दिखाई देता है; परन्तु क्ष, त्र, ज्ञ इन अक्षरों में जिनके संयोग से बने है, उनका कुछ भी रूप नहीं दिखाई देता, इसलिए कोई-कोई व्यञ्जनों के साथ वर्णमाला के अन्त में इन्हें लिख देते हैं।"[१] इसके पश्चात् वर्णों को संयुक्त करने के नियम तथा उच्चारण-स्थान के आधार पर उनका वर्गीकरण संस्कृतानुसार किया गया है। अध्याय के अन्त में स्वर-चक्र तथा व्यञ्ज-चक्र दिये गये हैं, जिनमें स्थान एवं प्रयत्न के आधार पर दोनों के वर्गों की तालिका प्रस्तुत की गयी है।

दूसरे अध्याय में सन्धि का विवेचन है। हिन्दी-व्याकरण में संस्कृत के सन्धि-नियमों के समावेश की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि "संस्कृत-भाषा में सब शब्द सन्धि के अधीन रहते हैं और हिन्दी में संस्कृत के अनेक शब्द आया करते हैं; उनके अर्थ और व्युत्पत्ति समझने के लिए हिन्दी में सन्धि का कुछ ज्ञान आवश्यक है।"[२] इसमें हिन्दी-शब्दों में होने वाली सन्धियों की कोई चर्चा नहीं है, केवल संस्कृत की स्वर-व्यञ्जन एवं विसर्ग-सन्धियों का संक्षिप्त और सोपभेद विवेचन किया गया है।

तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में शब्द-साधन की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "शब्द-साधन उसे कहते हैं, जिसमें शब्दों के भेद अवस्था और व्युत्पत्ति के वर्णन होते हैं।"[३] व्याकरण में केवल अर्थबोधक शब्दों को विवेच्य मानते हुए उन्हें संज्ञा, क्रिया और अव्यय के तीन व्यापक वर्गों में विभक्त किया गया है। फिर, तीनों की परिभाषा देने के पश्चात् संज्ञा को पहले रूढि, यौगिक और योगरूढि के तीन भेदों में और बाद में जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, भाववाचक और सर्वनाम के पाँच भेदों में बाँटा गया है। सबका संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट परिचय उदाहरण के साथ दिया गया है। गुणवाचक संज्ञा का ही दूसरा नाम विशेषण बताया गया है। सर्वनाम के दो धर्म बताये गये हैं, "एक

---

२. उपरिवत्, पृ० ४-५।

३. उपरिवत्, पृ० ८।

४. उपरिवत्, पृ० ६१।

तो पुरुषवाचक जैसे मैं, तू, और दूसरा गुणीभूत जैसे कौन, कोई, आन और इत्यादि।"[1]

इसके पश्चात् 'लिङ्ग के विषय में' सामान्य ढङ्ग से प्रकाश डाला गया है। हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले संस्कृत शब्दों के लिङ्ग-निर्धारण के सम्बन्ध में लिखा है कि "हिन्दी के सब शब्दों का अधिक भाग संस्कृत से निकला हुआ है और संस्कृत में जिन शब्दों का पुल्लिङ्ग वा नपुंसक लिङ्ग होता है वे सब हिन्दी में प्रायः पुल्लिङ्ग समझे जाते हैं। और जो शब्द संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग होते हैं वे हिन्दी में भी प्रायः स्त्रीलिङ्ग रहते हैं।"[2] फिर, अप्राणिवाचक तथा भाववाचक शब्दों के लिङ्ग को पहचानने के चार तरीके बताये गये हैं।[3] सामासिक शब्दों का लिङ्ग अन्त्य शब्द के लिङ्ग के अनुसार होना माना गया है। हिन्दी के स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय ई, इन, इया, नी तथा आइन के प्रयोग के द्वारा पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनाने की सामान्य पद्धति भी समझायी गयी है। अन्त में कुछ ऐसे पुल्लिङ्ग शब्दों का भी उल्लेख किया गया है, जिनका अपने स्त्रीलिङ्ग रूप के साथ साम्य नहीं होता, जैसे—पिता-माता, बैल-गाय, भाई-बहन आदि। वचन के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

कारक के विषय में लिखा है कि "कारक उसे कहते हैं, जिसके द्वारा वाक्य में विशेष करके क्रिया के साथ अथवा दूसरे शब्दों के संग संज्ञा का सम्बन्ध ठीक-ठीक प्रकाशित होता है।"[4] कारक आठ स्वीकार किये गये हैं। सबकी परिभाषा सोदाहरण देने के पश्चात् उनकी विभक्तियों के सम्बन्ध में लिखा है कि "संज्ञा की आठ अवस्था हो सकती है। उन अवस्थाओं की सूचक प्रत्ययों को विभक्तियाँ कहते हैं।"[5] फिर, सब कारकों के चिह्न दिये गये हैं।

लिङ्ग, वचन और कारक के अनुसार 'संज्ञा का रूपकरण' स्पष्ट करने के उद्देश्य से संज्ञाओं को चार समान विकार वाले वर्गों में बाँटा गया है। पहले वर्ग में उकारान्त पुल्लिङ्ग बन्धु, स्त्रीलिङ्ग रेणु; एकारान्त पुल्लिङ्ग दुबे, ओकारान्त पुल्लिङ्ग कोदो, स्त्री० सरसो, हलन्त (अकारान्त) पु० जल और

---

१. एथरिङ्गटन : भा० भा०, पृ० २१।

२. उपरिवत्, पृ० २२।

३. उपरिवत्, पृ० २२।

४. उपरिवत्, पृ० २५।

५. उपरिवत्, पृ० २६।

गाँव के रूप प्रस्तुत किये गये हैं। दूसरे वर्ग में इकारान्त पु० पति, ईकारान्त पु० धोबी, ऊकारान्त पु० डाकू और स्त्री० बहू के रूप प्रदर्शित किये गये हैं। तीसरे वर्ग में आकारान्त स्त्री० खटिया, इकारान्त स्त्री० तिथि, ईकारान्त स्त्री० बकरी तथा हलन्त (अकारान्त) घास के रूपान्तर दिखाये गये हैं और चौथे वर्ग में आकारान्त पु० घोड़ा, राजा तथा दादा की रूप-रचना समझायी गयी है। अन्तिम तीनों शब्दों के रूपान्तर अलग-अलग प्रकार के हैं, जैसे—घोड़ा का कर्त्ता बहु० पु० घोड़े और अन्य घोड़ों, राजा का कर्त्ता बहु० पु० राजा या राजाओं तथा दादा का दादे और दादाओं दोनों रूप दिये गये हैं।

विशेषण या गुणवाचक संज्ञा के लिङ्ग, वचन और कारक के सम्बन्ध में बताया गया है कि "विशेषण के लिङ्ग, वचन और कारक विशेष्य निघ्न हैं, अर्थात् विशेष्य के जो लिङ्ग आदि हों वे ही लिङ्ग आदि विशेषण के होंगे। हिन्दी में आकारान्त को छोड़कर गुणवाचक में लिङ्ग, वचन व कारक के कारण कुछ विकार नहीं होता है।"[१] इसके पश्चात् आकारान्त विशेषण के लिङ्ग-वचनानुसार होने वाले विकारों पर प्रकाश डाला गया है। संख्यावाचक विशेषण के सम्बन्ध में कहा गया है कि "यदि संख्यावाचक विशेषण हो और अवधारण की विवक्षा रहे तो उसके अन्त में ओ कहीं सानुनासिक और कहीं निरनुनासिक कर देते हैं, जैसे—दोनों, चारों।"[२] गण की अधिकता तथा न्यूनता प्रदर्शित करने के लिए हिन्दी में—से, सबसे तथा तर और तम के प्रयोग का निर्देश किया गया है।

चौथे अध्याय में सर्वनाम पर विस्तार में विचार किया गया है। सर्वनाम के छह भेद माने गये हैं[३] पुरुषवाची, अनिश्चयवाचक, निश्चयवाचक, आदरसूचक, सम्बन्धवाचक और प्रश्नवाचक। पुरुषवाची सर्वनाम के तीन भेद किये गये हैं—उत्तमपुरुष—मैं, मध्यमपुरुष—तू और अन्यपुरुष—वह। फिर क्रमिक रूप से सबके रूपान्तर दिये गये हैं। अन्यपुरुष के निश्चयवाचक—यह और अनिश्चय-वाचक—वह, दो भेद किये गये हैं। इनके रूपान्तर में इन्हों और उन्हों रूप कर्त्ता से भिन्न कारकों में भी दिखाये गये हैं। पुरुषवाची के विवेचन के पश्चात् अनिश्चयवाचक—कोई, आदरसूचक—आप, निजवाचक—आप, प्रश्नवाचक—कौन

१. एथरिङ्गटन : भा० भा०, पृ० ३६।
२. उपरिवत्, पृ० ३७।
३. उपरिवत्, पृ० ३८।

तथा सम्बन्धवाचक—जो, सो, के रूपान्तर दिये गये हैं। निजवाचक आप के सम्बन्ध में बताया गया है कि "आप शब्द निज का भी वाचक होके संज्ञाओं का विशेषण होता है।"[१] क्या को प्रश्नवाचक अव्यय कहा गया है। इस, उस, जिस, किस और तिस के सम्बन्ध में बताया गया है कि इन "सर्वनामों के स को तना आदेश करने से ये परिमाणवाचक शब्द अर्थात् इतना, उतना, जितना, कितना और तितना बनाये जाते हैं और उन्हीं सर्वनामों के साथ समानतासूचक सा (से सी) के लगाने से ये प्रकारवाचक शब्द भी अर्थात् ऐसा, वैसा, जैसा, कैसा और तैसा हुए हैं।"[२] सर्वनाम के लिङ्ग के सम्बन्ध में, प्रकरण के प्रारम्भ में ही लिखा गया है कि "जिनके बदले में सर्वनाम आवे उन्हीं शब्दों के लिङ्ग के समान उसका भी लिङ्ग होता है।"[३]

पाँचवें अध्याय में क्रिया का विवेचन है। इसमें पहले क्रिया और धातु का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि "क्रिया उसे कहते हैं जिसका मुख्य अर्थ करना है, वह काल, पुरुष और वचन से सम्बन्ध रखती है। क्रिया के मूल को धातु कहते हैं और उसके अर्थ से व्यापार का बोध होता है।"[४] क्रिया के अकर्मक और सकर्मक, दो भेद किये गये हैं। सकर्मक को कर्तृप्रधान और कर्मप्रधान के दो भेदों में विभक्त किया गया है और आगे चलकर उनमें एक और भेद, भावप्रधान को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इन तीनों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि "जिस क्रिया का लिङ्ग-वचन कर्त्ता के लिङ्ग-वचन के अनुसार हो उसे कर्तृप्रधान और कर्म के लिङ्ग और वचन के समान जिस क्रिया का लिङ्ग-वचन होवे उसे कर्मप्रधान क्रिया कहते हैं, यथा—कर्तृप्रधान—स्त्री कपड़ा सीती है, कर्मप्रधान—कपड़ा सिया जाता है। यदि कर्मप्रधान क्रिया के संग कर्त्ता की आवश्यकता होवे, तो उसे करण कारक के चिह्न के साथ लगा दो। जैसे—रावण राम से मारा गया। जैसे—कर्तृप्रधान क्रिया के साथ कर्त्ता का होना आवश्यक है वैसा ही कर्मप्रधान क्रिया के सङ्ग कर्म भी अवश्य रहता है, परन्तु जहाँ अकर्मक क्रिया का रूप कर्मप्रधान क्रिया के समान मिले वहाँ उसे भावप्रधान जानो। इससे यह बात सिद्ध हुई कि जब प्रत्यय कर्त्ता में होता तो कर्त्ता प्रधान होता है और जब कर्म में होता है तब कर्म।

---

१. उपरिवत्, पृ० ४२।
२. उपरिवत्, पृ० ४५।
३. उपरिवत्, पृ० ३८।
४. उपरिवत्, पृ० ४५–४६।

इसी रीति से भाव में जब प्रत्यय आता है, तो भाव ही प्रधान हो जाता है। जैसे—रात भर किसी से नहीं जागा जाता।"[१] आगे भाव के अर्थ को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि "धातु के अर्थ को भाव कहते हैं। हिन्दी-भाषा में भावप्रधान क्रिया कम आती है और प्रायः उसका प्रयोग नहीं शब्द के साथ बोला जाता है।"[२]

क्रिया के करने में जो समय लगता है, उसे काल कहा जाता है। काल के भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्; तीन भेद माने हैं। भूतकालिक क्रिया के सामान्यभूत, पूर्णभूत, आसन्नभूत, सन्दिग्धभूत, अपूर्णभूत और हेतुहेतुमद्भूत; ये छह भेद, वर्त्तमान के सामान्य वर्त्तमान और सन्दिग्ध वर्त्तमान ये दो भेद तथा भविष्यत् के सामान्य भविष्यत् और सम्भाव्य भविष्यत्, दो भेद किये गये हैं। इनके अतिरिक्त क्रिया के दो और भेद, विधि और पूर्वकालिक माने गये हैं। फिर, उपर्युक्त सभी प्रकार की क्रियाओं के रूपान्तर-सम्बन्धी नियम बताने के बाद होना, रहना, पाना, देखना तथा करना की रूप-रचना पहले कर्त्तृवाच्य में और पुनः देखा जाना की रूप-रचना कर्मवाच्य में प्रस्तुत की गयी है। उदाहरणार्थ, होना का कर्त्ता उत्तमपुरुष, एकवचन, पुल्लिङ्ग में कर्त्तृवाच्य रूप इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है: १. सामान्यभूत—मैं हुआ, २. पूर्णभूत—मैं हुआ था, ३. आसन्नभूत—मैं हुआ हूँ, ४. सन्दिग्धभूत—मैं हुआ होऊँगा, ५. हेतुहेतुमद्भूत—मैं होता, ६. सामान्य वर्त्तमान—मैं होता हूँ, ७. अपूर्ण भूत—मैं होता था, ८. विधि—मैं होऊँ, ९. सम्भाव्य-भविष्यत—मैं होऊँ, १०. सामान्य भविष्यत—मैं होऊँगा और ११. पूर्वकालिक—होके, होकर या हो करके। इनमें विधि और सम्भाव्य भविष्यत के रूप बिलकुल समान रखे गये हैं। कर्मवाच्य के रूप उपर्युक्त क्रम में इस प्रकार हैं: १. मैं देखा गया, २. मैं देखा गया था, ३. मैं देखा गया हूँ, ४. मैं देखा गया होऊँगा, ५. मैं देखा जाता, ६. मैं देखा जाता हूँ, ७. मैं देखा जाता था, ८. मैं देखा जाऊँ, ९. मैं देखा जाऊँ और १०. मैं देखा जाऊँगा। इसमें पूर्वकालिक के रूप नहीं दिखाये गये हैं।

करना, देना, पीना, लेना, होना और जाना क्रियाओं की रूप-रचना-सम्बन्धी अनियमितता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "जान पड़ता है कि

---

१. उपरिवत्, पृ० ४६–४७।

२. उपरिवत्, पृ० ४७।

संस्कृत धातु कृ के कुछ विकार करने से हिन्दी की दो एकार्थक क्रिया निकली हैं—कीना और करना इनके सामान्य भूत और आदरपूर्वक विधि क्रिया ये हैं—करना का करा और करिये और कीना का किया। इन दिनों करा और करिये ये रूप प्रचलित नहीं हैं पर उनके स्थान में किया और कीजिये ऐसे रूप होते हैं। कीना भी अप्रचलित हुआ है परन्तु उसकी जगह में करना आता है। देना, पीना, लेना, होना इन चारों की भूतकाल और विधि क्रिया बनाने में जो विशेषता होती है सो प्रायः उच्चारण की सुगमता के निमित्त हैं। बुद्धि में आता है कि दो एकार्थक संस्कृत धातु अर्थात् या और गम् से जाना क्रिया के समस्त रूप बन गये हैं। या के यकार को ज आदेश करके ना चिह्न लगाने से साधारण रूप जाना बनता है जिसकी सामान्य भूत-काल की क्रिया अर्थात् गया गम् से निकली है।"[१] इसके पश्चात् अकर्मक से सकर्मक और प्रेरणार्थक बनाने की पद्धति बतायी गयी है।

संयुक्त क्रिया के प्रसङ्ग में बताया गया है कि "हिन्दी में अनेक क्रिया होती हैं जो और क्रियाओं से मिल के आती हैं और नवीन अर्थ को उत्पन्न करती हैं, ऐसी क्रियाओं को संयुक्त क्रिया कहते हैं। संयुक्त क्रिया में प्रायः दो भिन्न क्रिया होती हैं, परन्तु कहीं-कहीं तीन-तीन आती हैं। संयुक्त क्रिया के आदि की क्रिया मुख्य है, उसी से संयुक्त क्रिया का अर्थ समझा जाता है और उसी के अनुसार संयुक्त क्रिया अकर्मक वा सकर्मक जानी जाती है। संयुक्त क्रिया नाना प्रकार की हैं पर उनकी मुख्य क्रिया को मान करके उनके तीन भाग किये हैं। पहिला भाग वह है जिसमें आदि की क्रिया धातु के रूप से आती है। दूसरा भाग वह है, जिसमें आदि की क्रिया सामान्यभूत के रूप से रहती है और तीसरा भाग वह है, जिसमें आदि की क्रिया अपने साधारण रूप से होती है।"[२] पहले भाग के अवधारणा बोधक (देख आना), शक्ति बोधक (चल सकना) और पूर्णता बोधक (खा चुकना) तीन भेद, दूसरे भाग के नित्यताबोधक (किया करना) और इच्छाबोधक (आया चाहना) दो भेद तथा तीसरे भाग के आरम्भबोधक (आने लगना) और अवकाशबोधक (जाने देना) दो भेद माने गये हैं।

छठे अध्याय में कृदन्त का परिचय देते हुए बताया गया है कि "क्रिया से परे जो ऐसे प्रत्यय होते हैं कि जिनसे कर्तृत्व आदि समझे जाते हैं उन्हें कृत

---

१. एथरिङ्गटन : भा० भा०, पृ० ६९-७० ।

२. उपरिवत्, पृ० ७३ ।

कहते हैं और कृत के आने से जो शब्द बनते हैं उन्हें कृदन्त अथवा क्रियावाचक संज्ञा कहते हैं इस कारण कि प्रायः क्रिया के सदृश अर्थ को प्रकाश करते हैं। हिन्दी में पाँच प्रकार की संज्ञा क्रिया से बनती हैं अर्थात् कर्तृवाचक, कर्मवाचक, करणवाचक, भाववाचक और क्रियाद्योतक।"[1] इन सबकी परिभाषा तथा बनाने के नियम पर अलग-अलग प्रकाश डाला गया है। उदाहरण इस प्रकार दिये गये हैं—कर्तृवाचक—बोलनेवाला, बोलनेहारा, लखिया, गवैया आदि। कर्मवाचक—देखा हुआ, किया हुआ आदि। भाववाचक—बोल, दौर, पुकार, समझ, मान आदि। करणवाचक—ओढ़नी, घोटनी आदि। क्रियाद्योतक—देखता हुआ, बोलता या बोलता हुआ आदि।

सातवें अध्याय में कारकों पर पुनः विचार किया गया है। इसमें कारक को परिभाषित करते हुए बताया गया है कि "व्याकरण के उस भाग को कारक कहते हैं जिसमें पदों की अवस्थाओं का वर्णन होता है।"[2] इसके पश्चात् प्रत्येक कारक के प्रयोग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। इस विवेचन में कई असङ्गतियाँ हैं, जिनकी चर्चा हम ग्रन्थ की समीक्षा के अन्तर्गत करेंगे। कर्त्ता के अप्रधान और प्रधान दो भेद किये गये हैं। जहाँ क्रिया का लिङ्गवचनादि कर्त्ता का अनुसरण करे, वहाँ प्रधान कर्त्ता और जहाँ कर्म का अनुसरण करे, वहाँ अप्रधान कर्त्ता माना गया है।

आठवें अध्याय में तद्धित प्रकरण है। तद्धित के सम्बन्ध में लिखा गया है कि "तद्धित उसे कहते हैं जिससे संज्ञा के अन्त में प्रत्ययों के लगाने से अनेक शब्द बनते हैं। तद्धित के प्रत्यय से अपत्यवाचक, कर्तृवाचक, भाववाचक, ऊनवाचक और गुणवाचक संज्ञा उत्पन्न होती है।"[3] इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग विवेचन किया गया है, जैसे—नामवाचक के प्रथम स्वर की वृद्धि करने से या ई प्रत्यय जोड़ने से अपत्यवाचक बनता है, उदाहरणार्थ—शिव से शैव, महानन्द से महानन्दी आदि। संज्ञा में हारा, वाला, इया जोड़ने से कर्तृवाचक बनता है, जैसे—चुरिहारा, दूधवाला, अढ़तिया आदि। संज्ञा में आई, ई, त्व, ता, पन, पा, हट, वट लगाने से भाववाचक बनता है, जैसे—चतुराई, बोआई, मनुष्यत्व, बालकपन, बुढ़ापा, बनावट, कड़वाहट आदि। संज्ञा के अन्त्य स्वर आ को ई आदेश करने से ऊनवाचक बनता है, जैसे—रस्सा से रस्सी, गोला से

१. एथरिङ्गटन : भा० भा०, पृ० ७५।
२. उपरिवत्, पृ० ७७।
३. उपरिवत्, पृ० ८३।

गोली आदि। कहीं-कहीं अक या इया लगाने से भी ऊनवाचक बनता है, जसे—मानव से मानवक, खाट से खटिया आदि। आ, इक, इत, इय, इया, ई, ईला, एला, ऐला, लु, लू, ल, वन्त, वान आदि प्रत्ययों के योग से गुणवाचक बनता है, जसे—ठण्ढ, ठण्ढा, प्रमाण से प्रामाणिक, आनन्द से आनन्दित आदि।

नवें अध्याय में समास का विवेचन है। समास के छह भेद माने गये हैं—कर्मधारय, तत्पुरुष, बहुब्रीहि, द्विगु, द्वन्द्व और अव्ययीभाव। सबका सामान्य परिचय सोदाहरण दिया गया है।

दसवें अध्याय में अव्यय के छह भेद माने गये हैं—क्रियाविशेषण, सम्बन्ध-वाचक, उपसर्ग, योजक, विभाजक और विस्मयादिबोधक। इन सबका अलग-अलग परिचय उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया गया है। क्रियाविशेषण के कालवाचक, स्थानवाचक, भाववाचक तथा परिमाणवाचक, चार भेद किये गये हैं और सबके उदाहरणों की तालिका दी गयी है।

ग्यारहवें अध्याय में वाक्य-विन्यास के सामान्य नियमों की चर्चा की गयी है। वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"पदों के उस समूह को वाक्य कहते हैं, जिसके अन्त में क्रिया रहकर उसके अर्थ को पूर्ण करती है। वाक्य में प्रत्येक कारक न चाहिए, किन्तु कर्त्ता और क्रिया के बिना वाक्य नहीं बनता।"[१] वाक्य के अन्तर्गत उद्देश्य और विधेय दो खण्ड माने गये हैं। फिर, पद-योजना के क्रम पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसङ्ग में विशेष्य और विशेषण का परिचय देते हुए वाक्य में उनके साहचर्य की अनिवार्यता को स्पष्ट किया गया है। फिर कर्तृप्रधान, कर्मप्रधान और भावप्रधान वाक्यों का विवेचन है। अन्त में वाक्य के पदों के भीतर आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति, इन तीनों की उपस्थिति को अनिवार्य बताया गया है।

बारहवें अध्याय में छन्दों का विवेचन है। 'भाषा-भास्कर' के सम्बन्ध में यह एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य है कि इसकी रचना में एथरिङ्गटन ने हिन्दी के उन विदेशी वैयाकरणों के ग्रन्थों से, जिनका नामोल्लेख उन्होंने अपने अँगरेजी-ग्रन्थ की भूमिका में किया है,[२] प्रत्यक्षतः कोई सहायता नहीं ली थी। यही कारण था कि 'भाषा-भास्कर' की भूमिका में उन्होंने किसी के नाम का पुनरुल्लेख नहीं किया। किन्तु, इसका यह आशय कदापि नहीं है कि एथरिङ्गटन ने

---

१. एथरिङ्गटन : भा० भा०, पृ० ९२।

२. 'द स्टूडेण्ट्स ग्रामर ऑफ द हिन्दी लैंड्ग्वेज' की भूमिका, पृ० ५–६।

अपनी ही प्रतिभा और पाण्डित्य के बल पर 'भाषा-भास्कर' की रचना की। उस समय किसी विदेशी के लिए, सर्वथा संस्कृत-व्याकरण की पद्धति पर, 'भाषा-भास्कर' जैसे ग्रन्थ की रचना कर लेना, किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त, एथरिङ्गटन तो सम्भवतः संस्कृत-व्याकरण के वेत्ता भी नहीं थे। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि अपने ग्रन्थ की रचना में उन्होंने अवश्य ही, किसी-न-किसी भारतीय हिन्दी-वैयाकरण के ग्रन्थ को अपना आधार बनाया होगा।

संयोग से अथवा किसी अज्ञात कारणवश, एथरिङ्गटन ने 'भाषा-भास्कर' की भूमिका में इस बात की कोई चर्चा नहीं की है कि उन्होंने किस ग्रन्थ के आधार पर इसकी रचना की थी। इस प्रसङ्ग में उन्होंने केवल पण्डित विष्णुदत्त के वैयक्तिक सहयोग का उल्लेख मात्र किया है।[१] किन्तु, पण्डित विष्णुदत्त ने भी न तो स्वयं किसी व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी और न वे हिन्दी के ख्यातव्याकरण-वेत्ता ही थे। अतः, निश्चित है कि उन्होंने भी अन्य वैयाकरणों के ग्रन्थों के आधार पर ही एथरिङ्गटन को अपने सुझावों से उपकृत किया किया होगा। ऐसी स्थिति में इस प्रश्न का उत्तर शेष ही रह जाता है कि वे कौन से ग्रन्थ थे, जिनको एथरिङ्गटन ने तथा उनके सहयोगी पण्डित विष्णुदत्त ने अपना आधार बनाया था? किन्तु, इसका उत्तर खोज निकालना बहुत कठिन नहीं है।

पूर्ववर्त्ती हिन्दी-व्याकरणों के साथ 'भाषा-भास्कर' का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि एथरिङ्गटन ने सन्धि और छन्द के प्रकरण के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना मुख्य रूप से बिहार के पण्डित श्रीलाल के 'भाषा-चन्द्रोदय' के आधार पर की थी तथा पारिभाषिक शब्दावली के लिए पण्डित रामजसन की 'भाषातत्त्वबोधिनी' का उपयोग किया था। 'भाषा-भास्कर' का पहला, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा और सातवाँ अध्याय प्रायः सर्वांशतः 'भाषा-चन्द्रोदय' के आधार पर और अंशतः 'भाषातत्त्वबोधिनी' के आधार पर, दूसरा अध्याय 'व्याकरण की उपक्रमणिका', 'नवीन चन्द्रोदय'

१. "I am, in a great measure, indebted to the advice and suggestions of the accomplished Pandit Vishan Datta, who prepared the greater part of the last chapter and revised the entire book with me." Ethrington,—Ibid, Preface.

तथा 'भाषातत्त्वबोधिनी' के आधार पर तथा बारहवाँ अध्याय पण्डित विष्णुदत्त के द्वारा एवं मुङ्गेर के जॉन क्रिश्चियन के द्वारा (द स्टूडेण्ट्स ग्रामर ऑफ द हिन्दी लैङ्ग्वेज' के लिए अँगरेजी में लिखित छन्द: प्रकरण के आधार पर) लिखा गया था। सम्भव है, एथरिङ्गटन ने उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से भी कुछ सामग्री ली हो, किन्तु उनका स्पष्ट पता नहीं चलता। किन्तु; इतना निश्चित है कि उन्होंने जिस ग्रन्थ से सर्वाधिक सामग्री ली थी, वह ग्रन्थ 'भाषा-चन्द्रोदय' ही था।

एथरिङ्गटन ने 'भाषा-भास्कर' में 'भाषा-चन्द्रोदय' के तथ्यों को व्यवस्थित रूप से सजाने में अद्‌भुत संक्षेपण एवं सम्पादन-कला का परिचय दिया था। पण्डित श्रीलाल ने तथ्यों को मात्र एकत्र किया था, किन्तु एथरिङ्गटन ने एक कुशल माली के समान उनका परिष्कार करने के पश्चात् उन्हें व्यवस्था के सूत्र में अनुस्यूत कर एक सुन्दर माला का रूप प्रदान किया था। 'भाषा-भास्कर' के १२ वर्ष पूर्व पण्डित रामजसन ने 'भाषातत्त्वबोधिनी' की रचना में लगभग ऐसा ही प्रयास किया था, किन्तु उनकी कृति 'भाषा-चन्द्रोदय' की संक्षिप्त नकल बनकर रह गयी थी। उसके विपरीत एथरिङ्गटन का 'भाषा-भास्कर' अपने आधारग्रन्थ 'भाषा-चन्द्रोदय' से भी अधिक सफल और लोकप्रिय प्रमाणित हुआ।

'भाषा-भास्कर' की स्पृहणीय सफलता एवं अनुपम लोकप्रियता का सबसे प्रधान कारण उसकी भाषा का सरल एवं शैली का स्पष्ट होना था। पण्डित श्रीलाल के 'भाषा-चन्द्रोदय' की भाषा लद्धड़ एवं शैली अप्राञ्जल थी, किन्तु एथरिङ्गटन ने 'भाषा-भास्कर' में अत्यन्त स्पष्ट एवं प्राञ्जल भाषा-शैली का प्रयोग किया था। परिणामत:, वे ही तथ्य, जो 'भाषा-चन्द्रोदय' में उलझन-पूर्ण और दुरूह प्रतीत होते थे, 'भाषा-भास्कर' में आकर सुबोध बन गये। उदाहरणार्थ, एक ही तथ्य को प्रतिपादित करनेवाली दोनों ग्रन्थ की निम्न-लिखिस पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

भाषा-चन्द्रोदय : "जब वे अकार आदि स्वर केवल अपने ही स्वरूप से आते हैं तो उन्हें स्वर कहते और व्यञ्जन अर्थात् . क् आदि एक-एक हल अक्षर वा उनके संयोगी के साथ मिले हुए आते हैं तब उन्हें मात्रा कहते हैं और मात्रा होने से उनका स्वरूप भी पलट जाता है।"

भाषा-भास्कर : "अकार आदि स्वर जब व्यञ्जन से नहीं मिले रहते, तब उन्हें स्वर कहते हैं.......परन्तु जब ककार आदि व्यञ्जनों से मिलते हैं, तो इनका स्वरूप पलट जाता है और ये मात्रा कहाते हैं।"

इसी प्रकार, सम्पूर्ण ग्रन्थ में पण्डित श्रीलाल के द्वारा प्रतिपादित तथ्यों को एथरिङ्गटन ने अधिक स्पष्ट एवं व्यवस्थित ढङ्ग से सजाने का प्रयास किया था।

भाषा और शैली की विझर्झरता के अतिरिक्त पण्डित श्रीलाल ने प्रायः तथ्यों के विवेचन को भी, यत्र-तत्र अनपेक्षित विस्तार देकर दुरूह बना दिया था। एथरिङ्गटन ने अपनी सारग्राहिणी सूक्ष्मेक्षिका के सहारे उनके तथ्य-विवेचन के सारांश-मात्र को ही ग्रहण किया तथा उन्हें कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार, शब्दों के अधिकाधिक अपव्यय के कारण पण्डित श्रीलाल का 'भाषा-चन्द्रोदय' जहाँ टीका ग्रन्थ के समान लद्धड़ और बोझिल बन गया था, वहीं शब्दों की मितव्ययिता ने 'भाषा-भास्कर' को सूत्रग्रन्थ के समान चुस्त और ठोस बना दिया। एक उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। पण्डित श्रीलाल ने शब्द-विवेचन के प्रसङ्ग में हिन्दी के अकारान्त शब्दों को हलन्त प्रमाणित करने का असफल प्रयास करते हुए दो पृष्ठों को रँगने के पश्चात् स्वयं ऊबते हुए लिखा था—"हम प्रकृत वर्णन को छोड़ और प्रसङ्ग में प्रवृत्त हो गये थे, अब फिर वही प्रकृत वर्णन करते हैं।"[1] इसके विपरीत एथरिङ्गटन ने कुल एक ही वाक्य में (और वह भी पुस्तक की पाद-टिप्पणी में) अपना आशय व्यक्त करते हुए लिखा है कि "चेत रखना चाहिए कि हिन्दी-भाषा में अकारान्त शब्द प्रायः हलन्त के समान उच्चरित होते हैं।"[2] इसी प्रकार, अन्यत्र भी 'भाषा-चन्द्रोदय' से गृहीत प्रत्येक तथ्य को एथरिङ्गटन ने प्रायः सूत्र के रूप में ही उपस्थित किया था।

एथरिङ्गटन ने 'भाषा-चन्द्रोदय' के तथ्यों को सर्वत्र यथावत् ही नहीं ग्रहण किया था, अपितु जहाँ-तहाँ उनमें भी परिवर्त्तन एवं परिवर्द्धन करने की चेष्टा की थी। उदाहरणार्थ—पण्डित श्रीलाल ने शब्दों के वाचक और अपशब्द दो भेद माने थे[3], एथरिङ्गटन ने अपशब्द का उल्लेख भी नहीं किया।

---

१. भा० च०, पृ० ५–६।
२. भाषा-भास्कर, पृ० ३।
३. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० १२।

पण्डित श्रीलाल ने शब्दों के लिङ्ग पहचानने के लिए कुल दो लक्षण बताये थे[1], एथरिङ्गटन ने पाँच लक्षण बताये।[2] पण्डित श्रीलाल ने हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत शब्दों के लिङ्ग के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की थी, एथरिङ्गटन ने उन पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला।[3] पण्डित श्रीलाल ने हिन्दी के स्त्री-प्रत्यय पर अत्यन्त संक्षेप में विचार किया था[4], एथरिङ्गटन ने उन पर विस्तार से विचार किया।[5] पण्डित श्रीलाल ने वर्त्तमानकाल और भविष्यत्काल के भेदों की चर्चा नहीं की थी, किन्तु एथरिङ्गटन ने दोनों के दो-दो भेद किये।[6] पण्डित श्रीलाल ने क्रिया से बनने वाली कुल चार प्रकार की संज्ञाओं—कर्त्तृवाचक, कर्मवाचक, भाववाचक और क्रियाद्योतक की चर्चा की थी[7], एथरिङ्गटन ने उनमें एक करणवाचक को भी जोड़ दिया।[8] पण्डित श्रीलाल ने अव्यय के भेदों की स्पष्ट चर्चा नहीं की थी, एथरिङ्गटन ने उसको छह भेदों में बाँटकर सबका विस्तृत परिचय दिया।[9] पण्डित श्रीलाल ने समास के प्रसङ्ग में केवल कर्मधारय और बहुव्रीहि का उल्लेख किया था[10], एथरिङ्गटन ने तत्पुरुष, द्विगु, द्वन्द्व और अव्ययीभाव पर भी प्रकाश डाला।[11]

उपर्युक्त भिन्नताओं के अतिरिक्त दोनों लेखकों में एक सैद्धान्तिक भिन्नता भी थी। पण्डित श्रीलाल ने हिन्दी के उस ठेठ रूप को हिन्दी का आदर्श रूप माना था, जिसमें हिन्दी के स्वकीय तद्भव शब्दों के अतिरिक्त विदेशी या संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग न हो। हिन्दी-लेखकों में राजा लक्ष्मण सिंह ने भी भाषा के इसी रूप को अपना आदर्श माना था। अपने इसी सिद्धान्त के पालन के लिए पण्डित श्रीलाल ने 'भाषा-चन्द्रोदय' में प्रतिपादित नियमों के

---

१. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० १८। "ईकारान्त और तकारान्त शब्दों को छोड़कर बहुधा संज्ञा पुल्लिङ्ग है।"
२. भाषा-भास्कर, पृ० २२।
३. उपरिवत्, पृ० २२।
४. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० १९।
५. भाषा-भास्कर, पृ० २२–२५।
६. उपरिवत्, पृ० ४८।
७. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० ६९।
८. भाषा-भास्कर, पृ० ७५।
९. उपरिवत्, पृ० ८६।
१०. भाषा-चन्द्रोदय, पृ० १०१।
११. भाषा-भास्कर, पृ० ८५।

उदाहरण में यथासाध्य तद्भव शब्दों को ही चुनकर देने का प्रयास किया तथा सन्धि का प्रकरण बिलकुल छोड़ ही दिया। किन्तु, एथरिङ्गटन हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग को अनिवार्य मानते थे। इसीलिए, उन्होंने अपने ग्रन्थ में तत्सम्बन्धी नियम भी दिये तथा सन्धि पर भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला। यों, हिन्दी में विदेशी शब्दों के प्रयोग को उन्होंने भी हिन्दी के लिए अहितकर तथा अनावश्यक बताया तथा अपने ग्रन्थ में एक भी विदेशी शब्द का प्रयोग नहीं किया।[१]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि एथरिङ्गटन ने मुख्य रूप से पण्डित श्रीलाल तथा गौणरूप से पण्डित रामजसन एवं नवीनचन्द्र राय के द्वारा प्रस्तुत सामग्री का कहीं संक्षेपण करके, कहीं वाक्यान्तर्गत आये शब्दों के रूप, स्थान या क्रम में परिवर्त्तन करके और कहीं तथ्यों में अपनी ओर से कुछ जोड़-घटाव करके 'भाषा-भास्कर' को पूर्ववर्त्ती सभी व्याकरण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक सरल, स्पष्ट, उपयोगी और पूर्ण बनाने का प्रयास किया था। इस प्रकार, पण्डित श्रीलाल का 'भाषा-चन्द्रोदय' यदि हिन्दी-भाषा के तिमिराच्छन्न आकाश में चन्द्रोदय का सूचक बनकर आया था, तो एथरिङ्गटन का 'भाषा-भास्कर' निश्चय ही युग-प्रभात का अग्रदूत बनकर उदित हुआ था। यों, हिन्दी भाषा के स्वरूप के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से यह भी एक अधूरा अर्द्ध-प्रामाणिक तथा प्रारम्भिक प्रयास ही था।

पण्डित हरिगोपाल पाध्ये :

पण्डित हरिगोपाल पाध्ये की 'भाषातत्त्वदीपिका' सन् १८७१ ई० में प्रकाशित हुई थी। पण्डित कामताप्रसाद गुरु ने उक्त ग्रन्थ की चर्चा करते हुए लिखा है कि "पाध्ये महाशय महाराष्ट्र के थे, अतएव उन्होंने मराठी व्याकरण के अनुसार, कारक और विभक्ति का विवेचन, संस्कृत की रीति पर किया है और कई एक पारिभाषिक शब्द मराठी-व्याकरण से लिये हैं। पुस्तक की

---

१. "It needs no foreign aid, and all attempts to force such aid upon it only tend to mutilate it and obstruct its natural growth. In the following pages I have rejected all words of Arabic, Persian or Urdu origin, as well as all constructions that seem to me to belong more to Urdu than to Hindi."—Ethrington, Preface, p. 4.

भाषा में स्वभावतः मराठीपन पाया जाता है। यह पुस्तक बहुत कुछ अँगरेजी ढङ्ग पर लिखी गयी है।"[१]

भैरवप्रसाद मिश्र :

भैरव प्रसाद मिश्र का 'हिन्दी लघु व्याकरण' सन् १८७१ ई० में प्रकाशित हुआ था। वह एक सामान्य स्तर का छात्रोपयोगी व्याकरण था, जिसमें कहीं कोई मौलिकता नहीं थी।

जॉन डाउसन, एम० आर० ए० एस० :

डाउसन लन्दन के 'स्टाफ कॉलेज' में हिन्दुस्तानी के प्रोफेसर थे। उनका 'ए ग्रामर ऑफ द उर्दू ऑर हिन्दुस्तानी लैङ्ग्वेज' सन् १८७२ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि वे हिन्दुस्तानी को एकमात्र उर्दू का पर्याय मानते थे। हैदर जङ्गबहादुर तथा उनके समानधर्मा अन्य विद्वानों के समान वे भी उसे अरबी, फारसी और हिन्दी के मिश्रण से बनी एक नयी भाषा मानते थे।[२]

ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि उर्दू, अर्थात् हिन्दुस्तानी भाषा के व्याकरण को व्यवस्थित रूप देने का सारा श्रेय अँगरेजों को है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने गिलक्राइस्ट, शेक्सपियर, येट्स, आर्नोट तथा फार्बेस के ग्रन्थों का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[३] मोनियर विलियम्स के व्याकरण को उन्होंने

१. का० प्र० गु०, हिं० व्या०, भूमिका, पृ० ७।

२. The Urdu language, commonly called Hindustani, is a language formed by an admixture of the Arabic and Persian of the Muhammedan conquerers with the Hindi or vernacular language of the conquered Hindus.'

—John Dowson, p. 1.

३. "Urdu or Hindustani grammar has been developed and reduced to a system by English men, or under their supervision. From Gilchrist to Shakespear, and from Shakespear to Yates, Arnot and Forbes, each from new grammar has thrown new light upon the language, and has lightened the labour of learning it. Excellent as is the grammar of Forbes. both teachers and learners have long since discovered its deficiencies."—Ibid, p. 9.

पूर्ववर्त्ती सभी व्याकरणों से श्रेष्ठ कहा है और अपने ग्रन्थ में उससे सहायता लेने के कारण, उनके प्रति सादर आभार प्रकट किया है। उसका एकमात्र दोष उनके अनुसार यही है कि उसमें सर्वत्र रोमन-लिपि ही काम में लायी गयी है, जिसके कारण, उसे पढ़ने वालों को हिन्दुस्तानी लिपि का कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता।[१]

डाउसन ने अपने ग्रन्थ की रचना अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के ग्रन्थ के आधार पर ही की थी। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने यह भी दावा किया है कि उन्होंने उन ग्रन्थों के अभावों और त्रुटियों को यथासाध्य दूर करने का तथा अपने अध्ययन के आधार पर कतिपय नवीन तथ्यों को प्रकाश में लाने का कार्य भी किया है।[२]

डाउसन ने अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों पर यह आक्षेप किया है कि उनलोगों ने कतिपय तथ्यों को 'सरल और स्वतः स्पष्ट' कहकर छोड़ दिया है, जो उचित नहीं। यों तो, सर्वथा पूर्ण व्याकरण की रचना सम्भव ही नहीं है, किन्तु व्याकरण में बड़ी तथा छोटी, सभी बातों का उल्लेख होना चाहिए।[३]

अपने व्याकरण में देवनागरी-वर्णमाला के अति संक्षिप्त विवेचन के समावेश का कारण स्पष्ट करते हुए डाउसन ने बताया है कि 'बैतालपचीसी'

---

१. The grammar of Prof. Monier Williams made a great step in advance............But Prof. Monier Williams' grammar is printed entirely in the Roman character and so is unfitted for the use of young officials who have to read and Write the language in the character which the natives themselves employ".—Ibid, p. 9-10.

२. "In this work I have availed myself of the labours of my Predicessors and I fully recognise my obligations; but with their rules I have embodid the results of my own study and observation. In a few instances I have ventured to differ from those who have gone before me. But more has been done in the way of addition and classification and in the drawing of distinctions."—Ibid, p. 10.

३. "It may be impossible to produce a perfect grammar but the smallest matters should be included in it as well as the greatest."—Ibid.

और 'सिंहासनबतीसी' जैसे ग्रन्थों को पढ़ने के लिए देवनागरी वर्णों को जान लेना भर पर्याप्त है; क्योंकि व्याकरण की दृष्टि से वे ग्रन्थ उर्दू के ही हैं, हिन्दी के नहीं।[१]

विषय-विवेचन की दृष्टि से डाउसन का व्याकरण एक सामान्य ग्रन्थ है, जिसकी सारी बातें पूर्ववर्त्ती व्याकरण-ग्रन्थों से गृहीत हैं। इसमें रोमन और फारसी दोनों लिपियों का उपयोग हुआ है। देवनागरी की वर्णमाला-मात्र दी गयी है।

यद्यपि डाउसन ने अपने ग्रन्थ को मात्र उर्दू के अर्थ में हिन्दुस्तानी का व्याकरण कहा है, किन्तु वास्तव में वह उस हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण है, जिसे उनके पूर्ववर्त्ती विदेशी वैयाकरणों ने हिन्दी, उर्दू, रेख्ता और दखिनी, सबके लिए एक पर्यायवाची नाम के रूप में स्वीकार किया था। इसलिए, हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में इस ग्रन्थ का विवेचन अनुचित या अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। हम यह पहले भी बता चुके हैं कि केवल लिपि की भिन्नता या विदेशी शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग से कोई भाषा सर्वथा नयी भाषा नहीं बन जाती। अतः, जिसे डाउसन ने उर्दू कहा है, वह वास्तव में हिन्दी से भिन्न कोई इतर भाषा नहीं है।

'बैतालपचीसी' तथा 'सिंहासनबतीसी' की भाषा को व्याकरण की दृष्टि से उर्दू मानना डाउसन का कोरा भ्रम था। किसी भाषा की पहचान मुख्य रूप से उसके क्रियापदों, सर्वनामों और कारकचिह्नों से होती है और इस निकष पर उक्त ग्रन्थ शुद्ध हिन्दी के ठहरते हैं। यह बात 'बैतालपचीसी' की इन पंक्तियों को देखने से स्पष्ट हो जायगी : "बैताल बोला, ऐ राजा विक्रम, कुसुमावती नामक एक नगरी है, वहाँ के राजा का नाम सुविचार, उसकी बेटी का नाम चन्द्रप्रभा, जब वह बर योग्य हुई, तब एक दिन वसन्त ऋतु में सखियों के साथ ले बाग की सैर को चली, वहाँ राजकन्या के आने से पहिले एक ब्राह्मण का लड़का बरस बीस का अति सुन्दर मनखी नाम कहीं से फिरता हुआ उस बाग में आ एक वक्ष के नीचे ठण्ढी छाँह पाकर सो रहा था।"

---

१. "A short chapter on the Devanagari alphabet gives all that is necessary for enabling a student to master it, and to read such books as the Baital Pachisi and Singhasan Bathisi, which so far atleast relates to grammer and construction, are Urdu rather than Hindi."—Ibid, p. 14.

यदि यह भाषा हिन्दी नहीं है, तो मानना होगा कि हिन्दी नाम की कोई भाषा कभी अस्तित्व में नहीं आयी। यों, डाउसन की तरह पण्डित रामचन्द्र शुक्ल[१] ने भी इसे उर्दू ही माना है तथा लल्लूलाल[२] ने इसे 'रेखते की बोली' कहा है, किन्तु इसका एकमात्र कारण भाषावैज्ञानिक दृष्टि का अभाव ही माना जायगा। इस सम्बन्ध में, सन् १८६९ ई० में प्रकाशित 'सिंहासनबतीसी' के नूतन संस्करण के सम्पादक सैयद अब्दुल्ला द्वारा लिखित उक्त ग्रन्थ की भूमिका का एक ही वाक्य हमारी मान्यता की सिद्धि के लिए पर्याप्त होगा। उन्होंने लिखा है कि 'जिस भाषा में सिंहासनबत्तीसी लिखी गयी है, वह हिन्दी, हिन्दुस्तानी, संस्कृत, फारसी और अरबी-मिश्रित भाषा है, पर प्रधानता हिन्दी-तत्त्व की है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि डाउसन ने जिस 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू कहा है, वह वास्तव में हिन्दी ही है और इस प्रकार उनका व्याकरण भी हिन्दी का ही व्याकरण है, चाहे वह रोमन या फारसी-लिपि में ही क्यों न प्रकाशित हुआ हो।

जॉन बीम्स :

बीम्स आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में कार्य करने वाले प्रथम विद्वान थे। उनका 'भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (ए कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ द मॉडर्न आर्यन लैङ्ग्वेज ऑफ इण्डिया) 'ध्वनि', 'संज्ञा और सर्वनाम' तथा 'क्रिया' शीर्षक तीन खण्डों में, क्रमशः सन् १८७२ ई०, सन् १८७५ ई० तथा सन् १८७९ ई० में, लन्दन के 'ट्युबनर ऐण्ड को' से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में उन्होंने हिन्दी, पञ्जाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, उड़िया तथा बँगला की व्याकरणिक कोटियों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। इस ग्रन्थ को लिखने की प्रेरणा उन्हें डॉ० काल्डवेल के 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' को देखकर मिली थी,[३] जो सन् १८५६ ई० में

१. रा० च० शु० : हि० सा० इ०, पृ० ४२१।

२. ल० सा० वा० : हि० सा० इ०, पृ० ४८।

३. "It was, I think, in 1865 that I first saw Dr. Caldwell's Grammar of the Dravidian Languages, and it immediately accured to me that a similar book was much wanted for the Aryan group."—Beams, Comp. Gram., Preface, pp. 12–13.

प्रकाशित हुआ था। इसीलिए, अपने ग्रन्थ की रचना में उन्होंने काल्डवेल की पद्धति को ही अपना आदर्श बनाया था।

ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में बीम्स ने १२३ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका लिखी थी, जिसके प्रारम्भ में संस्कृत को उपर्युक्त सभी आधुनिक आर्यभाषाओं का उद्गम-स्रोत माना था।[1] किन्तु, उस संस्कृत से उनका तात्पर्य वेद, उपनिषद्, धर्म-ग्रन्थ या साहित्यिक ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा से न होकर उस भाषा से था, जो वाल्मीकि एवं व्यास के युग में आर्यों के द्वारा बोली जाती थी[2] अर्थात् जो संस्कृत का साहित्यिक रूप न होकर लौकिक रूप रहा होगा। इस प्रसङ्ग में उन्होंने दूसरी बात यह बतायी थी कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ संस्कृत से विकसित तो हुई हैं, किन्तु उनमें कुछ तत्त्व ऐसे भी हैं, जिनका सम्बन्ध आर्य-स्रोत से होने पर भी संस्कृत से नहीं है तथा कुछ अन्य तत्त्व ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध न तो संस्कृत से है और न आर्यस्रोत से ही।[3] आर्यस्रोत के तत्त्वों से बीम्स का तात्पर्य उन तत्त्वों से था, जो संस्कृत से होकर प्राकृत में नहीं आये थे और संस्कृत-स्रोत के तत्त्वों से उनका तात्पर्य उन तत्त्वों से था, जो

---

१. "We are justified in accepting so far the native opinion that Sanskrit is the parent of the whole family."
—Ibid, Introduction, p. 2.

२. (i) "The statement that Sanskrit is the Parent of the modern vernaculars must be greatly modified, and we should have to substitude the term Middle-Aryan to indicate the spoken language of the contemporaries of Valmiki and Vyasa."—Ibid.

(ii) "The spoken Sankrit is the fountain from which the languages of Aryan India originally sprung."
—Ibid.

३. "These materials may be classed under two heads. First, those which are Aryan, though not Sanskritic, Secondly, those which are neither Sanskritic nor Aryan but something else."—Ibib, p. 3.

संस्कृत से होकर प्राकृत में आये थे।[१] फिर, आर्य तथा संस्कृत, इन दोनों स्रोतों से भिन्न तीसरे स्रोत के तत्त्वों से उनका तात्पर्य अनार्य (अर्थात्, आर्यों के आगमन के पूर्व से ही भारत में निवास करने वाली जाति की) भाषाओं के तत्त्वों से था।[२]

उपर्युक्त मान्यताओं को स्पष्ट करने के प्रसङ्ग में बीम्स ने आर्यों के कई दलों में विभक्त होकर भिन्न-भिन्न कालों में भारत में आगमन, यहाँ के मूल निवासियों से सङ्घर्ष तथा पारस्परिक प्रभाव आदि की चर्चा की थी। फिर, आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के शब्द-समूह को तत्सम, तद्भव और देशज इन तीन वर्गों में बँटा था। तद्भव के दो भेद किये थे : संस्कृत तद्भव और प्राकृत तद्भव।[३] देशज शब्दों को मुख्य रूप से अनार्य स्रोत से सम्बद्ध

---

१. "Still there are words, and those not a few, which can be traced back to the Prakrits, as these popular forms of speech are called, though no signs of them exist in Sanskrit, and this is especially the case where two words of like meaning were current in the mouths of the people, one of which, from the accident of its being a popular form of some word in use in the Vedas, or from some other cause, was selected for refined and scholarly use, while the other was branded as Vulgar, rejected, and left for the service of the masses. This class of words it is which I have classed as Aryan, though not Sanskritic."—Ibid, p. 6.

२. "There are consequently to be found even in Sanskrit some words which have a very un-Aryan look, and the number of such words whose origin it is difficult to trace from Aryan beginnings."—Ibid, pp. 9–10.

३. "Of these there are two sorts, so distinguished from one another that it is impossible to mistake them. The one class consists of those words which were in use in Prakrit, and in which the Prakrit-Process have been carried one step further. The other contains words which apparently have not come through Prakrit form, as they exhibit a more perfect form, and a nearer approach to the Sanskrit than the Prakrit form does." pp. 13–14.

माना था।[१] बँगला, उड़िया तथा मराठी में उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग सबसे अधिक, हिन्दी और गुजराती में अपेक्षाकृत कम तथा पञ्जाबी और सिन्धी में सबसे कम माना था।[२] किन्तु, तद्भव शब्दों का प्रयोग सबसे अधिक हिन्दी में माना था।[३]

वीम्स ने आधुनिक आर्यभाषाओं में हिन्दी को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना था। उन्होंने लिखा था कि, "यद्यपि हमारे बङ्गाली और मराठी मित्र हमारी इस मान्यता को स्वीकार नहीं करना चाहेंगे, किन्तु इस सम्बन्ध में हमारे तर्कों को ध्यान से पढ़ने के पश्चात् उन्हें भी हिन्दी के सर्वोपरि महत्त्व को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ेगा या सम्भव है, वे तब भी नहीं मानें।[४] उन्होंने अन्तर्वेद (अर्थात् मध्यदेश) को हिन्दी का मुख्य क्षेत्र बताते हुए लिखा था कि "यों तो हिन्दी की अनेक बोलियाँ हैं, किन्तु उसका एक सर्वमान्य व्यापक रूप भी है, जिसका विकास दिल्ली के आसपास के क्षेत्र में हुआ था और जो सर्वत्र शिक्षितों के द्वारा एक रूप से बोली और समझी जाती है।" उस रूप से उनका तात्पर्य खड़ीबोली हिन्दी से था।[५] उन्होंने हिन्दी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा था कि यह संस्कृत की वास्तविक उत्तराधि-

---

१. "Desajas are those words which can not be derived from any Sanskirt word, and are therefore considered to have been borrowed from the aborigines of the country, or invented by the aryans in post–Sanskritic times."
—Ibid, p. 12.

२. "The proportion of Tatsama words is greatest in Bengali Oriya and Marathi; less in Hindi and Gujrati; and least in Panjabi and Sindhi."—Ibid, p. 29.

३. "In Hindi there are more Tadbhava words than in any other language, it is in this respect the most useful and instructive of all them to the philologists."—Ibid, p. 30.

४. "My Bengali and Marathi friends will probably not agree with me in giving the palm to Hindi until they read my reasons for so doing, and perhaps not even then."—Ibid, p. 31.

५. "Throughout the whole of this vast region, though the dialects diverge considerably, one common universal form of speech is recognised, and all educated persons

कारिणी है तथा आधुनिक युग में इसका अन्यान्य भाषाओं के बीच वही स्थान है, जो प्राचीन युग में संस्कृत का था।[१]

उर्दू को उन्होंने हिन्दी से अभिन्न माना था। हिन्दी पर अरबी-फारसी के प्रभाव की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि इन सारे प्रभावों के रहते हुए भी हिन्दी एक शुद्ध आर्यभाषा है और उर्दू उसका एक विशेष रूप या बोली है। उर्दू को हिन्दी से भिन्न भाषा मानना भाषाशास्त्र के सर्वमान्य सिद्धान्तों की उपेक्षा करना है।[२] बिना आर्यभाषा के शब्द का प्रयोग किये उर्दू में एक वाक्य भी नहीं लिखा जा सकता, किन्तु अरबी-फारसी के एक शब्द का भी प्रयोग किये बिना ही अनेक वाक्य लिखे जा सकते हैं।[३]

---

use it. This common dialect had its origin apparently in the country round Delhi, the ancient capital and the form of Hindi spoken in that neighbourhood was adopted by degrees as the basis of a new phase of language, in which, though the inflections of nouns and Verbs remained purely and absolutely Hindi, and a vast number of the commonest vocables were retained, a large quantity of persian and Arabic and even Turkish words found a place, just as Latin and Greek words do in English."—Ibid, pp. 31–32.

१. "It is therefore the legitimate heir of the Sanskrit, and fills that in the modern Indian system which Sanskirt filled in the old."—Ibid, p. 31,

२. "Such (Persian and Arabic) words, however in no way altered or influenced the language itself, which, when its inflectional or phonetic elements are considered, remains still a pure Aryan dialect, just as pure in the pages of Wali or Sauda, as it is in those of Tulsi Das or Bihari Lal. It betrays therefore a radical misunderstanding of the whole bearings of the question, and of the whole science of philology, to speak of Urdu and Hindi as two distinct languages."—Ibid, p. 32.

३. "The most correct way of speaking would be to say 'the Urdu dialect of Hindi,' or 'the Urdu phase of Hindi'. It would be quite impossible in Urdu to compose a single sentence without using Aryan words, though many sentences might be composed in which not a single Persian word occured."—Ibid. Foot note, p. 32.

हिन्दी के सर्वोपरि महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला था कि भारत की सभी आधुनिक आर्यभाषाएँ कभी हिन्दी की ही बोलियाँ थीं, जिनका आगे चलकर स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकास हुआ।[१] भाषा के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का परिचय देते हुए उन्होंने अपनी इस मान्यता को अटल बतलाया था कि आधुनिक आर्यभाषाओं के संश्लेषणात्मक से विश्लेषणात्मक स्थिति में आने में अनार्य-भाषाओं का कोई भी प्रभाव नहीं था;[२] क्योंकि वे अभी स्वयं एक सीढ़ी पीछे, अर्थात् अभिश्लेषणात्मक स्थिति में हैं।[३]

भाषाओं के विकास की अवस्था की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी को अन्य सभी आधुनिक आर्यभाषाओं से आगे माना था तथा तत्समबहुला भाषाओं (जैसे बँगला आदि) को अपेक्षाकृत कम विकसित घोषित किया था।[४] हिन्दी के सम्बन्ध में अपनी उपर्युक्त मान्यता को प्रमाणित करते हुए उन्होंने लिखा था कि आकारान्त संज्ञाओं को छोड़कर हिन्दी की अन्य सभी संज्ञाएँ विभक्तियों से रहित हो चुकी हैं। बहुवचन की विभक्तियों (जैसे एँ, आँ, ओं) के स्थान पर

---

१. "All the other languages of the group were originally dialects of Hindi, in this sence that Hindi represents the oldest and most widely diffused from of Aryan speech in India."—Ibid, p. 33.

२. "I do strenuously deny that they (the non-Aryan languages) have had any hand in the formation of the analytical system which the aryan tongues at present exhibit." —Ibid, p. 48.

३. "Now it is very certain, as certain as anything can will be, that all the non-Aryan languages of India are still in the agglutinative stage."—Ibid, p. 46.

४. "We find in most instances that those languages which are most prone to the use of Tatsama words are also most backward in development. The almost advanced language is the Hindi, which is closely followed by the Panjabi and Gujarati."—Ibid, p. 48.

भी प्रायः 'सब' और 'लोग' जैसे शब्दों के प्रयोग होने लगे हैं।[१] सर्वनाम चूँकि प्राकृत होकर आये हैं, इसलिए उनमें विभक्तियों का प्रयोग अभी होता है।[२] संज्ञाओं की कारक-रचना भी संस्कृत से नितान्त भिन्न पद्धति से होती है।[३] क्रियाओं में तो संस्कृत की विभक्ति-पद्धति का सर्वथा लोप हो चुका है। उनके रूपान्तर मुख्यतः संस्कृत के 'अस्' और 'भू' धातु से बनी हुई स्वतन्त्र क्रियाओं एवं कृदन्तों के योग से होते हैं। केवल संस्कृत के 'प्रेजेण्ट इण्डिकेटिव' से विकसित हिन्दी का 'इण्डिफनिट प्रेजेण्ट' संश्लेषणात्मक रह गया है।[४]

उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन के पश्चात् उन्होंने सातों विवेच्य भाषाओं की लिपियों, वर्णों एवं ध्वनियों के उच्चारण की विशेषताओं पर तुलनात्मकपद्धति से विचार किया था। इसके अतिरिक्त, सब के साहित्येतिहास का भी संक्षिप्त विवेचन किया था। बँगला-साहित्य की चर्चा के प्रसङ्ग में उन्होंने विद्यापति को

१. "In Hindi the noun has lost nearly all traces of inflection the only vestiges remaining are the modification of the base in the oblique cases of nouns ending in ã or ah... and the terminations of the plural eṉ, āṉ, oṉ; and in common talk the plural is very little used, a paraphrastic construction with 'sab' or 'log' being generally preferred."—Ibid, pp. 48–49.

2. "The pronouns exhibit a slight advance upon the Prakrit form, but have evidently come down to modern time through Praktit, and therefore retaịn more of an inflectional character."—Ibid, p. 49.

३. "The noun owes to Sanskrit merely its base, or crude form. All its cases are formed out of its own resources, resources perhapse themselves of Sanskirt origin, but put together and employed in a way quite foreign to Sanskrit ideas."—Ibid, p. 49.

४. "In the Verb Hindi has still more markedly thrown away the Sanskrit inflectional system. The Hindi Verb is an arrangement of Participles conjugated by means of the substantive verbs, derived from the roots 'as' and 'bhoo' only one tense is synthetical, the indefinite present, corrupted from the present indicative of the Sanskrit."—Ibid.

भ्रमवश बङ्गला भाषा का प्रथम कवि मान लिया था।[१] फिर, सभी भाषाओं के रूपों एवं बोलियों की चर्चा की थी एवं उनके उद्भवकाल पर प्रकाश डाला था। हिन्दी के प्रारम्भ का समय उन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास माना था[२] तथा अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं को अपेक्षाकृत अर्वाचीन बतलाया था।[३] भूमिका के अन्त में संक्षेप में सभी भाषाओं के भविष्य पर विचार करते हुए हिन्दी के उर्दू रूप को भारत की अन्तर्देशीय भाषा होने की सम्भावना व्यक्त की थी।[४] भूमिका के पश्चात् सातों भाषाओं की वर्णमाला की सारिणी दी थी।

दूसरे अध्याय में स्वर-ध्वनियों का, तीसरे में सामान्य व्यञ्जनों का और चौथे में संयुक्त व्यञ्जनों का इतिहास प्रस्तुत किया था। उदाहरणों की प्रचुरता के कारण यह खण्ड अत्यधिक रोचक तथा महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुआ था।

---

१. Ibid, pp. 84–85.

२. "We may therefore fix upon the eleventh century, or about one hundred years before Chand, as the epoch of the rise of Hindi, or the principal modern language of the group."—Ibid, p. 117.

३. "In chronological sequence, therefore, we may place the Hindi with its subsidiary forms, Gujarati and Panjabi first, fixing their rise and establishment as modern languages, distinct from their previous existence as Prakrits, in the eleventh century. Second comes Marathi, which remained a Prakrit till the twelfth or even thirteenth century; and third Oriya, which must have quite completed its transformation by the end of the fourteenth. Bengali was no seperate independent language, but a maze of dialects without a distinct national or provincial type, till the seventeenth or beginning of the eighteenth century......Sindhi having very little literature and no fixed system of writing remains a mystry."

—Ibid, p. 120.

४. Idid, p. 121.

ग्रन्थ के 'संज्ञा एवं सर्वनाम' शीर्षक दूसरे खण्ड के प्रथम अध्याय में, उक्त भाषाओं की संज्ञाओं के मूलरूप की रचना का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक विवेचन किया था। इसी प्रकार, दूसरे अध्याय में लिङ्ग, तीसरे में संज्ञाओं के रूपान्तर तथा चौथे में सर्वनामों पर विचार किया था।

ग्रन्थ के 'क्रिया' शीर्षक तीसरे खण्ड के प्रथम अध्याय में क्रियाओं के मूलरूप की बनावट, दूसरे में सरलकाल, तीसरे में कृदन्तीयकाल, चौथे में संयुक्त-काल, पाँचवें में क्रिया के अन्य रूपों का तथा छठे में निपातों का विवेचन किया गया था।

बीम्स का उक्त ग्रन्थ यद्यपि अब बहुत पुराना हो चुका है, तथापि उसका महत्त्व आजतक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। किसी भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा पर शोध करनेवाले अनुसन्धित्सुओं के लिए उसका अध्ययन अनिवार्य है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि "आजतक न तो बीम्स के ग्रन्थ का दूसरा संस्करण हो सका और न कोई अधिक पूर्ण ग्रन्थ इस विषय पर निकल सका। अतः, त्रुटिपूर्ण तथा अत्यन्त पुराना होने पर भी बीम्स का ग्रन्थ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विद्यार्थी के लिए अब भी महत्त्व रखता है।" इस ग्रन्थ का हाल ही में एक नवीन संस्करण निकला है।

ए० एफ्० रुडोल्फ हॉर्नली :

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उद्‌घाटित करने वाले विदेशी अनुसन्धित्सुओं में बीम्स के साथ हॉर्नली का नाम सदा स्मरणीय बना रहेगा। हॉर्नली का जन्म सन् १८४१ ई० के १९ अक्टूबर को आगरा के निकट सिकन्दरा नामक स्थान में हुआ था। वे काशी के जयनारायण कॉलेज में बहुत दिनों तक संस्कृत और दर्शनशास्त्र के अध्यापक रहे थे। इन विषयों के अतिरिक्त भाषा-शास्त्र की ओर भी उनकी पर्याप्त रुचि थी। वहीं रहकर उन्होंने 'गौड़ीय भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण के लिए सहायक निबन्ध' शीर्षक एक महत्त्व-पूर्ण निबन्ध लिखा था, जो सन् १८७२ ई० तथा सन् १८७३ ई० में बङ्गाल के 'एसिएटिक सोसाइटी जर्नल' में लेखमाला के रूप में प्रकाशित हुआ था।[२]

---

१. डॉ० धी० व० : हि० भा० इ०, वक्तव्य।

२. 'Essay in aid of a comparative Grammar of Goudian languages.'–Journal, A. S. Bengal, 1872, Part I, pp. 120–174., 1873, Part I. pp. 59–106.

काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार, "यह लेखमाला विद्वन्मण्डली को बहुत ही चमत्कारिणी जान पड़ी। यह हॉर्नली साहब की पहली लिखावट होने पर भी नामाङ्कित पण्डितों के मत को चक्कर देने वाली और साहब को पण्डितों में गिना देने वाली हुई। उन दिनों भाषा-पण्डितों का एक वृन्द यह सिद्ध कर रहा था कि हिन्दी-भाषा के व्याकरण की जड़ विदेशी (किसी के मत से द्राविड़ी और किसी के मत से सिमेटिक) है; अतः हिन्दी अनार्य है—अर्थात् संस्कृत से नहीं निकली हुई है। प्रत्युत, संस्कृत के विद्वान मैक्सम्यूलर, म्योर, डी० ट्यासी, ट्रम्प प्रभृति नामी लोग जोर मार रहे थे कि नहीं, हिन्दो संस्कृत से ही है। विपक्षी पण्डितों के सिद्धान्त का सबसे अधिक अवलम्बन सम्बन्ध की विभक्ति (का, के, की) पर था और लाख प्रयत्न करने पर भी संस्कृत से इसकी व्युत्पत्ति का ठीक-ठीक प्रमाण संस्कृत वाले नहीं दे सके। आर्यभाषा (सं०, ग्री० लै०, जं०, पा० आदि) के तत्त्वज्ञों में बाप्प महोदय एक अद्वितीय पण्डित हो गये हैं। उन्होंने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, पारसी, जर्मन आदि समस्त आर्य-भाषाओं का एक ही सर्वसाधारण व्याकरण बनाया है। बाप्प ने इस (का, के, की) के गोरखधन्धे को 'युष्माकम्, अस्माकम्' के 'क' और किसी-किसी ने 'कीय' के 'क' से सुरझाने का प्रयत्न किया। पर, इनकी युक्तियाँ निर्बल सिद्ध हुईं। विपक्षियों को ठीक उत्तर नहीं मिल सका। अन्ततः, डॉ० हॉर्नली ने इसको लिया। उन्होंने अपनी उक्त लेखमाला में पहला प्रकरण षष्ठी विभक्ति ही का रखा जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक रीति पर इसके मर्मों का पता लगाया। जिस तरह इस विभक्ति के रूप संस्कृत-शब्दों से प्राकृत में पहले प्रत्यय और फिर विभक्ति-दशा को और तदनन्तर प्राकृत से हिन्दी के—न केवल हिन्दी के, वरन उसी हिन्दी के उद्भव-स्थल से सिन्धी, मराठी, गुजराती, बँगला, उड़िया, काश्मीरी के भी साम्प्रत रूप में आए। यह सारा इतिहास उदाहरणों सहित डॉ० साहब ने सम्मुख रख दिया। यह प्रकृत, मनोहर और पाण्डित्यपूर्ण आविष्कार, विपक्षी विद्वानों को भी माननीय हुआ; क्योंकि इस लेखमाला के बहुत दिनों के बाद डॉ० साहब का व्याकरण प्रकाशित हुआ, सो न उसमें और न और कहीं विपक्षी दल को किसी नई विरुद्ध युक्ति का उल्लेख मिलता है।"[१]

हॉर्नली के उपर्युक्त लेख ने विद्वानों को इतना अधिक प्रभावित किया कि सन् १८७२ ई० के दिसम्बर में (जबकि अभी लेख का कुछ ही अंश प्रकाशित

---

१. 'सरस्वती', भाग, ४, सं० १० अक्टूबर, १९०३ ई०।

हो पाया था) वे 'एसिएटिक सोसाइटी' के सभासद चुन लिये गये। यही लेख आगे चलकर उनके 'गौड़ीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (ए कम्परेटिव ग्रामर ऑफ द गौडियन लैङ्ग्वेजेज) का आधार बना, जो सन् १८८० ई० में लन्दन के 'ट्युवनर एण्ड को० ५७ और ५६ लड्गेट हिल' से प्रकाशित हुआ।

उपर्युक्त ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही हॉर्नली का यश एक श्रेष्ठ भाषाशास्त्री के रूप में न केवल भारत में, अपितु सम्पूर्ण यूरोप में भी फैल गया।[१] सन् १८८२ ई० में फ्रान्स की 'इन्स्तिच्यूत द फ्रान्स' नामक सभा ने उन्हें उक्त ग्रन्थ पर 'वॉल्नी प्राइज' देकर सम्मानित किया। यह पुरस्कार एक स्वर्णपदक था, जो पूर्वीय भाषाओं पर, वर्ष-भर में प्रकाशित सर्वोत्तम ग्रन्थ पर, पेरिस में दिया जाता था। 'गौडियन लैङ्ग्वेजेज' अर्थात् 'गौड़ीय भाषा-समूह' से उनका तात्पर्य उत्तरी भारत में प्रचलित सिन्धी, गुजराती, पञ्जाबी, हिन्दी, बङ्गला, उड़िया तथा मराठी—इन सात भाषाओं के समूह से था, जो संस्कृत-गोत्र की भाषाएँ थीं।[२]

हॉर्नली ही पहले विद्वान थे, जिन्होंने हिन्दी-भाषासमूह को पूरबी हिन्दी तथा पश्चिमी हिन्दी के दो वर्गों में विभक्त किया था तथा दोनों वर्गों की भाषाओं को एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न बतलाया था।[३] उन्होंने हिन्दी के

---

१. "It (the grammar) at once established his fame throughout Europe, as a philologist of the first rank." —from the Proceedings, Asiatic Society of Bengal, for January, 1899.

२. "I have adopted the term Gaudian to designate collectively all North Indian vernaculars of Sanskirt affinity, for want of a better word; not as being the least objectionable, but as being the most convenient one."

—Hoernle, C. Gr., Introduction. p. (1), Foot note.

३. As a matter of fact, two entirely different languages are spoken in the so called Hindi area; one in the western, the other in the eastern half. For the sake of convenience, these two languages will be called in this treatise Western Hindi and Eastern Hindi; but the terms are not altogether good ones, as they give too much of an impression that Western and Eastern Hindi are merely

अन्तर्गत आठ मुख्य बोलियाँ : पश्चिमी राजस्थानी, पूरबी राजस्थानी, व्रजभाषा, कन्नौजी, बैसवाड़ी (या अवधी), भोजपुरी, मैथिली और मगही मानी थीं। इनमें से प्रथम चार को पश्चिमी हिन्दी के और और शेष चार को पूरबी हिन्दी के अन्तर्गत स्थान दिया था।

गौड़ीय भाषा-समूह के सम्बन्ध में हॉर्नली की अधिकांश स्थापनाएँ प्रमाण-पुष्ट तथा मौलिक होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुई थीं, किन्तु कई स्थलों पर पूर्वाग्रह-ग्रस्त रहने के कारण भ्रामक आधार को सही समझकर उन्होंने गलत स्थापनाएँ भी दी थीं। उदाहरणार्थ; हिन्दी की बोलियों की चर्चा के प्रसङ्ग में उन्होंने 'उच्च हिन्दी' तथा उर्दू की जननी खड़ीबोली का कहीं उल्लेख तक नहीं किया था और व्रजभाषा से पहले उर्दू का और फिर उर्दू से उच्च हिन्दी का विकास बतलाया था।[१] इस सम्बन्ध में उन्होंने दूसरी भ्रामक स्थापना यह दी थी कि उच्च हिन्दी एक नितान्त आधुनिक भाषा है, जिसका प्रारम्भ अँगरेजी शिक्षा एवं ईसाई मिशनरियों के प्रचार-कार्य के कारण उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ।[२] इतना ही नहीं, उन्होंने इसके साथ ही यह भी

two different dialects of the same (Hindi) language. In reality they are as distinct from one another, as B. in the east and P. in the west are supposed to be distinct from what is commonly called Hindi. Indeed the likeness between E. H. and B. is much closer than between E. H. and W. H., and on the other hand, the affinity between W. H and P. is much greater than between W. H. and E. H. In short W. H. and E. H. have as much right to be classed as distinct languages rather than different dialects, as P. H. and B."—Ibid, pp. I & II.

१. "This latter (High Hindi) is merely a modified form of the Braj dialect, which was first transmuted into the Urdu by curtailing the amplitude of its inflexional forms and admitting a few of those peculiar to Panjabi and Marwari, afterwards Urdu was changed into High Hindi." —Ibid, p. VI.

२. "The High Hindi dates only from the present century. It is an outcome of the Hindu revival under the influence of English Missions and Education. Naturally enough, Urdu, the dominant and official dialect, came

लिखा था कि उच्च हिन्दी केवल साहित्य की ही भाषा है और यह केवल नगरों में उच्च वर्ग के लोगों के द्वारा ही बोली जाती है तथा यह किसी स्थान-विशेष के जनसामान्य की बोली नहीं है।[१]

उपर्युक्त निराधार एवं भ्रान्तिमूलक मान्यताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हॉर्नली ने स्वयं इस विषय पर अनुसन्धान या स्वतन्त्र चिन्तन नहीं किया था। उन्होंने एसिएटिक सोसाइटी जर्नल में ग्रियर्सन के द्वारा लिखित एतद्विषयक भ्रामक कथन को आँख मूँदकर सही मान लिया था।

हॉर्नली के उक्त ग्रन्थ में क्रमशः स्वर और व्यञ्जन, उच्चारण और शब्दों के परिवर्त्तन, प्रत्यय, धातु, संज्ञा के रूपान्तर (वचन, लिङ्ग, कारक) विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय तथा पूरबी हिन्दी के नमूने पर प्रकाश डाला गया था। अन्त में, भाषा का मानचित्र तथा गौड़ीय भाषा-समूह की भिन्न-भिन्न लिपियों की सारिणी दी गयी थी। अन्यान्य सामान्य व्याकरण की तरह इसमें संस्कृत के समास या सन्धि आदि का विवेचन नहीं किया गया था।

ग्रन्थ की रचना में हेमचन्द्र, वररुचि, क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय तथा त्रिविक्रम के प्राकृत-व्याकरणों से विशेष सहायता ली गयी थी। इनमें प्रथम दो के ग्रन्थों को छोड़कर. उस समय अन्य के ग्रन्थ अमुद्रित ही थे। जयनारायण कॉलेज के पण्डित गोपालभट्ट से ग्रन्थ की रचना में उन्हें विशेष सहयोग प्राप्त हुआ था।

इसी व्याकरण की रचना के क्रम में हॉर्नली ने ५८२ हिन्दी-धातुओं का एक सङ्ग्रह भी तैयार किया था, जो 'बङ्गाल एसिएटिक सोसाइटी के जर्नल' में प्रकाशित हुआ था।[२] हाल में उसका हिन्दी-संस्करण 'हिन्दी-धातुसंग्रह' के

---

to hand in this movement and was Hinduised or turned into High Hindi by exchanging its Persian and Arabic elements for words of native origin (more or less purely Sanskrit)." —Ibid, p. vii.

१. "It appears, then that there are three different forms of speech current in the Hindi area; viz. the H. Hindi or Urdu, the W. Hindi and the E. Hindi. The first of these is nowhere the Vernacular of the people, but it is the language of literature, of the towns, and of the higher classes of the population." —Ibid.

२. Journal of the Asiatic Society, Bengal : Part I, Vol XLIX, No. 11. 1880.

नाम से डॉ० विश्वनाथ प्रसाद के निर्देशन में आगरा-विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है।

इसमें सन्देह नहीं कि हॉर्नली के ग्रन्थ के द्वारा प्रायः समस्त गौड़ीय भाषाओं के अनेक स्थूल एवं सूक्ष्म मर्मों का प्रामाणिक उद्‌घाटन अत्यन्त सफलतापूर्वक हुआ था, साथ ही सबके भीतर पारस्परिक समानता और भिन्नता पर भी इसमें प्रकाश डाला गया था। व्याकरण के प्रायः सभी प्रमुख विषयों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता थी। खासकर हिन्दी-ध्वनियों के इतिहास के सम्बन्ध में जो सामग्री प्रस्तुत की गयी थी, उसमें लेखक को अपार श्रम करना पड़ा होगा। इसमें, यद्यपि सभी गौड़ीय भाषाओं तथा हिन्दी की सभी बोलियों का यत्किञ्चित् विवेचन किया गया था; किन्तु, विवेचन का मुख्य आधार पूरबी हिन्दी को ही बनाया गया था। यही कारण है कि पूरबी हिन्दी के स्वरूप-ज्ञान तथा व्याकरणिक परिचय के लिए यह ग्रन्थ आज भी अनुसन्धित्सुओं तथा छात्रों के लिए अनुपम महत्त्व का अधिकारी बना हुआ है।

दामोदर शास्त्री :

दामोदर शास्त्री का 'भाषादर्श-बालव्याकरण' सन् १८७४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसकी रचना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से हुई थी।[१] यह पुस्तक निम्न कक्षा के छात्रों को ध्यान में रखकर लिखी गयी थी, जो उसके नाम से ही स्पष्ट है। इसका दूसरा संस्करण सन् १८८३ ई० में, बुद्धोदय प्रेस, बाँकीपुर से निकला था, जिसके मुखपृष्ठ पर ग्रन्थ का परिचय इस प्रकार छपा हुआ है : "भाषादर्श-बालव्याकरण अर्थात् हिन्दी भाषा का बालकों की शिक्षा का परमोपयोगी प्रथम व्याकरण हिन्दी भाषा के एकमात्र आश्रय भारतभूषण भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्र के सहवास से उनके निज सुहृत् श्री दामोदर शास्त्री ने बनाया।"

शास्त्रीजी ने 'प्रस्तावना' में पुस्तक के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "भाषा जानने को मुख्य सहायक साधन व्याकरण है, सो हिन्दी भाषा में, वैसी अल्प बुद्धि वालों को लाभदायक, कोई नहीं प्रतीत होता;

---

१. दा० शा० : भा० बा० व्या०; प्रस्तावना : "मैं इसमें मेरे परम आधार प्राणाधिक प्रियतम श्री बाबू हरिश्चन्द्र जी को अनन्त धन्यवाद देता हूँ; क्योंकि जिनके सहवास से मेरी इसमें प्रवृत्ति हुई।"

यद्यपि बहुत हैं और सुन्दर रचित हैं, तथापि किसी में कविता की प्रबन्धरीति वा सन्धि विचार आदि प्रारम्भ ही में देख कर बालक एकबारगी घबड़ाते हैं और उसमें अच्छी रीति से बोध नहीं पाते, इस हेतु मैंने यथामति यह बालव्याकरण (भाषादर्श) नाम का बना कर विद्यार्थियों को अर्पित किया है। इसमें संज्ञा शब्द अँगरेजी में भी प्रायः दिये हैं; क्योंकि आजकल विद्यारम्भ से लड़कों को अँगरेजी पढ़ाते हैं और वे अँगरेजी में स्वर आदि का लक्षण कह सकते हैं, परन्तु ह्वावेल को हिन्दी में क्या कहते हैं यह नहीं जानते, इससे यह उनको बहुत उपकारी होगा।"[१]

पुस्तक-रचना के आधार को स्पष्ट करते हुए उन्होंने स्वीकार किया था कि यह प्रायः अँगरेजी और संस्कृत के अनुसार लिखा है तथापि बहुत से स्थलों में जैसा लिङ्ग, वचन, प्रयोग आदि में भिन्न हैं, वहाँ नोट (टिप्पणी) से कहीं-कहीं भिन्नता भी दिखाई है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी दावा किया था कि "यह अल्पपुस्तक होकर भी संस्कृत और अँगरेजी दोनों भाषा को सहायक होगा, यह मुझे पूर्ण विश्वास और अनुभव भी है।"[२]

उसमें शब्द को पहले, ध्वन्यात्मक (इनआर्टिकुलेट) और वर्णात्मक (आर्टि-कुलेट) दो भागों में बाँटा गया है। फिर, उनके नाम, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय; पाँच भेद किये गये हैं। नाम के, विशेषनाम (प्रोपरनाउन) और सामान्य नाम (कामन नाउन) दो ही भेद माने गये हैं। सर्वनाम को पुरुष-वाचक दर्शक सम्बन्धी (डिमॉन्स्ट्रेटिव), प्रश्नार्थक और सर्वनाम (इन डिफनिट प्रोनाउन) की कोटियों में विभक्त किया गया है।

पुरुषवाचक सर्वनाम के वचन के सम्बन्ध में विचार करते हुए शास्त्रीजी ने लिखा है कि "प्रायः हिन्दी में हम, तुम, ऐसी ही बात करते हैं, वहाँ इसको आदरार्थी अनेक वचन कहते हैं और इसी के अनुसार हमलोग, तुमलोग आदि अनेक वचन बनाते हैं। अहं त्वं का ही यह अपभ्रंश है।"[३]

'ने' के प्रयोग को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'ने' शब्द योगी अव्यय वा तृतीया विभक्ति का प्रत्यय प्रायः सब व्याकरणकारों ने प्रथमा का माना है, कारण संस्कृत के अनुसार 'रामः रावणं जघान', इस वाक्य का अर्थ राम ने

---

१. दा० शा० : भा० बा० व्या०, प्रस्तावना।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्, पृ० १७।

रावण को मारा, ऐसा करना पड़ता है और इसीलिए उनको 'ने' को प्रथमा का प्रत्यय मानना पड़ता है। परन्तु, कर्मणि प्रयोग के जो आगे नियम दिखाये हैं, उनसे यह उनकी पूरी भूल जान पड़ेगी, क्योंकि यह निश्चय है कि जहाँ भूतकालीन सकर्मक क्रिया होगी, वहाँ कर्त्ता की प्रथमा 'ने' घटित होती है। और, जहाँ वर्त्तमानकालिक क्रिया हो, वहाँ कर्त्ता और तृतीया भी प्रथमा के समान होती हैं। यथा 'रामेण रावणः हन्यते' अर्थात् राम रावण को मारता है। इन दोनों कर्त्तरि और कर्मणि के अर्थ काव्यपाठी राम रावण को मारता भया और राम से रावण मारा जाता है, ऐसा करते हैं।"[१]

पुस्तक में 'अर्थ' (मूड) की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"जिस क्रियापद के आकार से कर्त्ता का मनोभिप्राय जाना जाता है, उसे अर्थ कहते हैं।"[२] इसके स्वार्थ (इण्डिकेटिव), आज्ञार्थ (इम्परेटिव), सङ्केतार्थ (कण्डिशनल), सम्भावनार्थ या विध्यर्थ (पोटेन्शियल) और संशयार्थ (सबजङ्क्टिव) पाँच भेद माने गये हैं।

अव्यय के भी क्रियाविशेषण, उभयान्वयी, शब्दयोगी, विस्मयादिबोधक और धातुसाधिक (प्रेजेण्ट परफेक्ट पार्टिसिपुल) पाँच वर्ग किये गये हैं।

वर्त्तमान काल के तीन भेद माने गये हैं—रीतिवाचक (प्रेजेण्ट इन-डिफनिट), अपूर्ण वर्त्तमान (प्रेजेण्ट इम्परफेक्ट) और सामान्य वर्त्तमान (प्रेजेण्ट)। भूत के भूत (पास्ट), वर्त्तमान भूत (परफेक्ट), भूतभूत (प्लू पर-फेक्ट), अपूर्णभूत (पास्ट इम्परफेक्ट), रीतिभूत (पास्ट इनडिफनिट) तथा भविष्यभूत (पास्ट फ्यूचर), छह भेद बताये गये हैं,[३] जिनके उदाहरण क्रमशः 'किया, किया है, किया था, कर रहा था, करता था तथा करनेवाला था' दिये गये हैं। भविष्य के भविष्यत् (फ्यूचर), अपूर्ण भविष्य (फ्यूचर इम्परफेक्ट) वर्त्तमान भविष्य (प्रेजेण्ट फ्यूचर), भूत भविष्य तथा भविष्य भविष्य (फ्यूचर प्रोस्टेक्टिव) नाम से पाँच भेद माने गये हैं[४] और इनके उदाहरण क्रमशः 'करूँगा, करता होगा, किया होगा, किया होगा तथा करनेवाला होगा' बताये गये हैं। पुस्तक के अन्त में चिह्नों की भी अपर्याप्त चर्चा है।

पुस्तक की भाषा अत्यन्त अव्यवस्थित और अशुद्धिपूर्ण है जो ग्रन्थ के उद्धृत अंशों से ही स्पष्ट है। इसमें प्रश्नोत्तर की शैली अपनायी गयी है।

---

१. उपरिवत्, पृ० १७।
२. उपरिवत्, पृ० ३४–३५।
३. उपरिवत्, पृ० ५६।
४. उपरिवत्, पृ० ५७।

प्रारम्भ में वर्णों का परिचय तथा उनके उच्चारण-स्थान संस्कृत-व्याकरण के अनुसार दिये गये हैं, किन्तु शेष भाग में मुख्यरूप से अँगरेजी-व्याकरण तथा अँगरेजी में लिखे हिन्दुस्तानी-व्याकरणों का ही उपयोग किया गया है। इस प्रकार, मिलाजुला कर विद्यार्थियों के हितार्थ 'भाषादर्श' का कड़ुआ घोल तैयार कर दिया गया है, जो समझ कर स्वाद लेने की अपेक्षा रट कर निगल जाने के ही अधिक अनुकूल है। अधिकांश पारिभाषिक शब्दों के अँगरेजी-पर्याय, जो कहीं-कहीं भ्रामक भी हैं, कोष्ठों में दे दिये गये हैं, ताकि विद्यार्थी एक ही साथ अँगरेजी और हिन्दी दोनों का व्याकरण समझ ले।

पेज्जोनी विकारिओ :

पेज्जोनी इटली के रहनेवाले थे। उन्होंने इतालवी भाषा में 'ग्रामेटिका इटालियाना इन्दोस्ताना' नामक हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण स्वदेशियों के हितार्थ लिखा था, जो सन् १८७४ ई० में रोमन कैथोलिक प्रेस से प्रकाशित हुआ था।

यह ४६२ पृष्ठों का ग्रन्थ है, जिसमें रोमन, फारसी तथा देवनागरी, तीनों लिपियों का उपयोग किया गया है। प्रारम्भ में फारसी तथा देवनागरी की वर्णमाला भी दी गयी है।

जॉन० टी० प्लाट्स :

प्लाट्स का 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' सन् १८७४ ई० में लन्दन के विलियम एच्० एलेन ऐण्ड को०, १३ वाटरलू प्लेस' से प्रकाशित हुआ था। वे भारत के मध्यप्रदेश में बहुत दिनों तक शिक्षा-निरीक्षक (इन्सपेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) रह चुके थे। उनका उक्त ग्रन्थ मुख्यतः उर्दू का व्याकरण था, जिसमें 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग उन्होंने उर्दू के अर्थ में ही किया था। किन्तु, उन्होंने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि "उर्दू अर्थात् हिन्दुस्तानी एक मिश्रित भाषा है, जिसका जन्म हिन्दी से हुआ है। इसमें फारसी और अरबी का पर्याप्त प्रभाव रहने पर भी इसका मुख्य स्रोत हिन्दी ही है।[1] इसीलिए, अपने व्याकरण को उन्होंने न केवल उर्दू के छात्रों के

१. "Urdu or Hindustani, though a composite language is derived mainly from the Hindi. The Persian and Arabic languages have contributed largely, but Hindi is the chief source." Platts, Hindustani Grammar, p. P.

लिए, अपितु उसके अनेक स्थलों को हिन्दी के छात्रों के लिए भी उपयोगी बताया था।[१] मुख्यतः, हिन्दी के उर्दू रूप के अध्ययन की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द :

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का 'हिन्दी-व्याकरण' जिसे उन्होंने 'श्रीमन्महाराजाधिराज पश्चिमोत्तर देशाधिकारी श्रीयुत नव्वाब लेफ्टिनेण्ट गवर्नर बहादुर की आज्ञानुसार' बनाया था, सन् १८७५ ई० में 'बनारस मेडिकल हाल' के छापेखाने में छापा गया था। राजा साहब ने ग्रन्थ के आवरण-पृष्ठ पर, पहले तो तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश के डी० पी० आइ० के द्वारा वहाँ की शिक्षा-प्रगति के सम्बन्ध में उपस्थित किये गये सन् १८७३–७४ ई० के प्रतिवेदन की वे पंक्तियाँ उद्धृत की थीं,[२] जिनमें हिन्दी और उर्दू के लिए एक ही सामान्य व्याकरण की आवश्यकता एवं सम्भवनीयता पर जोर दिया गया था और उसके बाद जॉन बीम्स के 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ द मॉडर्न आर्यन लङ्ग्वेजेज' का एक वाक्य उद्धृत किया था[३], जिसमें भाषावैज्ञानिक आधार पर हिन्दी और उर्दू को परस्पर अभिन्न घोषित किया गया था।

---

१. "Students of Urdu and Hindi in the schools of India especially will, I trust, find this portion (derivation and origin of words, and the formation of the cases and tenses) of the work both interesting and instructive."

—Ibid, Preface, p. 7.

२. "I hope, however, erelong, it may be possible to have a common grammar for both forms of the vernacular (Urdu and Hindi) and convertiable scientific terms." —Director's Report on the Progress of Education in the N. W. Provinces for 1873–74. p. 138.

३. "It betrays, therefore, a radical misunderstanding of the whole bearings of the question and of the whole science of philology to speak of Urdu and Hindi as two different languages."—John Beams, Comparative Grammar of the Modern Aryan Lauguages, p. 32.

राजा साहब उपर्युक्त दोनों ही मान्यताओं से पूर्णतया सहमत थे और उन्होंने वास्तव में, उन्हीं मान्यताओं को मूर्त्त करने के लिए अपने व्याकरण की रचना भी की थी। ग्रन्थ की भूमिका के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा था कि "हमारी भाषा का दो सर्वथा भिन्न लिपियों में लिखा जाना तो अपने-आप में विचित्र है ही, किन्तु उससे भी अधिक विचित्र बात उसके लिए अलग-अलग दो व्याकरणों का होना है।"[१]

हिन्दी का परिचय देने के प्रसङ्ग में उन्होंने उर्दू से उसकी अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए लिखा था कि "वाणी अर्थात् भाषा बोली को कहते हैं, यहाँ मतलब हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी बोली से है, अर्थात् जो अब हिन्द अथवा हिन्दुस्तान के सर्कार, दर्बार अथवा हाट-बाज़ार में बोली जाती है। लश्कर के बाजार को तुर्की में उर्दू कहते हैं, दिल्ली के बादशाहों के लश्कर का बाज़ार उर्दू-इ-मुअल्ला कहलायी। समय पाकर मुअल्ला उड़ गया, केवल उर्दू रह गया। क्रिया के रूप और उनके बनाने की रीतें निराली हैं, पर संज्ञा इसमें संस्कृत, अरबी, पारसी, तुर्की और अँगरेजी बहुत आ मिली हैं। कुछ शुद्ध बोली जाती हैं, कुछ अपभ्रंश होकर अर्थात् बदल कर अशुद्ध कहने में आती हैं और वही मीठी समझी जाती हैं। जब वह पारसी अक्षरों में लिखी जाती है, विशेष करके उर्दू और हिन्दुस्तानी कहलाती है, जिसमें हिन्दी अथवा भाषा कहने से देवनागरी अक्षरों का भ्रम न हो। हिन्दी विशेष करके उसी को कहते हैं, जो देवनागरी अक्षरों में लिखी जाय। बहुधा पारसी अक्षरों में अरबी, पारसी, तुर्की के शब्द शुद्ध और अधिक और संस्कृत और अँगरेजी के अशुद्ध और बहुत थोड़े और इसी तरह देवनागरी में संस्कृत के शुद्ध और अधिक और बाकी प्रायः अशुद्ध और थोड़े लिखे जाते हैं, परन्तु जो लोग संस्कृत, पारसी, अँगरेजी तीनों जानते हैं, जहाँ तक बन पड़ता है सब शुद्ध लिखते-पढ़ते हैं।"[२]

---

१. "It is strange enough that our vernacular should be constantly expressed in .two such diverse characters as the Persian and Nagari, one written from right to left and the other from left to right. But it is quite unique in having two grammars'.—Shiva Prasad, Hindi Vyakaran, Preface.

२. शि० सि०, हि० व्या०, पृ० १।

उर्दू को ज़बरन हिन्दी से भिन्न प्रमाणित करने के लिए उसमें अरबी, फारसी शब्दों की अधिकाधिक रेल-पेल करने की प्रवृत्ति पर अफसोस जाहिर करते हुए उन्होंने लिखा था कि "एक दिन था कि नव्वाब सआदत अली खाँ के मुंशी इंशाल्लाह खाँ ने कहानी बनायी, एक शब्द भी उसमें अरबी-पारसी का आने न दिया। अब वह दिन है कि लखनऊ वालों की लिखावट से यदि कई एक क्रिया और उपसर्ग निकाल कर पारसी के लिख दो पत्र के पत्र उर्दू से पारसी बन जायें। सच्च है, कोई बोली कभी एक ढंग पर नहीं रहती, सदा गिर्गिट की तरह रंग बदला करती है।"[१]

राजा साहब के अनुसार "हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषा मानने का भ्रम गिलक्राइस्ट के समय से प्रारम्भ हुआ। इस भ्रम को जन्म देने वाले उन्हीं के वे पण्डित और मौलवी थे, जिन्हें उत्तरी भारत की जनसामान्य भाषा का एक व्याकरण लिखने के लिए कहा गया था। मौलवी लोग संस्कृत से पूर्णत: अनभिज्ञ होने के कारण इस तथ्य से अपरिचित थे कि देशभाषा आर्यभाषा परिवार की है, फलत: उन लोगों ने पूर्णत: अरबी और फारसी के आधार पर अपना व्याकरण बनाया। दूसरी ओर पण्डितों ने देशभाषा पर सेमेटिक प्रभाव की सर्वथा उपेक्षा करते हुए संस्कृत और प्राकृत के आधार पर अपने व्याकरण का निर्माण किया। व्याकरण की इसी द्विविधता के कारण देशभाषा दो भिन्न रूपों में विकसित होने लगी, जिनमें एक फारसी प्रधान रूप उर्दू का था, जिसका प्रयोग कार्यालयों में होता था और दूसरा संस्कृत प्रधान रूप हिन्दी का था, जिसमें प्रेमसागर की रचना हुई थी।"[२]

---

१. उपरिवत्, पृ० २।

२. "The absurdity began with the Maulvis and Pandits of Dr. Gilchrists' time, who being commissioned to make a grammar of the common speech of Upper India, made two grammars, the one excludingly Persian and Arabic, the other excludingly Sanskrit and Prakrit. The Maulvis knew nothing of Sanskrit and ignored the Aryan basis of the vernacular. The Pandits were equally intolerant in refusing to recognise the semitic aftergrowth. Hence arose the Persian-Urdu of the public offices, which is unintelligible to the mass of the population, and the almost equally unintelligible pure Hindi of Premsagar."—Shiva Prasad, Preface, p. 1.

राजा साहब ने देशभाषा के उपर्युक्त दोनों रूपों को सामान्य जनवर्ग के लिए अबोधगम्य और अग्राह्य बताते हुए लिखा था कि "इनमें से एक पर्याप्त रूप से राष्ट्रीय नहीं होने के कारण सर्वग्राह्य नहीं है और दूसरे में बचकाने ढङ्ग से उन परिस्थितियों की उपेक्षा की गयी है, जिन्होंने उर्दू को भाषा का रूप प्रदान किया।"[१] इन दोनों रूपों के प्रचलन के दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "देशभाषा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्रदान करने के लिए पाठशालाओं में जहाँ एक ही व्याकरण को नागरी और फारसी दोनों लिपियों में छाप कर काम चलाया जा सकता था, उसके बदले वहाँ हम नितान्त भिन्न प्रकार के दो व्याकरणों का प्रचलन पाते हैं, जिनमें से एक का उपयोग मुसलमानों और कायस्थों के द्वारा और दूसरे का ब्राह्मणों और बनियों के द्वारा किया जाता है। इससे अच्छा तो सम्भवतः यह होता कि इन दोनों के बदले अँगरेजी पद्धति से लिखित किसी 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' का ही उपयोग किया जाता, जिसमें कम-से-कम आर्य तत्त्वों का परिरक्षण तो रहता ही है, साथ ही सेमेटिक प्रभाव की अवहेलना भी नहीं रहती।"[२] उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह भी बताया था कि देशभाषा के अध्ययन में इस द्विविध व्याकरण-प्रणाली के उपयोग से किसी भी प्रकार के लाभ की आशा नहीं की जा सकती, इसलिए यही समय है, जबकि इस असङ्गति का

---

१. "The one is not national enough to be acceptible to all, and the other childishly ignores the circumstances under which Urdu became a language."—Ibid.

२. "The evil consequence is that instead of having a school grammar of the Vernacular as such, or in other words one grammar capable of being conveyed indifferently in persian and Nagari characters, we have two diverse and discrepant class books, one for Muhammadan and Kayastha boys and the other for Brahmans and Banias. It would perhapse have been better to have adopted a Hindustani Grammar based on the English system, which at any rate has this merit that it preserves the Aryan element without discarding the semitic adjuncts."

—Ibid.

निराकरण या परिशोधन कर लेना श्रेयस्कर होगा।"[१] उन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के निमित्त अपने व्याकरण की रचना की थी। राजा साहब मानते थे कि देशभाषा के व्याकरण को संस्कृत या अरबी के व्याकरण का अनुसरण नहीं कर केवल भाषा के प्रचलित प्रयोगों का अनुसरण करना चाहिए।[२] उन्होंने अपने व्याकरण में इसी सिद्धान्त के पालन का दावा किया था।[३] अपने ग्रन्थ में संस्कृत और अरबी दोनों भाषाओं के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "चूँकि देशभाषा की उत्पत्ति प्राकृत के माध्यम से संस्कृत से हुई है, इस कारण उसके व्याकरण में पारिभाषिक शब्द संस्कृत के ही होने चाहिए। किन्तु, आज का वह शिक्षित वर्ग, जिसका समाज में विशेष बोलबाला है, संस्कृत की अपेक्षा फारसी से ही विशेष परिचित है, इस कारण उर्दू-व्याकरण में संस्कृत की अपेक्षा फारसी के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त है।"[४]

---

१. "My experience in the management of Vernacular schools in the N. W. Provinces has added force to the conviction that no useful purpose can be served by teaching two such grammars............It is time that this anomaly was corrected or partially removed."

—Ibid, p. 2.

२. "In one form of the vernacular the accidence has been forced into accord with the grammar of Sanskrit, in another with the grammar of Arabic, where as in the natural order of things the grammar should follow the usage."—Ibid, Preface, p. 2.

३. "I have threfore endeavoured, while using different characters, convey the same principles of accedence in each, and thus avoid the inconsistencies and incongruities I have referred to."—Ibid.

४. "I have, however, used a double set of technicalities but so ranged that each corresponds to each so as to be interchangeable, instead of being as before the landmarks of two different languages. It might indeed be urged that, the base of vernacular being Sanskrit through Prakrit, and the Persian and Arabic element

ग्रन्थ के उद्देश्य की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया था कि "इस ग्रन्थ का एक उद्देश्य पण्डितों और मौलवियों को एक दूसरे के व्याकरण को समझने की अन्तरदृष्टि प्रदान करना भी है ताकि उनमें मतैक्य हो सके और वे साथ मिलकर देशभाषा की उन्नति में अपना योगदान प्रदान कर सकें।"[१]

भूमिका के अन्त में राजा साहब ने लिखा था कि "मैं जानता हूँ कि विशुद्धता और पाण्डित्य के दर्प से चूर देशी पण्डित हम पर प्रहार करने में नहीं चूकेंगे, साथ ही वे लोग भी, जो विद्वान कहलाने के अधिकारी नहीं हैं और सरकार द्वारा होने वाले देशी भाषा की शिक्षा के प्रचार और प्रगति के विरोधी हैं; हमारे प्रयास की खिल्ली उड़ायेंगे। किन्तु, हमारा विश्वास है कि वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में सामञ्जस्य स्थापित करने वाले सत्प्रयासों के समान हमारे प्रयास को भी लोगों का समर्थन अवश्य प्राप्त होगा।"[२]

---

being added rather than incorporated, the technicalities of the grammar should be Aryan rather than semitic, but on the other hand it is admitted that the educated classes, who have the chief voice, are familiar with Persian rather than Sanskrit. ....So the Arabic terms.........of the Persian grammars may be appropriately used for the grammar of Urdu in preference to the Sanskrit."—Ibid. p. 2–3.

१. "One object of this is to create a better understanding between the Pandits and Maulvis by giving each an insight into the grammatical prejudices of the other, and thus to lead them, if possible, to combine forces for the improvement of their common vernacular."—Ibid, p. 3.

२. "I am aware that I shall be attacked by native scholars, who pin their faith to purity and pedantry, and by others, less worthy of the name of scholars, who look with disfavour on the development of vernacular education in the hands of Government. But I hope that the foregoing remarks will not be without effect in conciliating that favour which is due to all honest efforts to combine conflicting interest, especially when such efforts are made in the groove of advancing science."

—Ibid, p. 4.

राजा साहब ने अपने व्याकरण में तथ्यों का विवेचन एक नयी पद्धति से किया था। उन्होंने प्रायः प्रत्येक पृष्ठ को तीन खण्डों में बाँटा था, जिनमें क्रमशः सूत्र, टिप्पणी और उदाहरण दिये गये थे।[1] उन्होंने अपनी पद्धति की नवीनता की चर्चा करते हुए लिखा था कि "मेरे व्याकरण में विवेचन की पद्धति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नया नहीं है।"[2]

ग्रन्थ में सर्वप्रथम व्याकरण की परिभाषा[3] देते हुए उसके अन्तर्गत केवल शब्द और वाक्य को ही विवेच्य माना था। हिन्दी की ध्वनियों या वर्णमाला की कोई चर्चा नहीं की थी। उन्होंने, चूंकि देशभाषा के, हिन्दी और उर्दू, दोनों रूपों को एक ही व्याकरण की डोर में बाँधने का प्रयास किया था, इसलिए अपने व्याकरण में न केवल संस्कृत और अरबी-फारसी के पारिभाषिक शब्द साथ-साथ दिये थे, अपितु देशभाषा में उपर्युक्त स्रोतों से आगत प्रचलित शब्दों तथा अन्य प्रकार के प्रभावों का विवेचन भी साथ-ही-साथ किया था। जहाँ कहीं दोनों स्रोतों में सामञ्जस्य स्थापित करना सम्भव नहीं था, उन सभी तत्त्वों का विवेचन ग्रन्थ के मूल भाग में नहीं करके, परिशिष्ट में किया था, जैसे—तद्धित, कृदन्त, सन्धि आदि। संस्कृत तथा अरबी-फारसी छन्दों में कोई समता नहीं दिखा पाने के कारण ही उन्होंने छन्द-प्रकरण को अपने ग्रन्थ में कहीं स्थान ही नहीं दिया था।[4]

---

१. "My plan is to treat each point in detail in the way of 1. Aphorisms, for the memory, 2. Commentary, or explanation, 3. Example and illustration,—and the type and numbering of the sections are arranged accordingly."—Ibid, Preface, p. 3.

२. "Nothing new will be discovered in this grammar beyond what is inseparable from the mode of treatment adopted."—Ibid, p. 3,

३. व्याकरण अर्थात् शब्द-रचना और वाक्य-रचना वह विद्या है जिससे वाणी शुद्ध रहती है अशुद्ध नहीं होने पाती।—शिवप्रसाद सितारे हिन्द (हि० व्या०) पृ० १।

४. Prosody is omitted, because it is beyond my present aim to suggest the means of reducing the Sanskrit and Arabic rules to common system, applicable to vernacular metrical composition in both forms alike."—Ibid, p. 4.

शब्दों को उन्होंने सार्थक और निरर्थक के दो वर्गों में बाँटा था। फिर, सार्थक शब्दों को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया था। पहले में उनके वाचक, लक्षक और साङ्केतिक, तीन भेद; दूसरे में अयौगिक और यौगिक दो भेद और तीसरे में संज्ञा, क्रिया और उपसर्ग तीन भेद किये थे। संज्ञा को धातु, धातुज और रूढ़ि इन तीन वर्गों में बाँटा था।

धातु का वर्गीकरण भी उन्होंने दो प्रकार से किया था, एक में उसके स्वाभाविक और कृत्रिम और दूसरे में अकर्मक और सकर्मक भेद किये थे। सकर्मक के एककर्मक, द्विकर्मक और त्रिकर्मक, तीन प्रकार माने थे और फिर उसे कर्त्तृप्रधान और कर्मप्रधान के दो भेदों में विभक्त किया था। इसी प्रकार, धातुज संज्ञा के कर्त्तृवाचक, कर्मवाचक और भाववाचक तीन भेद माने थे।

विशेष्य और विशेषण की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था, "संस्कृत में सभी संज्ञा किसी-न-किसी धातु से निकली हैं जिनका धातु मालूम नहीं होता वही कभी कदाचित रूढ़ि कहलाती हैं और दो ही प्रकार की देखने में आती हैं अर्थात् गुणवाचक जो विशेषण हो सकें और वह जो गुणवाचक न होने के कारण विशेष्य हो सकें। विशेषण सदा अपने विशेष्य के अधीन रहते हैं अर्थात् दोनों एक ही अवस्था में अर्थात् कारक में रहा करते हैं, इसी कारण संस्कृत में अधिक भाग प्रभाग इत्यादि का बखेड़ा नहीं है कर्त्तृवाचक और कर्मवाचक को भी उसी गुणवाचक अर्थात् विशेषण में रख दिया है किन्तु अरबी में गुणवाचक के सिवाय सिफ़तिसुशब्बहा अर्थात् गुणवाचक तुल्य को धातुज का एक भेद मानकर कर्त्तृवाचक और कर्मवाचक के अतिरिक्त उसमें और भी दो प्रकार के कर्त्तृवाचक अर्थात् तफ़ज़ील अर्थात् आधिक्यवाचक और मुबालग़ा अर्थात् अत्युक्तिवाचक जुदा-जुदा गिन लिये हैं और हमारी समझ में तो अरबी के आला अर्थात् करणवाचक भी एक प्रकार के कर्त्तृवाचक ही हैं।"[१]

रूढ़ि के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "रूढ़ि वह शब्द है कि नाम हो किसी वस्तु का और न आप किसी दूसरे शब्द से निकला हो और न उससे कोई दूसरा शब्द निकल सके अर्थात् न किसी नियम के साथ किसी धातु से निकला हो और न वह आप धातु हो।"[२] रूढ़ि को उन्होंने दो भेदों में बाँटा था, व्यक्तिवाचक और जातिवाचक। फिर, व्यक्तिवाचक के, नाम,

१. शिवप्रसाद सितारे हिन्द : हि० व्या०, पृ० ११-१२।

२. उपरिवत्, पृ० १३।

सर्वनाम, सङ्केतवाचक, सापेक्ष, चारों का सम्बन्धवान और सम्बोधन, छह भेद माने थे।

लिङ्ग के विवेचन में उन्होंने प्राणीवाचक के लिङ्ग को वास्तविक और अप्राणीवाचक के लिङ्ग को अवास्तविक बताया था। अवास्तविक लिङ्ग के श्रुत और अनुमित दो भेद माने थे और उनका परिचय देते हुए लिखा था, "श्रुत वह है जिसके लिए कोई नियम नहीं, केवल विद्वानों से जैसा सुना जाता है, बोला जाता है। अनुमित वह है जिसके लिये कोई रीत नियम हो।"[१] उभयलिङ्गी शब्दों के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि उनका स्त्रीलिङ्ग ही बोलना अच्छा है। इसी प्रकार, सन्दिग्ध लिङ्ग वाले शब्दों के सम्बन्ध में उन्होंने बताया था कि उनका पुल्लिङ्ग बोलना ही अच्छा है। वचन की अति सामान्य चर्चा की थी और बहुवचन के ओ, ओं, ए, एँ और आँ पाँच चिह्न माने थे।

विकार या परिवर्त्तन की दृष्टि से उन्होंने संज्ञा के विकारी और अविकारी दो भेद किये थे। उन्होंने आकारान्त को विकारी और शेष सबको प्रायः अविकारी की कोटि में रखा था। अविकारी का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था कि "अविकारी वह है, जिसके अन्त में आ न होवे और यदि हो, तो वह व्यक्तिवाचक संज्ञा या संस्कृत या पारसी या अरबी का शब्द होवे और पारसी और अरबी ही के तौर पर काम में आवे अर्थात् हिन्दी न बन जावे या हिन्दी ही का होवे, किन्तु पारसी और अरबी के तौर पर काम में आवे। वह विभक्तिवाचक उपसर्ग के आने से अर्थात् उनका असर होने से चाहे वह प्रकट हों चाहे गुप्त बदलता नहीं।"[२] उन्होंने 'विभक्तिवाचक उपसर्ग' शब्द का प्रयोग परसर्ग अर्थात् कारक-चिह्नों के अर्थ में किया था।

संज्ञा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को भिन्न-भिन्न कारकों का आधार बताते हुए उन्होंने लिखा था कि "संस्कृतवालों ने सम्बोधन के सिवाय संज्ञा की सात अवस्था अर्थात् विभक्ति मानी है; अर्थात् १. कर्त्ता, २. कर्म, ३. करण, ४. सम्प्रदान, ५. अपादान, ६. सम्बन्ध और ७. अधिकरण। किन्तु, हमारी समझ में आठवीं समापक भी माननी चाहिए थी।"[३] फिर, उन्होंने चिह्नों के साथ सभी कारकों का विवेचन किया था तथा प्रत्येक के विशिष्ट प्रयोगों की भी संक्षिप्त चर्चा की थी।

---

१. उपरिवत्, पृ० १९।

२. उपरिवत्, पृ० २५।

३. उपरिवत्, पृ० २५–२६।

विकारी संज्ञाओं के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि 'विकारी वह है, जिसके अन्त का 'आ' विभक्तिवाचक उपसर्गों से अर्थात् उनका असर होने से चाहे वह प्रकट विद्यमान हों, चाहे गुप्त बदल कर ए बन जाता है ।"[१] फिर, अन्य प्रकार के शब्दों में होने वाले विकारों की चर्चा करते हुए लिखा था कि "सम्बन्ध का चिह्न उपमावाचक उपसर्ग और गुणवाचक संख्या ये भी उनके सम्बन्धवान उपमेय और विशेष्य पर यथाक्रम विभक्तिवाचक उपसर्गों के आने से विकारी संज्ञा की तरह बदल जाते हैं । सर्वनाम में अस्पष्ट अर्थात् सङ्केत-वाचक और सापेक्ष्य और अस्पष्टाश्रित अर्थात् परिप्रश्नवाचक और अनिश्चय-वाचक में भी बहुधा नियमविरुद्ध विकार होते हैं ।"[२] इसके पश्चात्, उन्होंने सर्वनामों की रूप-रचना को एक तालिका के द्वारा स्पष्ट किया था ।

क्रिया के प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा था कि "क्रिया वह है, जिसमें भूत, वर्त्तमान और भविष्यत इन तीन कालों में से कोई काल पाया जाय । सम्भावना में वर्त्तमान और भविष्यत दोनों काल पाये जाते हैं, परन्तु यह एक प्रकार का भविष्यत ही है और इसीलिए सम्भाव्य भविष्यत भी कहलाता है । विधि भी क्रिया है और पारसी अरबी में निषेध भी क्रिया का एक जुदा भेद माना है । यह छओं क्रिया धातु से निकलती हैं ।"[३] भूतकाल के उन्होंने सात भेद माने थे—सामान्य भूत, आसन्न भूत, अन्तरित भूत, सन्दिग्ध भूत, हेतु हेतुमद् भूत अथवा इच्छानुयायी भूत, अपूर्ण भूत और पूर्वकालिक भूत । वर्त्तमान को दो भेदों में बाँटा था—वर्त्तमान और सन्दिग्ध वर्त्तमान । किन्तु, उन्होंने भविष्यत, विधि और निषेध में भेदों की स्थापना नहीं की थी । इसके बाद उन्होंने समझना और चीन्हना क्रिया के रूपान्तर की तालिका दी थी ।[४]

बनावट के आधार पर उन्होंने क्रिया को यौगिक और अयौगिक; दो वर्गों में विभक्त किया था । फिर, यौगिक के निश्चयार्थक, शक्यार्थक, समापनार्थक, नित्यार्थक, आसन्नभविष्यदर्शक, आरम्भार्थक, अशक्यार्थक और अनुमत्यर्थक ये आठ भेद माने थे और सबका संक्षिप्त परिचय दिया था ।[५]

---

१. उपरिवत्, पृ० २७ ।

२. उपरिवत्, पृ० २८ ।

३. उपरिवत्, पृ० ३१ ।

४. उपरिवत्, पृ० ४१-४३ ।

५. उपरिवत्, पृ० ४६-४८ ।

क्रिया के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् राजा साहब ने उपसर्ग पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "अरबी पारसी में कुछ प्रत्यय और सारे उपसर्गों को अक्षर अथवा वर्ण ही कहते हैं और इसीलिए अरबी पारसी वालों ने दो प्रकार के माने हैं। पहले वर्णमाला के अक्षर, जिनसे क्रिया और संज्ञा बनती है और दूसरे वह जिनसे संज्ञा और क्रियाओं का आपस में योग होकर वाक्य बनता है, हमने इन्हीं का नाम उपसर्ग रखा है। संस्कृत का अर्थ नहीं लिया है। संस्कृत में उपसर्ग, प्रत्यय, अव्यय और विभक्ति चार भेद करके चार नामों से इनको माना है, पर जो संज्ञा और क्रिया नहीं सब उपसर्ग हैं, अकेले उनका अर्थ कुछ नहीं होता और न कोई काल उनमें पाया जाता है अर्थात् जब तक वह कोई संज्ञा या क्रिया के साथ न आवे, उनसे कुछ भी काम नहीं निकलता है।"[१] इस प्रकार, 'उपसर्ग' शब्द का प्रयोग राजा साहब ने व्यापक रूप से उपसर्ग, प्रत्यय, अव्यय और परसर्ग चारों के लिए किया था और सबकी एक लम्बी सूची देते हुए उनके अर्थ और प्रयोग की पद्धति भी बतायी थी। उस सूची में केवल हिन्दी के ही नहीं, अपितु संस्कृत, अरबी और फारसी के भी उपसर्ग, प्रत्यय और अव्यय सम्मिलित थे।[२]

वाक्य-रचना के विवेचन के प्रसङ्ग में राजा साहब ने यौगिक शब्दों को उपयोगी और अनुपयोगी दो वर्गों में बाँटा था। उपयोगी का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था "उपयोगी वह है जिसका सुननेवाला पूरा तृप्त हो जाय और कुछ सुनने की उसे आकांक्षा न रहे, इसी को वाक्य कहते हैं।"[३] इसी प्रकार, अनुपयोगी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "अनुपयोगी वह है जिससे पूरी तृप्ति न मिले और सुनने की आकांक्षा रहे। अनुपयोगी यौगिक वाक्य नहीं हो सकता है अयौगिक की तरह सदा वाक्य का अवयव रहा करता है। अनुपयोगी यौगिक के भेद अरबी और संस्कृत वालों ने जुदा-जुदा तौर पर ठहराये हैं, हम यहाँ अरबी और संस्कृत वालों के अर्थ और नियम छोड़कर मिश्रित अर्थात् समस्त अर्थात् समास किया हुआ उसको कहते हैं कि जो दो या अधिक शब्द मिलकर और उनकी विभक्ति और समुच्चायी उपसर्ग इत्यादि लोप होकर अयौगिक-सा मालूम पड़े और अमिश्रित अर्थात् असमस्त इसके विपरीत है

---

१. उपरिवत्, पृ० ४८-४९।

२. उपरिवत्, पृ० ४९-६०।

३. उपरिवत्, पृ० ६०।

अर्थात् जिसमें शब्दों की जुदाई अपनी विभक्तियों के साथ बनी रहे पर यह मिश्रित और अमिश्रित यौगिक या तो सम्बन्धवान और सम्बन्ध मिलकर तत्पुरुष कहलावेगा या विशेष्य और विशेषण मिलकर कर्मधारय जहाँ कोई समुच्चायी उपसर्ग रहा हो, द्वन्द्व अथवा संख्या के साथ द्विगु उपसर्ग के साथ अव्ययीभाव और उपमा और उपमेय मिलके बहुव्रीहि।"[१] इस प्रकार, राजा साहब ने यौगिक के उपयोगी और अनुपयोगी वर्गों को विलक्षण ढङ्ग से क्रमशः वाक्य और समास का प्रतिनिधि सिद्ध करने का प्रयास किया था। यह उनकी एक भ्रमोत्पादक मौलिक सूझ थी।

वाक्य-रचना के सम्बन्ध में राजा साहब ने अत्यन्त सामान्य बातों की चर्चा की थी। उन्होंने लिखा था कि "वाक्य दो शब्दों से कभी कम न होगा और उन दो में एक का क्रिया और दूसरे का कर्त्ता होना भी अवश्य होगा, इनमें उपसर्गों की गिनती नहीं है।"[२] "वाक्य में पहले कर्त्ता फिर कर्म और तमाम आश्रित और सबके अन्त में क्रिया बोली जाती है परन्तु छन्द के लिए कभी कोई बात विरुद्ध भी देखने में आती है। ।"[३] इसी प्रकार, इस सम्बन्ध में कुछ और सामान्य बातों का उल्लेख करने के पश्चात् उन्होंने 'सनदवाद जहाजी की दूसरी यात्रा का वर्णन' की कुछ पङ्क्तियाँ उद्धृत की थीं[४] और उनके अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक शब्द का अन्वय अर्थात् पद-निर्देश प्रस्तुत किया था।[५] राजा साहब के व्याकरण का मूल अंश यहीं समाप्त हो गया था, जिसमें कुल १५० प्रधान सूत्र थे।

ग्रन्थ के 'अवशेष' में उन्होंने पहले क्रमशः संस्कृत, अरबी-फारसी तथा अङ्गरेजी के कतिपय शब्दों के हिन्दी तद्भव रूप उनके तत्सम रूप के साथ प्रस्तुत किये थे। संस्कृत-हिन्दी तालिका देने के पहले संस्कृत से हिन्दी तद्भव के विकास का परिचय देते हुए लिखा था—"हजारों बरस का जमाना गुजरा, आर्य लोग जब पश्चिमोत्तर से हिन्दुस्तान में आये और यहाँ की अनार्य देशी कौमों को फतह किया, देववाणी अर्थात् वेद की भाषा अर्थात् संस्कृत बोलते थे। दस्तूर है कि पराजित देशी कौमें सदा अपने विजयी परदेशी

१. शिवप्रसाद सितारे हिन्द : हि० व्या०, पृ० ६१–६२।
२. उपरिवत्, पृ० ६२–६३।
३. उपरिवत्, पृ० ६६।
४. उपरिवत्, पृ० ६७।
५. उपरिवत्, पृ० ६७–७२।

स्वामियों की भाषा के शब्द चाहे जरूरत से, चाहे खुशामद से, जहाँ तक बन पड़ता है बोलने की कोशिश करती हैं। मुल्क की आबहवा अथवा प्रकृति की तासीर से जुदा प्रकार का कुछ उच्चारण रहने के कारण चाहे जैसे वह अशुद्ध क्यों न हो जायें और चाहे जैसे उनके अपभ्रंश क्यों न बन जायें। उदाहरण के लिए कई एक संस्कृत शब्द, जो इस ढब बनते-बनते प्राकृत-हिन्दी बन गये हैं नीचे लिख दिये हैं, पर यह न समझना चाहिए कि यकबारगी एक शकल से दूसरी शकल के बन गये, वरन् इसी वास्ते हमने लिख दिया है कि 'बनते-बनते' बन गये देखो प्राकृत व्याकरण इत्यादि पुरानी पुस्तकों से जाहिर की शिथिल से सिढिल हुआ और तब उससे ढिल्ल होकर ढीला बन गया। अस्थि से अट्ठि, मस्तक से मत्थओ और दुग्ध से दुद्ध हुआ और फिर काल पाकर उन्हीं से हड्डी, माथा और दूध बन गया।"[१]

हिन्दी में अरबी-फारसी और तुर्की के, आगत शब्दों की तालिका देते हुए उन्होंने लिखा था कि "जब अफगानी और ईरानी-तूरानी मुसलमानों ने फतह पाकर हिन्दुस्तान में अमल-दखल किया, तो उसी नीत की रीत बमूजिब यहाँ वाले आर्य और अनार्य, उनके पारसी, अरबी, तुर्की शब्द अपनी प्राकृत-हिन्दी में मिलाने लगे, मानों उर्दू की जड़ जमाने लगे, वह भी कई एक नीचे लिखे जाते हैं।"[२] इसी प्रकार, अँगरेजी से हिन्दी में आने वाले शब्दों की तालिका देते हुए लिखा था कि "जब अंगरेज बहादुर आये और हिन्दू-मुसलमान उनके तावे हुए सब लोग उन्हीं के अँगरेजी शब्द जहाँ तक जिसे मालूम है, उनसे बोलने में काम लाने लगे, हम देखते हैं जौहरी अँगरेजों के सामने अपने जवाहिरों को अँगरेजी नामों से पुकारते हैं। सुनार सोने-चाँदी का फर्क अँगरेजी नामों से बतलाते हैं। बज्जाज कपड़े अँगरेजी नामों से दिखलाते हैं। खान्सामा खिदमतगार चपरासी क्या शागिर्द पेशे वाले और क्या बाजारी दूकानदार और मुआमले-मुकद्दमे वाले सैकड़ों अँगरेजी शब्द अपनी बोली में मिलाते जाते हैं, वरन् इसमें अपनी अत्यन्त बड़ाई समझते हैं। इस प्रकार के कई एक अँगरेजी शब्द भी नीचे लिख दिये जाते हैं।"[३] राजा साहब ने संस्कृत के १२२, अरबी-फारसी-तुर्की के २८ तथा अँगरेजी के २२ शब्दों के तत्सम रूप के साथ उनके हिन्दी तद्भव रूप दिये थे।

---

१. उपरिवत्, पृ० ७३।

२. उपरिवत्, पृ० ७६।

३. उपरिवत्, पृ० ७७।

'अवशेष' के अन्त में हिन्दी और उर्दू के मूल की अभिन्नता प्रमाणित करते हुए उन्होंने लिखा था कि "उर्दू अर्थात् हाल की हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी की जड़ हमी लोग हैं। यदि ये सब परदेसी हमारी इस काल की बोली के जड़ होते, तो उसमें हमको पारसी, अरबी, अँगरेजी के अपभ्रंशों के बदले अपने देशी शब्दों के अपभ्रंश जैसा उन्हें वे परदेसी उच्चारण करते हैं मिलते।"[१]

राजा साहब ने उन मौलवियों और पण्डितों को जबरदस्त डाँट बतायी थी, जो हिन्दी और उर्दू को भिन्न मानकर दोनों के बीच की खाई को अधिकाधिक विस्तार और गहराई देते जा रहे थे। उन्होंने दोनों की कटु आलोचना करते हुए लिखा था कि "मौलवी और पण्डित दोनों की यह बड़ी भूल है कि एक तो सिवाय क्रिया उपसर्गों के बाकी सब शब्द शुद्ध पारसी-अरबी के काम में लाना चाहते हैं और दूसरे शुद्ध पाणिनि की टकसाल के खरे-खुरे संस्कृत। मानों यह जो हजारों बरस से हमी लोग हजारों दशा के कारण हजारों बदल-सदल अपनी बोली में करते चले आये हैं, वह उनके रत्ती भर भी लिहाज के लाइक नहीं वरन् इस स्वाभाविक नीत की रीत की उनके आगे कुछ गिनती ही नहीं। कठिन क्रूर संस्कृत शब्दों को जो हजारों बरस दाँत, होंठ, जीभ से टकराते-टकराते गोल-मटोल पहाड़ी नदी की बटिया बन गये हैं, पण्डितजी फिर उन्हें वैसे ही खुरदरे सिंघाड़े की तरह नुकीले पत्थर बनाया चाहते हैं, जैसे वे नदी में पड़ने से पहले पहाड़ से टूटते समय रहते हैं और मौलवी साहिब इतने ऐन काफ काम में लाया चाहते हैं कि वेचारे लड़के बलबलाते-बलबलाते ऊँट ही बन जाते हैं, पर तमाशा यह है कि इधर तो मौलवी साहिब अथवा पण्डितजी एक शब्द शुद्ध करते हैं या परदेशी होने के कसूर में उसे कालेपानी जाने का हुक्म देते हैं और उधर तब तक लोग सौ शब्दों का नया-नया अपभ्रंश बना डालते हैं या परदेशियों को घर में घुसा कर अपना पोष्य-पुत्र बना लेते हैं।"[२]

राजा साहब हिन्दी में प्रचलित विदेशी शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति को अनुचित मानते थे तथा भाषा में मिश्रण को अनिवार्य और उपयोगी मानते थे। भाषा में विशुद्धतावादी नीति के वे प्रबल विरोधी थे। उन्होंने लिखा था कि

---

१. शिवप्रसाद सितारे हिन्द : हि० व्या०, पृ० ७८।

२. उपरिवत्, पृ० ७८-७९।

"हिन्दी भाषा का पारसी, अरबी, तुर्की और अँगरेजी शब्दों से अथवा अपभ्रंशों से खाली करने का उद्योग वैसा ही है, जैसा कोई अँगरेज अँगरेजी को यूनानी, रूमी, फरासीसी, अलीमानी इत्यादि परदेशी शब्द और अपभ्रंशों से खाली करना चाहे अथवा जैसी वह हजार बरस पहले बोली जाती थी, उसके अब बोले जाने का प्रयत्न करे। वहाँ के विद्वान खूब जानते हैं कि भाषा किसी के बनाने से हर्गिज नहीं बन सकती है। स्वाभाविक नीत की रीत के बमूजिब हाट-बाजार और सरकार, दरबार में जो बोली जाती है, वही माननी पड़ती है।"[१]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष देते हुए उन्होंने लिखा था कि "यह बात पक्की ठहरी कि हमारी बोली में संस्कृत और अरबी-पारसी के, चाहे शुद्ध चाहे उनके अपभ्रंश, बहुत से शब्द मिले हैं और अब उनसे छुटकारा भी सम्भव नहीं है, वरन् वह हमारी बोली के एक अङ्ग बन गये हैं, जैसा अगले कवि लोग बराबर कहते चले आये हैं।

॥ श्लोक ॥

संस्कृतं प्राकृतं चैव सौरसेनं च मागधम्।
पारसीकमपभ्रंशं भाषाया लक्षणानि षट् ॥१॥

॥ दोहा ॥

अन्तर्वेदी नागरी गौड़ी पारस देस।
अरु अरबी जामैं मिलै, मिश्रित भाषा बेस ॥१॥
ब्रजभाखा भाखा रुचिर, कहे सुमति सब कोय।
मिले संस्कृत पारस्यो अतिशय सुगम जु होय ॥२॥

तो, कुछ थोड़ा-सा संस्कृत और अरबी की जो पारसी, तुर्की, अँगरेजी इत्यादि के मुकाबले में अति प्राचीन मूल और खालिस बोली गिनी जाती हैं। शब्द-रचना का नियम जहाँ तक हमको उसका अपनी बोली में काम पड़ता है, लिखना अवश्य हुआ अधिक उन दोनों बोली का व्याकरण पढ़ने से मालूम हो सकेगा।"[२]

ग्रन्थ के 'अवशेष' में उपर्युक्त बातों का उल्लेख करने के पश्चात् राजा साहब ने दो और अतिरिक्त अध्यायों का समावेश किया था। अध्याय एक[३]

१. उपरिवत्, पृ० ७९-८०।
२. उपरिवत्, पृ० ८०-८१।
३. उपरिवत्, पृ० ८१-८९।

में संस्कृत सन्धि, तद्धित, कृदन्त तथा संस्कृत उपसर्गों का संक्षिप्त विवेचन किया था और अध्याय दो[१] में अरबी अक्षर अर्थात् उर्दू वर्णमाला, अरबी धातु और वचन के वजन और उदाहरण तथा अरबी तालील (सन्धि) का सामान्य परिचय दिया था। उपर्युक्त दोनों अध्यायों में विवेचित संस्कृत तथा अरबी-फारसी के तथ्यों में सामञ्जस्य स्थापित करना सम्भव नहीं था, इसीलिए राजा साहब को इन्हें मूल ग्रन्थ से बाहर स्थान देना पड़ा था। इसके बाद सूचीपत्र[२] और शुद्धाशुद्ध पत्र[३] देकर उन्होंने ग्रन्थ की समाप्ति की थी।

राजा साहब ने अपने व्याकरण के लिए मूल सामग्री अपने पूर्ववर्त्ती हिन्दी वैयाकरणों के ग्रन्थों, विशेषतः 'भाषा चन्द्रोदय' और 'भाषा भास्कर' से ली थी और उसमें अरबी-फारसी के सामान्य व्याकरणिक तत्त्वों को यथासाध्य समन्वित करने का प्रयास किया था। इस प्रकार, उन्होंने हिन्दी व्याकरण और उर्दू कवायद को निकट लाने की चेष्टा की थी। उनके ग्रन्थ में तथ्य सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं थी, इसे उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया था।[४] किन्तु, तथ्यों के प्रतिपादन में उन्होंने एक नयी पद्धति अपनायी थी, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

तथ्यों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से राजा साहब का व्याकरण बहुत सफल नहीं बन पाया था। विशेषतः जहाँ-तहाँ उन्होंने तथ्य सम्बन्धी परम्परागत स्थापनाओं में नवीनता लाने का प्रयत्न किया था तथा संस्कृत और अरबी-फारसी के तत्त्वों में सामञ्जस्य प्रदर्शित करने का प्रयास किया था, उन सभी स्थलों पर उनकी बातें अस्पष्ट और उलझनपूर्ण बन कर रह गयी थीं, जसे— धातु में स्वाभाविक और कृत्रिम का भेद, रूढ़ि के भेद-प्रभेद, लिङ्ग के श्रुत और अनुमित भेद, उपसर्ग के अन्तर्गत अव्यय, प्रत्यय और विभक्ति की गणना, यौगिक के उपयोगी-अनुपयोगी भेद और उनका क्रमशः वाक्य और समास के अर्थ में प्रयोग आदि। फिर भी, राजा साहब का प्रयास अपने-आपमें

---

१. उपरिवत्, पृ० ८९–१०५।

२. उपरिवत् (ग्रन्थ के अन्त में), पृ० १–७।

३. उपरिवत् (ग्रन्थ के अन्त में), पृ० ७–१०।

४. Nothing new will be discovered in this grammar beyond what is inseparable from the mode of treatment adopted.—Siva Prasad, Preface, p. 3.

ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाला एक स्तुत्य प्रयास था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

हिन्दी और उर्दू की एकता के सच्चे हिमायती राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने उस समय अपने व्याकरण की रचना की थी, जिस समय उक्त दोनों भाषाओं का पारस्परिक विरोध भयङ्कर साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर चुका था। एक ओर हिन्दी के विशुद्धतावादी पक्षधर उसे सभी प्रकार के विदेशी प्रभावों से मुक्त करने को कटिबद्ध थे और दूसरी ओर उर्दू के हिमायती उर्दू को हिन्दी से नितान्त भिन्न और स्वतन्त्र भाषा प्रमाणित करने के लिए उसे अधिक-से-अधिक अरबी-फारसी के तत्त्वों से बोझिल बनाते जा रहे थे। राजा साहब ने अपनी दूरदर्शिता के सहारे इस विषम स्थिति से होने वाले भयङ्कर दुष्परिणामों का पूर्वाभास पा लिया था। यही कारण था कि एक सच्चे राष्ट्रहितैषी के समान अपने ग्रन्थ में उन्होंने समन्वयात्मक मध्यममार्ग अपनाया था और भाषा तथा राष्ट्र को सङ्कीर्ण साम्प्रदायिक स्वार्थों की गिरफ्त से मुक्त करने का अपनी शक्ति भर प्रयास किया था। उनका प्रयास सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से रहित, राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हितकर, साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता को मिटाने वाला तथा भाषा के स्वाभाविक विकास के नियमों का अनुगामी था। किन्तु, दुर्भाग्यवश उस समय लोग उनके उस महत्प्रयास का उचित मूल्याङ्कन करने में असमर्थ रहे। एक ओर हिन्दी के अधिकांश पण्डितों ने उन्हें उर्दू का प्रच्छन्न समर्थक और हिन्दी-विरोधी कह कर उनकी कटु आलोचना की और दूसरी ओर मौलवियों ने उन्हें उर्दू के अस्तित्व का ही द्रोही माना। फलतः, दोनों वर्गों में से किसी का समर्थन उन्हें प्राप्त न हो सका और उनका व्याकरण लोगों की उपेक्षा तथा कटु निन्दा का शिकार बन कर रह गया।

उत्थान-काल

(सन् १८७६—१९२० ई०)

सामान्य परिचय :

हिन्दी व्याकरणेतिहास के उत्थान-काल का प्रारम्भ केलॉग के हिन्दी व्याकरण के प्रकाशन के साथ सन् १८७६ ई० से हुआ। इसके पूर्व बीम्स, हॉर्नेली, ट्रम्प, टर्नर प्रभृति, विद्वान विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की नींव डाल चुके थे, जिसका प्रभाव हिन्दी व्याकरण-निर्माण की प्रक्रिया एवं उसके निष्कर्षों पर पड़ना स्वाभाविक था। फलतः, इस युग के हिन्दी व्याकरणों में ऐतिहासिक स्रोत के सङ्केतों से संवलित तुलनात्मक पद्धति के आधार पर भाषा के विश्लेषणात्मक विवेचन का प्रारम्भ हुआ, जो सर्वप्रथम केलॉग के व्याकरण में प्रत्यक्ष हुआ। केलॉग ने अपने व्याकरण में खड़ी हिन्दी के अतिरिक्त हिन्दी की अन्यान्य बोलियों के भी व्याकरिणक रूपों का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक परिचय दिया था। इस कारण, वह व्याकरण एक व्याकरण-कोष ही बन गया था। आरम्भकाल के निर्देश-प्रधान तथा विकास-काल के विवरणात्मक व्याकरणों की तुलना में उसकी मौलिकता एवं उत्कृष्टता इस बात में थी कि उसमें हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सङ्केत देते हुए तुलनात्मक पद्धति से उसके वर्त्तमान रूप के विधिवत् विश्लेषण का प्रयास किया गया था।

व्याकरण-रचना में केलॉग का उद्देश्य शुद्ध भाषा-शास्त्रीय था। उन्होंने अपने ग्रन्थ में यथासामर्थ्य हिन्दी के स्वरूप के यथार्थ परिचय एवं विश्लेषण-विवेचन को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाया था। यही कारण था कि उनका व्याकरण पूर्ववर्त्ती व्याकरणों की तरह सामान्य छात्रोपयोगी व्याकरण नहीं माना जाकर, हिन्दी का प्रथम विद्वानोपयोगी तथा वैयाकरणोपयोगी व्याकरण माना गया। अपने प्रकाशन-काल से लगभग ४३-४४ वर्ष बाद तक वह वैयाकरणों का आदर्श एवं आधार ग्रन्थ बना रहा तथा सबने मुक्तकण्ठ से उसकी सराहना की। किन्तु, सन् १८१९ ई० में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की 'हिन्दी कौमुदी' तथा सन् १९२१ ई० में पं० कामताप्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' के

प्रकाशन के बाद उसकी ख्याति मन्द पड़ गयी। इसी को ध्यान में रख कर हमने सन् १८७६ ई० से १९२० ई० तक ही उत्थान-काल की अवधि मानी है। केलॉग उत्थान-काल के प्रथम वैयाकरण थे और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी अन्तिम। ये दोनों निर्विवाद रूप से इस काल के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण थे।

हिन्दी-व्याकरण का उत्थान-काल केवल व्याकरण का ही नहीं, हिन्दी-भाषा और साहित्य का भी उत्थान-काल था। इस काल में हिन्दी की बहुविध उन्नति हुई और अँगरेजों तथा मुसलमानों की उपेक्षा एवं विरोध के बावजूद उसका प्रचार-प्रसार तेजी से आगे बढ़ा।

शिक्षा की स्थिति :

इस काल में भारतीयों की शिक्षा की प्रगति की दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण और ठोस कदम उठाये गये। सन् १८८२ ई० में 'भारतीय शिक्षा आयोग' की नियुक्ति की गयी। उसने देश की शैक्षणिक समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में अपने जो अभिस्ताव प्रस्तुत किये, उनमें प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के व्यापक प्रसार पर सर्वाधिक बल दिया गया था। फलतः, सन् १८८२ ई० के बाद माध्यमिक शिक्षा का प्रसार द्रुत गति से हुआ, जिसके कारण कॉलेजों की संख्या में भी वृद्धि हुई। किन्तु, उस समय प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में विशेष प्रगति नहीं हुई। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लॉर्ड कर्जन की सुधारवादी नीति के कारण सभी स्तर की शिक्षाओं में सुधार आया। उन्हीं की प्रेरणा से १७ जनवरी, सन् १९०२ ई० को एक दूसरे शिक्षा आयोग की नियुक्ति हुई, जिसके अभिस्तावों के आधार पर सन् १९०४ ई० में 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' बना। उसके अनुसार कॉलेजों पर सम्बद्धता (एफिलिएशन) की कठोर शर्तें लागू की गयी तथा समय-समय पर उनके निरीक्षण की व्यवस्था भी की गयी। परिणामतः, बहुत सारे टुँटपुंजिए कॉलेज बन्द हो गये और उनके स्थान पर अच्छे कॉलेजों की स्थापना हुई। सन् १९०४ ई० में सरकार ने अपने सङ्कल्प में इस बात की स्पष्ट घोषणा की कि "प्राथमिक शिक्षा का सक्रिय प्रसार राज्य के प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक है।" इस घोषणा के तुरत बाद प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए सरकारी अनुदान की राशि बढ़ा दी गयी, जिससे प्राथमिक स्कूलों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। मार्च, सन् १९१० ई० में सर्वप्रथम गोपालकृष्ण गोखले ने सरकार से

देश में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रवर्त्तन की माँग की। वह माँग स्वीकृत तो नहीं हुई, किन्तु सरकार पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। सन् १९११–१२ ई० में जब सम्राट् पञ्चम जार्ज भारत आये, तो उन्होंने अपने भाषण में देश की शिक्षा के विकास पर काफी जोर दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप सन् १९२० ई० तक आते-आते प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च; सभी स्तर की शिक्षा का पहले की अपेक्षा और अधिक तेजी से प्रसार हुआ। साथ ही, स्कूलों, कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों की संख्या में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई।[1]

इस काल में, जबकि शिक्षा का प्रसार तीव्र गति से हो रहा था, यदि हिन्दी को सभी स्तर की शिक्षा के माध्यम-रूप में तथा अनिवार्य विषय के रूप में स्वीकार कर लिया गया होता, तो आज हिन्दी भाषा, साहित्य और व्याकरण के साथ सम्पूर्ण देश का ही इतिहास कुछ और होता। किन्तु, अँगरेजों और कुछेक मुसलमान नेताओं की स्वार्थपूर्ण राजनैतिक दुरभिसन्धि ने वैसा नहीं होने दिया।

हिन्दी की स्थिति :

शिक्षा—इस काल में हिन्दीभाषी क्षेत्र में हिन्दी प्राथमिक स्तर तक शिक्षा के माध्यम के रूप में, माध्यमिक स्तर तक अनिवार्य विषय के रूप में तथा उच्चतर कक्षाओं में वैकल्पिक विषय के रूप में ही बनी रही। विकास-काल के विवेचन के प्रसङ्ग में हम यह बता चुके हैं कि सन् १८५४ ई० में जो 'ऊड का एजुकेशन डिस्पैच' प्रकाशित हुआ था, उसमें माध्यमिक विद्यालयों के लिए अँगरेजी के अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं को भी शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रचलित करने का सुझाव दिया गया था; किन्तु उसका पूर्ण कार्यान्वयन उत्थान-काल के अन्त तक भी नहीं हुआ। दूसरी ओर, सरकारी कार्यालयों एवं अदालतों में उस समय उर्दू का ही बोलबाला रहने के कारण अभिभावक अपने बच्चों को हिन्दी की अपेक्षा उर्दू पढ़ाना ही अधिक पसन्द करते थे। मुसलमान बराबर इस प्रयत्न में लगे थे कि प्राथमिक स्कूलों में भी हिन्दी के बदले उर्दू की ही पढ़ाई हो। हिन्दी-विरोधियों के नेता सर सैयद अहमद हिन्दी को गँवारी बोली' बता कर अँगरेजों को उर्दू की ओर झुकाये रखने की लगातार कोशिश करते आ रहे थे, जिसके जवाब में हिन्दी की स्वत्व-रक्षा

१. नुरुल्ला और नायक : 'हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन', पृ० ३१५–४२९।

के लिए राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द उठ खड़े हुए थे।[1] कॉलेजों में हिन्दी की दशा और भी दयनीय थी। वहाँ वैकल्पिक विषय के रूप में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का अध्यापन होता था। उनमें भी हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या उर्दू पढ़नेवालों की तुलना में नगण्य थी। सन् १८८२ ई० तथा १९०२ ई० में नियुक्त शिक्षा-आयोगों ने भी हिन्दी को शिक्षा में उचित स्थान दिलाने के लिए कोई सुझाव नहीं दिया था। किन्तु, अँगरेजों की दमन-नीति, मुसलमानों के विरोध तथा शिक्षा विभाग की अनवरत उपेक्षा के बावजूद उत्थान-काल में हिन्दी का अध्ययन दिनानुदिन अधिक लोकप्रिय होता गया तथा उसके छात्रों की संख्या में भी क्रमशः वृद्धि होती गयी।

कचहरी और कार्यालय :

शिक्षा की तरह ही सरकारी कार्यालयों एवं अदालतों में भी हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि का प्रवेश कराने के लिए विवेच्य युग के हिन्दुओं को शासनाधिकारी अँगरेजों तथा उनके कृपापात्र मुसलमानों के साथ अनवरत सङ्घर्ष-रत रहना पड़ा। अँगरेज मुसलमानों को हिन्दी के अधिकाधिक प्रतिकूल तथा अपने अनुकूल बनाये रखना चाहते थे। इसी नीति पर चल कर वे भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता को दबाये रख सकते थे। इन्हीं कारणों से वे हिन्दी के विरुद्ध उर्दू का समर्थन करते थे और अदालतों तथा कार्यालयों में हिन्दी तथा नागरी के प्रवेश के प्रश्न को टालते जाते थे। विकास-काल के अन्त तक हिन्दुओं की ओर से उक्त विभागों में हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि दोनों के प्रवेश की माँग की जाती रही; किन्तु उसकी स्वीकृति की कोई सम्भावना नहीं देख कर उन लोगों ने आगे चलकर हिन्दी भाषा के प्रवेश की माँग को गौण बना कर नागरी लिपि के प्रवेश की माँग पर ही अधिक बल देना शुरू किया। ऐसा करके हिन्दी विद्वानों ने बड़ी दूरदर्शिता का परिचय दिया था; क्योंकि उर्दू को हिन्दी से भिन्न प्रतीत कराने वाले लक्षणों में फारसी लिपि का सर्वाधिक प्रमुख स्थान था। अतः, उन दिनों यदि फारसी लिपि का का स्थान नागरी को मिल जाता, तो हिन्दी से उर्दू की भिन्नता स्वतः नष्ट हो जाती, साथ ही हिन्दू-मुस्लिम फूट का एक बहुत बड़ा कारण समाप्त हो जाता। किन्तु, अँगरेज सरकार अपने लाभ के लिए उस फूट को बनाये रखना चाहती थी, इस कारण प्रारम्भ से ही वह उस माँग की उपेक्षा करती रही।

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हि० सा० का इतिहास', पृ० १९०।

सरकार की वह उपेक्षा देश में एक व्यापक आन्दोलन के जन्म का कारण बनी, जो 'नागरी-प्रचार आन्दोलन' के नाम से विख्यात है। उस आन्दोलन की नींव को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से, सन् १८९३ ई० में ठाकुर शिवकुमार सिंह तथा काशी के अन्य अनेक विद्वानों ने मिल कर जनता के सहयोग से 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की। तदनन्तर सन् १८९५ ई० में पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध के गवर्नर का आगमन जब काशी में हुआ, तो सभा की ओर से उन्हें अदालतों में नागरी लिपि को प्रविष्ट कराने के लिए एक आवेदन-पत्र दिया गया; किन्तु उसकी कोई सुनवाई नहीं हुई। तब, सन् १८९८ ई० में सभा के तत्त्वावधान में एक तगड़ा डेपुटेशन प्रान्तीय गवर्नर के पास भेजा गया, जिसके अध्यक्ष अयोध्या-नरेश महाराजा प्रताप-नारायण सिंह थे तथा सदस्यों में पं० मदनमोहन मालवीय, सर सुन्दरलाल, राजा माड़ा, राजा आवागढ़ जसे प्रभावशाली व्यक्ति थे। डेपुटेशन ने हजारों हस्ताक्षरों से युक्त एक स्मार-पत्र भी गवर्नर के पास भेजा।[१] किन्तु, सरकार ने उस पर भी तुरत कोई निर्णय नहीं लिया। पश्चिमोत्तर प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर मैकडोनेल अदालतों में हिन्दी के प्रवेश के समर्थक थे, किन्तु अँगरेज सरकार राजनीतिक कारणों से मुसलमानों को अप्रसन्न करना नहीं चाहती थी। फिर भी, अदालतों में जनता की नागरी लिपि-प्रयोग सम्बन्धी निरन्तर वर्धमान माँग की उपेक्षा करना सरकार के लिए भी अधिक दिनों तक सम्भव नहीं था। अन्ततः १८ अप्रैल, सन् १९०० ई० में संयुक्त प्रान्त के गवर्नर ने यह आदेश प्रसारित किया कि यदि कोई व्यक्ति दीवानी या फौजदारी अदालतों में आवेदन पत्र या शिकायत नागरी अक्षरों में लिख कर देना चाहता है, तो वह अस्वीकार नहीं की जायगी।[२] बिहार तथा मध्यप्रदेश की अदालतों में नागरी-प्रयोग की अनुमति सन् १८८१ ई० में ही प्राप्त हो गयी थी। सम्भलपुर और रीवाँ की अदालतों में क्रमशः सन् १८९४ ई० और सन् १८९५ ई० में नागरी का प्रवेश हुआ था।[३] इस प्रकार, धीरे-धीरे सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र की अदालतों में नागरी का प्रवेश हो गया।

---

१. खड़ी बोली का आन्दोलन : शितिकण्ठ मिश्र, पृ० ९२।

२. मर्यादा, जून, सन् १९१२ ई० : 'नागरी का प्रचार।'

३. हिन्दी प्रदीप फरवरी, सन् १८९९ ई० : शिवचरण सिंह का लेख।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी-व्याकरणेतिहास का आरम्भ-काल फारसी से हिन्दुस्तानी के सङ्घर्ष का, विकास-काल हिन्दुस्तानी से उर्दू के सङ्घर्ष का तथा उत्थान-काल उर्दू से हिन्दी के सङ्घर्ष का काल था; जिसमें अन्ततः हिन्दी की ही विजय हुई। किन्तु, अँगरेजी आद्यन्त साहित्येतर क्षेत्रों की सर्वोपरि भाषा बनी रही।

साहित्य :

विवेच्य काल में हिन्दी भाषा तथा लिपि के व्यापक प्रचार-प्रसार के साथ ही हिन्दी साहित्य का भी अभूतपूर्व उत्थान हुआ। खड़ी हिन्दी, जो अब तक केवल गद्य और उर्दू शायरी की भाषा थी, इस काल में कविता की भी सर्वमान्य भाषा बन गयी। इस काल में हिन्दी साहित्य की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विधाओं का प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त, यह काल, अपनी नातिदीर्घ अवधि में ही अनेक महान साहित्यकारों के साथ भारतेन्दु तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी जी जैसे युगप्रवर्त्तक महापुरुषों के अनेकविध भाषागत एवं साहित्यिक प्रयत्नों से लाभान्वित होने का गौरव प्राप्त कर सका।

हिन्दी-उर्दू-व्याकरण :

हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि विवेच्य काल में आकर हिन्दी-उर्दू-सङ्घर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने के पश्चात् एक निश्चित परिणति पा गया। इस काल के प्रारम्भ में ही शीर्षस्थ भाषाशास्त्रियों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उर्दू हिन्दी की ही एक विशेष शैली या बोलीमात्र है।[1] किन्तु, दोनों की लिपि, आदर्श एवं साहित्य-परम्परा की भिन्नता के कारण तथा अँगरेजों एवं मुसलमानों की स्वार्थपूर्ण राजनैतिक दुरभिसन्धि एवं हठधर्मिता के कारण, दोनों दो स्वतन्त्र भाषाओं के रूप में मानी जाने लगीं। इसीलिए, राजा लक्ष्मण सिंह ने 'रघुवंश' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका (सन् १८७२ ई०) में लिखा था कि "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोलियाँ हैं।" इसी प्रकार, बाबू रामचरण सिंह के 'भाषा प्रभाकर' (सन् १८८५ ई०) की पाद टिप्पणी में पं० अम्बिकादत्त व्यास ने लिखा था कि "इस हिन्दी भाषा'

---

१. "It betrays, therefore, a radical misunderstanding of the whole bearings of the question and of the whole science of philosophy to speak Urdu and Hindi as two different languages."—John Beams, Comp. Gram. of the Modern Aryan Languages, p. 32.

शब्द से लोग यह न समझें कि मुसलमानों की भ्रष्ट की हुई भाषा, जिसे उर्दू कहते हैं; वही यहाँ मानी गयी है। नहीं, कदापि नहीं। उस भाषा का मूल संस्कृत से कोई प्रधान सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु और भाषाओं से अनेक शब्दों का सङ्ग्रह करके भी वह उस फारसी और अरबी के बल से स्थिर है, जो नितान्त विदेशी भाषा है। इसलिए, उस त्याज्य भाषा का नियम कहना 'भाषा प्रभाकर' का उद्देश्य नहीं है। यह उस शुद्ध हिन्दी भाषा की नियमावली दिखलाता है, जो प्रधान करके संस्कृत और प्राकृत से निकली है और जिसे गवर्नमेण्ट ने भी ठीक हिन्दी समझा है। क्योंकि, यदि ऐसा न होता, तो स्कूलों में हिन्दी और उर्दू अलग-अलग कोर्स न होते और यदि हिन्दी से संस्कृत का द्वार-सम्बन्ध गवर्नमेण्ट न समझती, तो संस्कृत और फारसी पढ़ने वालों के लिए नीचे के वर्गों में क्रम से भिन्न-भिन्न हिन्दी और उर्दू के ग्रन्थ न रखती। गवर्नमेण्ट का यही उद्देश्य है कि जो हिन्दी पढ़ेंगे, उन्हें इस हिन्दी के बल से संस्कृत कुछ सुगम होगी और जो फारसी पढ़ेंगे, उन्हें उस उर्दू से सहायता मिलेगी। बस, बिचारे उर्दू वाले इस व्याकरण में न भटकें।"

किन्तु, हिन्दी विद्वानों में अभी भी कुछ ऐसे थे, जिन्होंने हिन्दी और उर्दू को अभिन्न मानते हुए उनके लिए सम्मिलित व्याकरण की रचना की थी। उनमें राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के बाद मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री तथा काशी के बाबू श्यामसुन्दर दास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। खत्री जी का व्याकरण सन् १८७७ ई० में बिहारबन्धु प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था, जो हिन्दी और उर्दू का मिला-जुला व्याकरण था और दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ था। प्रथम जिल्द में वर्णविचार, शब्दविचार, वाक्यविचार और चिह्नविचार छपा था तथा दूसरे में छन्द विचार छपा था, जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों के छन्दों का निरूपण था। इसी प्रकार, बाबू श्यामसुन्दर दास का 'ऐन एलीमेण्टरी ग्रामर ऑफ हिन्दी ऐण्ड उर्दू', जो आधुनिक अँगरेजी व्याकरण की पद्धति से लिखा गया था, सन् १९०६ ई० में प्रकाशित हुआ था।

हिन्दी-व्याकरण की स्थिति :

इस काल के अधिकांश वैयाकरणों ने स्कूलों के पाठ्यक्रम में निर्धारित कराने के उद्देश्य ने छात्रोपयोगी व्याकरणों की रचना की, किन्तु कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने भाषा-विवेचन को ही अपना मुख्य उद्देश्य रखा। उक्त दूसरे

प्रकार के वैयाकरणों में, जो हिन्दी को उर्दू से अभिन्न मानने वाले थे, उन्होंने मुख्यत: अँगरेजी व्याकरण को अपना आधार बनाया और जो हिन्दी को उर्दू से भिन्न मानने वाले थे, उन्होंने मुख्यत: संस्कृत व्याकरण का अनुसरण किया। किन्तु, छात्रोपयोगी व्याकरण लिखने वालों ने अँगरेजी और संस्कृत दोनों के व्याकरणों से अल्पाधिक सहायता ली। इस प्रकार, विवेच्य काल में हिन्दी व्याकरण की उपर्युक्त तीन स्पष्ट परम्पराएँ दृष्टिगोचर हुईं।

इस काल में यों तो शताधिक व्याकरण लिखे गये, किन्तु उनमें से कोई भी हिन्दी का सर्वमान्य व्याकरण नहीं बन सका। केलॉग ने इस काल के प्रारम्भ में व्याकरण-रचना का जो उद्देश्य प्रस्तुत किया था, उसका अनुसरण परवर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा नहीं किया गया। कुछेक को छोड़कर, इस काल के अधिकांश वैयाकरण छात्रोपयोगी व्याकरण की रचना में ही लगे रहे। फलत:, भाषा के प्रतिमानीकरण का कार्य, जो इस युग में नितान्त आवश्यक था, ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया। उस कार्य के लिए केलॉग का व्याकरण भी बिलकुल अनुपयोगी प्रमाणित हुआ; क्योंकि वह स्वयं अनेक दोषों से भरा था। एक तो वह अँगरेजी में लिखा गया था, दूसरे उसका आदर्श विदेशी था, तीसरे उसमें हिन्दी के केवल परिनिष्ठित रूप का विवेचन नहीं करके उसकी अन्यान्य बोलियों का भी विवेचन किया गया था, जिसके कारण वह विशालकाय, अव्यवस्थित, उलझनपूर्ण तथा दुरूह बन गया था, चौथे वह पूर्णत: अँगरेजी व्याकरण की पद्धति से लिखा गया था तथा पाँचवें वह विदेशियों की अनेक स्वाभाविक भूलों से भरा था। इन सारी बातों के अतिरिक्त, विदेशी होने के कारण केलॉग को हिन्दी की वास्तविक प्रकृति एवं प्रवृत्ति की सूक्ष्म परख भी नहीं थी। इन्हीं कारणों से गुरुजी ने अपने व्याकरण में केलॉग या अन्य किसी भी विदेशी व्याकरण के विवेचन की परीक्षा नहीं की थी और स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि "भाषा की शुद्धता की दृष्टि से विदेशी लेखक पूर्णतया प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।"[१]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्थान-काल में हिन्दी के किसी सर्वमान्य व्याकरण का अभाव ज्यों-का-त्यों बना रहा, जो आगे चल कर उत्कर्ष-काल के प्रथम वैयाकरण पं० कामताप्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' के द्वारा कुछ हद तक पूरा हुआ।

---

१. का० प्र० गु० : हि० व्या०, भूमिका, पृ० ९।

उत्थान-काल के प्रमुख वैयाकरण

एस० एच० केलॉग :

हिन्दी के सुविख्यात अँगरेज वैयाकरण पादरी केलॉग के अति प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ए ग्रामर ऑफ द हिन्दी लैङ्ग्वेज' (हिन्दी भाषा का व्याकरण) का प्रथम संस्करण सन् १८७६ ई० में, तथा दूसरा संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण सन् १८९३ ई० में, लन्दन के 'कगन पॉल ट्रेञ्च ट्र्युबनर ऐण्ड को०' से प्रकाशित हुआ।[1] केलॉग 'अमरीकन प्रेसविटेरियन मिसन' के एक विद्वान पादरी थे और उनका मुख्य कार्य-क्षेत्र उत्तरी भारत था। वे अन्य अधिकांश पादरियों के समान मात्र धर्मोपदेशक या धर्म-प्रचारक ही नहीं थे, अपितु एक सुलेखक तथा विविध भाषानुरागी भी थे। उपर्युक्त व्याकरण की रचना के पूर्व वे और भी कई ग्रन्थों की रचना कर चुके थे, जिनमें 'द लाइट ऑफ एसिया ऐण्ड द लाइट ऑफ द वर्ल्ड' नामक ग्रन्थ विशेष विख्यात हुआ था। उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अनेक वर्षों तक रह जाने के कारण तथा भाषाओं के प्रति जिज्ञासु होने के कारण, उन्होंने उन क्षेत्रों की कतिपय भाषाओं की अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी, जिनका परिचय उन्होंने अपने व्याकरण में दिया था।

भारत में रहनेवाले विदेशियों के लिए शासन-कार्य के समुचित संचालन तथा ईसाई धर्म-प्रचार, दोनों ही दृष्टियों से केलॉग हिन्दी-ज्ञान की अनिवार्यता को अच्छी तरह समझते थे। इसके अतिरिक्त, ग्रामीण जनता के निकट सम्पर्क में जाकर उन्होंने कबीर, तुलसी आदि भक्त कवियों के काव्य की असाधारण लोकप्रियता का भी प्रत्यक्ष अनुभव किया था। यही कारण था कि अपने ग्रन्थ में जहाँ एक ओर उन्होंने हिन्दी के सर्वाधिक प्रचलित खड़ीबोली-रूप के विवेचन को सर्वोपरि स्थान दिया, वहीं दूसरी ओर हिन्दी की अन्यान्य बोलियों के रूपों का भी सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया। उनके व्याकरण के प्रथम संस्करण की प्रति में, कुल मिला कर दस भाषाओं (या बोलियों—

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' के 'प्रकाशकीय वक्तव्य' में इसके प्रथम संस्करण का काल सं० १९३१ वि० (सन् १८७५ ई०) और दूसरे संस्करण का सं० १९४९ वि० (सन् १८९२ ई०) बतलाया है, जो वास्तव में सही नहीं है।

खड़ीबोली, व्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, कन्नौजी, कुमायुँनी, रीवाई, गढ़वाली, वैसवाड़ी तथा भोजपुरी) का विवेचन हुआ था। आगे चल कर, दूसरे संस्करण के समय मगही, मैथिली तथा नेपाली का विवेचन भी उसमें सम्मिलित कर दिया गया। इस प्रकार, वह ग्रन्थ एक सामान्य व्याकरण नहीं रह कर, बहुत हद तक तुलनात्मक व्याकरण के समान बन गया।

केलॉग ने 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग मात्र खड़ी हिन्दी के लिए नहीं, अपितु मध्यदेश या हिन्दी प्रदेश में बोली जाने वाली प्रायः सभी बोलियों या भाषाओं के सामूहिक नाम के अर्थ में किया था[१] तथा उर्दू को हिन्दी का फारसीनिष्ठ रूप माना था।

केलॉग के पूर्व खड़ी हिन्दी के विवेचनार्थ अनेक व्याकरण ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, किन्तु हिन्दी की अन्यान्य बोलियों के सम्यक् विवेचन करने वाले ग्रन्थों का प्रायः अभाव-सा था।[२] उसी अभाव की पूर्त्ति के उद्देश्य से उन्होंने अपने ग्रन्थ में एक साथ ही हिन्दी की प्रायः सभी बोलियों के विवेचन

---

१. "I have used the word 'Hindi' in this grammar, in the more customary sense, as including the speech of the whole region from the lower ranges of Himalaya mountains, in the north, to the Narmada river and the Vindhya mountains in the south; and from the Panjab, Sindh, and Gujrat, in the west, to Bengal and Chutia Nagpur in the east"—Kellogg, p. 65.

२. (a) "No grammar, indeed, has hitherto even attempted or professed to exhibit, with any approach to thoroughness or completeness, the actual colloquial and literary language of the Hindus of North India."—Kallogg, A Grammar of the Hindi Language, Preface, 1st, p. XIV.

(b) "But no effort whatever has yet been made to indicate the actual nature and extent of those dialectic variations, which always perplex and sometimes discourage him who really desires a knowledge of the spoken language of the people, as well as that their books."—Ibid, p. XVI.

का प्रयास किया था।[१] ग्रन्थ-रचना में उनका लक्ष्य, पूर्ववर्त्ती व्याकरणों में उपस्थित तथ्यों को मात्र नयी व्यवस्था देना नहीं था, अपितु उनके अभावों की पूर्त्ति करना तथा दोषों का निराकरण करना भी था।[२] इसके परिणामस्वरूप, उनका व्याकरण पूर्ववर्त्ती सभी व्याकरण ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं गम्भीर प्रमाणित हुआ था।[३]

उन्होंने यों तो हिन्दी की प्रायः सभी बोलियों का विस्तृत विवेचन किया था, किन्तु मुख्य आधार खड़ी बोली को ही बनाया था। इसका कारण यह था कि उस समय तक खड़ी बोली सम्पूर्ण उत्तरी भारत के हिन्दी-क्षेत्र की जनगृहीत मानक भाषा बन चुकी थी; साथ ही वह हिन्दी स्कूलों में शिक्षा के माध्यम के रूप में भी स्वीकृत हो चुकी थी।[४] उन्होंने इस बात पर विशेष

---

१. "Thus it was, that, embarrassed by these difficulties, I was led to take up the Hindu, with such 'Pandits' as might be procured, and note and arrange, primarily for my own use, and with no thought of writing a book, facts of the class above referred to. In this way, in the course of several years, gradually grew uP a considerable body of notes on Hindi, which has finally developed into this Grammar."—Ibid, p. XVII.

२. "My aim has accordingly been, not merely to reproduce, under a new arrangement, the matter of grammars previously existing, but rather to supply their omissions and supplement their defects."—Ibid.

३. "Thus, in addition to the fundamental matter pertaining especially to modern standard Hindi, or common to that with other Hindi dialects, the grammar now offered to the public will be found to contain a large amount of matter not to be found in any Hindi Grammar hitherto published."—Ibid.

४. "For practical reasons, that variety of Hindi which agrees in grammatical form with the Urdu has been taken as the basis of the Grammar. It is to this form of Hindi, for various reasons, that the student commonly first directs his attention; and moreover, in vertue of the

ध्यान दिया था कि उनके द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक मत या स्थापना उदाहरण संवलित हो। उनके अधिकांश उदाहरण प्रसिद्ध ग्रन्थों से और शेष जन-प्रयोग से चुने गये थे।[१] शब्दों की व्युत्पत्ति तथा भिन्न-भिन्न बोलियों के पारस्परिक सम्बन्धादि के विषय में उन्होंने यत्र-तत्र जो भाषा शास्त्रीय टिप्पणियाँ दी थीं, उनसे ग्रन्थ का महत्त्व और अधिक बढ़ गया था।[२] इन विशेषताओं के अतिरिक्त उसमें तथ्य एवं व्यवस्था सम्बन्धी मौलिकता भी पर्याप्त मात्रा में वर्त्तमान थी।[३] इन्हीं कारणों से उनका व्याकरण, हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में प्राय: युगान्तरकारी सिद्ध हुआ।

केलॉग ने अपने व्याकरण को तेरह अध्यायों में विभक्त किया था। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत वर्णों के विवेचन-क्रम में, देवनागरी को हिन्दी की प्रधान

position of this dialect as a 'lingua franca' throughout the whole Hindi area of North India, and its adoption by the educational authorities as the medium of vernacular instruction in all Hindi schools, it has a special claim to our primary consideration, and, for such reasons only, may be justly termed the 'standard dialect' of Hindi."—Ibid, p. 17–18.

१. "Especial attention has been given to the matter of illustration....................I have accordingly made it a rule to support every statement of any consequence in etymology or syntax, by one or more illustrations, which, with no exception of importance, have been called from native books, or taken down fresh from the lips of the people."—Ibid, p. 20.

२. "Another feature peculiar to this grammar will be found in the philological notes, occupying in all about fifty pages, in which I have attempted to indicate the probable origin and darivation of the forms of the Hindi language and the relation of various dialectic forms to one another, and to the Sanskrit and old Prakrit dialects of India."—Ibid, p. 22.

३. "Besides the above, much else will be found in this Grammar which is strictly new, both in matter and arrangement."—Ibid, p. 23.

लिपि बताते हुए, उन्होंने हिन्दी में अनुस्वार, अनुनासिक तथा विसर्ग के अतिरिक्त, ११ स्वर तथा ३३ व्यञ्जन माने थे। ऋ, ॠ, लृ और ॡ संस्कृत की उन विशिष्ट ध्वनियों के सूचक वर्ण माने थे, जिनका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता। उन्होंने हिन्दी की बोलियों में ए, ऐ, ओ और औ के ह्रस्व रूप की उपस्थिति को भी सोदाहरण सिद्ध किया था तथा व्यञ्जनयुक्त अकारान्त शब्दों के अन्त्य स्वर 'अ' के प्राय: अश्रुत रह जाने का भी उल्लेख किया था। तदनन्तर, व्यञ्जनों के साथ मात्राओं को मिलाकर लिखने की तथा संयुक्ताक्षर लिखने की पद्धति समझायी थी। हिन्दी वर्णों के उच्चारण का परिचय, अँगरेजी की मिलती-जुलती ध्वनियों के साथ तुलना करते हुए दिया था। इस प्रसङ्ग में अनुस्वार-अनुनासिक, ड—ड़ तथा ढ—ढ़ के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए उन्होंने विदेशियों के लिए ड़ और ढ़ का शुद्ध उच्चारण सर्वाधिक कठिन बताया था। अध्याय के अन्त में स्थान एवं प्रयत्न के आधार पर वर्णों की वर्गीकृत तालिका प्रस्तुत की थी तथा देवनागरी के साथ कैथी, महाजनी एवं बनिऔती लिपियों की वर्णमाला दी थी। दूसरे अध्याय में स्वर, व्यञ्जन एवं विसर्ग की सन्धियों का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया गया था। तीसरे अध्याय में हिन्दी के विधायक तत्त्वों की चर्चा की गयी थी। इस प्रसङ्ग में, सर्वप्रथम, आर्यों के भारत आगमन, यहाँ के मूल निवासियों से उनका सङ्घर्ष, उनका यहाँ बस जाना, फलस्वरूप उनकी जनभाषा प्राकृत पर मूल निवासियों की भाषा का प्रभाव पड़ना, कालान्तर में विभिन्न प्राकृतों से विभिन्न अपभ्रंशों का तथा विभिन्न अपभ्रंशों से पञ्जाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, हिन्दी, उड़िया तथा बँगला—इन सात प्रमुख आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास की कहानी संक्षेप में कही गयी थी। फिर, हिन्दी को सभी आधुनिक आर्यभाषों से श्रेष्ठ बताते हुए उसके व्यापक क्षेत्र तथा बोलने वालों की संख्या का उल्लेख किया गया था।

केलॉग का यह विचार बिलकुल सही था कि हिन्दी अपने जन्मकाल से ही विदेशी भाषाओं के बहुविध प्रभाव को आत्मसात् करती आयी है। इस सम्बन्ध में, सर्वप्रथम अरबी-फारसी के प्रभाव की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि मुसलमानों के बार-बार आक्रमण तथा अन्त में यहाँ के बड़े भू-भाग पर उनका शासन कायम हो जाने के परिणामस्वरूप हिन्दी के नये रूप—उर्दू का विकास

ता हुआ ही, साथ ही हिन्दी की भिन्न-भिन्न बोलियाँ भी अरबी-फारसी के

प्रभाव से वञ्चित नहीं रही। इस प्रसङ्ग में उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में यह बात दुहरायी थी कि यों तो सङ्कीर्ण अर्थ में उर्दू को सामान्यतः हिन्दी से भिन्न बताया जाता है, किन्तु वह निश्चय ही, हिन्दी की एक बोली मात्र है, जिसमें संस्कृत शब्दों के स्थान पर अरबी एवं फारसी शब्दों का प्रयोग किया जाता है।[१] फिर, उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि संस्कृत की तरह हिन्दी भी निश्चित रूप से एक आर्यभाषा है, किन्तु इस पर कुछ तूरानी और सेमिटिक प्रभाव भी अवश्य पड़ा है।[२]

तूरानी प्रभाव के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि आज यह बता सकना नितान्त कठिन है कि हिन्दी पर वह कहाँ और कितना है, किन्तु वह निश्चय ही उतना अधिक नहीं है, जितना कि कुछ लोग मानते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लोगों के इस दावे को कि सम्पूर्ण हिन्दी व्याकरण पर तूरानी प्रभाव प्रमाणित किया जा सकता है, बिलकुल गलत बताया था।[३]

कुछ विद्वानों ने संस्कृत की विभक्तियों के स्थान पर हिन्दी में कारकीय परसर्गों की तथा प्रत्ययों के योग से संस्कृत क्रियाओं की रूप-रचना के स्थान पर सहायक क्रियाओं के योग से हिन्दी क्रियाओं की रूप-रचना की आर्य भाषाओं से भिन्नता एवं द्रविड़ भाषाओं से समानता प्रदर्शित करते हुए हिन्दी पर उसे आर्येतर प्रभाव सिद्ध करने का जो अनुचित प्रयास था, केलॉग ने उसका समुचित खण्डन किया था। उन्होंने लिखा था कि हिन्दी के परसर्ग

---

१. Although this latter is commonly contrasted with Hindi, in the narrower sense of that word, it is essentially merely a dialect of that language, and differs from others chiefly in the very great extent to which Arabic and Prakrit origin."—Ibid, p. 36.

२. "From the above brief sketch of the origin and history of modern Hindi, it is apparant that Hindi, though essentially and truly an Aryan tongue as Sanskrit, contains, besides the Aryan, which constitutes its for and most of its substance, some Turanian and Shemitic element."—Ibid, p. 37.

३. Ibid.

वास्तव में संस्कृत शब्दों के ही घिसे हुए रूप हैं, जिनका तूरानी 'अभिलेख' से कोई सम्बन्ध नहीं है।[१]

कॉल्डवेल ने अपने 'कम्परेटिव ग्रामर' में हिन्दी के सम्प्रदान कारक के 'को' परसर्ग को द्रविड़ भाषा के सम्प्रदान-परसर्ग में 'कु' या 'को' से अभिन्न माना था। केलॉग ने इस स्थापना का खण्डन करते हुए, इस सन्धि को एक संयोग-मात्र बताया था। इसी प्रकार, संस्कृत और हिन्दी क्रियाओं की रूप-रचना की भिन्नता का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने हिन्दी की सहायक क्रियाओं को उसके विकास की अनिवार्य आवश्यकता का परिणाम माना था।[२]

उन्होंने हिन्दी-शब्द-समूह के सम्बन्ध में ट्रम्प की इस मान्यता का समर्थन किया था कि हिन्दी के बहुत से शब्द, जिनके मूल का पता पहले संस्कृत से नहीं चला था, अनार्य स्रोत से सम्बद्ध मान लिये गये थे, किन्तु विभिन्न भारतीय आर्यभाषाओं के व्यापक अध्ययन एवं उनके ध्वनि-नियमों की समुचित जानकारी के परिणामस्वरूप उनका सम्बन्ध सन्तोषजनक ढङ्ग से संस्कृत के साथ स्थापित किया जा चुका है, किन्तु तब भी ग्रामीण बोलियों में कुछेक शब्द निश्चय ही ऐसे बच रहते हैं, जिन्हें तूरानी स्रोत का मानना पड़ेगा।"[३]

मोनियर विलियम्स ने संस्कृत से गृहीत हिन्दी की मूर्धन्य ध्वनियों को अनार्य स्रोत से आगत होने की बात कही थी।[४] केलॉग ने इसके प्रति अपनी अस्पष्ट सहमति व्यक्त करते हुए लिखा था कि "यह बात विशेष ध्यातव्य है

---

१. "It may be regarded as demonstrated, that the Hindi particles indicative of case relation are, in reality, bona-fide Sanskrit words 'greatly corrupted, which were originally apprehended, not as 'agglutinated' to the noun, but as in grammatical construction with it."

—Ibid.

२. Ibid, p. 36.

३. Trump, Grammar of the Sindhi, p. III.

४. Monier Williams, Sanskrit Grammar, p. XXIV, footnote.

कि मूर्धन्य ध्वनियों से प्रारम्भ होने वाले हिन्दी के अधिकांश शब्द संस्कृत-उद्भूत न होकर प्राकृत उद्भूत है। साथ ही, वे उन्हीं क्षेत्रों (जैसे हिमालय की घाटी और राजपुताना की मरुभूमि) में विशेष प्रचलित हैं, जहाँ पहले अनार्यों के रहने की कल्पना की जाती है।"[१] किन्तु, इस प्रसङ्ग में उन्होंने बीम्स[२] और हॉर्नली[३] के द्वारा उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार नहीं किये जाने की बात भी कही थी। निष्कर्ष के रूप में उन्होंने लिखा था कि हिन्दी पर तूरानी प्रभाव है अवश्य, किन्तु वह अतिशय गौण है। इसके पश्चात्, उन्होंने हिन्दी पर अरबी और फारसी के प्रभाव की चर्चा करते हुए उन लोगों की कटु आलोचना की थी, जो हिन्दी से अरबी और फारसी शब्दों के पूर्ण बहिष्कार का प्रयास कर रहे थे।

हिन्दी पर संस्कृत-प्रभाव की चर्चा के प्रसङ्ग में उन्होंने तत्सम और तद्भव शब्दों का विवेचन किया था। तद्भव शब्दों की व्युत्पत्ति को संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए उन्होंने बीम्स तथा हॉर्नली के ग्रन्थों की सहायता से उसमें होने वाले ध्वनि-परिवर्त्तनों की भी सामान्य चर्चा की थी।

चौथे अध्याय में हिन्दी की बोलियों का परिचय दिया गया था। हिन्दी की बोलियों को उन्होंने निम्नलिखित समूहों में विभक्त किया था—१. राजपुताना की बोलियाँ—मारवाड़ी, मेवाड़ी, मैरवाड़ी, जयपुरी और हाड़ोती, २. हिमालय क्षेत्र की बोलियाँ—गढ़वाली, कुमाउनी और नेपाली, ३. दोआब की बोलियाँ—ब्रज और कन्नौजी तथा ४. पूरबी बोलियाँ—अवधी, रिवाई, भोजपुरी, मागधी और मैथिली। इनके अतिरिक्त, पुरानी बैसवाड़ी तथा उच्च हिन्दी के नाम अलग से गिनाये गये थे। उच्च हिन्दी को ही उर्दू या हिन्दुस्तानी का भी आधार बताया गया था। फिर, सबका संक्षिप्त परिचय दिया गया था। उच्च या 'स्टैण्डर्ड हिन्दी' के सम्बन्ध में केलॉग ने ग्रियर्सन के मत[४] का समर्थन करते हुए लिखा था कि यह हिन्दुस्तान के किसी भी क्षेत्र-विशेष की घरेलू भाषा (या मातृभाषा) नहीं है। तदनन्तर, उन्होंने उपर्युक्त

---

१. Kellogg, A Grammar of the Hindi Language, p. 38.
२. Beams, Oamp. Gramm. Vol, I, pp. 232–35.
३. Hoernle, Grammar of the Gaudian Language, p. 12.
४. Proceedings of the Asiatic Society of Bengal, Nov. IV, April, 1887, p. 132.

बोलियों के शब्द-समूह तथा व्याकरण सम्बन्धी अन्तर को संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास किया था।

पाँचवें अध्याय में संज्ञा का विवेचन किया गया था। इसके अन्तर्गत क्रमशः लिङ्ग, वचन और पुरुष पर प्रकाश डाला गया था। हिन्दी-संज्ञाओं के लिङ्ग-ज्ञान के लिए केलॉग ने मुख्यतः उनके अर्थ (सिगनिफिकेशन) और अन्त्यध्वनि (टरमिनेशन) को आधार बनाकर कुछ व्यावहारिक नियमों का निर्धारण किया था, जिनमें से अधिकांश पूर्ववर्ती व्याकरणों से गृहीत थे। नियमों के साथ-ही-साथ यथासाध्य अपवादों का भी उल्लेख किया गया था।

लिङ्ग, वचन और कारक के अनुसार संज्ञाओं के रूपों में होने वाले विकारों को स्पष्ट करने के लिए चार नियम दिये गये थे।[१] कारकों की संख्या आठ मानी गयी थी, जिनमें चार कर्त्ता और सम्बोधन को परसर्गरहित बताया गया था। 'ने' करण कारक का परसर्ग माना गया था।[२] तदनन्तर, संज्ञाओं के रूपान्तर दिये गये थे। अध्याय के अन्त में संज्ञा के रूपों तथा परसर्गों के इतिहास पर प्रकाश डाला गया था,[३] जिसकी अधिकांश सामग्री हॉर्नली तथा बीम्स के ग्रन्थों से ली गयी थी।

---

१. (i) "Most Tadbhava masc, nouns ending in *a*, inflect the final vowel to e, and those *in an* to *en* or e, throughout the oblique singular; all other nouns, masc. or fem. are inflected in the singular."

(ii) "All such masc. nouns as are inflected by the above rule to *e* or *en* in the obl. sing., retain the same inflection in the nom. plur. In all other masculine nouns, the nom. sing. and plur. are alike."

(iii) All fem. nouns in i and i, make the nom. plural in an; all other fem. nouns, in en. It is to be observed, that fem. nouns in *a* occasionally, and those in i or *e* commonly, insert a enphonicy before all such added terminations, i final before this y being regularly shortened."

(iv) "All nouns whatever, masc. and fem. terminate in on, throughout the oblique plural. Anuswar being dropped in the vocative only."—Kellogg, pp. 95–99.

२. Ibid, p. 100.

३. Ibid, pp. 125–135.

छठे अध्याय में विशेषण का विवेचन था। विशेषण के लिए केलॉग ने अनेक पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की तरह 'गुणवाचक' शब्द का प्रयोग किया था। इसके अविकारी तथा विकारी दो वर्ग माने गये थे। आकारान्त विशेषण को विकारी तथा शेष सभी को अविकारी के अन्तर्गत स्थान दिया गया था। विशेष्य के लिङ्ग-वचन के अनुसार, विकारी विशेषणों में होने वाले विकारों को सोदाहरण स्पष्ट किया गया था। इसके अतिरिक्त विशेषणों के तुलनात्मक प्रयोग की विधि को भी स्पष्ट किया गया था।

सातवें अध्याय में क्रमशः पूर्णाङ्कबोधक, क्रमवाचक, अपूर्णतावाचक, अनुपाती, गणनात्मक तथा समुच्चयवाचक संख्या का विवेचन किया गया था तथा अध्याय के अन्त में हिन्दी संख्याओं की व्युत्पत्ति का ऐतिहासिक परिचय दिया गया था।

आठवें अध्याय में सर्वनाम पर प्रकाश डाला गया था। पुरुषवाचक सर्वनाम के रूपान्तर में 'हमों' और 'तुम्हों' जैसे भ्रामक रूप भी दिये गये थे। फिर, सारिणी बना कर सर्वनाम के अन्यान्य भेदों के रूपान्तर प्रस्तुत किये गये थे। इस प्रसङ्ग में सार्वनामिक विशेषण के रूपान्तर के नियम भी सोदाहरण समझाये गये थे। अन्त में, मुख्य सर्वनामों की व्युत्पत्ति पर संक्षेप में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया था।

नवें अध्याय में क्रियाओं का विवेचन था। केलॉग ने स्पष्ट शब्दों में इसे स्वीकार किया था कि रूप-रचना की दृष्टि से हिन्दी क्रियाएँ बहुत सरल हैं।[१] उन्होंने केवल सात क्रियाओं (होना, मरना, करना, देना, लेना, जाना और ठानना) को अनियमित माना था[२] जिनमें 'मरना' और 'ठानना' वास्तव में

१. "The Hindi verb is very simple. There is but one conjugation, and all verbs whatever, both in High Hindi, and in the local dialects, take the regular terminations belonging to the several terms."—Ibid. p. 221.

२. "Seven verbs only in High Hindi present an irregularity in the Respectful form of the Imperative, and in the Perfect Participle and the tenses formed with it. But this irregularity consists only in the substitution of another root, slightly different from that which appears in the other tenses, and will give no trouble. To this root the regular terminations are appended."'
—Ibid, p. 221.

अनियमित नहीं हैं। तदनन्तर, उन्होंने क्रिया की रूप-रचना को प्रभावित करने वाले तत्त्वों की संक्षिप्त चर्चा की थी।[१] काल के उन्होंने पन्द्रह भेद किये थे तथा क्रियाओं की रूप-रचना की दृष्टि से उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया था। प्रथम वर्ग में धातु के रूपान्तर से बनने वाले कालों को, दूसरे में अपूर्ण क्रिया-द्योतक कृदन्तों के योग से बनने वाले कालों को तथा तीसरे में पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तों के योग से बनने वाले कालों को स्थान दिया था।[२] फिर, एक-एक कर सभी कालों की क्रियाओं की रूप-रचना के सोदाहरण सामान्य नियम देने के बाद 'गिरना', 'जाना' और 'करना' की सारिणी दी थी। तदनन्तर, प्रेरणार्थक एवं संयुक्त क्रिया पर विस्तार से प्रकाश डाला था। अध्याय के अन्त में क्रिया-रूपों के इतिहास का भी सविस्तर विवेचन किया था।

दसवें अध्याय में शब्दों की व्युत्पत्ति की पद्धति एवं समास पर प्रकाश डाला गया था। समास के मुख्य पाँच वर्ग माने गये थे—तत्पुरुष, द्वन्द्व, कर्मधारय, द्विगु और अव्ययीभाव। इनके भेद-प्रभेदों की भी संक्षिप्त चर्चा की गयी थी।

---

१. "The Hindi verb is affeeted by the distinctions of voice, mood, tense, gender, number and person. The voices are two, Active and Passive. The moods, properly speaking, are four only, Indicative, Subjunctive, Imperative and Infinitive. The Infinitive simply expresses the obstract and unrestricted verbal idea, it is indeed strictly speeking a Gerund of Verbal noun. The participles are three, viz. Imperfect, Perfect and Conjuctive. From every verb may also be formed a Noun of Agency."—Ibid.

२. Group I. Tenses from the root—(i) Contingent future, (ii) Absolute future, (iii) Imperate (future). Group I1. Tenses from the imperfect participle—(i) Indifnit Imperfect, (ii) Present Imperfect, (iii) Past perfect, (iv) Contingent Imperfect, (v) Presumptive Imperfect, (vi) Past contingent Imperfect. Group III. Tenses from the perfect participle—(i) Indefinite perfect, (ii) present Perfect, (iii) Past perfect, (iv) Contingent perfect, (v) Presumptive perfect, (vi) Past contingent perfect."
—Ibid, p. 228.

ग्यारहवें अध्याय में क्रियाविशेषण, पूर्वसर्ग, समुच्चयबोधक तथा विस्मयादिबोधक शब्दों का विवेचन था। क्रियाविशेषण के विवेचन के प्रसङ्ग में पहले सर्वनाम से बनने वाले क्रियाविशेषणों का परिचय दिया गया था। फिर, कालवाचक, स्थानवाचक, रीतिवाचक, विधिनिषेधवाचक तथा सन्दर्भवाचक (एडभर्व ऑफ साइटेशन) का परिचय दिया गया था। इनके अतिरिक्त क्रियाविशेषण के सम्बन्ध में और भी अन्यान्य गौण बातों की चर्चा की गयी थी।

पूर्वसर्ग की चर्चा करते हुए केलॉग ने यह स्वीकार किया था कि हिन्दी में परसर्ग हैं, पूर्वसर्ग नहीं।[१] फिर भी, उन्होंने सम्बन्धवाचक शब्दों को पूर्वसर्ग की कोटि में परिगणित किया था। समुच्चयबोधक के परिचय में संयोजक एवं वियोजक दोनों की चर्चा की थी। अन्त में, विस्मयादिबोधक का संक्षिप्त परिचय दिया गया था।

बारहवें अध्याय में वाक्य-विवेचन था। इसे दो खण्डों में बाँटा गया था। प्रथम खण्ड में लिङ्ग, वचन, कारक, काल आदि के आधार पर वाक्य में शब्दों के विविध कार्यों पर प्रकाश डाला गया था तथा दूसरे में उनके द्वारा वाक्य-रचना की पद्धति समझायी गयी थी। प्रथम को विश्लेषणात्मक और दूसरे को संश्लेषणात्मक वाक्य-विवेचन कहा गया था।[१] ये दोनों ही खण्ड बहुत विस्तारपूर्वक लिखे गये थे, जिनमें प्रत्येक स्थापना को उदाहरण-संवलित करके प्रस्तुत किया गया था। इसके पश्चात् तेरहवें अध्याय में छन्दों का सोदाहरण विवेचन करने के उपरान्त ग्रन्थ की समाप्ति हुई थी।

केलॉग का व्याकरण अपने असाधारण विस्तार के कारण एक प्रकार से व्याकरणों का कोष बन गया था। दूसरा संस्करण प्रथम संस्करण की अपेक्षा सभी दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी था। उस समय तक बीम्स और हॉर्नली के ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके थे, जिनसे केलॉग ने प्रभूत सामग्री

---

१. With the exception of these particles termed 'postpositions', which are employed in substantive declension to denote the several cases of nouns, and a very few other words, Hindi possesses no words of a strictly prepositional character. The words which, for the sake of convenience, are enumerated below, as the equivalents of English prepositions, are really substantives in the obl. singular."—Ibid, p. 386.

की थी। सामग्री सङ्कलन की दृष्टि से उनका ग्रन्थ इतना व्यापक था कि उनके समय से लेकर पण्डित कामता प्रसाद गुरु के समय तक प्रायः जितने भी देशी-विदेशी वैयाकरण हुए, सबने उस ग्रन्थ को अपना मुख्य आधार बनाया। इस प्रकार, हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में केलॉग को एक युग-प्रवर्त्तक वैयाकरण मानना अनुचित नहीं होगा।

अयोध्या प्रसाद खत्री :

'संस्कृत जनित यावनी शब्द-संग्रह' के लेखक अयोध्या प्रसाद खत्री का 'हिन्दी-व्याकरण' सन् १८७४ ई० में बिहारबन्धु प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। खड़ी हिन्दी के प्रचार का झण्डा अपने हाथों में लेकर गाँव-गाँव और शहर-शहर की धूल छानते फिरने वाले खत्री जी उन इने-गिने हिन्दी-हितैषियों में से थे, जिन्होंने हिन्दी के प्रचारार्थ अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया था।

खत्री जी का व्याकरण सामान्यतः सितारे हिन्द के व्याकरण की पद्धति पर रचा गया—हिन्दी-उर्दू का एक मिला-जुला व्याकरण था, जिसमें प्रकरणों के शीर्षक तथा मुख्य पारिभाषिक शब्द हिन्दी, उर्दू तथा अँगरेजी; तीनों भाषाओं में दिये गये थे। उन्होंने अपने व्याकरण को वर्ण-विचार, शब्द-विचार, वाक्य-विचार, चिह्न-विचार और छन्द-विचार के पाँच खण्डों में विभक्त किया था, जिनमें प्रथम चार खण्ड एक जिल्द में और अन्तिम (छन्द-विचार) दूसरी जिल्द में प्रकाशित हुआ था। सितारे हिन्द के ग्रन्थ में छन्द-प्रकरण बिलकुल छोड़ दिया गया था। उस अभाव की पूर्त्ति खत्री जी ने अपने व्याकरण में की थी। उन्होंने हिन्दी और उर्दू दोनों के ही छन्दों का निरूपण किया था। चिह्न-विचार के अन्तर्गत अँगरेजी के विराम चिह्नों का हिन्दी के लिए विधान करते हुए सबका संक्षिप्त परिचय दिया था। अन्य खण्डों में प्रतिपादित व्याकरणिक तथ्यों में कहीं कोई मौलिकता या विशेषता नहीं थी। प्रायः सब-की-सब सामग्री पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से ही ली गयी थी।

खत्री जी का व्याकरण भी 'सितारे हिन्द' के व्याकरण के समान ही पण्डितों के द्वारा उपेक्षित रहा। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने भाषा प्रभाकर की पाद टिप्पणी में इसकी आलोचना करते हुए लिखा था कि "अयोध्या प्रसाद ने पहले तो हिन्दी में ४९ अक्षर माने, फिर कुछ आगे बढ़कर वे लिखते हैं कि हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत में अक्षर अधिक हैं। जैसे—ऋ, ॠ, ऌ, ॡ स्वर और

ङ ञ ण श क्ष ज्ञ, तो यदि इन्हें निकाल कर शेष हिन्दी में मानते तो हाँ, कदाचित ठीक होता और अकारादि अक्षरों के अर्थ भी विष्णु आदि लिखे हैं सो यह भी कोष का विषय है, व्याकरण का नहीं हैं। अधिक क्या लिखें, जिसने विवरण के लिए ग्रन्थ भर में विवर्ण लिखा, उस विवर्ण व्याकरण के खण्डन में भी लज्जा होती है।"[1]

केशव प्रसाद :

केशव प्रसाद का 'भाषा लघु व्याकरण' २ भाग, सन् १८७८ ई० में लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। यह एक सामान्य स्तर का छात्रोपयोगी व्याकरण था, जिसकी रचना पूर्ववर्त्ती व्याकरणों के आधार पर हुई थो।

वंशीलाल :

वंशीलाल का 'हिन्दी-व्याकरण' भाग १, सन् १८७९ ई० में पटना से प्रकाशित हुआ था। यह कुल ३० पृष्ठों की छात्रोपयोगी व्याकरण-पुस्तिका थी। इसकी रचना प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों को व्याकरण का सामान्य ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से की गयी थी।

गोविन्ददेव शास्त्री :

गोविन्ददेव शास्त्री का 'बालबोध' व्याकरण मिर्जापुर से सन् १८७९ ई० में प्रकाशित हुआ था। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह प्राथमिक कक्षा के अल्पमति बालकों को व्याकरण का सामान्य ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से लिखी गयी पुस्तक थी।

शिवदयाल उपाध्याय :

शिवदयाल उपाध्याय का 'हिन्दी-व्याकरणसार' सन् १८८१ ई० में बनारस से प्रकाशित हुआ था। यह कुल २१ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तिका थी, जिसमें व्याकरण के सभी अङ्गों का परिचय मात्र दिया गया था।

पं० बिहारीलाल चौबे :

पटना कॉलेज के द्वितीय संस्कृताध्यापक पं० बिहारीलाल चौबे ने 'असिस्टेण्ट इन्स्पेक्टर मान्यवर श्री बाबू वीरेश्वर चक्रवर्त्ती के आज्ञानुसार विद्यार्थियों के उपकारार्थ' 'पदवाक्य बोध' नामक हिन्दी-व्याकरण विषयक ग्रन्थ

---

१. भाषा भास्कर, पृ० १३५–१३६ (पाद टिप्पणी)।

की रचना सन् १८८१ ई० के आसपास की थी, जिसका दूसरा संस्करण सन् १८८५ ई० में बिहार बन्धु प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। उक्त ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन-काल सन् १८८१ ई० से सन् १८८३ ई० के बीच माना जा सकता है।

'पदवाक्य बोध' में 'हिन्दी की उत्पत्ति', वाक्य के लक्षण, विभाग, निर्माण, पदों को उचित स्थान में रखना, वाक्य-व्यवस्था, वाक्यपूर्त्ति और प्रबन्ध-रचना-नियम आदि अनेक उपयोगी बातों के अतिरिक्त विद्यार्थियों के अभ्यासार्थ प्रश्न भी दिये गये थे। संस्कृत के पण्डित होने के कारण चौबे जी ने पद, वाक्य आदि का परिचय संस्कृत-व्याकरण के अनुसार दिया था, यथा—"योग्यता, आकांक्षा और आसत्तियुक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं।"[1]

उन दिनों स्कूल की परीक्षाओं में अँगरेजी की पद्धति से हिन्दी वाक्यों के विश्लेषण तथा पद-निर्देश सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते थे। उस समय के प्रचलित व्याकरणों में इस विषय पर समुचित ढङ्ग से प्रकाश नहीं डाला गया था। उस अभाव की पूर्त्ति के लिए कई विद्वानों ने एतद्विषयक कई ग्रन्थों की रचना की थी, जिसमें एक ग्रन्थ चौबे जी का भी था। वह एक सामान्य कोटि का छात्रोपयोगी ग्रन्थ था, जिसमें वाक्य-विश्लेषण तथा पद-निर्देश की पद्धति अँगरेजी ढङ्ग पर समझायी गयी थी।

चौबे जी का दूसरा ग्रन्थ 'मूलसूत्र बोध व्याकरण' सन् १९०४ ई० में बनारस के मेडिकल हॉल प्रेस से प्रकाशित हुआ था। यह कुल ७८ पृष्ठों का छात्रोपयोगी व्याकरण था, जिसमें व्याकरण के सभी अङ्गों पर अल्पाधिक प्रकाश डाला गया था। ग्रन्थ के अन्त में छन्दों का भीं सामान्य परिचय दिया गया था।

पं० मदन मोहन :

पं० मदन मोहन का 'भाषा व्याकरण सार सुधार्णव' सन् १८८० ई० के आसपास प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ के मुख्य पृष्ठ पर लेखक के परिचय के साथ निम्नलिखित सूचना छपी थी—"श्री मन्महाराजाधिराजजयपत्तनाधिपति तथा आमोघ्य बुद्धिबलशालि बृटिश राज्याधिकारी तथा अखण्डप्रतापोदधि सिन्धियाधिप दत्ताश्रय दीक्षित कुलावतंस त्रि० श्रीं लालानुज कृष्णलालात्मज

१. बिहारी लाल चौबे : 'पद वाक्य बोध', पृ० २५।

आगरा नौर्मलस्कूल के संस्कृत हिन्दी अध्यापक पं० मदन मोहन ने सकल सौजन्यरत्नाकर भाषातत्त्वज्ञ कुल कमलदिवाकर श्री राजा लक्ष्मण सिंह जी तथा ठाकुर उमराव सिंह जी महाशयों की आज्ञा से देशभाषा की उन्नति और रक्षा के लिए बनाय देश हितैषियों के अर्पण किया—

भूयादियं कृतिर्मेऽद्य विदुषां प्रीतये सदा।
विमुग्धेव नवोढेव नित्यं तत्सङ्गमोत्सुका ॥

मतबअ काशी समान में लाला हरिप्रसाद के प्रबन्ध से छपा पहली बार पाँच सौ।" दुर्भाग्य से पुस्तक में प्रकाशन वर्ष की कोई सूचना नहीं दी गयी थी। किन्तु, वह व्याकरण चूँकि राजा लक्ष्मण सिंह की आज्ञा से लिखा गया था, इसी आधार पर हमने उसका प्रकाशन-काल अनुमानतः सन् १८८० ई० के आसपास माना है।

'विज्ञप्ति' में पुस्तक का परिचय देते हुए लेखक ने बताया था कि "........यह व्याकरण देशी लिपि और देशी भाषा की उत्पत्ति के मूल कारणों के यथार्थ अनुसन्धान तथा अनेक भाषाओं का परस्पर सम्बन्ध शास्त्रों के बहुत-से गम्भीर विषय—पदोत्पत्ति—वाक्य-सङ्गठन—वाक्यविभाग—लिपि सङ्केत—पद-परिचय—काव्यरस—अलङ्कार—नायक-नायिका भेद देशी भाषा की विविध रीति और प्रधान-प्रधान छन्द-भेद से समयानुकूल भूषित किया गया है। आप लोगों ने पहले व्याकरण देखे ही हैं—पर इसे भी देखे बिना नहीं रहियेगा—हाथ में आते ही सब भेद खुल जायगा........।

नहिं विद्या नहिं बुद्धि बल, केवल विबुध आधार।
रत्नाकर यह निर्मयो, बिन वेला वे पार ॥"

उक्त व्याकरण लद्धड़ एवं पण्डिताऊ शैली में संस्कृत-व्याकरण का आधार लेकर बड़ी साइज के ११६ पृष्ठों में लीथो में छपा था।

पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी :

काशी वासी पाटलिपुत्रस्थ राजकीय पाठशाला के हिन्दी संस्कृताध्यापक और 'भाषा रामायण' आदि अनेक पुस्तकों के कर्त्ता पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी" का 'भाषा व्याकरण दर्पण' सन् १८८० ई० के आसपास प्रकाशित हुआ था। इसका पाँचवाँ संस्करण खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से सन् १८२६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी रचना उन्होंने "व्याकरण के सम्पूर्ण स्थल, विषय

नियमादि और बहुतेक उदाहरणों के सहित विद्यार्थियों के उपकार के लिए" की थी। ग्रन्थ को अनावश्यक विस्तार से बचाते हुए उन्होंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया था कि कोई महत्त्वपूर्ण बात छूटने न पावे।[१] अँगरेजी के छात्रों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने हिन्दी के साथ-शाथ अँगरेजी व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया था।[२] उन्होंने भूमिका में लिखा था कि "मैं जानता हूँ कि व्याकरण ही वास्तव में वह नींव है, जिस पर भाषा का महल खड़ा होता है, इस कारण मैंने अपनी शक्ति भर इसे ठोस और स्थायी बनाने का प्रयास किया है।"[३]

त्रिपाठी जी ने व्याकरण की परिभाषा और उसके भागों का विवेचन करते हुए लिखा था कि "जिसके द्वारा शुद्ध-शुद्ध बोलने और लिखने का ज्ञान हो और यह जाना जाय कि अक्षरों से शब्द किस प्रकार बनते हैं, और उन्हें वाक्य में किस क्रम से रखना चाहिए उसे व्याकरण कहते हैं। व्याकरण के मुख्य तीन भाग हैं; वर्णविचार, शब्दविचार और छन्दप्रकरण। किसी-किसी वैयाकरणी का मत है कि चिह्नप्रकरण और छन्दप्रकरण भी व्याकरण ही के

---

१. "This work has been written with the view of providing a classbook on Hindi Grammar which shall suit the capacities of the beginners, and expose the rules and principles of Grammar in a clear and simple diction. It may in a way be a new book of its kind, as it avoids on one hand the fault of running into an unnecessary length and on the other, of omitting to even the sailent points of the Hindi Grammar, a fault not very difficult to find in many Hindi Vayakarnas."
—पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी, भा० व्या० द०, भूमिका।

२. "In giving English equivalent to find grammtical terms my object has been to facilitate the task of English reading students, to overcome the difficulties of the Hindi Vyakaran in a brief space of time."—वही।

३. "Indeed as a grammar forms the gound work on which the Edifice of a language is built, I have tried to make the foundation as solid and durable as I could."—वही।

अंग हैं, पर मेरे मतानुसार चिह्नप्रकरण तो किसी प्रकार हो सकता है, पर छन्दप्रकरण तो निरा साहित्य का विषय है।"[1]

वर्णविचार के अन्तर्गत उन्होंने १६ स्वर और ३३ व्यञ्जनों का परिचय देने के उपरान्त मुख्य स्वर, स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन भेद तथा मात्रा आदि का विवेचन किया था। फिर, संस्कृत-व्याकरण की पद्धति से प्रयत्न तथा उच्चारण-स्थान के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया था।

शब्दविचार के अन्तर्गत उन्होंने पूर्ववर्त्ती हिन्दी-व्याकरणों की बात दुहराते हुए लिखा था कि "कान से जो सुनने में आता है उसे शब्द कहते हैं। वह दो प्रकार का है। पहला ध्वन्यात्मक, दूसरा वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक जैसे उसे कहते हैं जो ध्वनि रूप हो अर्थात् जिसके अक्षर अलग-अलग सुन न पड़े, जैसे वाजा और जन्तुओं की बोली। इसका विशेष और भेद नहीं है। वर्णात्मक उसे कहते हैं जिसमें वर्ण अलग-अलग सुन पड़ें जैसे मनुष्य की बोली। इसके दो भेद हैं सार्थक और निरर्थक।"[2] फिर, उन्होंने अर्थ के वाच्य और लक्ष्य दो भेद माने थे। सार्थक शब्दों को संज्ञा, क्रिया और अव्यय के तीन व्यापक वर्गों में रखते हुए उन्होंने सबका अति सामान्य परिचय दिया था। संज्ञा को पहले रूढ़ि, यौगिक और योगरुढ़ि के तीन वर्गों में और पुनः जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, भाववाचक और सर्वनाम के पाँच भेदों में विभक्त किया था। फिर, लिङ्ग, वचन, कारकादि से होने वाले विकारों की दृष्टि से उसे विकृत और अविकृत के वर्गों में भी बाँटा था।

लिङ्ग-विवेचन के प्रसङ्ग में सामान्य नियमों की चर्चा करते हुए यह भी बताया गया था कि "एक यह भी रीति है कि पुलिङ्ग का लक्षण न देखें तो चाहिए कि उनमें पुलिङ्ग का विशेषण और क्रिया लगाकर जान लेवें, जैसे देखते हैं कि घर इसमें पुलिङ्ग का लक्षण नहीं जान पड़ता पर इसके साथ में अच्छा, यह विशेषण और बनता है, यह क्रिया लगाते हैं, इससे जाना जाता है कि घर शब्द पुलिङ्ग है; क्योंकि अच्छी घर बनती है नहीं बोला जाता, इसी भाँति स्त्री का जहाँ लक्षण घटे स्त्रीलिङ्ग जानना चाहिए।"[3]

---

१. पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी : भा० व्या० द०, पृ० १।

२. उपरिवत्, पृ० ४।

३. उपरिवत्, पृ० ६।

त्रिपाठी जी ने हिन्दी में इकारान्त, उकारान्त तथा हलन्त शब्दों का अभाव माना था। वचन-विवेचन के प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा था कि "संज्ञा में लोग, जाति, गण आदि जोड़ देने से भी बहुवचन का बोध होता है।"[१] उन्होंने हिन्दी में आठ कारक माने थे और पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों के अनुरूप सबका सामान्य विवेचन किया था। फिर राम, लड़का, रवि, योगी, बन्धु, डाकू, चौबे, कोदो, जाति, मचिया, बुद्धि, बेटी, धेनु तथा बहू शब्द की रूप-रचना प्रस्तुत की थी।

सर्वनाम के मुख्य तीन भेद माने गये थे—पुरुषवाचक, सम्बन्धवाचक और प्रश्नवाचक। फिर, पुरुषवाचक के उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष, तीन भेद और अन्यपुरुष के निश्चयवाचक और अनिश्चयवाचक दो भेद किये गये थे। इस प्रसङ्ग में विभिन्न सर्वनामों के रूपान्तर पर भी प्रकाश डाला गया था।

क्रिया का मूल धातु को बताते हुए धातु को कृत्रिम और स्वाभाविक, दो वर्गों में बाँटा गया था। उनके सम्बन्ध में बताया गया था कि "जैसे दूसरी किसी भाषा के मेल से बने हुए कृत्रिम और नहीं तो स्वाभाविक।"[२] सकर्मक क्रिया के कर्तृप्रधान और कर्मप्रधान भेदों का परिचय देते हुए त्रिपाठी जी ने लिखा था कि "इन्हीं को कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य भी कहते हैं।"[३] काल के विवेचन में वर्त्तमान के तीन भेद—सामान्य वर्त्तमान, तात्कालिक वर्त्तमान और सन्दिग्ध वर्त्तमान (मैं पढ़ता होऊँगा); भविष्यत् के तीन भेद—सामान्य भविष्यत्, सम्भाव्य भविष्यत् (पढ़ूँ, पढ़े) और आसन्न भविष्यत् (जानेवाला है, आने पर है) तथा भूतकाल के पाँच भेद—सामान्यभूत, पूर्णभूत, अपूर्णभूत, सन्दिग्धभूत, और आसन्नभूत (मैं सोया हूँ) माने गये थे। अपूर्ण भूत के दो उपभेद भी बताये गये थे—सामान्य अपूर्ण भूत (मैं रहता था) और तात्कालिक अपूर्णभूत (मैं देख रहा था)। हेतुहेतुमद्भूत के विषय में बतापा गया था कि कोई-कोई हेतुहेतुमद्भूत को भी भूतकाल का भेद मानते हैं।"[४] विधि के भेदों की चर्चा नहीं की गयी थी।

१. पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी : भा० व्या० द०, पृ० ९।

२. उपरिवत्, पृ० २५।

३. उपरिवत्, पृ० २५।

४. उपरिवत्, पृ० २९।

क्रिया के विशेष नियम के अन्तर्गत प्रेरणार्थक, पूर्वकालिक तथा सहायक क्रियाओं का भी सामान्य परिचय दिया गया था। क्रिया प्रकरण के अन्त में बताया गया था कि "धातु से क्रिया के सिवा कर्तृवाचक, कर्मवाचक, करणवाचक, भाववाचक और क्रियाद्योतक ये पाँच संज्ञा भी निकलती हैं।"[१]

अव्यय के ६ भेद माने गये थे—क्रियाविशेषण, सम्बन्धवाचक, विभाजक, योजक, विस्मयादिबोधक और उपसर्ग। क्रियाविशेषण को चार वर्गों में बाँटा गया था—कालवाचक, भाववाचक (ज्यों, वृथा), परिमाणवाचक और स्थानवाचक।

उपसर्ग विवेचन के अन्तर्गत केवल संस्कृत के उपसर्गों का ही विवेचन किया गया था और संस्कृत-व्याकरण के आधार पर ही उपसर्ग का परिचय देते हुए लिखा गया था कि "उपसर्ग प्रायः क्रिया के पूर्व में युक्त होता है।"[२] कृदन्त के कर्तृवाचक, कर्मवाचक, करणवाचक, भाववाचक और क्रियाद्योतक, पाँच भेद, समास के द्वन्द्व, कर्मधारय, तत्पुरुष, द्विगु, बहुव्रीहि और अव्ययीभाव, ६ भेद तथा तद्धित के कर्तृवाचक, भाववाचक, अपत्यवाचक, गुणवाजक और गुनवाचक (?) पाँच भेद माने गये थे। अन्त में संस्कृत की सन्धियों तथा अँगरेजी के विराम-चिह्नों का सामान्य परिचय दिया गया था।

पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी का 'भाषा व्याकरण दर्पण' अन्य अनेक हिन्दी-व्याकरणों के समान एक सङ्ग्रह-ग्रन्थ ही था, जिसमें उन्होंने पूर्ववर्त्ती हिन्दी-व्याकरणों से सामग्री लेकर उसे अपने ढङ्ग से सजाने का प्रयास किया था। ग्रन्थ में स्वतन्त्र चिन्तन का सर्वथा अभाव था। इस ग्रन्थ की ख्याति तो नहीं हुई, किन्तु छात्रोपयोगी होने के कारण इसके अनेक संस्करण हुए।

विनायक राव, गणपतिलाल चौबे :

पं० विनायक राव सागर हाई स्कूल के फर्स्ट असिस्टेण्ट मास्टर थे और पं० गणपतिलाल चौबे रायपुर के ज्वाइण्ट जिला इन्सपेक्टर थे। दोनों ने मिल कर 'व्याख्या-विधि' (मोड ऑफ पार्जिङ्ग) नामक एक छात्रोपयोगी ग्रन्थ की रचना सन् १८८२ ई० में की थी। ग्रन्थ का पाँचवाँ संस्करण सन् १८८७ ई० में बनारस के चन्द्रप्रभा प्रेस से प्रकाशित हुआ था। यद्यपि वह ग्रन्थ मुख्य

१. पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी : भा० व्या० द०, पृ० ३३।
२. उपरिवत्, पृ० ३७।

रूप से वाक्यों का पृथक्करण और पदनिर्देश समझाने के उद्देश्य से ही लिखा गया था, किन्तु उसमें व्याकरण के अन्य अङ्गों की स्थूल बातों का भी समावेश कर दिया गया था।

ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की भूमिका में लेखकद्वय ने ग्रन्थ-रचना के उ ेश्य तथा विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि 'हिन्दी की चौथी, पाँचवीं और छठवीं कक्षाओं में व्याख्या करने की रीति बतलाने के हेतु आज पर्यन्त कोई भी पुस्तक नहीं रची गयी, इस कारण यह न्यूनता पूरी करने के निमित्त यह छोटी-सी पुस्तक बनायी गयी है। इसकी रचना यों है कि आदि में व्याकरण सम्बन्धी शब्दों की धातु, अर्थ आदि इस अभिप्राय से लिखे गये हैं कि यदि विद्यार्थी उन्हें कण्ठ कर लें, तो उन शब्दों के नाम सुनते ही उन्हें अर्थ और परिभाषा का ज्ञान तुरन्त हो जाया करेगा। फिर, प्रयोग और नियम के विचार अत्युत्तम और उपयोगी सूचनाओं सहित लिखे गये हैं। इसके उपरान्त व्याख्या के समय प्रत्येक शब्द-भेद के साथ जो-जो बातें कहनी अवश्य हैं, वे सुगम और स्पष्ट रीति से बतायी गयी हैं, कारण बीच-बीच में कठिनाई सुगम करने के हेतु कवित्त, दोहा और बहुत-सी सूचनाएँ लिखी गई हैं। इसके पश्चात् प्रायः ७० शब्दों की व्याख्या तो सम्पूर्ण रूप से और बहुत-से कठिन गद्य-पद्यों के शब्दों की व्याख्या संक्षेपतः लिखी हैं। निदान कविता में कारकों की विभक्तियों के रूप उदाहरण सहित लिख कर वाक्य का पृथक्करण भी समझाया है। ऐसी पुस्तक की बड़ी चाह थी, सो बहुत कुछ संशोधन कर बड़े विचार से बनाई गई है। परन्तु, इसे भी हम अभी पूरी नहीं कह सकते। विद्वज्जन इसमें जिन-जिन विशेष बातों के लिखवाने की अनुमति देंगे, वे पीछे से मिला दी जावेंगी और ग्रन्थकार भी इसी के शोधन में रहेंगे कि किस प्रकार यह छोटा-सा उत्तम ग्रन्थ परिपूर्णता को प्राप्त हो।"[१]

उक्त ग्रन्थ के दूसरे संस्करण में, जो सन् १८८३ ई० में छपा था, बहुत-सी बातें घटा-बढ़ा दी गयी थीं। उनकी चर्चा करते हुए दूसरे संस्करण की भूमिका में लेखकद्वय ने बताया था कि "अबकी बार इस पुस्तक में बहुत-सी नई-नई बातें, जैसे, शिक्षापात्र के अनुसार दूसरी कक्षा के हेतु वाक्यखण्ड, तीसरी कक्षा के निमित्त शब्द-भेद, चौथी कक्षा के लिए बहुतेरे शब्द भेदों के अन्तर्गत भेदों की परिभाषा और उदाहरण तथा बीच-बीच में बहुत-सी उपयोगी बातें

१. विनायक राव : व्या० वि०, प्रथम संस्करण की भूमिका।

मिला कर अन्त में एकवचन से बहुवचन बनाने के नियम लिख दिये हैं। 'भाषाभास्कर' के क्रिया से कालों को ऐसी बुद्धिमानी से लिखा है कि नियम किंवा अर्थ विचार को इस पुस्तक में रखने की आवश्यकता न जान बहुतेरे वैयाकरणों की अनुमति ले, उसे इस प्रति में नहीं लिखा।''[1]

दूसरे संस्करण के बाद ग्रन्थ में पुनः कोई संशोधन नहीं किया गया। यह ग्रन्थ पश्चिमी प्रान्तों के विद्यार्थियों के बीच बहुत दिनों तक लोकप्रिय बना रहा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सन् १८८२ से १८८७ ई० के बीच, कुल ६ वर्षों में, इसके पाँच संस्करण छप चुके थे। तीसरे संस्करण की भूमिका में विनायक राव ने निम्नलिखित दो दोहे दिये थे, जिनसे उस युग के वैयाकरणों की इस सामान्य प्रवृत्ति पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है कि उनका मुख्य उद्देश्य भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा, जैसी बन पड़े, वैसी पुस्तक छाप कर बेच देना ही रहता था—

सिद्धि विनायक के चरण, गहत विनायक धाय।
नाव राशि के ईश प्रभु, कीजे सदा सहाय।।
संशोधित यह तीसरी, प्रति दऊँ छपवाय।
अना तीन जब ढाई अब, तुरत फुरत बिक जाय।।[2]

ई० एच० पामर :

पामर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अरबी के प्रोफेसर थे तथा एच० एम० सिविल सर्विस कमीशन की परीक्षाओं में हिन्दुस्तानी के परीक्षक भी रहा करते थे। उनका 'सिम्पलीफायड ग्रामर आफ हिन्दुस्तानी पर्सियन ऐण्ड अरेबिक' नामक ग्रन्थ सन् १८८२ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसमें हिन्दुस्तानी, फारसी और अरबी तीनों भाषाओं के संक्षिप्त व्याकरण सम्मिलित थे। हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में उसमें अत्यन्त सामान्य बातों की चर्चा पूर्ववर्त्ती व्याकरण ग्रन्थों के आधार पर की गयी थी।

जार्ज० ए० ग्रियर्सन :

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री 'जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन' ने आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का अध्ययन उन्नीसवीं सदी के अन्त में ही प्रारम्भ कर दिया था।

---

१. विनायक राव, व्या० द०, दूसरे संस्करण की भूमिका।

२. उपरिवत्, तीसरे संस्करण की भूमिका।

उनका 'सेवुन ग्रामर ऑफ बिहारी लैङ्ग्वेजेज' (बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण) सन् १८८३ ई० से सन् १८८७ ई० तक प्रकाशित हो चुका था। उनकी सबसे बड़ी और सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'लिङ्ग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' (भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण) सन् १८६४ ई० में प्रारम्भ हुई थी और सन् १९५७ ई० में समाप्त हुई। यह बृहद् ग्रन्थ ग्यारह बड़ी-बड़ी जिल्दों में है, जिनमें से अनेक जिल्दों में तीन-चार तक पृथक् भाग हैं। उनमें उत्तर भारत की समस्त आधुनिक भाषाओं, उपभाषाओं तथा बोलियों के उदाहरण सङ्गृहीत हैं और इन उदाहरणों के आधार पर समस्त मुख्य बोलियों के संक्षिप्त व्याकरण भी दिये गये हैं; किन्तु वे अति संक्षिप्त होने के कारण विशेष उपयोगी नहीं हैं। जिल्द ६, भाग—१ में पश्चिमी हिन्दी की तथा जिल्द ६ में पूर्वी हिन्दी की सामग्री है। हिन्दी की भिन्न-भिन्न आधुनिक बोलियों की सीमाओं तथा उनके ठीक रूप का वैज्ञानिक वर्णन पहले-पहल इन्हीं जिल्दों में मिलता है। जिल्द १, भाग—१ में सम्पूर्ण ग्रन्थ की भूमिका है। भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास का सबसे अधिक प्रामाणिक तथा क्रमबद्ध वर्णन इस भूमिका में सुगमता से मिल सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :

हिन्दी के युगप्रवर्त्तक साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य की विभिन्न विधाओं से सम्बद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त, हिन्दी का एक व्याकरण भी लिखा था। उनका 'प्रथम हिन्दी-व्याकरण' सन् १८८४ ई० में विहारबन्धु छापाखाना, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। वह कुल २० पृष्ठों की पुस्तिका थी, जिसका मूल्य भी मात्र एक आना ही रखा गया था। उसकी रचना 'छोटे स्कूलों की शिक्षा के हेतु' की गयी थी।

भूमिका में भारतेन्दु ने अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा था कि 'हमारे स्कूल के बालकों को किसी ऐसे व्याकरण के विना बड़ी असुविधा थी, जो पहले-पहल पढ़ाई के योग्य हो अर्थात् जिसको पढ़कर बालकों को हिन्दी-व्याकरण में प्रवेश का अधिकार हो और हिन्दी-भाषा में पाठोपयोगी सब प्रकार के पुस्तक-सङ्कलन का मेरा बहुत दिनों से मनोरथ भी था इस हेतु यहाँ मैंने पहले व्याकरण श्रेणी की यह प्रथम पुस्तक लिखी है।"[१]

१. भारतेन्दु : प्र० हि० व्या०, भूमिका।

यों तो भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी-व्याकरण के अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु उन्होंने अपने व्याकरण की रचना में किसी अन्य ग्रन्थ को अपना आधार बनाने की अपेक्षा, स्वतन्त्र रूप से हिन्दी के स्वरूप के विश्लेषण का प्रयास किया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं यह स्पष्ट कर दिया था कि "इसकी रीति मैंने हिन्दी की स्वतन्त्र भाषानुसार रखी है इससे इसमें प्रथम अनेक भ्रम होना सम्भव है इस हेतु हिन्दीभाषा के विज्ञ लोग यदि इसमें कुछ गुण-दोष पावें तो अनुग्रहपूर्वक मुझे लिखें दूसरी बार के छपने में वे दोष निकाल दिये जायेंगे।"[१]

हिन्दी के अन्य अधिकांश तथाकथित वैयाकरणों की अनुकरणात्मक तथा अपहरणात्मक पद्धति का सर्वथा तिरस्कार करते हुए अपनी छोटी-सी व्याकरण-पुस्तक में भारतेन्दु ने जिस प्रकार की मौलिकता तथा स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया था, वह उनकी विलक्षण प्रतिभा के सर्वथा अनुरूप ही था। यदि इस दिशा में वे कुछ व्यापक प्रयत्न कर पाते, तो निश्चय ही हिन्दी को पूर्वापेक्षया एक श्रेष्ठ व्याकरण की प्राप्ति हुई होती, किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु ने इस सम्भावना को सम्भव नहीं होने दिया।

व्याकरण का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था कि "व्याकरण विद्या में बोलने वा लिखने में शुद्ध-अशुद्ध का ज्ञान होता है। हिन्दी का व्याकरण वर्ण, शब्द और पद इन तीन विभागों में बँटा है और साहित्य और छन्द इसके दो अंग हैं।"[२] उन्होंने वर्ण के स्वर और व्यञ्जन के अतिरिक्त मात्रा, मिश्रित और कल्पित तीन और प्रकार माने थे। मिश्रित शब्द का प्रयोग उन्होंने संयुक्त वर्णों के लिए किया था तथा कल्पित के सम्बन्ध में लिखा था कि ये "दूसरे भाषा के उच्चारण के अर्थ चिह्न देकर बनाये जाते हैं यथा ज़रा, ग़रीब।"[३]

सार्थ शब्द के उन्होंने पाँच प्रकार माने थे—संज्ञा, क्रिया, धर्म, वाचक और प्रतिनिधि। इनमें धर्म शब्द का प्रयोग उन्होंने विशेषण और क्रियाविशेषण दोनों के अर्थ में, वाचक शब्द का प्रयोग 'सम्बन्धतत्त्ववाचक' के अर्थ में और प्रतिनिधि का सर्वनाम के अर्थ में किया था। कर्त्ताकारक के चिह्न की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "कोई कर्त्ता का चिह्न ने मानते हैं, पर कोई कहते हैं कि ने तृतीया है, पर भाषा में राम से रावण मारा गया, रामने मारा

१. भारतेन्दु : प्र० हि० व्या०, भूमिका।
२. उपरिवत्, पृ० १।
३. उपरिवत्, पृ० २।

राम मारता है, राम करके रावण मारा गया। यहाँ सब स्थान में राम कर्त्ता ही है। यदि राम वाण से मारता है, तो वाण करण होगा, इसी ने से कहीं-कहीं कर्त्ता के हेतु भी आते हैं और ने से के अर्थ ग्रहण करने में इसी से भेद होता है।"[1]

क्रिया का विवेचन भी उन्होंने नितान्त मौलिक रीति से किया था, यथा; "क्रिया अनुभव और कृति दो प्रकार की हैं। अनुभव होने को कहते हैं यथा यह काम होता है, तो यहाँ होना क्रिया उसी काम ही में समाप्त हो गई और कृति करने को कहते हैं यथा मारना। कृति क्रिया दो प्रकार की हैं, जिसकी कृति कर्त्ता ही में हो जैसा चलता है, तो यहाँ वह आप चलता है। परनिष्ठ की क्रिया दूसरे पर पड़ती है यथा उड़ाता है तो यहाँ वह अवश्य किसी दूसरे को उड़ाता है। सब क्रियाओं में तीन काल तथा सन्देह और आज्ञा होती हैं। आज्ञा क्रिया तीन प्रकार की होती हैं यथा विधि, निषेध और उदासीन (चाहे कर चाहे न कर)। सन्देह क्रिया में सब काल होते हैं।"[2] इसी प्रकार, अन्य बातों का संक्षिप्त विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने अलङ्कार और छन्द पर भी सामान्य रूप से प्रकाश डाला था। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, यह व्याकरण बच्चों के लिए लिखा गया का; इसीलिए इसमें व्याकरण के जटिल तत्त्वों का समावेश नहीं किया गया था। फिर भी, अपनी मौलिकता के कारण व्याकरण के इतिहास में यह एक विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ माना जा सकता है।

शम्भूलाल कालूराम शुक्ल :

शम्भूलाल कालूराम शुक्ल द्वारा लिखित 'भाषा चन्द्रिका अर्थात् हिन्दी-भाषा का बाल व्याकरण' सन् १८८४ ई० में बम्बई की 'एज्युकेशन सोसाइटी के छापेखाने' में छापा गया था। वह प्रारम्भिक कक्षाओं के बालकों के लिए लिखा गया कुल ३० पृष्ठों का सामान्य व्याकरण था, जिसकी रचना पूर्ववर्त्ती व्याकरणों के आधार पर हुई थी।

बाबू रामचरण सिंह :

तारनपुर के जमीन्दार और 'पत्रबोध' के सङ्ग्रहकर्त्ता बाबू रामचरण सिंह का 'भाषाप्रभाकर' सन् १८८५ ई० में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से

१. भारतेन्दु : प्र० हि० व्या०, पृ० ४।
२. [illegible], पृ० ५-६।

प्रकाशित हुआ था। उसकी रचना उस समय तक के प्रकाशित अन्य अधिकांश छात्रोपयोगी व्याकरणों के समान, 'विद्यार्थियों के शिक्षा निमित्त' ही हुई थी; इस कारण प्रारम्भ में वह एक सामान्य कोटि का ही ग्रन्थ था, किन्तु आगे चल कर पं० अम्बिकादत्त व्यास के द्वारा संशोधित होने तथा उनकी विद्वत्तापूर्ण पाद टिप्पणियों से परिपुष्ट होने के पश्चात् उसका रूप इतना निखर उठा कि वह विद्वानों के लिए भी पठितव्य ग्रन्थ बन गया।

व्यास जी ने बाबू रामचरण सिंह के पास 'भाषाप्रभाकर' की संशोधित प्रति के साथ भेजे गये अपने ९-७-८७ ई० के पत्र में लिखा था कि "मैं आपकी आज्ञानुसार आपके समस्त ग्रन्थ को देख गया हूँ। ग्रन्थ अपूर्व है। आज तक ऐसा व्याकरण नहीं बना। पर मनुष्यों से च्युति रह ही जाती है। आपकी इच्छानुसार इस शीघ्रता में जैसा बुद्धि में आया, वैसा मैंने शोध भी दिया है और कई स्थलों में टिप्पणी भी कर दी है, पर इससे यह मत समझियेगा कि इस भाषा के व्याकरण की सब बातें हो गईं। यह तो समुद्र का बिन्दु भी नहीं है। जब तक पाणिनीय की भाँति हिन्दी की भी सूत्रावली और उस पर भाष्यान्त न बनै, तब तक भारत भाषा की दीनता नहीं जायगी। जिस देश में कोई व्याकरण भी पूरा नहीं बना, उन्हें छोटी-छोटी तानारीरी व्याकरण का सन्तोष होता है। पर जिनने (संस्कृत के) पाणिनीय व्याकरण का रसपान किया है, उनको किसी भाषा के भी कहानी ऐसे व्याकरण अच्छे नहीं लगते। मैं समझता था कि जैसे पाणिनीय प्रभृति ने संस्कृत के व्याकरण बनाये और वररुचि तथा हेमचन्द्र प्रभृति ने प्राकृत के व्याकरण बनाये, वैसे हिन्दी भाषा का भी कोई सूत्रबद्ध व्याकरण बनावेगा, जिससे इस भाषा के मर्म तक लोग पहुँचेंगे। पर शोक है कि इस पर किसी महात्मा ने लेखनी न उठाई। तब क्या करूँ, मेरे ऐसे अल्पज्ञ का तो यह काम नहीं है कि ऐसे भारी विषय पर अपनी चञ्चलता प्रकट करूँ। पर महाराज कुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय ने मुझे अधिक प्रोत्साहित किया, तो मैंने 'आर्यभाषा सूत्रधार' नामक व्याकरण का लिखना आरम्भ कर दिया है।[1] थोड़े समय में उसे भी आप तथा और रसिक देखेंगे। जितने विद्वान लोग हैं, वे मुझे अपना दासानुदास समझें और टिप्पणी में च्युतियों को क्षमा करें।[2]

१. पं० अम्बिकादत्त व्यास सम्भवतः आपने उक्त ग्रन्थ को पूरा नहीं कर सके थे, क्योंकि बहुत खोज करने पर भी न तो हमें उसकी कोई प्रति कहीं मिली और न उसका अन्यत्र कोई उल्लेख ही मिला।

२. भाषाप्रभाकर : पृ० सं० का अन्तिम पृष्ठ।

'भाषाप्रभाकर' अपने समय के पर्याप्त ख्यात ग्रन्थों में से एक था। ग्रियर्सन प्रभृति भाषाशास्त्रियों के उद्योग से वह स्कूलों के पाठ्यक्रम में भी निर्धारित हो गया था। तृतीय संस्करण के अवसर पर ग्रन्थ के अन्त में 'उपसंहार' के रूप में इसकी चर्चा करते हुए बाबू रामचरण सिंह ने लिखा था "धन्य हैं परमेश्वर जिनके अनुग्रह से इस ग्रन्थ का तृतीय संस्करण काफी समय में उपस्थित हुआ। हम अपने गुणग्राही जान वान सोमरन पोप साहब बहादुर और मान्यवर जी० ए० ग्रियर्सन साहिब और बङ्गाल के डाइरेक्टर क्रोफ्ट साहिब को भी अनेक धन्यवाद देते हैं, जिनने अति आदर से इस पुस्तक को स्कूलों में प्रचार किया। हमारा अन्तिम धन्यवाद हमारे मान्य श्री पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जी को है, जिनने अनुग्रह करके इसे अबकी फिर शोधा और कई स्थलों में अपनी अमूल्य टिप्पणी से अलङ्कृत किया। यदि भगवान की पूरी कृपा रही, तो दो-चार संस्करण में यह व्याकरण अद्वितीय हो जायगा।[१]

'भाषाप्रभाकर' विशुद्ध हिन्दी का व्याकरण था। जिस समय इसकी रचना हुई थी, उस समय हिन्दी और उर्दू का झगड़ा जोर पकड़ चुका था। ग्रन्थ के प्रथम पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में हिन्दी को उर्दू से सर्वथा भिन्न बताते हुए ग्रन्थ-संशोधक व्यास जी ने लिखा था कि "इस हिन्दी भाषा शब्द से लोग यह न समझें कि मुसलमानों की भाषा, जिसे उर्दू कहते हैं, वही यहाँ मानी गई है। नहीं, कदापि नहीं। उस भाषा का मूल, संस्कृत से कोई प्रधान सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु और भाषाओं से अनेक शब्दों का सङ्ग्रह करके भी वह उस फारसी और अरबी के बल से स्थिर है, जो नितान्त विदेशी भाषा है, इसलिए उस भाषा का नियम कहना 'भाषाप्रभाकर' का उद्देश्य नहीं है। यह उस शुद्ध हिन्दी भाषा की नियमावली दिखलाता है, जो प्रधान करके संस्कृत और प्राकृतिक से निकली है और जिसे गवर्नमेण्ट ने भी ठीक समझा है। क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो स्कूलों में हिन्दी और उर्दू अलग-अलग कोर्स न होते और यदि हिन्दी संस्कृत का द्वारसम्बन्ध गवर्नमेण्ट न समझती, तो संस्कृत और फारसी पढ़नेवालों के लिए नीचे के वर्गों में क्रम से भिन्न-भिन्न हिन्दी और उर्दू के ग्रन्थ न रखती। गवर्नमेण्ट का यह उद्देश्य है कि जो हिन्दी पढ़ेंगे, उन्हें इस हिन्दी के बल से संस्कृत कुछ सुगम होगी और जो फारसी पढ़ेंगे उन्हें उर्दू

१. 'भाषाप्रभाकर', बा० रा० च० सिं०, उपसंहार।

से कुछ सहायता मिलेगी।"[1] इस प्रकार, 'भाषाप्रभाकर' का भी भाषागत आदर्श वही था, जो 'भाषाभास्कर' का था।

'भाषाप्रभाकर' के प्रारम्भ में व्याकरण[2] पद[3] और शब्द[4] की पूर्वप्रचलित परिभाषाएँ देने के पश्चात् शब्द को वर्णात्मक[5] और ध्वन्यात्मक;[6] दो वर्गों में विभक्त किया गया था। वर्णात्मक के सार्थक और निरर्थक दो भेद किये गये थे और फिर सार्थक को संज्ञा, क्रिया और अव्यय की तीन कोटियों में विभाजित किया गया था। संज्ञा के वर्गीकरण में चार आधार अपनाये गये थे। पहले में उसके; रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि—तीन भेद; दूसरे में जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, भाववाचक और सर्वनाम—पाँच भेद, तीसरे में कर्तृवाचक, कर्मवाचक, करणवाचक, भाववाचक और क्रियाद्योतक--पाँच भेद और चौथे में विकृत और अविकृत—दो भेद किये गये थे।

हिन्दी में इकारान्त, उकारान्त और हलन्त शब्दों का अभाव बताते हुए लिखा था कि "हिन्दी भाषा में ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्द नहीं हैं; हरि, रुचि, भानु, धेनु आदि जो आते हैं संस्कृत के ही हैं। हिन्दी में हलन्त शब्द नहीं होते, ह्रस्व अकारान्त ही हलन्त ऐसे बोले जाते हैं। जैसे धन, बन, परन्तु ह्रस्व को मात्रा की गिनती के समय स्वरान्त मानते हैं। कितने ही संस्कृत के हलन्त शब्द हिन्दी में बोले जाते हैं, जैसे कदाचित्; औ हलन्त अनुकरण भी बनाये जाते हैं, जैसे धम्धम्, धुक्धुक्।"[7]

संज्ञा के लिङ्ग, वचन और कारक के भेदों की चर्चा करते हुए बाबू रामचरण सिंह ने लिखा था कि "लिंग से संज्ञा का पुरुषत्व और स्त्रीत्व जाना जाता है, वचन से एकत्व अनेकत्व और कारकों से संज्ञाओं की अवस्था का ज्ञान होता है।"[8] किन्तु, व्यास जी ने लिङ्ग के सम्बन्ध में बाबूसाहब की

१. बाबू रामचरण सिंह, भा० प्र०, पृ० १–२।
२. "जिस विद्या से शुद्ध-शुद्ध बोलने और लिखने का ज्ञान होता है उसे व्याकरण कहते हैं।"—वही पृ० १।
३. "विभक्ति सहित शब्द पद कहाते हैं।"—वही, पृ० २।
४. "कान से जो सुनाई देता है उसे शब्द कहते हैं।"—वही, पृ० २।
५. "जिसमें अक्षर रहते है उसे वर्णात्मक, जैसा राम, कृष्ण।"—वही, पृ० २।
६. "जिसमें अक्षर नहीं रहते उसे ध्वन्यात्मक कहते हैं, पशु पक्षी आदि की बोली।"—वही, पृ० २।
७. उपरिवत्, पृ० ८।
८. उपरिवत्, पृ० ९।

मान्यता में संशोधन करते हुए पाद-टिप्पणी में लिखा था कि "यद्यपि शब्दों के लिङ्ग-भेद वाक्यों के लिङ्ग-भेद के सूचक होते हैं; परन्तु यह एक मोटी बात है, केवल इसी नियम पर लिङ्ग-भेद की स्थिरता कभी नहीं हो सकती। जैसे सभा, मछली, मक्खी, तितली, चील इत्यादि शब्दों से स्त्रीत्व कुछ भी नहीं झलकता, किन्तु उस शब्द की साधुता और प्रकृति मात्र प्रकट होती है। यों ही कभी-कभी छोटे और बड़े आदि के भेद-सूचन के लिए स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग होते हैं।"[१]

पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए ई, इन, नी और आइन, चार मुख्य चिह्न बताये गये थे, जिनमें इन के स्थान पर किसी-किसी के द्वारा न और आइन के स्थान पर आनी के प्रयोग का भी उल्लेख किया गया था। इसी प्रकार, एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए भी ओं, ओ, ए, एँ और आँ पाँच चिह्न बताये गये थे।

कारक[२] आठ माने गये थे और सबका, चिह्नों के साथ, विवेचन किया गया था। कारक के सम्बन्ध में संशोधक व्यास जी ने अपनी टिप्पणी में लिखा था कि "संस्कृत में छह कारक माने हैं; क्योंकि सम्बन्ध को कारकत्व नहीं है। सम्बोधन प्रथम कारक में जाता है, पर भाषा में आठ ही माने हैं; कारण यह है—साक्षात् सम्बन्ध यद्यपि नहीं तो भी सम्बन्धवान के द्वारा क्रिया के साथ सम्बन्ध का भी होता है, दूसरे यह विषय टीका ग्रन्थ अर्थात् अर्थांश का है।"[३] कर्त्ता के ने चिह्न के सम्बन्ध में भी व्यास जी ने एक विस्तृत पाद-टिप्पणी जोड़ी थी, जिसमें उन्होंने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा ने-युक्त कर्त्ता को अप्रधान कर्त्ता समझे जाने के भ्रम का खण्डन करते हुए लिखा था कि "भाषा-चन्द्रिका के संख्या ५३ और १४४ में 'ने' को अप्रधान का चिह्न माना है, सो महा अशुद्ध है। क्योंकि, उसने किया जब अप्रधान है तो उससे किया गया क्या होगा और 'से' चिह्न किस कर्त्ता का माना जायगा और कर्मप्रधान क्रिया जो लिङ्गवचन में सदा तीनों कालों में कर्म के अनुसार रहती है और कर्तृप्रधान क्रिया जो केवल भूतकाल के चार प्रकारों में जब कर्म का चिह्न 'को' नहीं रहता तो कर्म के अनुसार होती है, दोनों एक हो जायगी। जैसे वह रोटी वा पेड़ा

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० ९, पाद-टिप्पणी।

२. "जिसके द्वारा संज्ञा का सम्बन्ध क्रिया के साथ हो उसे कारक कहते हैं।" —वही, पृ० १३।

३. उपरिवत्, पृ० १३, पाद-टिप्पणी।

खाता है, उससे रोटी वा पेड़ा खाया जाता है, उसने रोटियाँ खायीं, पेड़े खाये, उससे रोटियाँ खायी गयीं, पेड़े खाये गये वा रोटियों को खाया वा पेड़ों को खाया और वह रोटी वा पेड़ा खायगा, उससे रोटी वा पेड़ा खाया जायगा इत्यादि।"[१]

बाबू रामचरण सिंह ने कर्त्ता की परिभाषा दी थी कि "कर्त्ता उसे कहते हैं, जिसमें व्यापार हो, अर्थात् जो क्रिया को करे।"[२] इस पर अपनी टिप्पणी देते हुए व्यास जी ने लिखा था कि "यह कर्त्ता के अवयवार्थ से लक्षण हुआ, परन्तु अकर्मक क्रिया का कर्त्ता और सकर्मक क्रिया का अप्राणी कर्त्ता कैसे होगा। जैसे काम होता है और गाड़ी पूर्व को जायगी, तो दोनों में लक्षणों के द्वारा व्यापार जनकत्व सिद्ध करते हैं यह अर्थांश है।"[३] बाबू रामचरण सिंह ने कर्त्ता के शून्य, ने और से, तीन चिह्न बताये थे। व्यास जी ने अपनी टिप्पणी में तीनों के स्वरूप पर प्रकाश डाला था। उन्होंने शून्य के सम्बन्ध में लिखा था कि "शून्य चिह्न से कोई यह न समझे कि एक सुन्ना दे देना चाहिए, जैसे 'राम०' परन्तु यहाँ शून्य का तात्पर्य यही है कि चिह्नों का अभाव। और जान पड़ता है कि विभक्त्यन्त को पद मानने के लिए 'न कुछ' को भी 'कुछ' माना। संस्कृत में ऐसे ठिकाने सर्वलोप कर लेते हैं।"[४] फिर, 'ने' चिह्न की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा था कि "कदाचित् यह संस्कृत के तृतीया सम्बन्धी 'न' से निकला हो। जैसे 'सिंहेन मारितः', सिंह ने मारा, 'विधिना कृतम्' विधि ने किया। महाराष्ट्री में करण चिह्न 'ए' भी इसी का पोषक है। 'बिहारी सतसई' में 'ने' कहीं नहीं है। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक बृजभाषा में 'ने' न था, पर 'विनय-पत्रिका में 'ने' चिह्न है।"[५] इसी प्रकार, 'से' की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए व्यास जी ने लिखा था कि 'संस्कृत स्य', 'प्राकृत स्स' कदाचित इससे ही 'से' निकला हो। जैसे 'तस्य कथितं', 'उसे कहा हुआ' अपभ्रंशों में शब्दाकार भेद के सङ्ग वाक्याकार में भी हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। 'सम' का हिन्दी में 'सा से सी' होता है,

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० १५, पाद टिप्पणी।

२. उपरिवत्, पृ० १४।

३. उपरिवत्, पृ० १४, पाद टिप्पणी।

४. उपरिवत्।

५. उपरिवत्।

सो 'समं' से भी 'से' का निकलना सम्भव है। 'से'—हि०, सों—वृ०, सा, वा—सिं०, शं वा शे—गु०, सूं—जयपुरी, समं—संस्कृत। किसी का अनुभव है कि यह संगे से निकला है, क्योंकि प्राचीन बँगला में 'संगे' के ठिकाने 'सने' मिलता है और इससे कदाचित् 'से' निकला हो। चण्डीदास "यमुनार कूले कदम्वेर मूले मिलिल स्यामेर सने", काशीदास "कार सने बने युद करे।"[१]

व्यास जी ने अपनी टिप्पणी में 'ने' के सम्बन्ध में एक बड़ा मौलिक प्रश्न उठाया था कि "हिन्दी में कर्त्ता के आगे जो 'ने' चिह्न होता है, उस पर अनुनासिक चाहिए कि नहीं ?"[२] इस प्रश्न पर उन्होंने व्यापक रूप से विचार करने के पश्चात् अन्त में लिखा था कि "निचोड़ यही है कि शुद्ध दोनों हैं, पर सानुनासिक लिखना अच्छा है।"[३]

कर्म के 'को' चिह्न के सम्बन्ध में व्यास जी ने लिखा था कि "कदाचित् यह स्वार्थिक 'क' से निकला हो, पर सूक्ष्म सम्बन्ध इसका संस्कृत से जान पड़ता है। जैसे कक्षं—कक्खं—काखं—काहं—काहूं—कहूं—कहुं—कहं—कों—को।"[४] 'का' की व्युत्पत्ति उन्होंने 'प्राकृत कारितो—कारिओ—केरो—कर—(हि०) का'[५] के रूप में दिखायी थी। 'के लिये' पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा था कि 'लिये, लभ, लुभ, ला आदि से निकला है, पर सूक्ष्म सूत्र इस शब्द का 'लग्' धातु से लगा जान पड़ता है। जैसे लग्नम्—लगि—लागी—ला—लो—लेल—ले—लिये और इसी के साथ सम्बन्धकारक का चिह्न 'के' लग गया। इसी युक्ति से 'के' और 'लिये' के बीच में लिखने के समय अवकाश भी देना उचित है।"[६] 'में' के सम्बन्ध में उन्होंने दो प्रकार की व्युत्पत्ति दी थी। पहले उन्होंने 'सं० स्मिन् (केवल सर्वनाम में), प्रा० स्मि—म्हि, हिन्दी में',[७] यह विकास अनुमित किया था, किन्तु बाद में लिखा था कि "यह भी सम्भव है कि यह 'मध्य' से निकला हो। जैसे मध्य—मंझ—मझि—मांझ—

---

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० १५, पाद टिप्पणी।

२. उपरिवत्, पृ० १५।

३. उपरिवत्, पृ० १७, पाद टिप्पणी।

४. उपरिवत्, पृ० १९, पाद टिप्पणी।

५. उपरिवत्।

६. उपरिवत्, पृ० २०।

७. उपरिवत्, पृ० २३।

मांझीं—मांहीं—माहिं—महुं—महं—मों—में।"[१] इसी प्रकार, 'पर' की व्युत्पत्ति सं० 'उपरि' से दिखायी थी, यथा—उपरि—उपर—ऊपर—ऊपे—पै, ऊपर—पर।"[२]

शब्दों की कारक-रचना के प्रसङ्ग में पुल्लिङ्ग—मनुष्य, पति, साधु, माली, भालू, चौबे और कोदो के तथा स्त्रीलिङ्ग—बात, मति, सिन्धु, नदी, जोड़ू और सरसो के रूप पहले प्रस्तुत किये गये थे। तदनन्तर, आकारान्त तत्सम पुल्लिङ्ग राजा और स्त्रीलिङ्ग दया शब्द के और हिन्दी (तद्भव) आकारान्त पु० लड़का और स्त्री० खटिया शब्द के रूपान्तर दिये गये थे। दादा शब्द के दादे और दादाओं दोनों रूप शुद्ध माने गये थे। आकारान्त शब्दों को विकृत और अन्य शब्दों को अविकृत की श्रेणी में रखा गया था।

सर्वनाम के पुरुषवाचक, सङ्केतवाचक, सम्बन्धवाचक, अनिश्चयवाचक और प्रश्नवाचक; पाँच भेद माने गये थे। इस प्रसङ्ग में व्यास जी ने अपनी टिप्पणी में 'भाषाचन्द्रिका' का उल्लेख करते हुए लिखा था कि "भाषाचन्द्रिका' के ७४वें नियम में ३८ सर्वनाम हैं", ऐसा लिखा है, परन्तु भाषा में उसके आधे भी नहीं आते, फिर यह ज्ञात नहीं होता कि क्यों ऐसा लिखा गया? हाँ, संस्कृत में सर्व विश्वादि बहुत-से लिखे हैं, परन्तु भाषा में सर्व को भी गुणवाचक माना है, जिसका अपभ्रंश सब है।"[३] उन्होंने तू और तुम की व्युत्पत्ति सं० त्वम् से, तुझ की प्रा० तुज्झ और सं० तुभ्यम् से, वह और वे की सं० अदस् से, यह और ये की सं० इदम् से, जो की सं० यः से, सो की सं० सः से, कौन की सं० को नु से, कोई की सं० कोपि और प्रा० कोवि से तथा आप की सं० आत्मा और प्रा० अप्पा से मानी थी।

क्रिया प्रकरण की पाद टिप्पणी में व्यास जी ने हिन्दी धातुओं के रूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "कोई कोई कहते हैं कि अनेक क्रियावाचक तथा अन्यान्य शब्दों का मूलभूत वह शब्द धातु है जो कुछ प्रत्ययों के योग और कुछ विकार से अनेक रूप होकर एक बड़ी शब्दसृष्टि उत्पन्न करै। यह वैयाकरणों की बड़ी भूल है कि अँगरेजी 'टु गो' और 'टु कम' आदि देख कर 'जाना' 'आना', आदि भाववाचक प्रत्ययान्त शब्दों को धातु मानें। हाँ, केवल

---

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० २२-२३।
२. उपरिवत्, पृ० २३।
३. उपरिवत्, पृ० ४०।

जा, आ, गिर आदि धातु हैं पर उनकी धातुता का चिह्न रूप एक दूसरा 'ना' प्रत्यय (संस्कृत के इक् स्तिप् की भाँति) लगावें तो किसी भाँति उनका लिखना ठीक हो सकता है। धातु अँगरेजी व्याकरण के अनुसारण 'ना' गुप्त करके विधि क्रिया को भाषाभास्कर आदि ग्रन्थकारों ने माना है, परन्तु 'ना' चिह्न सहित को मानना उत्तम है, क्योंकि लेनदेन में भाववाचक बनाने के समय 'न' कहाँ से लावेंगे और जो कहैं कि लेना देना जब धातु होगा तो उसके आगे कारकों की विभक्तियाँ न आ सकेंगी तो इसी से सिद्ध होता है कि जितनी नान्त संज्ञा हैं सब भाववाचक संज्ञा हैं। कोई इसे क्रिया का साधारण रूप और कोई शाब्दिक क्रिया कहता है, ये दोनो अशुद्ध हैं—क्योंकि जब उससे विभक्ति उत्पन्न हों तो संज्ञा और जब काल पुरुष से सम्बन्ध रक्खे तब धातु। पण्डित कालीप्रसाद त्रिपाठी जी ने अपने 'भाषा व्याकरण दर्पण' में धातु के उदाहरण में ना सहित लिखना पढ़ना तो माना, परन्तु टोना, नोना, सोना और कोना इत्यादि शब्दों के अन्त में ना तो है, पर ये धातु नहीं हैं, इसका कारण नहीं लिखा और फिर मैं सूता हूँ लिखा सो यह अशुद्ध है, क्योंकि यही सोना अकर्मक धातु है। जब इसका अर्थ निद्रित होना है और आसन्न भूत में इसका शुद्ध रूप मैं सोया हूँ, होता है। जब सोना का अर्थ स्वर्ण होता है तब वह संज्ञा है क्योंकि इसके अर्थ से किसी व्यापार का बोध नहीं होता, सूना गुणवाचक शून्य का अपभ्रंश है।"[१]

पूर्ववर्त्ती हिन्दी व्याकरणों के समान 'भाषाप्रभाकर' में भी क्रिया के कर्तृ-प्रधान, कर्मप्रधान और भावप्रधान तीन प्रकार के प्रयोग माने गये थे। भाव-प्रधान के सम्बन्ध में बताया गया था कि "जब अकर्मक धातु के रूप कर्मप्रधान क्रिया के समान मिलें तो भावप्रधान समझो। जैसे सारी रात मुझसे नहीं जागा जाता।"[२] कर्तृप्रधान क्रिया में कर्त्ता की, कर्मप्रधान में कर्म की और भावप्रधान में कर्त्ता के साथ अकर्मक क्रिया की उपस्थिति अनिवार्य मानी गयी थी। भूतकाल के छह, भविष्यत् का एक और वर्त्तमान के सामान्य सन्दिग्ध और तात्कालिक, तीन भेद माने गये थे। इनके अतिरिक्त विधि, सम्भावना और पूर्वकालिक को क्रिया के अन्य तीन भेदों के रूप में उपर्युक्त कालों के साथ जोड़ दिया गया था।

---

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० ५१–५२, पाद टिप्पणी।

२. उपरिवत्, पृ० ५६–५४।

व्यास जी ने अपनी टिप्पणी में तात्कालिक वर्त्तमान का खण्डन करते हुए लिखा था कि "तात्कालिक वर्त्तमान में वस्तुतः वर्त्तमानता नहीं है, क्योंकि वर्त्तमान का मुख्य चिह्न 'ता' है सो उसमें कभी नहीं रहता। जैसे वह पढ़ रहा है।"[१] उन्होंने आगे लिखा था कि "आश्चर्य है कि भाषातत्त्वदीपिका में शिवनारायण त्रिवेदी महाशय ने तात्कालिक भविष्यत् और पण्डित काली प्रसाद त्रिपाठी ने भाषा व्याकरण दर्पण में तात्कालिक अपूर्णभूत भी माना है। त्रिवेदी महाशय का उदाहरण 'वह पढ़ता रहेगा' और 'तुम वहाँ बैठे रहोगे।' त्रिपाठी जी का 'मैं देख रहा था।' ध्यान देने की बात है कि दोनों ने क्रियाद्योतक और कर्मवाचक संज्ञा भी मानी है, जिनका उदाहरण त्रिवेदी जी का 'शंकरलाल पढ़ता जाता है, गंगाधर उठता बैठता चला जाता है' और त्रिपाठी जी का 'मारता हुआ, लेता हुआ, देता हुआ', तो 'पढ़ता' क्रिया द्योतक क्यों नहीं और तुम बैठे रहोगे में 'बैठे' कर्मवाचक क्यों नहीं, वैसे ही 'मैं देख रहा था' में 'देख रहा' कर्मवाचक क्यों नहीं माना। त्रिपाठी जी आसन्नभूत का उदाहरण 'मैं सूता हूँ' देते हैं और सा० वर्तमान का 'मैं रहता हूँ।' अब इतना चाहिए कि दोनों एक ही हैं अथवा इनमें कुछ भेद है।"[२] धातु के 'ना' चिह्न की व्युत्पत्ति उन्होंने संस्कृत के 'ल्युट्' स्थानीय 'अन्' से मानी थी, जैसे खादनम्—खाना। अपूर्ण भूतकाल की क्रिया के रूपान्तर के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी देते हुए उन्होंने लिखा था कि "राजा शिवप्रसाद साहिब ने अपने व्याकरण में लिखा है कि उत्तमपुरुष स्त्रीलिंग का रूप पुल्लिग के समान बोलना उत्तम है। जैसे मैं उठती और हम उठतीं के स्थान में मैं उठता और हम उठते। पर, वस्तुतः यह बोलचाल उन स्त्रियों की है, जो बहुत से पुरुष के से आचरण कर अपने को भी अर्द्ध पुरुष समझती हैं।"[३]

व्यास जी ने 'ने-युक्त' कर्त्ता को प्रधान कर्त्ता बताते हुए लिखा था कि "बहुतेरे लोग जहाँ कर्त्ता का चिह्न 'ने' आता है उसी को कर्मप्रधान मानते हैं और 'ने' युक्त कर्त्ता को अप्रधान कर्त्ता कहते हैं सो महा अशुद्ध है। जैसे भाषाचन्द्रिका में लिखा है कि जिस कर्त्ता में 'ने' प्रत्यय न हो वह तो प्रधान कर्त्ता और 'जिसमें 'ने' लगा हो वह अप्रधान कर्त्ता कहाता है।"[४] कर्मप्रधान

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० ५६, पाद टिप्पणी।
२. उपरिवत्, पृ० ५६–५७, पाद टिप्पणी।
३. उपरिवत्, पृ० ५९, पाद टिप्पणी।
४. उपरिवत्, पृ० ६९, पाद टिप्पणी।

और भावप्रधान क्रिया का रूप तो कर्मप्रधान क्रिया सा होता है, परन्तु पुरुष, लिङ्ग और वचन के कारण कुछ भेद नहीं होता। इससे एक-एक काल में एक ही रूप होता है। भावप्रधान क्रिया में केवल इतना ध्यान रखना चाहिए कि धातु अकर्मक है। जब भाव में प्रत्यय हुआ तो भाव ही उक्त अर्थात् प्रधान हुआ। अब भाव एक है और पुल्लिङ्ग है, इस कारण भावप्रधान क्रिया का रूप प्रत्येक काल, पुरुष और वचन में एक ही हुआ।"[1]

'भाषाप्रभाकर' में उठना, बोलना, खाना तथा देखना क्रिया के रूपान्तर प्रस्तुत किये गये थे। जाना, करना जैसे धातुओं को विकृत धातु की संज्ञा दी गयी थी। प्रेरणार्थक के वर्णन के प्रसङ्ग में बताया गया था कि "प्रेरणार्थक करने में जिन धातुओं का पहला अक्षर दीर्घ रहता है तो वह ह्रस्व हो जाता है।"[2] इसकी टिप्पणी में व्यास जी ने लिखा था कि "ओ का ह्रस्व उ होता है। जैसे छोड़ना, छुड़ाना। ए का ह्रस्व इ होता है, जैसे देखना, दिखाना। आ, ई, ऊ को क्रम से अ, इ, उ होता है। जैस भागना, भगाना; भींगना, भिगाना और पूजना, पुजाना। ऐ, ओ, अं और ह्रस्व स्वर ज्यों-के-त्यों रहते हैं। जैसे ऐंठना, ऐंठाना, खोलना, खोलाना; झंखना, झंखाना; चलना, चलाना आदि। कहीं-कहीं ऐ को इ भी हो जाता है। जैसे बैठना, बिठाना; खैंचना, खिचाना इत्यादि।"[3]

वे धातु, जिनके प्रेरणार्थक भिन्न पद्धति से बनते हैं, उनकी चर्चा करते हुए बाबू रामचरण सिंह ने लिखा था कि "बहुत से धातु ऐसे होते हैं जिनके प्रथमाक्षर के स्वर को पहली प्रेरणार्थक में दीर्घ करते हैं और दूसरी प्रेरणार्थक में उसे दीर्घ न करके द्वितीयाक्षर के आगे 'वा' लगाते हैं। जैसे कटना, काटना, कटवाना; गड़ना, गाड़ना, गड़वाना; इसमें किसी के अक्षर भी पलट जाते हैं। जसे फूटना, फोड़ना, फोड़वाना; टूटना, तोड़ना, तोड़वाना वा तुड़वाना आदि। यदि धातु के प्रथमाक्षर में इ वा उ स्वर होता है तो बहुतेरे धातुओं के इ वा उ को पहली प्रेरणार्थक में प्रथमाक्षर का स्वर ज्यों-का-त्यों बना रहता है और द्वितीयाक्षर पलट के आगे 'वा' लगा देते हैं। जैसे बिकना, बेचना, बिकवाना; छूटना, छोड़ना, छोड़वाना इत्यादि।"[4]

---

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० ७३, पाद टिप्पणी।
२. उपरिवत्, पृ० ७६, पाद टिप्पणी।
३. उपरिवत्, पृ० ७६, पाद टिप्पणी।
४. उपरिवत्, पृ० ८०-८१।

यौगिक क्रिया के प्रसङ्ग में अपनी टिप्पणी देते हुए व्यास जी ने लिखा था कि "वस्तुतः जैसे संस्कृत में आत्मने और परस्मै ये दो पद हैं, वैसे हिन्दी में तीन पद हैं—आत्मने पद, परस्मै पद और सामान्य पद। आत्मने पद में धातु के साथ 'लेना' का प्रयोग लगा रहता है, परस्मै पद में धातु के साथ देना का प्रयोग लगा रहता है और सामान्य पद में कुछ नहीं। जैसे, 'कर लीजिये' 'कर दीजिये' औ 'कीजिये', यों ही हँस लो, हँस दो, हँसो इत्यादि। सामान्य पद तो सब धातुओं से होता है पर और पदों के लिये यह नियम नहीं है कि अवश्य ही हो। जैसे सो लीजिये होता है, पर सो दीजिये नहीं।"[१]

यौगिक क्रिया[२] के निश्चयार्थक, शक्यार्थक, समाप्त्यर्थक, नित्यताबोधक, इच्छाबोधक, आरम्भार्थक, अवकाशार्थक तथा परतन्त्रताबोधक भेदों का विवेचन करने के पश्चात् कृदन्त[३] का परिचय दिया गया था। कृदन्त के पाँच भेद माने गये थे—कर्तृवाचक, कर्मवाचक, करणवाचक, भाववाचक और क्रियाद्योतक। सबका सोदाहरण विवेचन करने के पश्चात् तद्धित[४] पर सामान्य रूप से प्रकाश डाला गया था। फिर समास[५] के ६ भेदों—कर्मधारय, तत्पुरुष, बहुव्रीहि, द्विगु, द्वन्द्व और अव्ययीभाव का विवेचन किया गया था। समास के प्रसङ्ग में अपनी टिप्पणी देते हुए व्यास जी ने लिखा था कि "इस विषय पर कोई-कोई वैयाकरण भी प्रायः ध्यान नहीं देते हैं कि लेख के समय अन्तराल (स्पेस) कहाँ-कहाँ छोड़ना, परन्तु हम संक्षेप से इतना सूचित करते हैं कि एक-एक पद पर अन्तराल देने की परिपाटी है (यह परिपाटी भारतीय नहीं है) क्योंकि जितनी पुरानी पोथियाँ मिलती हैं वे सब धाराप्रवाह की एक लिखावट वाली मिलती हैं। मानस रामचरित में गोस्वामी तुलसीदास के लेख फोटोग्राफ से स्पष्ट है और यह कहावत भी है कि "घन अच्छर अरु विरली पांती। यह उत्तम लिखने की भांती।।" तिस पर भी यदि समास में अनेक पदों का मिल कर एक हो जाता है तो उसके प्रत्येक खण्ड पर अन्तराल छोड़ना पूरी भूल है।"[६] व्यास जी ने, समासों के उदाहरण के रूप में बाबू रामचरण सिंह के

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० ८२, पाद टिप्पणी।

२. उपरिवत्, पृ० ८१–८४।

३. उपरिवत्, पृ० ८४–८८।

४. उपरिवत्, पृ० ८८–८९।

५. उपरिवत्, पृ० ९१–९४।

६. उपरिवत्, पृ० ९१, पाद टिप्पणी।

द्वारा दिये गये संस्कृत के समस्त पदों को अनावश्यक घोषित करते हुए लिखा था कि "वस्तुत: ये जितने संस्कृत के उदाहरण हैं सो संस्कृत के सिद्ध पद भाषा में बोले जाते हैं, उन्हें भाषा व्याकरण से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, भाषा में तो वे शब्द दिखलाने चाहिये, जो संस्कृत नियम छोड़ केवल भाषा नियम से बने हों। संस्कृत शब्दों के लिए इतना ही कहना बहुत है कि कुछ संस्कृत के शब्द भी भाषा में प्रयुक्त होते हैं। भाषा के समास वाले शब्द ये हैं—दुमुहाँ, चौमुखा, पँचमुखा, सीसफूल, करनफूल, दुधहण्डा, दुपट्टा, पनबट्टी, पनचक्की, दुलड़ी, तिलड़ी इत्यादि।"[1]

बाबू रामचरण सिंह ने अव्यय के निपात, उपसर्ग, विभक्ति और प्रत्यय, चार भेद माने थे। इस सम्बन्ध में व्यास जी ने अपनी टिप्पणी में लिखा था कि "कोई कोई कहते हैं कि अव्यय तीन प्रकार के हैं—उपसर्ग, विभक्ति और साधारण। उपसर्ग केवल संस्कृत व्याकरण के नियम से संस्कृत के धातुओं के साथ आते हैं, भाषा के धातुओं के साथ नहीं, इसलिए भाषा के व्याकरण में उनका कहना व्यर्थ है, पर केवल उन शब्दों के बोध होने के लिए सूक्ष्म रूप से कह दिये गये हैं। वे अव्यय हैं तौ भी उनका प्रयोग अलग नहीं होता। और सब अव्यय अन्तराल देके लिखे जाते है।"[2] द्वयार्थक समुच्चयी अव्यय 'और' की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "संस्कृत में 'च' और 'अपर' अथवा 'अवर' शब्द हैं जो प्राकृत 'च' से 'अ' हो गया है उससे भाषा में 'ओ' समुच्चायक अव्यय निकला है और 'अवर' जो प्राकृत में 'अउर' होकर भाषा में 'और' हो गया है यह समुच्चायक नहीं, किन्तु दूसरे के अर्थ में है, वे भूलते हैं क्योंकि जो 'और' भाषा में समुच्चायक है वह केवल 'च' से पहले 'अ' हुआ फिर 'औ' तदनन्तर 'और' हुआ। 'उपपत्ति' यह है कि जो 'और' दूसरे के अर्थ में बोला जाता वह अवश्य 'अवर' से निकला है और जो समुच्चायक है वह नहीं; जैसे आप आइये और वह आप गया, इस वाक्य में पहला आप 'आप्त' का अपभ्रंश और दूसरा 'आत्म' का ऐसे आप शब्दवत् और के मूल शब्द भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु, इसका वास्तविक रहस्य तो यह है कि जैसे शब्दभ्रंश होता है वैसे अर्थभ्रंश भी होता है, तब 'च' से 'अ' होके 'औ' हुआ यहाँ केवल शब्दभ्रंश है, यह आर्थिक भ्रंश नहीं है। पर 'अपर' वा

---

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० ९४, पाद टिप्पणी।

२. उपरिवत्, पृ० ९५, पाद टिप्पणी।

'अवर' से 'अउर' होकर 'और' हुआ। इसमें एक पक्ष में अपर का अर्थ ज्यों-का-त्यों रहा, दूसरे पक्ष में 'च' का अर्थ भी झलकने लगा, यह अर्थापभ्रंश भी हुआ। बङ्गभाषा 'आर', राजपुतानी 'अर' आदि इसी शब्द के अपभ्रंश हैं, यहाँ तक कि राजपुतानी भाषा में केवल 'र' भी बोला जाता है। जैसे 'थे र म्हे'।"[1]

निपात के अन्तर्गत बाबू रामचरण सिंह ने और, औ, परन्तु, प्रायः, यदि, यद्यपि, कि, अर्थात्, सा, सी, से, दैवात्, अकस्मात्, क्या, क्यों, काहे को, कुछ, साथ, समेत, सह, हाँ, जी, हीं, छी, एक, अतएव, कु, दुर, सु, धत्, हत् और धिक का अर्थ बताते हुए प्रयोग की विधि समझायी थी तथा क्रियाविशेषण के चार भेदों—कालवाचक स्थानवाचक, भाववाचक और परिमाणवाचक का परिचय दिया था। उपसर्ग के सम्बन्ध में लिखा था कि "उपसर्ग हिन्दी और संस्कृत में प्रायः क्रियावाचक शब्द के पूर्व युक्त होके क्रिया के भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रकाश करते हैं। परन्तु, स्वतन्त्र हिन्दी के शब्दों में उपसर्ग नहीं लगाते हैं। उपसर्ग द्योतक हैं, वाचक नहीं, अर्थात् जिस क्रिया से युक्त होते हैं उसी के अर्थ का प्रकाश करते हैं, पर असंयुक्त होके निरर्थक रहते हैं। कहीं ऐसा भी होता है कि उपसर्ग के आने से पद का अर्थ बदल जाता है। जैसे दान, आदान इत्यादि।"[2]

उपर्युक्त मान्यता के कारण उपसर्ग के प्रकरण में केवल संस्कृत के उपसर्गों की तालिका दी गयी थी। फिर, समुच्चयबोधक को संयोजक और विभाजक की दो श्रेणियों में बाँट कर उनका परिचय दिया गया था। तदनन्तर, विस्मयादिबोधक एवं हिन्दी विभक्तियों (परसर्गों) का परिचय दिया गया था। प्रत्यय के विवेचन के प्रसङ्ग में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के द्वारा प्रस्तुत प्रत्ययों की सूची देते हुए यह बताया गया था कि "इनसे और अव्यय से कुछ सम्बन्ध नहीं है।"[3] व्यास जी ने इस पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा था कि "पं० देवीदीन और राजा शिवप्रसाद साहिब ने न जाने क्या समझ कर प्रत्यय, अव्यय, विभक्ति और उपसर्ग चारों को उपसर्ग माना है, परन्तु प्रत्यय जो संज्ञा अथवा धातु से हो उसी को कहते हैं।"[4] उन्होंने यह भी स्पष्ट किया था

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० ९५–९६।
२. उपरिवत्, पृ० १०२।
३. उपरिवत्, पृ० १०८।
४. उपरिवत्।

कि "वस्तुतः प्रत्ययों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं इसलिए उनको स्वतन्त्र अव्यय मानने की आवश्यकता नहीं।"[१]

वाक्य-रचना के अन्तर्गत उसके सामान्य नियम और पद्धति, पद-योजना के नियम विशेष्य और विशेषण का परिचय, वाक्यार्थबोध तथा विरामादि चिह्न का सामान्य विवेचन किया गया था। इसके पश्चात् सन्धि का प्रकरण और अन्त में पद्यव्याकरण (अर्थात् छन्दों का विवेचन) प्रस्तुत किया गया था। पद्यव्याकरण के सम्बन्ध में दी गयी अपनी टिप्पणी में व्यास जी ने लिखा था कि "यहाँ से जिस भाषा का प्रकरण चला वह ठीक हिन्दी नहीं है किन्तु व्रजभाषा आदि का संकर है, पर छात्रों को संक्षेप में पद्य समझने के बोध होने के लिये यहाँ दिग्दर्शन किया है। पद्य लिखने में भाषा का बड़ा तोड़ जोड़ किया जाता है और हिन्दी में ठीक गद्य ही लिखना अभी किसी के वश का नहीं है तब पद्य तो कहाँ तक ठीक होगा, इसीलिये कितनों ही ने इस भाषा में पद्य लिखने का प्रबन्ध किया तो भी न वह इतना मधुर हुआ और न प्रचलित हुआ इसलिए यद्यपि वह दिखलाना उचित था पर छोड़ दिया।"[२] छन्दों के उदाहरण केवल व्रजभाषा या अवधी के काव्य से दिये गये थे, खड़ी हिन्दी से नहीं।

'भाषाप्रभाकर' का महत्त्व मूल अंश के कारण उतना नहीं था, जितना पाद टिप्पणियों के कारण; जो उसके संशोधक पं० अम्बिकादत्त व्यास के द्वारा बाद में जोड़ी गयी थीं। व्यास जी ने पूर्ववर्त्ती प्रायः सभी हिन्दी वैयाकरणों के ग्रन्थों की समीक्षा एवं गुण-दोष का विवेचन अपनी टिप्पणियों में प्रस्तुत किया था। फलस्वरूप, 'भाषाप्रभाकर' एक सामान्य विवरणात्मक व्याकरण न रह कर समीक्षात्मक और तुलनात्मक व्याकरण जैसा बन गया था। इसके अतिरिक्त, उन्होंने सर्वनामों, परसर्गों तथा अन्यान्य कतिपय शब्दों की सामान्य व्युत्पत्ति का भी विवेचन किा था, जिससे उसमें ऐतिहासिक व्याकरण के भी लक्षण समाहित हो गये थे। इस प्रकार, हिन्दी व्याकरण के इतिहास में यह एक सर्वथा मौलिक प्रयास था, जिसका श्रेय 'भाषाप्रभाकर' के मूल लेखक बाबू रामचरण सिंह को उतना नहीं, जितना उसके संशोधक और टिप्पणी लेखक पं० अम्बिकादत्त व्यास को है।

'भाषाप्रभाकर' के तीसरे संस्करण तक आते-आते जिन प्रमुख हिन्दी वैयाकरणों के ग्रन्थ की समीक्षा उसमें हो चुकी थी, उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,

---

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० १०८।

२. उपरिवत्।

पं० श्रीलाल, पं० शिवनारायण त्रिवेदी, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, पं० नारायण शास्त्री पटवर्धन, पं० काली प्रसाद त्रिपाठी, हरिगोपालोपाध्याय, अयोध्या प्रसाद तथा पं० देवीदीन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पं० अम्बिकादत्त व्यास :

साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास भागलपुर जिला स्कूल के हेड पण्डित थे। वे अपने समय के श्रेष्ठ विद्वानों में से थे। सन् १८८५ ई० में प्रकाशित बाबू रामचरण सिंह के 'भाषाप्रभाकर' को उन्होंने जिस पाण्डित्य के साथ संशोधित किया था और उसमें जैसी समीक्षात्मक टिप्पणियाँ दी थीं, उनसे उनकी अद्‌भुत् विद्वत्ता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उसी ग्रन्थ में उन्होंने 'हिन्दीभाषा सूत्रधार' नामक एक व्याकरण की रचना प्रारम्भ करने की सूचना दी थी, जो उनके असामयिक निधन से सम्भवतः पूरा नहीं हो सका। सन् १९०१ ई० में माधव प्रसाद पाठक ने अपने 'हिन्दी बालबोध व्याकरण' की भूमिका में उसका उल्लेख करते हुए लिखा था कि "पण्डित अम्बिकादत्त व्यास साहित्याचार्य स्वर्गवासी ने 'आर्यभाषा सूत्रधार' नामक व्याकरण का लिखना आरम्भ किया था, परन्तु नहीं जान पड़ता कि वह ग्रन्थ कहाँ है, समाप्त हुआ कि नहीं, किसी ने कभी उसको देखा या नहीं, यह सब बातें गुप्त हैं। उक्त पण्डित जी लोकोत्तर बुद्धि के मनुष्य थे यदि जीते रहते, तो अवश्य उस ग्रन्थ को प्रकाश करते। दैवयोग से वे अल्पायु हो गये।"

व्यास जी की 'विभक्ति विभाग' नाम की एक पुस्तक सन् १८९० ई० में भागलपुर से प्रकाशित हुई थी, "जिसमें हिन्दी भाषा में विभक्तियों को अलग लिखना कि नहीं; इस विषय का विचार था।" पण्डित जी ने उक्त प्रश्न को पत्र के रूप में छपा कर देश के श्रेष्ठ विद्वानों के पास भेजा था। अपनी पुस्तक में उन्होंने सभी विद्वानों के नाम के साथ उनकी सम्मतियाँ प्रकाशित की थीं। वे स्वयं विभक्ति को शब्द से हटा कर लिखने के पक्ष में थे। अधिकांश विद्वानों ने उन्हीं के मत का समर्थन भी किया था, किन्तु कलकत्ते के 'हिन्दी बङ्गवासी' नामक मासिक पत्र के सम्पादक ने उनके मत का विरोध करते हुए विभक्ति को शब्द से सटा कर लिखना उचित बताया था। पण्डित जी ने उक्त सम्पादक के पत्र का बड़ा ही तर्कयुक्त एवं व्यंग्यपूर्ण उत्तर दिया था। अपनी पुस्तक में उन्होंने उक्त सारी सामग्री ज्यों-की-त्यों उद्धृत की थी। अन्त में अपना निष्कर्ष देते हुए उन्होंने लिखा था कि "विभक्ति और उनके पूर्व के शब्दों को अलग ही लिखना उत्तम है और मिला के लिखना साधारण है,

परन्तु जहाँ विभक्ति का रूपान्तर हो गया हो, वहाँ अलग नहीं लिखना और जहाँ विभक्ति के पहले कोई दूसरी विभक्ति अथवा अव्यय हो, वहाँ मिला के नहीं लिखना चाहिये।"

मोहनलाल शर्मा कटिहा :

बाँसबरेली निवासी इन्जीनियर मोहनलाल शर्मा कटिहा का 'वैयाकरण रत्न' सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था। वह सामान्य स्तर का छात्रोपयोगी व्याकरण था। उनका दूसरा व्याकरण 'भाषा प्रदीप' प्रथम भाग, सन् १९०१ ई० में मुरादाबाद के 'आर्यमित्र यन्त्रालय' से प्रकाशित हुआ था। पुस्तक का परिचय देते हुए उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था कि "इस पुस्तक में व्याकरण की पद रचना इत्यादि विषय केवल उतने ही लिये गये हैं जो विद्यार्थियों को सुगमतापूर्वक समझ में आ सकै और उनकी व्युत्पत्ति के योग्य वाक्यान्वय में उपयोगी हों इनसे कठिन विषय आगामी भागों में आवेंगे।" वह प्रारम्भिक कक्षाओं के बालकों के लिए लिखी गयी सामान्य पुस्तक थी, जिसमें वाक्य-विश्लेषण की पद्धति को अधिक विस्तार से समझाया गया था। उक्त व्याकरण का दूसरा और तीसरा भाग क्रमशः सन् १९०२ ई० और सन् १९०३ ई० में बरेली के 'रामाज्ञा प्रेस' से प्रकाशित हुआ था। तीसरे भाग की भूमिका में लेखक ने ग्रन्थ के उद्देश्य की चर्चा करते हुए लिखा था कि "भाषा जानने के लिए मुख्य आवश्यकता व्याकरण के उस भाग की होती है जिसमें पदों का परस्पर सम्बन्ध दिखाया गया हो पर शोक है कि इस समय भाषा व्याकरण की जो पुस्तकें विद्यमान हैं उनमें इस विषय का बहुत कम वर्णन है इसी से वे प्रायः उपयोगी नहीं। इसी त्रुटि को मिटाने के लिए 'भाषा प्रदीप' नामक ग्रन्थ आपकी सेवा में अर्पण किया जाता है।"

दीनानाथ देव :

दीनानाथ देव का 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता से सन् सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था। वह हिन्दी का अँगरेजी में लिखा एक सामान्य व्याकरण था, जिसकी रचना अहिन्दीभाषी भारतीयों तथा विदेशियों को हिन्दी का परिचय देने के उद्देश्य से की गयी थी। देव जी का एक दूसरा ग्रन्थ 'ए हिन्दुस्तानी ऐण्ड परसियन ग्रामर' सन् १९०४ ई० में प्रकाशित हुआ। उसमें हिन्दुस्तानी तथा फ़ारसी के व्याकरणिक गठन का सामान्य विवेचन किया गया था।

गणपति लाल चौबे :

रायपुर के 'ज्वाइण्ट जिला इन्सपेक्टर' गणपति लाल चौबे की 'व्याख्या-विधि' सन् १८८७ ई० में प्रकाशित हुई थी। उसमें लेखक ने वाक्य-विश्लेषण एवं पद-निर्देश की पद्धति अँगरेजी व्याकरण के आधार पर लिखी थी। उस समय स्कूलों में उक्त विषयों से सम्बद्ध प्रश्न पूछे जाते थे, जिनका उत्तर उस काल के प्रचलित व्याकरणों में नहीं मिलता था। उसी अभाव की पूर्त्ति के लिए चौबे जी ने अपनी पुस्तिका का प्रणयन किया था।

हीरानाथ :

कोठी बाजार, जिला होशङ्गाबाद (म० प्र०) के निवासी हीरानाथ ने 'भाषाभास्कर' के आधार पर 'व्याकरण शब्दचन्द्रिका' नाम की एक व्याकरण प्रश्नोत्तरी तीसरी कक्षा के विद्यार्थियों के लिए लिखी थी, जो सन् १८८७ ई० में काशी के भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित हुई थी। बाद में उन्होंने चौथी कक्षा के छात्रों के लिए 'व्याकरण भाषाचन्द्रिका' नाम की एक दूसरी पुस्तक भी प्रकाशित की थी। वे सामान्य स्तर की छात्रोपयोगी पुस्तकें थीं, जिनमें मौलिकता का सर्वथा अभाव था।

महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी :

द्विवेदीजी बनारस संस्कृत कॉलेज के प्रधान गणितशास्त्राध्यापक थे। उनका 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' सन् १८९० ई० में बनारस के 'लेजेरस ऐण्ड को०' से प्रकाशित हुआ था। यह व्याकरण सप्तम और षष्ठ वर्ग के बालकों के लिए गवर्नमेण्ट की आज्ञा से बनाया गया था। यह ३९ पृष्ठों का एक सामान्य ग्रन्थ था, जो संस्कृत पद्धति से लिखे गये पूर्ववर्त्ती हिन्दी व्याकरणों के आधार पर लिखा गया था। इसका प्रारम्भ और अन्त लेखक ने स्वरचित दोहे[1] से किया था।

---

१. प्रारम्भ का दोहा—

दशरथ नन्दन चरनवर, मन धरि बरनत रीति।
जेहि जाने जानहिं सुलभ, सुजन विमल पद नीति॥

अन्त का दोहा—

बालक हित व्याकरण को, पूर्व भाग धरि ध्यान।
रच्यो सुधाकर याहि लखि, प्रमुदित होइ सुजान॥

—सुधाकर द्विवेदी, 'हिन्दी भाषा का व्याकरण'

व्याकरण की परिभाषा देते हुए द्विवेजी ने यह बताया था कि "जिस विद्या से लोग बोलने और लिखने की रीति सीख लेते हैं उसे व्याकरण कहते है।"[१] उन्होंने व्याकरण को वर्णविचार, शब्दविचार और वाक्यविचार के तीन खण्डों में बाँटा था और सबका सामान्य ढङ्ग से संक्षिप्त परिचय दिया था। उनके विवेचन में कहीं-कहीं मौलिकता तथा स्वतन्त्र चिन्तन की भी झलक थी। व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उन्होंने कहीं-कहीं सामान्य शब्द के अर्थ में किया था, जैसे, "कान से जो सुनाई देता है उसे शब्द कहते हैं वह दो प्रकार का होता है एक अव्यक्त और दूसरा व्यक्त। अव्यक्त उसे कहते हैं जिसका कुछ अर्थ न समझ पड़े। जैसे ढोल, तासा, नगाड़े इत्यादि का बोल। और व्यक्त उसे कहते हैं जिसका अर्थ समझ पड़े।[२] छात्रोपयोगिता के अतिरिक्त इसका अन्य कोई महत्त्व नहीं था।

कन्हैयालाल त्रिपाठी :

कन्हैयालाल त्रिपाठी की 'बालचन्द्रिका' खड्गविलास प्रेस, पटना से सन् १८९० ई० में प्रकाशित हुई थी। वह एक सामान्य स्तर की छात्रोपयोगी पुस्तक थी।

एम० केम्पसन् :

केम्पसन का 'द सिण्टेक्स ऐण्ड इडियम्स ऑफ हिन्दुस्तानी' सन् १८९० ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसमें हिन्दुस्तानी के 'वाक्य-विचार' तथा मुहावरों का परिचय दिया गया था।

कैंमिल्लो तेगलिआब्ने :

कैंमिल्लो का 'ग्रामेतिका इन्दोस्ताना ओ उर्दू' सन् १८९२ ई० में प्रकाशित हुआ था। मह ग्रन्थ फ्रेञ्च भाषा में लिखा गया था, जिसमें रोमन के अतिरिक्त फारसी लिपि का भी यत्र-तत्र उपयोग किया गया था। कैमिल्लो नेपोली के 'नेल आर० इन्स्तिचयूत्स ओरियेन्ताले' में हिन्दुस्तानी भाषा के प्रोफेसर थे।

देवीदयाल :

देवीदयाल का 'भाषा शब्द निरूपण' एक सामान्य स्तर का छात्रोपयोगी हिन्दी व्याकरण था, जिसका प्रकाशन सन् १८९२ ई० में हुआ था।

---

१. 'भाषाप्रभाकर', पृ० १।

२. उपरिवत्, पृ० १२-१३।

गोकुल प्रसाद :

गोकुल प्रसाद इन्सपेक्टिङ्ग पण्डित का 'भाषामार्तण्ड अर्थात् हिन्दी का एक उत्तम व्याकरण' सन् १८९३ ई० में 'इउनियन यन्त्रे श्री विमलाचरण चक्रवर्त्ती द्वारा मुद्रित' हुआ था। गोकुल प्रसाद थाना दलसिङ्ग सराय, जिला दरभङ्गा के रहने वाले थे। उन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना संस्कृत-व्याकरण-पद्धति से लिखे गये पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों के आधार पर की थी।

'भाषामार्तण्ड' को वर्ण, शब्द, वाक्य और छन्द के क्रमशः चार प्रकरणों में बाँटा गया था। वर्णविचार के अन्तर्गत ४९ वर्णों में १६ स्वर और ३३ व्यञ्जन बताये गये थे। अ इ उ ऋ लृ को मुख्य स्वर बतया। गया था। स्वर के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत, तीन भेद किये गये थे। द्वित्व के सम्बन्ध में लिखा था कि "भाषा में जब एक ही अक्षर दो बार जुड़ा हो तो उसको द्वित्व कहते हैं और उसके पूर्वस्वर को गुरु कहते हैं अर्थात् खींच कर बोलते हैं जैसा पट्टा, सच्चा। ख छ ठ थ फ के द्वित्व में अपने-अपने वर्ग का प्रथम अक्षर हो जाता है।"[1] इसी प्रकार, र के स्थान में ल और कहीं ड़ के आदेश की चर्चा करते हुए बताया गया था कि "र जब शब्द के बीच में और अन्त में हो तो ल से बदल जाता है; जैसे—मुरहटी से मुलहटी, केरा से केला। कभी ड़ से बदल आता है; जैसे—पुरिया—पुड़िया, फोरा—फोड़ा, थोरा—थोड़ा, खेलवारिन—खेलवाड़िन।"[2] इसके बाद संस्कृत के आधार पर 'णत्वविधान', 'षत्वविधान' तथा ध्वनियों के उच्चारण-स्थानों का परिचय दिया गया था।

शब्दविचार के अन्तर्गत शब्द के सिद्ध (रूढ़ि) और साधित (यौगिक) दो भेद करने के पश्चात् सार्थक शब्दों को संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय के पाँच वर्गों में बाँटा गया था अप्राणिवाचक शब्दों के लिङ्ग पहचानने के लिए दिये गये कई नियमों में एक यह भी था कि "जिस शब्द को अहले ज़बान अर्थात् दिल्ली आगरे वाले पु० बोलते हों उसको पु० और जिस शब्द को स्त्री० बोलते हों, उसको स्त्री० बोलना उचित है।"[1] इसके अतिरिक्त सन्तान, सुन्दर, बच्चा, मित्र आदि शब्दों को उभयलिङ्ग बताया गया था। फिर, पु० से स्त्री० बनाने के कुछ सामान्य नियम दिये गये थे। इसके बाद

१. गोकुल प्रसाद, भा० मा०, पृ० ७-८।
२. उपरिवत्, पृ० ७।

वचन, कारक और पुरुष की सामान्य चर्चा करने के पश्चात् शब्दों के रूपान्तर प्रस्तुत किये गये थे।

सर्वनाम के पुरुषवाचक, सम्बन्धी, आदरसूचक, प्रश्नवाचक और सामान्य पाँच भेद किये गये थे। उत्तमपुरुष सर्वनाम को निश्चयवाचक और अनिश्चय-वाचक के दो भेदों में विभक्त किया गया था। सामान्य सर्वनाम के अन्तर्गत सब, अमुक, हर, एक, फलाना जैसे शब्दों को रक्खा गया था। विशेषण को पहले गुणवाचक, आधिक्यवाचक और अत्युक्तिवाचक के तीन भेदों में और पुनः गुणवाचक और संख्यावाचक के दो भेदों में विभक्त किया गया था। इसी प्रकार, क्रिया को भी सकर्मक और अकर्मक के अतिरिक्त कर्तृप्रधान, कर्म-प्रधान और भावप्रधान के तीन भेदों में बाँटा गया था।

भूतकाल के सामान्य, पूर्ण, आसन्न, अपूर्ण, सन्दिग्ध और हेतुहेतुमद्भूत, छह भेद; वर्त्तमान काल के सामान्य, तात्कालिक और सन्दिग्ध, तीन भेद और भविष्य के सामान्य तथा सम्भाव्य, दो भेद माने गये थे। अपूर्णभूत के अन्तर्गत सामान्य अपूर्ण (देखता था) और तात्कालिक अपूर्ण (आ रही थी), दो उपभेद किये गये थे। इन सबके अतिरिक्त क्रिया के, विधि और पूर्वकालिक, दो और भेद जोड़े गये थे।

पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों के ही अनुसार इसमें भी क्रिया के कर्तरि, कर्मणि और भावे प्रयोग का परिचय दिया गया था। फिर, क्रिया की रूप-रचना देने के पश्चात् संयुक्त (यौगिक) क्रिया के शक्तिबोधक, पूर्णताबोधक, नित्यताबोधक, इच्छाबोधक, आरम्भबोधक तथा अवकाशबोधक, छह भेदों की चर्चा की गयी थी। इसके बाद अकर्मक से सकर्मक और फिर सकर्मक से प्रेरणार्थक बनाने की विधियों का सामान्य उल्लेख किया गया था।

सन्धि-प्रकरण वर्णविचार के अन्तर्गत नहीं देकर शब्दविचार में दिया गया था। समास के कर्मधारय, तत्पुरुष, बहुव्रीहि, द्विगु, द्वन्द्व और अव्ययीभाव, छह भेद माने गये थे। अव्यय के अन्तर्गत क्रियाविशेषण, उभयान्वयी, शब्द-योगी (आगे, पीछे आदि) और विस्मयादिबोधक शब्दों को परिगणित किया गया था।

वाक्यविचार के अन्तर्गत कथनात्मक, प्रश्नात्मक, विस्मयादिबोधक, आज्ञार्थक और इच्छाबोधक, पाँच प्रकार के वाक्यों का विवेचन किया गया था।

---

१. गोकुल प्रसाद, भा० भा०, पृ० १७।

वाक्य को उद्देश्य और विधेय के दो खण्डों में बाँट कर उनका अलग-अलग परिचय दिया गया था। इसके बाद लिङ्ग, वचन और पुरुष के प्रयोग की दृष्टि से वाक्य-योजना के कुछ नियम सोदाहरण बताये गये थे। फिर, पदच्छेद की पद्धति बतायी गयी थी। अन्त में छन्दों का सामान्य विवेचन था।

'भाषामार्तण्ड' उस समय के प्रचलित व्याकरणों, जैसे 'भाषाचन्द्रोदय', 'भाषाभास्कर' आदि के आधार पर लिखा गया था। लेखक ने यत्र-तत्र उसमें कुछ नये पारिभाषिक शब्द जोड़ दिये थे तथा 'णत्वविधान', 'षत्वविधान' जैसी कुछ सामान्य बातें संस्कृत व्याकरण से लेकर ज्यों-की-त्यों रख दी थी। इन सामान्य बातों के अतिरिक्त ग्रन्थ में और कोई मौलिकता नहीं थी।

एडविन ग्रीव्स :

ग्रीव्स का 'ग्रामर ऑफ मॉडर्न हिन्दी' सन् १८९५ ई० में बनारस के ई० जे० लेज़ारस ऐण्ड को० के द्वारा प्रकाशित किया गया था। ग्रीव्स लन्दन मिशन सोसाइटी के सदस्य थे। अन्य अनेक पूर्ववर्त्ती मिसिनरियों के समान वे भी भारत में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए हिन्दी के प्रचार को आवश्यक मानते थे। अपने ग्रन्थ की रचना उन्होंने मुख्यतः इसी उद्देश्य को सामने रख कर की थी।[१]

ग्रन्थ के प्राक्कथन में केलॉग के व्याकरश (द्वि० सं०) की प्रशंसा करते हुए ग्रीव्स ने उसे अनुपम और अनमोल व्याकरण कहा था, जिसके प्रकाशन के बाद, उनके अनुसार, अनेक आगामी वर्षों तक किसी अन्य व्याकरण के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। किन्तु, ग्रीव्स के अनुसार, वह

---

१. "Primarily however the work of compiling the grammar was undertaken with a view of those who come out as missionaries to this country, and who have the very highest interests of the people at heart; and it was the hope that the book might thus in some humble way contribute to the coming of Christ's Kingdom, and the blessing of this people, that justified to the writer expenditure of some considerable time and labour upon a form of work which might seem to lie outside a missionary's rightful spere."—Edwin Greaves, Grammar of Modern Hindi, Preface.

इतना अधिक विस्तृत हो गया था कि हिन्दी सीखना प्रारम्भ करने वालों के लिए उसकी उपयोगिता नहीं रह गयी थी। इस कारण, ग्रीव्स ने उसके आधार पर अपेक्षाकृत एक संक्षिप्त और सरल व्याकरण की रचना की, जो प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी हो सके और साथ ही जिसके अध्ययन के पश्चात् केलॉग के व्याकरण को अच्छी तरह समझने की योग्यता प्राप्त हो जाय।[१]

ग्रीव्स ने केलॉग की तरह हिन्दी से सम्बद्ध सभी बोलियों के रूप-विवेचन का प्रयास नहीं किया था। उन्होंने केवल खड़ी हिन्दी के रूप को ही अपने सामने रखा था। शेष बोलियों में से केवल व्रजभाषा की संक्षिप्त चर्चा ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में की थी। उर्दू के शब्द एवं मुहावरों की भी उन्होंने यथासाध्य उपेक्षा की थी; क्योंकि उनका विवेचन वे उर्दू व्याकरण के अन्तर्गत उचित मानते थे। उन्होंने खड़ी हिन्दी के उस आधुनिक रूप को ही अपना विवेच्य विषय बनाया था, जो 'स्टैण्डर्ड हिन्दी' के रूप में ख्यात होने लगा था।[२]

---

१. "The recent issue of a new and enlarged edition of Dr. Kellogg's 'Grammar of the Hindi language' might naturally suggest that the publication of another for many years to come would be a superfluity, if not an impertinence. The very fullness however of Dr. Kellogg's invaluable work, with its copious notes on derivation and on the numerous dialectic forms, has somewhat stood in the way of its usefulness to beginners, and a need has been felt and expressed for a smaller grammar, which might satisfy the immediate wants of those commencing the study of Dr. Kellogg's larger work. The grammar is an attampt to meet this need."—Ibid.

२. "Apart from a few notes on the Brajbhasha in the last chapter, nothing has been written on the various dialectic forms, and any discussion on the derivation of the parts of speech has been excluded. Urdu words and idioms have also recieved but scant notic, for although

ग्रीव्स की मान्यता थी कि शब्दों के रूप और प्रयोग दोनों का अध्ययन साथ-साथ ही होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंने उस समय तक प्रकाशित अनेक हिन्दी ग्रन्थों से श्रमपूर्वक उदाहरण एकत्र किये थे,[१] जिनमें भारतेन्दु का 'मुद्राराक्षस', रोशन लाल बी० ए० की 'बुधवती', पं० श्रद्धाराम की 'भाग्यवती' तथा मुंशी सन्नूलाल की 'स्त्रीसुबोधिनी' विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपने व्याकरण में अन्य अँगरेजी में प्रकाशित व्याकरणों के समान शब्दरूप तथा क्रियाओं की रूप-रचना की तालिका नागरी और रोमन दोनों लिपियों में नहीं देकर, केवल नागरी में ही दी थी।[२] उन्होंने

---

they do enter more or less, too often the former, into 'Modern Hindi' it has been felt that most students of Hindi will also study Urdu, and an urdu grammar is the proper place to deal with it, even though it will be arrayed in the Nagari dress. Thus there are left for our consideration the forms and idioms of Hindi which are in the present day gradually becoming fixed as 'standard Hindi."—Ibid.

१. "The writer has endeavoured to deal some what fully with both the structure and the syntax of the language, not seperating the two, as is commonly done, but treating of them together, the use of a word should be learnt at the same time as its forms, infact only when its place in a sentence is undrrstood can the word be properly said to be known. Believing strongly that teaching by illustrations is the most effective method, considrable labour has been bestowed in collecting examples from purely native works, whereby the various rules might be illustrated."—Ibid.

२. "It has been usual in Hindi grammars to print the pare-digms, both in the Nagari and Roman characters. The course has not bcen followed in this grammar. The Nagari character is simple, and each letter has its own proper and invariable sound; to print the words, therefore, in Roman characters is superfluous and

अपने ग्रन्थ की रचना मुख्य रूप से केलॉग के व्याकरण (द्वि० सं०) के आधार पर ही की थी, किन्तु उदाहरणादि के चयन में तथा तथ्यों के विवेचन आदि में मौलिकता का भी परिचय दिया था।[१]

ग्रन्थ के प्रथम अनुच्छेद में ग्रीव्स ने हिन्दी के उस विशिष्ट रूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया था, जिसका सम्बन्ध उनके व्याकरण से था। उस समय तक 'हिन्दी' शब्द एकभाषावाची नहीं बन पाया था। सामान्यत: लोग उन सभी भाषाओं या बोलियों के समूह को हिन्दी के नाम से पुकारते थे, जिनमें चन्द, विद्यापति, खुसरो, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, बिहारी तथा भारतेन्दु आदि ने साहित्य का निर्माण किया थां। किन्तु, उपर्युक्त कवियों के द्वारा प्रयुक्त भाषा में समानता से अधिक भिन्नता ही थी।[२] ग्रीव्स ने 'हिन्दी'

---

dangerous for it begets in the student the habit of relying on the Roman and not on the Nagari character; the latter should be learnt at once and thoroughly a little diligent attention makes a mistake in pronunciation impossible."—Ibid.

१. "In the preparation of this book Dr. Kellogg's second edition has been consulted continually. The order and nomenclature adopted by Dr. Kellogg has been very largely followed......The writer, however believes that he has not laid himself open to the charges of plagiarism. A comparison of the two books will show that the present work is no mere epitome of some parts of Dr. Kellogg's grammar but that each section has been honestly worked out from independent reading and knowledge."—Ibid.

२. "Hindi, or better still Bhasha may be used as a comprehensive term, to include those various dialects which, more or less mingled appear in the books which are commonly accepted as Hindi, and are still used among the Hindus living in the territories included in, and bordering on, the N. W. Provinces. These Bhashas have a real, though hardly definable, basis of unity, but at the same time present many variations in the forms of words, and specially in the conjugation of the verbs."

—Ibid, p. 1.

शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट भाषा के अर्थ में किया, जिसे उस समय लोग 'उच्चहिन्दी' (हाइ हिन्दी) के नाम से पुकारने लगे थे। उस उच्च हिन्दी से ग्रीव्स का तात्पर्य संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से न होकर उस खड़ी हिन्दी से था, जिसका प्रयोग उस युग के शिक्षित लोग लिखने तथा बोलने में करते थे, किन्तु जो जनसामान्य की भाषा नहीं थी।[1] ग्रीव्स ने उसी 'उच्च हिन्दी' का व्याकरण लिखने का प्रयास किया था।

उस समय हिन्दी के मानक स्वरूप के निर्धारण के प्रश्न को लेकर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं था। एक ओर कुछ लोग हिन्दी में विदेशी शब्दों के प्रयोग को नितान्त अहितकर और अनुचित मानते थे, दूसरी ओर विद्वानों का एक दूसरा दल हिन्दी के समुचित विकास के लिए विदेशी शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग को अनिवार्य घोषित कर रहा था।[2] ग्रीव्स ने इस सम्बन्ध में दोनों अतिवादी मान्यताओं का विरोध करते हुए मध्यम मार्ग को उचित बताया था। बहुप्रचलित विदेशी शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में उन्होंने बड़े रोचक ढङ्ग से यह तर्क प्रस्तुत किया था कि "जब देश में रेलगाड़ी चलने लगी है तो लोगों

---

१. "In this grammar that Hindi is treated of, which it is better to speak of as 'High Hindi', not intending however by that term to signify Sanskritic Hindi. This 'High Hindi' seems to be the product of quite recent times and has apparently arisen from a laudible and useful attempt to create a standard. Through the extension of education there is an increasing number of Hindus who can read, understand, write and even speak, this High Hindi, but it should be ever clearly borne in mind that this is not the language of the people."—Ibid. p. 2.

२. "There are some who would confine the term 'Hindi' to that style of writing and speech adopted by a few writers, which is verry artificial and literary, and from which they endeavour (though invain) to exclude all words not of Sanskrit origin. Others go to the opposite extreme and would make it embrace even Urdu works if only printed in the Nagari character. As a matter

को उससे यात्रा करने के लिए 'इस्तेसन' पर जाकर 'टिकट' खरीदना अनिवार्य ही है।" ऐसी स्थिति में 'रेलगाड़ी', 'इस्तेसन', और 'टिकट' जैसे शब्दों को भाषा से किस प्रकार निकाला जा सकता है ?[१]

ग्रन्थ के दूसरे अनुच्छेद में ग्रीव्स ने हिन्दी वर्णमाला की चर्चा करते हुए लिखा था कि "हिन्दी में ॠ, ॡ और ऌ को छोड़ कर शेष सभी संस्कृत-वर्ण ज्यों-के-त्यों वर्तमान हैं, जिनमें ११ स्वर वर्ण, ३३ व्यञ्जन वर्ण और (अनुस्वार, अनुनासिक तथा विसर्ग) तीन अर्धवर्ण हैं। साथ ही, उन्होंने ड़ ढ़ क़ ख़ ग़ ज़ और फ़ का भी परिचय दिया था। वर्णों के अतिरिक्त उन्होंने विराम-चिह्न, स्वराघात, संक्षेपसूचक चिह्न तथा कतिपय अन्य चिह्नों का भी उल्लेख किया था। उस समय हिन्दी में अँगरेजी के विराम-चिह्नों का प्रयोग खुल कर होने लगा था। ग्रीव्स ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि हिन्दी में लोग अँगरेजी के विराम-चिह्नों का प्रयोग करते तो हैं, किन्तु सन्तोषप्रद ढङ्ग से नहीं कर पाते। कविता में तथा कुछेक विशिष्ट शब्दों के अतिरिक्त, हिन्दी में सामान्यतः उन्होंने स्वराघात का अभाव माना था। उनके अनुसार हिन्दी में स्वराघात-सूचक चिह्नों के अभाव का यही कारण था। इसके अतिरिक्त उन्होंने मात्रा के लघु-गुरु (।S) चिह्नों, संक्षेप-सूचक चिह्न (०) तथा आवृतिसूचक संख्या चिह्नों की भी संक्षिप्त चर्चा की थी।

तीसरे अनुच्छेद में अँगरेजी के आर्टिक्लस के स्थान पर आने वाले भिन्न-भिन्न शब्दों, जैसे—वहाँ, कोई, वह, यह आदि शब्दों की चर्चा की थी। चौथे अनुच्छेद में कारकों और उनके परसर्गों पर प्रकाश डाला था। इसी प्रकार पाँचवे अनुच्छेद में वचन और लिङ्ग की, छठे में विशेषण तथा सातवें में सर्वनाम की चर्चा की थी। आगे के तीन अनुच्छेदों में क्रियाओं तथा उनके कालों के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए उन्होंने इस विषय पर केलॉग के विवेचन को सर्वाधिक सरल, तर्कसङ्गत और सन्तोषप्रद स्वीकार किया था।

---

of fact, till within recent years, no attempt had been made to fix a standard and even now there is no unanimity as to what that standard really is. The classical books in Hindi certainly leave the question undecided, for they conform to no common standard, but are full of dialectical peculiarities."—Ibid, p. 1.

१. Ibid, p. 3.

इसके साथ ही उन्होंने यह भी लिखा था कि हिन्दी क्रियाओं की प्रयोग-भङ्गिमाओं में इतनी विविधता है कि उन्हें पूर्ण सुनिश्चित कालों के भीतर बाँधना सम्भव नहीं है। ग्यारहवें अनुच्छेद में हिन्दी परसर्गों के सम्बन्ध में उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि उन्हें अनुसर्ग (प्रीपोजीशन) नहीं कह कर परसर्ग (पोस्ट पोजीशन) कहना अधिक उचित है, क्योंकि वे उन शब्दों के, जिन पर उनका अधिकार होता है, पहले नहीं आकर बाद में आते हैं। बारहवें अनुच्छेद में संयोजक को सात वर्गों में बाँट कर उन्होंने उसका विवेचन किया था। चौदहवें अनुच्छेद में संख्या, तिथि, तौल तथा माप के सम्बन्ध में, पन्द्रहवें में छन्दों के सम्बन्ध में तथा सोलहवें में व्रजभाषा के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन किया था। इस प्रकार, २४५ पृष्ठों के अपने ग्रन्थ में ग्रीव्स ने अधिक-से-अधिक सामग्री को सन्निविष्ट करने का प्रयत्न किया था।

हिन्दी के भाषाशास्त्रीय विश्लेषण की दृष्टि से ग्रीव्स यद्यपि केलॉग से आगे नहीं जा सके थे, किन्तु खड़ी बोली की यत्र-तत्र बिखरी सामग्री को एकत्र कर, उसके स्वरूप को विदेशियों के सम्मुख स्पष्ट करने की दिशा में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। केलॉग के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरणों में सबसे पहला नाम ग्रीव्स का ही आता है। उनके ग्रन्थ का दूसरा संस्करण सन् १९०८ ई० में और तीसरा सन् १९१९ ई० में प्रकाशित हुआ था। तीसरे संस्करण में उन्होंने इतना अधिक परिवर्त्तन और परिवर्द्धन कर दिया था कि वह बिलकुल एक नया ही ग्रन्थ बन गया था। उन्होंने उसका नाम भी 'ग्रामर ऑफ़ मॉडर्न हिन्दी' से बदल कर 'हिन्दी ग्रामर' कर दिया था। इस नये 'हिन्दी ग्रामर' का दूसरा संस्करण सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ था।

गौरीशङ्कर गङ्गोपाध्याय :

गङ्गोपाध्याय जी का 'आदर्श हिन्दी व्याकरण' सन् १८९५ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। एक अहिन्दीभाषी विद्वान के द्वारा लिखे जाने पर भी उक्त व्याकरण इतना लोकप्रिय हुआ था कि चार वर्ष के भीतर ही उसके तीन संस्करण हुए थे।

जॉर्ज एस० ए० रेम्किङ्ग :

रेम्किङ्ग का 'ए गाइड टु हिन्दुस्तानी' सन् १८९५ ई० में प्रकाशित हुआ था। वह हिन्दी का एक सामान्य व्याकरण था, जो विदेशियों को हिन्दी के हिन्दुस्तानी रूप का परिचय देने के उद्देश्य से लिखा गया था।

ठाकुर रामनारायण सिंह :

ठाकुर रामनारायण सिंह गवर्नमेण्ट हाई स्कूल, बलिया के हेडमास्टर थे। उनका 'हिन्दी व्याकरण' खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से सन् १८९७ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह १४६ पृष्ठों का एक सामान्य छात्रोपयोगी व्याकरण था, जिसकी रचना लेखक ने पूर्वप्रकाशित ग्रन्थों के आधार पर की थी। इसमें मौलिकता तथा स्वतन्त्र चिन्तन का सर्वथा अभाव था। ग्रन्थ को वर्णविचार, शब्दविचार, वाक्यविचार तथा छन्दविचार के चार खण्डों में बाँटा गया था और अन्त में विरामचिह्न, पद्य से गद्य करना, संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद करना तथा परीक्षोपयोगी प्रश्न आदि अन्य बातों की भी संक्षेप में चर्चा की गयी थी।

वर्णमाला के अन्तर्गत लेखक ने ड़, ढ़ को अलग से स्थान दिया था तथा फारसी शब्दों में प्रयुक्त विशिष्ट ध्वनियों की सूचना के लिए देवनागिरी वर्णों के नीचे नुक्ता के प्रयोग की पद्धति पर भी जोर दिया था। शब्द के, संज्ञा, क्रिया और अव्यय तीन भेद किये थे। संज्ञा पाँच प्रकार की मानी थी—व्यक्तिवाचक, जातिवाचक, भाववाचक, गुणवाचक और सर्वनाम। तीन कालों के अतिरिक्त क्रिया के अन्य और ६ भेद माने थे—निर्देशक, आज्ञासूचक वा विधि, संशयबोधक, इच्छासूचक, शक्तिबोधक, और धात्वर्थबोधक। अव्यय के क्रियाविशेषण, सम्वन्धवाचक, उपसर्ग, योजक, विभाजक और विस्मयादिबोधक ६ भेद तथा क्रि० वि० के कालवाचक, स्थानवाचक, भाववाचक, परिमाणवाचक, संख्यावाचक, अवस्था या गुणवाचक, कारणवाचक, निश्चयवाचक तथा अनिश्चय-वाचक, ९ भेद माने थे। सबका विवेचन भी अत्यन्त सामान्य ढङ्ग से किया गया था। ग्रन्थ में और कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं थी।

पं० नारायण शास्त्री पटवर्धन :

बनारस के क्वीन्स कॉलेज के सेकेण्ड पण्डित श्री नारायण शास्त्री पटवर्धन द्वारा विरचित 'भाषाचन्द्रिका' सन् १८९७ ई० में वहीं के राजराजेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। पुस्तक-रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लेखक ने भूमिका में लिखा था कि "वास्तव में हिन्दी का कोई व्याकरण अब तक ऐसा बना हुआ नहीं दिखाई देता जो बालकों के लिये उपयुक्त हो और छोटा हो अतएव मैंने यह 'भाषा चन्द्रिका' नामक हिन्दी व्याकरण लिख कर प्रकाशित किया है। इसमें व्याकरण के बहुधा सब विषय कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार के साथ दस (बाद के संस्करणों में ग्यारह) अध्यायों में विभक्त कर लिख

दिये हैं और अन्तिम अध्याय में हिन्दी में पत्र आदि लिखने के कुछ नियम और उदाहरण जोड़ दिये हैं क्योंकि इस विषय का व्याकरण में समावेश होना उचित है। छन्दोविषय छन्दः शास्त्र का स्वतन्त्र विषय होने के कारण और सन्धि प्रकरण हिन्दी व्याकरण का अनावश्यक विषय होने के हेतु वे दोनों छोड़ दिये गये हैं। यदि यह व्याकरण हिन्दी स्कूलों के छोटे-छोटे वर्गों में तथा अँगरेजी स्कूलों के तृतीय वर्ग से षष्ठ वर्ग तक पढ़ाने के लिये नियुक्त हो तो आशा है कि बहुत थोड़े अवधि में छात्रों को भाषा का पूरा-पूरा ज्ञान हो जायगा और अँगरेजी व्याकरण समझने में सहायता मिलेगी।"[१]

ग्रन्थ का प्रारम्भ, पटवर्धन जी ने शङ्कर-स्तुति के एक स्वरचित दोहे से किया था।[२] प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में भाषा और व्याकरण की परिभाषाएँ देते हुए उन्होंने लिखा था कि "भाषा उसे कहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य अपने मन का विचार प्रकाश करता है। जिसमें लिखने और बोलने की शुद्ध रीति वर्णन की गई है उसे व्याकरण कहते हैं।"[३] व्याकरण को उन्होंने वर्णविचार, शब्दविचार और वाक्यविचार के तीन प्रकरणों में विभक्त किया था और प्रथम अध्याय में हिन्दी वर्णों का सामान्य थौर संक्षिप्त विवेचन किया था। अनुस्वार और विसर्ग को स्वर के अन्तर्गत परिगणित करते हुए उन्होंने लिखा था कि "अनुस्वार और विसर्ग को स्वर में न गिनना यह हिन्दी के व्याकरण लेखकों की गलती है।"[४]

दूसरे अध्याय में 'शब्दविचार को स्थान दिया गया था, जिसमें अर्थबोधक शब्द के तीन प्रकार माने गये थे—संज्ञा, अव्यय और क्रिया। संज्ञा का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया गया था। एक दृष्टि से उसके रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि तीन भेद और दूसरी दृष्टि से जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, भाववाचक और सर्वनाम पाँच भेद माने गये थे। तदनन्तर, तद्धित, लिङ्ग, वचन और कारक का क्रमशः सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया गया था। उक्त विवेचन में कहीं भी कोई नयी बात नहीं कही गयी थी।

१. पं० नारायण शास्त्री पटवर्धन : 'भाषाचन्द्रिका', भूमिका, प्र० सं०, सन् १८९७ ई०।
२. श्री शङ्कर गुरु पद कमल, वन्दि सदा सुखमूल।
विरचत भाषा चन्द्रिका, हिन्दी भाषा मूल॥
—उपरिवत्, पृ० १
३. उपरिवत्, पृ० १।
४. उपरिवत्, पृ० ३।

तृतीय अध्याय में विशेष्य-विशेषण, चतुर्थ अध्याय में कारकों के नियम, पञ्चम अध्याय में अव्यय, षष्ठ अध्याय में समास, सप्तम अध्याय में क्रिया, अष्टम अध्याय में कर्तृवाचक, भाववाचक तथा क्रियाद्योतक संज्ञा, नवम अध्याय में वाक्यविचार, दशम अध्याय में क्रियाओं के उदाहरण और एकादश अध्याय में पत्रलेखन पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया था। अव्यय के क्रिया-विशेषण, सम्बन्धबोधक, उपसर्ग, संयोजक, विभाजक और विस्मयादिबोधक छह भेद माने गये थे। इसी प्रकार समास के भी अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, बहुव्रीहि और द्वन्द्व छह भेद स्वीकार किये गये थे। क्रिया के अन्तर्गत अकर्मक एवं सकर्मक के अतिरिक्त विधि, पूर्वकालिक और सम्भावनार्थ का भी उल्लेख किया गया था। वर्त्तमान के सामान्य और सन्दिग्ध दो भेद, भूत के हेतुहेतुमद्भूत, अपूर्णभूत, सामान्यभूत, पूर्णभूत, आसन्नभूत और सन्दिग्धभूत छह भेद तथा भविष्य के सामान्य और सम्भाव्य दो भेद माने गये थे और 'होना' तथा 'करना' के रूपान्तर प्रस्तुत किये गये थे। ग्रन्थ में वर्णित सभी तथ्य पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से लिये गये थे। कहीं भी नवीनता या स्वतन्त्र चिन्तन का आभास तक नहीं था।

किन्तु, सामान्य ग्रन्थ होने पर भी इसके ३० से अधिक संस्करण हुए, जिसका प्रधान कारण इसका संक्षिप्त होना था, जिससे यह वर्षों तक प्रारम्भिक कक्षाओं के बालकों के लिए पाठ्य ग्रन्थ बना रहा।

राजाराम :

राजाराम जी गवर्नमेण्ट मिडिल वर्नाकुलर स्कूल, भागलपुर में प्रधान शिक्षक थे। उनका 'भाषाप्रदीप' नामक हिन्दी व्याकरण सन् १८९७ ई० के आसपास प्रकाशित हुआ था। उक्त ग्रन्थ का षष्ठ संस्करण सन् १९०२ ई० में बिहार एञ्जेल प्रेस, भागलपुर से प्रकाशित हुआ था। वह सरल और स्पष्ट भाषा में लिखा गया एक छात्रोपयोगी व्याकरण था, जो अनेक वर्षों तक प्रारम्भिक कक्षाओं के छात्रों के लिए बिहार के स्कूलों में पाठ्यग्रन्थ बना रहा।

माधव प्रसाद पाठक :

वाराणसीस्थ राजकीय संस्कृत पाठशाला के ऐङ्गलो-संस्कृत-विभाग के प्रधानाध्यापक माधव प्रसाद पाठक ने 'हिन्दी बालबोध व्याकरण' और 'हिन्दी व्याकरण तत्त्वबोध' नामक दो व्याकरण ग्रन्थों की रचना की थी, जो सन्

१९०१ ई० में बनारस के चन्द्रप्रभा प्रेस से लगभग साथ-साथ प्रकाशित हुए थे। 'हिन्दी व्याकरण तत्त्वबोध' 'हिन्दी बालबोध व्याकरण' का ही संक्षिप्त सार-सङ्कलन था, जो प्रारम्भिक श्रेणियों के छात्रों के लिए तैयार किया गया था। इसलिए, पाठक जी का मुख्य ग्रन्थ 'हिन्दी बालबोध व्याकरण' को ही मानना होगा।

'हिन्दी बालबोध व्याकरण' एक समान्य स्तर का छात्रोपयोगी व्याकरण था, जिसकी रचना सामान्यतः पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों और विशेषतः 'भाषाप्रभाकर' के आधार पर हुई थी। इस तथ्य को सच्चाई के साथ स्वीकार करते हुए पाठक जी ने भूमिका में लिखा था कि "व्याकरण किसी भाषा का हो उसका लिखना कठिन है। जब तक भाषा का पूरा ज्ञान नहीं तब तक उसकी गूढ़ बातें भी नहीं सूझतीं। हिन्दी व्याकरण बहुत से बने हैं। लोग एक दूसरे के ग्रन्थ को देख कर कुछ घटा-बढ़ा कर उसी के अनुसार लिखते चले आये हैं। ऐसे ही ग्रन्थकारों में मेरी भी गणना होनी चाहिये कारण मैंने कोई ऐसी बात नहीं लिखी है जो आज तक लिखे हुए व्याकरणों में न पाई जाय। परन्तु हाँ इतना कह सकता हूँ कि जहाँ तक हो सका परिभाषाओं की शुद्धता उदाहरणों से नियमों का अभिप्राय स्पष्ट कर देना और जहाँ तक अबूझ बातें हों उनका अर्थ खोल देना इस पर मेरा अधिक ध्यान रहा है।"[१]

अपने व्याकरण को हिन्दी भाषा के विवेचन की दृष्टि से अपर्याप्त स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा था कि "यह न समझना चाहिये कि हिन्दी व्याकरण की जितनी आवश्यकता थी वह सब पूरी हो गई। संस्कृत और प्राकृत के बहुत-से व्याकरण बने हैं। संस्कृत की ही चाल पर आज तक हिन्दी के व्याकरण लिखे गये हैं और उसी की चाल पर लिखना उचित भी है, क्योंकि हिन्दी शब्द प्रायः संस्कृत ही से निकले हैं। पाणिनिकृत संस्कृत व्याकरण अपूर्व है। जिसने उसका स्वाद पाया उसको सब व्याकरण किसी के भी हों फीके लगते हैं। हिन्दी में कोई सूत्रबद्ध व्याकरण नहीं है और न कोई ऐसा बुद्धिमान जनमा जो संस्कृत और प्राकृत के व्याकरणों के समान हिन्दी का भी सूत्रबद्ध व्याकरण बनाता।"[२] पाठक जी ने पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा

---

१. मा० प्र० पा० : हि० बा० व्याकरण, भूमिका।

२. उपरिवत्।

संशोधित बाबू रामचरण सिंह के 'भाषाप्रभाकर' को उस समय तक के व्याकरणों में सर्वश्रेष्ठ माना था। उसकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "पण्डित जी का शुद्ध किया हुआ तारणपुर के जमीनदार श्रीयुक्त बाबू रामचरण सिंह जी रचित 'भाषा प्रभाकर' एक हिन्दी का व्याकरण है जो मेरी बुद्धि में सब हिन्दी व्याकरणों से अच्छा है।"[१] अन्य व्याकरणों के दोषों की ओर सङ्केत करते हुए उन्होंने लिखा था कि "भाषा-चन्द्रिका इत्यादि और व्याकरण भी हैं जो दोष से रहित नहीं हैं। ग्रन्थ लिखते समय इस पर अवश्य ही ध्यान रहना चाहिये कि जिसके लिये ग्रन्थ लिखा जाय वह उसको पढ़ कर शुद्ध रीति से लिख बोल तो सके। वर्ण विन्यास की ऐसी कुचाल पड़ गयी है कि सब लोग एक ढर्रे पर नहीं लिखते सबके मुख का उच्चारण एक सा नहीं होता जैसे कोई कहता है 'वह जायगा' और कोई 'वह जावेगा', कोई 'हुआ' और कोई 'हुवा', कोई 'वन' और कोई 'बन'। ये बातें क्रम से शुद्ध होंगी।"[२] अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध में पाठक जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि "हिन्दी बालबोध व्याकरण की रचना अनुपपन्न विद्यार्थियों के लिये की गई है न कि विज्ञों के लिये।"[३]

पाठक जी ने प्रथम संस्करण की अनेक प्रतियाँ विद्वानों के पास उनकी सम्मति जानने के लिए भेजी थीं, ताकि दूसरे संस्करण में उनके अनुसार सुधार कर सकें, किन्तु उन्हें कहीं से कोई सुझाव नहीं प्राप्त हुआ था। दूसरे संस्करण की भूमिका में इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "चाहे जो हो मैं अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार जहाँ तक हो सका कुछ जोड़-जाड़ कर और बड़े परिश्रम से शोध के इस ग्रन्थ को आप लोगों की सेवा में पुनः अर्पण करता हूँ।"[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाठक जी का 'हिन्दी बालबोध व्याकरण' स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित न होकर पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया व्याकरण था। इस कारण, हिन्दी व्याकरण के परिष्कार की दृष्टि से यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास नहीं था। किन्तु, भाषा की शुद्धता, उदाहरणों की

---

१. मा० प्र० पा०, हि० बा० व्या०, भूमिका।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्।

उपयुक्तता तथा तथ्यों की क्रमबद्धता की दृष्टि से यह अन्य सङ्ग्रह ग्रन्थों की अपेक्षा निश्चय ही अधिक सुलझा हुआ व्याकरण था। स्थान-स्थान पर भाषा सम्बन्धी कुछ ऐसे तथ्यों पर भी लेखक की दृष्टि गयी थी, जिनकी ओर पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों का ध्यान नहीं गया था। उदाहरणार्थ, हिन्दी सर्वनामों के वचन पर प्रकाश डालने के प्रसङ्ग में सम्भवतः पहले-पहल पाठक जी ने ही इस तथ्य को अपने व्याकरण में स्थान दिया था कि "हिन्दी 'तुम' का प्रयोग एक वचन में भी होता है ऐसे स्थल में बहुत्व जानने के लिए 'तुम' के आगे 'लोग शब्द लगाना पड़ेगा।"[१] ग्रन्थ के 'अवशेष' में पाठक जी ने अनेक हिन्दी शब्दों के अप्रसिद्ध संस्कृत तत्सम रूपों की एक तालिका भी दी थी।

सन् १९०७ ई० में पाठक जी के दो और व्याकरण 'शिशुबोध व्याकरण' तथा 'हिन्दी व्याकरण के मूलसूत्र' प्रकाशित हुए, जो वास्तव में उनके पूर्ववर्त्ती व्याकरणों के ही परिवर्तित संस्करण थे।

पी० एल० दरयाव सिंह :

सन् १९०१ ई० में सेण्ट्रल कॉलेज, रतलाम के हिन्दी हेडमास्टर पी० एल० दरयाव सिंह के "हिन्दी भाषा का व्याकरण सार अर्थात् छोटे-छोटे बालकों के लिये सुगम २ शब्दों में व्याकरण के सम्पूर्ण उपयोगी विषय सथा आरम्भिक और पूर्ण व्याख्या की विधि" का प्रकाशन "पाण्डे अम्बालाल जी रामप्रताप खर्रा के स्वकीय डायमण्ड ज्युबिली यन्त्रालय" से प्रकाशित हुआ। यह एक सङ्ग्रह ग्रन्थ था, जिसकी सारी सामग्री पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से सङ्कलित की गयी थी। भूमिका में पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों की क्लिष्टता आदि की चर्चा करते हुए सिंह जी ने लिखा था कि "आज मैंने महान २ विद्वानों की सेवकाई न करते हुए आरम्भिक शिक्षा के प्रेमी अल्पवयस्क विद्यार्थियों की सेवा की है और इसमें व्याख्याविधि तथा उसके सम्बन्धी विषयभेद, लक्षण, उदाहरण और पहिचान सहित लिख कर इस पुस्तक को पूर्ण किया है।"[२] इसमें हिन्दी के साथ अँगरेजी के पारिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त हुए थे। यह ५५ पृष्ठों की नितान्त सामान्य पुस्तिका थी।

---

१. मा० प्र० पा०, हि० बा० व्या०, भूमिका।

२. पी० एल० दरयाव सिंह, 'हिन्दी भाषा का व्याकरण सार', भूमिका।

पं० सूर्य्यप्रसाद मिश्र :

काशीस्थ लण्डन मिसन हाई स्कूल के प्रधान संस्कृताध्यापक साहित्योपाध्याय पण्डित सूर्य्यप्रसाद मिश्र रचित 'भाषा कुमुद बान्धव, प्रथम कला अर्थात् हिन्दी भाषा का मूल व्याकरण' सन् १९०२ ई० में भार्गव बुक डिपो, चौक बनारस से प्रकाशित हुआ था। इसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के तत्कालीन सदस्य इन्द्रनारायण सिंह, एम० ए० ने लिखा था, जिसमें उन्होंने पूर्ववर्त्ती हिन्दी वैयाकरणों की अमौलिकता की आलोचना करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशंसा की थी और इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह बतायी थी कि इसमें हिन्दी के साथ-साथ अँगरेजी के पारिभाषिक शब्द भी दिये गये हैं।[१] पुस्तक की भूमिका में लेखक ने ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा तथा उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि "सन् १८८३ ईशवी में जब मैं संस्कृत पढ़ता था तबही से मेरी इच्छा हुई कि मैं हिन्दी भाषा सीखूँ कोई भाषा क्यों न हो पर जब तक उस भाषा का व्याकरण भलीभाँति न जाना जाय तब तक उस भाषा का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं होता क्योंकि मनुष्यों की शक्ति प्रतिदिन घटती जाती है इसीलिए बुद्धिभानों ने व्याकरण द्वारा प्रत्येक भाषा की अवधि बाँधी है। अतएव मैं पण्डित शीतल प्रसाद जी की अनुमति से इधर-उधर हिन्दी व्याकरणों को ढूँढ़-ढाँढ़ करने लगा। बहुतेरे व्याकरण को एकत्र करके आदि से अन्त तक उन्हें पढ़ा पर सन्तोष नहीं हुआ। कोई तो केवल संस्कृत के ढङ्ग पर चलते हैं और कोई अँगरेजी और कोई दोनों अर्थात् कुछ अँगरेजी और कुछ संस्कृत। यद्यपि यह भाषा संस्कृत की भ्रष्ट की हुई भाषा है तथापि इसका व्याकरण न तो केवल संस्कृत के ढङ्ग पर और न केवल अँगरेजी भाषा के अनुकूल होना चाहिए। क्योंकि जब यह एक भाषा पृथक् हो गई तो इसका व्याकरण भी पृथक् ही होना चाहिए।"[२] भूमिका के अन्त में लेखक ने

---

१. "All the books on Hindi Grammar hither to written have been nothing but scissors and paste work being mostly prepared by persons who had no complete knowledge of Hindi itself……A special feature of the book is the giving of all, the English technicalities side by side with those of Hindi."

२. पं० सूर्य्यप्रसाद मिश्र, 'भाषा कुमुद बान्धव', लेखक की भूमिका।

लिखा था कि "अब मैं स्वर्गवासी पं० शीतला प्रसाद त्रिपाठी और अम्बिकादत्त व्यास जी की जो कुछ प्रशंसा करूँ सो थोड़ी है क्योंकि इन महानुभावों ने संस्कृत विद्याविशारद होने पर आजकल के पण्डितों की प्रथा को छोड़ हिन्दी का सर्वथा सम्मान किया है।"[1]

पण्डित सूर्य्यप्रसाद मिश्र का 'भाषा कुमुद बान्धव' एक सामान्य स्तर का ही ग्रन्थ था। इसकी रचना भी अधिकांश अन्य व्याकरणों के समान पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों के आधार पर ही हुई थी। ग्रन्थ को वर्णविचार, शब्दविचार और वाक्यविचार के तीन प्रकरणों में बाँटा गया था। हिन्दी में स्वर २१ और व्यन्जन ३५ बताये गये थे। स्वरों में ५ ह्रस्व, ८ दीर्घ और आठ प्लुत को सम्मिलित किया गया था। कहीं-कहीं तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए जो मौलिकता प्रदर्शित की गयी थी, उसमें व्यावहारिकता तथा वैज्ञानिकता को बिलकुल ही ध्यान में नहीं रक्खा गया था। उदाहरणार्थ; ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की मात्रा को स्पष्ट करने के लिए लिखा गया था कि "अङ्गुष्ठ के मूल की नाड़ी की चाल जितने काल में एक बार होती है उतने काल में ह्रस्व, दूने में दीर्घ, तिगुने में प्लुत।"[2] इसकी रचना में संस्कृत व्याकरण से विशेष सहायता ली गयी थी।

केशवराम भट्ट :

केशवराम भट्ट कृत 'हिन्दी व्याकरण' सन् १६३० में बिहारबन्धु छापा-खाना, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ की भूमिका लेखक ने पहले अँगरेजी में और फिर हिन्दी में लिखी थी। दोनों में अलग-अलग उपयोगी तथ्य एवं विचार व्यक्त किये गये थे। अँगरेजी भूमिका के प्रारम्भ में लेखक ने देशी तथा विदेशी सभी व्यक्तियों के लिए हिन्दी व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य बताया था।[3] स्कूलों तथा पाठशालाओं में हिन्दी व्याकरण की

---

१. पं० सूर्य्यप्रसाद मिश्र, 'भाषा कुमुद बान्धव' लेखक की भूमिका।

२. उपरिवत्, पृ० ३।

३. "The study of Hindi Grammar is absolutely necessary for all whether natives of India or foreigners, who want to seapk and write correct Hindi, the lingua franca of India. It is necessary for those natives of India also who claim it to be their own language, because it differs in many points from the various dialects

उपेक्षा को उन्होंने हिन्दी के प्रति दुष्टतापूर्ण वर्ताव कहा था।[१] उन्होंने हिन्दी को हिन्दुस्तान की १२ करोड़ जनता की भाषा बताया था।[२] उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से घोषित किया था कि हिन्दुस्तान में यद्यपि अनेक भाषाएँ हैं, किन्तु सार्वजनिक कार्यों, जैसे—दरबार, सभा आदि में तथा लिखने में लोग हिन्दी को ही व्यवहार में लाते हैं, जिसका दूसरा नाम हिन्दुस्तानी भी है। उन्होंने उर्दू को भी हिन्दी से अभिन्न भाषा माना था तथा 'खड़ी बोली' शब्द को 'स्टैण्डर्ड हिन्दी' के पर्याय के रूप में स्वीकार किया था।[३]

---

spoken in the different districts they live in. For example, the extensive use of the peculiar passivc forms of the verbs with the case affix 'ne' in their nominatives are unknown in almost all the eastern dialects up to the Allahabad. Again the distinction of genders (more or less in almost all the parts of speech)—and all important feature in the language—adds to the necessity still more, for, as we proceed east or west from Delhi, we find its importance gradually losing ground, until in Bengal in the east and Persia in the west it quite disappears."

—K. R. Bhatta, Preface.

१. "It may be incidentally noticed here that to throw the study of Hindi grammar in the backbround and to deprive it of its primary place in the curriculum of schools and Pathshalas is calcutated to no good to the cause of Hindi-rather it is a fruitful source of mischeif to it."

—Ibid.

२. "It is well known to all, who are acquainted with the last census report, that the Hindi language is claimed to be spoken by nearly 12 crores."—Ibid.

३. "There are, no doubt, various modifications in the dialects spoken by the people inhabiting different parts of this vast tract of the country, but they all use one and the same language in their writings, in public and on ceremonious occasions like Darbars and meetings and it is this that is known as Hindi. It is also known by

हिन्दी भूमिका में भट्ट जी ने लिखा था कि "बहुतेरे समझते हैं कि देशभाषा का व्याकरण पढ़ना वृथा है। पर सच तो यह है कि बिना व्याकरण पढ़े कोई भला बुरा बोल ले तो बोल ले, पर लिखना तो कभी हो ही नहीं सकता। और और देशों के लिए जो हो सो हो पर बिहारियों के लिए तो बिना हिन्दी व्याकरण पढ़े कल्याण ही नहीं। क्योंकि इनकी मातृभाषा कहीं मगहिया, कहीं भोजपुरिया, कहीं तिरहुतिया है, और यह हिन्दी उन्हें सीख कर अपनी-अपनी मातृभाषाओं से उल्था करके बोलना पड़ता है। हिन्दी की बनावट इन भाषाओं से बहुत सी बातों में ऐसी निराली है कि बिहारियों के लिखने और बोलने में अक्सर ऐसी-ऐसी भूलें हो जाती हैं कि हँसी आती है। उन क्रियाओं के रूप, जिनके कर्त्ता में 'ने' जोड़ा जाता है, इलाहाबाद तक की पूर्वी बोलियों में कहीं नहीं देखे जाते। खड़ी बोली की मुख्य कठिनता लिङ्ग भेद के विषय में एक अनूठी बात देखी जाती है। दिल्ली से ज्यों-ज्यों पश्चिम या पूरब बढ़ते जाइये, त्यों-त्यों इसका भेद घटता जाता है, यहाँ तक कि पश्चिम जाइये तो ईरान में और पूरब बङ्गाल में पहुँच के देखते हैं कि यह भेद एकदम है ही नहीं।"

ग्रन्थ-रचना के अपने उद्देश्य की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी भाषा के बहुत से व्याकरण रहते इसके बनाने का कारण यह है कि इसमें बहुत सी नई-नई बातें, नई-नई युक्तियाँ एक निराले ही ढाँचे पर लिखी गई हैं। पाणिनि का ढर्रा यथासम्भव अवलम्बन किया गया है। लाघव और सरलता पर पूरा-पूरा ध्यान दिया गया है। केवल सूत्र ही सूत्र जो इसमें लिखे जाते तो इसके चतुर्थांश से भी कम में सब अँट जाते पर एक-एक बात के लिये अनेक ग्रन्थकर्त्ताओं की उक्तियाँ जो दृष्टान्त स्वरूप लिखी गई हैं इसी से इस ग्रन्थ का कलेवर इतना पुष्ट देख पड़ता है। पाणिनि के सदृश परिभाषाओं से भी बचने का बहुत उद्योग किया है।"

---

the name of Hindustani. Delhi was, under the native kings, for a long time, the seat of government, and hence its dialect of the metropolies, came to be regarded as standard Hindi, and so by way of pre eminence it is also called by many Khariboli (standing or standard language). Urdu, too, is not a different language. It is nothing but Hindi,—only much intermixed with Arabic and Persian words."—Ibid.

भट्ट जी का यह व्याकरण पुस्तकाकार प्रकाशित होने के पूर्व 'विहार बन्धु' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। इसकी सूचना देते हुए उन्होंने भूमिका में लिखा था कि "व्याकरण के रसिकों को इसकी समालोचना का पूरा-पूरा अवसर मिले इसलिये पहले इसे 'बिहार बन्धु' नाम प्रसिद्ध समाचार पत्र में छपवाया था। जिन-जिन सज्जनों ने जो जो दोष सूचित किये थे उन्हें ध्यान देकर इस संस्करण में यथायोग्य परिवर्त्तन कर दिया गया है। और अब भी हाथ जोड़के प्रार्थना करते हैं कि जिन महाशय को जहाँ-जहाँ जो कुछ त्रुटि देख पड़े, कृपा करके हमें जता दें।"

भट्ट जी ने दिल्ली में बोली जाने वाली हिन्दी के स्वरूप को हिन्दी का आदर्शस्वरूप स्वीकार किया था। उन्होने भूमिका में लिखा था कि "एक बात यह भी प्रायः सभी देशों में देखते हैं कि अलग-अलग प्रान्तों की अलग-अलग बोलियों में से किसी एक प्रान्त की (प्रायः जिसमें राजधानी होती है) बोली टकसाली समझी जाती है अर्थात् वही सारे देश की साधारण साधुभाषा मान ली जाती है। यहाँ देशी राजाओं के राज में दिल्ली ही सदा राजधानी रही, इसी से दिल्ली की बोलचाल टकसाली या खरी या पक्की समझी जाती है। अतएव दिल्ली वाले लिङ्ग, वचन, विभक्ति, क्रियाओं के रूप, रोजमर्रा आदि और मुहावरा (वाग्धारा) आदि का वर्ताव जैसा करते हैं उसी को ठीक मान करके उसका अनुसरण यथासम्भव सब किसी को करना चाहिए।"

हिन्दी की आम बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले विदेशी शब्दों को हिन्दी के लिए ग्राह्य बताते हुए भट्ट जी ने लिखा था कि "दिल्ली की बोलचाल में संस्कृत, फारसी, अरबी आदि भाषा के शब्द जो ऐसे मिलजुल गये हों जैसे दूध में मीठा, उन्हें भी अब हिन्दी का अङ्ग समझ कर बेखटक बरतना चाहिए। फारसी अरबी होने के कारण नित्य की बोलचाल के प्रचलित शब्दों को भी हिन्दी में नहीं आने देना भाषा को अस्वाभाविक कृत्रिम नीरस और दरिद्र बनाना है। जब कोई किसी विषय को लिखने बैठता है तो उसके सामने बहुत से ऐसे-ऐसे भाव भी आ खड़े होते हैं, जिन्हें नित्य की बोलचाल व्यक्त नहीं कर सकती। लाचार ऋण लेना पड़ता है। यह ऋण मुसलमान अरबी से लेते हैं औप हिन्दू संस्कृत से। इसी भेद के कारण इसी हिन्दी का एक नाम और उर्दू भी हो गया है। उर्दू का प्राकृत अर्थ तो बाजार है पर अब उर्दू उसी हिन्दी को कहते हैं जिसमें फारसी अरबी विदेशी शब्द बहुतायत

से प्रयोग किये जाते हों। हिन्दी-उर्दू को अलग-अलग दो भाषा समझना बड़ी भूल है। क्योंकि व्याकरण सम्बन्धी हेर-फेर में दोनों में ऐसा कोई भेद नहीं। परन्तु है हिन्दी संस्कृत की बेटी। फिर माँ का अक्षय भण्डार रहते इसे दूसरे का ऋणी होने देना अच्छा नहीं।"

भट्ट जी चूँकि उर्दू को हिन्दी से अभिन्न मानते थे, इसलिए उर्दू वालों के द्वारा देवनागरी के स्थान पर अरबी लिपि के उपयोग की प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हुए उन्होंने लिखा था कि "मुसलमानों ने इस आर्य घराने की भाषा को सीमियातिकी घराने की अरबी लिपि में भी लिखने की अनोखी चाल चलाई है। यह चाल कैसी अनोखी, उल्टी और टेढ़ी है उसे महामान्य महामहोपाध्याय मौल्वी सय्यद अली साहिब बिलग्रामी ने अपनी 'तवद्दुन-इ-अरब' नामक प्रसिद्ध पुस्तक की भूमिका में अच्छी तरह दिखला दिया है। जिसका जी चाहे देख ले। फलतः देवनागरी ही लिपि ऐसी है जिसमें यह हिन्दी ठीक-ठीक लिखी जा सकती है और इसी में पुस्तकें और समाचार पत्र आदि लिखे भी जाते हैं, और हमने भी इसीलिये इस व्याकरण में इन्हीं से काम लिया है।"

किसी व्याकरण की सर्वाङ्गपूर्णता को असम्भव सिद्ध करते हुए भट्ट जी ने लिखा था कि "जहाँ तक पता चलता है, जान पड़ता है कि संस्कृत से बढ़ कर पूरा और श्रृङ्खलाबद्ध व्याकरण किसी भाषा का नहीं है। संस्कृत व्याकरणों में महर्षि पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। पर साथ ही इसके, इस बात के भी प्रमाण का अभाव नहीं है कि महर्षि पाणिनि से इसे एकाएक ही एक उद्योग में नहीं बनाया होगा। व्याकरण की चर्चा पहले ही से रही होगी और मतभेद भी बहुत कुछ रहा होगा। शाकटायन, गार्ग्य, गालब आदि ऋषियों ने भी बहुत कुछ जोड़-तोड़ किये होंगे। इतने पर भी पाणिनि के अष्टाध्यायी में बहुतेरी बातें ऐसी रह ही गईं जिनको कात्यायन, पतञ्जलि आदि महात्माओं ने पूरा किया। जिस समय एकमात्र संस्कृत का ही आदर था, संस्कृत ही राजा-प्रजा सबकी भाषा थी, और ऐसे-ऐसे अगाध विद्यासागरों ने व्याकरण में हाथ लगाया था—उस समय में भी जब एक ही बार के उद्योग में सर्वदोष रहित व्याकरण न बन सका तो इस कलिकाल में और भारतवर्ष की ऐसी अवनत अवस्था में कब सम्भव है कि हम सा अकिञ्चन कर मनुष्य सर्वाङ्गीण और सर्वदोष रहित व्याकरण बना सके। हाँ जो देशवासी

कुछ उत्साह बढ़ायें और इसके दोषों और अभावों को जतायें तो कई एक संस्करणों के पश्चात् कहीं यह व्याकरण कहलाने योग्य हो तो हो।" उन्होंने आगे लिखा था कि "हिन्दी व्याकरण के साथ एक आपद यह और है कि ज्यों-ज्यों काल बदलता जाता है, ज्यों-ज्यों विदेशियों के सम्पर्क और विभिन्न मतमतान्तरों के मुठभेड़ से नई-नई रीतें प्रचार होती जाती हैं, नई-नई विद्याएँ और नये-नये भाव उदय होते जाते हैं, और नई-नई काट छाँट और वजेदारियाँ मन में खुपती जाती हैं, त्यों-त्यों भाषा भी बड़ी उमङ्ग के साथ रोज-रोज अपना रङ्ग बदलती जाती है और अन्धाधुन्ध फैलती जाती है। व्याकरण बनाने वाले इस उमड़े समुद्र को कूजे में बन्द तो क्यों कर करें? संस्कृत भी जो आज प्रचलित भाषा होती तो पाणिनीय व्याकरण भी कभी ऐसा पत्थर की लकीर न होता। क्योंकि भाषा की वाग्धारा कहीं से कहीं बदल गई होती। नये-नये हजारों शब्द ऐसे ढल गये होते कि जिनका पाणिनीय सूत्रों की कसौटी पर कसना कठिन हो जाता।"

व्याकरण के नियमों के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतैक्य के अभाव की चर्चा करते हुए भट्ट जी ने लिखा था कि "निगोड़ी फूट, जिसने हिन्दुस्तान को कदाचित मटियामेट ही कर छोड़ने पर कमर बाँध ली है, व्याकरण के नियमों को और भी उलझा रही है। जो ऐसा कहें कि हिन्दी लिखने और बोलने वालों में एक से एक की राय नहीं मिलती तो अत्युक्ति न होगी। व्याकरण बनाने वाला किसकी हठ सुने और किसकी न सुने।"

जिन विद्वानों के ग्रन्थ से भट्ट जी ने अपने ग्रन्थ की रचना में सहायता ली थी, उनके प्रति आभार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "हम पं० रामजसन, बाबू रामचरण सिंह, ठाकुर रामनारायण सिंह, बाबू अयोध्या प्रसाद, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० दामोदर विष्णु सप्रे, राजा शिवप्रसाद, पं० कन्हैया प्रसाद मिश्र, पं० श्रीलाल, पं० नारायण शास्त्री पटवर्द्धन, मिर्जा निसार अली बेग, मौल्वी अल्ताफ हुसेन हाली, मौल्वी मुहम्मद हुसेन आजाद, सय्यद इन्शा अल्लाह खाँ आदि सज्जनों को, और पादरी डब्ल्यू० एथरिङ्गटन, डन्कन फार्ब्स; जॉन बीम्स, एफ० एस० ओज, फ्रेडरिक पिन्कौट और जी० ए० ग्रियर्सन आदि यूरोपीय महोदयों को अन्तःकरण से धन्यवाद देते हैं जिन्होंने अपना-अपना व्याकरण या भाषा सम्बन्धी बातें लिख कर हमारे लिये सड़क

तो मानों पहले ही से बना रक्खी थी। उसी सड़क को हमने केवल चिकना

और फेर-घुमाव को सीधा कर दिया है। गया के रहने वाले बाबू भगवान प्रसाद बी० ए० और बिहार के रहने वाले मौल्वी सय्यद मन्जूर ईमान साहिबों के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं कि इन विद्वानों से इस पुस्तक के बनाने में बड़ी सहायता मिली है।"

भट्ट जी ने साभिमान इस बात की घोषणा की थी कि उनके व्याकरण में बहुत सारी ऐसी बातों की चर्चा है, जो इसके पूर्व के किसी व्याकरण ग्रन्थ में नहीं आयी है। उदाहरणार्थ, उन्होंने हिन्दी क्रियाओं में लिङ्ग-विधान की चर्चा की थी, जो संस्कृत क्रियाओं में नहीं पाया जाता। उन्होंने लिखा था कि "लोग 'किया हो', 'करता हो', 'किया होता' तथा 'करता होता' आदि क्रियारूपों का प्रयोग बोलने तथा लिखने में तो करते हैं, किन्तु किसी भी व्याकरण ग्रन्थ में क्रिया के इन रूपों के सम्बन्ध में कोई निश्चित विवेचन नहीं मिलता। उनके अनुसार इन बातों का विवेचन सर्वप्रथम उन्हीं के ग्रन्थ में हुआ था।[१] विभिन्न विरामचिह्नों के विवेचन के लिए उन्होंने अँगरेजी व्याकरण का अनुसरण किया था।[२] ग्रन्थ की रचना मुख्य रूप से उन्होंने छात्रों के लिए ही की थी।[३]

---

१. "I have introduced in this book matters which are not found in any Hindi Grammar in the field, and have also been obliged to depart from them here and there. It has long been taxing the ingenuity of our learned men to find out how the distinction of genders came to be attached to the verbs in Hindi, when there is no such distinction in Sanskrit of which it is an offspring. I hope the readers of this book will find the difficulty solved to their satisfaction. Inflected forms of verbs like Kiya ho, Karta ho, Kiya hota and karta hota are used in conversation as well as in writing, but no mention is made of them in any existing grammar."—Ibid.

२. "I have prescribed rules for the use of important and necessary signs in punctuation, and in this I have followed the English grammar."—Ibid.

३. "This book is intended to serve the requirements of the candidates for the vernacular and middle scholarship

भट्ट जी ने अपने व्याकरण को वर्ण, शब्द, वाक्य और चिह्नविचार के चार खण्डों में विभक्त किया था। हिन्दी-वर्णमाला में ५५ अक्षर माने थे, जिनमें ऋ को छोड़ दिया था और क़ ख़ ग़ ज़ फ़ ड़ ढ़ को स्थान दिया था। शब्दान्त में व्यञ्जन के साथ आने वाले 'अ' स्वर के सम्बन्ध में लिखा था कि "शब्द के अन्त में व्यंजन हो तो उसमें अ जोड़ देते हैं, पर उसका उच्चारण नहीं करते, जैसे लिखेंगे बैल, नमक, फल पर उच्चारण करेंगे बैल्, नमक्, फल्। व्यंजनादि प्रत्ययों के जोड़ने से मुख्य शब्द का अन्त्य व्यंजन यद्यपि अन्त्य न रहा तो भी उसमें अ जोड़ कर लिखने की चाल है जैसे फलसे, सकता, लड़कपन नकि फल्से, सक्ता, लड़क्पन। समास होने से भी पूर्वपदों के अन्त्य व्यंजनों में अ लगा ही हुआ छोड़ देते हैं। जैसे—जबरदस्त, सरकार, दरबार, लेनदेन, मुंहनाल नकि जबर्दस्त, सर्कार, दर्बार, लेन्देन, मुह्नाल।"

भट्ट जी ने अपने ग्रन्थ में 'विवरण' (वर्तनी) को 'विवर्ण' लिखा था, इसकी आलोचना करते हुए पं० अम्बिकादत्त व्यास ने लिखा था कि जिस ग्रन्थ में सर्वत्र 'विवरण' के स्थान पर 'विवर्ण' लिखा गया हो, वैसे विवर्ण ग्रन्थ की चर्चा करना भी व्यर्थ है।

भट्ट जी ने 'सन्धि' के लिए 'हेरफेर' शब्द का प्रयोग किया था, किन्तु अनुपयुक्त होने के कारण यह चल नहीं सका। उन्होंने शब्द को पहले वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक, दो वर्गों में विभक्त किया था। फिर, वर्णात्मक के सार्थक और निरर्थक दो भेद किये थे। हिन्दी-शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी भाषा में जितने शब्द बोले जाते हैं उनके चार भागों में से तीन भाग चाहे शुद्ध संस्कृत हैं या संस्कृत से अपभ्रंश होकर प्राकृत भाषाओं में होते हुए हिन्दी में आये हैं। अवशिष्ट एक भाग अरबी, फारसी, तुर्की, अँगरेजी, पुर्तगाली, बलन्देजी, यूनानी या देशज शब्द हैं।"

धातुओं की चर्चा के प्रसङ्ग में भट्ट जी ने संस्कृत, फारसी, अरबी और तुर्की धातुओं की अलग-अलग नातिदीर्घ सूची देते हुए उनके हिन्दी पर्याय भी साथ-ही-साथ दिये थे। 'होना' के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी

examination; another abridged edition of it has also been published to suit the capacity of the students of Lower and the primary classes."—Ibid.

धातुओं में होना एक ऐसा धातु है जिससे संस्कृत के भू और अस् दोनों धातुओं के अर्थ निकलते हैं। इसलिये एक से दूसरे को अलग करने के लिए एक का नाम भवत्यर्थ और दूसरे का नाम अस्त्यर्थ रखते हैं। भवत्यर्थ होना धातु से निकले हुए रूप—होता था, होता है आदि हैं और इसी तरह के अस्त्यर्थ धातु से निकले हुए रूप था, है आदि हैं।" इसके पश्चात् उन्होंने नामधातु, संयुक्तधातु, अकर्मक, सकर्मक और प्रेरणार्थक धातु की सामान्य चर्चा की थी। फिर, कृत और तद्धित प्रत्यय पर उन्होंने विस्तार से विचार किया था तथा उनकी नातिदीर्घ तालिका प्रस्तुत की थी।

अर्थ के विचार से उन्होंने शब्द के संज्ञा, क्रिया और अव्यय तीन भेद किये थे। संज्ञा को नाम, सर्वनाम और विशेषण के तीन वर्गों में बाँटा था। लिङ्ग, वचन, कारक और विभक्ति के कारण संज्ञा में होनेवाले परिवर्तनों की ओर सङ्केत करते हुए उन्होंने लिखा था कि "रूप में हेरफेर होने के कारण, संज्ञा के दो भेद और हैं—विकृत और अविकृत। 'लड़का' को विकृत और 'राजा' को अविकृत वर्ग की संज्ञा के उदाहरण के रूप में उपस्थित किया था।

लिङ्ग, वचन और पुरुष के सम्बन्ध में अति सामान्य विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने कारक का परिचय देते हुए लिखा था कि "क्रिया के सम्बन्ध में संज्ञा की जो दो अवस्थाएँ होती है, उनको कारक कहते हैं। कारक दो हैं—कर्त्ता और कर्म। जो हो, जो करे, या जिससे किया जाये वह कर्त्ता और कर्त्ता जिसे करे या इससे जो किया जाये उसे कर्म कहते हैं।" इसके बाद उन्होंने उक्त और अनुक्त कर्त्ता तथा प्रधान और अप्रधान कर्म की चर्चा की थी।

कारक चिह्नों को परसर्ग नहीं कह कर उन्होंने 'विभक्ति' के नाम से ही उनका परिचय दिया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "अलग-अलग पाँच ही रूपों से कारक आदि संज्ञाओं की विभिन्न अवस्थाएँ पहचानी जाती हैं।" इनमें कर्त्ता, कर्म, करण, सम्बन्ध और अधिकरण के चिह्नों की चर्चा की गयी थी और सम्प्रदान, अपादान तथा सम्बोधन को छोड़ दिया गया था। विभक्तियों के अर्थ और प्रयोग की चर्चा कुछ विस्तार से की गयी थी। इसके पश्चात् क्रिया और अव्यय की सामान्य चर्चा करने के पश्चात् वाक्य तथा समास का सामान्य विवेचन किया गया था। अन्त में

अन्वय, पद-परिचय, लाघव, रोजमर्रा, मुहावरा, वाक्य-विन्यास तथा विराम-चिह्नों का साधारण परिचय देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया था।

भट्ट जी का व्याकरण संस्कृत व्याकरण के आधार पर लिखे गये हिन्दी के प्रायः सभी पूर्ववर्त्ती व्याकरणों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और प्रौढ़ था। भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण तथा चिन्तन की मौलिकता की दृष्टि से तो वह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं था, किन्तु तथ्यों को सुलझे हुए ढङ्ग से सजाने में तथा भाषा के अधिकाधिक पक्षों के सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से अपने युग का वह एक सफल व्याकरण माना गया था। अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने 'हिन्दी कौमुदी' की भूमिका में हिन्दी के श्रेष्ठ व्याकरणों में केलॉग के व्याकरण के बाद दूसरा स्थान भट्ट जी के व्याकरण को ही प्रदान किया था।

पॉल ह्वाले :

पॉल ह्वाले ने, बङ्गाल सिविल सर्विस से विश्राम प्राप्त करने के पश्चात् हिन्दी के ग्रामीण शब्दों एवं प्रत्ययों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में 'हिन्दी इटीमोलॉजीज' नामक ४२ पृष्ठों की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जो सन् १९०४ ई० में लन्दन के थैकर, स्पिङ्क ऐण्ड को० से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह एक सराहनीय प्रयत्न था। इस विषय पर इसके पूर्व क्रुक की 'रूरल ग्लॉसरी' तथा लासन की 'लिङ्गुआए प्राकृतिकाए' नामक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। पॉल ह्वाले ने अपनी पुस्तक में उन दोनों विद्वानों की पुस्तक में पायी जाने वाली त्रुटियों की समुचित समीक्षा की थी तथा अपनी स्थापनाओं को निर्दोष बनाने का प्रयास किया था। शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट करने के प्रसङ्ग में लेखक ने संस्कृत और प्राकृत रूप तो दिये ही थे, कहीं-कहीं भारतीय वर्ग की अन्य भाषाओं के रूप देकर तुलनात्मक विवेचन का भी प्रयास किया था।

पन्नालाल वाकलीवाल :

पन्नालाल वाकलीवाल का 'लिङ्गबोध' सन् १९०४ ई० में बम्बई से प्रकाशित हुआ था। उसमें पूर्ववर्त्ती व्याकरणों में दिये गये हिन्दी शब्दों के लिङ्ग-निर्णय सम्बन्धी नियमों को एक साथ एकत्र कर सजाने का प्रयास किया गया था।

आर० पी० डे :

आर० पी० डे का 'हिन्दुस्तानी ऐट ए ग्लांस'[1] सन् १९०४ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह ग्रन्थ यूरोपीय जिज्ञासुओं को हिन्दुस्तानी का सामान्य ज्ञान प्रदान करने के लिए अँगरेजी में लिखा गया था। यह चार भागों में विभक्त था। प्रथम भाग में हिन्दुस्तानी का संक्षिप्त व्याकरण, दूसरे में हिन्दुस्तानी के ६०० बहुप्रचलित उपयोगी वाक्य, तीसरे में दो अँगरेजों के बीच भारत के सम्बन्ध में परस्पर वार्तालाप और चौथे में हिन्दुस्तानी के महत्त्वपूर्ण शब्दों का कोष था।

ग्रन्थ में हिन्दी और हिन्दुस्तानी की भिन्नता पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया था कि "हिन्दी में सामान्यतः संस्कृत के अधिकाधिक शब्द और हिन्दुस्तानी में अरबी-फारसी के शब्द आते हैं। हिन्दी देवनागरी में और हिन्दुस्तानी अरबी-फारसी में लिखी जाती है। हिन्दी को हिन्दू और हिन्दुस्तानी को मुसलमान अपने प्रयोग में लाते हैं।"[2] आगे चल कर लेखक ने यह भी बताया था कि "वर्तमान समय में हिन्दी-हिन्दुस्तानी का पारस्परिक भेद लुप्त सा हो गया है और दोनों को लोग हिन्दुस्तानी के नाम से ही पुकारने लगे हैं।"[3]

यह एक सामान्य कोटि का ग्रन्थ था, जिसमें लेखक का उद्देश्य विदेशियों को हिन्दी के बहुप्रचलित रूप की सामान्य जानकारी प्रदान करना था।

रामदास राय :

"तिरहुत प्रान्तान्तर्गत शिवहर मि० ई० स्कूल के हेडमास्टर श्री रामदास राय' का 'वाक्य बोध व्याकरण' सन् १९०५ ई० में त्रिकुटी विलास यन्त्रालय,

---

१. "Hindustani at a glance, being a manual on the most simple principles for universal self tuition with an accurate pronunciation of every word intended for Europeans and other coming to India."

—R. P. De : Title of the book.

२. Ibid.

३. "This distinction is, however, disregarded now a days, both commonly doing under the Name of Hindustani."

—Ibid, p. 1.

मुजफ्फरपुर से प्रकाशित हुआ था। इसमें अशुद्ध वाक्यों के शुद्ध रूप समझाये गये थे। ग्रन्थ के समर्पण में लेखक ने ग्रन्थ-रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा था—

"जनसाधारण सकल वाक्य नहिं शुद्ध उचारत।
तिहि लगि इहि को रचेउ, रंच तिहि बोध न चाहत।।"

श्यामसुन्दर दास :

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी और उर्दू का एक संयुक्त व्याकरण 'ऐन एलिमेण्टरी ग्रामर ऑफ हिन्दी ऐण्ड उर्दू' नाम से सन् १९०६ ई० में बनारस के मेडिकल हॉल प्रेस से प्रकाशित किया था। यह व्याकरण युक्तप्रान्तीय सरकार की आवश्यकता को ध्यान में रख कर लिखा गया था। युक्तप्रान्तीय सरकार का शिक्षाविभाग बहुत दिनों से हिन्दी और उर्दू, दोनों भाषाओं के लिए, स्कूलों में एक ही सामान्य व्याकरण निर्धारित करने को इच्छुक था।[१] सरकार की दृष्टि में दोनों भाषाएँ व्याकरण की दृष्टि से अभिन्न थीं। बाबू साहब भी सरकार की इस मान्यता से

१, The question of having suitable grammars of the Hindi and Urdu languages has been engaging the attention of both the Government and the educated public of the United Provinces for a long time past. The Government desires a grammar which will serve the purpose of both Hindi and Urdu and the educated public requires a thoroughly good grammar of Hindi. Only lately there has been great controversy in Hindi newspapers on this subject, but so far as I know, no one has yet taken up the work of compiling a grammar of Hindi or of both Hindi and Urdu to meet the demands of all parties concerned."—Syam Sundar Das, An elimentary Grammar of Hindi and Urdu; Foreword.

सहमत थे।[१] अपने व्याकरण में उन्होंने अपनी तथा सरकार की इसी उपर्युक्त मान्यता को साकार करने का प्रयास किया था।[२]

बाबू साहब का व्याकरण विषय-विवेचन की दृष्टि से अति सामान्य होने पर भी व्याकरण-निर्माण की दिशा में एक उल्लेख्य प्रयोग था। उन्होंने व्याकरण-रचना की परम्परागत संस्कृत-पद्धति तथा फारसी-पद्धति को त्याग कर अँगरेजी पद्धति का अनुसरण किया था।[३] वे मानते थे कि संस्कृत से सम्बन्ध होने पर भी हिन्दी एक सर्वथा स्वतन्त्र भाषा है, इसलिए उसके

---

१. "I do not see what justification there is for Urdu to follow in the steps of the Persian, except that it is written in the Persian character. Urdu is practically and virtually an offshoot of Hindi. Its grammar is purely Hindi. Only a large number of words used in Modern Urdu are of Persian and Arabic origin, as is the case with Hindi also, which largely, and at times unnecessarily, draws on the stock of Sanskrit vocabulary."—Ibid,

२. "The present controversy in Hindi newspaper and the knowledge that the Education Department of the U. P. has not yet been supplied with a grammar serving the purpose of both Hindi and Urdu, have prompted me to bring my own humble attempt in this direction to the notice of the educated public and the different Education Departments in the hope that it will meet with due consideration at their hands and encourage me as well as others, more competent than myself, to prepare a thoroughly good grammar of both Hindi and Urdu."—Ibid.

३. "In preparing this grammar, I have discarded the old orthodox method of basing it either on the Sanskrit or the Persian Grammar......I have selected the principle on which all grammars of the Hindi and Urdu languages have so far been written and have accepted the guidance of Modern English grammars."—Ibid.

व्याकरण की रचना भी स्वतन्त्र पद्धति से होनी चाहिए।[१] अपने द्वारा अँगरेजी पद्धति के अनुसरण का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि इस समय अँगरेजी के पर्याप्त ज्ञान के बिना बालकों की शिक्षा अधूरी समझी जाती है। इसलिए, हिन्दी और उर्दू का व्याकरण, अँगरेजी की पद्धति से लिखे जाने से, उन भाषाओं का ज्ञान तो होगा ही, साथ ही उससे अँगरेजी सीखने में भी सहायता मिलेगी।[२]

बाबू साहब ने अपने व्याकरण को चार खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनायी थी, जिसमें यह पहला खण्ड था। यह खण्ड पाँचवें और छठे वर्ग के विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुरूप लिखा गया था। इसमें हिन्दी और उर्दू की वर्णमाला और शब्दभेद पर प्रकाश डाला गया था।[३] प्रारम्भिक १४ पृष्ठों में हिन्दी का अंश देवनागरी में और शेष १४ पृष्ठों में उर्दू का अंश फारसी लिपि में दिया गया था। विषय का विवेचन विश्लेषणात्मक पद्धति से किया गया था। पहले परिभाषा न देकर उदाहरण ही दिये

---

१. "Hindi although originally born of Sanskrit has now assumed so different a form that it is not at all advisable or safe to follow that method blindly."—Ibid.

२. "Besides, the education of a boy is not now considered complete without a sufficiently good knowledge of English. If, therefore, a Hindi-Urdu grammar would be compiled after the model of the grammars of the English language it would facilitate the study of that language."—Ibid.

३. "I propose dividing this grammar into four parts : Part I will deal with orthography and the parts of speech; Part II will deal with etymology in detail; Part III with syntax and Part IV with prosody. In these four parts the whole field of Hindi and Urdu grammars will be exhausted. Part I which is now tentatively issued will meet the requirements of the V and VI classes of the Anglo Vernacular schools in the united provinces."
—Ibid.

गये थे और उनके विश्लेषण के द्वारा विद्यार्थियों को निष्कर्ष तक ले जाने का प्रयास किया गया था।[१]

बाबूसाहब व्याकरण-शिक्षा के तीन उद्देश्य मानते थे—(क) सम्बद्ध भाषा का समुचित ज्ञान, (ख) उनके दोषों या दुर्बलताओं का परिचय और (ग) अन्य भाषाओं के ज्ञानार्जन की क्षमता। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए वे व्याकरण का विश्लेषणात्मक पद्धति से लिखा जाना तथा उसका सरल होना आवश्यक मानते थे और अपने व्याकरण में उन्होंने इन सभी विशेषताओं के समावेश का दावा भी किया था।[२] किन्तु, जैसा पहले भी बताया जा चुका है, बाबूसाहब का व्याकरण विषय-विवेचन की दृष्टि से एक नितान्त सामान्य ग्रन्थ था।

डब्लू० आर० एस० होलरॉयड :

कर्नल डब्लू० आर० एम० होलरॉयड एम० आर० ए० एस० पन्जाब के डी० पी० आइ० तथा कलकत्ता और पन्जाब विश्वविद्यालय के फेलो थे। उनका 'हिन्दुस्तानी फॉर एवरी डे' नामक ग्रन्थ लाहौर के राय साहब एम० गुलाब सिंह ऐण्ड सन्स के द्वारा सन् १९०६ ई० में प्रकाशित किया गया था। यह व्याकरण ग्रन्थ न होकर रचना-ग्रन्थ था, जो 'हिन्दुस्तानी शिक्षक' के रूप

---

१. "I may further note here that I have not begun with definition. I have first given examples and have helped the students to learn Hindi-Urdu grammar by means of analysis."—Ibid.

२. "The objects of teaching grammar of a particular language are (1) to enable a student to acquire a competent knowledge of the language he is studying, (2) to make him learn the weak points of the language and (3) to prepare him for the study of other language. These objects can only be attained by following the analytical method in teaching grammar and by making the grammar as easy and as perfect as the construction of the language concerned allows, I venture to think that my grammar will meet these ends."—Ibid.

में लिखा गया था। इसका मुख्य उद्देश्य, विदेशियों को हिन्दुस्तानी के सामान्य प्रचलित रूप का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना था।[१]

ग्रन्थ की भूमिका में होलरॉयड ने उर्दू और हिन्दी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक नितान्त भ्रामक सिद्धान्त के प्रचार का प्रयास किया था। उनके अनुसार दिल्ली के शाही खेमे में व्रजभाषा से एक नयी भाषा का जन्म हुआ, जिसका नाम उर्दू पड़ा।[२] बाद में उसी उर्दू से हिन्दी का जन्म हुआ।[३] हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि अँगरेज तथा कुछ भारतीय

---

१. "The object of this work is to impart a sound practical knowledge of the Hindustani language as it is employed in daily life, more especially in intercourse between Indians and Anglo Indians."

—W. R. M. Holroyd : Prefacә.

२. "The court language under the Muhammadan rulers of India was Persian; but during their time a new language grew up in the royal camp at Delhi. This was formed by the incorporation in the local dialect sprung from Sanskrit and known as the Brajbhasha, of a large number of Persian words and of Arbic words current in Persian and by the gradual modification of its grammatical structure, The new language spread far and wide, especially amongst Muhammadans and is now spoken by millions as their mother tongue. It is still more extensively employed as a second language, by persons who use other dialect in their own homes, and serves in fact as lingua franca more less throughout India like French on the continent of Europe. It is called Urdu by those who speak it, a name derived from its place of origin, Urdu signifying a camp."—Ibid.

३. "A literary language largely prevalent amongst Hindus has been formed from Urdu by the exclusion of Arabie and Persian words and the substitution of Sanskrit words in their place. This language is called Hindi the same term is applied to a rural dialect varying in

उर्दू को ही हिन्दुस्तानी के नाम से पुकारते हैं, किन्तु सामान्यत: इससे हिन्दी और उर्दू दोनों का बोध होता है।[१]

मेजर एफ० आर० एच० चैपमैन :

मेजर चैपमैन का 'हाउ टु लर्न हिन्दुस्तानी' सन् १६०७ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। वे लन्दन के रॉयल मिलीटरी कॉलेज, कैम्बरली में हिन्दुस्तानी भाषा के शिक्षक थे। अपने ग्रन्थ में, यद्यपि मुख्य रूप से उन्होंने उर्दू का ही विवेचन किया था, किन्तु हिन्दुस्तानी से उनका तात्पर्य हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं से था। हिन्दुस्तानी का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था कि "यह संस्कृत, अरबी और फारसी के मिश्रण से बनी हिन्दुस्तान की एक सर्वाधिक प्रमुख भाषा है, जिसके अनेक रूप हैं, जिनमें हिन्दी और उर्दू सर्वप्रमुख हैं। उर्दू फारसी लिपि में लिखी जाती है और उसमें अरबी-फारसी शब्दों की बहुतायत होती है, हिन्दी देवनागरी में लिखी जाती है और उसमें संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग होता है।"[२]

---

different districts, which has absorbed a certain number of Arabic and Persian words, but still retains archaic forms of speech, which Urdu has discarded. The Brajbhasha now no longer spoken, is often included under the term Hindi."—Ibid.

१. "By Englishman generally and by some Indians Urdu is called Hindustani; and the latter term is often used in a more comprehensive sense to include both Urdu and Hindi, which had their origin in Hindustan proper, the country extending from the neighbourhood of the Sutlej to Benaras."—Ibid.

२. "Hindustani, the lingua franca of India, is a composite language, derived from Sanskrit, Arabic and Persian. It has several recognised varieties, of which the principal are Urdu and Hindi. Urdu is that form of Hindustani which is written in the Persian character and which makes a free use of Persian (including Arabic) words in its vocabulary. The name is said to be derived from the Urdu-e-mualla or royal military bazzar outside the

चैपमैन का व्याकरण अँगरेजों को हिन्दुस्तानी सिखाने के उद्देश्य से लिखा गया था। उसमें उर्दू के साथ-ही-साथ देवनागरी वर्णमाला भी दी गयी थी। ग्रन्थ ६ भागों में विभक्त था। उसमें व्याकरण के अतिरिक्त अनुवाद करने का तरीका, पाण्डुलिपियों को पढ़ने की शिक्षा, विभिन्न विषयों पर वार्त्तालापोपयोगी वाक्य तथा उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण शब्दों की तालिका भी दी गयी थी। विषय-विवेचन की दृष्टि से यह एक सामान्य ग्रन्थ था।

बाबू गङ्गा प्रसाद :

बिजनौर जिला स्कूल के थर्डमास्टर बाबू गङ्गा प्रसाद का 'हिन्दी व्याकरण', जो कई बातों में प्रचलित पाठ्य ग्रन्थों से भिन्न था और पूर्णतः अँगरेजी व्याकरण के आधार पर लिखा गया था, सन् १९०७ ई० में इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने अपनी मान्यता स्पष्ट करते हुए लिखा था कि "आज तक के सभी हिन्दी वैयाकरणों ने संस्कृत व्याकरण की पद्धति से अपने ग्रन्थों की रचना की है। उनके ग्रन्थ, संस्कृत के अनेक अनपेक्षित तत्त्वों के समावेश के कारण विद्यार्थियों के लिए तो दुरूह हैं ही, साथ ही संस्कृत के कठिन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के कारण बुद्धिमानों के लिए भी अबोधगम्य हैं। अँगरेजी और हिन्दी के वैयाकरणों की शैली में इतनी भिन्नता है कि उनमें किसी एक से दूसरे के अध्ययन में सहायता मिल ही नहीं सकती। इस कारण, प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने अँगरेजी व्याकरण के साथ हिन्दी व्याकरण का साम्य स्थापित करने का प्रयास किया है ताकि इसे अँगरेजी स्कूल के विद्यार्थी समझ सकें।"[१] इस प्रकार, लेखक का प्रधान उद्देश्य हिन्दी का स्वतन्त्र व्याकरण

Delhi palace. Hindi is that form of Hindustani in which Sanskrit words abound, and which can only be written in the Devanagari character."—Major F. R. H. Chapman, How to learn Hihdustani, p. 1.

१. The writers of existing Grammars have one and all treated the subject from the Sanskrit point of view and have introduced so many Sanskrit elements that it has been almost impossible for the student to understand it thoroughly. Besides Sanskrit terms ... after

लिखना नहीं था, अपितु अँगरेजी व्याकरण के साँचे में हिन्दी व्याकरण को ढाल देना था।[१]

लेखक के अनुसार, इस ग्रन्थ की सर्वप्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें आगमनात्मक पद्धति का उपयोग किया गया था, अर्थात् पहले उदाहरण देकर बाद में उनसे नियमों की उत्पत्ति समझायी गयी थी।[२] इसके अतिरिक्त, विषय-विवेचन को सर्वत्र युक्तिसङ्गत बनाने का प्रयास किया गया था तथा उदाहरण प्रचलित प्रयोगों से लिये गये थे। ग्रन्थ के अन्त में पद-निर्देश और वाक्य-विश्लेषण की पद्धति भी संक्षेप में अँगरेजी की नकल पर समझायी गयी थी, जिसके विषय में लेखक ने सगर्व यह घोषित किया था कि ये विषय सर्वप्रथम उन्हीं के ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये हैं।"[३]

---

suffixes, &c not used in Hindi language (ie तारतम्य) sound not only awkward, but at the same time meaningless to an intelligent reader. The styles of writers of English and Hindi grammars have, moreover, been so different that neither of this can afford any help to the studeut in the study of the other. In the present work I have attempted to bring harmony between English and Hindi grammar, so that the students of Anglo-Vernacular schools, where a great stress is laid on English, may learn Hindi grammar."

—Babu Ganga Pd. Hindi Vyakaran, Preface, 1st Ed.

१. "My object in writing this book has been to deal with the subject, as far as possible, from the English point of view and to establish a sort of relation between English and Hindi grammar."—Ibid."

२. "The special feature of the book is the inductive method of teaching followed all through. Examples are givin first and rules are deduced from them. The whole subject has been treated strictly logically, and a great care is taken to choose examples from familiar objects."

—Ibid.

३. Parsing and analysis of which no traces are found in any old grammar have been introduced here, and it is hoped that they will prove benificial in fully mastering the language." —Ibid.

यह एक सामान्य छात्रोपयोगी व्याकरण था, जिसमें हिन्दी भाषा के विश्लेषण की दृष्टि से कहीं कोई मौलिकता नहीं थी। इसके कई संस्करण हुए और प्रत्येक संस्करण में नये-नये अध्याय जोड़कर लेखक इसके कलेवर की वृद्धि कर, इसे अधिकाधिक छात्रोपयोगी बनाने का प्रयास करता रहा।

बाबू माणिक्यचन्द्र जैन :

बाबू माणिक्यचन्द्र जैन, बी० ए० का 'हिन्दी व्याकरण' सन् १९०७ ई० में इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। यह कुल ५६ पृष्ठों का अतिसामान्य छात्रोपयोगी ग्रन्थ था और बाबू गङ्गा प्रसाद के 'हिन्दी व्याकरण' के समान ही अँगरेजी व्याकरण को आधार बनाकर लिखा गया था।

लेफ्टिनेण्ट कर्नल डी० जी० फिल्लॉट :

फिल्लॉट महोदय कलकत्ता के 'बोर्ड ऑफ एक्जामिनर्स' के सेक्रेटरी, एसिएटिक सोसाइटी, वङ्गाल के जेनरल सेक्रेटरी तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'फेलो' थे। उनका 'हिन्दुस्तानी स्टम्वलिङ्ग ब्लॉक्स' नामक ग्रन्थ सन् १९०९ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। यह ग्रन्थ हिन्दुस्तानी भाषा की वाक्य सम्बन्धी तथा मुहावरा सम्वन्धी कुछ समस्याओं पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से लिखा गया था।[1] इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पहले वे 'हिन्दुस्तानी स्टेपिङ्ग स्टोन्स' नामक एक और ग्रन्थ लिख चुके थे, जिसमें हिन्दुस्तानी भाषा की सामान्य बातों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया था। इनमें से किसी भी ग्रन्थ में भाषा के व्यवस्थित विश्लेषण की चेष्टा नहीं की गयी थी। लेखक का ध्यान मुख्य रूप से हिन्दुस्तानी भाषा की विशिष्ट बातों पर ही केन्द्रित था।

---

१. "The present little work is compiled from the recurring mistakes of candidates for the higher examinations at Calcutta, and from certain matters that have proved, and still prove, stumbling blocks to the author himself. Many of the difficulties that it is hoped this book will solve, are either not in the ordinary grammar at all, or else are too briefly touched upon."—Lieut, Colonel, D. G. Phillot, Hindustani Stumbling Blocks, Introduction.

अगस्ट सर्डेल :

अगस्ट सर्डेल का जर्मन भाषा में लिखा 'थेओरेटिश प्रेक्टिशे ग्रामेटिक देर स्प्राखे' सन् १९१० ई० में प्रकाशित हुआ था। यह जर्मन लोगों के लिए लिखा गया हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण था।

बद्रीनारायण सिंह :

टीचर ट्रेनिङ्ग एकेडेमी, मुङ्गेर के अध्यापक बद्रीनारायण सिंह का 'भाषा दिवाकर' सन् १९१० ई० में मुङ्गेर से ही प्रकाशित हुआ था। वह प्राथमिक वर्ग के छात्रों के लिए लिखा गया एक सामान्य स्तर का ग्रन्थ था।

पं० कन्हैयालाल उपाध्याय :

इन्दौर के पं० कन्हैयालाल उपाध्याय की 'हिन्दी व्याकरण प्रवेशिका' नामक एक छोटी-सी पुस्तक सन् १९१० ई० में बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक बाल वर्ग के छात्रों के लिए लिखी गयी थी। भूमिका में लेखक ने अपना उद्देश्य प्रकट करते हुए लिखा था कि "मेरे विचार में तो जब वे बालक दूसरी पुस्तक में कुछ प्रवेश कर चुकें तो साथ ही उसके, व्याकरण सम्बन्धी थोड़ी सी साधारण बातें क्रम-क्रम से उनके हृदय में इस प्रकार जमाते जाना चाहिये कि जिससे उनके पढ़ने के अभ्यास में भी उन्हें बहुत कुछ सहायता मिलती रहे। इसी उद्देश्य से मैंने यह छोटी सी पुस्तक लिखकर शिक्षा-विभाग के नेता तथा नागरी प्रेमियों की सेवा में अर्पण की है।" इस पुस्तक में व्याकरण की सामान्य बातों को लेखक ने बड़ी स्पष्टता से सरल शैली में प्रस्तुत किया था।

उपर्युक्त ग्रन्थ के प्रकाशन के कुछ ही दिनों के पश्चात् उपाध्याय जी का 'हिन्दी भाषा का सुलभ व्याकरण' नामक दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जो चौथी और पाँचवीं कक्षा के उपयोगार्थ लिखा गया था। भूमिका में ग्रन्थ का परिचय देते हुए लेखक ने बताया था कि "व्याकरण विषय आरम्भ करनेवाले कोमल हृदय शिशुओं के लिये 'हिन्दी व्याकरण प्रवेशिका' नाम की छोटी सी पुस्तक मैंने अलग छपायी है। यह उसी का दूसरा भाग है जो मध्यम श्रेणी के बालकों के उपयोगार्थ लिखा गया है। ये दोनों पुस्तकें जिस अभिप्राय से तैयार की गई हैं, यदि उसे कुछ अंश में भी पूर्ण करती हुई मालूम हुईं, तो मैं इसका तीसरा भाग प्रगट करने का विचार करूँगा। इसमें मैंने अँगरेजी

व्याकरण की रीत पर कुछ प्रकरण इसलिये लिखे हैं कि हिन्दी के विज्ञजन उसकी आलोचना करें जिससे अगले संस्करण में उन्हें सुधारकर छपवाने का प्रबन्ध किया जाय।''

इस व्याकरण को उपाध्याय जी ने वर्ण-विचार, शब्दसाधन, वाक्यविन्यास, शब्दरचना और छन्द:प्रकरण के पाँच अध्यायों में विभक्त किया था। वर्णविचार में हिन्दी वर्णों का विवेचन अति सामान्य ढङ्ग से किया गया था। शब्दसाधन के अन्तर्गत संज्ञा के पाँच भेदों में गुणवाचक, अर्थात् विशेषण तथा सर्वनाम को भी सम्मिलित किया गया था। गुणवाचक संज्ञा अर्थात् विशेषण के गुणबोधक, संख्याबोधक, परिमाणबोधक तथा निश्चयबोधक अर्थात् दर्शक चार भेद माने गये थे। सर्वनाम के पुरुषवाचक, निश्चयवाचक, अनिश्चयवाचक, प्रश्नवाचक, सम्बन्धवाचक, निजवाचक, आदरसूचक और परस्परबोधक (आपस, एक दूसरा) आठ भेद किये गये थे। पुरुषवाचक के अतिरिक्त शेष भेदों को उपाध्याय जी ने गुणीभूत की संज्ञा दी थी। पुरुषवाचक सर्वनाम 'हम' के वचन पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा था कि ''वास्तव में हम शब्द 'मैं' का बहुवचन नहीं है, पर मैं के साथ मध्यम वा अन्यपुरुषवाची सर्वनाम के योग से बना हुआ दिखाई देता है, क्योंकि बोलनेवाला पुरुष सदा एक ही होता है। पुरुषवाचक सर्वनाम के बहुवचन के साथ कभी-कभी 'लोग' शब्द भी लगा देते हैं—जैसे हमलोग, तुमलोग, वेलोग।[1]

उपाध्याय जी ने संयुक्त क्रिया का विवेचन करते हुए लिखा था कि ''संयुक्त क्रिया में पहली क्रिया मुख्य और अन्य क्रियाओं को सहायक क्रिया कहते हैं। सहायक क्रियाओं को उन्होंने आठ वर्गों में बाँटा था—निश्चयबोधक, परतन्त्रताबोधक, शक्तिबोधक, समाप्तिबोधक, इच्छाबोधक, आरम्भबोधक, नित्यताबोधक और अवकाशबोधक। इसी प्रकार भूतकाल के उन्होंने छह, वर्त्तमान के चार (सामान्य, तात्कालिक, रीति और सन्दिग्ध) और भविष्य के दो भेद किये थे। अव्यय के क्रियाविशेषण, सम्बन्धसूचक, उभयान्वयी और विस्मयादिबोधक चार भेद किये थे। फिर, क्रियाविशेषण के आठ, सम्बन्धसूचक के दो (कारक रहित; जैसे नीच और आदि और कारक सहित; जैसे—ने, को आदि), उभयान्वयी के दो (संयोजक और विभाजक) और विस्मयादिबोधक

१. पं० कन्हैयालाल उपाध्याय, 'हिन्दी भाषा का सुगम व्याकरण', पृ० ३५।
(द्वि० सं०)

के हर्ष, दुःख, धिक्कार, स्तब्ध, आश्चर्य, सत्कार तथा स्तुतिसूचक सात भेद माने थे।''

वाक्यविन्यास के प्रसङ्ग में पदयोजना के क्रम पर विस्तार से प्रकाश डाला गया था। इसके अतिरिक्त, कर्त्ता और क्रिया के अन्वय तथा विशेष्य-विशेषण के अन्वय पर भी विस्तार से विचार किया था। कारकों के विभिन्न प्रयोगों को संक्षेप में अच्छी तरह समझाया गया था। फिर, वाक्यविच्छेद, विरामचिह्न तथा वाक्यपदच्छेद का संक्षिप्त परिचय देने के बाद कृदन्त के पाँच और तद्धित के पाँच भेदों पर प्रकाश डाला गया था। उपसर्ग, समास और सन्धि का संस्कृत के आधार पर विवेचन करने के पश्चात् अन्त में छन्दःप्रकरण देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया था। यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ था।

पं० रामकर्ण :

पं० रामकर्ण जी ने ना० प्र० स०, काशी के अधिकारियों के आग्रह से एक हिन्दी व्याकरण लिख कर सन् १९१० ई० के आसपास सभा के विचारार्थ भेजा था। बाद में उसका संक्षिप्त छात्रोपयोगी रूप जोधपुर के अपने प्रताप प्रेस से सन् १९११ ई० में प्रकाशित किया था।[१] ग्रन्थ की भूमिका में पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था कि ''हिन्दी भाषा के आज तक कई व्याकरण बन चुके हैं, परन्तु किसी में कोई विषय और किसी में कोई विषय अपूर्ण है, सर्वाङ्ग सम्पूर्ण एक भी व्याकरण नहीं बना, देखिये हिन्दी भाषा में 'ऐ औ' का उच्चारण पृथक-पृथक प्रकार से किया जाता है जैसे 'कैलास' और 'जाता है' इन शब्दों में 'ऐ' स्वर एक सा है; परन्तु उच्चारण में अन्तर है, परन्तु आज तक किसी व्याकरण में इनके उच्चारण के विषय में नियम नहीं लिखा।'' अपने व्याकरण की विशेषताओं के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि ''शब्द के वाचक, लक्षक और व्यञ्जक ये तीन भेद इत्यादि कई विषय इस व्याकरण में नवीन लिखे गये हैं। इसमें प्रचलित छन्दों के

---

१. ''मैंने एक विस्तृत हिन्दी व्याकरण काशी ना० प्र० स० की सूचना से बनाया था, वह तो उस सभा में भेज दिया गया है और उसी का आशय लेकर स्कूल के बालकों के उपयोगी यह व्याकरण संक्षेप में लिखा गया है।''
—पं० रामकर्ण, हिन्दी व्याकरण, भूमिका।

२. उपरिवत्।

लक्षण और उदाहरण भी लिख दिये गये हैं, इसकी शैली अँगरेजी व्याकरण के अनुसार रक्खी गई है कि अँगरेजी पढ़ने वालों को बहुत सुगमता से समझ में आ जाय।"[१]

यह व्याकरण अँगरेजी-पद्धति से लिखे गये पूर्ववर्त्ती व्याकरणों की परम्परा में आने वाला एक सामान्य व्याकरण ही था, जिसमें विषय-विवेचन की दृष्टि से कहीं कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं थी।

गोविन्दनारायण मिश्र :

गोविन्दनारायण मिश्र का 'विभक्ति विचार' सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुआ। उसमें हिन्दी विभक्तियों (परसर्ग) की उत्पत्ति, प्रयोग आदि के सम्बन्ध में बड़े विद्वत्तापूर्ण ढङ्ग से विचार किया गया था। उसकी प्रशंसा करते हुए पं० कामता प्रसाद गुरु ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' की भूमिका में लिखा था कि "पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने 'विभक्ति विचार' लिखकर हिन्दी विभक्तियों के विषय में गवेषणापूर्ण समालोचना की है और हिन्दी व्याकरण के इतिहास में एक नवीनता का समावेश किया है।"

रामजी लाल शर्मा :

रामजी लाल शर्मा का 'बालहिन्दी व्याकरण' सन् १९११ ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। वह एक सामान्य स्तर का छात्रोपयोगी व्याकरण था।

चन्द्रमुखी ओझा :

चन्द्रमुखी ओझा का 'भाषा व्याकरण' सन् १९१६ ई० में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। वह छात्रोपयोगिता को ध्यान में रख कर लिखा गया एक सामान्य स्तर का व्याकरण था।

चन्द्रमौलि शुक्ल :

इलाहाबाद गवर्नमेण्ट हाईस्कूल के सहायक शिक्षक चन्द्रमौलि शुक्ल का 'भाषा व्याकरण' सन् १९१२ ई० में इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। यह अनेक पूर्ववर्त्ती व्याकरणों के आधार पर लिखा गया एक

---

१. पं० रामकर्ण, हिन्दी व्याकरण भूमिका।

सामान्य सङ्ग्रह ग्रन्थ था,[१] जिसमें व्याकरण की अन्य बातों की अपेक्षा वाक्य विश्लेषण और पदनिर्देश के विवेचन पर विशेष ध्यान दिया गया था। ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि इसमें "वाक्य से प्रारम्भ करके उसके खण्डों अर्थात् शब्दों की व्याख्या और उनका सम्बन्ध बताया गया है। भाषा बहुत सरल रक्खी गई है और बहुत से उदाहरणों से लक्षण स्थापित किए गए हैं। उदाहरण पूर्ण वाक्यों में दिए गए हैं जिससे प्रकरण भी समझ में आ जावे। हर अध्याय के अन्त में अभ्यास के लिए सामान्य बोलचाल की कुछ सहल बातें दी हैं, परन्तु पुस्तक के अन्तिम भाग में कुछ दोहे चौपाइयाँ रामायण से ली हैं जिससे लड़कों को पद्य के व्याकरण का कुछ भी ज्ञान हो जावे। अध्यायों, लिंगों, क्रियाओं आदि की लम्बी नामावली नहीं दी गई क्योंकि उससे रटने की रीति बढ़ती है। उसके स्थान में वाक्यभेद और पदव्याख्या दी गई है। लिखने की केवल एक ही प्रणाली रक्खी गई है, जैसे हुआ, खंड, आवे आदि।"

चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा :

चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा की 'हिन्दी व्याकरण शिक्षा' नामक पुस्तक सन् १९१२ ई० में नेशनल प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। पुस्तक में शर्मा जी ने अपने को उसका लेखक नहीं लिख कर संग्रहकर्त्ता लिखा था और स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया था कि "हमने इस पुस्तक को 'भाषाभास्कर' और 'हिन्दी व्याकरण' की सहायता से रचा है। 'सन्धिप्रकरण' और 'छन्दविचार' हमने 'भाषाभास्कर' से ले लिये हैं। संग्रहकर्त्ता का यह पहला प्रयास है। यदि इसमें कोई काम की बात लिखनी रह गयी है, उससे उत्तम लिखी जा सकती हो—तो पाठकों से निवेदन है कि वे उसे लिख कर संग्रहकर्त्ता के पास भेज दें, जिससे द्वितीय संस्करण में उन सूचनाओं से लाभ उठाया जाय।"[२]

शर्मा जी ने अँगरेजी-पद्धति से हिन्दी का व्याकरण लिखने वालों का विरोध करते हुए लिखा था कि "इन दिनों हिन्दी में जो व्याकरण रचे गये हैं,

---

१. "I acknowledge also help from many Hindi, Urdu, English and Sanskrit Grammars which I have occasionally drawn upon."—C. M. Sukul, Bhasha Vyakaran or Hindi Grammar, Preface.

२. चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, 'हिन्दी व्याकरण शिक्षा, भूमिका।

उनमें अँगरेजी व्याकरण की ज्यों की त्यों नकल की गयी है और अँगरेजी विचार हिन्दी में गढ़कर समझाये गये हैं। ऐसे लोगों से हम यह कहना चाहते हैं कि अँगरेजी हमारी मातृभाषा नहीं है। अँगरेजी व्याकरण के सहारे हिन्दी व्याकरण समझाना, उल्टी गंगा बहाने के समान है।"[१]

इस ग्रन्थ में शर्मा जी ने हिन्दी व्याकरण के तथ्यों को बड़ी बुद्धिमानी से चुन-चुन कर सङ्कलित किया था। इसकी भाषा अपेक्षाकृत साफ और शैली रोचक थी। किन्तु, स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव में इसमें नवीन तथ्यों का समावेश नहीं हो पाया था। फिर भी, छात्रों के लिए यह एक अति उपयोगी ग्रन्थ था।

पं० गदाधर प्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री :

पं० गदाधर प्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री का 'व्याकरण दर्पण' सन् १९१२ ई० में 'बाबू केदारनाथ भार्गव के प्रबन्ध से ओरियण्टल प्रेस, प्रयाग में प्रकाशित हुआ था।' यह व्याकरण "अपर प्रायमरी और मिडिल क्लास के विद्यार्थियों के हितार्थ लिखा गया था।" लेखक ने व्याकरण को वर्णविचार, शब्दविचार और वाक्यविचार के तीन खण्डों में विभक्त कर सबके सम्बन्ध में सामान्य बातों की संक्षेप में चर्चा की थी। शब्द को पहले सार्थक और निरर्थक के वर्गों में बाँट कर फिर सार्थक के संज्ञा, क्रिया और अव्यय तीन भेद किये गये थे। व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्द के तीन भेद और गुणों की दृष्टि से (जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, भाववाचक और सर्वनाम संज्ञा) पाँच भेद माने गये थे। कारकों की चर्चा के प्रसङ्ग में लेखक ने कर्त्ता के प्रबन्धकर्त्ता और अप्रबन्धकर्त्ता दो भेद बताये थे, जो वास्तव में पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा बताये गये प्रधान कर्त्ता और अप्रधान कर्त्ता के लिए ही दिये गये भिन्न नाम थे। लेखक ने विशेषण के (गुणवाचक, अनिश्चयवाचक, संख्यावाचक और सङ्केतवाचक) चार भेद, सर्वनाम के छह भेद, क्रिया के (अकर्मक, सकर्मक, प्रेरणार्थक, विधि और पूर्वकालिक) पाँच भेद, भूतकाल के छह भेद, वर्तमान के (सामान्य और सन्दिग्ध) दो भेद, भविष्यत् के (सामान्य और सम्भाव्य) दो भेद, संयुक्त क्रिया के (अवधारणबोधक, शक्तिबोधक, पूर्णताबोधक, नित्यताबोधक, इच्छाबोधक, आरम्भबोधक, अवकाशबोधक और अशक्यार्थक) आठ भेद, कृदन्त के

१. चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, हिन्दी [illegible] शिक्षा, भूमिका।

(कर्तृवाचक, कर्मवाचक, भाववाचक, करणवाचक, क्रियाद्योतक और योग्यता-वाचक) छह भेद, तद्धित के (अपत्यवाचक, कतृवाचक, भाववाचक, ऊनवाचक और गुणवाचक) पाँच भेद, समास के छह भेद तथा अव्यय के (क्रियाविशेषण, सम्बन्धबोधक, उपसर्ग, संयोजक, विभाजक और विस्मयादिबोधक) छह भेद माने थे। वाक्यविचार के अन्तर्गत उद्देश्य, विधेय तथा पदयोजना के क्रम का सामान्य विवेचन किया गया था।

यह सामान्य स्तर का एक छात्रोपयोगी व्याकरण था, जिसके कुल ४० पृष्ठों में ही अधिक-से-अधिक व्याकरणिक तथ्यों को एकत्र कर देने का प्रयास किया गया था। ग्रन्थ की सारी सामग्री पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से ली गयी थी। ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ पर लेखक ने यह दोहा दिया था—

छात्रन हित व्याकरण यह, कीन्ह सरल तैयार।
भूल चूक जो होय कछु, पाठक लेंहि सुधार॥

बाबू भगवान प्रसाद :

बनारस के सब डिप्टी इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स बाबू भगवान प्रसाद ने सन् १९१३ ई० में अपर प्राइमरी कक्षाओं के लिए एक 'हिन्दी व्याकरण' लिखा था, जो उसी वर्ष बनारस कैण्ट, शिवपुर से प्रकाशित हुआ था। इसमें लेखक ने अत्यन्त सरल भाषा एवं सुबोध पद्धति से व्याकरण के स्थूल नियमों को समझाने का प्रयास किया था।

आगे चलकर, सन् १९१७ ई० में लेखक की 'भाषा सुधार' नामक व्याकरण सम्बन्धी एक दूसरी पुस्तक, महामण्डल प्रेस, बनारस सिटी से प्रकाशित हुई। पुस्तक-रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लेखक ने उसकी भूमिका में लिखा था कि "जिन विद्यार्थियों की घरेलू बोली ग्रामीण भाषा है, वे बोलने और लिखने में प्रायः निम्नलिखित अशुद्ध वाक्यों का प्रयोग करते हैं—मैं पाठशाले से आ रहा हूँ। पिताजी मुझे बुलाये हैं। गुरुजी मुझे छुट्टी नहीं दिया।—इन्हीं अशुद्धियों को दूर करने के लिए मैंने यह पुस्तक लिखी है। इसमें लिखे हुए तेरहों अभ्यासों को पढ़ने से मालूम हो जायगा कि यह पुस्तक सर्वसाधारण के लिए भी बहुत उपयोगी होगी, क्योंकि केवल विद्यार्थी ही नहीं अशुद्ध हिन्दी बोलते।" यह कुल ३२ पृष्ठों की सामान्य पुस्तिका थी।

इसमें काल-विवेचन के प्रसङ्ग में बाबू भगवान प्रसाद ने हेतुहेतुमद् को न केवल भूतकाल का, अपितु वर्त्तमान और भविष्य का भी अलग-अलग भेद

माना था। हेतुहेतुमद्वर्तमान का उदाहरण उन्होंने इस प्रकार दिया था—राम पढ़ता हो तो पढ़ने दो। इसी प्रकार, हेतुहेतुमद्भविष्य का—मोहन आवे तो मैं जाऊँ। हेतुहेतुमद्भूत के चार भेद माने थे—१. सामान्य हेतुहेतुमद्भूत—मैं आता तो वह जाता, २. आसन्न हेतुहेतुमद्भूत—राम आया हो तो उसे बुलाओ, ३. पूर्ण हेतुहेतुमद्भूत—वह आया होता तो मैं गया होता और ४. अपूर्ण हेतुहेतुमद्भूत—वह आता होता तो बीमार न पड़ता। हेतुहेतुमद् के सम्बन्ध में इस प्रकार के मौलिक विवेचन का प्रयास सम्भवतः, सर्वप्रथम बाबू भगवान प्रसाद ने ही किया था।

पं० विश्वेश्वर दत्त :

पं० विश्वेश्वर दत्त की 'हिन्दी व्याकरण प्रवेशिका' सन् १९१४ ई० ले जब्बलपुर के क्रिश्चन मिशन प्रेस से प्रकाशित हुई थी। यह एक सामान्य छात्रोपयोगी पुस्तक थी।

पं० रामावतार शर्मा :

पं० रामावतार शर्मा अपने समय में संस्कृत के दिग्गज विद्वानों में से थे। वे पटना कॉलेज में संस्कृत विभागाध्यक्ष थे। संस्कृत के पण्डित होने पर भी उनके उदार हृदय में हिन्दी के प्रति स्वाभाविक अनुराग था। उन्होंने एक 'हिन्दी-व्याकरण' की भी रचना की थी, जो सन् १९१४ ई० के आसपास पटने से प्रकाशित हुआ था। वह मुख्यतः संस्कृत व्याकरण के आधार पर ही लिखा गया था, किन्तु पण्डित जी ने उसमें हिन्दी के स्वरूप के स्वतन्त्र विवेचन का भी प्रयास किया था। पं० कामता प्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' में अनेक स्थलों पर पण्डित जी के मत उद्धृत हैं।

अध्यापक रामरत्न :

सन् १९१४ ई० में अध्यापक रामरत्न महोदय की दो पुस्तकें 'वाक्य-विश्लेषण और पदपरिचय' तथा 'चिह्नविचार' आगरा के कोरोनेशन प्रेस से एक ही साथ प्रकाशित हुई थीं। पहली पुस्तक में अँगरेजी व्याकरण की 'एनेलायसिस' और 'पार्जिङ्ग' की पद्धति पर हिन्दी वाक्यों का विश्लेषण और पदनिर्देश करना समझाया गया था। दूसरी पुस्तक में अँगरेजी के विराम-चिह्नों का परिचय देते हुए हिन्दी में उनके यथास्थान प्रयोग की विधि

समझायी गयी थी। ये दोनों पुस्तकें अति सामान्य होने पर भी उस युग के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी थीं।

विराम-चिह्नों की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने बताया था कि 'जब मनुष्य किसी से बातें करता है वा व्याख्यान देता है तो अपने भावों को ठीक-ठीक प्रकाशित करने के लिए अनेक प्रकार की चेष्टा करनी पड़ती है। अपने स्वर को मृदुल, सामान्य, कठोर तथा कभी-कभी बड़ा ही विचित्र बनाना पड़ता है। परन्तु जब वह अपने भावों को लिखकर दूसरे पर प्रकाशित करता है तो उन विविध चेष्टा, स्वर व भाव भेदों को प्रगट करने के लिए विविध चिह्नों का प्रयोग करना पड़ता है। पहले हिन्दी में (।) पाई को छोड़ दूसरे चिह्न काम में नहीं आते थे, परन्तु हिन्दी गद्योन्नति और प्रचार के साथ ही साथ अँगरेजो आदि भाषाओं से बहुत से चिह्नों का प्रयोग होने लगा है। हिन्दी में अबतक कोई इस विषय पर पुस्तक नहीं थी।''[१] लेखक ने अपने ग्रन्थ में निम्नलिखित चिह्नों और उनके प्रयोग की स्थितियों पर सामान्य रूप से प्रकाश डाला था—१. कामा, प्राथमिका वा पादविराम—(,), २. अर्द्धविराम—(;), ३. न्यूनविराम—(:), ४. पूर्णविराम—(।), ५. विस्मयादिबोधक और सम्बोधन—(!), ६. बन्धनी वा कोष्टक—(), ७. आदेशक—(:—), ८. योजक चिह्न—(-), ९. उद्धरण युगलपाश—(" "), १०. वर्जन—(....) और ११. त्रुटि—(‸)।

पं० श्यामजी शर्मा :

"पटना सिटी स्कूल के हेडपण्डित और आर्यावर्त्त मासिक पत्र के सम्पादक, आरा समीपवर्त्ती भदवर ग्राम निवासी पं० श्यामजी शर्मा काव्यतीर्थ रचित" 'हिन्दी शिक्षक व्याकरण' का दूसरा संस्करण सन् १९१६ ई० में पटना सिटी के राजनीति प्रेस में मुद्रित हुआ था। इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के समय का निश्चित पता नहीं चल सका। अनुमानतः यह सन् १९१२-१३ ई० में पहली बार प्रकाशित हुआ होगा। यह संस्कृत व्याकरण के आधार पर लिखा गया एक सामान्य छात्रोपयोगी व्याकरण था।

मुहम्मद अकबर खाँ हैदरी :

मुहम्मद अकबर खाँ हैदरी का 'द मुंशी—ए स्टैण्डर्ड हिन्दुस्तानी ग्रामर' पहली बार सन् १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह उर्दू का व्याकरण था,

१. अध्यापक रामरत्न, 'चिह्न विचार', उपक्रम।

जिसमें 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए न होकर निखालिश उर्दू के लिए किया गया था। हैदरी साहब ने यद्यपि इसे केवल उर्दू का व्याकरण कहा था, किन्तु इसमें अनेक बातें हूबहू हिन्दी व्याकरणों से मेल खाती थीं। यह ग्रन्थ उर्दू के छात्रों के बीच खूब चला। सन् १९४२ ई० तक इसके १४ संस्करण हो चुके थे और इसकी सत्तर हजार प्रतियाँ बिक चुकी थीं। इसके प्रारम्भ में व्याकरण, बीच में कोष तथा अन्त में अनेक एक्सरसाइज़ दिये गये थे।

पं० रामदहिन मिश्र :

पं० रामदहिन मिश्र का 'प्रवेशिका हिन्दी व्याकरण' सन् १९१८ ई० में 'ग्रन्थमाला कार्यालय', बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। स्वयं पण्डित जी के अनुसार उनका व्याकरण, उस समय तक हिन्दी में प्रकाशित सभी व्याकरणों से बड़ा था।[१] अपने व्याकरणों की अन्य विशेषताओं की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "कोई ऐसा व्याकरण नहीं हो सकता जिसमें एकदम सभी विषय नये ही हों। छोटे से छोटा और बड़ा से बड़ा कोई व्याकरण क्यों न हो, उसमें विषय एक ही से रहेंगे किन्तु उनके प्रकार और विचार नये हो सकते हैं। मैंने इसे प्रचलित अंग्रेजी व्याकरण के ढंग पर लिखा है। हिन्दी में यह मेरा ढंग कोई नया नहीं है। यों तो इस व्याकरण के सभी विषय सामयिक प्रचलित सभी व्याकरणों की अपेक्षा विस्तार के साथ लिखे गये हैं तथापि विभक्तियों के प्रयोग, वाक्यरचना, कृदन्त, समास, तद्धित आदि के प्रकरण कुछ बड़ा करके लिखे गये हैं।"[२]

हिन्दी के कतिपय शब्दों की व्युत्पत्ति पर पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा दिये गये भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी शब्दों के साधुत्व में बड़ी गड़बड़ है। एक व्याकरण में 'बनावट' शब्द कृदन्त और तद्धित दोनों के उदाहरण में है और दोनों में 'वट' प्रत्यय से ही बनाया गया है। यदि बनना धातु से 'वट' प्रत्यय करके यह शब्द बनाया जाय तो कृदन्त

---

१. "मुझे जहाँ तक विदित है, अब तक इतना बड़ा हिन्दी का व्याकरण हिन्दी में नहीं निकला है।"—पं० रामदहिन मिश्र, 'प्रवेशिका हिन्दी व्याकरण', वक्तव्य।

२. उपरिवत्।

हो सकता है पर तद्धितान्त नहीं। क्योंकि 'बना' कोई व्यवहृत शब्द नहीं जिससे 'वट' प्रत्यय करके तद्धितान्त शब्द बनाया जा सके। पर तद्धितान्त बनाने के लिए कोई-कोई वैयाकरण 'बनाव' शब्द में 'ट' प्रत्यय करते हैं। कितने वैयाकरण कसेरा, सुनार आदि शब्दों को कांस्यकार, स्वर्णकार आदि के अपभ्रंश मानते है और कितने 'काँसा' और 'सोना' शब्द से 'रा' और 'र' प्रत्यय करके तद्धितान्त शब्द बनाते हैं। ऐसे मतभेदबहुल विषयों में मैंने प्राचीनों का ही पथानुसरण किया है।"[1]

पण्डितजी ने अपने व्याकरण की रचना जिन पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों के आधार पर की थी, उनकी चर्चा करते हुए लिखा था कि "मैंने इस पुस्तक के लिखने के पूर्व आजतक के प्रायः सभी छोटे-बड़े हिन्दी व्याकरणों को देखा है। पं० केशवराम भट्ट कृत हिन्दी व्याकरण, भाषाभास्कर, भाषाप्रभाकर, भाषा वाक्य पृथक्करण आदि व्याकरणों से मुझे बड़ी सहायता मिली है। अंग्रेजी में लिखे हुए हिन्दी के एक-दो व्याकरणों और अंग्रेजी बंगला के भी एक-दो व्याकरणों को उपयोग में लाया हूँ।"[2]

बाबू रामलोचन शरण :

रामलोचन शरण जी का 'हिन्दी व्याकरण चन्द्रोदय' सन् १९१८ ई० में पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, दरभङ्गा से प्रकाशित हुआ था। वह व्याकरण अनेक वर्षों तक बिहार के स्कूलों में पाठ्यग्रन्थ के रूप में बना रहा। आगे चल कर, शरणजी ने उसी के आधार पर स्कूल की भिन्न-भिन्न कक्षाओं के लिए और भी कई छात्रोपयोगी व्याकरणों की रचना की, जिनमें 'ग्रपर व्याकरण बोध' की विशेष ख्याति हुई।

जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी :

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने बम्बई के नवम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सभापति के पद से 'हिन्दी लिङ्ग विचार' के सम्बन्ध में एक निबन्ध पढ़ा था, जो रोचक होने के साथ-ही-साथ अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण तथा प्रमाणपुष्ट तथ्यों से युक्त था। उस निबन्ध का पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १९१९ ई० में पं० भोलानाथ शर्मा चतुर्वेदी के द्वारा ५, मुक्ताराम रो, कलकत्ता से हुआ।

---

१. पं० रामदहिन मिश्र, 'प्रवेशिका हिन्दी व्याकरण', वक्तव्य।
२. उपरिवत्।

पुस्तक में चतुर्वेदी जी ने लिङ्ग-विधान की दृष्टि से हिन्दी की तुलना अन्यान्य कतिपय भाषाओं से करते हुए यह प्रमाणित किया था कि हिन्दी-शब्दों का लिङ्ग-विधान किसी भी भाषा की अपेक्षा अधिक नियमित और भाषा की वैज्ञानिकता का पोषक है। इस मत के विपरीत विचार रखने वाले विद्वानों की युक्तियों का सप्रमाण खण्डन करते हुए अपने मत के समर्थन में उन्होंने अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के मत का साक्ष्य प्रस्तुत किया था।

पुस्तक में अन्यान्य विद्वानों के अतिरिक्त मिश्रबन्धुओं का विशेष रूप से नामोल्लेख करते हुए चतुर्वेदी जी ने 'मिश्रबन्धु विनोद' में हिन्दी लिङ्ग के सम्बन्ध में व्यक्त उनके विरोधी विचारों के लिए अत्यन्त व्यङ्ग्यपूर्ण शली में, अकाट्य युक्तियों के सहारे, बड़ी कटु आलोचना की थी। लिङ्ग-विधान की कठिनता को हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने में बाधक मानन वाले लोगों का मुँह बन्द करने के उद्देश्य से उन्होंने लिखा था कि "सज्जनो, हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बाधा डालते हैं या नहीं यह अभी विचारणीय नहीं है। अभी तो यह विचारना है कि लिंग के प्रयोग में इतनी विभिन्नता क्यों है और उसके सुधार का उपाय क्या है? साथ ही यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि मैं अंग-भंग कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में नहीं। 'वा सोने को बारिये जासों टूटे कान।' मैं हिन्दी की वैसी उन्नति नहीं चाहता जिससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो। इसके सिवा हिन्दी अपनी सरलता और व्यापकता के कारण स्वयं ही राष्ट्रभाषा बन गयी है और बनती चली जा रही है। बाकी रही लिंग के प्रयोग की कठिनता सो वह शिक्षा और अभ्यास से दूर हो सकती है।"[१]

हिन्दी-शब्दों के लिङ्ग-विधान में एकरूपता के अभाव के कारणों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी के लिंग पर लोगों की इतनी बड़ी नजर क्यों है? इसलिये कि कुछ पंडिताभिमानी अहम्मन्य लेखकों ने इसका दुरुपयोग किया है और कर रहे हैं। मनमाने तौर से लिंग का प्रयोग हो रहा है। इसका कारण हिन्दी शिक्षा और समालोचना का अभाव है। अगर सीख कर लोग हिन्दी लिखें तो ऐसी गड़बड़ न हो। कोई तो अँगरेजी के सहारे हिन्दी का सुलेखक बन जाता है और कोई संस्कृत के। कुछ करीमा और मामकीमा पढ़कर और कुछ बिना कुछ पढ़े ही हिन्दी के सुलेखक और

१. ज० प्र० च०, 'हिन्दी-लिङ्ग-विचार', पृ० १३।

सुकवि बन बैठते हैं। हमारे संस्कृत के पण्डित जी महाराज आत्मा को कभी साड़ी न पहनावेंगे क्योंकि उसके सिर पर संस्कृत प्रणाली से पगड़ बाँधते आये हैं। इसी तरह स्वाहा के रहते पण्डित जी अग्नि को कभी स्त्री० न मानेंगे और न देवता को वह पु० ही मानेंगे क्योंकि संस्कृत में अग्नि पु० और देवता स्त्री० है। इसी तरह वायु, महिमा, अंजली, तान, शपथ, धातु, देह, जय, मृत्यु, सन्तान, समाज, ऋतु, राशि, विधि आदि शब्दों में झगड़ा है क्योंकि संस्कृत में ये पु० हैं पर हिन्दी में स्त्री० हैं। हिन्दी लिखने के समय इनका प्रयोग हिन्दी के अनुसार ही होना उचित है। अब उर्दू वाले की लीला सुनिये। वह 'धरमसाले' में 'पाठसाले' का चर्चा कर 'मोहनमाले' से 'अपना मान मर्य्यादा' बढ़ाते हैं। पर हिन्दी वाले ऐसा नहीं करते। वह बहुत करेंगे तो अपनी 'कबीला' की 'हुलिया' अपनी 'तायफा' को बता 'उमदी धोती' न दे 'बेहूदी बातें' बक 'ताजी खबरें' सुनावेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्य्यादा आदि सब स्त्री० हैं पर उर्दू वालों ने इन्हें पु० बना दिया है। इसी तरह कबीला, हुलिया, तायफा पु० है पर हिन्दी के रंग-रूटों ने इन्हें स्त्री० कर डाला है। उमदा, बेहूदा, ताज़ा वगैरह लफ्ज स्त्री० के लिये कभी उमदी, बेहूदी, ताजी नहीं बनते। इनका रूप सदा एक सा रहता है।"[१]

विभिन्न प्रान्तों में पायी जानेवाली हिन्दी-शब्दों के लिङ्ग-प्रयोग की विभिन्नता की चर्चा करते हुए चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि "हिन्दी के लिंग विभाग पर प्रायः सबही प्रान्तवाले कुछ न कुछ अत्याचार करते हैं पर बेचारे बिहारी बन्धु ही बदनाम हैं। इसका कारण समझ में नहीं आया। अगर बिहार में 'हाथी विहार करती है' तो पंजाब में 'तारें आती' हैं और युक्त प्रान्त के काशी-प्रयाग में लोग 'अच्छी शिकारें मारकर लम्बी सलामें' करते हैं। अगर बिहार में 'दही खट्टी' होती है तो मारवाड़ में 'बुखार चढ़ती है', 'जनेऊ उतरती है' और कानपुर की जुही के मैदान में 'बून्द गिरता है' और 'रामायण पढ़ा जाता' है। बिहार में 'हवा चलता' है तो झालड़ापाटन में 'नाक कटता' है और मुरादाबाद में 'गोलमाल मचती' है। फिर बिहार ही क्यों बदनाम है?"[२]

हिन्दी शब्दों के लिङ्ग-निर्णय में कोषकारों की मनमानी का उल्लेख करते हुए चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि "कुछ गड़बड़ कोषकारों ने भी की है।

१. ज० प्र० च०, हि० लि० वि०, पृ० १३–१५।

२. उपरिवत्, पृ० १५–१६।

पादरी क्रेवन अपनी 'रायल डिक्शनरी' में अफवाह और भूख को पु० लिखते हैं। अँगरेजों की बात जाने दीजिये, हमारे हिन्दीवाले भी 'तथैव च' हैं। किसी ने संस्कृत लिंग का सहारा लिया और किसी ने उर्दू फारसी का। और कुछ ने तो दोनों की खिचड़ी पकायी है। हिन्दी का माननीय कोष एक भी नहीं जिसके भरोसे हिन्दी का लिंग ठीक हो सके।"[१]

लिङ्ग की गड़बड़ी के अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि "सबसे बढ़कर हैं वज़न पर लिंग बनाने वाले। उनका कहना है कि बन्दूक स्त्री० है तो सन्दूक को भी स्त्री० होना चाहिये क्योंकि इन दोनों का वज़न यानी तुक एक है। इसी तरह मकान के वज़न पर दुकान को पु० या दुकान के वज़न पर मकान को स्त्री० होना चाहिये। समास और सन्धि-युक्त पदों के लिंग में भी लोग गड़बड़ करने लगे हैं। ऐसे स्थानों में उत्तर शब्द के अनुसार ही समस्त पद का लिंग होता है जैसे इच्छानुसार ईश्वरेच्छा। इसी नियम के अनुसार चालचलन और व्यौहार भी पु० है पर केलॉग साहब ने इन्हें स्त्री० बताया है। 'भली भाँति' की जगह 'भली प्रकार और अच्छी तरह की जगह 'अच्छी तौर' से लिखने की चाल चली है पर यह तौर अच्छा नहीं और न प्रकार ही भला है।"[२]

हिन्दी को अनुचित रूप से संस्कृत के मार्ग पर खींच ले जाने की असफल चेष्टा करने वाले संस्कृत पण्डितों पर व्यंग्य करते हुए चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि "संस्कृत के कुछ प्रेमी हिन्दी में भी अपने संस्कृत प्रेम का परिचय दे हिन्दी को असंस्कृत कर रहे हैं। वह लोग 'शृंगार सम्बन्धिनी चेष्टा', 'उपयोगिनी पुस्तक', 'कार्यकारिणी सरकार', 'परोपकारिणी वृत्ति', 'प्रभावशालिनी वक्तृता', 'मनोहारिणी कविता' ही नहीं 'प्रबला स्त्री' का भी प्रयोग करने लगे हैं। अब 'भविष्यत् पत्नी' और 'भावी पत्नी' के स्थान पर 'भविष्यन्ती पत्नी' और 'भाविनी पत्नी' के दर्शन होंगे। फिर 'सुन्दरा कन्या', 'पवित्रा धर्मशाला' में 'विदुषी व्यक्तियों' से 'संस्कृता भाषा' पढ़ेगी। इधर 'नागरी प्रचारिणी सभा' के रहते हिन्दी साहित्य सम्मेलन की 'स्थायी समिति' 'अभागी हिन्दी' की 'शोचनीय स्थिति' देख 'स्वतन्त्रतावादी महिला' की भाँति 'प्रभावशाली देवता' से प्रार्थना कर रही है। इससे हिन्दी बोलने वाली

---

१. ज० प्र० च०, हि० लि० वि० पृ० १६।

२. उपरिवत्, पृ० १६–१७।

व्यक्तियाँ हस्तिनी शंखिनी के साथ कहीं 'कुलिनी' पुरुषिनी' न बन जायँ। ऐसी अवस्था में हिन्दी साहित्य सम्मेलन को प्रचार के विचार में ही सारा अधिकार न लगा हिन्दी के उपकार के लिये सौ काम छोड़ कर इसके सुधार की ओर सब प्रकार से ध्यान देना उचित है।"[१]

अन्त में अपना निष्कर्ष देते हुए चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि "भ्रम, भूल, हठ, दुराग्रह, प्रान्तीयता चाहे जिस कारण से हो हिन्दी में उभयलिंगी शब्दों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है। यह हिन्दी के लिए हानिकारक है। यदि यही दशा रही तो अनर्गलता बढ़ जायगी। इसलिये मेरी राय है कि पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० श्रीधर पाठक और पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की एक समिति बना ली जाय जो समाज, पुस्तक, साँस, आत्मा, हठ, सामर्थ्य, प्रलय, यज्ञ, पीतल, कुशल आदि शब्दों का लिंग निर्णय कर दें, वही शुद्ध माना जाय।"[२]

हिन्दी के मानक स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "प्रान्तीयता का प्रेम छोड़कर दिल्ली, मथुरा, आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सबको करना चाहिये क्योंकि मेरी समझ में यहीं के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं। और प्रान्तों के प्रयोग इनके प्रयोग के सामने कट जायँगे क्योंकि हिन्दी की जन्मभूमि यही है और यहीं के निवासी अहलेज़्वाँ हैं। दिल्ली, मथुरा, आगरा इन तीनों में मतभेद हो तो आगरे को प्रधानता देनी चाहिये क्योंकि हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवि अधिकांश आगरे के आसपास हुए हैं।"[३]

चतुर्वेदी जी की यह पुस्तक हिन्दी के लिङ्ग-विधान को सही रूप से स्पष्ट करने में बहुत सहायक और उपयोगी सिद्ध हुई थी।

पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी :

पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की 'हिन्दी कौमुदी' सन् १९१९ ई० में प्रतापनारायण वाजपेयी के द्वारा ३०, चासा धोबापाड़ा स्ट्रीट, कलकत्ता से प्रकाशित की गयी थी। भूमिका में ग्रन्थ का परिचय देते हुए वाजपेयी जी ने

१. ज० प० च०, हि० लि० वि०, पृ० १७।

२. उपरिवत्, पृ० १८।

३. उपरिवत्, पृ० १८।

लिखा था कि "आज हिन्दी के वैयाकरणों और शिक्षकों के सामने बड़े संकुचित चित्त से यह व्याकरण रखा जाता है, क्योंकि इसमें कई बातें ऐसी हैं जो उन्हें सर्वथा नयी प्रतीत होंगी और इस समय यह जानना असम्भव है कि वे उन्हें कहाँ तक स्वीकृत होंगी। परन्तु जो बातें इस पुस्तक में उन्हें नयी जँचें और जिन्हें स्वीकार करने को उनका जी न चाहे, उन पर यदि वे पूर्व संस्कारों को त्याग कर विचार करेंगे, तो आशा है कि बहुत सा मतभेद दूर हो जायगा।"

अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा था कि "हिन्दी कौमुदी लिखना आरम्भ करने के पहले हमने भारतवासियों और विदेशियों के लिखे कोई २५-३० व्याकरण देखे थे, जिनमें सर्वश्रेष्ठ व्याकरणों और उनके लेखकों की नामावली तथा छपने का समय अन्यत्र दिया गया है। इन व्याकरणों में पूर्णता और खोज की दृष्टि से पादरी केलॉग के हिन्दी ग्रामर का नम्बर पहला और पं० केशवराम भट्ट के हिन्दी व्याकरण का दूसरा है। पादरी केलॉग के विदेशी होने तथा उस समय व्याकरण की बातों के ज्ञान का यथेष्ट विकास न होने के कारण उनके व्याकरण में बहुत सी त्रुटियाँ और भूलें रह गयी हैं। परन्तु जिस समय वह लिखा गया, उस समय तथा उसके बाद वैसा भी व्याकरण किसी भारतवासी ने नहीं बनाया, यह हमारे लिए बड़ी ही लज्जा और खेद की बात है। हमारी समझ से प्रत्येक व्याकरण लेखक को लिखना आरम्भ करने के पहले केलॉग का हिन्दी ग्रामर अवश्य पढ़ लेना चाहिये।"

'हिन्दी कौमुदी' में भाषा के जिन अङ्गों पर प्रकाश डाला गया था; उनकी चर्चा के प्रसङ्ग में वाजपेयी जी ने लिखा था कि "हिन्दी व्याकरण के वर्ण, शब्द और वाक्यरचना इन तीन अङ्गों का ही विचार 'हिन्दी कौमुदी' में किया गया है। ऐसा क्यों हुआ और छन्दशास्त्र का विचार क्यों नहीं किया गया यह यथास्थान बतलाया गया है। हिन्दी में विरामादि चिह्नों का प्रयोग अब अच्छी तरह चल पड़ा है, इसलिये उनके प्रयोग के नियम भी होने चाहिये। यद्यपि यह पाश्चात्य प्रथा है और संस्कृत, प्राकृत या हिन्दी व्याकरण से इसका सम्बन्ध नहीं लगाया गया है (केवल पं० केशवराम भट्ट के व्याकरण में चिह्न विचार मिलता है,) इसलिये हिन्दी व्याकरण में इसे स्थान नहीं मिल सकता, तथापि आजकल इस प्रकरण की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती,

इससे हिन्दी के विद्यार्थियों के सुभीते के लिए परिशिष्ट में 'चिह्नप्रकरण' दिया गया है। आजतक जितने व्याकरण देखने में आये हैं और जो नये तैयार हो रहे हैं, उन सबमें सन्धिप्रकरण संस्कृत व्याकरण से उठाकर रख दिया गया है। हिन्दी व्याकरण में संस्कृत का सन्धिप्रकरण ठीक नहीं जान पड़ता; परन्तु हिन्दी में भी सन्धि है इसका विचार किसी ने नहीं किया और एक आध वैयाकरण ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि हिन्दी में सन्धि और समास नहीं है। हमारे मत से हिन्दी में सन्धि और समास दोनों हैं और हिन्दी कौमुदी के सन्धि-प्रकरण में हिन्दी की ही सन्धि लिखी गयी है। पर आजकल हिन्दी में तत्सम शब्दों का प्रयोग दिनोंदिन बढ़ता जाता है, इसलिये परिशिष्ट में संस्कृत की सन्धि भी दे दी गयी है, क्योंकि हिन्दी के विद्यार्थी के लिये इसका जानना आवश्यक है।"

पूर्ववर्त्ती व्याकरणों की अपेक्षा 'हिन्दी कौमुदी' में वाजपेयी जी ने जिन विषयों पर, पहले-पहल, मौलिक रूप से विचार किया था, वे उनके अनुसार निम्नलिखित हैं—१. वर्णों के उच्चारण के नियम, २. शब्दों के उच्चारण के नियम, ३. हिन्दी की सन्धि, ४. स्त्रीलिङ्ग से पुल्लिङ्ग बनाने के कुछ नियम, जो किसी भाषा के व्याकरण में आज तक नहीं देखे गये, ५. स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग शब्दों की पहचान के नियम, ६. शब्दों की साधना विभक्तियों के अनुसार, ७. संस्कृत की तरह क्रिया में वाच्यों का प्रयोग तथा कर्मप्रधान और भावप्रधान क्रिया सम्बन्धी मत का त्याग, ८. क्रियापदों के सम्बन्ध में शब्दशास्त्र सम्बन्धी शोध और भविष्यकालिक क्रिया की कल्पना पर मत, ९. यौगिक क्रियाओं का श्रेणी विभाग और विचार, १०. प्रेरणार्थक क्रिया के रूपों तथा अर्थों का स्पष्टीकरण, ११. कृदन्त और तद्धित प्रत्ययों का विस्तृत विवेचन, १२. शब्दों और विभक्ति प्रत्ययों तथा क्रियापदों का अर्थ निर्णय, १३. पदयोजना सम्बन्धी विशेष नियम।

भूमिका के अन्त में वाजपेयी जी ने लिखा था कि "हिन्दी-कौमुदी के लिये यह दावा नहीं किया जा सकता कि यह सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण है, यद्यपि सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण लिखने की प्रवृत्ति ही इसके प्रणयन का कारण है। यह छोटे विद्यार्थियों के लिये लिखी गयी है और लघुकौमुदी है, पर शब्दशास्त्र के अनुसार बनने के कारण बड़े विद्यार्थी भी इससे लाभ उठा सकते हैं। यदि हिन्दी के अधिकारियों ने इसका आदर किया तो उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों के लिये सिद्धान्त कौमुदी लिखने का विचार किया जायगा।"

वाजपेयी जी ने व्याकरण को वर्णविचार, शब्दविचार और वाक्यविचार के तीन भागों में विभक्त किया था। वर्णविचार के अन्तर्गत हिन्दी वर्णों की संख्या उन्होंने ४९ मानी थी, जिनमें ११ स्वर, ३५ व्यञ्जन और ३ अयोगवाह थे। स्वरों के अन्तर्गत ऋ, लृ और ल्ह को स्थान नहीं दिया था। व्यञ्जनों में ड़ और ढ़ भी सम्मिलित किये गये थे। विसर्ग, अनुस्वार और अर्द्धानुस्वार के सम्बन्ध में बताया गया था कि "विचारने पर ये न तो स्वर सिद्ध होते और न व्यञ्जन ही। इसलिये संस्कृत के अनुसार हमने इन्हें अयोगवाह लिखा है। हिन्दी में साधारणतः अनुस्वार से ही अर्द्धानुस्वार का काम लिया जाता है।"[1] इसके पश्चात् संस्कृत व्याकरण के आधार पर स्थान तथा प्रयत्न की दृष्टि से ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया था।

कुछ विशिष्ट ध्वनियों के 'उच्चारण करने की रीति' की चर्चा के प्रसङ्ग में वाजपेयी जी ने लिखा था कि "हिन्दी में ऋ का उच्चारण रि की भाँति ही किया जाता है। इसलिये पुराने पद्यग्रन्थों में ऋ के बदले रि का ही प्रयोग देखा जाता है। हिन्दी में ए, ऐ, ओ और औ इन चार अक्षरों के दो-दो उच्चारण होते हैं। जैसे—एकाई, जैसा, मोहल्ला, और तथा एक, बिलैया, मोदक, कौआ। ए और ओ का पहला उच्चारण एकमात्रिक है। एकमात्रिक ए और ओ के बदले इ और उ लिखने की चाल भी हिन्दी में है। ङ का उच्चारण कण्ठ और नासिका की सहायता से होता है, पर नासिका का प्राधान्य इसलिये है कि दाँत पर दाँत रखकर भी इसका उच्चारण अनायास हो सकता है। अपने वर्ग के अक्षर के साथ हिन्दी में इसका उच्चारण होता है, स्वतन्त्र नहीं। ञ और ण की भी यही अवस्था है। तालु में सारी जीभ फैलाकर दबाने से ञ का और जीभ की नोक को उलटकर तालु में लगाने से ण का उच्चारण होता है। ड़ का उच्चारण भी ण की तरह होता है, पर भेद इतना ही है कि इसके उच्चारण में नासिका से सहायता नहीं ली जाती। ढ़ ड़ का महाप्राण है। इन पाँच अक्षरों में किसी से कोई शब्द प्रारम्भ नहीं होता। पर पिछले तीन अक्षर शब्द के अन्त में और अन्तिम दो शब्द के मध्य में आते हैं। हिन्दी में य, व और ष का उच्चारण ज, ब और ख की तरह भी किया जाता है और पुरानी कविता में तो प्रायः इनका भेद ही नहीं माना गया।"[2]

---

१. अ० प्र० वा० हि० कौ०, पृ० ३।

२. उपरिवत्, पृ० ६–७।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् वाजपेयी जी ने 'वर्ण लिखने की रीति' को विस्तार से समझाया था। इसके अन्तर्गत हल् एवं मात्राओं के प्रयोग के नियम के अतिरिक्त संयुक्ताक्षर बनाने की पद्धति पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया था। फिर, 'शब्दों के उच्चारण के नियम' बताते हुए वाजपेयी जी ने लिखा था कि "हिन्दी में सभी शब्द स्वरान्त लिखे जाते हैं, पर सभी अकारान्त शब्दों का उच्चारण व्यञ्जनान्त होता है; जैसे भारत, राम यहाँ त और म स्वरान्त है, पर इनका उच्चारण इस प्रकार होता है, मानो त और म में अकार नहीं है। दो अकारान्त अक्षरों के शब्दों का उच्चारण करने के समय दूसरा हलन्त या व्यञ्जनान्त बोला जाता है, जसे—कल, बल। इसी प्रकार तीन अक्षरों के शब्दों में तीसरा, चार में दूसरा और चौथा, पाँच में तीसरा और पाँचवाँ हलन्त उच्चारित होता है, जैसे कलम, कमरख, गपड़-चौथ आदि।"[1]

सन्धिप्रकरण में वाजपेयी जी ने हिन्दी की सन्धि पर मौलिक रूप से विचार किया था। उनके पूर्व किसी भी वैयाकरण का ध्यान इस ओर नहीं गया था। संस्कृत-सन्धि की चर्चा उन्होंने ग्रन्थ के परिशिष्ट में की थी। हिन्दी में होनेवाली सन्धि के उन्होंने दो भेद माने थे—स्वर-सन्धि और व्यञ्जन-सन्धि। स्वर-सन्धि के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "जब दो स्वरों में सन्धि होती है, तब पहले अक्षर के पूर्व यदि कोई दीर्घ स्वर होता है, तो वह ह्रस्व हो जाता है। पर यदि उसका ह्रस्व रूप नहीं होता, तो उसका उच्चारण एकमात्रिक या ह्रस्व होता है अथवा उसके मेल का ह्रस्व स्वर लिखा और उच्चारण किया जाता है, जैसे ह्रस्व ए की जगह इ और ह्रस्व ओ की जगह उ।"[2] स्वर-सन्धि के उन्होंने ४ भेद माने थे—दीर्घ, गुण, वृद्धि और यण्। इनका परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया था—"दीर्घ सन्धि में अ वा आ के बाद आ रहने से दोनों मिलकर आ हो जाते हैं; जैसे लड़+आई—लड़ाई, भूल+आवा—भुलावा, राजपूत+आना—राजपूताना, बूढ़ा+आपा—बुढ़ापा। इसी प्रकार, इ के बाद ई रहने से दोनों मिलकर ई हो जाते हैं; जैसे दिई—दी, किई—की, लिई—ली, पिई—पी, सिई—सी। गुण सन्धि में अ के बाद ई रहने से दोनों मिलकर ऐ तथा अ के बाद ऊ रहने से दोनों मिल

---

१. अ० प्र० वा०, हि० कौ०, पृ० १०।

२. उपरिवत्, पृ० ११।

कर औ हो जाते हैं। पर, दीर्घ सन्धि होने के बाद जो स्वरूप बनता है, उसी में गुण सन्धि होती है; जैसे, भाई + इया—भईआ—भैया, गाई + इआ—गईआ—गैया, माई + इआ—मईआ—मैया, नाऊ + आ—नऊआ—नौआ, झाऊ + आ—झऊआ—झौआ। वृद्धि सन्धि में अ वा आ के बाद ऐ रहने से दोनों मिल कर ऐ हो जाते हैं और अ वा आ के बाद औ रहने से दोनों मिल कर औ हो जाते हैं; जैसे, परख + ऐआ—परखैआ, गोड़ + ऐत—गोड़ैत, डाका + ऐत—डकैत, बाप + ओती—बपौती, चूना + ओटी—चुनौटी। यण सन्धि में ई के बाद आ रहने से दोनों मिल कर या और ऊ के बाद ई रहने से दोनों मिल कर वी हो जाते हैं; जैसे, पी + आस—प्यास, लखनऊ + ई—लखनवी।"[१]

व्यञ्जन-सन्धि का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था कि "जब दो अक्षरों में सन्धि होती है, तब पहले अक्षर में दुहरा व्यञ्जन हो, तो इकहरा रह जाता है और फिर सन्धि होती है। जब अ आ ई के बाद इ ई ऊ ए औ होते हैं तब अ आ ई स्वरों का लोप हो जाता है और व्यञ्जनों के बाद के स्वरों की सन्धि होती है; जैसे, माखन + इया—मखनिया, लात + इयल—लतियल, सोंटा + इया—सोटिया, धोबी + इया—धोबिया, बंगाल + ई—बंगाली, गर्ज + ऊ—गर्जू, डाका + ऊ—डाकू, कुत्ता + इया—कुतिया, बिल्ली + आव—बिलाव, लूट + एरा—लुटेरा, बहन + ओई—बहनोई। जब ए के बाद आ होता है, तब ए का लोप हो जाता है और व्यञ्जन के साथ आ की सन्धि होती है, जैसे पांड़े + आइन—पंडाइन, चौबे + आइन—चौबाइन। जब किसी शब्द के अन्त में ब हो और उसके बाद 'ही' आवे तो ब के अ का लोप हो जायगा और ब 'ही' मिल कर 'भी' हो जायगी; जैसे, अब + ही—अभी, जब + ही—जभी आदि। जब किसी शब्द के अन्त में ह या हाँ हो और उसके बाद 'ही' आवे तो ह या हा का लोप हो जायगा और शब्द का जो टुकड़ा बचेगा, ही के साथ ही उसकी सन्धि होगी; जैसे, मुंह + ही—मुंही, कहां + ही—कहीं, यहां + ही—यहीं, वहां + ही—वहीं। हम और तुम शब्द के बाद जब 'ही' आती है, तो म के अकार और ही के हकार का लोप हो जाता है और फिर सन्धि होती है; जैसे, हम + ही—हमी, तुम + ही—तुमी। तुम शब्द के साथ ही की सन्धि करने के समय कभी ही के ह का लोप नहीं

१. [illegible], हि० कौ०, पृ० ११-१२।

भी करते; जैसे, तुम+ही—तुम्ही। इस, उस, जिस, किस, तिस के बाद जब 'ही' आती है, तब ही के हकार का लोप हो जाता है और ई के साथ पूर्व अक्षर की सन्धि होती है; जैसे—इस+ही—इसी, उस+ही—उसी आदि। इन, उन, जिन, किन, तिन के बाद जब 'ही' आती है तब न के अकार का लोप कर दिया जाता है और न् ही में मिल कर न्ही हो जाता है; जैसे, इन+ही—इन्ही, उन+ही—उन्ही आदि। ध के बाद ह होने से ह का लोप हो जाता है और बचे हुए अक्षरों में सन्धि होती है; जैसे, दूध+हांड़ी—दुधांड़ी। क के बाद क होने से पहले क का लोप हो जाता है; जैसे, नाक+कटा—नकटा। त के बाद द रहे तो दोनों मिल कर द्द हो जाते हैं; जैसे, पोत+दार—पोद्दार।"[1]

वाजपेयी जी द्वारा निरूपित हिन्दी के सन्धि-नियमों में यों तो अनेक त्रुटियाँ एवं अपवाद ढूँढ़े जा सकते हैं, फिर भी हिन्दी व्याकरण के इतिहास में उनका यह प्रयास, हिन्दीभाषा के विश्लेषण की दृष्टि से, सर्वथा अभिनव एवं स्तुत्य था।

शब्दविचार के अन्तर्गत वाजपेयी जी ने सर्वप्रथम शब्दों के सार्थक और निरर्थक दो भेद किये थे और व्याकरण को केवल सार्थक शब्दों का नियामक माना था। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सार्थक शब्दों को उन्होंने तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी, चार वर्गों में तथा अन्य प्रकार से संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय, पाँच वर्गों में विभक्त किया था। उपसर्ग एवं प्रत्यय का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था कि "जिनके योग से शब्दों की अवस्था एवं अर्थ में अन्तर पड़कर सिद्ध पद बनता है, वे उपसर्ग और प्रत्यय कहाते हैं। शब्द के आगे जुड़ने वाले उपसर्ग और पाछे जुड़ने वाले प्रत्यय होते हैं।"[2] प्रत्यय को उन्होंने चार वर्गों में बाँटा था; विभक्ति-प्रत्यय अथवा कारकान्त चिह्न, तद्धित प्रत्यय, क्रिया प्रत्यय और कृत् प्रत्यय या कृदन्त। क्रिया प्रत्यय और कृत् प्रत्यय या कृदन्त का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि धातु में जिन प्रत्ययों के लगने से क्रिया पद बनते हैं, वे क्रिया प्रत्यय और जिनके लगने से संज्ञा या विशेषण बनते हैं वे कृदन्त या कृत् प्रत्यय कहलाते हैं।

१. अ० प्र० वा०, हि० कौ०. पृ० १३–१४।

२. उपरिवत्, पृ० १५।

संज्ञा के विवेचन में उन्होंने व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसके तीन भेद, रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि तथा अर्थ की दृष्टि से उसके चार भेद; नामवाचक, जातिवाचक, गुणवाचक और भाववाचक माने थे। गुणवाचक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि जिसमें किसी प्रकार का गुण पाया जाय, उसे गुणवाचक संज्ञा कहते हैं; जैसे मिठाई, खटाई आदि।

संज्ञा के लिङ्ग पर विस्तार से विचार करते हुए अप्राणिवाचक शब्दों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "अप्राणिवाचक शब्दों के स्त्रीलिङ्ग से हीनता वा छुटाई का भाव निकलता है।"[१] हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत तथा अरबी के शब्दों के लिङ्ग के सम्बन्ध में भी उन्होंने व्यवस्था देने की चेष्टा की थी तथा पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनाने वाले प्रत्ययों का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया था।

'शब्दों की साधना' के निमित्त हिन्दी में वाजपेयी जी ने केवल ६ विभक्तियों को ही मान्यता दी थी जिनके चिह्न निम्नलिखित हैं—

	एकवचन	बहुवचन
पहली	—	ए
दूसरी	को	ओं को
तीसरी	ने	ओं ने
चौथी	से	ओं से
पाँचवीं	में	ओं में
सम्बोधन	ए	ओ

इन्हीं के आधार पर उन्होंने भिन्न-भिन्न स्तरों से अन्त होने वाली संज्ञाओं की साधना प्रस्तुत की थी। सर्वनाम शब्दों की साधना में सम्बोधन के हट जाने पर कुल पाँच विभक्तियाँ ही मानी गयी थीं। सर्वनाम के पुरुषवाचक, सम्बन्ध-सूचक, प्रश्नवाचक, अनिश्चयवाचक, आदरसूचक और निजत्वसूचक ६ भेद किये गये थे।

वाजपेयी जी ने कारकों की संख्या छह मानी थी, कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। उन्होंने लिखा था कि कर्त्ता में पहली, दूसरी, तीसरी या चौथी विभक्ति होती है; जैसे—मोहन आया, मुझे खाना है, सोहन ने रोटी खायी और मुझसे पेड़े खाये गये। कर्म में पहली और

---

१. [illegible], हि० कौ०, पृ० [illegible]

दूसरी विभक्तियाँ होती हैं; जैसे, वह पुस्तक पढ़ता है, मोहन आदमी को मारता है। करण में चौथी विभक्ति होती है; जैसे, मैं रेल से विलायत जाऊँगा। अपादान में भी चौथी विभक्ति होती है; जैसे, खान से सोना निकलता है। सम्प्रदान में दूसरी विभक्ति होती है; जैसे, भिखारी को भिक्षा दो।

सम्बन्ध और सम्बोधन का सम्बन्ध क्रिया से नहीं होने के कारण उन्होंने इन दोनों को कारक नहीं माना था। सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "दो वस्तुओं में मेल बताने में सम्बन्धकारक का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी में सम्बन्ध बताने वाली कोई विभक्ति नहीं है, इसलिये का, रा, ना, या, वाला, हारा, इन सम्बन्धवाची प्रत्ययों से काम लिया जाता है। इन प्रत्ययों के जुड़ने के पहले शब्दों में उसी प्रकार विकार होता है, जिस प्रकार विभक्तियाँ लगने पर। वास्तव में, हिन्दी में सम्बन्धकारक नहीं है और उक्त प्रत्ययों के योग से जो शब्द वनते हैं, वे विशेषण मात्र हैं; क्योंकि आगे आनेवाले विशेष्य के अनुसार ही इनके लिङ्ग-वचन होते हैं। इन प्रत्ययों के लगाने से आकारान्त पुल्लिङ्ग एकवचन शब्द ही बनते हैं। इन शब्दों के पुल्लिङ्ग बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग रूप आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों की भाँति ही बनाये जाते हैं; जैसे, घोड़े का अस्तबल, हमारा मकान, ममेरा भाई, अपना घर, पराया महल, आमवाला, पनिहारा, लकड़िहारा। स्त्रीलिङ्ग में ये रूप होते हैं—घोड़े की लगाम, हमारी किताब, ममेरी बहन, अपनी झोपड़ी, परायी कोठरी, आमवाली, पनिहारी, लकड़हारी।"[1] सम्बोधन के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि किसी को पुकारने, धिक्कारने, शोक वा हर्ष से उसका नाम लेने से सम्बोधन विभक्ति प्रयुक्त होती है।

विशेषण का सामान्य विवेचन करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया था कि हिन्दी के आकारान्त विशेषण के अतिरिक्त और किसी में लिङ्ग-वचन का भेद नहीं होता। कुछ संस्कृताभिमानी पण्डितों के द्वारा हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत विशेषणों में भी लिङ्ग-भेद करने की प्रवृत्ति का उन्होंने विरोध किया था।

क्रियाप्रकरण में वाजपेयी जी ने बताया था कि "हिन्दी में शुद्ध क्रियापद, जिसे संस्कृत में तिङन्त कहते हैं, नहीं के बराबर है। इसलिये कृत् प्रत्ययों तथा

---

१. अ० प्र० वा०, हि० कौ०, पृ० ३८–३९।

दो क्रियाओं के योग से अन्य क्रियापद बनाये जाते हैं। दोनों प्रकार के क्रिया-पदों की पहचान यह है कि पहले में लिङ्ग-भेद नहीं होता और दूसरे में होता है।"[१] अकर्मक और सकर्मक के सम्बन्ध में उन्होंने एक विशेष बात यह बतायी थी कि "प्रयोग के अनुसार कभी एक ही क्रिया सकर्मक और कभी अकर्मक हो जाती है, जैसे वह सिर खुजलाता है और उसका सिर खुजलाता है। वह सोता है, वह गहरी नींद सोता है।"[२]

काल-प्रकरण में वाजपेयी जी ने वर्त्तमान के चार, भूत के आठ और भविष्य के दो भेद माने थे। वर्त्तमान—सामान्य वर्त्तमान—मैं जाता हूँ, पूर्ण वर्त्तमान—मैं आया हूँ, सन्दिग्ध वर्त्तमान—मोहन जाता होगा और तात्कालिक वर्त्तमान—सोहन जा रहा है। भूतकाल :—सामान्यभूत—राम गया, अपूर्णभूत—मोहन पोथी पढ़ता था, पूर्णभूत—सोहन ने पुस्तक पढ़ी थी, सन्दिग्धभूत— मैं गया हूँगा, हेतुहेतुमद्भूत—मैं जाता, तात्कालिकभूत—कृष्ण द्वारका जा रहे थे, सम्भाव्य अपूर्णभूत—मैं जाता होता, और सम्भाव्य पूर्णभूत—मैं गया होता। भविष्य :—सामान्य भविष्य—मोहन आवेगा, और सम्भाव्य भविष्य—वह लिखे।

काल का उपर्युक्त विवेचन पर्याप्त सन्तोषप्रद नहीं होने पर भी इतना स्पष्ट है कि वाजपेयी जी ने उसके सम्बन्ध में पुरानी लीक को त्याग कर स्वतन्त्र चिन्तन का प्रयास किया था। इसी प्रकार, वाच्य के विवेचन को भी उन्होंने अधिक स्पष्ट बनाने का प्रयास किया था। वाच्य के उन्होंने चार भेद माने थे; कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य और कर्मकर्तृवाच्य। इनके सम्बन्ध में उन्होंने बताया था कि कर्तृवाच्य में क्रिया के लिङ्ग-वचन कर्त्ता के अनुसार, कर्मवाच्य में कर्म के अनुसार, भाववाच्य में एकवचन और पुल्लिङ्ग तथा कर्मकर्तृवाच्य में कर्म ही कर्त्ता हो जाता है। चारों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार थे—तीन लड़के खेलते हैं लड़की ने पेड़ा खाया, स्त्री ने गाय को दूहा तथा भोजन बनता है। इसके पश्चात् उन्होंने क्रिया की साधना बतायी थी। इस प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा था कि "चार धातुओं की सहायता से ही सब कालों के क्रियापद बनते हैं और इसलिये सभी क्रियापद यौगिक हैं। ये चार

---

१. अ० प्र० वा०, हि० कौ०, पृ० ४१।

२. उपरिवत्।

चातु हैं—ह, था, गा और हो।"[१] इनमें ह धातु के रूप विधि के समान बनते हैं, इस कारण उनमें लिङ्ग-भेद नहीं होता, किन्तु अन्य में होता है। विधि और आज्ञा के रूपों में किसी भी धातु में लिङ्ग-भेद नहीं होता।" "शेष रूप, धातु में ता और आ प्रत्ययों के लगने से तथा भविष्यकाल के रूप, विधि में गा लगने से बनते हैं। इसलिये इनमें लिङ्ग-भेद होता है। ये आकारान्त रूप एक प्रकार के विशेषण हैं, इसलिये पुल्लिङ्ग होने से इनके बहुवचन बनाने में धातु में 'ते' और 'ए' तथा स्त्रीलिङ्ग में 'ती' और 'ई' रूप बनते हैं, पर 'गी' बहुवचन में भी 'गी' ही रहती है। इसका कारण यह है कि विधि के बहुवचन में 'गी' जुड़ती है, इसलिये 'गी' का बहुवचन करने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार, जब 'ती' वा ईकारान्त क्रियापदों के बाद 'ह' वा 'था' धातुओं से बने क्रियापद रहते हैं, तब पूर्वोक्त 'ती' वा 'ई' में अनुस्वार नहीं लगाते और 'ह' वा 'था' धातुओं से बने बहुवचन रूप ही संयुक्त क्रियापदों को बहुवचन बनाने में समर्थ समझे जाते हैं।"[२]

उपर्युक्त धातुओं के विवेचन-प्रसङ्ग में उनकी ऐतिहासिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थ की पाद-टिप्पणी में वाजपेयी जी ने लिखा था कि "जिन्हें आजकल विधि कहते हैं, किसी समय वे ही क्रियापद वर्त्तमानकाल के वर्णन में प्रयुक्त होते थे। इसके प्रमाणस्वरूप, 'अन्धी पीसे कुत्ते खाय' जैसे वाक्य अभी तक पाये जाते हैं। परन्तु, जब इन क्रियाओं से वर्त्तमानकाल का बोध न होने लगा, तब वर्त्तमान को बताने के लिये इन रूपों के साथ 'हो' धातु से बने क्रियापद लगाये जाने लगे। इसी प्रकार अपूर्ण भूतकाल जतलाने के लिये विधि के साथ 'था' धातु के रूप और भविष्य बताने के लिये 'गा' धातु के रूप लगने लगे। इस प्रकार वर्त्तमान में 'जाय है', 'खाय है', अपूर्णभूत में 'जाय था', 'खाय था' और भविष्य में 'जायगा', 'खायगा' रूपों का व्यवहार चल पड़ा। कालान्तर में वर्त्तमान और अपूर्ण भूतकालों के इन प्रयोगों से अर्थ में बडी गड़बड़ मचने लगी और 'जाय' विधि के बदले संस्कृत के शतृ प्रत्ययान्त रूपों से बने क्रियापद पहले से ही व्यवहार किये जाते थे और आज भी किये जाते हैं।"[३]

---

१. अ० प्र० वा०, हि० कौ०, पृ० ४७।

२. उपरिवत्, पृ० ४८–४९।

३. उपरिवत्, पृ० ४९।

वाजपेयी जी के अनुसार, संस्कृत 'अस्' धातु से हिन्दी 'ह' धातु, 'स्था' से 'था' तथा 'गम्' से 'गा' की व्युत्पत्ति हुई। संस्कृत 'स्था' और 'गम्' धातुओं में 'क्त' प्रत्यय लगने से भूतकालिक 'स्थितः' और 'गतः' रूप बनते हैं। इन्हीं से प्राकृत के नियमों के अनुसार 'था' और 'गा' बने हैं।

क्रियाओं की रूप-रचना के विवेचन के पश्चात् वाजपेयी जी ने प्रेरणार्थक क्रिया, यौगिक क्रिया, नामधातु, कृदन्त तथा उपसर्ग पर क्रमशः विस्तारपूर्वक विचार किया था। तत्पश्चात्, अव्यय के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "अव्यय शब्दों में संज्ञा शब्दों की तरह लिङ्ग और वचन का बखेड़ा नहीं है। प्रायः सभी अव्यय पुल्लिङ्ग एकवचन समझे जाते हैं, पर कुछ का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग की तरह भी होता है। पुल्लिङ्ग अव्यय का स्त्रीलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग अव्यय का पुल्लिङ्ग नहीं होता। स्त्रीलिङ्ग अव्यय बहुत ही कम हैं।"[२] अव्यय को उन्होंने चार वर्गों में बाँटा था—क्रियाविशेषण, सम्बन्ध-सूचक, उभयान्वयी और विस्मयादिबोधक। इनमें से प्रत्येक का विवेचन उन्होंने विस्तारपूर्वक किया था।

अव्यय के पश्चात् तद्धित का परिचय देते हुए वाजपेयी जी ने उसके चार भेद किये थे—कर्तृवाचक, गुणवाचक, भाववाचक तथा स्थानवाचक। इन चारों पर अलग-अलग उन्होंने स्पष्टता से विचार किया था। समास के उन्होंने छह भेद माने थे—द्वन्द्व, तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्विगु और अव्ययीभाव। उनके समास-विवेचन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि उसके उदाहरण में अधिकांशतः, हिन्दी के ही समस्त पदों को चुन कर रक्खा गया था।

समास प्रकरण के पश्चात् वाक्य-रचना के सम्बन्ध में संक्षेप में प्रकाश डाला गया था। फिर, भिन्न-भिन्न विभक्ति-प्रत्ययों, सर्वनामों, विशेषणों, क्रिया-विशेषणों, अव्ययों, क्रियापदों तथा कालों के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया था। इसके बाद शब्दों की पुनरुक्ति पर विचार किया गया था और तब कर्त्ता, क्रिया और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा की गयी थी। अन्त में, वाक्य-रचना के सामान्य नियम बताये गये थे और परिशिष्ट में संस्कृत-सन्धि तथा विराम-चिह्नों का विवेचन किया गया था।

---

२ कि० प्र० वा०, हि० कौ०, पृ० ८०१

यों तो 'हिन्दी कौमुदी' की रचना मुख्यतः पूर्ववर्त्ती व्याकरण ग्रन्थों के ही आधार पर हुई थी, किन्तु उसके लेखक ने उसमें व्याकरण के सभी पक्षों पर स्वतन्त्र चिन्तन का भी प्रयास किया था, जिसके फलस्वरूप हिन्दी भाषा के अनेक पक्षों एवं उनकी सूक्ष्म भङ्गिमाओं पर पहली बार प्रकाश पड़ा था। इस दृष्टि से यह व्याकरण हिन्दी व्याकरण के इतिहास में एक युगान्तकारी प्रयास कहा जा सकता है। किन्तु, संयोगवश इस व्याकरण की जैसी ख्याति होनी चाहिए थी, इसे जो श्रेय मिलना चाहिए था तथा इसका जैसा प्रचार होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। इसका प्रधान कारण था, इसके कुछ ही दिनों के बाद पं० कामता प्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' का प्रकाशित होना, जिसने प्रकाशित होने के साथ ही अन्य सभी पूर्ववर्त्ती व्याकरणों की चमक छीन ली थी।

उत्कर्ष-काल

(सन् १९२१ ई०–१९४४ ई०)

सामान्य परिचय :

हिन्दी व्याकरणेतिहास के उत्कर्ष-काल का प्रारम्भ पं० कामता प्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण के प्रकाशन-वर्ष सन् १९२१ ई० (सं० १९७७ वि०) से हुआ। उसके पूर्व उत्थान-काल में जितने भी व्याकरण प्रकाशित हुए थे, उनमें से कुछेक को छोड़ कर शेष सभी प्रारम्भिक कक्षा से लेकर प्रवेशिका तक के छात्रों को ही ध्यान में रख कर लिखे गये थे। उनमें भाषा के प्रचलित प्रयोगों को ध्यान में रख कर उसके भीतर एकरूपता तथा स्थिरता लाने वाले नियमों का निर्धारण नहीं किया गया था। इस कारण, उस युग का कोई भी व्याकरण सर्वमान्य नहीं बन सका। वैसी स्थिति में लेखकों, कवियों तथा विद्वानों के सम्मुख भाषा का कोई सुनिश्चित आदर्श नहीं रहने के कारण उनके प्रयोगों में एकरूपता एवं स्थिरता का अभाव होना स्वाभाविक था। फलतः, उस युग में जैसे-जैसे साहित्य की अभिवृद्धि होती गयी, उसी अनुपात में भाषा में अनेकरूपता एवं अस्थिरता के लक्षण अधिक प्रत्यक्ष होते गये। उस अनपेक्षित एवं घातक स्थिति से हिन्दी की रक्षा का प्रयत्न करने वालों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम अग्रगण्य है।

"'सरस्वती' का सम्पादक होते ही उन्होंने यह अनुमान किया कि हिन्दी में अस्थिरता आ गयी है। बात यह थी कि भारतेन्दुयुग की प्रतिमिति हिन्दी भाषा अधिकांशतः उच्चारण-सम्मत और तद्भव प्रधान थी। हिन्दी का यह दावा रहा है कि इसमें जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है और जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है। इस दावे के अनुसार भारतेन्दुयुगीन साहित्य में बोलचाल की भाषा का जैसा उच्चारण होता था, वैसा ही लिखा भी जाता था। हिन्दी एक बहुत ही विस्तृत भूखण्ड की भाषा थी, इस कारण एक प्रान्त में किसी शब्द का जो उच्चारण होता था, दूसरे प्रान्त का उच्चारण उससे भिन्न होता था, अस्तु एक ही शब्द भिन्न-भिन्न क्षेत्र में भिन्न-भिन्न रूप में लिखा जाता था। इसी प्रकार, तद्भव शब्दों के प्रान्तज प्रयोग भी

अन्य प्रान्त की जनता के लिए बोधगम्य नहीं रह गये थे। द्विवेदी जी ने इस विस्तृत भूखण्ड की भाषा में एकरूपता और स्थिरता लाने के लिए व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने का आन्दोलन प्रारम्भ किया।

'सरस्वती' के नवम्बर, सन् १९०५ ई० के अङ्क में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण लेख लिख कर यह दिखाने का प्रयत्न किया कि हिन्दी के लेखकगण लिखते समय व्याकरण की ओर ध्यान ही नहीं देते, इसी कारण भाषा में एकरूपता का अभाव है। द्विवेदी जी के इस लेख की प्रतिक्रिया-स्वरूप एक आन्दोलन-सा प्रारम्भ हो गया। 'भारत मित्र' के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त ने इस लेख में आये 'अनस्थिरता' शब्द और द्विवेदी जी ने भारतेन्दु युग के लेखकों की जो व्याकरण-सम्बन्धी भूलें निकाली थीं, उसे लेकर नौ-दस लेख 'भारत मित्र' में 'आत्माराम' के नाम से छपवाये और उसके उत्तर में गोविन्दनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें-टें' शीर्षक लेख लिख कर गुप्त जी के आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास किया। इस वाद-विवाद में कटुता भी प्रदर्शित की गयी, परन्तु उस लेखमाला से एक बात स्पष्ट हो गयी कि हिन्दी में एकरूपता का अभाव है। दिल्ली वाले जहाँ लिखते हैं—'लेखनी उठानी चाहिए' वहाँ लखनऊ वाले लिखते हैं—'लेखनी उठाना चाहिए।' दिल्ली वाले जहाँ लिखते हैं—'शिक्षा लेनी चाहिए' वहाँ लखनऊ वाले 'शिक्षा लेनी होगी' लिखते हैं। यह अन्तर प्रान्तीय प्रयोगों के कारण था। इसी प्रकार, लिखने में भी अनेकरूपता के दर्शन होते थे। ठहरा और ठैरा, सकता और सक्ता, पहचानता और पहचान्ता, मनोरथ और मनोर्थ दोनों रूप उस समय के लेखों में मिलते हैं। लिखने में यह अन्तर उच्चारण के कारण होते थे, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार सें हुआ करते थे। द्विवेदी जी ने इसी अनेकरूपता को दूर कर विशाल हिन्दी क्षेत्र में एक समान भाषा के प्रयोग के लिए व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने की आवश्यकता की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया।"[१]

प्रारम्भ में कुछ लोगों ने द्विवेदी जी के उक्त प्रयत्न की खिल्ली उड़ायी, किन्तु आगे चल कर अधिकांश लोगों के मन में यह बात बैठ गयी कि उच्चारण-सम्मत भाषा लिखने से हिन्दी के विस्तृत भूखण्ड में भाषा की एकरूपता नष्ट हो जायगी। फलतः, लोग व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने की ओर प्रवृत्त हुए।

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल, कि० दा० वा० के 'हिन्दी शब्दानुशासन' का 'प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ० ९–१०।

किन्तु, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है; उस समय तक प्रारम्भिक पाठशालाओं के छात्रों के उपयोग के लिए ही अधिकांश व्याकरणों की रचना हुई थी, हिन्दी के विस्तृत क्षेत्र के लेखकों और विद्वानों के सामान्य उपयोग के लिए किसी सर्वमान्य व्याकरण का निर्माण सम्भव नहीं हो सका था। द्विवेदी जी ने अपने उक्त लेख में इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि "हिन्दी भाषा में एक भी सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना।" इसी प्रकार, पं० कामता प्रसाद गुरु ने अगस्त सन् १९०८ ई० की 'सरस्वती' में 'हिन्दी की हीनता' शीर्षक लेख में लिखा था कि "इस भाषा में न कोई माना हुआ व्याकरण है और न कोई प्रामाणिक कोष।"

आगे चल कर द्विवेदी जी तथा गुरु जी की तरह ही देश के अन्यान्य सुधी विद्वानों ने भी हिन्दी के उक्त अभावों का अनुभव किया। फलतः, 'नागरी प्रचारिणी सभा', जो उस समय हिन्दी की हीनता दूर करने के लिए सब प्रकार के प्रयास कर रही थी, कोष और व्याकरण दोनों की कमी पूरी करने में जुट गयी। प्रारम्भ में बाबू गङ्गाप्रसाद, एम० ए० और पं० रामकर्ण शर्मा से सभा ने व्याकरण ग्रन्थ लिखवाये, परन्तु उससे सन्तोष न होने पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और माधव राव सप्रे के अनुरोध पर पं० कामता प्रसाद गुरु को व्याकरण लिखने का भार सौंपा। गुरु जी ने बड़े परिश्रम और लगन से एक अत्यन्त प्रामाणिक हिन्दी व्याकरण लिख कर प्रस्तुत किया। इस व्याकरण को सर्वसम्मत बनाने की आकांक्षा से सभा ने एक संशोधन समिति निर्वाचित की, जिसमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की जध्यक्षता में साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० लज्जाशङ्कर झा, पं० रामनारायण मिश्र, बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० गोविन्दनारायण मिश्र और पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी सदस्य थे। आश्विन शुक्ल ३, सं० १९७७ वि० (१४ अक्टूबर, सन् १९२० ई०) को इस संशोधन-समिति का कार्य आरम्भ हुआ, जिसमें समयाभाव के कारण पं० गोविन्दनारायण मिश्र तथा पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी उपस्थित न हो सके। इस समिति से संशोधित होकर सं० १९७७ वि० (सन् १९२१ ई०) में हिन्दी का यह प्रथम सर्वमान्य व्याकरण प्रकाशित हुआ।"[१] उससे कुछ पूर्व, सन् १९१९ ई० में पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी का

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल; कि० दा० वा० की 'हिन्दी शब्दानुशासन' का 'प्रकाशकीय वक्तव्य', पृ० ११।

व्याकरण 'हिन्दी कौमुदी' नाम से कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका था, जो गुरु जी के अनुसार उस समय तक प्रकाशित 'सभी व्याकरणों की अपेक्षा अधिक व्यापक, प्रामाणिक और शुद्ध था।'

गुरु जी के व्याकरण ने हिन्दी भाषा के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्त्ति ऐसे समय में की, जिस समय उसकी सर्वाधिक आवश्यकता थी। उसके प्रकाशन के साथ ही हिन्दी व्याकरणेतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिसे हमने उत्कर्ष-काल की संज्ञा दी है। उस व्याकरण ने आज तक लाखों छात्रों, लेखकों और विद्वानों को हिन्दी का व्यवस्थित ज्ञान प्रदान किया है। आचार्य द्विवेदी जी ने व्याकरण-सम्मत भाषा का जो लक्ष्य स्थिर किया था, उसकी पूर्त्ति में गुरु जी के व्याकरण ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। हिन्दी भाषा पर उस व्याकरण का लगभग तीन दशाब्दियों तक एकछत्र शासन रहा और बहुत अंश में आज भी है। किन्तु, जब से पं० किशोरी दास वाजपेयी ने उसकी कतिपय त्रुटियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया, तब से उसका महत्त्व क्षीण पड़ने लगा। वाजपेयी जी का 'ब्रजभाषा का व्याकरण,' जिसकी भूमिका में उन्होंने पहली बार गुरु जी के दोषों की विस्तृत आलोचना की थी, सन् १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ था और उनका 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' सन् १९४९ ई० में। उसी बीच सन् १९४७ ई० में देश को स्वाधीनता भी मिली। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, हमने सन् १९२१ ई० से सन् १९४७ ई० तक की अवधि को उत्कर्ष-काल की सीमा मानी है। इस काल के वैयाकरणों में गुरु जी निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ थे।

गुरु जी के व्याकरण के प्रकाशन के पश्चात् हिन्दी की स्थिति में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। "सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि हिन्दी को विश्व-विद्यालयों की सर्वोच्च परीक्षा के लिए एक विषय के रूप में स्वीकृत किया गया और काशी तथा प्रयाग में विश्वविद्यालयों की बी० ए० तथा एम० ए० परीक्षा के लिए पाठ्य-क्रम बने और हिन्दी-विभागों की स्थापना हुई। ऊँची कक्षा के छात्र भाषा-शास्त्र का अध्ययन करने लगे और साथ ही व्याकरणों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ हो गया। साहित्य की अन्य रचनाओं के साथ ही हिन्दी में भी भाषा-विज्ञान सम्बन्धी पुस्तक लिखी जाने लगीं। कुछ दिन बाद हिन्दी भाषा और साहित्य में शोधकार्य होने लगा तथा हिन्दी की भिन्न-भिन्न बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक विस्तृत अध्ययन प्रारम्भ

हो गया।"[१] इस प्रकार, गुरु जी का व्याकरण सच्चे अर्थ में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के उत्कर्ष का वाहक सिद्ध हुआ।

गुरु जी के व्याकरण की श्रेष्ठता तथा अनुपम ख्याति के अनेक कारण थे— १. वह नागरी प्रचारिणी सभा जैसी अद्वितीय राष्ट्र-प्रसिद्ध संस्था की प्रेरणा एवं उत्तेजना से लिखा एवं उसी के द्वारा प्रकाशित किया गया था। २. उसका निर्माण उस युग के अद्वितीय हिन्दी आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन एवं सतत् देखरेख में हुआ था। ३. उसका संशोधन देश के शीर्षस्थ हिन्दी विद्वानों एवं शिक्षाशास्त्रियों की सङ्गठित समिति के द्वारा किया गया था। ४. उसकी रचना में गुरु जी के जीवन के अनेक वर्षों की साधना तथा अनवरत श्रम का योगदान था। ५. उसके स्वरूप-निर्माण में संस्कृत, अँगरेजी, मराठी, हिन्दी आदि कई भाषाओं के व्याकरण का सहारा लिया गया था। ६. उसको सर्वमान्य तथा पूर्ण बनाने के उद्देश्य से गुरु जी ने हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख व्याकरणों का व्यवस्थित अध्ययन किया था तथा अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर उनके मतों की समीक्षा की थी। ७. वह हिन्दी के एक योग्य अध्यापक, अधिकारी विद्वान तथा व्याकरण-रुचि-सम्पन्न पण्डित के द्वारा लिखा गया था। ८. उसमें भाषा के सभी अङ्गों के समुचित तथा विस्तारपूर्ण विवेचन का प्रयास किया गया था। ९. उसमें हिन्दी के प्रचलित प्रयोगों को ध्यान में रख कर उनमें एकरूपता एवं स्थिरता लाने वाले नियमों का भी निर्धारण किया गया था। आदि—इत्यादि।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही वह व्याकरण हिन्दी का पहला सर्वमान्य व्याकरण माना गया। प्रकाशित होते ही उसकी ख्याति सम्पूर्ण देश में फैल गयी तथा वह साहित्यकारों एवं विद्वानों से लेकर छात्रों तक के लिए समान रूप से एक अनिवार्य ग्रन्थ बन गया। उसके द्वारा हिन्दी भाषा के प्रतिमानीकरण का कार्य भी बहुत कुछ सरल हो गया। द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा का जो आदर्श कल्पित किया था, उसे मूर्त्त आधार देने का कार्य उसी व्याकरण ने किया।

गुरु जी के व्याकरण की अति ख्याति का एक अहितकर परिणाम भी हुआ। अपने प्रकाशन के बाद दो दशकों से भी कुछ अधिक समय तक वह

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल, कि० दा० वा० के 'हिन्दी शब्दानुशासन' का 'प्रकाशकीय वक्तव्य', पृ० ११-१२।

विद्वानों के द्वारा हिन्दी का प्राय: सर्वथा निर्दोष, पूर्ण एवं अन्तिम व्याकरण माना जाता रहा। फलतः, उसकी श्रेष्ठता एवं महत्ता का आतङ्क लोगों पर इस प्रकार छाया रहा कि उक्त अवधि में उसकी सर्वमान्यता को चुनौती देने अथवा उससे श्रेष्ठतर व्याकरण लिखने की बात सोचने को कौन कहे, उसके दोषों की ओर आँख उठा कर देखने तक का साहस किसी को नहीं हुआ, जबकि उसकी भूमिका में गुरु जी ने स्वयं उसकी अनेक त्रुटियों एवं सीमाओं की ओर बड़ी ईमानदारी के साथ सङ्केत कर दिया था।

उक्त स्थिति तब तक ज्यों-की-त्यों बनी रही, जब तक हिन्दी व्याकरण के क्षेत्र में पं० किशोरी दास वाजपेयी का पदार्पण नहीं हो गया। यों उस काल में और भी सैकड़ों छोटे-मोटे व्याकरण लिखे गये, किन्तु वे सब-के-सब छात्रोपयोगी थे और सबका उपजीव्य मुख्यत: गुरु जी का व्याकरण ही था। इसके अतिरिक्त, उन व्याकरणों का मुख्य उद्देश्य व्यावसायिक था, भाषा-शास्त्रीय नहीं। इसीलिए, उनके द्वारा हिन्दी भाषा एवं व्याकरणेतिहास की प्रगति में कोई योगदान नहीं मिल सका।

उत्कर्ष-काल में हिन्दी के प्रचार-कार्य और महत्त्व पर प्रकाश डालने वाली दो घटनाएँ विशेष उल्लेख्य हैं—१. दक्षिण का हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन और २. राजभाषा के रूप में हिन्दी को संवैधानिक मान्यता। यहाँ संक्षेप में दोनों पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

१. दक्षिण का हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन :

दक्षिण भारत के व्यापारिक केन्द्रों, सन्त-समाजों, भक्त-मण्डलियों एवं तीर्थस्थानों में हिन्दी का प्रवेश मुसलमानी शासन-काल के प्रारम्भ होने के पहले ही हो चुका था। आगे चल कर, मुसलमानों के शासन-काल में, वहाँ के नगरों में हिन्दी के अरबी-फारसीनिष्ठ रूप का प्रचार हुआ, जिसे पहले लोग 'दक्खिनी' और बाद में 'दक्खिनी हिन्दी', 'हिन्दुस्तानी' तथा 'उर्दू' आदि नामों से पुकारने लगे।[1] अनेक साहित्येतिहासकारों के अनुसार हिन्दी-गद्य-रचना का प्रारम्भ उत्तरी भारत से पहले दक्षिणी भारत में ही हुआ।[2] जो भी हो, इतना निश्चित है कि प्रारम्भ में उस ओर हिन्दी का प्रचार अनेक

---

१. पी० के० केशवन नायर, 'दक्षिण के हि० प्र० आ० का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० १७।

२. एजाज हुसेन, 'उर्दू साहित्य का इतिहास', पृ० २२१।

धार्मिक एवं राजनैतिक कारणों से अनायास एवं स्वाभाविक रूप से हुआ था। उस समय उसके पीछे कोई सुविचारित योजना या उद्देश्य नहीं था। किन्तु, बीसवीं शताब्दी में आकर देश के नेताओं एवं विद्वानों ने राष्ट्रीय भावना तथा भावात्मक एकता की भावना से प्रेरित होकर एक निर्धारित योजना के अनुसार दक्षिण में हिन्दी के प्रचार का व्यापक प्रयत्न किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक देश में हिन्दी प्रचार करने वाली एकमात्र संस्था काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' थी, जिसकी स्थापना सन् १८९३ ई० में हुई थी। सन् १९१० ई० में उसी के तत्वावधान में प्रयाग में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना हुई। सम्मेलन के प्रचार-विभाग से हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन को पर्याप्त बल मिला। सम्मेलन का आठवाँ वार्षिक अधिवेशन मार्च, सन् १९१८ ई० में महात्मा गाँधी की अध्यक्षता में इन्दौर में हुआ था। सर्वप्रथम उसी अधिवेशन में गाँधी जी की प्रेरणा से दक्षिण में हिन्दी-प्रचार की योजना का प्रस्ताव पारित किया गया था। गाँधी जी की दृष्टि में वह कार्य इतना आवश्यक था कि उन्होंने उसी वर्ष अपने छोटे पुत्र देवदास गाँधी को प्रथम हिन्दी-प्रचारक के रूप में मद्रास भेजा। उनके सत्प्रयत्नों से मई, सन् १९१८ ई० में ही मद्रास के गोखले हॉल में प्रथम हिन्दी वर्ग का उद्घाटन श्री सी० पी० रामास्वामी अय्यर की अध्यक्षता में श्रीमती एनीबेसेण्ट के द्वारा किया गया।[१] उसके बाद, धीरे-धीरे वहाँ हिन्दी का प्रचार एवं शिक्षण-कार्य बढ़ता गया। सन् १९२१ ई० में गोदावरी नदी के तट पर राजमहेन्द्रवरम् के पास धवलेश्वर में पहला हिन्दी-प्रचारक विद्यालय खोला गया, जिसके आचार्य हृषीकेश शर्मा बनाये गये। दूसरा विद्यालय सन् १९२२ ई० में कावेरी के किनारे ईरोड़ नगर में पं० मोतीलाल नेहरू के हाथों खोला गया, जिसके क्रमशः अवधनन्दन, कृष्णस्वामी, शिवराम शर्मा आदि आचार्य हुए। फिर, सन् १९२४ ई० में मद्रास में एक केन्द्रीय विद्यालय की स्थापना हुई। इसी प्रकार, धीरे-धीरे दक्षिण के तमिलनाडु, आन्ध्र, केरल तथा कर्णाटक चार प्रान्तों में एक-एक कर अनेक विद्यालय खुलते गये और उनके द्वारा हिन्दी-प्रचार बढ़ता गाय।

सन् १९२८ ई० में गाँधी जी ने स्वामी सत्यदेव को हिन्दी प्रचारार्थ दक्षिण भेजा। उन दिनों दक्षिण के छात्रों के उपयुक्त अच्छी हिन्दी पुस्तकों का

१. पी० पी० [illegible] नायर, '[illegible] का समीक्षात्मक इतिहास', पृ० ३७।

नितान्त अभाव था। स्वामी सत्यदेव ने उस अभाव की पूर्त्ति के लिए 'हिन्दी की पहली पुस्तक' नामक एक पाठ्यग्रन्थ की रचना की, जो बहुत अधिक लोकप्रिय हुई थी। उसके पहले केशवन नायर की 'हिन्दी स्वबोधिनी' तमिल तथा अँगरेजी में, और हृषीकेश शर्मा की 'हिन्दी स्वबोधिनी' तेलुगू, मलयालम एवं कन्नड़ में प्रकाशित हो चुकी थी। उन्हीं दिनों प्रतापनारायण वाजपेयी ने 'हिन्दी का हीर' नामक एक व्याकरण लिखा था, जिसमें अँगरेजी में हिन्दी व्याकरण के नियम बताये गये थे। वह दक्षिणवासियों के लिए लिखा गया पहला हिन्दी व्याकरण था।

सन् १६१८ ई० से १६२७ ई० तक दक्षिण के हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन का सञ्चालन-सूत्र हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के हाथों में रहा। उक्त अवधि में सम्मेलन की ओर से देश के अनेक महान नेता एवं विद्वान समय-समय पर दक्षिण में हिन्दी-प्रचार-कार्य का निरीक्षण करने के हेतु भेजे जाते रहे। सन् १९२७ ई० में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में पञ्जीकृत हो गयी और सम्मेलन से उसका प्रायः सम्बन्ध-विच्छेद सा हो गया। उसी वर्ष मद्रास सरकार ने अपने पाठ्य-क्रम के 'सीं' ग्रुप में ऐच्छिक विषय के रूप में पहले-पहल हिन्दी को शामिल किया। आगे चल कर, सन् १९३८ ई० में हाइस्कूल के पहले, दूसरे और तीसरे फॉर्मों में उसे अनिवार्य विषय बनाया गया।[१]

सन् १९२७ ई० में जब पहले-पहल मद्रास के स्कूलों में हिन्दी का प्रवेश हुआ था, उसी समय वहाँ के कुछ सङ्कीर्ण एवं अराष्ट्रीय मनोवृत्ति वाले काँग्रेस-विरोधी शिक्षाशास्त्रियों ने उसका विरोध किया था। उनके द्वारा यह आपत्ति उठायी गयी कि मातृभाषा और अँगरेजी के अतिरिक्त एक और भाषा पढ़ने-पढ़ाने से क्या लाभ है? उस पर जनवरी, सन् १९३० ई० के 'हिन्दी प्रचारक' में श्री० सी० राजगोपालाचारी ने 'छात्रों' के नाम एक प्रस्तावना[२]

---

१. पी० के० केशवन नायर, 'दक्षिण के हि० प्र० आ० का समीक्षात्मक इतिहास', पृ० ७२।

२. "If you still have any doubts about the necessity of learning the Hindustani Language, you may ask anyone who has returned from the last congress. The delegates who went to Lahore and saw the Congress have all

(ऐन अपील टु स्टुडेण्टस्) निकाली थी, जिसमें उन्होंने हिन्दी-विरोधियों को जबर्दस्त डाँट बतायी थी तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते हुए स्कूलों में उसके अनिवार्य अध्ययन की आवश्यकता पर जोर दिया था। फलतः, कुछ दिनों तक हिन्दी-विरोध की गति मन्द पड़ गयी थी; किन्तु सन् १९३८ ई० में जब मद्रास सरकार ने अनिवार्य विषय के रूप में स्कूलों में हिन्दी का प्रवेश कराने की नीति अपनायी, तो उसके विरोध में तमिलनाडु में प्रत्यक्ष रूप से एक 'हिन्दी विरोधी आन्दोलन' उठ खड़ा हुआ, जो आज भी चल रहा है। सत्याग्रह करना, जेल जाना, बड़ी सभाएँ कर हिन्दी का विरोध करना, यही विरोधियों का कार्यक्रम रहा। वे आन्दोलनकारी मुख्यतः काँग्रेस-विरोधी प्रतिक्रियावादी लोग थे, जो चुनाव में काँग्रेस से पराजित हुए थे अथवा काँग्रेस की जीत और उसके पद-ग्रहण से असन्तुष्ट हुए थे। इस प्रकार वे नितान्त सङ्कीर्ण राजनैतिक उद्देश्य से हिन्दी-विरोध के लिए प्रेरित हुए थे, किन्तु उसे गुप्त रख कर, जनता को उकसाने के लिए वे प्रत्यक्ष रूप से यह कहा करते थे कि "हिन्दी के प्रचार से तमिल का सर्वनाश हो जायगा।" उनके उक्त

---

realised and will bear testimony to the fact that without a knowledge of Hindustani, it is not possible for any one to take a useful part in national gatherings. During the Congress no delegates felt so uncomfortable as those from Tamil Nadu, who were ignorant of the national language. The friends who have returned from Lahore, have in their journey to and fro, seen a great deal of India and they can tell you how generally useful a working knowledge of Hindustani is in any part of India for travel, trade or business. Every student can and should utilise his sparetime to learning the national language. It should be a compulsory part of the school courses, but we should not wait till the Educational Authorities realise their duty, Self-helf is best until our educational authorities see how wrong it is not to make the common language of 1ndia, a compulsory part of the school coures of boys and girls in all provinces in India. The language is easily learnt. Learn up the Sanskrit Script and begin at once."

आन्दोलन ने आगे चलकर दक्षिण के हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन को बहुत कुछ शिथिल बना दिया ।

सन् १९३५ ई० तक 'दक्षिण भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा' के द्वारा हिन्दी-प्रचार-कार्य में जो सफलता मिली थी, उसका परिचय उसी वर्ष इन्दौर में हुए 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के २४वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर महात्मा गाँधी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इस प्रकार दिया था—"मैंने आपके अधिवेशनों की रिपोर्ट कुछ अंशों में देखी है। सबसे पहला अधिवेशन सन् १९१० ई० में हुआ था। मेरा क्षेत्र बहुत मर्यादित है। मेरा हिन्दी-भाषा का ज्ञान नहीं के बराबर है। आपकी प्रथम परीक्षा में मैं उत्तीर्ण नहीं हो सकता हूँ। लेकिन, हिन्दी भाषा का प्रेम किसी से कम नहीं ठहर सकता है। मेरा क्षेत्र, दक्षिण में हिन्दी-प्रचार है। सन् १९१८ ई० में जब आपका अधिवेशन यहाँ हुआ था, तबसे दक्षिण में हिन्दी-प्रचार के कार्य का प्रारम्भ हुआ है। वह कार्य तबसे उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। धनाभाव के कारण उसे रुकना नहीं चाहिए।........आप पूछ सकते हैं कि केवल दक्षिण ही में हिन्दी के लिए क्यों? मेरा उत्तर है कि दक्षिण भारत कोई छोटा मुल्क नहीं है। वह तो एक महाद्वीप-सा है। वहाँ चार प्रान्त और चार भाषाएँ हैं—तामिल, तेलगु, मलयालम् और कनड़ी। आबादी करीब सात करोड़ है। इतने लोगों में यदि हम हिन्दी-प्रचार की नींव मजबूत कर सकें तो अन्य प्रान्तों में बहुत ही सुभीता हो जायगा। जो भी हो, इतनी बात तो निर्विवाद है कि दक्षिण में हिन्दी-प्रचार सबसे कठिन कार्य है। तथापि १८ वर्षों से हम व्यवस्थित रूप में वहाँ जो कार्य करते हैं, उसके फलस्वरूप इन वर्षों में ६ लाख दक्षिणवासियों ने हिन्दी में प्रवेश किया। ८२००० परीक्षा में बैठे, १२०० स्थानों में शिक्षा दी गयी, ६०० शिक्षक तैयार हुए और आज ४५० स्थानों में कार्य हो रहा है। सन् १९३१ ई० से स्नातक-परीक्षा का भी प्रारम्भ हुआ और आज स्नातकों की संख्या ३०० है। वहाँ हिन्दी की ७० किताबें तैयार हुईं और मद्रास में उनकी ८,००,००० प्रतियाँ छपीं। सत्रह वर्ष पूर्व दक्षिण के एक भी हाई स्कूल में हिन्दी की पढ़ाई नहीं होती थी पर आज ७० हाई स्कूलों में हिन्दी पढ़ायी जाती है। सब मिला कर ७० कार्यकर्त्ता काम कर रहे हैं और इस प्रयास में ४,००,००० रुपये खर्च हुए हैं।"[1]

१. 'हिन्दी प्रचारक' अप्रैल अङ्क, सन् १९३५ ई०, पृ० ९४, 'महात्मा गाँधी का अध्यक्षीय भाषण।'

दुर्भाग्यवश उन दिनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा' से कुछ मनमुटाव हो गया था, जिसके कारण सम्मेलन के अनेक सदस्य दक्षिण के हिन्दी-प्रचार-कार्य के प्रति उपेक्षा का भाव रखने रखने लगे थे। इसीलिए, उक्त अधिवेशन के अवसर पर जब सम्मेलन की स्वागत-समिति ने दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के लिए गाँधी जी को एक लाख रुपये की थैली भेंट करने का निश्चय किया, तो अनेक लोगों ने उसका स्पष्ट विरोध किया था। वैसे लोगों की सङ्कीर्ण बुद्धि एवं अदूरदर्शिता के कारण भी दक्षिण के हिन्दी-प्रचार-कार्य को कुछ धक्का लगा था।

सन् १९३५ ई० में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा ने अपना नया विधान बनाया था। उसी वर्ष एक लिपि-परिषद् की भी स्थापना हुई थी। सन् १९३६ ई० में मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के भवन का निर्माण हुआ। उन दिनों दक्षिण में केवल आन्ध्र, तमिलनाड़ु, केरल और कर्णाटक में हिन्दी-प्रचार का कार्य उक्त सभा के द्वारा हो रहा था। किन्तु, शेष अहिन्दीभाषी प्रान्तों में योजनाबद्ध रूप में हिन्दी का प्रचार नहीं हो रहा था। इसलिए, सन् १९३६ ई० में जब साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन नागपुर में हुआ, तो उसके अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने गाँधी जी के निर्देश पर उक्त उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए एक 'हिन्दी-प्रचार-समिति' की स्थापना की। बाद में वही समिति 'राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति' वर्धा के रूप में परिणत हो गयी। उस समिति के द्वारा गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त, उत्कल तथा असम में हिन्दी-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया गया, जो आज भी किसी प्रकार चल रहा है।

हिन्दी व्याकरण में सुधार का प्रस्ताव :—जबसे दक्षिण में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का कार्य बढ़ने लगा, तबसे उधर के अध्यापक और विद्यार्थी दोनों यह अनुभव करने लगे कि हिन्दी के व्याकरण के नियम या तो अपूर्ण हैं या शिथिल हैं।[1] उन्हें लिङ्ग-निर्णय, 'ने'-नियम, 'का-के-की'-नियम, उच्चारण, वर्णमाला आदि की अनिश्चित और अनियन्त्रित नियम-शिथिलता के कारण जो कठिनाइयाँ अनुभूत हुईं, उनको ध्यान में रखते हुए दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सम्मेलन के सन् १९३२ ई० के अधिवेशन में हिन्दी-व्याकरण-सुधार-सम्बन्धी एक प्रस्ताव पारित हुआ था, जिसके प्रस्तावक उस समय के सुप्रसिद्ध

---

१. पी० के० केशवन नायर, दक्षिण का हि० प्र० आं० का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० १०५।

हिन्दी-कार्यकर्त्ता श्री जम्बुनाथन थे, जो बाद में मैसूर विश्वविद्यालय में विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। उनके प्रस्ताव का आशय इस प्रकार था—"हिन्दी-शिक्षा को और भी सुलभ बनाने के लिए यह सम्मेलन हिन्दी व्याकरण को एक सरल रूप देने की आवश्यकता समझता है ओर इसीलिए सम्मेलन यह प्रस्ताव करता है कि हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से व्याकरण के वर्त्तमान रूप में क्या-क्या परिवर्त्तन आवश्यक है, यह बात उत्तर के हिन्दी विद्वानों और हिन्दीसेवी संस्थाओं को ज्ञापित करने और इस प्रस्ताव पर तुरन्त कार्रवाई करने का कार्य श्री एम० वी० जम्बुनाथन तथा पं० अवधनन्दन को सौंपा जाय।"[१]

उक्त प्रस्ताव के समर्थन में श्री जम्बुनाथन् ने 'हिन्दी प्रचारक' में कई लेख लिखे थे, जिनमें उन्होंने अपने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये थे—"हिन्दी में वह सरलता नहीं है जो एक राष्ट्रभाषा के लिए आवश्यक है, अतः प्रचार की दृष्टि से उसे और भी सरल और लचीला बनाना चाहिए। भाषा को कड़े बन्धन में रखने से उसका विकास बन्द होता है। अतएव हिन्दी के प्रचार में दक्षिण के विद्यार्थियों को होने वाली कठिनाइयों को कम करने के सदुद्देश्य से हिन्दी के व्याकरण को सरल बनाना बुद्धिमत्ता का काम होगा।"[२] उन्होंने अपने उक्त विचारों की पुष्टि में काका कालेलकर,[३] देवदास गाँधी,[४] पं० श्याम

---

१. 'हिन्दी प्रचारक', अप्रैल, सन् १९३३ ई०।

२. उपरिवत्।

३. "जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, उनसे हम प्रार्थना करेंगे। राष्ट्रहित की दृष्टि से अपना स्वार्थ समझ कर भी आपको एकदम आसान हिन्दी का ही व्यवहार करना चाहिए। हम अपने-अपने प्रान्त के मुहावरे और कहावतें हिन्दी में दाखिल करेंगे। आपको यह मन्जूर करना होगा। फ्रेञ्च भाषा जब यूरोप की सर्वमान्य भाषा हुई, तब फ्रेञ्च लोगों ने सभी के सुभीते के लिए अपना व्याकरण भी कुछ आसान कर दिया, सार्वत्रिक गलतियों को मान्यता दी। आपको भी हिन्दी व्याकरण इसी तरह से लचीला रखना होगा।"—काका कालेलकर, 'हिन्दी प्रचारक', अप्रिल, सन् १९३३ ई०।

४. "मेरा यह दृढ़ अभिप्राय है कि यदि हम हिन्दी भाषा का हिन्दुस्तान भर में, खास कर दक्षिण में, विस्तृत प्रचार पूर्णरूप से सफल करना चाहते हैं, तो हिन्दी भाषा के कतिपय नियमों में कुछ सुधार किया जाना नितान्त आवश्यक है। अप्राणिवाचकों के पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दो विभाग निकाल

बिहारी मिश्र[१] तथा अन्य कई विद्वानों के व्याकरण-सुधार विषयक विचारों को उद्धृत किया था और अन्त में अपने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये थे[२]—

१. 'ने' प्रत्यय निकाल दिया जाय और अकर्मक जैसा सकर्मक क्रिया का भी भूतकालिक रूप हो, जैसे—लड़का खाया, लड़के खाये, लड़की खायी।

२. लिङ्ग-निर्णय में जो गड़बड़ी है, वह दूर की जाय। प्राणिवाचक शब्दों में स्त्रीबोध कराने वाले सभी शब्द स्त्रीलिङ्ग और अन्य सभी शब्द पुल्लिङ्ग माने जायँ।

३. सर्वनामों और आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में जब विभक्ति प्रत्यय लगते हैं, तब उन शब्दों के रूप में कोई परिवर्त्तन न हो, जैसे—मैं का भाई, वह लड़का का पुस्तक आदि।

४. चाहिए, पढ़ना, होना आदि सहायक क्रियाओं के प्रयोग में कर्त्ता से 'को' प्रत्यय न जोड़ा जाय; कर्त्ता प्रथम विभक्ति में ही रहे। जैसे—आप खाना चाहिए, मैं जाना पड़ा, वह एक रुपया देना है आदि।

५. मध्यमपुरुष 'तुम' निकाल दिया जाय, 'तू' एकवचन रहे और 'आप' बहुवचन। पर 'तू' का प्रयोग आमतौर से न किया जाय।

६. नीचे लिखे वाक्य ठीक माने जायँ—मैं आकर चार दिन हुए। राम को दो भाई हैं। विद्वान को सब आदर करते हैं।

किन्तु, श्री जम्बुनाथन् के उपर्युक्त सुझाव सुविचारित नहीं होने तथा हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण विद्वानों को मान्य नहीं हो सके।

देने चाहिए। भूतकाल में सकर्मक क्रिया के साथ 'ने' का प्रयोग, जो भाषा सीखने वाले के रास्ते में इधर बड़ी अड़चन डालता है, निकाल दिया जाय, तो बड़ा फायदा होगा।"—देवदास गाँधी, 'हिन्दी प्रचारक', अप्रैल, सन् १९३३ ई०।

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ग्वालियर अधिवेशन में पं० श्यामबिहारी मिश्र ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि "भाषा के विकास की दृष्टि से व्याकरण के नियमों को कुछ ढीला होने देना आवश्यक है।"

२. [illegible] 'दक्षिण में हि० प्र० आ० का समीक्षात्मक इतिहास', पृ० १०६–७।

उनके उक्त सुझावों को पहले दक्षिण के ही अनेक विद्वानों ने अमान्य घोषित किया। टेलिचेरी के एम० एस० शर्मा ने उनके सम्बन्ध में लिखा था कि "अगर ये परिवर्त्तन लिये जायँ तो सबको नये सिरे से हिन्दी सिखानी पड़ेगी। मातृभाषाभाषी साहित्यिक लोग और दक्षिण के हिन्दी पढ़े-लिखे लोग भी सब दुविधा में पड़ जाएँगे। इसके अतिरिक्त एक और मुसीबत हिन्दी पर आएगी, वह यह कि आधुनिक हिन्दी साहित्य, जो अब तक बन चुका है, बिलकुल अप्रामाणिक हो जाएगा और साथ ही हिन्दी के सिद्धहस्त लेखकों तथा कवियों की कलम से स्रवित हिन्दी की अमृतधारा की गति अवरुद्ध हो जाएगी, इस कारण सदियों तक हिन्दी में सजीव साहित्य का निर्माण असम्भव हो जाएगा। इस प्रकार के परिवर्त्तन में पड़ कर हिन्दी भाषा विस्तृत, संग्राहक और लचीली होने के बजाय भद्दी, विकृत और शिथिल बन जायगी।"[१] इसी प्रकार, दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के अनुभवी तथा विद्वान कार्यकर्त्ता श्री भालचन्द्र आपटे ने लिखा था कि "हिन्दी के व्याकरण का सुधार करना हो तो उसका असर हिन्दी के साथ उर्दू, मराठी, आदि पर कैसा पड़ेगा, इस पर ध्यान देना आवश्यक है। यदि अन्य भाषाओं की असुविधा कर, कुछ भाषाओं की सुविधा पर ध्यान देने का नाम ही हिन्दी-व्याकरण-सुधार है, तब तो हमें कुछ नहीं कहना है। एक अपूर्णता को दूर करते हुए दूसरी अपूर्णता पेश करने का नाम सुधार नहीं। सुधार में व्यापकता होनी चाहिए। वर्त्तमान हिन्दी के व्याकरण में संशोधन करने से दक्षिण भारतीयों को बहुत सुविधा हो जाएगी, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु उत्तर के लोगों को उससे दस गुना असुविधा होगी, यह भी विचारणीय बात है।"[२]

व्याकरण-सुधार सम्बन्धी सुझावों के पक्ष-विपक्ष की दलीलों पर विचार करने के उपरान्त काका कालेलकर ने अपना निष्कर्ष देते हुए लिखा था कि "हिन्दी राष्ट्रभाषा है, उसका मुख्य कारण, करोड़ों भारतवासियों की आज वह जन्मभाषा है। उनका अधिकार हिन्दी पर अधिक है। उन्होंने सदियों से उस भाषा की सेवा भी की है। उनके व्याकरण पर दक्षिण के लोग मनमाने हस्तक्षेप नहीं कर सकते। दक्षिण के लोग हिन्दी के व्याकरण की सरलता अवश्य माँग सकते हैं। वह विकल्प रूप से माँगनी है। उत्तर के करोड़ों हिन्दी

---

१. हिन्दी प्रचारक, जुलाई, सद् १९३३ ई०।

२. उपरिवत्, जून, सन् १९३३ ई०।

भाषा-भाषी आपके सुभीते के लिए अपने मुहावरों को न छोड़ेंगे; आप दक्षिणी मुहावरों की आदत से हिन्दी में जितनी भूलें करेंगे उनमें से, एकाध नियम ढूंढ़ कर, उसके अनुसार आपकी भूलें, भूलें न मानी जायँ। इतनी ही आशा रख सकते हैं। मैं उत्तर-दक्षिण के बीच का रहने वाला हूँ। मेरा यह निर्णय तटस्थ भाव से दिया हुआ है।"[१] इस प्रकार, व्याकरण-सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव अन्ततः निष्फल रहा। सन् १९३५ में आगरे में एक 'लिङ्ग-भेद-नियन्त्रण समिति' स्थापित हुई थी, जिसके संयोजक श्री रामरत्न थे; किन्तु उस समिति के द्वारा भी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हो सका।

हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दू पर वाद-विवाद :—हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू इन तीनों नामों को लेकर राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में बहुत दिनों तक वाद-विवाद होता रहा। गाँधी जी 'हिन्दी' को 'हिन्दुस्तानी' के नाम से पुकारना अधिक पसन्द करते थे। किन्तु, हिन्दी के विद्वान 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ 'उर्दू' समझ कर हिन्दी को हिन्दी कहना ही उपयुक्त मानते थे। इस वाद-विवाद से दक्षिण के हिन्दी-प्रचारकों में भी गलतफहमियाँ फैली थीं। उनके बीच भी सभा-सम्मेलनों में नाम-परिवर्त्तन के प्रश्न पर काफी चर्चा हुई थी। 'हिन्दी-प्रचार-सभा' को 'हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा', हिन्दी-रीडर' को 'हिन्दुस्तानी-रीडर', 'हिन्दी-प्रचारक' को 'हिन्दुस्तानी-प्रचारक' तथा 'हिन्दी-प्रचारक मासिक पत्र' को 'हिन्दुस्तानी-प्रचारक मासिक पत्र' नाम रखने के प्रस्ताव पर 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के संयोजकों, सदस्यों एवं प्रचारकों में भी दो दल हो गये थे। दोनों पक्षों के लोगों के तर्क समाचार पत्रों में, पुस्तक-रूप में तथा सार्वजनिक भाषण-मञ्चों पर बहुत दिनों तक चर्चा के विषय बने रहे। गाँधी जी हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों को अभिन्न मानते थे। उनकी मान्यता थी कि हिन्दुस्तानी जब नागरी में लिखी जाती है, तब हिन्दी और जब फारसी-अरबी में लिखी जाती है, तब उर्दू कही जाती है। इस कारण, हिन्दू-मुस्लिम-एकता के उद्देश्य से समझौते का मध्यममार्ग अपना कर उन्होंने राष्ट्रभाषा को हिन्दी या उर्दू न कह कर 'हिन्दुस्तानी' कहे जाने पर जोर दिया था। किन्तु, उनकी वह नीति हिन्दी के साहित्यकारों तथा विद्वानों को पसन्द नहीं आयी। उन्होंने अपनी जबर्दस्त दलीलों के बल पर यह साबित करने की चेष्टा की कि हिन्दी और उर्दू अलग-अलग भाषाएँ हैं और 'हिन्दुस्तानी' नाम

१. 'हिन्दी प्रचारक', जुलाई, सन् १९३३ ई०।

की कोई भाषा है ही नहीं। इस वाद-विवाद से हिन्दी-क्षेत्र में एक तूफ़ान सा उठ खड़ा हुआ और जब तक भारतीय संविधान के द्वारा 'राष्ट्रभाषा' के नाम-रूपादि का निर्धारण नहीं हो गया, तब तक हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के वाद-विवाद की समाप्ति नहीं हुई। यों, राष्ट्रभाषा के रूप, शैली आदि पर यत्र-तत्र आज भी चर्चा चलती ही रहती है।[1]

२. हिन्दी को राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता :—

उत्कर्ष-काल की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना हिन्दी को राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता की उपलब्धि थी, जिसकी आधार-भूमि सैकड़ों वर्ष पहले से निर्मित होती आयी थी। सामान्य अर्थ में किसी देश में प्रचलित सभी भाषाएँ उस देश की राष्ट्रभाषा कही जा सकती हैं, किन्तु उन्हें राष्ट्रभाषा नहीं कह कर राष्ट्रीय भाषा कहना अधिक युक्तिसङ्गत है। वास्तविक अर्थ में राष्ट्रभाषा उसे कहते हैं, जो किसी देश की अन्तरदेशीय भाषा हो, अर्थात् जो देश के सभी भागों में बोली-समझी जाती हो। इस अर्थ में हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता पाने के सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत की राष्ट्रभाषा बन चुकी थी और इसके उस आगमिष्यत् रूप को हिन्दी भाषियों से पहले अनेक अहिन्दीभाषी राष्ट्रहितैषी महापुरुषों ने ही अपनी दूरदर्शी कल्पना एवं प्रत्यक्ष कार्यों के द्वारा सङ्केतित कर दिया था। उन महापुरुषों में महर्षि दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, शारदाचरण मित्र, भूदेव मुखर्जी, श्रीकृष्ण स्वामी अय्यर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुभाषचन्द्र बोस, लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक, श्रीनिवास शास्त्री, पट्टाभि सीतारामैय्या, सरोजिनी नायडू, नवीनचन्द्र राय, स्वामी श्रद्धानन्द, काका कालेलकर आदि के साथ महात्मा गाँधी के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे। किन्तु, हिन्दी को राष्ट्रभाषा (राजभाषा) के रूप में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त कराने के उद्देश्य से उसे देशव्यापी एवं सर्वमान्य बनाने के सर्वाधिक प्रयत्न करने एवं कराने वालों में महात्मा गाँधी उसी प्रकार सर्वोपरि नेता थे, जिस प्रकार देश को स्वतन्त्रता प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वालों में। यह मुख्यतः उनके तथा उनकी प्रेरणा से कार्य करने वाले उनके सहयोगियों के राष्ट्र-

---

१. पी० के० के० ना०, 'द० हि० प्र० आ० स० इ०, पृ० १८५-८६।

हितकारी सद्विवेक एवं सत्प्रयत्नों का परिणाम था कि भारत के संविधान में हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' एवं राजभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त हो सकी। निश्चय ही वह दिन हिन्दी भाषा के साथ ही हिन्दी व्याकरण के लिए भी गौरव का था। देश की स्वतन्त्रता के बाद तथा संविधान में हिन्दी को राजभाषा की मान्यता मिलने के बाद हिन्दी व्याकरणेतिहास में नयी चेतना से युक्त एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिसका परिचय आगे यथास्थान दिया जायगा।

उत्कर्ष-काल के प्रमुख वैयाकरण

पं० कामता प्रसाद गुरु :

पं० कामता प्रसाद गुरु का 'हिन्दी व्याकरण' नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सं० १९७७ वि० (सन् १९२१ ई०) में प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व वे व्याकरण सम्बन्धी और भी कई पुस्तकों की रचना कर चुके थे, जिनका परिचय कालक्रम से नीचे दिया जा रहा है।

१. **भाषा वाक्य पृथक्करण**—इसका प्रकाशन बनारस के चन्द्रप्रभा प्रेस से सं० १९५७ वि० (सन् १९०० ई०) में हुआ था। यह गुरु जी की व्याकरण सम्बन्धी पहली पुस्तक थी। उन दिनों वे रायपुर के नॉर्मल स्कूल में अध्यापक थे। पुस्तक का परिचय देते हुए उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था कि "वाक्य पृथक्करण व्याकरण का एक अंग है। यद्यपि इसकी सृष्टि अंग्रेजी भाषा से है, तो भी इसके नियम और लाभ प्राय: सभी भाषाओं में एक ही से हैं। यह विषय इस प्रदेश में पढ़ाया तो जाता है, परन्तु किसी पुस्तक के न होने से बहुधा सन्देह का निवारण अच्छी तरह नहीं हो सक्ता। इस दोष को दूर करने के लिये मैं ने 'भाषा वाक्य पृथक्करण' नाम की यह पुस्तक लिखी है। यह सिर्फ पहला भाग है, जिसमें साधारण वाक्य का पृथक्करण पूर्णता से लिखा गया है। अगर इससे विद्यार्थियों और पाठकों का लाभ हुआ, तो दूसरा भाग भी, जिसमें मिश्र और संयुक्त व्याक्यों का वर्णन रहेगा, तैयार किया जावेगा।"[१] इसकी रचना में गुरु जी ने प्रो० आगरकर की 'वाक्य मीमांसा', मि० पाध्ये की 'भाषातत्त्व दीपिका', मारेल कृत 'एनालिसिस ऑफ सेन्टेन्सेज', प्लाट कृत 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' तथा एथरिङ्गटन कृत 'भाषाभास्कर' नामक पुस्तकों की सहायता ली थी।[२] इसका दूसरा और तीसरा भाग प्रकाशित हुआ था कि नहीं, इसका निश्चित पता नहीं है। यह अपने विषय की एक उत्तम छात्रोपयोगी पुस्तक थी।

---

१. का० प्र० गु०, 'भाषा वाक्य पृथक्करण', भूमिका।

२. उपरिवत्।

इसमें वाक्य-पृथक्करण की परिभाषा इस प्रकार दी गयी थी—"आपस में संबंध बताने के लिये, वाक्य के भागों को अलग-अलग करना वाक्य-पृथक्करण कहलाता है।"[१] गुरु जी ने वाक्य के सात रूप (विधानार्थक, निषेधवाचक, आज्ञार्थक, प्रश्नार्थक, विस्मयादिबोधक, इच्छाबोधक और सन्देहसूचक), दो भाग (उद्देश्य और विधेय) तथा तीन प्रकार (साधारण, मिश्र और संयुक्त) माने थे। इन सब पर विस्तार से विचार किया था। पुस्तक के अन्त में कुछ व्याकरण सम्बन्धी बातें भी दी गयी थीं, जैसे—प्रधान और अप्रधान कर्त्ता का विवेचन, क्रिया के कर्त्तरि, कर्मणि और भावे प्रयोग का परिचय, कर्म के 'को' चिह्न के प्रयोग के नियम आदि।

गुरु जी की इस प्रथम कृति की, तत्कालीन अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों तथा विद्वानों के द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी थी। उन पत्र-पत्रिकाओं में सरस्वती (प्रयाग), भारत मित्र (कलकत्ता), हिन्दी बङ्गवासी (कलकत्ता), शुभचिन्तक (जबलपुर), नागपुर बरार टाइम्स (नागपुर) तथा छत्तीसगढ़ मित्र (बिलासपुर, म० प्र०) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार, प्रशंसक विद्वानों में ग्रियर्सन तथा प्लाट्स जैसे भाषाशास्त्री भी सम्मिलित थे। गुरु जी ने उन सब सम्मतियों को सङ्कलित कर अपनी बाद की कृति 'सहज हिन्दी रचना' के अन्तिम तीन पृष्ठों में प्रकाशित किया था। इस पहली ही कृति की सफलता एवं लोकप्रियता ने विद्वानों का ध्यान गुरु जी की ओर अच्छी तरह आकृष्ट कर दिया था। किन्तु, भाषा की दृष्टि से उन्हें इसमें पूर्ण सफलता नहीं मिली थी। इसमें अनेकत्र उन्होंने कई शब्दों के ऐसे खटकने वाले प्राचीन रूपों का प्रयोग किया था, जिन्हें आगे चल कर उन्होंने स्वयं त्याज्य माना था, उदाहरणार्थ—'तो भी', 'सक्ता' 'जावेगा' आदि।

२. **हिन्दी बालबोध व्याकरण**—यह गुरु जी की दूसरी पुस्तक थी, जो बनारस के मेडिकल हॉल प्रेस से प्रकाशित हुई थी। इसकी प्रति उपलब्ध नहीं होने के कारण इसके प्रकाशन-वर्ष का निश्चित पता नहीं चल सका। अनुमानतः, इसका प्रकाशन सं० १८५८ वि० से १९६७ वि० (सन् १९०१ ई० से १९१० ई०) के बीच कभी हुआ होगा। सं० १९६८ वि० (सन् १९११ ई०) में प्रकाशित गुरु जी की तीसरी पुस्तक 'सहज हिन्दी रचना में एक इस्तेहार इस प्रकार छपा था—"हिन्दी बालबोध व्याकरण, प्रथम भाग, दाम ≡)। इसमें वाक्य

१. का० प्र० गु०, 'भाषा वाक्य पृथक्करण', भूमिका, पृ० २१

पर से शब्द भेद सिखाने की रीति सरलता से समझायी गयी है। संयुक्त प्रदेश की टेक्स्टबुक कमेटी ने इसे शिक्षकों के उपयोग के लिए मंजूर किया है। मिलने का पता—मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस।" 'सहज हिन्दी रचना' के अन्त में 'भाषा-वाक्य-पृथक्करण' के सम्बन्ध में छपी सम्मतियों के बाद कुछ सम्मतियाँ इसके सम्बन्ध में भी थीं। गुरु जी की यह पुस्तक सम्भवतः अधिक ख्यात नहीं हो सकी थी।

३. **सहज हिन्दी रचना**—यह गुरु जी की तीसरी पुस्तक थी। इसका प्रकाशन सं० १९६८ वि० (सन् १९११ ई०) में लखनऊ के मुंशी नवलकिशोर (सी० आई० ई०) के छापेखाने से हुआ था। इस समय गुरु जी जबलपुर ट्रेनिङ्ग कॉलेज के अध्यापक थे। इस पुस्तक की रचना 'मध्यप्रदेश की पाँचवीं और छठवीं (छठी) कक्षाओं के उपयोग के लिये' की गयी थी। 'भूमिका' में गुरु जी ने लिखा था कि "हिन्दी में हिन्दी-रचना की कोई उपयुक्त पुस्तक आज तक नहीं लिखी गई। जो दो-एक पुस्तकें इस विषय की क्वचित् पाई जाती हैं वे हमारी समझ में, क्रमपूर्वक नहीं लिखी गई हैं। यह छोटी पुस्तक भी निर्दोष और पूर्ण नहीं है, तो भी इसमें विषयक्रम पर ध्यान दिया गया है, और यह आशा की जाती है कि कोई योग्य शिक्षक इस पुस्तक के दोषों को दूर करने के विचार से कालान्तर में हिन्दी साहित्य का यह अङ्ग पूर्ण कर देवैं। इस पुस्तक के लिखने में हमने लौरी के 'फस्ट स्टेप्स इन इङ्गलिश कम्पोजीशन' का सहारा लिया है; पर हिन्दी के रूप और अर्थ पर सदैव दृष्टि रक्खी है। किसी भी विषय के सिखाने की रीति में बहुधा मतभेद रहा करता है, इसलिये यह पुस्तक उन शिक्षकों के लिये नहीं लिखी गई है जो इस विषय को किसी अधिक मान्य और सहज रीति से पढ़ाते हैं। जो हो, पर भाषा की रचना सिखाना सभी आवश्यक समझते हैं; क्योंकि यदि व्याकरण भाषा का विज्ञान है तो रचना उसकी कला है। इस पुस्तक की भाषा और विषय-विभाग इस प्रकार रक्खे गये हैं कि छोटे-छोटे लड़के उन्हें समझ सकैं और इसके साथ ही उनके व्याकरण की पुनरावृत्ति होती जावैं। इसमें जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें बहुत से हिन्दी पुस्तकों के हैं।" इस पुस्तक में भी गुरु जी की भाषा में 'जावैं', 'करै' आदि पुराने प्रयोग भरे पड़े थे। यह रचना की एक सामान्य पुस्तक थी, इसलिए इसका प्रचार भी बहुत सीमित क्षेत्र में ही हुआ।

४. **हिन्दी व्याकरण**—उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त गुरु जी ने व्याकरण सम्बन्धी कई पाण्डित्यपूर्ण लेख भी लिखे थे, जो 'सरस्वती' के भिन्न-भिन्न अङ्कों में प्रकाशित हुए थे। उन दिनों 'सरस्वती' का सम्पादन पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी कर रहे थे। वे गुरु जी की पुस्तकों और लेखों से बहुत प्रभावित हुए थे। फलतः, उन्होंने और पं० माधवराव सप्रे ने मिल कर नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों से, गुरु जी के द्वारा एक विस्तृत हिन्दी व्याकरण लिखवाने का अनुरोध किया। 'सभा' ने उन महानुभावों के अनुरोध का सादर स्वागत करते हुए, सं० १९७२ वि० (सन् १९१५ ई०) में, गुरु जी से एक बृहत् हिन्दी व्याकरण लिखने का आग्रह किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके पूर्व 'सभा' और भी कई विद्वानों से व्याकरण लिखवा कर प्रकाशित कर चुकी थी, जिनमें बाबू गङ्गा प्रसाद एम० ए० और पं० रामकर्ण शर्मा के व्याकरण विशेष उपयोगी प्रमाणित हुए थे।

'हिन्दी व्याकरण' की रचना में गुरु जी को पाँच वर्षों तक लगातार अथक परिश्रम करना पड़ा था। सं० १९७७ वि० (सन् १९२० ई०) में उन्होंने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सभा को सौंपी थी, जिसकी प्रति उसी वर्ष गणपति गुर्जर द्वारा श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी में मुद्रित होकर देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों तथा 'सभा' द्वारा नियोजित व्याकरण-संशोधन-समिति के सदस्यों के पास विचारार्थ भेजी गयी थी। वही संस्करण वस्तुतः ग्रन्थ का मूल संस्करण था, जिसमें व्याकरण के सभी अङ्गों पर गुरु जी के स्वतन्त्र मत अविकल रूप से उपलब्ध थे। बाद में, व्याकरण-संशोधन-समिति के सत्परामर्शों के आधार पर, उन्हें अपने अनेक मतों में संशोधन करना पड़ा था और 'सभा' ने उस संशोधित प्रति को पुनः मुद्रित करा कर 'हिन्दी व्याकरण' के नाम से सं० १९७७ वि० (सन् १९२१ ई०) में प्रकाशित किया था।

सभा की व्याकरण-संशोधन-समिति में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० रामावतार शर्मा, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राय बहादुर पं० लज्जाशङ्कर झा, पं० रामनारायण मिश्र, बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० गोविन्दनारायण मिश्र तथा पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के अतिरिक्त ग्यारहवें सदस्य स्वयं पं० कामता प्रसाद गुरु थे। समिति की बैठक आश्विन शुक्ल ३, संवत् १९७७ वि० (ता० १४ अक्टूबर, सन् १९२० ई० को सभा-भवन में ही हुई थी। बैठक में पं० गोविन्दनारायण

मिश्र तथा पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के अतिरिक्त अन्य सभी सदस्य उपस्थित हुए थे। समिति के सदस्यों ने विचार-विमर्श के पश्चात् ग्रन्थ के सम्बन्ध में अपनी जो सम्मति 'सभा' के मन्त्री को सौंपी थी, उसका मूल अंश इस प्रकार है—"हम लोगों ने व्याकरण के मुख्य-मुख्य सभी अंगों पर विचार किया। हमारी सम्मति है कि सभा ने जो व्याकरण विचार के लिए छपवा कर प्रस्तुत किया है वह आज तक प्रकाशित व्याकरणों से सभी बातों में उत्तम है। वह बड़े विस्तार से लिखा गया है। प्रायः कोई अंश छूटने नहीं पाया। इसमें सन्देह नहीं कि व्याकरण बड़ी गवेषणा से लिखा गया है। हम इस व्याकरण को प्रकाशन योग्य समझते हैं और अपने सहयोगी पं० कामता प्रसाद जी गुरु को साधुवाद देते हैं। उन्होंने ऐसे अच्छे व्याकरण का प्रणयन करके हिन्दी साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंश की पूर्त्ति कर दी। जहाँ-जहाँ परिवर्त्तन करना आवश्यक है उसके विषय में हम लोगों ने सिद्धान्त स्थिर कर दिये हैं। उनके अनुसार सुधार करके पुस्तक छपवाने का भार निम्नलिखित महाशयों को दिया गया है—१. पं० कामता प्रसाद गुरु, असिस्टेण्ट मास्टर, मॉडल हाई स्कूल, जबलपुर। २. पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, जुही-कलाँ, कानपुर। ३. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयपुर भवन, मेयो कॉलेज, अजमेर।"[१]

गुरु जी का व्याकरण हिन्दी के उत्थान में एक नये युग का मार्गदर्शक बन कर आया था। उसके प्रकाशन के द्वारा हिन्दी के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्त्ति हुई थी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी समालोचनाओं के द्वारा हिन्दी का जो प्रतिमान उपस्थित करने का प्रयास किया था, उसके लिए सर्वाधिक ठोस और मूर्त्त आधार इसी व्याकरण ने प्रस्तुत किया। यह व्याकरण यथासाध्य द्विवेदी जी के आदर्शानुरूप बना था। गुरु जी इसके लेखक तो थे, किन्तु उनके प्रेरक, निर्देशक तथा संशोधक तीनों रूपों में द्विवेजी आद्यन्त उनके साथ उपस्थित रहे थे। आज यह बता सकना सर्वथा असम्भव है कि उस ग्रन्थ का कितना अंश द्विवेदी जी की लेखनी का सँवारा हुआ है। गुरु जी ने ग्रन्थ की भूमिका में उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए स्वयं लिखा था कि "पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का मैं विशेषतया कृतज्ञ हूँ, क्योंकि आपने

---

१. पं० का० प्र० गु०, हिन्दी व्याकरण, व्याकरण-संशोधन-समिति की सम्मति।

हस्तलिखित प्रति का अधिकांश भाग पढ़ कर अनेक उपयोगी सूचनाएँ देने की कृपा और परिश्रम किया है।"[१]

गुरुजी ने अपने व्याकरण की रचना में जिन पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से सहायता ली थी, उनका उल्लेख करते हुए लिखा था कि "इस ग्रन्थ की रचना में मैंने पूर्वोक्त (बाबू गङ्गा प्रसाद और पं० रामकर्ण शर्मा द्वारा लिखित) दोनों व्याकरणों से यत्र-तत्र सहायता ली है और हिन्दी-व्याकरण के आज तक छपे हुए हिन्दी और अँगरेजी ग्रन्थों का भी थोड़ा-बहुत उपयोग किया है। द्विवेदी लिखित 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' और 'ब्रिटिश विश्वकोष' के "हिन्दुस्तानी' नामक लेख के आधार पर, इस पुस्तक में हिन्दी की उत्पत्ति लिखी गई है। अरबी-फारसी शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए मैं अधिकांश में राजा शिवप्रसाद कृत 'हिन्दी व्याकरण' और प्लाट्स कृत 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' का ऋणी हूँ। काले-कृत 'उच्च संस्कृत व्याकरण' से मैंने संस्कृत-व्याकरण के कुछ अंश लिये हैं। सबसे अधिक सहायता मुझे दामले-कृत 'शास्त्रीय मराठी व्याकरण' से मिली है जिसकी शैली पर मैंने अधिकांश में अपना व्याकरण लिखा है। पूर्वोक्त पुस्तक से मैंने हिन्दी में घटित होने वाले व्याकरण विषयक कई एक वर्गीकरण, विवेचन, नियम और न्याय-सम्मत लक्षण, आवश्यक परिवर्त्तन के साथ लिये हैं। संस्कृत व्याकरण के कुछ उदाहरण भी मैंने इस पुस्तक से संग्रह किये हैं। पूर्वोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अँगरेजी, बँगला और गुजराती व्याकरणों से भी कहीं-कहीं सहायता ली गई है।"[२]

गुरु जी ने उपर्युक्त ग्रन्थों से सहायता तो ली थी, किन्तु उनमें से किसी का भी अन्धानुकरण नहीं किया था। सिद्धान्तों के निरूपण में उन्होंने यथा-साध्य अपने विवेक एवं स्वतन्त्र-चिन्तन का ही सहारा लिया था। फलस्वरूप, अन्य ग्रन्थों से सामग्री लेने पर भी उनके ग्रन्थ में विवेचन की मौलिकता प्रायः सर्वत्र अक्षुण्ण रह गयी थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं भी लिखा था कि "हिन्दी तथा अन्यान्य भाषाओं के व्याकरणों से उचित सहायता लेने पर भी, इस पुस्तक में जो विचार प्रकट किये गये हैं, और जो सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं, वे साहित्यिक हिन्दी से ही सम्बन्ध रखते हैं और उन सबके लिए मैं ही उत्तरदाता हूँ। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि हिन्दी-व्याकरण की

---

१. पं० का० प्र० गु०, हिन्दी व्याकरण, भूमिका, पृ० ११।

२. उपरिवत्, पृ० १–२।

छोटी-मोटी कई पुस्तकें उपलब्ध होते हुए भी, हिन्दी में, इस समय अपने विषय और ढंग की यही एक व्यापक और (सम्भवतः) मौलिक पुस्तक है।"

गुरु जी के व्याकरण का एक दोष यह था कि वह भारतीय आर्यभाषाओं, जैसे संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंशादि की व्याकरण-पद्धति पर नहीं लिखा जाकर अँगरेजी-व्याकरण के ढङ्ग या नकल पर लिखा गया था। यह बात स्वयं गुरु जी को भी खटकी थी। किन्तु, संस्कृत-प्रणाली पर हिन्दी का व्याकरण लिख देना टेढ़ी खीर था। यही कारण था कि उन्होंने विदेशी आदर्श के सरल-सुगम मार्ग पर चलना ही उचित समझा। इस सम्बन्ध में अपने पक्ष की वकालत करते हुए उन्होंने लिखा था कि "इस प्रणाली के अनुसरण का मुख्य कारण यह है कि हिन्दी में आरम्भ ही से इस प्रणाली का उपयोग किया गया है और आज तक किसी लेखक ने संस्कृत-प्रणाली का कोई पूर्ण आदर्श उपस्थित नहीं किया। वर्त्तमान प्रणाली के प्रचार का दूसरा कारण यह है कि इसमें स्पष्टता और सरलता विशेष रूप से पाई जाती है और सूत्र तथा भाष्य, दोनों ऐसे मिले रहते हैं कि एक ही लेखक पूरा व्याकरण, विशेष रूप में लिख सकता है।"[२] किन्तु, इन तर्कों से स्वयं उन्हें भी सन्तोष नहीं हुआ था और उन्हें स्वीकार करना पड़ा था कि "हिन्दी भाषा के लिए वह दिन सचमुच बडे गौरव का होगा, जब इसका व्याकरण 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' के मिश्रित रूप में लिखा जायगा; पर वह दिन अभी दूर दिखाई देता है। यह कार्य मेरे लिए तो, अल्पज्ञता के कारण दुस्तर है; पर इसका सम्पादन तभी सम्भव होगा जब संस्कृत के अद्वितीय वैयाकरण हिन्दी को एक स्वतन्त्र और उन्नत भाषा समझ कर उसके व्याकरण का अनुशीलन करेंगे।"[३]

अँगरेजी-प्रणाली का अनुसरण करने के कारण हिन्दी के कई अङ्गों के विश्लेषण में उन्हें कठिनाई भी हुई थी; मुख्य रूप से 'काल' और 'कारकों' के के प्रकरण में; किन्तु वहाँ भी उन्होंने संस्कृत-पद्धति का सहारा नहीं लिया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "मेरा विचार था कि इस पुस्तक में मैं विशेष कर 'कारकों' और 'कालों' का विवेचन संस्कृत की शुद्ध प्रणाली के अनुसार करता; पर हिन्दी में इन विषयों की रूढ़ि, अँगरेजी के समागम से,

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, भूमिका, पृ० २।

२. उपरिवत्, पृ० ३–४।

३. उपरिवत्, पृ० ४।

अभी तक इतनी प्रबल है कि मुझे सहसा इस प्रकार का परिवर्त्तन करना उचित न जान पड़ा। हिन्दी में व्याकरण का पठन-पाठन अभी बाल्यावस्था ही में है, इसलिए इस नई प्रणाली के कारण इस रूखे विषय के और भी रूखे हो जाने की आशंका थी। इसी कारण मैंने 'विभक्तियों' और 'आख्यातों' के बदले 'कारकों' और 'कालों' का नामोल्लेख तथा विचार किया है।"[१]

हिन्दी के रूपों की विविधता के कारण व्यापक नियम बनाने के मार्ग में जो कठिनाइयाँ होती हैं, उनकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी में अनेक उपभाषाओं के होने तथा उर्दू के साथ अनेक वर्षों से इसका सम्पर्क रहने के कारण हमारी भाषा की रचना-शैली अभी तक बहुधा इतनी अस्थिर है कि इस भाषा के वैयाकरण को व्यापक नियम बनाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ये कठिनाइयाँ भाषा के स्वाभाविक संगठन से भी उत्पन्न होती हैं; पर निरंकुश लेखक इन्हें और भी बढ़ा देते हैं। हिन्दी के स्वराज्य में अहमन्य लेखक बहुधा स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया करते हैं और व्याकरण के शासन का अभ्यास न होने के कारण इस विषय के उचित आदेशों को भी पराधीनता मान लेते हैं। प्रायः लोग इस बात को भूल जाते हैं कि साहित्यिक भाषा सभी देशों और कालों में लेखकों की मातृभाषा अथवा बोलचाल की भाषा से थोड़ी-बहुत भिन्न रहती है और वह, मातृभाषा के समान, अभ्यास ही से आती है। ऐसी अवस्था में, केवल स्वतन्त्रता के आवेश के वशीभूत होकर, शिष्टभाषा पर विदेशी भाषाओं अथवा प्रान्तीय बोलियों का अधिकार चलाना एक प्रकार की राष्ट्रीय अराजकता है। यदि स्वयं लेखकगण अपनी साहित्यिक भाषा को योग्य अध्ययन और अनुकरण से शिष्ट, स्पष्ट और प्रामाणिक बनाने की चेष्टा न करेंगे तो वैयाकरण 'प्रयोग-शरण' का सिद्धान्त कहाँ तक मान सकेगा?"[२]

गुरु जी की यह उत्कट इच्छा थी कि वे अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में हिन्दी भाषा का व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करते, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में वे उस इच्छा की पूर्त्ति नहीं कर सके। इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा था कि "इस पुस्तक में एक विशेष त्रुटि रह गई है जो कालान्तर ही में दूर हो सकती है; जब हिन्दी भाषा की पूरी और वैज्ञानिक खोज की जायगी।

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, भूमिका।

२. उपरिवत्, पृ० ८-१० ।

मेरी समझ में किसी भी भाषा के सर्वाङ्ग-पूर्ण व्याकरण में उस भाषा के रूपान्तरों और प्रयोगों का इतिहास लिखना आवश्यक है। यह विषय इस व्याकरण में न आ सका, क्योंकि हिन्दी भाषा के आरम्भ-काल में, समय-समय पर (प्राय: एक शताब्दि में) बदलने वाले रूपों और प्रयोगों के प्रामाणिक उदाहरण, जहाँ तक मुझे पता लगा है, उपलब्ध नहीं हैं। फिर इस विषय के योग्य प्रतिपादन के लिए शब्दशास्त्र की विशेष योग्यता की भी आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में मैंने 'हिन्दी-व्याकरण' में हिन्दी भाषा के इतिहास के बदले हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास देने का प्रयत्न किया है। यथार्थ में यह बात अनुचित और अनावश्यक प्रतीत होती है कि भाषा के सम्पूर्ण रूपों और प्रयोंगों की नामावली के स्थान में कवियों और लेखकों तथा उसके ग्रन्थों की शुष्क नामावली दी जाय। मैंने यह विषय केवल इसलिए लिखा है कि पाठकों को प्रस्तावना के रूप में, अपनी भाषा की महत्ता का थोड़ा-बहुत अनुमान हो जाय।"[१]

'भूमिका' के पश्चात् ग्रन्थ की 'प्रस्तावना' में गुरु जी ने भाषा और व्याकरण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध और महत्त्व का विवेचन किया था। 'प्रस्तावना' के अन्त में उन्होंने व्याकरण के मुख्य तीन विभाग माने थे—वर्ण-विचार, शब्द-साधन और वाक्य-विन्यास। इसके पश्चात् उन्होंने हिन्दी की उत्पत्ति पर संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयास किया था। इस प्रसङ्ग में उन्होंने एक अज्ञात आदिम भाषा से संसार की भाषाओं की उत्पत्ति की सम्भावना पर जोर देते हुए संसार की भाषाओं को तीन परिवारों (आर्य भाषाएँ, शामी भाषाएँ और तूरानी भाषाएँ) में विभक्त किया था। आर्य भाषाओं के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "इस बात का अभी तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हुआ है कि सम्पूर्ण आर्य भाषाएँ—फारसी, यूनानी, लैटिन, रूसी आदि वैदिक संस्कृत से निकली हैं अथवा और-और भाषाओं के साथ-साथ यह पिछली भाषा भी आदिम आर्य भाषा से निकली है।"[२] इसके बाद वैदिक संस्कृत, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की अति सामान्य चर्चा करते हुए उन्होंने हिन्दी के सम्बन्ध में लिखा था कि हमारी हिन्दी भाषा दो अपभ्रंशों के मेल से बनी है—एक नागर-अपभ्रंश

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, भूमिका, पृ० १०–११।

२. उपरिवत्, हिन्दी की उत्पत्ति, पृ० ११।

जिससे पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी निकली हैं; दूसरा अर्द्धमागधी का अपभ्रंश जिससे पूर्व हिन्दी निकली है, जो अवध, बघेलखण्ड और छत्तीसगढ़ में बोली जाती है।"[1] इस प्रसङ्ग में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग उन्होंने केवल 'खड़ी बोली' के अर्थ में नहीं, अपितु हिन्दी से सम्बद्ध सभी बोलियों के समूह के अर्थ में किया था। तदनन्तर, उन्होंने हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया था।

हिन्दी और उर्दू के सम्बन्ध में कई विद्वानों के विरोधी मतों का उल्लेख करते हुए, अन्त में उन्होंने द्विवेदी जी के मत का समर्थन किया था और लिखा था कि 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' नामक पुस्तक के अनुसार हिन्दी और उर्दू, हिन्दुस्तानी की शाखाएँ हैं जो पश्चिमी हिन्दी का एक भेद है। इस भाषा का 'हिन्दुस्तानी' नाम अँगरेजों का रक्खा हुआ है और उससे बहुधा उर्दू का बोध होता है।"[2] तदनन्तर, उन्होंने दोनों भाषाओं के भिन्न-भिन्न नामों का संक्षिप्त विवेचन किया था और दोनों की अभिन्नता पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "हिन्दी और उर्दू मूल में एक ही भाषा हैं। उर्दू हिन्दी का केवल मुसलमानी रूप है। आज भी कई शतक बीत जाने पर इन दोनों में विशेष अन्तर नहीं है; पर इनके अनुयायी लोग इस नाममात्र के अन्तर को वृथा ही बढ़ा रहे हैं। यदि हमलोग हिन्दी में संस्कृत के और मुसलमान उर्दू में अरबी-फारसी के शब्द कम लिखें तो दोनों भाषाओं में बहुत थोड़ा भेद रह जाय और सम्भव है, किसी दिन, दोनों समुदायों की लिपि और भाषा एक हो जायँ। धर्मभेद के कारण पिछली शताब्दी में हिन्दी और उर्दू के प्रचारकों में परस्पर खींचातानी शुरू हो गई। मुसलमान हिन्दी से घृणा करने लगे और हिन्दुओं ने हिन्दी के प्रचार पर जोर दिया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में संस्कृत शब्द और उर्दू में अरबी-फारसी के शब्द बहुत मिल गये और दोनों भाषाएँ क्लिष्ट हो गईं। इन दिनों कई राजनीतिक कारणों से हिन्दी-उर्दू का विवाद और भी बढ़ रहा है और 'हिन्दुस्तानी' के नाम से एक खिचड़ी भाषा की रचना की जा रही है जो न शुद्ध हिन्दी होगी और न शुद्ध उर्दू।"[3] उन्होंने दोनों में मुख्य अन्तर लिपि, शब्दसमूह, विशेष्य-विशेषण के प्रयोग तथा छन्दों में माना था।

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १५।
२. उपरिवत्, पृ० १६।
३. उपरिवत्, पृ० ३८–३९।

गुरु जी ने ग्रियर्सन की उस मान्यता का खण्डन किया था, जिसमें उन्होंने आधुनिक हिन्दी को एक कृत्रिम भाषा मानते हुए लल्लू लाल को उसका जनक बताया था। गुरु जी ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि "यद्यपि इस भाषा का नाम 'उर्दू' या 'खड़ी बोली' नया है तो भी उसका यह रूप नया नहीं है, किन्तु उतना ही पुराना है जितने उसके दूसरे रूप—व्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि हैं।"[१]

'प्रस्तावना' के अन्तिम खण्ड में उन्होंने हिन्दी-शब्द-समूह को—तत्सम, तद्भव, अर्द्धतत्सम, देशज, अनुकरणवाचक तथा विदेशी इन छह वर्गों में बाँटा था। विदेशी शब्दों के विवेचन में उनसे एक बड़ी भूल हो गयी थी कि जहाँ उन्होंने उसके अन्तर्गत फारसी, अरबी, तुर्की, पोर्चुगीज और अँगरेजी शब्दों को स्थान दिया था, वहीं बँगला और मराठी से आगत शब्दों को भी विदेशी ही मान लिया था। 'प्रस्तावना' के वाद ग्रन्थ के मुख्य अंश का प्रारम्भ किया गया था।

गुरु जी ने अपने व्याकरण के 'वर्णविचार' शीर्षक पहले भाग को पाँच अध्यायों में बाँटा था। पहले अध्याय में भ्रमवश उन्होंने वर्ण को ध्वनि का पर्याय मानते हुए लिखा था कि "वर्ण उस भूल ध्वनि को कहते हैं जिसके खण्ड न हो सकें।"[२] आगे चल कर लिपि के प्रकरण में अपनी भूल सुधारते हुए उन्होंने लिखा था कि "लिखित भाषा में मूल ध्वनियों के लिए जो चिह्न मान लिये गये हैं, वे भी वर्ण कहलाते हैं, पर जिस रूप में ये लिखे जाते हैं, उसे लिपि कहते हैं।"[३] किन्तु, ग्रन्थ में अन्यत्र उन्होंने सर्वत्र ध्वनि के स्थान पर 'वर्ण' शब्द का ही प्रयोग किया था।

उन्होंने हिन्दी भाषा में कुल ४६ ध्वनियाँ मानी थीं, जिनमें ११ स्वर, ३३ व्यञ्जन और अनुस्वार तथा विसर्ग थे। स्वरों में 'ऋ' को तो स्थान दिया था, किन्तु ॠ, लृ और ॡ को नहीं। पाद-टिप्पणी में इनके सम्बन्ध में लिखा था कि "संस्कृत में ॠ, लृ, ॡ, ये तीन स्वर और हैं; पर हिन्दी में इनका प्रयोग नहीं होता। ऋ भी हिन्दी में आने वाले केवल तत्सम शब्दों

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३०।

३. उपरिवत्, पृ० ३५।

२. उपरिवत्, पृ० ३८।

ही में आता है।" इस प्रसङ्ग में हिन्दी में पाये जाने वाले ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ की कोई चर्चा नहीं की थी।

व्यञ्जनों में ड़ और ढ़ की गणना नहीं की गयी थी। इनके सम्बन्ध में आगे चल कर तीसरे अध्याय में केवल इतना सङ्केत कर दिया गया था कि हिन्दी में ड और ढ के दो-दो उच्चारण होते हैं—मूर्द्धन्य और द्विस्पृष्ट। द्विस्पृष्ट उच्चारण जिह्वा का अग्रभाग उल्टा कर मूर्द्धा में लगाने से होता है। इस उच्चारण के लिए इन अक्षरों के नीचे एक-एक बिन्दी लगाई जाती है।"

दूसरे अध्याय में लिपि, मात्रा, बारहखड़ी, अक्षर, कार, संयोग की पद्धति आदि पर परम्परागत ढङ्ग से, किन्तु विस्तारपूर्वक विचार किया गया था। तीसरे अध्याय में पहले 'स्थान' और 'प्रयत्न' के आधार पर वर्णों (ध्वनियों) का वर्गीकरण किया गया था, फिर स्वर तथा व्यञ्जन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया था। उत्पत्ति के अनुसार स्वर के मूल स्वर तथा सन्धिस्वर, जाति के अनुसार सवर्ण और असवर्ण तथा उच्चारण के अनुसार सानुनासिक और निरनुनासिक भेद माने गये थे। शब्दों के भिन्न-भिन्न स्थानों में तथा भिन्न-भिन्न स्थितियों में आने वाले अ स्वर के उच्चरित रूप की भिन्नता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया था। ऐ और औ के सम्बन्ध में लिखा था कि "हिन्दी में ऐ और औ का उच्चारण संस्कृत से भिन्न होता है; तत्सम शब्दों में इनका उच्चारण संस्कृत के ही अनुसार होता है; पर हिन्दी में ऐ बहुधा अय् और औ बहुधा अव् के समान बोला जाता है, जैसे—सं०—ऐश्वर्य, सदैव, पौत्र इत्यादि। हिं०—है, मैल, और, चौथा इत्यादि।"[१] इसी प्रकार, ए और ओ के सम्बन्ध में लिखा था कि "ए और ओ का उच्चारण कभी-कभी क्रमशः इ और ए तथा उ और ओ का मध्यवर्ती होता है, जैसे, इकट्ठा (एकट्ठा), मिहतर (मेहतर), गुबरैला (गोबरैला)।"[२] व्यञ्जन के प्रसङ्ग में अल्पप्राण तथा महाप्राण का परिचय देने के पश्चात् इस बात को विशेष विस्तार से समझाया गया था कि शब्दों के अन्तर्गत किन-किन स्थानों तथा स्थितियों में ड और ढ का उच्चारण क्रमशः ड़ और ढ़ के समान होता है। अनुस्वार और अनुनासिक के सम्बन्ध में पहले तो बड़े स्पष्ट ढङ्ग से बताया था कि "अनुस्वार (ं) और अनुनासिक (ँ) के उच्चारण में अन्तर है, यद्यपि लिपि में अनुनासिक के बदले बहुधा अनुस्वार का ही उपयोग

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ४७।
२. उपरिवत्, पृ० ४८।

किया जाता है। अनुस्वार दूसरे स्वरों अथवा व्यंजनों के समान एक अलग ध्वनि है; पर अनुनासिक स्वर की ध्वनि केवल नासिक्य है। अनुस्वार के उच्चारण में श्वास केवल नाक से निकलता है; पर अनुनासिक के उच्चारण में वह मुख और नासिका से एक ही साथ निकाला जाता है। अनुस्वार तीव्र और अनुनासिक धीमी ध्वनि है, परन्तु दोनों के उच्चारण के लिये पूर्ववर्त्ती स्वर की आवश्यता होती है; जैसे, रंग, रँग आदि।"[१] इसके पश्चात् यह नहीं बता कर कि हिन्दी शब्दों में किन-किन स्थितियों में लोग अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार चिह्न का प्रयोग करते हैं; उन्होंने 'अनुस्वार का अनुनासिक उच्चारण जानने के नियम' बताये थे, जो तर्कसङ्गत नहीं था। चौथे अध्याय में स्वराघात का अति सामान्य विवेचन किया गया था तथा पाँचवें अध्याय में संस्कृत-सन्धि का परिचय दिया गया था। गुरु जी ने हिन्दी में, सन्धि के नियमों से मिले हुए संस्कृत के जो सामासिक शब्द आते हैं, केवल उन्हीं के सम्बन्ध में 'इस विषय के निरूपण की आवश्यकता' मानी थी। हिन्दी के सामासिक शब्दों, कृदन्तों तथा तद्धितान्तों में होने वाली सन्धियों की ओर उनकी दृष्टि गयी ही नहीं थी।

ग्रन्थ के दूसरे भाग के प्रथम परिच्छेद के पहले अध्याय में शब्द-साधन का विवेचन था। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "शब्द-साधन व्याकरण के उस विभाग को कहते हैं, जिसमें शब्दों के भेद (तथा उनके प्रयोग), रूपान्तर और व्युत्पत्ति का निरूपण किया जाता है।"[२] फिर, उन्होंने शब्द की यह परिभाषा दी थी कि "एक या अधिक अक्षरों से बनी हुई स्वतन्त्र सार्थक ध्वनि को शब्द कहते हैं।"[३] इस परिभाषा में प्रयुक्त 'स्वतन्त्र' शब्द की उपयोगिता पर स्वयं उन्हें भी सन्देह हुआ था, इस कारण उसको किसी प्रकार उपयोगी सिद्ध करने के लिए उन्होंने लिखा था कि "शब्द के लक्षण में 'स्वतन्त्र' शब्द रखने का कारण यह है कि भाषा में कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैाती हैं जो स्वयं सार्थक नहीं होतीं, पर जब वे शब्दों के साथ जोड़ी जाती हैं तब सार्थक होती हैं। ऐसी परतन्त्र ध्वनियों को शब्दांश कहते हैं; जैसे, ता, पन, वाला, ने, को इत्यादि।"[४] किन्तु, उनके इस स्पष्टीकरण से भी 'स्वतन्त्र'

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ५०।
२. उपरिवत्, पृ० ६५।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्, पृ० ६६।

शब्द की उपयोगिता सिद्ध नहीं हो पायी थी। फिर, बजाय इसके कि वे अपने द्वारा दिये गये शब्द के लक्षण को और व्यवस्थित करते, उन्होंने इस सम्बन्ध में एक लम्बी टिप्पणी लिख कर यह सिद्ध करने का अघन्य प्रयास किया था कि "हिन्दी में 'शब्द' का अर्थ बहुत ही सन्दिग्ध है।" एक महान वयाकरण के लिए किसी पारिभाषिक शब्द के सम्बन्ध में, जिसका लक्षण वह स्वयं निरूपित कर रहा हो, इस प्रकार का विचार प्रकट करना बहुत युक्तिसङ्गत नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, अपनी उस टिप्पणी में प्रयत्न करके भी वे यह नहीं स्पष्ट कर सके थे कि व्याकरण में शब्द पर अर्थ निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया जाता है या अर्थ सापेक्ष दृष्टि से।

उक्त परिच्छेद के दूसरे अध्याय में 'शब्दों का वर्गीकरण' प्रस्तुत किया गया था। इसमें गुरु जी ने संस्कृतादि प्राचीन भारतीय भाषाओं के व्याकरणों में निर्दिष्ट पद्धति की उपेक्षा करते हुए अँगरेजी व्याकरण को अपना आधार बनाया था और तदनुसार प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी शब्दों के (संज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रियाविशेषण, सर्वनाम, सम्बन्ध-सूचक, समुच्चयबोधक और विस्मयादि-बोधक) आठ भेद माने थे। इस प्रसङ्ग में, अँगरेजी व्याकरण के आधार को सर्वाधिक उचित प्रमाणित करने के उद्देश्य से, उन्होंने एक लम्बी टिप्पणी दी थी, जिसमें उन पूर्ववर्त्ती हिन्दी वैयाकरणों की मान्यताओं के प्रति असहमति प्रकट की गयी थी, जिन्होंने संस्कृत-व्यारण के आधार पर हिन्दी शब्धों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया था। गुरु जी ने अँगरेजी-पद्धति के समर्थन में जो दलीलें दी थीं, उन पर यहाँ संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

गुरु जी की पहली दलील थी कि "शब्दों के जो आठ भेद अँगरेजी भाषा के वैयाकरणों ने किये हैं वे निरे अनुमानमूलक नहीं हैं। भाषा में उन अर्थों के शब्दों की आवश्यकता होती है और प्रायः प्रत्येक उन्नत भाषा में आप ही आप उनकी उत्पत्ति होती है। भाषाशास्त्रियों में यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है कि किसी भी भाषा में शब्दों के आठ भेद होते ही हैं। यद्यपि इन भेदों में तर्क-सम्मत वर्गीकरण के नियमों का पूरा पालन नहीं हो सकता और इनके लक्षण निर्दोष नहीं हो सकते तथापि व्याकरण के ज्ञान के लिए इन्हें जानने की आवश्यकता होती है।"[१] इस दलील के प्रति पहली आपत्ति तो यह है कि यदि भाषाशास्त्रियों में सभी भाषाओं के लिए 'शब्द के आठ भेद' का सिद्धान्त

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ५४।

सर्वसम्मत है, तो क्या संस्कृत के वे प्राचीन वैयाकरण भाषाशास्त्री नहीं माने जायेंगे, जिन्होंने शब्द के आठ भेद नहीं माने थे ? दूसरी आपत्ति यह है कि यदि इस 'आठ भेद' वाले सिद्धान्त में भी 'तर्कसम्मत वर्गीकरण के नियमों का पूरा पालन नहीं हो सकता और इनके लक्षण निर्दोष नहीं हो सकते' तो फिर अपने भारतीय आदर्श का त्याग कर इस दोषपूर्ण विदेशी आदर्श को गले लगाने में ही क्या तुक हो सकता है और 'व्याकरण के ज्ञान के लिए इन्हें जानने की (अनिवार्य) आवश्यकता ही क्या हो सकती है ?'

गुरु जी की दूसरी दलील थी कि 'व्याकरण के द्वारा विदेशी भाषा सीखने में इन भेदों के ज्ञान से बड़ी सहायता मिलती है । वर्गीकरण का उद्देश्य यही है कि किसी भी विषय की बातें जानने में स्मरण-शक्ति को सहायता मिले ।"[१] इस दलील के पूर्वार्द्ध के सम्बन्ध में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उसे लिखते समय सम्भवतः गुरु जी को व्याकरण का मुख्य उद्देश्य ही विस्मृत हो गया था । व्याकरण का उद्देश्य अपने ही से सम्बद्ध भाषा के नियमों का ज्ञान प्रदान करना होता है न कि अन्य भाषाओं के ज्ञानार्जन में सुविधा प्रदान करना । यदि किसी एक भाषा के व्याकरण से सभी भाषाओं का ज्ञानार्जन सम्भव होता, तो फिर सभी भाषाओं के लिए अनिवार्य रूप से अलग-अलग व्याकरण की क्या आवश्यकता होती ? इसी प्रकार, दलील के उत्तरार्द्ध के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह तो ठीक है कि वर्गीकरण का उद्देश्य किसी भी विषय की बात जानने में स्मरणशक्ति को सहायता देना है, किन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि हिन्दी शब्दों के (अँगरेजी व्याकरण के आधार पर) आठ भेद मानने से ही स्मरणशक्ति को सहायता मिल सकती है; उससे अधिक या कम भेद मानने से नहीं ?

गुरु जी की तीसरी और अन्तिम दलील थी कि "किसी-किसी का मत है कि हिन्दी में अँगरेजी की 'छूत' न घुसनी चाहिए । ऐसे लोगों को सोचना चाहिये कि जिस प्रकार हिन्दी से संस्कृत का सम्बन्ध नहीं टूट सकता उसी प्रकार अँगरेजी से उसका वर्त्तमान सम्बन्ध टूटना, इष्ट होने पर भी शक्य नहीं । अँगरेज लोगों ने अपने सूक्ष्म विचार और दीर्घ उद्योग से ज्ञान की प्रत्येक शाखा में जो समुन्नति की है उसे हम लोग सहज ही में नहीं भुला सकते । यदि संस्कृत में शब्दों के आठ भेद नहीं माने गये हैं तो हिन्दी में

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ७४ ।

उन्हें उपयोगिता की दृष्टि से मानने में कोई हानि नहीं, किन्तु लाभ ही है।"[१]

गुरु जी की इस दलील से स्पष्ट है कि उन्होंने इसमें अपने तटस्थ सूक्ष्म विवेक से कम, और पूर्वाग्रहयुक्त आवेश से अधिक काम लिया था; क्योंकि, यदि ऐसा नहीं होता तो वे संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के साथ हिन्दी का जो सम्बन्ध है, उसकी तुलना अँगरेजी के साथ हिन्दी के सम्बन्ध से नहीं करते। लाख समृद्ध और समुन्नत होने पर भी अँगरेजी के साथ हिन्दी का कभी वैसा व्यापक और निकट का पारिवारिक सम्बन्ध नहीं हो सकता, जैसा उसका संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ है। इस दृष्टि से तो हिन्दी के लिए गुरु जी को सब प्रकार से संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरणों का ही अनुसरण करना चाहिए था; किन्तु मेरा आशय यह नहीं है। मेरा मुख्य आक्षेप यह है कि गुरु जी को संस्कृत और अँगरेजी दोनों से अलग हट कर हिन्दी शब्दों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करते हुए उनका वर्गीकरण करना चाहिए था; क्योंकि वे संस्कृत या अँगरेजी का नहीं, हिन्दी का व्याकरण लिख रहे थे। किन्तु, दुर्भाग्य से उन्होंने वैसा नहीं किया।

आगे चल कर, रूपान्तर के आधार पर उन्होंने शब्द के विकारी तथा अविकारी दो व्यापक वर्ग माने थे। विकारी के अन्तर्गत उन्होंने संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया को रक्खा था तथा अविकारी के अन्तर्गत क्रियाविशेषण समुच्चयबोधक और विस्मयादिबोधक को।

व्युत्पत्ति के अनुसार उन्होंने शब्द के रूढ़ और यौगिक दो ही भेद माने थे। बाद में योगरूढ़ को यौगिक के उपभेद के रूप में स्वीकार किया था। हिन्दी के अनेक पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों ने इन भेदों को शब्द का भेद नहीं मान कर संज्ञा का भेद माना था। गुरु जी ने उनकी मान्यता का खण्डन करते हुए लिखा था कि "हिन्दी में यौगिक शब्द उपसर्ग और प्रत्यय दोनों के योग से बनते हैं और उनमें संज्ञाओं के सिवा दूसरे शब्द-भेद भी आते हैं।"[२]

ग्रन्थ के दूसरे भाग के पहले खण्ड में विकारी शब्दों का विवेचन किया गया था। इसके पहले अध्याय में संज्ञा की परिभाषा इस प्रकार दी गयी थी—"संज्ञा उस विकारी शब्द को कहते हैं जिससे प्रकृत किंवा कल्पित सृष्टि की

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ७५।
२. उपरिवत्, पृ० ७६।

किसी वस्तु का नाम सूचित हो।" गुरु जी के द्वारा दी गयी संज्ञा की यह परिभाषा अनावश्यक रूप से लद्धड़ तथा अव्याप्ति के दोष से ग्रस्त थी। इसका 'प्रकृत किंवा कल्पित सृष्टि की' अंश अनावश्यक तथा दुर्बोध था, एवं 'वस्तु' शब्द संज्ञा के अर्थ की व्याप्ति को कम करने वाला था। यों तो, परिभाषा के विश्लेषण-क्रम में उन्होंने इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया था कि "इस लक्षण में 'वस्तु' शब्द का उपयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया गया है।"[१] किन्तु इतना कह देने भर से 'वस्तु' शब्द के अर्थ की व्यापकता बढ़ नहीं सकती थी और न वह पारिभाषिक शब्द ही बन सकता था। पारिभाषिक शब्द के निर्माण में व्यापक अर्थवाले शब्द को सीमित अर्थ का शब्द मान लेना दोष नहीं माना जाता, किन्तु सीमित अर्थ के रूढ़ और बहुप्रचलित शब्द को व्यापक अर्थ का शब्द मानना अनुपयुक्त होता है। गुरु जी ने 'वस्तु' शब्द को पारिभाषिक रूप प्रदान करने में यही भूल की थी, इसीलिए वह शब्द पारिभाषिक नहीं बन सका था और परिभाषा दोषग्रस्त रह गयी थी।

गुरु जी के द्वारा संज्ञा का जो वर्गीकरण किया गया था, उसमें भी उपर्युक्त प्रकार का दोष आ गया था; उदाहरणार्थ, उन्होंने संज्ञा को पहले पदार्थ-वाचक और भाववाचक के दो वर्गों में विभक्त किया था। 'पदार्थवाचक' में 'पदार्थ' शब्द से उनका तात्पर्य 'जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों से था', किन्तु प्रयोग में 'पदार्थ' शब्द से इस अर्थ का द्योतन होते नहीं देखा जाता। उन्होंने पदार्थवाचक संज्ञा के उदाहरण में राम, राजा, घोड़ा, काशी, सभा और भीड़ शब्द को रखा था, किन्तु प्रयोग में इनमें से किसी भी शब्द को किसी के द्वारा पदार्थ कहते नहीं सुना गया। इस प्रकार, 'पदार्थवाचक' शब्द गुरु जी के इच्छित अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ था। इसका प्रधान कारण यही था कि उन्होंने सीमित अर्थवाले बहुप्रचलित 'पदार्थ' शब्द को व्यापक अर्थ का वाचक बनाने का असफल प्रयास किया था।

आगे चल कर पदार्थवाचक संज्ञा के, उन्होंने दो उपभेद किये थे—व्यक्ति-वाचक और जातिवाचक। फिर दोनों के साथ भाववाचक को मिला कर संज्ञा के कुल तीन भेद माने थे—जातिवाचक, व्यक्तिवाचक और भाववाचक। ऐसा करने में गुरु जी से एक भूल यहाँ भी हो गयी थी, वह यह कि उन्होंने

१. पं० का० प्र० गु०, भूमिका, पृ० ७७।

संज्ञा के एक भेद (पदार्थवाचक) के दो उपभेदों (व्यक्तिवाचक और जातिवाचक) के साथ संज्ञा के दूसरे भेद (भाववाचक) को मिला कर तीनों को संज्ञा का ही भेद कह दिया था। भेद और उपभेद की श्रेणी अलग-अलग होती है, इस कारण दोनों को मिला कर एक श्रेणी बना देना किसी भी प्रकार तर्कसङ्गत नहीं कहा जा सकता। यहाँ एक बात: स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि यदि गुरु जी ने 'पदार्थवाचक' की कल्पना नहीं की होती, तो उनका वर्गीकरण अधिक स्पष्ट और तर्कसङ्गत प्रमाणित होता, किन्तु अँगरेजी व्याकरण के अनावश्यक मोह ने ऐसा होने नहीं दिया।

गुरु जी के द्वारा निर्धारित सज्ञा के उपर्युक्त तीन भेद प्रायः सभी पूर्ववर्त्ती वयाकरणों के ग्रन्थों में भी थे, किन्तु उन लोगों ने इन तीन के अतिरिक्त संज्ञा के और भेदों की भी कल्पना की थी; जैसे गुणवाचक (या विशेषण), समूह या समुदायवाचक, द्रव्यवाचक, सर्वनाम (या संज्ञा प्रतिनिधि), क्रियावाचक[१] आदि। गुरु जी ने इनमें से समूह या समुदायवाचक को व्यक्तिवाचक तथा जातिवाचक में, द्रव्यवाचक का जातिवाचक में तथा क्रियावाचक या क्रियार्थक संज्ञा को भाववाचक में समाविष्ट कर दिया था। फिर, सर्वनाम का विवेचन करते हुए लिखा था कि "यथार्थ में सर्वनाम एक प्रकार का नाम अर्थात् संज्ञा ही है। जिस प्रकार संज्ञाओं के उपभेद व्यक्तिवाचक, जातिवाचक और भाववाचक हैं, उसी प्रकार सर्वनाम भी एक उपभेद हो सकता है। पर, सर्वनाम में एक विशेष विलक्षणता है, जो संज्ञा में नहीं पाई जाती। संज्ञा से सदा उसी वस्तु का बोध होता है जिसका वह (संज्ञा) नाम हैं; परन्तु सर्वनाम से पूर्वापर सम्बन्ध के अनुसार, किसी भी वस्तु का बोध हो सकता है। 'लड़का' शब्द से लड़के ही का बोध होता है, घर, सड़क आदि का बोध नहीं हो सकता; परन्तु 'वह' कहने से पूर्वापर सम्बन्ध के अनुसार, लड़का, घर, सड़क, हाथी, घोड़ा आदि किसी भी वस्तु का बोध हो सकता है। सर्वनाम की इसी विलक्षणता के कारण उसे हिन्दी में एक अलग शब्द-भेद मानते हैं।"[२] इसी प्रकार, विशेषण या गुणवाचक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "सर्वनाम के समान विशेषण भी एक प्रकार की संज्ञा ही है; क्योंकि विशेषण भी वस्तु का अप्रत्यक्ष नाम है। पर इसको अलग शब्द-भेद मानने का यह कारण है कि

---

१. यह भेद पादरी आदम साहब ने अपने व्याकरण में माना था।

२. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ८९-९०।

इसका उपयोग संज्ञा के बिना नहीं हो सकता और इससे संज्ञा का केवल धर्म सूचित होता है, 'काला' कहने से घोड़ा, कपड़ा, दाग आदि किसी भी वस्तु के धर्म की भावना मन में उत्पन्न हो सकती है; परन्तु उस धर्म का नाम 'काला' नहीं है; किन्तु 'कालापन' है। जब विशेषण अकेला आता है तब उससे पदार्थ का बोध होता है और उसे संज्ञा कहते हैं।"[1]

इस प्रकार, गुरु जी ने सर्वनाम और विशेषण को संज्ञा से भिन्न वर्ग का शब्द प्रमाणित कर हिन्दी व्याकरण के एक बड़े और दीर्घकालव्यापी विवाद का अन्त कर दिया था। इसके साथ ही संज्ञा के तीन ही भेदों (जाति, व्यक्ति और भाववाचक) के अन्तर्गत, उसके अन्य कल्पित भेदों; जैसे, समुदाय-वाचक, द्रव्यवाचक, क्रियावाचक आदि को समाविष्ट कर उन्होंने संज्ञा के वर्गीकरण को भी अधिक तर्कसङ्गत और सरल बनाने का प्रयास किया था। इस प्रसङ्ग में उन्हाने निश्चय ही हिन्दी के स्वरूप पर ध्यान रखते हुए अपने स्वतन्त्र विवेक और चिन्तन से काम लिया था।

उपर्युक्त प्रकरण में ही अर्थ की दृष्टि से संज्ञा के भेदों की समीक्षा करते हुए गुरु जी ने जातिवाचक और भाववाचक संज्ञाओं को तो अर्थवान माना था, किन्तु व्यक्तिवाचक के सम्बन्ध में लिखा था कि "व्यक्तिवाचक 'संज्ञाएँ' बहुधा अर्थहीन होती हैं।"[2] ऐसा लिख कर वास्तव में गुरु जी ने स्वयं अपने द्वारा दी गयी शब्द की परिभाषा का उल्लङ्घन किया था। व्यक्तिवाचक संज्ञा भी संज्ञा ही होती है और संज्ञा स्वयं एक शब्द-भेद है; ऐसी स्थिति में यदि कोई संज्ञा अर्थहीन होगी, तो उसे शब्द कैसे कहा जा सकता है? हाँ, यह बात दूसरी है कि अनेक व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अर्थ का मेल उनसे सूचित होने वाली वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ से नहीं बैठता; जैसे किसी अन्धे का नाम भी 'राजीवलोचन' हो सकता है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि हम उस व्यक्तिवाचक संज्ञा को ही अर्थहीन मान लें। वास्तव में, जातिवाचक और भाववाचक की तरह व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ भी सर्वदा अर्थवान होती हैं। हाँ, उनका अर्थ कभी वाच्यसापेक्ष्य और कभी वाच्यनिरपेक्ष होता है। उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति का नाम यदि गुल्लू है, तो इस 'गुल्लू' शब्द का अर्थ वाच्य-सापेक्ष्य होगा, अर्थात् इस शब्द की सार्थकता इस बात पर निर्भर है कि यह

---

१. पं० का० प्र० गु०, भूमिका, पृ० ८०।

२. उपरिवत्।

किसी का नाम है। इसी प्रकार, यदि किसी दुर्बल व्यक्ति का नाम महावीर है, तो वहाँ 'महावीर' का अर्थ उस वाच्य (अर्थात् इस नाम से सूचित होने वाला व्यक्ति) पर निर्भर नहीं होकर स्वतन्त्र होगा। इस प्रकार, प्रत्येक स्थिति में वयाकरण को व्यक्तिवाचक संज्ञा को सार्थक मानना ही होगा, अन्यथा अर्थहीन मान लेने पर वह शब्द व्याकरण में विवेच्य नहीं हो सकना। चूँकि भाषा में अर्थहीन शब्दों के लिए स्थान नहीं होता, इसलिए व्याकरण में भी अर्थहीन शब्द अविवेच्य होते हैं।

आगे चल कर, भाववाचक संज्ञा के विवेचन-प्रसङ्ग में गुरु जी ने उसकी रचना केवल जातिवाचक संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया से मानी थी। किन्तु, प्रयोग में हम पाते हैं कि जिस प्रकार जातिवाचक से भाववाचक संज्ञा निर्मित होती है, उसी प्रकार व्यक्तिवाचक से भी भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण होता है; जैसे—मनुष्य से मनुष्यत्व की तरह राम से रामत्व।

प्रयोग पर विचार करते हुए गुरु जी ने इस बात को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया था कि कभी जातिवाचक का प्रयोग व्यक्तिवाचक के समान और कभी व्यक्तिवाचक का प्रयोग जातिवाचक के समान होता है। इसी तरह, भाववाचक संज्ञा से यद्यपि एक ही भाव का बोध होता है, किन्तु प्रयोग में वह भी कभी-कभी जातिवाचक संज्ञा के समान व्यवहृत होती है; जैसे—"ये सब कैसे अच्छे पहिरावे हैं।"

उपर्युक्त अध्याय में गुरु जी से एक भूल यह हुई थी कि उन्होंने संज्ञा के स्थान में आने वाले शब्दों में सर्वनाम के साथ ही विशेषण, क्रियाविशेषण, विस्मयादिबोधक आदि शब्दों की गणना भी कर ली थी। वास्तव में, उन्हें संज्ञा की तरह प्रयुक्त होने वाले शब्दों के प्रसङ्ग में इनकी चर्चा करनी चाहिए थी, न कि संज्ञा के स्थान में आने वाले शब्दों के। संज्ञा के स्थान में तो केवल सर्वनाम ही आ सकता है, अन्य कैसे आयेंगे? गुरु जी से यह भूल सम्भवतः असावधानता के कारण हो गयी थी। जहाँ तक संज्ञा की तरह प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रश्न है, सो तो कोई भी शब्द, और शब्द ही क्यों, कोई एक वर्ण भी संज्ञा की तरह प्रयुक्त हो सकता है। इसलिए, उसके सम्बन्ध में किसी व्यापक विवेचन की आवश्यकता ही नहीं थी।

संज्ञा के विवेचन के पश्चात् उपर्युक्त खण्ड के दूसरे अध्याय में सर्वनाम के स्वरूप एवं भेदों पर प्रकाश डाला गया था। गुरुजी के पूर्व हिन्दी के प्रायः

सभी वैयाकरणों ने सर्वनाम को संज्ञा का ही एक भेद माना था; किन्तु गुरु जी ने सन्तोषप्रद युक्तियों के सहारे यह सिद्ध कर दिया था कि नाम या संज्ञा के समान प्रतीत होने पर भी सर्वनाम संज्ञा से भिन्न जाति या वर्ग का शब्द होता है। उन्होंने सर्वनाम के लक्षण-निर्धारण में बड़ी सावधानी से काम लिया था और उसकी परिभाषा इस प्रकार दी थी—"सर्वनाम उस विकारी शब्द को कहते हैं जो पूर्वापर सम्बन्ध से किसी भी संज्ञा के बदले में आता है।"[1]

गुरु जी ने हिन्दी में सब मिलाकर ११ सर्वनाम ही माने थे, जो इस प्रकार हैं—मैं, तू, आप, यह, वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन, क्या। प्रयोग के अनुसार उन्होंने इनके छह भेद किये थे—१. पुरुषवाचक—मैं, तू, आप (आदरसूचक)। २. निजवाचक—आप। ३. निश्चयवाचक—यह, वह, सो। ४. सम्बन्धवाचक—जो। ५. प्रश्नवाचक—कौन, क्या। ६. अनिश्चयवाचक—कोई, कुछ। किन्तु, उनके द्वारा निर्धारित सर्वनामों की उपर्युक्त संख्या और भेद परवर्त्ती वैयाकरणों के बीच सर्वमान्य नहीं हो सके।

पुरुषवाचक के 'पुरुष' शब्द पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "वक्ता अथवा लेखक की दृष्टि से सम्पूर्ण सृष्टि के तीन भाग किये जाते हैं—पहला स्वयं वक्ता या लेखक, दूसरा श्रोता किंवा पाठक, और तीसरा कथा-विषय अर्थात् वक्ता और श्रोता को छोड़कर और सब। सृष्टि के इन तीनों रूपों को व्याकरण में पुरुष कहते हैं और ये क्रमशः उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्य पुरुष कहाते हैं।"[2] फिर, उन्होंने उत्तम और मध्यम पुरुष को प्रधान-पुरुष के अन्तर्गत तथा अन्य पुरुष को अप्रधानपुरुष के अन्तर्गत रखते हुए पुरुष के प्रधान तथा अप्रधान दो अन्य भेद भी किये थे, जो तर्कसङ्गत आधार पर स्थित नहीं होने के कारण व्याकरण के लिए अनावश्यक प्रमाणित हुए थे और इसीलिए परवर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा स्वीकार नहीं किये गये।

पुरुष के प्रधान तथा अप्रधान दो भेद करके गुरु जी ने सर्वनाम के वर्गीकरण को कितना उलझा दिया था, उसकी ओर संक्षेप में सङ्केत कर देना यहाँ आवश्यक है। उन्होंने पहले तो प्रयोग के आधार पर सर्वनाम के छह भेद

---

१. पं० का० प्र० गु०, भूमिका, पृ० ८९।

२. उपरिवत्, पृ० ९१।

किये थे, जिनमें पुरुषवाचक के अतिरिक्त निजवाचक, निश्चयवाचक, सम्बन्धवाचक, प्रश्नवाचक और अनिश्चयवाचक, पाँच भेद थे। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अन्तिम पाँच भेदों को पुरुषवाचक से भिन्न माना था। किन्तु, आगे चल कर उन्होंने उत्तमपुरुष और मध्यमपुरुष के सर्वनामों को तो प्रधान पुरुषवाचक के अन्तर्गत रखा था और अप्रधान पुरुषवाचक के अन्तर्गत न केवल अन्यपुरुष के सर्वनामों को अपितु शेष सभी प्रकार के सर्वनामों को रख दिया था। फलतः, उन्हें अप्रधान पुरुषवाचक सर्वनाम के भी पाँच भेद करने पड़े थे, जिनमें उन्होंने उन्हीं पाँच भेदों को रखा था, जिन्हें प्रारम्भ में वे पुरुषवाचक सर्वनाम से भिन्न सर्वनाम के पाँच भेद मान चुके थे। इस प्रकार, उनका यह वर्गीकरण स्वतोव्याघात दोष से ग्रस्त हो गया था। आश्चर्य है कि ग्रन्थ के अनेक संस्करण होने पर भी उनका ध्यान इस अव्यवस्था की ओर नहीं गया, किन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का है कि व्याकरण-संशोधन-समिति के दिग्गज विद्वानों की भी दृष्टि इस विलक्षण अनियमितता पर नहीं पड़ी।

यों तो, गुरु जी ने भिन्न-भिन्न सर्वनामों का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया था, किन्तु उस विवेचन में उनका ध्यान हिन्दी के स्वरूप पर नहीं टिक कर अँगरेजी व्याकरण पर टिका हुआ था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण हिन्दी सर्वनामों के वचन के विवेचन में मिलता है। अँगरेजी के पुरुषवाचक सर्वनामों में प्रत्येक के एकवचन और बहुवचन रूप अलग-अलग हैं, साथ ही कुछ का स्त्रीलिङ्ग रूप भी मिलता है। किन्तु, हिन्दी भाषा में पुरुषवाचक सर्वनामों के प्रयोग को सूक्ष्मतापूर्वक देखने से पता चलेगा कि उनमें लिङ्ग का विधान तो कहीं होता ही नहीं, साथ ही वचन की दृष्टि से भी वे सब-के-सब मूल रूप में एकवचन ही रहते हैं और उन्हें बहुवचन बनाने के लिए कोई-न-कोई बहुवचनसूचक शब्द अलग से जोड़ना पड़ता है। हिन्दी और अँगरेजी के सर्वनामों में एक दूसरा मौलिक अन्तर यह भी है कि अँगरेजी में आदरसूचक सर्वनाम होते ही नहीं, किन्तु हिन्दी में हैं। हिन्दी के वैयाकरणों ने आदरसूचक सर्वनामों में 'आप' को तो पहचाना, किन्तु वे 'वे', 'ये' आदि को नहीं पहचान सके। इन्हे अँगरेजी की नकल पर उन्होंने मूलतः बहुवचनसूचक सर्वनाम समझ लिया, जो ये वास्तव में हैं नहीं। परवर्त्ती वैयाकरणों ने भी स्वतन्त्र चिन्तन से कार्य लेने के बदले आँख मूँद कर अपने पूर्ववर्त्तियों का ही

अनुसरण किया और इस प्रकार सर्वनाम सम्बन्धी यह मिथ्या सत्य आज इस प्रकार लोगों के मस्तिष्क में बैठ गया है कि वे वास्तविक स्थिति पर विचार करने को भी तैयार नहीं होते।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि हम, आप, वे, ये, ये सब-के-सब एकवचन हैं, तो फिर भाषा में इनका बहुवचन के अर्थ में प्रयोग क्यों होता है ? इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि ये आदरसूचक सर्वनाम जब एकवचन में भी आते हैं, तो इनकी क्रियाएँ बहुवचन में ही रहती हैं, जैसा संस्कृत में भी होता है। दूसरी बात यह है कि अँगरेजी में इन आदरसूचक सर्वनामों के वास्तविक पर्याय नहीं होने के कारण, ये भ्रम से अँगरेजी के बहुवचनसूचक सर्वनामों के पर्याय मान लिये गये हैं। इस प्रकार, अँगरेजी के बहुवचनसूचक सर्वनामों के पर्याय मान लिये जाने के कारण तथा इनकी क्रियाओं के बहुवचन होने के कारण, वैयाकरणों का ध्यान इनके वास्तविक गुण आदर-सूचकता की ओर नहीं जाकर बहुवचनता की ओर ही गया। फलतः, लोगों ने इनका मुख्य रूप बहुवचनसूचक और गौण रूप आदर-सूचक मान लिया, किन्तु इनकी एकवचनता की ओर किसी का ध्यान नहीं जा सका।

अब हम भाषा में प्रयोग की दृष्टि से इन पर विचार करें। भाषा में उपर्युक्त सभी आदरसूचक सर्वनामों का प्रयोग एकवचन तथा बहुवचन, दोनों अर्थों में होता है। एकवचन के अर्थ में इनका प्रयोग होना तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि ये मूलतः एकवचनसूचक ही हैं। किन्तु, जहाँ बहुवचन के अर्थ में इनका प्रयोग होता है, वहाँ दो प्रकार की स्थितियाँ पायी जाती हैं। एक स्थिति में इनके आगे 'लोग' या 'सब' जैसे कोई बहुवचनवाचक शब्द जुड़े होते हैं, जैसे—हमलोग, वे सब, आदि; और दूसरी स्थिति वहाँ होती है, जहाँ इनके साथ कोई बहुवचनसूचक शब्द नहीं होता। यहाँ यदि हम पहली स्थिति पर ही सूक्ष्मतापूर्वक विचार करें, तो प्रश्न उठता है कि यदि हम, आप, वे, ये आदि स्वयं अपने-आप में बहुवचन हैं, तो फिर इनके साथ बहुवचन की सूचना देने के लिए 'लोग' 'सब' आदि जैसे किसी अन्य बहुवचन-वाची शब्द जोड़ने की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? इसका एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि ये सब-के-सब एकवचनवाची ही हैं, इसीलिए बहुवचन में इनके आगे बहुवचनसूचक शब्द लगाने की आवश्यकता पड़ती है। तब प्रश्न दूसरी स्थिति का उठता है कि इनके आगे विना बहुवचनवाची शब्द लगाये इनसे

बहुवचन का अर्थ किस प्रकार प्रकट होता है ? इस प्रश्न के उत्तर को दो खण्डों में बाँटा जा सकता है—१. इनके साथ प्रयुक्त क्रिया के बहुवचन रूप के द्वारा, २. पूर्वापर सम्बन्ध या प्रसङ्ग के द्वारा। यहाँ सम्भव है कि कुछ लोगों को इस उत्तर से पूर्ण सन्तोष न हो, और वे यह तर्क दें कि इन सर्वनामों के साथ क्रिया तो सदा बहुवचन रूप में रहती है, चाहे इनका प्रयोग एकवचन में ही क्यों न हो, फिर क्रिया को कैसे आधार माना जा सकता है ? साथ ही, वे यह भी कह सकते हैं कि पूर्वापर सम्बन्ध या प्रसङ्ग तो परोक्ष आधार हैं, उनके सहारे शब्दों का विवेचन व्याकरण के लिए समीचीन नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त तर्कों में पहला तर्क तो उचित है, किन्तु दूसरा तर्क युक्तिसङ्गत नहीं। भाषा में जहाँ तक अर्थद्योतन का सम्बन्ध है, उसके लिए सर्वाधिक प्रमुख आधार प्रसङ्ग ही माना जाता है। इसलिए, प्रसङ्ग को परोक्ष आधार कह कर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषतः, सर्वनामों के अर्थद्योतन में तो पूर्वापर सम्बन्ध के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसीलिए स्वयं गुरु जी को भी सर्वनाम की परिभाषा में 'पूर्वापर सम्बन्ध' शब्द का प्रयोग करना पड़ा था। इसका प्रधान कारण यह है कि सर्वनाम सदा किसी-न-किसी संज्ञा का प्रतिनिधि बनकर आता है, इसीलिए कुछ पुराने वैयाकरणों ने इसका नाम ही 'संज्ञा-प्रतिनिधि' रक्खा था। अतः, स्पष्ट है कि सर्वनाम में लिङ्ग-वचन की निरपेक्षता के कारण उनके लिङ्ग-वचन का ज्ञान उन संज्ञाओं के ज्ञान पर ही निर्भर करता है, जिनके प्रतिनिधि बन कर वे आते हैं। फलतः, पूर्वापर सम्बन्ध या प्रसङ्ग का ज्ञान उनके प्रसङ्ग में अनिवार्य होता है। जहाँ पूर्वापर सम्बन्ध या प्रसङ्ग स्पष्ट नहीं होता, वहाँ इन आदरसूचक सर्वनामों को बहुवचन रूप में प्रयुक्त करने के लिए इनके साथ किसी-न-किसी बहुवचन-वाची शब्द का प्रयोग अनिवार्य होता है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष निम्नलिखित है—१. हिन्दी के सभी सर्वनाम अपने मूल रूप में एकवचन होते हैं। २. पुरुषवाचक सर्वनाम के सामान्य और आदरसूचक दो रूप होते हैं। ३. पुरुषवाचक सर्वनामों की यह विशेषता है कि उनके सामान्य रूप प्रायः एकवचन संज्ञा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। बहुवचन संज्ञा का प्रतिनिधित्व, मुख्यतः आदरसूचक सर्वनामों के साथ किसी बहुवचनवाची शब्द को जोड़ कर कराया जाता है। ४. पुरुषवाचक सर्वनामों के अतिरिक्त अन्य सर्वनामों का बहुवचन रूप उनके

आगे किसी बहुवचनवाची शब्द के योग से बनता है। ५. हिन्दी के सभी सर्वनामों के लिङ्ग-वचन उनकी संज्ञाओं के लिङ्ग-वचन का ही अनुसरण करते हैं, किन्तु लिङ्ग-भेद या वचन-भेद के कारण उनके मूल रूप में कभी कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

हिन्दी सर्वनामों की इस सरल और स्पष्ट व्यवस्था की ओर गुरु जी का भी ध्यान नहीं जा सका था। परन्तु, पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की अपेक्षा उनका सर्वनाम-विवेचन अधिक व्यापक और प्रामाणिक होने के साथ ही कई मौलिक स्थापनाओं से भी युक्त था।

गुरु जी ने प्रथम खण्ड के तीसरे अध्याय में विशेषण के स्वरूप और वर्गीकरण का विवेचन किया था। विशेषण को संज्ञा से भिन्न शब्द-भेद मानने का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "सर्वनाम के समान विशेषण भी एक प्रकार की संज्ञा ही है; क्योंकि विशेषण भी वस्तु का अप्रत्यक्ष नाम है। पर, इसको अलग शब्द-भेद मानने का यह कारण है कि इसका उपयोग संज्ञा के बिना नहीं हो सकता और इससे संज्ञा का केवल धर्म सूचित होता है।"[१] उनका यह स्पष्टीकरण विशेषण के स्वरूप को समझाने की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुआ था। किन्तु, उन्होंने विशेषण की जो परिभाषा दी थी, वह तर्कसम्मत होते हुए भी अनुपयुक्त थी। उन्होंने लिखा था कि "जिस विकारी शब्द से संज्ञा की व्याप्ति मर्यादित होती है उसे विशेषण कहते हैं।"[२] इसे स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने टिप्पणी में लिखा था कि "विशेषण रहित संज्ञा से जितनी वस्तुओं का बोध होता है उनकी संख्या विशेषण के योग से कम हो जाती है।"[३] यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या विशेषण का मुख्य उद्देश्य संज्ञा की व्याप्ति को मर्यादित करना ही होता है? इसका उत्तर निश्चय ही 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता, क्योंकि विशेषण का मुख्य उद्देश्य और कार्य संज्ञा की किसी विशेषता को प्रकाश में लाना होता है, जैसा कि उसके नाम से भी स्पष्ट है। उसके इस कार्य का एक दूसरा परिणाम यह होता है कि उससे संज्ञा की व्याप्ति भी मर्यादित हो जाती है। अतः,

---

१. पं० का० प्र० गु०, हिं० व्या०, पृ० १२५।

२. उपरिवत्, पृ० १२४।

३. उपरिवत्, पृ० १२५।

उसके कार्य के इस गौण परिणाम को ही उसका मुख्य उद्देश्य या कार्य समझ कर इसीके आधार पर उसका लक्षण निरूपित करना और उसके मुख्य उद्देश्य और कार्य की उपेक्षा करना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु, संयोगवश गुरु जी से यही भूल हो गयी थी।

विशेषण की परिभाषा की उपर्युक्त एक भूल के कारण गुरु जी को भिन्न-भिन्न विशेषणों के विवेचन के क्रम में अनेक अपवादों को मान्यता प्रदान करनी पड़ी थी; उदाहरणार्थ—व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के साथ आने वाले विशेषणों के सम्बन्ध में उन्हें लिखना पड़ा था कि "व्यक्तिवाचक संज्ञा के साथ जो विशेषण आता है वह उस संज्ञा की व्याप्ति मर्यादित नहीं करता।"[१] फिर, जातिवाचक संज्ञा के साथ उसका साधारण धर्म सूचित करने वाले विशेषण; जैसे—मूक पशु, अबोध कन्या, काला कौआ, ठण्ढी बर्फ इत्यादि के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "इन उदाहरणों में विशेष्यों के कारण संज्ञा की व्यापकता कम नहीं होती।"[२] इसी प्रकार, और भी कई विशेषणों के प्रसङ्ग में उन्हें अपनी परिभाषा का खण्डन करना पड़ा था। इस सम्बन्ध में मेरा आक्षेप केवल इतना है कि गुरु जी ने यदि विशेषण के मुख्य उद्देश्य और कार्य को ध्यान में रख कर उसकी परिभाषा रची होती, तो उनके सम्मुख इस प्रसङ्ग में कोई अपवाद आते ही नहीं।

विशेषण का प्रयोग कभी तो विशेष्य के पहले और कभी (उसके बाद) क्रिया के पहले होता है। इस दृष्टि से गुरु जी ने विशेषण के दो भेद किये थे। विशेष्य के पूर्व आने वाले विशेषणों को उन्होंने विशेष्यविशेषण और क्रिया के पूर्व आने वाले को विधेयविशेषण की संज्ञा दी थी। फिर आगे चलकर, उन्होंने विशेषण के तीन मुख्य भेद किये थे—सार्वनामिक विशेषण, गुणवाचक विशेषण और संख्यावाचक विशेषण। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "यह वर्गीकरण न्याय दृष्टि से नहीं, किंतु उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है।"[३] विशेषण के उपर्युक्त तीन भेदों में सार्वनामिक विशेषण तथा संख्यावाचक विशेषण के नाम तो स्पष्ट और उपयुक्त थे, किन्तु गुणवाचक विशेषण के क्रम में प्रयुक्त 'गुण' शब्द से

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १२६।

२. उपरिवत्, पृ० ११७।

३. उपरिवत्।

उससे अर्थ की व्याप्ति की स्पष्ट सूचना नहीं मिलती थी। यही कारण था कि गुरु जी को 'गुण' शब्द से अभीष्ट मुख्य अर्थों पर अलग से प्रकाश डालना पड़ा था।

विशेषण के उपर्युक्त भेदों का विवेचन बहुत व्यापक एवं उचित ढङ्ग से किया गया था। सार्वनामिक विशेषण का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था कि "पुरुषवाचक और निजवाचक सर्वनामों को छोड़ कर शेष सर्वनामों का प्रयोग विशेषण के समान होता है। जब ये शब्द अकेले आते हैं तब सर्वनाम होते हैं और जब इनके साथ संज्ञा आती है तब ये विशेषण होते हैं।"[१] व्युत्पत्ति के आधार पर उन्होंने सार्वनामिक विशेषण के दो भेद किये थे, जिनमें विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने वाले मूल सर्वनामों को मूल सार्वनामिक तथा सर्वनामों के साथ प्रत्यय लगाने से बनने वाले विशेषणों को यौगिक सार्वनामिक विशेषण कहा था।

गुणवाचक विशेषण के विवेचन-प्रसङ्ग में गुरु जी ने उसके छह मुख्य भेद माने थे—काल, स्थान, आकार, रङ्ग, दशा और गुण। इन सबके उदाहरण अलग-अलग दिये गये थे। फिर, गुणवाचक विशेषणों के भिन्न-भिन्न प्रयोगों तथा स्थितियों पर प्रकाश डाला गया था।

संख्यावाचक विशेषण के मुख्य तीन भेद माने गये थे—निश्चित संख्यावाचक, अनिश्चित संख्यावाचक और परिमाणबोधक। निश्चितसंख्यावाचक के पाँच भेद किये गये थे—गणनावाचक, क्रमवाचक, आवृत्तिवाचक, समुदायवाचक और प्रत्येकबोधक। फिर, गणनावाचक के भी पूर्णाङ्कबोधक और अपूर्णाङ्कबोधक दो भेद किये गये थे। अपने इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में गुरु जी ने लिखा था कि "यह वर्गीकरण भी बिल्कुल निर्दोष नहीं है, परंतु इसमें प्रायः सभी संख्यावाचक विशेषण आ गये हैं और रूप तथा अर्थ में एक वर्ग दूसरे से बहुधा भिन्न हैं।"[२]

पहले खण्ड के चौथे अध्याय में क्रिया का विवेचन प्रस्तुत किया गया था। क्रिया की जो परिभाषा गुरु जी ने दी थी, वह पूर्ववर्त्ती हिन्दी वैयाकरणों की परम्परागत परिभाषाओं से नितान्त भिन्न थी। उन्होंने लिखा था कि

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १२८।

२. उपरिवत्, पृ० १५४।

"जिस विकारी शब्द के प्रयोग से हम किसी वस्तु के विषय में कुछ विधान करते हैं, क्रिया कहते हैं।" सम्भव है, यह परिभाषा दामले-कृत 'शास्त्रीय मराठी व्याकरण' से ली गयी हो। परिभाषा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "किसी वस्तु के विषय में विधान करनेवाले शब्दों को क्रिया इसलिए कहते हैं कि अधिकांश धातु जिनसे ये शब्द बनते हैं, क्रियावाचक हैं।"[२] पूर्ववर्ती वैयाकरणों की परिभाषाओं को अनुपयुक्त सिद्ध करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिये थे—"क्रिया के जो लक्षण हिन्दी व्याकरणों में दिये गये हैं उनमें से प्राय: सभी लक्षणों में क्रिया के अर्थ का विचार किया गया है; जैसे,—'क्रिया काम को कहते हैं।' अर्थात् जिस शब्द से करने अथवा होने का अर्थ किसी काल, पुरुष और वचन के साथ पाया जाय।' (भाषा प्रभाकर)। व्याकरण में शब्दों के लक्षण और वर्गीकरण के लिए उनके रूप और प्रयोग के साथ कभी-कभी अर्थ का भी विचार किया जाता है; परंतु केवल अर्थ के अनुसार लक्षण करने से विवेचन में गड़बड़ होती है। यदि क्रिया के लक्षण में केवल 'करना' या 'होना' का विचार किया जाय तो 'जाना', 'जाता हुआ', 'जानेवाला' आदि शब्दों को भी 'क्रिया' कहना पड़ेगा। 'भाषा प्रभाकर' में दिये हुए लक्षण में जो काल, पुरुष और वचन की विशेषता बताई गई है वह क्रिया का असाधारण धर्म नहीं है और वह लक्षण एक प्रकार का वर्णन है।"[३]

अपने द्वारा दी गयी परिभाषा के सम्भव आक्षेपों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "क्रिया का जो लक्षण यहाँ लिखा गया है उसपर भी यह आक्षेप हो सकता है कि कोई-कोई क्रियाएँ अकेली विधान नहीं करतीं—जैसे, 'राजा दयालु हैं', 'पक्षी घोंसले बनाते हैं।' इन उदाहरणों में 'हैं' और 'बनाते हैं' क्रियाएँ अकेली विधान नहीं कर सकतीं। इनके साथ क्रमश: 'दयालु' और 'घोंसले' शब्द रखने की आवश्यकता हुई है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि इन वाक्यों में 'हैं' और 'बनाते हैं' विधान करने वाले मुख्य शब्द हैं और उनके बिना काम नहीं चल सकता; चाहे उनके साथ कोई शब्द रहे या न रहे। क्रिया के साथ किसी दूसरे शब्द का रहना या न रहना

१. का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १५५।
२. उपरिवत्, पृ० १५६।
३. उपरिवत्।

उसके अर्थ की विशेषता है।"[१] इस प्रकार, गुरु जी ने क्रिया की अपनी परिभाषा को सभी प्रकार से आदर्श प्रमाणित करने का प्रयास किया था। वह परिभाषा थी तो तर्कसङ्गत, किन्तु उसमें प्रयुक्त 'विधान' शब्द अर्थ की दृष्टि से बहुत स्पष्ट नहीं था। सम्भवतः, इसीलिए परवर्त्ती वैयाकरणों ने उस परिभाषा को मान्यता नहीं दी।

'धातु' तथा 'क्रिया के साधारण रूप' को स्पष्ट करते हुए गुरु जी ने लिखा था कि "जिस मूल शब्द में विकार होने से क्रिया बनती है उसे 'धातु' कहते हैं। धातु के अंत में 'ना' जोड़ने से जो शब्द बनता है उसे 'क्रिया का साधारण रूप' कहते हैं।"[२] कुछ पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों ने 'क्रिया के साधारण रूप' को ही धातु माना था। गुरु जी ने इसे उनकी भूल कहा था, किन्तु कई स्थानों पर स्वयं उनसे भी यह भूल हो गयीथी; जैसे—"आना, जाना, सकना, होना, रुचना, पाना आदि धातुओं से अन्य प्रकार के धातु नहीं बनते।"[३]

गुरु जी ने धातु के सकर्मक और अकर्मक दो भेद किये थे। इस प्रसङ्ग में उन्होंने कुछ ऐसे धातुओं की भी चर्चा की थी, जो प्रयोग-भेद से सकर्मक एवं अकर्मक दोनों होते हैं। ऐसे अकर्मक धातु जिनका आशय केवल कर्त्ता से नहीं प्रकट होता और जिनमें, आशय की पूर्णता के लिए कोई अन्य संज्ञा या विशेषण जोड़ा जाता है; उन धातुओं को उन्होंने 'अपूर्ण अकर्मक क्रिया' की संज्ञा दी थी तथा आशय-पूर्त्ति के लिए आने वाले शब्दों को 'पूर्त्ति' कहा था; जैसे—'साधु चोर निकला।' इसमें 'चोर' शब्द 'निकला' अकर्मक क्रिया की पूर्त्ति है। इसी प्रकार, करना, बनाना, समझना आदि सकर्मक क्रियाओं का आशय भी कभी-कभी केवल अपने कर्म से पूरा नहीं होता, इसलिए उनके साथ कोई अन्य संज्ञा या विशेषण आता है। ऐसी क्रियाओं को उन्होंने 'अपूर्ण सकर्मक क्रिया' और उनकी पूर्त्ति को 'कर्म-पूर्त्ति' कहा था; जैसे, 'मैंने चोर को साधु समझा।' इसमें 'साधु' 'कर्म-पूर्त्ति' है और 'समझा' अपूर्ण सकर्मक क्रिया।

व्युत्पत्ति के अनुसार गुरु जी ने धातु के मूल धातु और यौगिक धातु, दो भेद किये थे। फिर, यौगिक धातु से प्रेरणार्थक धातु, नामधातु तथा

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १५६–५७।

२. उपरिवत्, पृ० १५५।

३. उपरिवत्, पृ० १६३।

संयुक्त धातु तीन भेद माने थे। इन सबका विवेचन उन्होंने विस्तारपूर्वक किया था।

ग्रन्थ के दूसरे भाग के दूसरे खण्ड के अध्यायों में गुरु जी ने अव्यय के भेदों का विवेचन किया था। पहले अध्याय में क्रियाविशेषण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "जिस अव्यय से क्रिया की कोई विशेषता जानी जाती है उसे क्रियाविशेषण कहते हैं।"[१] फिर आगे चल कर, उन्होंने यह भी जोड़ दिया था कि "विशेषण और क्रियाविशेषण की विशेषता बताने वाले शब्दों को भी क्रिया-विशेषण कहते हैं।"[२]

क्रियाविशेषण को अव्यय सिद्ध करते हुए उन्होंने लिखा था कि "क्रिया-विशेषण को अव्यय (अविकारी) कहने में दो शंकाएँ हो सकती हैं—(क) कुछ विभक्त्यंत शब्दों का प्रयोग क्रिया-विशेषण के समान होता है; जैसे—अंत में, इतने पर, ध्यान से, रात को इत्यादि। (ख) कईएक क्रियाविशेषणों में विभक्तियों के द्वारा रूपांतर होता है; जैसे, यहाँ का, कब से, आगे को, किधर से इत्यादि। इनमें से पहली शंका का उत्तर यह है कि यदि कुछ विभक्त्यंत शब्दों का प्रयोग क्रियाविशेषण के समान होता है तो उससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि क्रियाविशेषण अव्यय नहीं होते। फिर इन विभक्त्यंत शब्दों के आगे कोई दूसरा विकार भी नहीं होता; इससे इनको भी अव्यय मानने में कोई बाधा नहीं है। संस्कृत में भी कुछ विभक्त्यंत शब्द (जैसे, सत्यम्, सुखेन, बलात्) क्रिया-विशेषण के समान उपयोग में आते हैं और अव्यय माने जाते हैं। हिन्दी में भी कई एक शब्द (जैसे; आगे, पीछे, सामने, सबेरे इत्यादि), जिन्हें क्रियाविशेषण और अव्यय मानने में किसी को शंका नहीं होती, यथार्थ में विभक्त्यंत संज्ञाएँ हैं; परंतु उनके प्रत्ययों का लोप हो गया है। दूसरी शंका का सामाधान यह है कि जिन क्रियाविशेषणों में विभक्ति का योग होता है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। उनमें से कुछ तो सर्वनामों से बने हैं और कुछ संज्ञाएँ हैं जो अधिकरण की विभक्ति का लोप हो जाने से क्रियाविशेषण के समान उपयोग में आती हैं। फिर उनमें भी केवल संप्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण की एकवचन विभक्तियों का ही योग होता है; जैसे, इधर से, इधर को, इधर का, यहाँ पर इत्यादि। इसलिए इन

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १७१।

२. उपरिवत्, पृ० १७२।

उदाहरणों को अपवाद मान कर क्रियाविशेषणों को अव्यय मानने में कोई दोष नहीं है।"[१]

क्रियाविशेषण का वर्गीकरण गुरु जी ने प्रयोग, रूप, अर्थ इन तीन आधारों पर किया था। प्रयोग के अनुसार उन्होंने क्रियाविशेषण के साधारण, संयोजक और अनुबन्ध, तीन भेद किये थे। वाक्य में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने वाले क्रियाविशेषण को साधारण क्रियाविशेषण; जैसे, 'बेटा जल्दी आओ'; जिनका सम्बन्ध किसी उपवाक्य के साथ रहता है, उन्हें संयोजक क्रियाविशेषण; जैसे, 'जब रोहिताश्व ही नही तो मैं ही जी के क्या करूँगी' और जिनका प्रयोग अवधारण के लिए किसी भी शब्द-भेद के साथ हो सकता है; जैसे, 'यह तो किसी ने धोखा ही दिया है'; उन्हें अनुबन्ध क्रियाविशेषण कहा गया था।

रूप के अनुसार भी क्रियाविशेषण के तीन ही भेद किये गये थे—मूल, यौगिक और स्थानीय। जो क्रियाविशेषण किसी अन्य शब्द से नहीं बनते, वे मूल; जैसे—ठीक, दूर, अचानक आदि; जो दूसरे शब्दों में प्रत्यय वा शब्द जोड़ने से बनते हैं, वे यौगिक; जैसे—सवेरे, यहाँ, धीरे आदि; और दूसरे शब्द-भेद, जो बिना किसी रूपान्तर के क्रियाविशेषण के समान उपयोग में आते हैं; जैसे—तुम मेरी मदद पत्थर करोगे, वह अपना सिर पढ़ेगा आदि, वे स्थानीय क्रियाविशेषण माने गये थे। इस प्रसङ्ग में संस्कृत तथा उर्दू के उन क्रियाविशेषणों का भी अलग-अलग उल्लेख किया गया था, जो हिन्दी में प्रचलित हैं।

अर्थ के अनुसार क्रियाविशेषण के चार भेद माने गये थे—स्थानवाचक, कालवाचक, परिमाणवाचक और रीतिवाचक। फिर, स्थानवाचक के स्थितिवाचक और दिशावाचक दो भेद; कालवाचक के समयवाचक, अवधिवाचक और पौनःपुन्यवाचक, तीन भेद; परिमाणवाचक के अधिकताबोधक, न्यूनताबोधक, पर्याप्तिबोधक, तुलनावाचक तथा श्रेणीवाचक, पाँच भेद; तथा रीतिवाचक के अनन्त भेद माने गये थे। रीतिवाचक क्रियाविशेषण के सम्बन्ध में गुरु जी ने लिखा था कि "रीतिवाचक क्रियाविशेषणों की संख्या गुणवाचक विशेषणों के समान अनंत हैं। क्रियाविशेषणों के न्याय-सम्मत वर्गीकरण में कठिनाई होने के

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १७१–७२।

कारण, इस वर्ग में उन सब क्रियाविशेषणों का समावेश किया जाता है। जिनका अन्तर्भाव पहले कहे हुए वर्गों में नहीं हुआ है।"[१]

गुरु जी ने क्रियाविशेषण के उपर्युक्त सभी भेदों और उपभेदों का विवेचन पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की अपेक्षा अधिक सम्यक् एवं व्यापक रूप से किया था। यों तो वर्गीकरण के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया था कि "क्रियाविशेषणों का न्यायसम्मत वर्गीकरण करना कठिन है",[२] किन्तु फिर भी उनके द्वारा किया गया वर्गीकरण पर्याप्त व्यवस्थित और उपयोगी था। अध्याय के अन्त में उन्होंने जो विस्तृत टिप्पणी दी थी, उससे क्रियाविशेषण के विभिन्न आधारों की उपयोगिता पर तो प्रकाश पड़ता ही था, साथ ही, वह इस विषय पर, उनके स्वतन्त्र चिन्तन तथा मौलिक विवेचन का प्रमाण भी प्रस्तुत करता था।

विवेच्य खण्ड के दूसरे अध्याय में सम्बन्धसूचक अव्यय का विवेचन किया गया था। इसकी परिभाषा में गुरु जी ने लिखा था कि "जो अव्यय संज्ञा (अथवा संज्ञा के समान उपयोग में आने वाले शब्द) के बहुधा पीछे आकर उसका संबंध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ मिलाता है उसे संबंधसूचक कहते हैं; जैसे, 'धन के बिना किसी का नाम नहीं चलता', 'नौकर गाँव तक गया' आदि।"[३] उन्होंने प्रयोग के अनुसार इसके दो भेद किये थे—सम्बद्ध और अनुबद्ध। दोनों का परिचय देते हुए लिखा था कि "संबद्ध संबंधसूचक संज्ञाओं की विभक्तियों के पीछे आते हैं; जैसे, धन के बिना, नर की नाई, पूजा से पहले इत्यादि। अनुबद्ध संबंधसूचक संज्ञा के विकृत रूप के साथ आते हैं; जैसे, किनारे तक, सखियों सहित, कटोरे भर इत्यादि।"[४] अर्थ के अनुसार सम्बन्धसूचक अव्यय के वर्गीकरण को आवश्यक और व्याकरणोपयोगी नहीं मानते हुए भी गुरु जी ने इसके काल, स्थान, दिशा, साधन, हेतु, विषय, व्यतिरेक, विनिमय, सादृश्य, विरोध, सहचार, संग्रह तथा तुलनावाचक, तेरह भेद किये थे। फिर व्युत्पत्ति के आधार पर मूल और यौगिक दो भेद माने थे। उन्होंने हिन्दी सम्बन्धसूचक अव्ययों के साथ उर्दू और संस्कृत के उनके पर्यायों

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १७९।
२. उपरिवत्, पृ० १९३।
३. उपरिवत्, पृ० १९७।
४. उपरिवत्, पृ० १९८।

की भी सूची दी थी, जिनका प्रयोग हिन्दी में होता है। अन्त में, अनेक सम्बन्धसूचक अव्ययों के अर्थ और प्रयोग पर प्रकाश डाला था।

सम्बन्धसूचक अव्यय को स्वतन्त्र शब्द-भेद सिद्ध करने में एवं उसके स्वरूप-निर्धारण तथा वर्गीकरण में भी गुरु जी के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुई थीं। हिन्दी के अधिकांश पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों ने इसे स्वतन्त्र-शब्द-भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया था, और जिन लोगों ने किया भी था, उन्होंने इसका सम्यक् विवेचन नहीं किया था। गुरु जी भी इसे स्वतन्त्र-शब्द-भेद स्वीकार करने में हिचक रहे थे। उन्होंने लिखा था कि "विभक्तियों और थोड़े से अव्ययों को छोड़ हिंदी में मूल संबंधसूचक कोई नहीं है जिससे कोई-कोई वैयाकरण (हिंदी में) यह शब्द-भेद ही नहीं मानते। जिन अव्ययों को सुभीते के लिए संबंधसूचक मानते हैं उनमें से अधिकांश संज्ञाएँ हैं जो अपनी विभक्तियों का लोप हो जाने से अव्यय के समान प्रयोग में आती हैं।"[1] अध्याय के अन्त से इस स्थिति पर निशेष रूप से प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "पहले कहा गया है कि हिंदी के अधिकांश वैयाकरण अव्ययों के भेद नहीं मानते। अव्ययों के और-और भेद तो उनके अर्थ और प्रयोग के कारण बहुत करके निश्चित हैं चाहे उनको माने या न माने; परंतु संबंधसूचक को एक अलग शब्द-भेद मानने में कई बाधाएँ हैं। हिंदी में कईएक संज्ञाओं, विशेषणों और क्रियाविशेषणों को केवल संबंध कारक अथवा कभी-कभी दूसरे कारक की विभक्ति के पश्चात् आने ही के कारण संबंधसूचक मानते हैं; परन्तु इनका एक अलग वर्ग न मानकर एक विशेष प्रयोग मानने से भी काम चल सकता है, जैसा कि संस्कृत में उपरि, बिना, पृथक्, पुरः, अग्रे आदि अव्ययों के सम्बन्ध में होता है; जैसे, 'गृहस्योपरि', 'रामेण विना'। दूसरी कठिनाई यह है कि जिस अर्थ में कोई-कोई संबंधसूचक आते हैं उसी अर्थ में कारक-प्रत्यय अर्थात् विभक्तियाँ भी आती हैं; जैसे, घर में, घर के भीतर, तलवार से, तलवार के द्वारा, पेड़ पर, पेड़ के ऊपर। तब इन विभक्तियों को भी सम्बन्धसूचक क्यों न मानें? इनके सिवा एक और अड़चन यह है कि कई एक शब्दों—जैसे; तक, भर, रहित, पूर्वक, मात्र, सा आदि— के विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रत्यय हैं अथवा संबंध-सूचक। हिंदी की वर्त्तमान लिखावट पर से इसका निर्णय करना और भी

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० १९७।

कठिन है। उदाहरणार्थ; कोई 'तक' को पूर्व शब्द से मिलाकर और कोई अलग लिखते हैं। ऐसी अवस्था में संबंधसूचक का निर्दोष लक्षण बताना सहज नहीं है।"[१]

सम्बन्धसूचक के पश्चात् विभक्ति का लोप हो आता है और विभक्ति के पश्चात् कोई दूसरा प्रत्यय नहीं आता; इसलिए जो शब्द विभक्ति के पश्चात् आते हैं, उनको प्रत्यय नहीं कह सकते और जिन शब्दों के पश्चात् विभक्ति आती है, वे सम्बन्धसूचक नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ; 'हाथी का सा बल' में 'सा' प्रत्यय नहीं, किन्तु सम्बन्धसूचक है; और 'संसार भर के ग्रन्थ-गिरि' में 'भर' सम्बन्धसूचक नहीं, किन्तु प्रत्यय अथवा क्रियाविशेषण है। इस दृष्टि से केवल उन्हीं को सम्बन्धसूचक मानना चाहिये, जिनके पश्चात् कभी विभक्ति नहीं आती और जिनका प्रयोग संज्ञा के बिना कभी हो ही नहीं सकता। इस प्रकार के शब्द केवल 'नाई', 'प्रति', 'पर्यन्त', 'पूर्वक', 'सहित' और 'रहित' हैं। इनमें से अन्त के पाँच शब्दों के पूर्व कभी-कभी सम्बन्धकारक की विभक्ति नहीं आती। उस समय इन्हें प्रत्यय कह सकते हैं। तब, केवल एक 'नाई' शब्द ही सम्बन्धसूचक कहा जा सकता है; पर वह भी प्रायः अल्पप्रचलित है। फिर तक, भर, मात्र और सुद्धां के पश्चात् कभी-कभी विभक्तियाँ आती हैं; इसलिए और-और शब्द-भेदों के समान ये केवल स्थानीय रूप से सम्बन्धसूचक हो सकते हैं। ये शब्द कभी सम्बन्धसूचक, कभी प्रत्यय और कभी दूसरे शब्द-भेद भी होते हैं। इससे जान पड़ता है कि हिन्दी में मूल सम्बन्धसूचकों की संख्या नहीं के बराबर है, परन्तु भिन्न-भिन्न शब्दों के प्रयोग सम्बन्धसूचक के समान होते हैं, इसलिए इसको एक अलग शब्द-भेद मानने की आवश्यकता है।"[२] इस प्रकार, गुरु जी ने सम्बन्धसूचक अव्यय के सम्बन्ध में सभी दृष्टियों से स्पष्टतापूर्वक विचार किया था।

दूसरे खण्ड के तीसरे अध्याय में समुच्चयबोधक अव्यय पर प्रकाश डाला गया था। इसके लक्षण में बताया गया था कि "जो अव्यय (क्रिया की विशेषता न बतलाकर) एक वाक्य का सम्बन्ध दूसरे वाक्य से मिलाता है उसे समुच्चयबोधक अव्यय कहते हैं, जैसे—और, यदि, तो, क्योंकि, इसलिए।"[३]

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० २११-१२।
२. उपरिवत्, पृ० २१२-१३।
३. उपरिवत्, पृ० २१३।

आगे चल कर इस सम्बन्ध में इतना और स्पष्ट कर दिया गया था कि कोई-कोई समुच्चयबोधक कभी-कभी दो शब्दों को भी जोड़ते हैं।

उपर्युक्त लक्षण का 'क्रिया की विशेषता न बतला कर' अंश उपयुक्त प्रतीत होते हुए भी भ्रामक था, क्योंकि उससे ऐसा व्यञ्जित होता था, मानो अव्यय का मुख्य उद्देश्य क्रिया की विशेषता बताना ही हो। किन्तु, गुरु जी का ध्यान सम्भवतः इस बात की ओर नहीं जा सका था। यही कारण था कि उन्होंने 'भाषाभास्कर', 'भाषाप्रभाकर', 'हिन्दी बालबोध व्याकरण' आदि पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में दी गयी परिभाषाओं को अनुपयुक्त घोषित करने के पश्चात् अपनी परिभाषा को सभी प्रकार से श्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए लिखा था कि "हमारे किये हुए समुच्चय-बोधक के लक्षण में जो वाक्यांश—'क्रिया की विशेषता न बतलाकर'—आया है उसका कारण यह है कि वाक्यों को जिस प्रकार समुच्चय-बोधक जोड़ते हैं उसी प्रकार उन्हें दूसरे शब्द भी जोड़ते हैं। संबंधवाचक और नित्य-संबंधी सर्वनामों के द्वारा भी दो वाक्य जोड़े जाते हैं; जैसे, 'जो गरजते हैं वह बरसते नहीं।' इस उदाहरण में 'जो' और 'वह' दो वाक्यों का संबंध मिलाते हैं। इसी तरह 'जैसा-तैसा' और 'जितना-तितना' संबंधवाचक विशेषण तथा 'जब-तब', 'जहाँ-तहाँ', 'जैसे-तैसे' आदि संबंधवाचक क्रियाविशेषण भी एक वाक्य का संबंध दूसरे वाक्य से मिलाते हैं। इस पुस्तक में दिये हुए समुच्चय-बोधक के लक्षण से इन तीनों प्रकार के शब्दों का निराकरण होता है। संबंधवाचक सर्वनाम और विशेषण को समुच्चयबोधक इसलिए नहीं कहते कि वे अव्यय नहीं हैं; और संबंधवाचक क्रियाविशेषण को समुच्चयबोधक न मानने का कारण यह है कि उसका मुख्य धर्म क्रिया की विशेषता बताना है। इन तीनों प्रकार के शब्दों पर समुच्चय-बोधक की अति व्याप्ति बचाने के लिए ही उक्त लक्षण में 'अव्यय' शब्द और 'क्रिया की विशेषता न बतलाकर' वाक्यांश लाया गया है।"[१]

समुच्चयबोधक के समानाधिकरण और व्यधिकरण दो मुख्य भेद किये गये थे। जिन अव्ययों के द्वारा मुख्य वाक्य जोड़े जाते हैं, उन्हें समानाधिकरण समुच्चयबोधक और जिनके द्वारा एक मुख्य वाक्य में एक से अधिक आश्रित वाक्य जोड़े जाते हैं, उन्हें व्यधिकरण समुच्चयबोधक कहा गया था। समानाधिकरण के संयोजक, विभाजक, विरोधदर्शक और परिणामदर्शक नाम चार

१. पं० का० प्र० गु०. हि० व्या०, पृ० २१५।

भेद, इसी तरह व्यधिकरण के भी कारणबाचक, उद्देशवाचक, सङ्केतवाचक एवं स्वरूपवाचक नाम से चार भेद माने गये थे। इन सभी भेदोपभेदों के स्वरूप एवं उदाहरणों का बड़ा ही विस्तृत एवं स्पष्ट परिचय गुरु जी ने प्रस्तुत किया था। इसके वर्गीकरण के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि 'संबंधसूचकों के समान समुच्चयबोधकों का वर्गीकरण भी व्याकरण की दृष्टि से आवश्यक नहीं है। इस वर्गीकरण से केवल उनके भिन्न-भिन्न अर्थ वा प्रयोग जानने में सहायता मिल सकती है। पर समुच्चयबोधक अव्ययों के जो मुख्य वर्ग माने गये हैं उनकी आवश्यकता वाक्य-पृथक्करण के विचार से होती है, क्योंकि वाक्य-पृथक्करण वाक्य के अवयवों तथा वाक्यों का परस्पर संबंध जानने के लिए बहुत ही आवश्यक है।"[१] इस सम्बन्ध में पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा प्रदर्शित उपेक्षा-भावना की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "जिन हिन्दी व्याकरणों में समुच्चयबोधकों के भेद माने गये हैं उनमें से प्राय: सभी दो भेद मानते हैं—संयोजक और विभाजक। 'भाषातत्वदीपिका' में समुच्चयबोधकों के केवल पाँच भेद माने गये हैं जिनमें और कई अव्ययों के सिवा 'इसलिए' का भी ग्रहण नहीं किया गया। यह अव्यय आदम के व्याकरण को छोड़ और किसी व्याकरण में नहीं आया जिससे अनुमान होता है कि इसके समुच्चय-बोधक होने में संदेह है। इस शब्द के विषय में हम पहले लिख चुके हैं कि यह मूल अव्यय नहीं है, किंतु संबंधसूचकान्त सर्वनाम है; परन्तु इसका प्रयोग समुच्चयबोधक के समान होता है और दो-तीन संस्कृत अव्ययों को छोड़ हिंदी में इस अर्थ का और कोई अव्यय नहीं है। 'इसलिए', 'अतएव', 'अत:' और (उर्दू) 'लिहाजा' से परिणाम का बोध होता है और यह अर्थ दूसरे अव्ययों से नहीं पाया जाता, इसलिए इन अव्ययों के लिए एक अलग भेद मानने की आवश्यकता है।"[२]

दूसरे खण्ड के चौथे अध्याय में विस्मयादिबोधक का परिचय देते हुए गुरु जी ने लिखा था कि "जिन अव्ययों का संबंध वाक्य से नहीं रहता और जो वक्ता के केवल हर्ष-शोकादि भाव सूचित करते हैं उन्हें विस्मयादिबोधक अव्यय कहते हैं।"[३] व्याकरण की दृष्टि से विस्मयादिबोधक शब्दों को उन्होंने

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० २३४।

२. उपरिवत्, पृ० २३५।

३. उपरिवत्, पृ० २३६।

विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं माना था, क्योंकि 'वाक्य का मुख्य काम जो विधान करना है उसमें इनके योग से कोई आवश्यक सहायता नहीं मिलती।' यही कारण था कि इस विषय का विवेचन उन्होंने अत्यन्त संक्षेप में किया था।

ग्रन्थ के दूसरे भाग के दूसरे परिच्छेद में शब्दों के रूपान्तर का विवेचन किया गया था। इस प्रकरण के प्रारम्भिक तीन अध्यायों में संज्ञा के रूपान्तर के कारणों—लिङ्ग, वचन और कारक—पर क्रमशः प्रकाश डाला गया था। लिङ्ग की परिभाषा देते हुए गुरु जी ने लिखा था कि 'संज्ञा के जिस रूप से वस्तु की (पुरुष वा स्त्री) जाति का बोध होता है उसे लिंग कहते हैं।"[1] लिङ्ग की इस परिभाषा में कोई नवीनता नहीं थी। टिप्पणी में जड़ पदार्थों के लिङ्ग की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "जिन पदार्थों में कठोरता, बल, श्रेष्ठता आदि गुण दिखते हैं उनमें पुरुषत्व की कल्पना करके उनके वाचक शब्दों को पुल्लिंग, और जिनमें नम्रता, कोमलता, सुन्दरता आदि गुण दिखाई देते हैं, उनमें स्त्रीत्व की कल्पना करके उनके वाचक शब्दों को स्त्रीलिंग कहते हैं।"[2] इस स्थापना में गुरु जी से यह भूल हो गयी थी कि उन्होंने जड़ पदार्थों के वाचक शब्दों के लिङ्ग को पदार्थाश्रित मान लिया था, जबकि उनके लिङ्ग व्याकरणिक होने के कारण वास्तव में शब्दाश्रित ही रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो चट्टान जैसा कठोर पदार्थ स्त्रीलिङ्ग कैसे होता? अतः, स्पष्ट है कि व्याकरणिक लिङ्ग वस्तुतः पदार्थों में कठोरता, बल या नम्रता, कोमलता आदि के ऊपर आधारित न होकर, शब्दों के स्वरूप, गठन तथा ध्वनि-बिम्ब पर आधारित होते हैं और पदार्थ या अर्थ से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

गुरु जी के लिङ्ग-विवेचन में मौलिकता का प्रायः अभाव था। उन्होंने इस विषय पर सम्भवतः स्वतन्त्र-चिन्तन नहीं किया था और अगर किया भी हो तो इसमें उन्हें कोई सफलता नहीं मिली थी। इस सम्बन्ध में उनका श्रेय मात्र इतना था कि उन्होंने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा प्रस्तुत सामग्री को अपने ग्रन्थ में, कुछ थोड़े से हेर-फेर के साथ, व्यवस्थित ढङ्ग से सजाया था। किन्तु, इसके साथ ही साथ उन्होंने यत्र-तत्र हिन्दी की लिङ्ग-व्यवस्था के सम्बन्ध में ऐसी भ्रामक तथा अनर्गल बातें भी लिख दी थीं, जिनसे आगे चल

1. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० २३९।

2. उपरिवत्, पृ० २४०।

कर हिन्दी भाषा सम्बन्धी अध्ययन और प्रचार को काफी क्षति उठानी पड़ी। यहाँ उनमें से कुछेक की संक्षिप्त चर्चा भर कर देना ही पर्याप्त होगा।

गुरु जी ने हिन्दी में अप्राणिवाचक शब्दों के लिङ्ग-ज्ञान को 'विशेष कठिन' प्रमाणित करने के लिए चार कारण दिये थे—'१. एक ही अर्थ के कई अलग-अलग शब्द अलग-अलग लिंग के हैं, जैसे, नेत्र—पु०, आँख—स्त्री०। २. एक ही अन्त के कई एक शब्द अलग-अलग लिंगों में आते हैं; जैसे, कोदो—पु०, सरसो—स्त्री०। ३. कई शब्दों को भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न लिंगों में लिखते हैं। ४. एक ही शब्द एक ही लेखक की पुस्तकों में अलग-अलग लिंगों में आता है।' इनमें से अन्तिम दो के सम्बन्ध में तो उन्होंने स्वयं लिखा था कि ये दोनों 'शिष्ट प्रयोग के अनादर या छापे की भूल' के परिणाम हो सकते हैं, अतः इनका दोषारोपण भाषा पर नहीं किया जा सकता। उनके अतिरिक्त, जहाँ तक पहले तर्क का सम्बन्ध है, हम यह बता चुके हैं कि अप्राणिवाचक शब्दों का लिङ्ग अर्थ या पदार्थ पर आश्रित नहीं होता, इसलिए एक ही अर्थ के वाचक भिन्न-भिन्न शब्दों की लिङ्ग-भिन्नता में कोई अस्वाभाविकता नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार, दूसरे तर्क के सम्बन्ध में हमारा आक्षेप यह है कि शब्द का रूप केवल उसके अन्त पर निर्भर नहीं करता, अपितु उसके सम्पूर्ण गठन, ध्वनि-बिम्ब तथा उसमें प्रयुक्त स्वर एवं व्यञ्जनों के स्वरूप पर भी निर्भर करता है। इसलिए, केवल 'अन्त' के आधार पर सभी अप्राणिवाचक शब्दों के लिङ्ग-निर्णय का प्रयास बहुत समीचीन नहीं कहा जा सकता। गुरु जी ने इन स्थितियों पर बिना विचार किये ही हिन्दी शब्दों की लिङ्ग-व्यवस्था को 'विशेष कठिन' और 'अनियमित' घोषित कर दिया था। फिर भी उनके विवेचन में बहुत सी उपयोगी बातों पर पूर्ववर्त्ती व्याकरण ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक विस्तार एवं प्रामाणिक ढङ्ग से विचार किया गया था।

लिङ्ग-विवेचन के पश्चात् हिन्दी संज्ञाओं के वचन के सामान्य लक्षण तथा भेदादि पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया था। तदनन्तर, दोनों लिङ्गों की संज्ञाओं के एकवचन से बहुवचन बनाने के नियमों का सोदाहरण विवेचन बहुत ही प्रामाणिक रूप से तथा विस्तारपूर्वक किया गया था। इस प्रसङ्ग में गुरु जी ने संस्कृत, अरबी तथा फारसी शब्दों के वचनों पर संक्षेप में विचार किया था।

हिन्दी के पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों में से कुछ ने वचन का विचार कारक के साथ किया था, किन्तु गुरु जी ने कारक-चिह्न या परसर्ग से रहित बहुवचन रूपों पर ही पहले विचार किया था। इस सम्बन्ध में टिप्पणी देते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिंदी के कई एक व्याकरणों में वचन का विचार कारक के साथ किया गया है जिसका कारण यह है कि बहुत से शब्दों में बहुवचन के प्रत्यय विभक्तियों के बिना नहीं लगाये जाते। दूसरा कारण यह है कि कई शब्दों का विभक्ति-रहित बहुवचन रूप विभक्ति-सहित बहुवचन से भिन्न होता है; जैसे—'ये टोपियाँ उन टोपियों से छोटी हैं।' इसके सिवा संस्कृत में वचन का विचार विभक्तियों के ही साथ होता है; इसलिए हिन्दी में भी उसी चाल का अनुकरण किया जाता है। अब यहाँ यह प्रश्न है कि जब वचन और विभक्तियाँ एक दूसरे से इस प्रकार मिली हुई हैं, तब हिन्दी में संस्कृत के अनुसार ही उनका एकत्र विचार क्यों न किया जाय? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यह है कि हिन्दी में वचन और विभक्ति का अलग विचार अधिकांश में सुभीते की दृष्टि से किया जाता है। संस्कृत में प्रातिपदिक (संज्ञा का मूल रूप) प्रथमा विभक्ति के एकवचन से भिन्न रहता है और इसी प्रातिपदिक में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के प्रत्यय जोड़े जाते हैं; परन्तु हिन्दी में संज्ञा का मूल रूप ही प्रथमा विभक्ति (कर्त्ता कारक) में आता है। इसी मूल रूप में प्रत्यय लगाने से प्रथमा का बहुवचन बनता है; जैसे, घोड़ा—घोड़े, लड़की—लड़कियाँ आदि। दूसरे (विभक्ति-सहित) कारकों में बहुवचन का जो रूप होता है, वह प्रथमा (विभक्ति-रहित कर्त्ताकारक) के बहुवचन रूप से भिन्न रहता है; और उस (रूप) में इस रूप का कुछ काम नहीं पड़ता; जैसे, घोड़े, घोड़ों ने, घोड़ों को इत्यादि। इसलिए, (विभक्ति-रहित कर्त्ता) के दोनों वचनों का विचार दूसरे कारकों से अलग ही करना पड़ेगा, चाहे वह वचन के साथ किया जाय, चाहे कारक के साथ। विभक्ति-रहित बहुवचन का विचार इस अध्याय में करने से यह सुभीता होगा कि विभक्तियों के कारण संज्ञाओं में जो विकार होते हैं वे कारक के अध्याय में स्पष्टतया बताये जा सकेंगे।"[१] गुरु जी के ये विचार पर्याप्त युक्ति-सङ्गत थे, क्योंकि हिन्दी में शब्दों के निर्विभक्तिक बहुवचन रूप ही उनके मूल बहुवचन रूप कहे जा सकते हैं। सविभक्तिक बहुवचन रूप में मूल बहुवचन रूप से जो भिन्नता आती है, वह

१. पं० का० प्र० गु०, ,हि० व्या०, पृ० २७४।

वचन के कारण नहीं, अपितु विभक्ति के प्रयोग के कारण। इसलिए, व्याकरण में पहले शब्दों के विभक्ति-रहित वचन पर विचार करना ही उचित माना जा सकता है और गुरु जी ने अपने ग्रन्थ में 'वचन' के प्रसङ्ग में उस औचित्य का उचित ढङ्ग से निर्वाह किया था। इस प्रकरण में एक कमी यह रह गयी थी कि उन्होंने हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले अँगरेजी शब्दों के वचन पर प्रकाश नहीं डाला था।

'वचन' के पश्चात् गुरु जी ने 'कारक' का विवेचन किया था। कारक की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा था कि "संज्ञा (या सर्वनाम) के जिस रूप से उसका सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है उस रूप को कारक कहते हैं।"[१] यह परिभाषा संस्कृत वैयाकरणों के द्वारा दी गयी कारक की परिभाषा से नितान्त भिन्न थी; साथ ही इससे कारक एवं विभक्ति की सूक्ष्म भिन्नता को समझना भी कठिन था। इसके अतिरिक्त, इसका सम्बन्धसूचक अव्यय की परिभाषा के साथ इतना साम्य था कि दोनों के अन्तर को स्पष्ट करना सम्भव नहीं था।

गुरु जी ने उक्त सम्भाव्य आक्षेपों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा था कि "जिस अर्थ में कारक शब्द का प्रयोग संस्कृत व्याकरणों में होता है उस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग यहाँ नहीं हुआ है और न वह अर्थ अधिकांश हिन्दी-व्याकरणों में माना गया है। केवल 'भाषा तत्त्वदीपिका' और 'हिंदी व्याकरण' में, जिनके लेखक महाराष्ट्री हैं, मराठी व्याकरण की रूढ़ि के अनुसार, 'कारक' और 'विमक्ति' शब्दों का प्रयोग प्रायः संस्कृत के अनुसार किया गया है। संस्कृत में क्रिया के साथ संज्ञा (सर्वनाम और विशेषण) के अन्वय (संवंध) को कारक कहते हैं और उनके जिस रूप से यह अन्वय सूचित होता है उसे विभक्ति कहते हैं। विभक्ति में जो प्रत्यय लगाये जाते हैं वे विभक्ति प्रत्यय कहाते हैं। संस्कृत में सात विभक्तियाँ और छह कारक माने जाते हैं। षष्ठी विभक्ति को संस्कृत वैयाकरण कारक नहीं मानते, क्योंकि उनका संवंध क्रिया से नहीं है।"[२]

"संस्कृत में कारक और विभक्ति को अलग मानने का सबसे बड़ा और मुख्य कारण यह है कि एक ही विभक्ति कई कारकों में आती है। यह बात

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० २७४-७५।

२. उपरिवत्।

हिन्दी में भी है। इस दृष्टि से कारक और विभक्ति अवश्य ही अलग-अलग हैं और संस्कृत सरीखी रूपान्तरशील और पूर्ण भाषा में इनका भेद मानना सहज और उचित है। हिन्दी में कारक और विभक्ति को एक मानने की चाल कदाचित् अँगरेजी व्याकरण का फल है, क्योंकि सबसे प्रथम व्याकरण पादरी आदम साहब ने लिखा था। इस व्याकरण में 'कारक' शब्द आया है; परन्तु 'विभक्ति' शब्द का नाम पुस्तक भर में कहीं नहीं है। दो-एक लेखकों के लिखने पर भी आज तक के हिन्दी व्याकरणों में कारक और विभक्ति का अन्तर नहीं माना गया है। हिन्दी वैयाकरणों के विचार में इन दोनों शब्दों के अर्थ की एकता यहाँ तक स्थिर हो गई है कि व्यास जी सरीखे संस्कृत के विद्वान् ने भी 'भाषा-प्रभाकर' में विभक्ति के बदले 'कारक' शब्द का प्रयोग किया है। हाल में पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने अपने 'विभक्ति विचार' में लिखा है कि 'स्वर्गीय पं० दामोदर शास्त्री ने ही, संभव है कि सबसे पहले स्वरचित व्याकरण में कर्त्ता, कर्म, करण आदि कारकों के प्रयोग का यथोचित खंडन कर प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्ति शब्द का प्रयोग उनके बदले में करने के साथ इसका युक्तियुक्त प्रतिपादन भी किया था।' इस तरह से इस बहुत ही पुरानी भूल को सुधारने की ओर आज कल लेखकों का ध्यान हुआ है। अब हमें यह देखना चाहिए कि इस भूल को सुधारने से हिन्दी व्याकरण को क्या लाभ हो सकता है।

हिन्दी में संज्ञाओं की विभक्तियों (रूपों) की संख्या संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम है और विकल्प से बहुधा कई एक संज्ञाओं की विभक्तियों का लोप हो जाता है। संज्ञाओं की अपेक्षा सर्वनामों के रूप हिन्दी में कुछ अधिक निश्चित हैं, पर उनमें भी कई शब्दों की प्रथमा, द्वितीया और तृतीया विभक्तियाँ बहुधा दो-दो कारकों में आती हैं। हिन्दी-संज्ञाओं की एक-एक विभक्ति कभी-कभी चार-चार कारकों में आती है। ऐसी अवस्था में प्रायः एक ही रूप और अर्थ के शब्दों को कभी प्रथमा, कभी द्वितीया, कभी तृतीया और कभी सप्तमी विभक्ति में मानना पड़ेगा। केवल रूप के अनुसार विभक्ति मानने से हिन्दी में 'प्रथमा', 'द्वितीया' आदि कल्पित नामों में भी बड़ी गड़बड़ होगी। संस्कृत में शब्दों के रूप बहुधा निश्चित और स्थिर हैं, इसलिए जिन कारणों से उसमें कारक और विभक्ति का भेद मानना उचित है, उन्हीं कारणों से हिन्दी में वह भेद मानना कठिन जान पड़ता है। हिन्दी में

अधिकांश विभक्तियों का रूप केवल अर्थ से निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि रूपों की संख्या बहुत ही कम है, इसलिए इस भाषा में विभक्तियों के सार्थक नाम कर्त्ता, कर्म आदि ही उपयोगी जान पड़ते हैं।

हिन्दी के जिन वैयाकरणों ने कारक और विभक्ति का अन्तर हिन्दी में मानने की चेष्टा की है; वे भी इनका विवेचन समाधानपूर्वक नहीं कर सके हैं। पं० केशवराम भट्ट ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' में संज्ञाओं के केवल दो कारक—कर्त्ता और कर्म तथा पाँच रूप—पहला, दूसरा, तीसरा आदि माने हैं। 'विभक्ति' शब्द का प्रयोग उन्होंने 'प्रत्यय' के अर्थ में किया है और अपने माने हुए दोनों कारकों का लक्षण इस प्रकार बताया है—"क्रिया के संबंध से संज्ञा की जो दो विशेष अवस्थाएँ होती हैं उनको कारक कहते हैं।" इस लक्षण के अनुसार जिन करण, सम्प्रदान आदि सम्बन्धों को संस्कृत वैयाकरण कारक मानते हैं, वे भी कारक नहीं कहे जा सकते। तब फिर इन पिछले सम्न्वधों को 'कारक' के बदले और क्या कहना चाहिए? आगे चल कर, 'विभक्ति' शीर्षक लेख में भट्ट जी संज्ञाओं के रूपों के विषय में लिखते हैं कि "अलग-अलग पाँच ही रूपों से कारक आदि संज्ञाओं की विभिन्न अवस्थाएँ पहचानी जाती हैं।" इसमें 'आदि' शब्द से जाना जाता है कि संज्ञा की केवल दो विशेष अवस्थाओं को कोई नाम देने की आवश्यकता ही नहीं। 'हिन्दी व्याकरण' में कई नियम संस्कृत व्याकरण के अनुसार सूत्र-रूप से देने का प्रयत्न किया गया है, इसलिए इस पुस्तक में यह बात कहीं स्पष्ट नहीं हुई है कि 'अवस्था' शब्द 'सम्बन्ध' के अर्थ में आया है या 'रूप' के अर्थ में, और न कहीं इस बात का विवेचन किया गया है कि केवल दो 'विशेष अवस्थाएँ' ही 'कारक' क्यों कहलाती हैं? कारक का जो लक्षण किया गया है वह लक्षण नहीं, किन्तु वर्गीकरण का वर्णन है और उसकी वाक्य-रचना स्पष्ट नहीं है। भट्ट जी ने संज्ञाओं के जो पाँच रूप माने हैं (जिनको कभी-कभी वे 'विभक्ति' भी कहते हैं), उनमें से तीसरी और पाँचवीं विभक्तियों को उन्होंने 'लुप्त अवस्था' में आने पर उन्हीं विभक्तियों के अन्तर्गत माना है, पर दूसरी विभक्ति को कहीं उसी में और कहीं पहली में लिया है। हिन्दी में सम्बोधनकारक का रूप इन पाँचो विभक्तियों से भिन्न है; पर यह भी संस्कृत के अनुसार प्रथमा में मान लिया गया है। इसके सिवा हिन्दी में षष्ठी ('हि० व्या०' की चौथी) विभक्ति का अभाव है, क्योंकि उसके बदले तद्धित प्रत्यय का-के-की आते हैं, परन्तु भट्ट जी ने तद्धित-

प्रत्ययान्त पद को भी विभक्ति मान लिया है। साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा ने 'व्याकरण सार' में 'विभक्ति' शब्द को उस रूपान्तर के अर्थ में प्रयुक्त किया है जो कारक के प्रत्यय लगने के पूर्व संज्ञाओं में होता है। आपके मतानुसार हिन्दी में केवल दो विभक्तियाँ हैं।"[1]

टिप्पणी के अन्त में अपना निष्कर्ष देते हुए गुरु जी ने लिखा था कि "इस विवेचन का सार यही है कि हिंदी में विभक्ति और कारक का सूक्ष्म अंतर मानने में बड़ी कठिनाई है। इससे हिंदी व्याकरण की क्लिष्टता बढ़ती है और जबतक उनकी समाधान-कारक व्यवस्था न हो, तबतक केवल वाद-विवाद के लिए उन्हें व्याकरण में रखने से कोई लाभ नहीं है। इसलिए हमने 'कारक' और 'विभक्ति' शब्दों का प्रयोग हिंदी व्याकरण के अनुकूल अर्थ में किया है; और प्रथमा, द्वितीया आदि कल्पित नामों के बदले कर्त्ता, कर्म आदि सार्थक नाम लिखे हैं।"[2]

गुरु जी की उपर्युक्त टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने 'क्लिष्टता' से बचने के लिए कारक के विवेचन के प्रसङ्ग में संस्कृत व्याकरण का मार्ग त्याग कर एक सुविधाजनक मार्ग अपनाया था; किन्तु, उन्हें इस बात का विश्वास अवश्य था कि भविष्य में इस विषय की कोई 'समाधान-कारक व्यवस्था' हो सकती है।

इसी प्रकार, तीसरे सम्भाव्य आक्षेप का उत्तर उन्होंने 'विभक्तियों और सम्बन्ध-सूचक अव्ययों में सम्बन्ध' शीर्षक प्रसङ्ग में दिया था। उन्होंने लिखा था कि "विभक्ति के द्वारा संज्ञा (या सर्वनाम) का जो संबंध क्रिया वा दूसरे शब्दों के साथ प्रकाशित होता है वही संबंध कभी-कभी संबंध-सूचक अव्यय के द्वारा प्रकाशित होता है; जैसे, 'लड़का नहाने को गया है' अथवा 'नहाने के लिए गया है।' इसके विरुद्ध संबंध-सूचकों से जितने संबंध प्रकाशित होते हैं उन सबके लिये हिंदी में कारक नहीं हैं; जैसे, 'लड़का नदी तक गया', 'चिड़िया धोती समेत उड़ गई', 'मुसाफिर पेड़ तले बैठा है', 'नौकर साँप के पास पहुँचा' इत्यादि।"[3] फिर आगे टिप्पणी में उन्होंने स्वयं यह प्रश्न उठाया था कि "जिन संबंध-सूचकों से कारकों का अर्थ निकलता है उन्हें

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० २७४–२७६।

२. उपरिवत्, पृ० २७८।

३. उपरिवत्, पृ० २९६–२९७।

कारक क्यों न मानें और शब्दों के सब प्रकार के परस्पर संबंध सूचित करने के लिये कारकों की संख्या क्यों न बढ़ाई जाय ? यदि 'नहाने को' कारक माना जाता है तो 'नहाने के लिए' को भी कारक मानना चाहिये और यदि 'पेड़ पर' एक कारक है तो 'पेड़ तले' दूसरा कारक होना चाहिये।"[1] इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने आगे लिखा था कि "इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विभक्तियों और संबंध-सूचकों की उत्पत्ति पर विचार करना आवश्यक है। इस विषय में भाषाविदों का यह मत है कि विभक्तियों और संबंध-सूचकों का प्रयोग बहुधा एक ही है। भाषा के आदिकाल में विभक्तियाँ न थीं और एक शब्द के साथ दूसरे का संबंध स्वतंत्र शब्दों के द्वारा प्रकाशित होता था। बार-बार उपयोग में आने से इन शब्दों के टुकड़े हो गये और फिर उनका उपयोग प्रत्यय रूप में होने लगा। संस्कृत सरीखी प्राचीन भाषाओं में संयोगात्मक विभक्तियाँ भी स्वतंत्र शब्दों के टुकड़े हैं। मिश्रजी 'विभक्ति विचार' में लिखते हैं कि 'सु, औ, जस् आदि को स्वतंत्र रूप से दर्शाना ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि ये चिह्न स्वतंत्र शब्दों में ही पूर्वकाल में उपजे थे।' किसी भाषा में बहुत सी और किसी में थोड़ी विभक्तियाँ होती हैं। जिन भाषाओं में विभक्तियों की संख्या अधिक रहती है (जैसे संस्कृत में है) उनमें सम्बन्ध-सूचकों का प्रचार अधिक नहीं होता। भिन्न-भिन्न भाषाओं में रूप के जो भेद दिखाई देते हैं, उनका एक विशेष कारण यही है कि सम्बन्ध-सूचकों का उपयोग किसी में स्वतन्त्र रूप से और किसी में प्रत्यय रूप से हुआ है।

इस विवेचन से जान पड़ता है कि विभक्तियों और सम्बन्ध-सूचकों की उत्पत्ति प्रायः एक ही प्रकार की है। अर्थ की दृष्टि से भी दोनों समान ही हैं, परन्तु रूप और प्रयोग की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। इसलिए, कारक का विचार केवल अर्थ के अनुसार ही न करके रूप और प्रयोग के अनुसार भी करना चाहिए। जिस प्रकार लिङ्ग और वचन के कारण संज्ञाओं का रूपान्तर होता है उसी प्रकार शब्दों का परस्पर सम्बन्ध सूचित करने के लिए भी रूपान्तर होता है और उसे (हिन्दी में) कारक कहते हैं। यह रूपान्तर एक शब्द में दूसरा शब्द जोड़ने से नहीं, किन्तु प्रत्यय जोड़ने से होता है। सम्बन्ध-सूचक अव्यय एक प्रकार के स्वतन्त्र शब्द हैं, इसलिए सम्बन्ध-सूचकान्त

---

१. पं० का० प्र० गु०, हिं० व्या०, पृ० २४७।

संज्ञाओं को कारक नहीं कहते। इसके सिवा, कुछ विशेष प्रकार के मुख्य सम्बन्धों ही को कारक मानते हैं; औरों को नहीं। यदि सब सम्बन्ध-सूचकान्त संज्ञाओं को कारक मानें तो अनेक प्रकार के सम्बन्ध सूचित करने के लिए कारकों की संख्या न जाने कितनी बढ़ जाय।"[1]

गुरु जी के उपर्युक्त विवेचन से सम्बन्धसूचक और विभक्तियों की समानता पर ही अधिक और भिन्नता पर कम प्रकाश पड़ता था। दोनों के अन्तर को सन्तोषपूर्ण ढङ्ग से नहीं स्पष्ट कर पाने के कारण उन्हें लिखना पड़ा था कि "कुछ विशेष प्रकार के मुख्य संबंधों को ही 'कारक मानते हैं, औरों को नहीं।" यहाँ, कुछ विशेष प्रकार के मुख्य सम्बन्ध से उनका क्या तात्पर्य था, यह वे स्पष्ट नहीं कर सके थे। इसी तरह, उनका यह लिखना कि "यदि सब संबंध सूचकांत संज्ञाओं को कारक मानें तो अनेक प्रकार के संबंध सूचित करने के लिए कारकों की संख्या न जाने कितनी बढ़ जाय", इस सम्बन्ध में उनकी अनिश्चयात्मक स्थिति को पूर्णत: स्पष्ट कर देता था। वास्तव में, उनकी इस उलझन तथा संशयात्मक स्थिति का मुख्य कारण उनके द्वारा दी गयी कारक की परिभाषा का दोषग्रस्त होना था, जिसमें उन्होंने क्रिया से सम्बन्ध बताने वाले संज्ञा रूपों (या सर्वनाम रूपों) को कारक नहीं कह कर उनसे किसी भी शब्द का सम्बन्ध बताने वाले रूपों को कारक मान लिया था।

कारक की तरह ही विभक्ति को समझने में भी गुरु जी ने भूल की थी। उन्होंने विभक्ति शब्द का प्रयोग परसर्ग के अर्थ में किया था, जबकि हिन्दी में विभक्ति और परसर्ग दोनों अलग-अलग हैं। उदाहरणार्थ—'लड़कों को' में 'ओं' विभक्ति है और 'को' परसर्ग। यदि वे विभक्ति को परसर्ग से अभिन्न नहीं मानते तो उनके द्वारा दी गयी विभक्ति की यह परिभाषा पूर्णत: शुद्ध थी कि "कारक सूचित करने के लिए संज्ञा या सर्वनाम के आगे जो प्रत्यय लगाये जाते हैं, उन्हें विभक्तियाँ कहते हैं।" किन्तु, चूँकि उन्होंने विभक्ति का अर्थ परसर्ग माना था, इसीलिए उन्होंने आगे लिखा था कि "विभक्तियों की संज्ञाओं से मिला कर लिखने के लिए भाषा के आधार पर कोई निश्चित नियम बनाना कठिन है। विभक्तियों को मिला कर लिखने में एक दूसरी कठिनाई यह है कि हिंदी में बहुधा प्रकृति और प्रत्यय के बीच में कोई-कोई

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० २९७–२९८।

अव्यय भी आ जाते हैं; जैसे, 'चौदह पीढ़ी तक का पता' आदि।"[१] टिप्पणी के अन्त में उन्होंने लिखा कि 'ऐसी अवस्था में भाषा के प्रयोग का अधिकार वैयाकरण को नहीं है; इसलिए इस विषय को हम ऐसा ही अनिश्चित छोड़ देते हैं।"[२]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यही है कि गुरु जी ने हिन्दी कारक और विभक्ति के स्वरूप एवं लक्षण को जिस ढङ्ग से एवं जिस शव्दावली में निरूपित करने का प्रयास किया था, वह सामान्य छात्रों के लिए उपयोगी होने पर भी भाषा के वज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से निर्दोष नहीं था।

आगे चल कर, इस प्रकरण में अपनी पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार गुरु जी ने हिन्दी में कारकों की संख्या आठ बतायी थी और फिर एक-एक कर उन सबका परिचय दिया था। कारकों के परिचय में भी उन्हें अपने द्वारा दी गयी कारक की परिभाषा के अनुसार यत्र-तत्र परम्परागत परिचय में कुछ परिवर्त्तन करना पड़ा था। उदाहरणार्थ; कर्त्ता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "क्रिया के जिस वस्तु के विषय में विधान किया जाता है उसे सूचित करने वाले संज्ञा-रूप को कर्त्ताकारक कहते हैं।"[३] इसके सम्बन्ध में टिप्पणी देते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिंदी में कारक और विभक्ति का संस्कृत-रूढ़ अंतर न मानने के कारण इस लक्षण की आवश्यकता हुई है। इसमें केवल व्यापार के आश्रय ही का समावेश नहीं होता; किंतु स्थिति-दर्शक और विचार-दर्शक क्रियाओं के कर्त्ताओं का भी (जो यथार्थ में व्यापार के आश्रय नहीं हैं) समावेश हो सकता है। इसके सिवा सकर्मक क्रिया के कर्मवाच्य में कर्म का जो मुख्य रूप होता है उसका भी समावेश इस लक्षण में हो जाता है।"[४] इसी प्रकार, सम्प्रदान की विभक्ति के रूप में उन्होने केवल 'को' की चर्चा की थी, 'के लिए' की नहीं, क्योंकि उसे विभक्ति के रूप में स्वीकार कर लेने पर अन्य सम्बन्ध-सूचकों को कारक नहीं मानने का उनके पास कोई उपाय नहीं रह जाता था, जिन्हें 'एक प्रकार के स्वतन्त्र शब्द' होने के कारण उन्होंने विभक्तियों की कोटि से अलग कर दिया था।

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० २९९।
२. उपरिवत्, पृ० ३००।
३. उपरिवत्, पृ० २७९।
४. उपरिवत्, पृ० २७९।

इसी प्रसङ्ग में विभक्तियों की व्युत्पत्ति की भी संक्षिप्त चर्चा की गयी थी, जिसके प्रारम्भ ही में उन्होंने लिखा था कि "हिंदी की अधिकांश विभक्तियाँ प्राकृत के द्वारा संस्कृत से निकली हैं' परंतु इन भाषाओं के विरुद्ध हिंदी की विभक्तियाँ दोनों वचनों में एकरूप रहती हैं।"[१] पता नहीं यह वाक्य लिखते समय गुरु जी का ध्यान अपने द्वारा निर्धारित सम्बन्ध की विभक्तियों (का, के, की) की ओर क्यों नहीं गया था, जिनमें केवल वचन ही नहीं, लिङ्ग के कारण भी विकार होते हैं और जिस सम्बन्ध को कारक सिद्ध करने के लिए उन्होंने कारक की परिभाषा में ही आमूल परिवर्त्तन कर दिया था।

विभक्तियों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में गुरु जी ने अपना स्वतन्त्र मत नहीं देकर पूर्ववर्त्ती विद्वानों के मतों का उल्लेख मात्र किया था। विभक्तियों को उन्होंने चरम प्रत्यय कहा था, किन्तु उसके साथ ही यह भी स्वीकार किया था कि 'हिंदी में अधिकरण कारक की विभक्तियों के साथ बहुधा संबंध वा अपादान कारक की विभक्ति आती है।''

उपर्युक्त प्रकरण के पश्चात् 'संज्ञाओं की कारक-रचना' पर प्रकाश डाला गया था। इस प्रसङ्ग में पहले संज्ञा के 'विकृत रूप' और 'विकृत कारक' का परिचय दिया गया था, फिर विकृत रूप के प्रत्ययों पर विचार किया गया था। गुरु जी ने हिन्दी संज्ञाओं के बहुवचन विकृत रूप में 'ओं' और 'यों' दो प्रत्यय माने थे, जो वास्तव में सही नहीं थे। हिन्दी संज्ञाओं के विकृत बहुवचन के रूप का एकमात्र प्रत्यय 'ओं' ही है, जो केवल ह्रस्व एवं दीर्घ इकारान्त संज्ञाओं में अन्त के तालव्य स्वरों (इ और ई) के प्रभाव से 'यों' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। गुरु जी ने इसी 'यों' को भ्रम से दूसरा प्रत्यय मान लिया था।

उन्होंने प्रत्येक 'लिङ्ग' और 'अन्त' की एक-एक संज्ञा की कारक-रचना के जो उदाहरण दिये थे, उसमें संस्कृत तत्सम शब्दों को भी हिन्दी का अपना शब्द मान लिया था। इसलिए अकारान्त, इकारान्त तथा उकारान्त पु० संज्ञाओं एवं अकारान्त, इकारान्त तथा ओकारान्त स्त्री० संज्ञाओं के लिए उन्होंने क्रमशः बालक, मुनि, साधु, शाला, शक्ति तथा गौ शब्दों के रूप प्रस्तुत किये थे। इनके अतिरिक्त, अन्य 'अन्त' वाले शब्दों के लिए दोनों लिङ्गों में

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० २८९।

हिन्दी के अपने (तद्भव) शब्दों के रूप प्रस्तुत किये गये थे। केवल ऐकारान्त पु०, और एकारान्त, ऐकारान्त तथा ओकारान्त स्त्री० शब्दों के रूप नहीं दिये गये थे। उनके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "हिंदी में ऐकारांत पु० और एकारांत, ऐकारांत तथा ओकारांत स्त्री० संज्ञाएँ नहीं हैं।"

यों तो किसी भाषा में प्रयुक्त होने वाले सारे के सारे शब्द, चाहे उनके स्रोत कोई भी हों, उस भाषा के अपने ही शब्द माने जा सकते हैं; किन्तु, जहाँ तक किसी भाषा की प्रकृति या प्रवृत्ति के अध्ययन का प्रश्न है, उसके लिए मूलतः उसके अपने शब्दों को ही आधार बनाया जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि गुरु जी को तत्सम, तद्भव और विदेशी शब्दों की रूप-रचना अलग-अलग प्रस्तुत करनी चाहिए थी। यदि वे वैसा करते तो उनका विवेचन अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित होता; साथ ही, उन्हें यह भी पता चल जाता कि हिन्दी में केवल ऐकारान्त पु०, और एकारान्त, ऐकारान्त तथा ओकारान्त स्त्री० संज्ञाओं का ही नहीं, बल्कि इकारान्त और उकारान्त पु० तथा आकारान्त, और इकारान्त स्त्री० संज्ञाओं का भी प्रायः अभाव है। इन अन्तों की जितनी संज्ञाएँ हिन्दी में प्रचलित हैं, वे किसी दूसरी भाषा के तत्सम रूप से आयी हैं।

संज्ञा शब्दों की रूप-रचना के पश्चात् सर्वनामों की रूप-रचना पर विचार किया गया था। इस सम्बन्ध में गुरु जी ने लिखा था कि "संज्ञाओं के समान सर्वनामों में वचन और कारक हैं; परंतु लिंग के कारण इनका रूप नहीं बदलता। तथा विभक्ति-रहित (कर्त्ता कारक के) बहुवचन में, पुरुषवाचक (मैं, तू) और निश्चयवाचक (यह, वह) सर्वनामों को छोड़ कर, शेष सर्वनामों का रूपान्तर नहीं होता। जैसे—

एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
मैं	हम	आप	आप
तू	तुम	जो	जो
यह	ये	कौन	कौन
वह	वे	क्या	क्या
सो	सो	कोई	कोई
—	—	कुछ	कुछ

इन उदाहरणों से जान पड़ेगा कि 'मैं' और 'तू' का बहुवचन अनियमित है; परन्तु 'यह' तथा 'वह' का नियमित है।"[१]

सर्वनाम के स्वरूप-विवेचन के प्रसङ्ग में हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हिन्दी सर्वनामों के मूलरूप में न केवल लिङ्ग के कारण, अपितु वचन के कारण भी कोई विकार नहीं होता, क्योंकि वे सब-के-सब मूलतः एकवचन ही हैं और उनका बहुवचन रूप उनके आगे 'लोग' या 'सब' जैसे किसी बहुवचनसूचक शब्द के जोड़ने से बनता है। गुरु जी ने भी अन्य सर्वनामों के सम्बन्ध में तो इसे स्वीकार किया था, किन्तु पुरुषवाचक (मैं, तू) और निश्चयवाचक (यह, वह) को इसका अपवाद माना था, जो ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है। उन्होंने 'हम', 'तुम', 'ये' और 'वे' को क्रमशः 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह' का बहुवचन रूप बताया था। हम इसके सम्बन्ध में भी पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं कि ये बहुवचन कहे जाने वाले चारों-के-चारों सर्वनाम वास्तव में आदरसूचक एकवचन ही हैं और इनका बहुवचन रूप भी अन्य सर्वनामों के समान इनके आगे 'लोग' या 'सब' जैसे किसी बहुवचनसूचक शब्द के मिलने से ही बनता है, किन्तु इनके साथ बहुवचन सूचक शब्दों का प्रयोग विकल्पात्मक होता है। जहाँ प्रसङ्ग से ही बहुवचन की सूचना मिलती है, वहाँ तो इनके साथ बहुवचन सूचक शब्द का प्रयोग अनिवार्य नहीं होता, किन्तु जहाँ प्रसङ्ग से वह स्पष्ट नहीं होता, वहाँ इनके साथ कोई-न-कोई बहुवचन सूचक शब्द अनिवार्य रूप से लगता है। इसलिए, इन आदरसूचक एकवचन सर्वनामों को बहुवचन मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। गुरु जी ने सर्वनामों की रूप-रचना का जो विवेचन किया था, उसका सबसे बड़ा दोष यही था कि उन्होंने सर्वत्र इन आदरसूचक एकवचन सर्वनामों को बहुवचन का उदाहरण माना था।

विशेषण की रूप-रचना के सम्बन्ध में गुरु जी ने लिखा था कि "हिन्दी में आकारान्त विशेषणों को छोड़ दूसरे विशेषणों में कोई विकार नहीं होता; परंतु सब विशेषणों का प्रयोग संज्ञाओं के समान होता है; इसलिए यह कह सकते हैं कि विशेषणों में परीक्षा रूप से लिंग, वचन और कारक होते हैं। इस प्रकार के विशेषणों का विकार संज्ञाओं के समान उनके 'अंत' के अनुसार

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३०१–३०२।

होता है।"[१] इसके बाद उन्होंने बड़ी स्पष्टता से भिन्न-भिन्न प्रकार के विशेषणों की रूप-रचना तथा उनके तुलनात्मक प्रयोगों का विवेचन किया था। इस प्रसङ्ग में उन्होंने संस्कृत के विशेषणों पर भी सम्यक् रूप से प्रकाश डाला था तथा उर्दू विशेषणों की भी सामान्य चर्चा की थी।

क्रिया के रूपान्तर के प्रसङ्ग में गुरु जी ने लिखा था कि "क्रिया में वाच्य, काल, अर्थ, पुरुष, लिंग और वचन के कारण विकार होता है। जिस क्रिया में ये विकार पाये जाते हैं और जिसके द्वारा विधान किया जा सकता है, उसे समापिका क्रिया कहते हैं।"[२] इसके पश्चात् उन्होंने सर्वप्रथम 'वाच्य' का विवेचन किया था। वाच्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "वाच्य क्रिया के उस रूपांतर को कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य में कर्त्ता के विषय में विधान किया गया है वा कर्म के विषय में, अथवा केवल भाव के विषय में; जैसे, स्त्री कपड़ा सीती है' (कर्त्ता), 'कपड़ा सिया जाता है' (कर्म), 'यहाँ बैठा नहीं जाता' (भाव)।"[३]

वाच्य की यह परिभाषा परम्परागत परिभाषा से भिन्न थी। इसमें वाच्य-निरूपण के लिए क्रिया के 'रूप' को आधार नहीं बना कर उसके 'अर्थ' को आधार बनाया गया था, जबकि संस्कृत वैयाकरणों ने तथा हिन्दी के पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों ने भी केवल 'रूप' को ही इसका आधार माना था। इस सम्बन्ध में गुरु जी ने लिखा था कि "संस्कृत में वाच्य का निर्णय केवल रूप पर हो सकता है; पर हिंदी में क्रिया के कई एक प्रयोग—जैसे; लड़के ने पाठ पढ़ा, रानी ने सहेलियों को बुलाया, लड़कों को गाड़ी पर बैठाया जाय—ऐसे हैं जो रूप के अनुसार एक वाच्य में और अर्थ के अनुसार दूसरे वाच्य में आते हैं। इसलिए संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल रूप के आधार पर ही हिंदी में वाच्य का लक्षण करना कठिन है। यदि केवल रूप के आधार पर यह लक्षण किया जायगा तो अर्थ के अनुसार वाच्य के कई संकीर्ण (संलग्न) विभाग करने पड़ेंगे और यह विषय सहज होने के बदले कठिन हो जायगा।"[४]

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३१२।
२. उपरिवत्, पृ० ३२२–२३।
३. उपरिवत्, पृ० ३२३।
४. उपरिवत्, पृ० ३२३।

यहाँ यह सङ्केत भर कर देना पर्याप्त होगा कि गुरु जी की उपर्युक्त आशङ्का तर्कसङ्गत नहीं होने के कारण अनावश्यक एवं भ्रान्तिमूलक थी; क्योंकि, जहाँ वाच्य का आधार रूप को माना जायगा, वहाँ अर्थ की कसौटी पर उसके परीक्षण की बात ही कैसे उठ सकती है? किन्तु, यह बात उस समय गुरु जी की समझ में नहीं आयी, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी के वाच्य-विवेचन को सहज बनाने के प्रयास में उन्होंने उसे अनावश्यक रूप से अवैज्ञानिक और कठिन बना दिया। इतना ही नहीं, इस सम्बन्ध में उन्होंने एक और भी उलझन खड़ी कर दी, वह यह कि संस्कृत वैयाकरणों ने जहाँ 'वाच्य' और 'प्रयोग' को पर्यायवाची माना था, वहाँ गुरु जी ने उन्हें भिन्नार्थवाची मान लिया और तीन वाच्यों के साथ तीन प्रयोगों (कर्त्तरि, कर्मणि, भावे) की भी कल्पना की। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "कोई-कोई वैयाकरण 'वाच्य' को 'प्रयोग भी कहते हैं, क्योंकि संस्कृत व्याकरण में ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। हिंदी में वाच्य के संबंध से दो प्रकार की रचनाएँ होती हैं; इसलिए हमने 'प्रयोग' शब्द का उपयोग क्रिया के साथ कर्त्ता वा कर्म के अन्वय तथा अनन्वय ही के अर्थ में किया है और उसे 'वाच्य' का अनावश्यक पर्यायवाची शब्द नहीं रक्खा।"[१] इसमें गुरु जी ने यह नहीं स्पष्ट किया था कि 'हिन्दी में वाच्य के सम्बन्ध से दो प्रकार की रचनाएँ' क्या-क्या होती हैं। ऐसी स्थिति में उन स्पष्ट कल्पित कारणों के आधार पर 'वाच्य' और 'प्रयोग' को 'अनावश्यक पर्यायवाची शब्द' मान लेना गुरु जी जैसे श्रेष्ठ वैयाकरण के लिए उचित नहीं कहा जा सकता।

'रूप' को आधार नहीं बना कर 'अर्थ' को आधार बनाने का एक परिणाम यह हुआ था कि गुरु जी का वाच्य-विवेचन असङ्गतियों का भाण्डार बन कर रह गया। उदाहरणार्थ; कर्तृवाच्य के उदाहरणों को लिया जा सकता है। उन्होंने 'लड़का पुस्तक पढ़ता है', 'लड़के ने पुस्तक पढ़ी' तथा 'रानी ने सहेलियों को बुलवाया' इन तीनों वाक्यों को कर्तृवाच्य माना था और परिभाषा में लिखा था कि "कर्तृवाच्य क्रिया के उस रूपांतर को कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य का उद्देश्य क्रिया का कर्त्ता है।"[२] यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि उपर्युक्त वाक्यों में वाक्य का उद्देश्य क्रिया का कर्त्ता ही है,

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३२४

२. उपरिवत्, पृ० ३२४।

तो फिर पहले वाक्य की तरह दूसरे और तीसरे वाक्य की क्रियाएँ भी कर्त्ता के लिङ्ग-वचन के अनुसार न होकर क्रमशः 'कर्म' और 'भाव' के लिङ्ग-वचन के अनुसार क्यों हैं ? गुरु जी ने इस सम्बन्ध में जो टिप्पणी[1] दी थी, उसमें उन्होंने स्वीकार किया था कि रूप की दृष्टि से उपर्युक्त वाक्य क्रमशः कर्तृ, कर्म और भाववाच्य के उदाहरण हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से तीनों कर्तृवाच्य ही हैं। उन्होंने अर्थ की दृष्टि से कर्मवाच्य और भाववाच्य के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार दिये थे—'कपड़ा सिया जाता है', 'यहाँ कैसे बैठा जायगा।' उपर्युक्त सभी उदाहरणों के साथ गुरु जी के विवेचन को ध्यानपूर्वक मिलाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वाच्य-निरूपण में रूप को छोड़ कर अर्थ को आधार बनाने की प्रेरणा उन्हें अँगरेजी व्याकरण के प्रति अनावश्यक मोह से मिली थी। उन्होंने कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के जो उदाहरण दिये थे, वे वास्तव में अँगरेजी के 'ऐक्टिव' और 'पैसिव वॉयस' के उदाहरणों के अनुवाद थे। इस प्रकार, अँगरेजी व्याकरण के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति ने वाच्य के प्रकरण में भी उन्हें दिग्भ्रमित कर दिया था।

अर्थ को आधार बनाने का दूसरा परिणाम यह हुआ कि गुरु जी को 'वाच्य' से 'प्रयोग' को भिन्नार्थवाची शब्द मानना पड़ा तथा रूप की दृष्टि से क्रिया के अलग-अलग तीन प्रयोग मानने पड़े। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "वाक्य में कर्त्ता वा कर्म के पुरुष, लिंग वा वचन के अनुसार क्रिया का जो अन्वय और अनन्वय होता है उसे प्रयोग कहते हैं। हिंदी में तीन प्रयोग होते हैं—कर्त्तरि प्रयोग, कर्मणि प्रयोग और भावे प्रयोग।"[2] फिर, उन्होंने सबके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये थे। कर्मणि प्रयोग के उन्होंने कर्तृवाच्य कर्मणि प्रयोग और कर्मवाच्य कर्मणि प्रयोग दो भेद; तथा भावे प्रयोग के—कर्तृवाच्य भावे प्रयोग, कर्मवाच्य भावे प्रयोग सथा भाववाच्य भावे प्रयोग, तीन भेद माने थे। इस प्रकार, वाच्य और प्रयोग को भिन्नार्थी मानने के कारण, फिर वाच्य का विवेचन अर्थ के आधार पर और प्रयोग का विवेचन रूप के आधार पर करने के कारण तथा अन्त में वाच्य और प्रयोग में पुनः सम्बन्ध स्थापित करने के असफल प्रयास के कारण, गुरु जी के व्याकरण का वह अंश हिन्दी के विद्वानों के लिए भी बहुत दिनों तक भूलभुलैया की गली के समान बना रहा।

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३२४–३२५।

२. उपरिवत् पृ० ३३८।

वाच्य-विवेचन के समान ही गुरु जी का काल-विवेचन भी अस्पष्ट एवं उलझनपूर्ण ही था। काल की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार दी थी—"क्रिया के उस रूपांतर को 'काल' कहते हैं जिससे क्रिया के व्यापार का समय तथा उसकी पूर्ण वा अपूर्ण अवस्था का बोध होता है।"[1] इसे स्पष्ट करने के उद्देश्य से टिप्पणी में उन्होंने लिखा था कि "काल (समय) अनादि और अनंत है। उसका कोई खंड नहीं हो सकता। तथापि वक्ता वा लेखक की दृष्टि से समय के तीन भाग कल्पित किये जा सकते हैं। जिस समय वक्ता वा लेखक बोलता वा लिखता हो उस समय को वर्त्तमानकाल कहते हैं और उसके पहले का समय भूतकाल तथा पीछे का समय भविष्यत्काल कहलाता है। इन तीनों कालों का बोध क्रिया के रूपों से होता है; इसलिए क्रिया के रूप भी 'काल' कहलाते हैं। क्रिया के 'काल' से केवल व्यापार के समय ही का बोध नहीं होता; किन्तु उसकी पूर्णता वा अपूर्णता भी सूचित होती है। इसलिए क्रिया के रूपांतरों के अनुसार प्रत्येक 'काल' के भी भेद माने जाते हैं।"[2] इसके पश्चात् उन्होंने काल के वर्त्तमान, भूत और भविष्यत् तीन मुख्य भेदों की चर्चा की थी। फिर, क्रिया के व्यापार की सामान्य, अपूर्ण और पूर्ण अवस्था के आधार पर उन्होंने वर्त्तमान काल के—सामान्य वर्त्तमान, अपूर्ण वर्त्तमान और पूर्ण वर्त्तमान तीन भेद; भूत के भी—सामान्य भूत, अपूर्ण भूत और पूर्ण भूत तीन भेद, किन्तु भविष्यत् का केवल एक सामान्य भविष्यत् रूप ही स्वीकार किया था। भविष्यत् के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "भविष्यत् काल में व्यापार की पूर्ण वा अपूर्ण अवस्था सूचित करने के लिए हिंदी में क्रिया के कोई विशेष रूप नहीं पाये जाते; इसलिए इस काल के कई भेद नहीं होते।"[3]

उपर्युक्त वर्गीकरण को स्पष्ट करने के लिए टिप्पणी में उन्होंने लिखा था कि "कालों का जो वर्गीकरण हमने यहाँ किया है वह प्रचलित हिंदी-व्याकरणों में किये गए वर्गीकरण से भिन्न है। उनमें काल के साथ क्रिया के दूसरे अर्थ भी (जैसे—आज्ञा, संभावना, संदेह आदि) वर्गीकरण के आधार माने गये हैं। हमने इन दोनों आधारों (काल और अर्थ) पर अलग-अलग वर्गीकरण किया है,

१. पं० का० प्र० गु०, हि० ब्या०, पृ० ३२८।
२. उपरिवत्, पृ० ३२९।
३. उपरिवत्, पृ० ३२९।

क्योंकि एक आधार में केवल काल की प्रधानता है और दूसरे में केवल अर्थ वा रीति की। ऐसा वर्गीकरण न्याय-सम्मत भी है। ऊपर लिखे सात कालों का वर्गीकरण क्रिया के समय और व्यापार की पूर्ण अथवा अपूर्ण अवस्था के आधार पर किया गया है। यदि हिंदी में वर्त्तमान और भूतकाल के समान भविष्यत्काल में भी व्यापार की पूर्णता और अपूर्णता सूचित करने के लिए क्रिया के रूप उपलब्ध होते तो हिंदी की काल-व्यवस्था अँगरेजी के समान पूर्ण हो जाती और कालों की संख्या सात के बदले ठीक नौ होती। कोई-कोई वैयाकरण समझते हैं कि 'वह लिखता रहेगा' अपूर्ण भविष्यत् का और 'वह लिख चुकेगा' पूर्ण भविष्यत् का उदाहरण है; और इन दोनों कालों को स्वीकार करने से हिंदी की काल-व्यवस्था पूरी हो जायगी। ऐसा करना बहुत ही उचित होता; परंतु ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं वे यथार्थ में संयुक्त क्रियाओं के हैं और इस प्रकार के रूप दूसरे कालों में भी पाये जाते हैं, जैसे 'वह लिखता रहा', 'वह लिख चुका' इत्यादि। तब इन रूपों को भी अपूर्ण भविष्यत् और पूर्ण भविष्यत् के समान क्रमशः अपूर्ण भूत और पूर्ण भूत मानना पड़ेगा जिससे काल-व्यवस्था पूर्ण होने के बदले गड़बड़ और कठिन हो जायगी। यही बात अपूर्ण वर्त्तमान के रूपों के विषय में कही जा सकती है। हमने इस काल के उदाहरण केवल काल-व्यवस्था की पूर्णता के लिए दिये हैं। इस प्रकार के रूपों का विचार संयुक्त क्रियाओं के अध्याय में किया जायगा। कालों के नामों में हमने केवल प्रचलित 'आसन्न भूतकाल' के बदले 'पूर्ण वर्त्तमानकाल' नाम रक्खा है। इस काल से भूतकाल में आरंभ होनेवाली क्रिया की पूर्णता वर्त्तमानकाल में सूचित होती है; इसलिए यह पिछला नाम ही अधिक सार्थक जान पड़ता है और इससे कालों के नामों में एक प्रकार की व्यवस्था भी आ जाती है।"[१] किन्तु आगे चल कर, उन्होंने इस सम्बन्ध में फिर लिखा था कि "कालों के प्रचलित नामों में हमने दो नाम बदल दिये हैं—१. आसन्नभूत, २. हेतुहेतुमद्भूत। 'आसन्नभूत' नाम बदलने का कारण पहले कहा जा चुका है; तथापि काल-रचना में इसी नाम का उपयोग ठीक जान पड़ता है।"[२] यहाँ इस एक उदाहरण से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काल-विवेचन के प्रसङ्ग में गुरु जी कैसी अनिश्चयात्मक स्थिति से गुजर रहे थे।

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३३१-३६२।

२. उपरिवत्, पृ० ३३७।

आगे चल कर, क्रिया के 'अर्थ' पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "क्रिया के जिस रूप से विधान करने की रीति का बोध होता है उसे 'अर्थ' कहते हैं; जैसे, लड़का जाता है (निश्चय), लड़का जावे (संभावना), तुम जाओ (आज्ञा), यदि लड़का जाता तो अच्छा होता (संकेत)।"[१] उन्होंने 'अर्थ' के आधार पर हिन्दी क्रियाओं को पाँच वर्गों में बाँटा था—निश्चयार्थ, सम्भावनार्थ, सन्देहार्थ, आज्ञार्थ और सङ्केतार्थ।

'अर्थ' शब्द की उपयुक्तता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी के अधिकांश व्याकरणों में इस रूपांतर का अलग विचार नहीं किया गया, किंतु काल के साथ मिला दिया गया है। आदम साहब के व्याकरण में 'नियम' के नाम से इस रूपांतर का विचार हुआ है और पाध्ये महाशय ने स्यात् मराठी के अनुकरण पर अपनी 'भाषा तत्त्वदीपिका' में इसका विचार 'अर्थ' के नाम से किया है। इस रूपांतर का नाम काले महाशय ने भी अपने अँगरेजी-संस्कृत व्याकरण में 'अर्थ' ही रक्खा है। यह नाम 'नियम' की अपेक्षा अधिक प्रचलित है; इसलिए हम भी इसका प्रयोग करते हैं, यद्यपि यह थोड़ा बहुत भ्रामक अवश्य है।"[२] इसके पश्चात् 'अर्थ' के आधार पर क्रिया के वर्गीकरण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "क्रिया के रूपों से केवल समय और पूर्ण अथवा अपूर्ण अवस्था ही का बोध नहीं होता, किंतु निश्चय, संदेह, संभावना, आज्ञा, संकेत आदि का भी बोध होता है; इसलिए इन रूपों का भी व्याकरण में संग्रह किया जाता है। इन रूपों से काल का भी बोध होता है और अर्थ का भी; और किसी-किसी रूप में ये दोनों इतने मिले रहते हैं कि इनको अलग-अलग करके बताना कठिन हो जाता है; जैसे, 'वहाँ न जाना पुत्र, कहीं।' इस वाक्य में केवल आज्ञार्थ ही नहीं है; किंतु भविष्यत् काल भी है, इसलिए यह निश्चित करना कठिन है कि 'जाना' काल का रूप है अथवा अर्थ का। कदाचित् इस कठिनाई से बचने के लिए हिंदी के वैयाकरण काल और अर्थ को मिलाकर क्रिया के रूपों का वर्गीकरण करते हैं। इसके लिए उन्हें काल के लक्षण में यह कहना पड़ता है कि 'क्रिया का 'काल' समय के अतिरिक्त व्यापार की अवस्था भी बताता है अर्थात् व्यापार समाप्त हुआ या नहीं हुआ, होगा अथवा उसके होने में संदेह है।' काल के लक्षण को इतना

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३३३।

२. उपरिवत्, पृ० ३३३।

व्यापक कर देने पर भी आज्ञा, सम्भावना और सङ्केत अर्थ बच जाते हैं और इन अर्थों के अनुसार भी क्रिया के रूपों का वर्गीकरण करना आवश्यक होता है। इसलिए समय और पूर्णता वा अपूर्णता के सिवा क्रिया के जो और अर्थ होते हैं, उनके अनुसार अलग वर्गीकरण करना उचित है, यद्यपि इस वर्गीकरण में थोड़ी बहुत अशास्त्रीयता अवश्य है।"[१]

गुरु जी ने 'अर्थ' के आधार पर जो क्रिया के पाँच रूप माने थे, उनमें सम्भावनार्थक के भीतर अनुमान, इच्छा, कर्त्तव्य आदि सबको मिला कर उसके रूप को उलझा दिया था, किन्तु उन सबसे सम्भावना का अर्थ समान रूप से प्रकट नहीं होता। इसके अतिरिक्त सम्भावनार्थ और आज्ञार्थ के उदाहरणों; जैसे, 'पानी बरसे', 'लड़का जावे' आदि के रूपों में समानता होने के कारण, सामान्यत: उनकी भिन्नता को समझना भी कठिन था।

क्रिया के उपर्युक्त पाँच अर्थों के आधार पर उन्होंने काल के निम्नलिखित सोलह भेद किये थे—

निश्चयार्थ :

१. सामान्य वर्त्तमान—वह चलता है।
२. पूर्ण वर्त्तमान—वह चला है।
३. सामान्य भूत—वह चला।
४. अपूर्ण भूत—वह चलता था।
५. पूर्ण भूत—वह चला था।
६. सामान्य भविष्यत्—वह चलेगा।

सम्भावनार्थ :

७. सम्भाव्य वर्त्तमान—वह चलता हो।
८. सम्भाव्य भूत—वह चला हो।
९. सम्भाव्य भविष्यत्—वह चले।

सन्देहार्थ :

१०. सन्दिग्ध वर्त्तमान—वह चलता होगा।
११. सन्दिग्ध भूत—वह चला होगा।

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३३३-३४।

आज्ञार्थ :

१२. प्रत्यक्ष विधि—तू चल।

१३. परोक्ष विधि—तू चलना।

सङ्केतार्थ :

१४. सामान्य सङ्केतार्थ—वह चलता।

१५. अपूर्ण सङ्केतार्थ—वह चलता होता।

१६. पूर्ण सङ्केतार्थ—वह चला होता।

उपर्युक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में गुरु जी ने लिखा था कि "इन उदाहरणों से जान पड़ेगा कि हिंदी में कालों की संख्या कम से कम सोलह है। भिन्न-भिन्न हिंदी व्याकरणों में यह संख्या भिन्न-भिन्न पाई जाती है जिसका कारण यह है कि कोई-कोई वैयाकरण कुछ कालों को स्वीकृत नहीं करते अथवा इन्हें भ्रमवश छोड़ जाते हैं। अपूर्ण वर्त्तमान, अपूर्ण भविष्यत् और पूर्ण भविष्यत् कालों को छोड़, जिनका विवेचन संयुक्त क्रियाओं के साथ करना ठीक जान पड़ता है, शेष काल हमारे किये हुए वर्गीकरण में ऐसे हैं जिनका प्रयोग भाषा में पाया जाता है और जिनमें काल तथा अर्थ के लक्षण घटते हैं।"[१]

गुरु जी ने 'आसन्नभूत' की तरह 'हेतुहेतुमद्भूत' का नाम भी बदल दिया था। इसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि " 'हेतुहेतुमद्भूत' का नाम बदलने का कारण यह है कि इस काल के तीन रूप होते हैं जिनमें से प्रत्येक का प्रयोग अलग-अलग प्रकार का है और जिनका अर्थ एक ही नाम से सूचित नहीं होता। ये काल केवल संकेतार्थ में आते हैं; इसलिए इनके नामों के साथ 'संकेत' शब्द रखना उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार 'सम्भाव्य' और 'सन्दिग्ध' शब्द सम्भावनार्थ और सन्देहार्थ सूचित करने के लिए आवश्यक होते हैं।"[२]

इसके पश्चात् गुरु जी ने क्रिया में पुरुष, लिङ्ग और वचन के प्रयोग का विवेचन किया था। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने कर्त्तरि, कर्मणि और भावे प्रयोग की चर्चा की थी, जिनके सम्बन्ध में हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं।

कृदन्त के सम्बन्ध में गुरु जी ने लिखा था कि "क्रिया के जिन रूपों का उपयोग दूसरे शब्द-भेदों के समान होता है उन्हें कृदंत कहते हैं; जैसे, चलना

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३३६–३३७।

२. उपरिवत्, पृ० ३३७।

(संज्ञा), चलता (विशेषण), चलकर (क्रियाविशेषण), मारे, लिए (संबंधसूचक) इत्यादि।"[१] रूप के आधार पर उन्होंने कृदन्त के विकारी और अविकारी या अव्यय दो भेद किये थे। फिर, विकारी कृदन्त के—क्रियार्थक संज्ञा, कर्तृवाचक संज्ञा, वर्त्तमानकालिक कृदन्त और भूतकालिक कृदन्त—चार भेद तथा अविकारी कृदन्त या कृदन्त अव्यय के—पूर्वकालिक कृदन्त, तात्कालिक कृदन्त, अपूर्ण क्रियाद्योतक और पूर्ण क्रियाद्योतक—चार भेद माने थे। इन सबका विवेचन उन्होंने बहुत ही व्यवस्थित ढङ्ग से किया था।

तत्पश्चात् काल-रचना पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि 'क्रिया के वाच्य, अर्थ, काल, पुरुष, लिंग और रचना के कारण होनेवाले सब रूपों का संग्रह करना काल-रचना कहलाती है।"[२] उन्होंने अपने द्वारा निर्धारित सोलह कालों को तीन वर्गों में बाँटा था। पहले वर्ग में धातु से बने हुए चार काल—सम्भाव्य भविष्यत्, सामान्य भविष्यत्, प्रत्यक्ष विधि और परोक्ष विधि—थे। दूसरे वर्ग में वर्त्तमानकालिक कृदन्तों से बने—सामान्य सङ्केतार्थ (या हेतुहेतुमद्भूत काल), सामान्य वर्त्तमान, अपूर्ण भूत, सम्भाव्य वर्त्तमान, सन्दिग्ध वर्त्तमान और अपूर्ण सङ्केतार्थ—छह काल थे और तीसरे वर्ग में भूतकालिक कृदन्तों से बने—सामान्यभूत, आसन्नभूत (या पूर्ण वर्त्तमान) पूर्णभूत, सम्भाव्यभूत, सन्दिग्धभूत तथा पूर्ण सङ्केतार्थ—छह काल थे।

उपर्युक्त तीनों वर्गों के सोलह कालों को गुरु जी ने पुनः साधारण काल और संयुक्त काल के दो वर्गों में बाँटते हुए लिखा था कि "इन तीन वर्गों में पहले वर्ग के चारों काल तथा सामान्य सङ्केतार्थ और सामान्य भूत केवल प्रत्ययों के योग से बनते हैं, इसलिए ये छह काल साधारण काल कहलाते हैं; और शेष दस काल सहकारी क्रियाओं के योग से बनने के कारण संयुक्त काल कहे जाते हैं।"[३] इसके पश्चात् उन्होंने वाच्यक्रम से प्रत्येक वर्ग के कालों की रचना में धातु के साथ जुड़ने वाले भिन्न-भिन्न प्रत्ययों का परिचय देते हुए दोनों लिङ्ग-वचनों एवं सभी कारकों में भिन्न-भिन्न क्रियाओं की काल-रचना प्रस्तुत की थी।

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३४१।

२. उपरिवत्, पृ० ३४९।

३. उपरिवत्, पृ० ३५०

क्रिया की काल-रचना के विवेचन के पश्चात् उन्होंने 'संयुक्त क्रिया' का परिचय दिया था। उसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "धातुओं के कुछ विशेष कृदंतों के आगे (विशेष अर्थ में) कोई-कोई क्रियाएँ जोड़ने से जो क्रियाएँ बनती हैं उन्हें संयुक्त क्रियाएँ कहते हैं; जैसे करने लगना, जा सकना, मार देना इत्यादि।"[1] यह परिभाषा कितनी अस्पष्ट थी, यह स्वतः स्पष्ट है। आगे उन्होंने यह बताया था कि "संयुक्त क्रियाओं में मुख्य क्रिया का कोई कृदंत रहता है और सहकारी क्रिया के काल के रूप रहते हैं। फिर, उन्होंने इस बात की ओर सङ्केत किया था कि "कृदंत के आगे सहकारी क्रिया आने से सदैव संयुक्त क्रिया नहीं बनती। जहाँ कृदंत की क्रिया मुख्य होती है और काल की क्रिया उस कृदंत की विशेषता सूचित करती है वहीं दोनों को संयुक्त क्रिया कहते हैं। यह बात वाक्य के अर्थ पर अवलंबित है; इसलिए संयुक्त क्रिया का निश्चय वाक्य के अर्थ पर से करना चाहिये।"[2] संयुक्त क्रिया के लक्षण-निरूपण की अस्पष्टता का मुख्य कारण यह था कि गुरु जी उसे 'संयुक्त काल' से भिन्न सिद्ध करना चाहते थे। उनका ध्यान दोनों की भिन्नता की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने की ओर इतना तल्लीन था कि उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि दूसरी ओर संयुक्त क्रिया का विवेचन अस्पष्ट होता जा रहा है। अन्ततः रूप और अर्थ दोनों को संयुक्त क्रिया के विवेचन का आधार बनाकर उन्होंने उसके लक्षण को बिलकुल उलझा दिया था।

संयुक्त क्रिया से संयुक्त काल को भिन्न प्रमाणित करते हुए उन्होंने लिखा था कि "संयुक्त क्रियाओं को अलग मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि इनमें जो सहकारी क्रियाएँ जोड़ी जाती हैं उनसे 'काल' का कोई विशेष अर्थ सूचित नहीं होता; किंतु मुख्य क्रिया तथा सहकारी क्रिया के मेल से एक नया अर्थ उत्पन्न होता है। इसके सिवा 'संयुक्त कालों' में जिन कृदंतों का उपयोग होता है उनसे बहुधा भिन्न कृदंत 'संयुक्त क्रियाओं' में आते हैं; जैसे, 'जाता था' संयुक्त काल है; पर 'जाने लगा' वा 'जाया चाहता है' संयुक्त क्रिया है। इस प्रकार अर्थ और रूप दोनों में 'संयुक्त क्रियाएँ' 'संयुक्त कालों' से भिन्न हैं; यद्यपि दोनों, मुख्यक्रिया और सहकारी क्रिया के मेल से बनते हैं। संयुक्त क्रियाओं से जो नया अर्थ पाया जाता है वह कालों के विशेष 'अर्थ से

१. पं० का० प्र० गु०, हिन्दी व्याकरण, पृ० ३८७।
२. उपरिवत्, पृ० ३८७।

भिन्न होता है और वह अर्थ इन क्रियाओं के किसी विशेष रूप से सूचित नहीं होता। पर कालों का 'अर्थ' (संज्ञा, संभावना, संदेह आदि) बहुधा क्रिया के रूप ही से सूचित होता है। इस दृष्टि से संयुक्त क्रियाएँ इकहरी क्रियाओं के उस रूपांतर से भिन्न हैं जिसे अर्थ कहते हैं।"[१]

उपर्युक्त विवेचन को और अधिक विस्तार देते हुए उन्होंने लिखा था कि "किसी-किसी का मत है कि जिन दुहरी (वा तिहरी) क्रियाओं को हिंदी में संयुक्त क्रियाएँ मानते हैं वे यथार्थ में संयुक्त क्रियाएँ नहीं हैं, किंतु क्रिया वाक्यांश हैं; और उनमें शब्दों का परस्पर व्याकरणीय संबंध पाया जाता है; जैसे, 'जाने लगा' वाक्यांश में 'जाने' क्रियार्थक संज्ञा अधिकरण-कारक में है और वह 'लगा' क्रिया से 'आधार' का संबंध' रहती है। इस युक्ति में बहुत-कुछ बल है, परंतु जब हम 'जाने में लगा' और 'जाने लगा' के अर्थ को देखते हैं तब जान पड़ता है कि दोनों के अर्थों में बहुत अंतर है। एक से अपूर्णता और दूसरे से आरम्भ सूचित होता है। इसी प्रकार 'सो जाना' और 'सोकर जाना' में भी अर्थ का बहुत अंतर है। इसके सिवा 'स्वीकार करना', 'विदा करना', 'दान करना', 'स्मरण होना' आदि ऐसी संयुक्त क्रियाएँ हैं जिनके अंगों के साथ दूसरे शब्दों का संबंध बताना कठिन है; जैसे, 'मैं आपकी बात स्वीकार करता हूँ', इस वाक्य में 'स्वीकार' शब्द भाववाचक संज्ञा है। यदि हम इसे 'करना' का कर्म मानें तो 'बात' शब्द को किस कारक में मानेंगे ? और यदि 'बात' शब्द को संबंध कारक में मानें तो 'मैंने आपकी बात स्वीकार की', इस वाक्य में क्रिया का प्रयोग कर्म के अनुसार न मानकर 'बात का' संबंध कारक के अनुसार मानना पड़ेगा जो यथार्थ में नहीं है। इससे संयुक्त क्रियाओं को अलग मानना ही उचित जान पड़ता है। जो लोग इन्हें केवल वाक्य विन्यास का विषय मानते हैं वे भी तो एक प्रकार से इनके विवेचन की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। रही स्थान की बात, सो उसके लिये इससे बढ़कर कोई कारण नहीं है कि काल-रचना की कुछ विशेषताओं के कारण संयुक्त क्रियाओं का विवेचन क्रिया के रूपांतर ही के साथ करना चाहिए। कोई-कोई लोग संयुक्त क्रियाओं को समास मानते हैं; परंतु सामासिक शब्दों के विरुद्ध संयुक्त क्रियाओं के अंगों के बीच में दूसरे शब्द भी आ जाते हैं; जैसे, 'कहीं कोई आ जाय' इत्यादि।"[२]

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ३८७-३८८।

२. उपरिवत्, पृ० ३८८-३८९।

इस सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि गुरु जी की उपर्युक्त स्थापनाएँ निर्भ्रान्त नहीं थीं। उनके सम्बन्ध में अधिक व्यापक रूप से सूक्ष्म चिन्तन की आवश्यकता थी, जो कार्य परवर्त्ती विद्वानों के द्वारा आगे चल कर सम्पन्न हुआ, जिनकी चर्चा आगे यथास्थान की जायगी।

गुरु जी ने संयुक्त क्रियाओं के आठ भेद माने थे—१. क्रियार्थक संज्ञा के मेल से बनी हुई, २. वर्त्तमानकालिक कृदन्त के मेल से बनी हुई, ३. भूतकालिक कृदन्त के मेल से बनी हुई, ४. पूर्वकालिक कृदन्त के मेल से बनी हुई, ५. अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त के मेल से बनी हुई, ६. पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त के मेल से बनी हुई, ७. संज्ञा वा विशेषण से बनी हुई और ८. पुनरुक्त संयुक्त क्रियाएँ। इन सबका क्रमिक विवेचन उन्होंने विस्तारपूर्वक किया था।

'शब्द-साधन' के दूसरे परिच्छेद (रूपान्तर) के अन्त में गुरु जी ने 'विकृत अव्यय' पर विचार करते हुए लिखा था कि "शब्दों के रूपांतर के प्रकरण में अव्ययों का उल्लेख न्याय संगत नहीं है, क्योंकि अव्ययों में लिंग-वचनादि के कारण विकार (रूपांतर) नहीं होता। पर भाषा में निरपवाद नियम बहुत थोड़े पाये जाते हैं। भाषा-संबंधी शास्त्रों में बहुधा अनेक अपवाद और प्रत्यपवाद रहते हैं। पूर्व में अव्ययों को अविकारी शब्द कहा गया है; परंतु कोई-कोई अव्यय विकृत रूप में भी आते हैं। ये सब अव्यय बहुधा आकारान्त होने के कारण आकारांत विशेषणों के समान उपयोग में आते हैं और उन्हीं के समान लिंग-वचन के कारण इनका रूप पलटता है।" इस सम्बन्ध में वस्तुतः न तो एक स्वतन्त्र अध्याय जोड़ने की आवश्यकता थी और न क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होने वाले उन आकारान्त विशेषणों और सम्बन्धसूचकों को 'विकृत अव्यय' जैसी भ्रामक संज्ञा देने की आवश्यकता थी। इसके लिए मात्र इतना कह देना ही पर्याप्त था कि हिन्दी के आकारान्त शब्द, चाहे वे जिस किसी वर्ग के हों या जिस किसी स्थिति में क्यों न हों, सर्वत्र विकारी (रूपान्तरशील) हुआ करते हैं। हिन्दी के स्वरूप पर व्यापक रूप से प्रकाश डालनेवाले इस निरपवाद नियम की उपेक्षा कर गुरु जी ने 'विकृत अव्यय' के विस्तृत विवेचन का जो प्रयास किया था वह अनावश्यक था।

शब्द-साधन के तीसरे परिच्छेद में शब्दों की व्युत्पत्ति का विवेचन किया गया था। इस प्रकरण में केवल यौगिक शब्दों की रचना पर विचार किया गया था। रूढ़ शब्दों की व्युत्पत्ति को उन्होंने व्याकरण से बाहर का विषय

माना था, इसीलिए उसकी चर्चा नहीं की थी। यौगिक शब्दों की व्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में उन्होंने पहले उपसर्ग और प्रत्यय का परिचय दिया था। व्युत्पत्ति-प्रत्यय से कारक-प्रत्यय और काल-प्रत्यय का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "रूपांतर प्रकरण में जो कारक-प्रत्यय और काल-प्रत्यय कहे गये हैं उनमें और व्युत्पत्ति-प्रत्ययों में अंतर है। पहले दो प्रकार के प्रत्यय चरम प्रत्यय हैं अर्थात् उनके पश्चात् और कोई प्रत्यय नहीं लग सकते। हिंदी में अधिकरण कारक के प्रत्यय इस नियम के अपवाद हैं, तथापि विभक्तियों को साधारणतथा चरम प्रत्यय मानते हैं। परंतु व्युत्पत्ति में जो प्रत्यय आते हैं वे चरम प्रत्यय नहीं हैं; क्योंकि उनके पश्चात् दूसरे प्रत्यय आ सकते हैं। यौगिक शब्दों में जो अव्यय हैं (जैसे; चुपके, लिए, धीरे आदि) उनके प्रत्ययों के आगे भी बहुधा दूसरे प्रत्यय नहीं आते; परंतु उनको चरम-प्रत्यय नहीं कहते, क्योंकि उनके पश्चात् विभक्तियों का लोप हो जाता है। सारांश यह है कि कारक-प्रत्यय और काल-प्रत्ययों ही को चरम-प्रत्यय कहते हैं।"[१]

गुरु जी ने पाँच प्रकार के शब्दों को यौगिक शब्दों के रूप में स्वीकार किया था—१. उपसर्ग से निर्मित, २. प्रत्यय से निर्मित, ३. समास से निर्मित, ४. पुनरुक्त शब्द और ५. अनुकरणवाचक शब्द। इन सबका विवेचन उन्होंने क्रमिक रूप से किया था।

उपसर्ग-प्रकरण में उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा अँगरेजी के उपसर्गों की अलग-अलग तालिका प्रस्तुत करते हुए सबका अर्थ तथा उनसे बने यौगिक शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत किये थे। इस प्रसङ्ग में उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी के प्रायः सभी, किन्तु उर्दू और अँगरेजी के प्रायः उन्हीं उपसर्गों का उल्लेख किया था, जिनसे निर्मित यौगिक शब्द हिन्दी में उन दिनों प्रचलित थे।

प्रत्यय-प्रकरण में कृदन्त और तद्धित के प्रत्ययों की चर्चा अलग-अलग की गयी थी। उपसर्ग-प्रकरण की तरह इसमें भी संस्कृत, हिन्दी, फारसी तथा अरबी प्रत्ययों तथा उनसे निर्मित कृदन्त एवं तद्धित शब्दों का विवेचन अलग-अलग किया गया था। इस प्रसङ्ग में प्रत्यय की तरह प्रयुक्त होने वाले उन

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ४१०–४११।

स्वतन्त्र शब्दों को भी शामिल कर लिया गया था, जिनका प्रयोग स्वतन्त्र शब्दों के रूप में कम और यौगिक शब्दों में प्रत्ययों के रूप में अधिक होता है।

उपसर्ग एवं प्रत्यय के विवेचन के पश्चात् समास पर अत्यधिक विस्तार से प्रकाश डाला गया था। 'जिन दो शब्दों में समास होता है उनकी प्रधानता अथवा अप्रधानता के विभाग-तत्त्व' के आधार पर गुरु जी ने समास के मुख्य चार भेद माने थे—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व और बहुव्रीहि। अव्ययीभाव को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "जिस समास में दूसरा शब्द प्रधान होता है और जो समूचा शब्द क्रियाविशेषण अव्यय होता है, उसे अव्ययीभाव समास कहते हैं।"[1] इसी प्रकार, तत्पुरुष के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "जिस समास में दूसरा शब्द प्रधान होता है उसे तत्पुरुष कहते हैं।"[2] तत्पुरुष के उन्होंने दो मुख्य भेद किये थे, एक व्यधिकरण तत्पुरुष और दूसरा समानाधिकरण तत्पुरुष। जिस तत्पुरुष समास के विग्रह में उसके अवयवों में भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ लगायी जाती हैं, उसे उन्होंने व्यधिकरण तत्पुरुष और जिसके विग्रह में उसके दोनों शब्दों में एक ही विभक्ति लगती है, उसे समानाधिकरण तत्पुरुष कहा था। समानाधिकरण का ही दूसरा नाम उन्होंने कर्मधारय बतलाया था। व्यधिकरण तत्पुरुष के उन्होंने कर्म तत्पुरुष, करण तत्पुरुष, सम्प्रदान तत्पुरुष, अपादान तत्पुरुष, सम्बन्ध तत्पुरुष और अधिकरण तत्पुरुष, छह भेद माने थे। इन भेदों के अतिरिक्त, व्यधिकरण के अन्तर्गत अलुक्, उपपद, नञ् तथा प्रादि चार और भेद माने गये थे। जिस व्यधिकरण तत्पुरुष में पहले पद की विभक्ति का लोप नहीं हो, उसे अलुक् समास; जिसका दूसरा पद ऐसा कृदन्त होता है, जिसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता, उसे उपपद समास; जिसमें अभाव या निषेध के अर्थ में 'अ' या 'अन्' लगाया जाता है, उसे नञ समास तथा जिसके प्रथम स्थान में उपसर्ग आता है, उसे प्रादि समास बतलाया गया था। इसी प्रकार, समानाधिकरण तत्पुरुष या कर्मधारय के विशेषतावाचक और उपमावाचक दो मुख्य भेद किये गये थे। फिर, विशेषतावाचक कर्मधारय के विशेषणपूर्वपद, विशेषणोत्तरपद, विशेषणोभयपद, विषयपूर्वपद, संख्यापूर्वपद तथा मध्यमपदलोपी सात भेद माने गये थे, जिनमें से संख्यापूर्वपद का दूसरा नाम द्विगु और मध्यमपदलोपी

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ४८४।

२. उपरिवत्, पृ० ४८६।

का दूसरा नाम लुप्तपद समास बताया गया था। उपमावाचक कर्मधारय के उपमानपूर्वपद, उपमानोत्तरपद, अवधारणा पूर्वपद और अवधारणोत्तरपद, चार भेद किये गये थे।

द्वन्द्व समास के सम्बन्ध में गुरु जी ने लिखा था कि "जिस समास में सब पद अथवा उनका समाहार प्रधान रहता है उसे द्वन्द्व समास कहते हैं।"[1] उन्होंने द्वन्द्व के मुख्य तीन भेद माने थे—इतरेतर द्वन्द्व, समाहार द्वन्द्व और वैकल्पिक द्वन्द्व। फिर, बहुव्रीहि पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "जिस समास में कोई भी पद प्रधान नहीं होता और जो अपने पदों से भिन्न किसी संज्ञा का विशेषण होता है उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं।"[2] इसके विग्रह में सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम के साथ कर्त्ता और सम्बोधन कारकों को छोड़ कर शेष जिन कारकों की विभक्तियाँ लगती हैं, उनके नामों के आधार पर इसके कर्म बहुव्रीहि, करण बहुव्रीहि, सम्प्रदान बहुव्रीहि, अपादान बहुव्रीहि, सम्बन्ध बहुव्रीहि, तथा अधिकरण बहुव्रीहि, छह अलग-अलग नाम बतलाये गये थे। फिर, बहुव्रीहि के समानाधिकरण और व्यधिकरण दो भेद किये गये थे। जिस बहुव्रीहि के विग्रह में दोनों पदों के साथ एक ही विभक्ति आती है, उसे समानाधिकरण बहुव्रीहि और जिसके विग्रह में दोनों पदों के साथ भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ आती हैं, उसे व्यधिकरण बहुव्रीहि कहा गया था। बहुव्रीहि समास के पदों के स्थान अथवा उनके अर्थ की विशेषता के आधार पर उसके तेरह भेद किये गये थे—विशेषणपूर्वपद, विशेषणोत्तरपद, उपमान-पूर्वपद, विषय-पूर्वपद, अवधारणा-पूर्वपद, मध्यपदलोपी, नञ बहुव्रीहि, संख्यापूर्वपद, संख्योत्तर पद, सह बहुव्रीहि, दिगन्तराल बहुव्रीहि, व्यतिहार बहुव्रीहि तथा प्रादि अथवा अव्ययपूर्व बहुव्रीहि।

समासों के उपर्युक्त भेदोपभेद के विवेचन के पश्चात् गुरु जी ने संस्कृत समासों तथा हिन्दी-समासों के कुछ विशेष नियमों पर प्रकाश डाला था। फिर, समासों के सामान्य नियमों की चर्चा की थी। समासों के उदाहरणों में संस्कृत-समस्त पदों के साथ हिन्दी के सामासिक शब्द भी दिये गये थे। सन्धि-प्रकरण की तरह गुरु जी का समास-प्रकरण भी पूर्णतः संस्कृत व्याकरण को आधार बना कर लिखा गया था।

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ४९४।

२. उपरिवत्, पृ० ४९७।

समास-विवेचन के पश्चात् गुरु जी ने पुनरुक्त शब्दों का विवेचन करते हुए लिखा था कि "पुनरुक्त शब्द यौगिक शब्दों का एक भेद है और इनमें से बहुत से सामासिक भी हैं। इनका विवेचन पुस्तक में यत्र-तत्र बहुत कुछ हो चुका है। बोलचाल में इनका प्रचार सामासिक शब्दों ही के लगभग है, पर इनकी व्युत्पत्ति में सामासिक शब्दों से बहुत कुछ भिन्नता भी है। अतएव इनके एकत्र और नियमित विवेचन की आवश्यकता है। इन शब्दों का संयोग बहुधा विभक्ति अथवा संबंधी शब्द का लोप करने से नहीं होता।"[१] उन्होंने पुनरुक्त शब्द के तीन प्रकार माने थे—पूर्ण पुनरुक्त, अपूर्ण पुनरुक्त और अनुकरणवाचक। जब कोई एक शब्द एक ही साथ लगातार दो बार या तीन बार प्रयुक्त होता है, तब उन सबको पूर्ण पुनरुक्त शब्द; जैसे, देश-देश, बड़े-बड़े, आदि; जब किसी शब्द के साथ कोई समानुप्रास सार्थक वा निरर्थक आता है, तब उन्हें अपूर्ण पुनरुक्त शब्द; जैसे, आस-पास, आमने-सामने आदि और पदार्थ की यथार्थ अथवा कल्पित ध्वनि को ध्यान में रख कर जो शब्द बनाये जाते हैं, उन्हें अनुकरणवाचक शब्द के अन्तर्गत स्थान दिया गया था; जैसे, फटफट, गड़गड़ाहट आदि।

पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के द्वारा व्याकरण ग्रन्थों में पुनरुक्त शब्दों के विवेचन की उपेक्षा का उल्लेख करते हुए गुरु जी ने लिखा था कि "हिंदी के प्रचलित व्याकरणों में पुनरुक्त शब्दों का विवेचन बहुत कम पाया जाता है। इस कमी का कारण यह जान पड़ता है कि लेखक लोग कदाचित् ऐसे शब्दों को निरे साधारण मानते हैं और इनके आधार पर व्याकरण के (उच्च) नियमों की रचना करना अनावश्यक समझते हैं। इस उदासीनता का एक कारण यह भी हो सकता है कि वे लेखक इन शब्दों को अपनी मातृभाषा के होने के कारण कदाचित् इतने कठिन नहीं समझते हों कि इनके लिए नियम बनाने की आवश्यकता हो। जो हो, ये शब्द इस प्रकार के नहीं हैं कि व्याकरण में इनका संग्रह और विचार न किया जाय। पुनरुक्त शब्द हिन्दी भाषा की एक विशेषता है और यह विशेषता भरतखंड की दूसरी आर्य भाषाओं में भी पाई जाती है। हमने इन शब्दों का जो विवेचन किया है उसमें अपूर्णता, असंगति आदि दोष संभव हैं; तो भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस पुस्तक में इनका पूर्ण विवेचन करने की चेष्टा की गई है और वह हिंदी की अन्य

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ५१०।

व्याकरण पुस्तक में नहीं पाई जाती। पुनरुक्त शब्द के संबंध में यह संदेह हो सकता है कि जब कई एक पुनरुक्त शब्द सामासिक शब्द भी हैं तब उनका अलग वर्ग मानने की क्या आवश्यकता है। इस शंका का समाधान इसी अध्याय के अन्त में किया गया है। इस विषय में यहाँ पर इतना और लिखा जाता है। सभी पुनरुक्त शब्द सामासिक नहीं हैं, इसलिए इनका अलग वर्ग मानने की आवश्यकता है।"[1] इससे स्पष्ट है कि गुरु जी के द्वारा किया गया हिन्दी के पुनरुक्त शब्दों का विवेचन इस दिशा में सर्वथा प्रथम एवं मौलिक प्रयास था।

'हिन्दी व्याकरण' के तीसरे भाग में विवेचित 'वाक्य-विन्यास' को दो परिच्छेदों में बाँटा गया था। पहले परिच्छेद में 'वाक्य-रचना' तथा दूसरे में 'वाक्य-पृथक्करण' का विवेचन किया गया था। दोनों को एक साथ स्पष्ट करते हुए गुरु जी ने लिखा था कि "वाक्य में शब्दों का परस्पर संबंध दो रीतियों से बतलाया जा सकता है—(१) शब्दों को उनके अर्थ और प्रयोग के अनुसार मिलाकर वाक्य बनाने से और (२) वाक्य के अवयवों को उनके अर्थ और प्रयोग के अनुसार अलग-अलग करने से। पहली रीति को वाक्य-रचना और दूसरी रीति को वाक्य पृथक्करण कहते हैं। यह पिछली रीति हिंदी में अँगरेजी से आई है; और वाक्य के अर्थबोध में इससे बहुत सहायता मिलती है।"[2] उन्होंने वाक्य में शब्दों का परस्पर ठीक-ठीक सम्बन्ध जानने के लिए उनका एक दूसरे से अन्वय, एक दूसरे पर अधिकार और उनके क्रम के ज्ञान को आवश्यक माना था, किन्तु अपने ग्रन्थ में अन्वय, अधिकार और क्रम के नियमों को अलग-अलग स्पष्ट नहीं किया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "ऐसा करने से प्रत्येक शब्द-भेद के विषय में कई बार विचार करना पड़ता और इन विषयों के अलग-अलग विभाग करने में कठिनाई होती। इसलिए, अधिकांश शब्द-भेदों की वाक्य-विन्यास-संबंधी प्रायः सभी बातें एक शब्द-भेद के साथ एक ही स्थान में लिखी गई हैं।"[3]

"वाक्य-रचना की प्रस्तावना के अन्तर्गत उपर्युक्त बातों की चर्चा के अतिरिक्त अर्थ के आधार पर वाक्य के विधानार्थक, निषेधवाचक, आज्ञार्थक,

---

१. पं० का० प्र० गु०, हि० व्या०, पृ० ५१८।

२. उपरिवत्, पृ० ५२१।

३. उपरिवत्, पृ० ५२१।

प्रश्नार्थक, विस्मयादिबोधक, इच्छाबोधक, सन्देहसूचक और सङ्केतार्थक आठ भेद माने गये थे। फिर उद्देश्य और विधेय को 'वाक्य का मुख्य शब्द' बताते हुए उनका संक्षिप्त विवेचन किया गया था। तदनन्तर, दो से चौदह अध्याय तक क्रमशः 'कारकों के अर्थ और प्रयोग', 'समानाधिकरण शब्द', 'उद्देश्य, कर्म और क्रिया का अन्वय', 'सर्वनाम', 'विशेषण और सम्बन्ध कारक', 'कालों के अर्थ और प्रयोग', 'क्रियार्थक संज्ञा', 'कृदन्त', 'संयुक्त क्रियाएँ', 'अव्यय', 'अध्याहार', 'पदक्रम' तथा 'पदपरिचय' पर प्रकाश डाला गया था। इसी प्रकार 'वाक्य-पृथक्करण' के आठ अध्यायों में क्रमशः 'विषयारम्भ', 'वाक्य और उनके भेद', 'साधारण वाक्य', 'मिश्र वाक्य', 'संयुक्त वाक्य', 'संक्षिप्त वाक्य', 'विशेष प्रकार के वाक्य' तथा 'विराम-चिह्न' का विवेचन किया गया था। गुरु जी ने 'वाक्य-रचना' और 'वाक्य-पृथक्करण' के उपर्युक्त सभी प्रकरणों की समस्त सामग्री प्रायः पूर्ववर्त्ती व्याकरण ग्रन्थों से ली थी, जिसमें उन्होंने यत्र-तत्र अल्पाधिक परिवर्त्तन-परिवर्द्धन भी कर दिया था। ग्रन्थ के परिशिष्ट (क) में 'कविता की भाषा' के अन्तर्गत ब्रजभाषा के व्याकरणिक स्वरूप का सामान्य एवं संक्षिप्त परिचय दिया गया था तथा 'परिशिष्ट' (ख) में 'काव्य-स्वतन्त्रता' के अन्तर्गत कविता में होने वाले व्याकरण सम्बन्धी नियमों के उल्लङ्घन की चर्चा की गयी थी। अन्त में उदाहृत ग्रन्थों के नामों के सङ्केत तथा कालक्रम से हिन्दी व्याकरण की बीस सर्वमान्य पुस्तकों के नाम दिये गये थे। इसमें गुरु जी ने भ्रम से पं० रामजसन की 'भाषातत्त्वबोधिनी' को पं० श्रीलाल के 'भाषाचन्द्रोदय' से पूर्व का ग्रन्थ मान लिया था।

'हिन्दी व्याकरण' की रचना के पश्चात् गुरुजी ने उसी के आधार पर अन्य कई छोटे-मोटे छात्रोपयोगी व्याकरणों की रचना की थी, जिनमें 'प्रथम हिन्दी व्याकरण' सं० १९७९ वि० (सन् १९२२ ई०) में एवं 'संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण' तथा 'मध्य हिन्दी व्याकरण' सं० १९८० वि० (सन् १९२३ ई०) में, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी से प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त मध्यप्रदेश की तीसरी और चौथी हिन्दी कक्षाओं के लिए उन्होंने 'सरल हिन्दी रचना' भाग एक तथा भाग दो की रचना क्रमशः सं० १९८४ वि० तथा सं० १९८५ वि० (सन् १९२७ ई० और सन् १९२८ ई०) में की, जिन्हें जबलपुर के 'एजुकेशनल बुक डिपो' ने प्रकाशित किया था। इनमें से अन्त की दो पुस्तकों का सम्बन्ध व्याकरण से नहीं था और प्रारम्भ की तीन पुस्तकों में 'हिन्दी व्याकरण' की

सामग्री को ही संक्षेप में छात्रोपयोगी बनाकर प्रस्तुत किया गया था। इस प्रकार गुरुजी के अक्षय यश का मुख्य आधार उनका 'हिन्दी व्याकरण' ही था, जो अनेक त्रुटियों के रहते हुए भी उस समय तक प्रकाशित अन्य सभी व्याकरणों से अधिक पूर्ण, प्रामाणिक, व्यवस्थित एवं श्रेष्ठ था।

शिवनारायण लाला :

शिवनारायण लाला कलकत्ता के स्कॉटिश चर्च कॉलेज में हिन्दी के प्राध्यापक थे। उन्होंने 'ए मैनुअल ऑफ हायर हिन्दी ग्रामर ऐण्ड कम्पोजीशन' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी, जो सन् १६२० ई० में गोल्ड क्विन ऐण्ड को०, कॉलेज स्ट्रीट मार्केट, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में व्याकरण के प्रायः उन अङ्गों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया था जिनमें विद्यार्थियों को अधिक कठिनाई होती थी।[१] ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने केलॉग के व्याकरण को सर्वोत्तम स्वीकार करते हुए भी उसका यह दोष बताया था कि उसमें व्याकरण के नियमों को व्यवस्थित ढङ्ग से नहीं सजाया गया है।[२] इसी तरह अन्य विदेशी वैयाकरणों के ग्रन्थों को भारतीय विद्यार्थियों के लिए अनुपयोगी तथा अति सामान्य बताया था।[३]

---

१. "In the present volume which grew out of the fragmentary notes dictated to my pupils from time to time, particular attention has been paid to those portions of Hindi grammar, which present difficulties to the young students."—S. N. Lala, 'A mannual of higher Hindi Grammar', preface'.

२. "Dr. Kellogg's work which is written on a comparative basis and is the best Hindi grammar available does not give a detailed expositiɔn of the principles of grammar in a systematic form."—Ibid.

३. "Those written by other European scholars are mainly suited to the needs and capacities of European students, and as such contain matters which are too elementary for Indian students, to the exclusion of the more important technicalities and subtleties of Hindi grammar

ग्रन्थ के आरम्भ में लेखक ने हिन्दी की स्थिति तथा स्वरूप के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था कि हिन्दी भारत की अन्यान्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय है। यह देश के सभी भागों में व्यवहृत होती है और देश की एक-चौथाई से अधिक जनता के पारस्परिक वार्त्तालाप की भाषा है।[१] ग्रन्थ में अन्य बातों की अपेक्षा लिङ्ग के सम्बन्ध में विशेष विस्तार से विचार किया गया था। विदेशियों तथा अहिन्दी भाषियों के लिए यह एक सरल और उपयोगी व्याकरण था।

अमृतलाल दास गुप्ता :

गुप्ता जी की 'सहज हिन्दी औ हिन्दुस्तानी शिक्षा' नामक पुस्तक सन् १९२१ ई० में प्रकाशित हुई थी। उसमें हिन्दी और हिन्दुस्तानी को अभिन्न मानते हुए उसके व्याकरण का सामान्य परिचय दिया गया था।

श्रीनारायण चतुर्वेदी :

कान्यकुब्ज इण्टरमीडिएट कॉलेज, लखनऊ के प्रिंसिपल श्रीनारायण चतुर्वेदी का 'नवीन हिन्दी व्याकरण' जो 'प्राइमरी दर्जों के लिए' लिखा गया था, सन् १९२४ ई० में 'स्कूल बुक एण्ड एपरेटस डिपो, अमीनाबाद पार्क, लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। यह ५८ पृष्ठों की एक सामान्य पुस्तक थी। इसमें चतुर्वेदी जी ने व्याकरण के सभी अङ्गों को अति संक्षेप में किन्तु विद्वत्तापूर्वक स्पष्ट करने का प्रयास किया था। पुस्तक की भाषा सरल और सुबोध थी। प्रारम्भिक वर्गों के छात्रों के लिए यह एक उपयोगी व्याकरण था।

बी० एल० जैन चैतन्य (बुलन्दशहरी) :

बी० एल० जैन चैतन्य (बुलन्द शहरी) का 'संस्कृत-हिन्दी-व्याकरण-शब्द-रत्नाकर' सन् १९२५ ई० में देशबन्धु प्रेस, बाराबङ्की से प्रकाशित

---

in which they ought to be well grounded. They are therefore of little or no use to Indian students whose mothertongue is Hindi."—Ibid.

१. "Among the numerous current languages of India, Hindi stands first in order of antiquity and in point of importance and popularity as is evident from the fact that it forms the spoken language of more than a fourth of the total population of India."—Ibid, p. 1.

हुआ था। यह ११० पृष्ठों का एक सामान्य हिन्दी व्याकरण था, जिसमें व्याकरण की बातों के अतिरिक्त पद्य-रचना (छन्द आदि) और काव्य-रचना (रस, गुण, दोष, अलङ्कार तथा सङ्गीत) के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला गया था।

शिवत्र शास्त्री :

शिवत्र शास्त्री ने तेलुगू भाषा में एक हिन्दी व्याकरण की रचना की थी, जो सन् १९२५ ई० में 'हिन्दी तेलुगू व्याकरण' के नाम से प्रकाशित हुआ था। वह १८७ पृष्ठों का एक सुन्दर व्याकरण था, जो तेलुगू भाषी हिन्दी छात्रों के बीच पर्याप्त लोकप्रिय हुआ था।

देवीप्रसाद वर्मा :

देवीप्रसाद वर्मा की 'हिन्दी कौमुदी' सन् १९२७ ई० में प्रकाशित हुई थी। वह गुरु जी के 'हिन्दी व्याकरण' के आधार पर लिखी गयी एक सामान्य छात्रोपयोगी पुस्तक थी।

शिवनारायण झा :

शिवनारायण झा का 'व्यावहारिक भाषा-परिचय' सन् १९२७ ई० में दरभङ्गा से प्रकाशित हुआ था, जिसमें लेखक ने गुरु जी के व्याकरण को आधार बनाकर हिन्दी व्याकरण के सभी प्रमुख अङ्गों का संक्षिप्त विवेचन किया था।

बलदेव प्रसाद और भगवान दीन :

उपर्युक्त लेखकद्वय का 'सरल हिन्दी व्याकरण' सन् १९२८ ई० में पञ्जाब प्रिण्टिङ्ग वर्क्स, लाहौर से प्रकाशित हुआ था। वह एक सरल और सुबोध छात्रोपयोगी व्याकरण था, जिसकी रचना गुरु जी के व्याकरण के आधार पर की गयी थी।

सुरेश्वर पाठक विद्यालङ्कार :

सुरेश्वर पाठक विद्यालङ्कार का 'व्याकरण मयङ्क' सन् १९२९ ई० में सरस्वती भण्डार, पटना से प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ के प्रारम्भ में साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने 'दो शब्द' में व्याकरण की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "कुछ लोग समझते हैं कि व्याकरण बनने के बाद भाषा का निर्माण होता है। पर यह बात ठीक नहीं है। बोलचाल की भाषा के लिए व्याकरण की आवश्यकता नहीं होती, वह पहले भी नहीं थी, आज भी नहीं है। व्याकरण की आवश्यकता है साहित्य की भाषा के लिए।

बोलचाल की भाषा को व्याकरण की सहायता से एक व्यापक रूप मिल जाता है, उसका दूर तक प्रसार हो जाता है और बहुत काल के लिए स्थायिनी हो जाती है। एक ही हिन्दी कई प्रान्तों में बोली जाती है और एक प्रान्त वाले के लिए दूसरे प्रान्त की दुर्बोध्य होती है। पर साहित्य की हिन्दी सभी समझते हैं। बोलचाल की भाषा को नियमों में कसकर साहित्यिक भाषा बनाने के लिए ही व्याकरण की आवश्यकता है। अतएव, व्याकरण की उत्पत्ति का समय भाषा का मध्यकाल है। बोलचाल की भाषा जब प्रौढ़ होने लगती है, जब उसे साहित्यिक रूप मिलने लगता है, तभी व्याकरण की आवश्यकता होती है।"

भाषा और व्याकरण के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लेखक ने सर्वप्रथम भाषा के कथित और लिखित दोनों रूपों की चर्चा की थी, फिर व्याकरण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "व्याकरण उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमें शब्दों के शुद्ध रूपों और प्रयोगों के नियमों का निरूपण हो। व्याकरण शब्द का अर्थ ही भली भाँति समझना है। व्याकरण भाषा के अधीन है, क्योंकि व्याकरण में नये नियमों को गढ़ कर भाषा को बदल देने की क्षमता नहीं है। साथ ही व्याकरण के द्वारा भाषा नियमबद्ध भी नहीं की जा सकती है। सारांश यह है कि बोली जानेवाली भाषा की गति के अनुसार उसी के आधार पर भाषा की रचना होती है; क्योंकि व्याकरण की रचना के बहुत पहले से ही भाषा बोली जाती है। भाषा एक रूप में रह नहीं सकती, समयानुसार उसमें परिवर्त्तन होते रहते हैं। ऐसी अवस्था में भाषा के पीछे-पीछे ही व्याकरण का चलना आवश्यक है, व्याकरण के जटिल नियमों से भाषा को सीमित करने से फल यह होता है कि भाषा का प्रवाह रुक जाता है और वह भाषा मृतभाषा कहलाने लगती है। अतएव भाषा में परिवर्त्तन होते रहने से उसी के अनुसार उसके व्याकरण में भी आवश्यक परिवर्त्तन होते रहना चाहिए। व्याकरण का काम भाषा के नियमों का पता लगाकर एक सिद्धान्त स्थिर करना है। उसमें भाषा की रचना, शब्दों की व्युत्पत्ति और स्पष्ट रूप से विचार प्रगट करने के लिए शुद्ध प्रयोग बताया जाता है और उसे जानकर हम प्रचलित भाषा के नियम जान लेते हैं, जिससे शुद्ध-शुद्ध बोलने और लिखने में बड़ी सहायता मिलती है।"[१]

---

१. सुरेश्वर पाठक विद्यालङ्कार, व्या० म०, पृ० ४-५।

हिन्दी व्याकरण के आधार के विषय में लेखक ने अपना मत देते हुए लिखा था कि "संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण तो इसके व्याकरण के आधार हैं ही, साथ ही फारसी और अँगरेजी व्याकरण की छाप भी पड़ती जा रही है। हिन्दी में सन्धि-प्रकरण, समास-प्रकरण, उपसर्ग आदि प्रायः संस्कृत से ले लिये गये हैं। हाँ, उपसर्ग के विषय में यह कहा जा सकता है कि कुछ उर्दू के और कुछ खास हिन्दी के उपसर्ग भी प्रयुक्त होते हैं। सन्धि तो संस्कृत की अपनी चीज है। इधर कुछ लेखक हिन्दी शब्दों में भी सन्धि करने की चेष्टा करने लगे हैं। लाला भगवान दीन ने जगत + ईश को जगदीश बताया है। कुछ अन्य विदेशी शब्दों के साथ संस्कृत शब्दों को युक्त कर सन्धि करने का प्रयत्न देखा जा रहा है। जैसे—जिला + अधीश = जिलाधीश आदि। कारक भी संस्कृत व्याकरण से लिये गये हैं, पर इसमें भी फेर-बदल कर दिये गये हैं। संस्कृत में सम्बोधन-कारक नहीं होता है। कारकों की विभक्तियाँ संस्कृत तथा प्राकृत भाषा से ली गयी हैं। संस्कृत में तीन लिंग और तीन वचन माने गये हैं जिसका आधार प्राकृत भाषा है, उसी प्रकार फारसी के मुहावरे, अँगरेजी के चिह्न-विचार और व्याकरण लिखने की शैली आदि ली गयी है।"[1]
हिन्दी में व्याकरण-रचना के प्रारम्भ का उल्लेख करते हुए लेखक ने यह बताया था कि "जब हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल से, गद्य लिखने की प्रणाली चल निकली है तब उसके पहले हिन्दी में व्याकरण कहाँ से आया। पद्य के लिए तो बहुत से छन्द शास्त्र, अलंकार शास्त्र, रस, पिंगल के ग्रन्थ मौजूद थे; परन्तु व्याकरण का बिलकुल अभाव था। हाँ, जब गद्यभाग की उन्नति होने लगी, तो व्याकरण लिखने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। जहाँ तक हमें मालूम है अँगरेज विद्वानों ने ही हिन्दी में व्याकरण लिखने के लिए हमें प्रोत्साहित किया है। यही क्यों, पहले-पहल अँगरेजी भाषा में ही हिन्दी के व्याकरण अँगरेजी भाषा-वेत्ताओं द्वारा लिखे गये हैं। जिस समय हिन्दी में एक भी व्याकरण नहीं था, और जो एकाध छोटी-मोटी पुस्तिका थी भी, वह भी उपयोगी नहीं थी, उसी समय अँगरेजी में हिन्दी के बड़े ही उपयोगी और अच्छे-अच्छे व्याकरण निकल चुके थे। हमारी भाषा विकास द्वारा अभी इस तीव्र गति से प्रवाहित हो रही है कि कोई सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण अभी बन ही नहीं सकता। जो व्याकरण आज बनेगा, कल उसमें

१. सुरेश्वर पाठक विद्यालंकार, [illegible], पृ० ५-६।

बताये नियम पुराने और अप्रचलित हो जायँगे। यहाँ तो नये विचारों की क्रान्ति के कारण दिन-दिन नये शब्दों, नये-नये ढंग की रचना-शैलियों तथा नये-नये मुहावरों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। अतएव इसी तीव्र गति के साथ हमें इसके व्याकरण को भी प्रवाहित करना पड़ेगा। भाषा के द्रुतगामी वेग को रोकने के लिए नहीं, बल्कि उसे और भी तेजी के साथ आगे बढ़ाने के लिए हमें व्याकरण का सहारा देना पड़ेगा। सारांश यह है कि ज्यों-ज्यों हमारे गद्य साहित्य का विकास होता जायगा त्यों-त्यों व्याकरण का भी रूप बदलता जायगा और नये-नये ढंग के व्याकरण लिखने की जरूरत पड़ती जायगी।"[1]

लेखक ने 'व्याकरण मयङ्क' को वर्ण, शब्द, वाक्य, चिह्न और छन्द के पाँच प्रकरणों में विभक्त किया था। वर्ण-विचार के अन्तर्गत हिन्दी की प्रत्येक ध्वनि के स्वरूप और उच्चारण स्थान पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला था। अनुस्वार और अनुनासिक स्वर के अन्तर को बड़ी स्पष्टता से समझाया था। शब्द के विभिन्न स्थानों में आने वाले 'अ' स्वर के उच्चारण के स्वरूप तथा स्वराघात के कारण उस पर तथा अन्य स्वरों पर पड़ने वाले प्रभाव का भी विस्तार से विवेचन किया था।

शब्द को विकारी और अविकारी दो वर्गों में बाँट कर विकारी के चार और अविकारी (अव्यय) के पाँच भेद किये गये थे। संज्ञा के पदार्थवाचक और भाववाचक दो भेद किये गये थे, जिनमें पदार्थवाचक के व्यक्ति, जाति, समूह और द्रव्यवाचक चार भेद माने गये थे। सर्वनाम के विवेचन के प्रसङ्ग में हम, तुम और वे के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया था कि यद्यपि इन्हें बहुवचन सूचक माना जाता है, किन्तु व्यवहार में ये आदरसूचक एकवचन के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। निजवाचक 'आप' और पुरुषवाचक 'आप' की प्रयोगगत और स्वरूपगत भिन्नता को बड़ी बुद्धिमानी से स्पष्ट किया गया था। इस तरह, ग्रन्थ में लेखक ने यत्र-तत्र अपने स्वतन्त्र चिन्तन का अच्छा परिचय दिया था। इस कारण यह ग्रन्थ अन्य सामान्य छात्रोपयोगी ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया था।

साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने लेखक की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि 'इसके लेखक हिन्दी संसार के अपरिचित होने पर भी हिन्दी

१. सुरेश्वर पाठक विद्यालङ्कार, व्या० म० पृ० ७–९।

के विशेषज्ञ मालूम होते हैं। विद्वान् लेखक ने बड़ी सावधानी से विषयों का प्रतिपादन किया है, सरलतापूर्वक उन्होंने नियम समझाये हैं।"[१]

गङ्गा प्रसाद उपाध्याय :

गङ्गा प्रसाद उपाध्याय का 'नवीन हिन्दी व्याकरण' सन् १९३० ई० में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। उसकी रचना में उपाध्याय जी ने यद्यपि गुरु जी के व्याकरण को ही अपना मुख्य आधार बनाया था; किन्तु, यत्र-तत्र उन्होंने अपने स्वतन्त्र चिन्तन की मौलिकता भी प्रदर्शित की थी। उक्त व्याकरण प्रवेशिका कक्षा के छात्रों के लिए विशेष उपयोगी प्रमाणित हुआ था।

पं० जङ्गबहादुर मिश्र 'रञ्जन' :

बलिया के पं० जङ्गबहादुर मिश्र 'रञ्जन' का 'वाक्य-विश्लेषण' नामक पुस्तक सन् १९३० ई० के आसपास प्रकाशित हुई थी। इसका दूसरा संस्करण सन् १९३३ ई० में, हितैषिणी पुस्तकमाला, जापलिगञ्ज, बलिया से प्रकाशित हुआ था। पुस्तक के 'दो शब्द' में लेखक ने बताया था कि "वाक्य-विश्लेषण को समझाने के लिये समुच्चयबोधक अव्ययों को समझाना आवश्यक होता है। इन अव्ययों की सहायता से ही वाक्य परस्पर जुड़ते हैं; अतः अध्यापकगण इस ओर ध्यान दें, तो इससे सम्बन्ध रखने वाली कितनी ही कठिनाइयाँ दूर हो जायँ।" इसी प्रकार, ग्रन्थ के प्रारम्भ में वाक्य-विश्लेषण को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि "यह विषय कोई नया नहीं है। संस्कृत न्यायशास्त्र में इसका सूक्ष्म विवेचन है; किन्तु न्याय में तर्क ही मुख्य है। इसलिये इस विषय पर सम्यक् विचार नहीं हो सका है। हाँ, हिन्दी में यह जिस ढङ्ग से उपस्थित किया गया है, वह नया है और प्रायः अँगरेजी में आये हुए वाक्य-विश्लेषण के आधार पर है। अंगरेजी में भी जिस रूप से मिलता है, उसपर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वह न्याय और व्याकरण दोनों से बना हुआ एक नया रूप है। यदि हम वाक्यों के रूप पर विचार करते हैं, तो उसमें व्याकरण की मुख्यता दीख पड़ती है और यदि अर्थ की ओर देखते हैं तो वह सीधे न्याय पर खड़ा दिखाई देता है। यदि वाक्य व्याकरण का मुख्य विषय है,

---

१. सुरेश्वर पाठक विद्यालङ्कार, व्या० म०, 'दो शब्द'।

तो उसका अर्थ न्यायशास्त्र के अनुमान, तर्क आदि पर निर्भर करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्याकरण और न्याय का समन्वय ही वाक्य-विश्लेषण है, जिसके द्वारा पदों और वाक्यों का सम्बन्ध जाना जाता है और उनके अर्थ में सहायता मिलती है। व्याकरण और न्याय के क्षेत्र से निकल कर अपना नया क्षेत्र बना डालने के कारण इसमें उन दोनों विषयों से भी मनोरंजकता आ गयी है।"

एस० जी मुहिउद्दीन क़ादरी :

एस० जी० मुहिउद्दीन क़ादरी का 'हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स' सन् १९३० ई० में प्रकाशित हुआ था। यह उनका शोधप्रबन्ध था, जिस पर लन्दन से उन्हें पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त हुई थी। इसमें उन्होंने हैदराबाद और डेक्कन के क्षेत्र में बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी ध्वनियों का ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया था। ध्वनियों के अध्ययन में पैलेटोग्राम और स्पेक्ट्रोग्राम की भी सहायता ली गयी थी। सामान्य होने पर भी यह ग्रन्थ ध्वनियों के अध्ययन के क्षेत्र में एक हिन्दुस्तानी विद्वान के द्वारा किया जाने वाला अपने ढङ्ग का पहला प्रयास था। इसकी भूमिका में डॉ० ज्यूल ब्लॉस ने लेखक की भरपूर प्रशंसा की थी।[1]

पं० गिरिजा प्रसाद शर्मा :

पं० गिरिजा प्रसाद शर्मा का 'व्याकरणभूषण', भार्गव बुकडिपो, चौक, बनारस सिटी से सन् १९६१ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह तीसरे और चौथे वर्ग के छात्रों के लिए लिखा गया एक सामान्य व्याकरण था।

---

१. "It is only fitting that the sons of a land where the first known methodical observations on pronunciation have been made, and which can be said to be the founder of phonetics, should take again a brilliant part in the same studies, which have recently been developed in the west, by the use of instrumental methods. But it is in phonetics that his contribution is the most original. There, I wish him not only readers, but also rivals."

ब्रजनन्दन मिश्र :

ब्रजनन्दन मिश्र का 'सुलभ हिन्दी व्याकरण' सन् १६३१ ई० में हिन्दी हितैषी पुस्तकालय, सारन से प्रकाशित हुआ था। यह प्रारम्भिक कक्षा के छात्रों के उपयोग के लिए लिखा गया एक सामान्य स्तर का ग्रन्थ था।

सत्य प्रकाश :

प्रयाग विश्वविद्यालय के सत्यप्रकाश एम० एस० सी०, एफ० आई० सी० एस० का 'हिन्दी व्याकरण' सन् १६३३ ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। यह संयुक्त प्रान्तीय शिक्षा-विभाग के द्वारा वर्नाकुलर स्कूलों के पाँचवें, छठे और सातवें वर्ग के लिए स्वीकृत ग्रन्थ था। इसकी रचना गुरु जी के व्याकरण के आधार पर हुई थी।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और डॉ० बाबूराम सक्सेना :

भारत के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ० वर्मा एवं डॉ० सक्सेना द्वारा सम्मिलित रूप से लिखा गया 'नवीन हिन्दी व्याकरण' हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद से सन् १६३३ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसकी रचना यद्यपि पर्याप्त मनोयोग पूर्वक नहीं की गयी थी, फिर भी वह अधिकांश प्रचलित छात्रोपयोगी व्याकरणों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ एवं उपयोगी था। उसकी भाषा स्वच्छ तथा शैली शास्त्रानुरूप एवं सुबोध थी। विषय के विवेचन में स्वतन्त्र चिन्तन एवं भाषावैज्ञानिक ज्ञान का समुचित उपयोग किया गया था। किन्तु, तथ्यों का विवेचन अपेक्षित विस्तार के साथ नहीं होने के कारण उक्त व्याकरण का जैसा प्रचार एवं जसी ख्याति होनी चाहिए थी, नहीं हुई। सन् १६३३ ई० में ही डॉ० वर्मा का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा का इतिहास' हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। वह उस समय तक के आधुनिक भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित खोज-कार्य के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर हिन्दी में लिखा हुआ हिन्दी भाषा का प्रथम वैज्ञानिक इतिहास तो था ही, साथ ही उसमें हिन्दी के रचनात्मक उपसर्ग-प्रत्यय, संज्ञा, संख्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, क्रिया तथा अव्यय का जैसा व्यवस्थित एवं संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय दिया गया था, वह अभूतपूर्व था। आगे चल कर, सन् १६३७ ई० में डॉ० वर्मा का 'ब्रजभाषा व्याकरण', सन् १६५७ ई० में 'ब्रजभाषा' (शोध प्रबन्ध का हिन्दी अनुवाद) तथा सन् १६५६ ई० के आसपास 'ग्रामीण हिन्दी' नामक ग्रन्थ

प्रकाशित हुए। ये सभी ग्रन्थ किसी-न-किसी रूप में हिन्दी व्याकरण के सहायक थे।

साहित्याचार्य धरणीधर शास्त्री :

हस्बैण्ड मेमोरियल हाई स्कूल, अजमेर के हेड पण्डित साहित्याचार्य धरणीधर शास्त्री का 'हिन्दी व्याकरण' सन् १९३० ई० में और दूसरा 'पद्य व्याकरण सार' नामक हिन्दी व्याकरण, जो पद्य में लिखा गया था, सन् १९४२ ई० में राजस्थान-साहित्य-समिति, अजमेर के द्वारा प्रकाशित किया गया था। 'पद्य व्याकरण-सार' कुल २९ पृष्ठों की एक छोटीं सी पुस्तिका थी। उसमें व्याकरण की परिभाषा इस प्रकार दी गयी थी—

शुद्ध बोलने, समझने का हो जिससे ज्ञान।
शब्द शास्त्र वा व्याकरण, उसको कहें सुजान।।

पुस्तक के अन्त में उपसंहार इस प्रकार था—

दुर्ज्ञेय इस व्याकरण का यह सार निचोड़।
रक्खा सबके सामने पद्य रूप में जोड़।।
छन्द और लोकोक्तियाँ रच दीं मैंने पूर्व।
पद्य व्याकरण सार यों सब मिल हुआ अपूर्व।।

पुस्तक की भाषा शुद्ध और शैली सरल तथा रोचक थी। व्याकरण की अति सामान्य बातों की चर्चा के साथ उसमें अलङ्कारों का भी सामान्य परिचय दिया गया था।

भुवनेश्वर मिश्र :

भुवनेश्वर मिश्र का 'हिन्दी व्याकरण बोध' सन् १९३४ ई० में हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। वह सामान्य स्तर का एक अच्छा छात्रोपयोगी व्याकरण था।

पं० गणेश प्रसाद द्विवेदी :

पं० गणेश प्रसाद द्विवेदी का 'आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना' सन् १९३४–३५ ई० के आस पास प्रकाशित हुआ था। इसका तृतीय संस्करण सन् १९४२ ई० में साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ का परिचय देते हुए लेखक ने यह स्पष्ट किया था कि "यह पुस्तक खासकर हाई स्कूल कक्षाओं की भाषा, व्याकरण और रचना संबंधी आवश्यकताओं को

दृष्टि-पथ पर रख कर लिखी गई है। यों एक स्वतंत्र विषय के रूप में व्याकरण पढ़ाने वा व्याकरण संबंधी नियम रटाने की प्रथा का अब क्रमशः लोप होता जा रहा है। आधुनिक शिक्षा विशेषज्ञों की राय में व्याकरण का ज्ञान अधिकाधिक साहित्यिक पुस्तकों तथा अन्य बाह्य पुस्तकों के अध्ययन के द्वारा कराना ही वांछनीय है। ठीक है, पर व्याकरण, छंद, रचना आदि के मोटे नियम जानने के लिए एक सहायक ग्रंथ की आवश्यकता सदैव रहेगी। पर उस ग्रंथ की रचना, अभिनव रुचि और नवीन रीति के अनुसार होनी चाहिये। इस दिशा में प्रथम प्रयास लेखक का है।"[१]

"परीक्षाओं में व्याकरण सम्बन्धी प्रश्नों के रूप में पार्सिङ्ग, एनालिसिस, समास, अलङ्कार आदि बहुत पूछे जाते हैं और यही वह विषय है जिनसे लड़के बहुत घबराते हैं, पर इन्हीं प्रश्नों का उत्तर सन्तोषजनक रीति से देने पर सफलता सुनिश्चित हो जाती है। अतएव, इन विषयों को सुगमतम रीति से बोधगम्य करा देने की चेष्टा इस पुस्तक में की गयी है। विषय का उपपादन अभिनव 'इण्डक्टिव' अर्थात् विश्लेषणात्मक रीति से किया गया है। व्याकरण की सारी बातें उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर दी गई हैं। ट्रीटमेण्ट ऐसा रक्खा गया है कि उदाहरणों के पढ़ने पर नियम लड़के स्वयं बना लें। उदाहरणों का प्राचुर्य और उनकी रोचकता तथा उपादेयता इस पुस्तक की विशेषता है।"[२]

"इस पुस्तक की दूसरी विशेषता है इसका रचना-खंड। लड़के निबंध-लेखन में बड़ी कठिनता अनुभव करते हैं। किस प्रकार सोचना और विचार उत्पन्न करना और फिर उनको क़रीने से सजा कर लिखना, बस यही उनकी ख़ास दिक्कत होती है। इस विषय को नितांत रोचक और सुगम बनाने का प्रयास इस पुस्तक में किया है। ऐसी विधि बता दी गई है कि किसी भी विषय पर लड़के उचित रीति से पाँच-छह पृष्ठ तक के निबंध लिख सकें।"[३]

"यों तो मुख्यतः यह हाई स्कूल के छात्रों के लिये है। पर वस्तुतः हाई स्कूल स्टैंडर्ड के समकक्ष जितनी भाषा और साहित्य संबंधी परीक्षाएँ हैं, उन सभी के लिये यह पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी ऐसा विश्वास है। इसके सिवा भाषा और साहित्य के शिक्षकों के लिये भी यह उपयोगी होगी। एक

१. पं० गणेश प्रसाद द्विवेदी, आ० हि० व्या०, 'दो शब्द'।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्।

चात और यह निश्चय है कि लड़के यदि इस पुस्तक को एक बार देख जायँगे तो उन्हें अंग्रेजी के परचे हल करने में भी बड़ी सहायता मिल जायगी। अलग से अंग्रेजी की 'पार्सिंग एनालिसिस' आदि की पुस्तकें न पढ़नी पड़ेंगी। अंत में सबसे अधिक ध्यान इस बात का रक्खा गया है कि पुस्तक रोचक हो। रूखा और नीरस विषय समझ कर ही लोग व्याकरण की उपेक्षा करने लगे हैं, पर इसके बिना शुद्ध लिखना भी तो नहीं आता। अब इस शुष्क विषय को कहाँ तक रोचक बनाया जा सकता है इसका निर्णय विद्यार्थी तथा विशेषज्ञ इस पुस्तक के विषयों पर एक दृष्टि डालकर स्वयं करें।"[१]

पुस्तक में पाँच खण्ड थे। प्रथम में वर्ण-परिचय; द्वितीय में शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि का परिचय; तृतीय में वाक्य, उनके भेद और वाक्य-विश्लेषण; चतुर्थ में छन्द और पञ्चम में रचना का विवेचन था। पुस्तक की रचना सरल भाषा तथा बच्चों को समझाने वाली शैली में हुई थी। इस कारण छात्रोपयोगिता की दृष्टि से यह सामान्यतः एक अच्छी पुस्तक थी।

रमानाथ उपाध्याय और पं० विष्णुदत्त उपाध्याय :

पं० रमानाथ उपाध्याय और पं० विष्णुदत्त उपाध्याय द्वारा लिखित 'हिन्दी व्याकरण तत्वप्रकाश' प्रयाग के इण्डियन प्रेस से सन् १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक की 'प्रस्तावना' में लेखकद्वय ने लिखा था कि "अँग्रेजी व्याकरण के नियमों से लाभ उठाते हुए हमने इसमें हिन्दीपन की छाप जमाने का पूरा प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ के लिखने में हमलोगों ने आज कल के प्रचलित व्याकरण-लेखकों के ग्रन्थों से सहायता ली है। इसके लिए उन्हें धन्यवाद है। हम श्रीयुत पण्डित कामता प्रसाद गुरु जी के विशेष रूप से आभारी हैं जिनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ से हमने अनेक पारिभाषिक शब्द तथा उदाहरण ग्रहण किये हैं।" यह एक सामान्य कोटि का छात्रोपयोगी ग्रन्थ था, जिसमें कहीं कोई मौलिकता नहीं थी।

रघुनाथ दिनकर काणे :

रघुनाथ दिनकर काणे की 'व्याकरण प्रवेशिका' जो पाँचवें वर्ग के छात्रों के लिए लिखी गयी थी, १९३८ ई० में के० आर० काणे ऐण्ड ब्रदर्स, जबलपुर

---

१. पं० गणेश प्रसाद द्विवेदी, आ० हि० व्या०, दो शब्द।

से प्रकाशित हुई थी। इसकी रचना पं० कामता प्रसाद गुरु के व्याकरण के आधार पर हुई थी।

पं० गोपाल शास्त्री :

पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी की 'हिन्दी दीपिका' का प्रथम प्रकाशन सन् १९३८ ई० या उसके कुछ पूर्व हुआ था। उसका दूसरा संस्करण वि० सं० १९९६ (१९३९ ई०) में शारदा भवन, काशी से प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ का परिचय देते हुए पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे ने लिखा था—"हिन्दी दीपिका हिन्दी भाषा का व्याकरण है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० श्री गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी इसके निर्माता हैं, जो हिन्दी भाषा की वर्तमान गति का भी पूरा परिचय रखते हैं। पुस्तकारम्भ में ही आपने बहुत सुलझे ढंग से विभक्ति, प्रत्ययादि विषयों की जो मीमांसा की है वह संक्षिप्त होने पर भी विशुद्ध और पूर्ण है। गया—गई, आया–आई आदि अशुद्ध प्रयोग जो आजकल हिन्दी में निरंकुश होकर प्रचलित हो रहे हैं उन पर भी व्याकरण के सुनिश्चित नियम का-अंकुश रखा है। ऐसे-ऐसे सभी विषयों में नियमों को सुनिश्चित करने का काम उत्तरदायित्व और योग्यता के साथ हुआ है। व्याकरण संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है इसलिए जहाँ तहाँ संस्कृत व्याकरण का भी हिन्दी रूपों के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए यह व्याकरण सुगम और साथ ही मनोरंजक भी होगा। केवल हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए भी इसमें यह सुविधा हो सकती है कि वे हिन्दी व्याकरण के नियमों के साथ संस्कृत के भी उन नियमों को जान सकेंगे, जिन्हें जानना हिन्दी को ही अधिक गहराई में जानना है। राष्ट्रभाषा होने के नाते हिन्दी का संस्कृत मूलक व्याकरण ही अधिक सुगम और उपयोगी होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। यह पहला ही हिन्दी व्याकरण है जो संस्कृत के विद्यार्थी पढ़ेंगे। इसके द्वारा संस्कृत के विद्यार्थी हिन्दी में प्रवेश करेंगे। संस्कृत हिन्दी का जो अविच्छिन्न सम्बन्ध है वह इससे दृढ़ और संवर्द्धित होगा, जिसका होना राष्ट्रशक्ति के सुदृढ़ और संवर्द्धित होने के लिए परम आवश्यक है।[1]

---

१. हिन्दी दीपिका, पं० गोपाल शास्त्री,—पं० लक्ष्मी नारायण गर्दे की सम्मति, पृ० १२।

'हिन्दी दीपिका' की रचना विशुद्ध रूप से संस्कृत व्याकरण के आधार पर हुई थी। फिर भी उसमें लेखक ने अपने स्वतन्त्र चिन्तन के द्वारा तथ्यों के मौलिक विवेचन का सुन्दर प्रयास किया था।

ललितचन्द्र रैना :

ललित चन्द्र रैना का "सन्धि-समास-विचार' १९३८ ई० में कोटा से प्रकाशित हुआ था। उसमें लेखक ने सन्धि एवं समास पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास किया था।

रघुनाथ :

रघुनाथ जी की 'व्याकरण-प्रवेशिका' भाग—१, १९३८ ई० में और 'भाषा-वाक्य-पृथक्करण' १९३९ ई० में जबलपुर से प्रकाशित हुआ था। उक्त दोनों ग्रन्थ छात्रों के उपयोग के लिए लिखे गये थे। दूसरे ग्रन्थ में अँगरेजी व्याकरण की पद्धति पर वाक्य-विश्लेषण का परिचय सुन्दर ढङ्ग से दिया गया था।

एच० सी० शोलबर्ग :

पादरी शोलबर्ग की 'कनसाइज ग्रामर ऑफ द हिन्दी लैंग्वेज' नामक पुस्तक १९४० ई० में इलाहाबाद के 'लॉ प्रेस' में मुद्रित और बम्बई के 'ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस' के द्वारा प्रकाशित की गयी थी। पुस्तक की 'प्रस्तावना' में आर० डब्लू० कमिङ्स ने पुस्तक की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि 'विदेशी भाषा के विद्यार्थियों के लिए (अँगरेजी में) हिन्दी के एक ऐसे व्याकरण की बहुत अधिक आवश्यकता है, जिसमें हिन्दी भाषा के आधारभूत नियमों को सरल, संक्षिप्त और व्यवस्थित ढङ्ग से सजाया गया हो। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को हिन्दी भाषा के शिक्षण, परीक्षण तथा निरीक्षण के अपने दीर्घ अनुभव के परिणामस्वरूप, उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।'[१]

पुस्तक के 'प्राक्कथन' में शोलबर्ग ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों में केलॉग और ग्रीव्स को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए अपनी पुस्तक पर उनकी कृतियों के प्रभाव को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था।[२] केलॉग के व्याकरण के सम्बन्ध में

---

१. H. C. Schoolberg, Concise Grammar, Fore word by R. W. Cummings.

२. "I am sure we owe a debt to these two authors who have given so much of their knowledge and experience

उन्होंने लिखा था कि उनका व्याकरण सर्वश्रेष्ठ होने पर भी महाकाय तथा जटिल होने के कारण सामान्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी नहीं है। इसके अतिरिक्त उसका अन्तिम संस्करण आज से ४७ वर्ष पहले हुआ था। तब से आज तक हिन्दी में बहुत अधिक वृद्धि हो चुकी है।[१]

शौलवर्ग ने केलाग और ग्रीव्स के द्वारा उपस्थित हिन्दी भाषा के आधार-भूत तथ्यों और नियमों को नये उदाहरणों से पुष्ट कर सरल-सुगम शैली में, अधिक व्यवस्थित ढङ्ग से, संक्षेप में सजाने का प्रयास किया था। इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता और ख्याति मिली थी।

ना० नागप्पा :

नागप्पा महोदय की 'व्यावहारिक हिन्दी' सन् १९४१ ई० में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा, मद्रास से प्रकाशित हुई थी। वह मुख्य रूप से दक्षिण भारत के हिन्दी छात्रों को ध्यान में रखकर लिखी गयी पुस्तक थी, जिसमें लेखक ने सरल भाषा एवं सुबोध शैली में हिन्दी व्याकरण के सभी अङ्गों का विवेचन किया था।

केदार नाथ शर्मा :

केदार नाथ शर्मा का 'राष्ट्रभाषा सरल हिन्दी व्याकरण' सन् १९४१ ई० में विद्या विलास प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुआ था। वह एक सामान्य स्तर का छात्रोपयोगी व्याकरण था।

आत्माराम :

आत्माराम जी का 'विभक्ति संवाद' लुधियाना से सन् १९४२ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसमें विभक्तियों का सामान्य परिचय देते हुए लेखक ने, 'उसे शब्द से सटाकर लिखा जाथ या हटाकर' इस समस्या पर विचार किया था।

---

to the students of the language."—Ibid, Preface by the author.

१. "Kellogg's Grammar of the Hindi Language was bulky and complicated, and, though it was, and still is, a standard work, the biginner often found it difficult to select those portions that were fuudamental to his study, Furthermore, the last edition of this Grammar was published 47 years ago, and there has been growth in the Hindi Language since then."—Ibid.

सत्यजीवन वर्मा :

सत्यजीवन वर्मा ने सन् १९४३ ई० में हिन्दी-भाषा के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग, विरामचिह्न पर, 'हिन्दी के विरामचिह्न' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जो शारदा प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। इसके पूर्व इस विषय का सामान्य विवेचन, कुछेक वैयाकरणों के द्वारा व्याकरण-ग्रन्थों के परिशिष्ट भाग में करने का प्रयास किया गया था, किन्तु किसी ने भी विस्तार-पूर्वक सम्यक् ढङ्ग से इस विषय पर विचार नहीं किया था। वर्माजी ने पहली बार इस विषय के विवेचन को स्वतन्त्र पुस्तक में स्थान पाने योग्य बनाया था। इसके पूर्व इस विषय पर उनके कुछ निबन्ध 'लेखक संघ, प्रयाग' के द्वारा प्रकाशित 'लेखक' नामक पत्र में छप चुके थे। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने हिन्दी के विराम-चिह्नों के प्रयोग के सम्बन्ध में आवश्यक और व्यावहारिक नियमों पर प्रकाश डाला था। यह कुल ६४ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक थी।

भाषा में विराम-चिह्नों की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "विराम-चिह्नों का प्रयोग भाषा की स्पष्टता के लिए परम आवश्यक है। लेखक की अपनी शैली तथा विचार-धारा की गति विना विराम-चिह्नों के प्रयोग के स्पष्ट नहीं होती।"[१] इस सम्बन्ध में मैक्स क्रॉम्बी के मत को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा था कि "विराम-चिह्न वे स्वस्वीकृत, सार्थक, प्रचलित चिह्न हैं, जिनकी सहायता से पाठकों को लेखक के ठीक आशय को समझने में सुगमता होती है। इस हेतु यह आवश्यक है कि "विराम-चिह्नों का आशय सर्वस्वीकृत और सर्वग्राह्य हो।"[२] पुनः पॉल एलर्डाइस के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा था कि "विराम-चिह्न वे चिह्न हैं, जिनके द्वारा लेखक की विचार-शृंखला के क्रम को स्पष्ट किया जाता है।"[३]

वर्माजी ने विराम-चिह्नों को तीन वर्गों में बाँटा था : प्रधान चिह्न, गौण चिह्न और संयुक्त चिह्न। प्रधान विराम-चिह्नों के अन्तर्गत उन्होंने अल्पविराम (,), अर्धविराम (;), कोलन (:) और पूर्णविराम (।)

---

१. सत्यजीवन वर्मा : 'हिन्दी के विराम-चिह्न', पृ० १।

२. उपरिवत्, पृ० १।

३. उपरिवत् ।

को स्थान दिया था। गौण विराम-चिह्नों में डैश (—), संयोजक या हाइफन (-), कोष्ठक या पेरेन्थिसिस ((), []), प्रश्नात्मक (?), विस्मय-सूचक (!) तथा एकहरा अवतरण (' ') को रक्खा था। इसी तरह संयुक्त विराम-चिह्नों के अन्तर्गत दोहरा अवतरण (" "), लोपनिर्देश या हायटस (- - -), प्वाइन्टर या कोलन डैश (:—), कोष्ठक के भीतर प्रश्नसूचक ((?)) तथा कोष्ठक के भीतर विस्मयसूचक ((!)) चिह्नों को स्थान दिया था। फिर, उन्होंने एक-एक कर सबके अर्थ एवं प्रयोग के नियमों पर प्रकाश डाला था।

विराम-चिह्नों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लेखकों की वैयक्तिक मान्यता की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "दो लेखकों की, विराम-चिह्न की प्रयोग-पद्धति में विभिन्नता हो सकती है, पर उनके उद्देश्य में नहीं। रचना की सफलता उसकी सुबोधता में है, अतः विराम-चिह्नों के प्रयोग में लेखक के व्यक्तित्व के कारण विभिन्नता होते हुए भी उनकी सफलता की मात्रा एक ही होगी।"[१]

पुस्तक के अन्त में उन्होंने कुछ फुटकल चिह्नों का उल्लेख किया था; जैसे, डीटो (,,) फुटनोट या टिप्पणी-सूचक चिह्न (सितारा, कटार आदि), छूट के लिए हंसपद (‸), सङ्केत या संक्षिप्तीकरण (०), तुल्यतासूचक (=), समाप्ति सूचक (-०-) और रेखा (—)। यह पुस्तक सामान्य किन्तु उपयोगी थी।

वी० पी० जोसफ :

जोसफ साहब का 'हिन्दी उस्ताद', जो मलयाली-भाषा-भाषियों के लिए लिखा गया संक्षिप्त हिन्दी-व्याकरण था, सन् १९४४ ई० में त्रिचूर से प्रकाशित हुआ था। यह एक अति सामान्य स्तर का छात्रोपयोगी व्याकरण था, जो अनेक भूलों से भरा था।

रामचन्द्र वर्मा :

रामचन्द्र वर्मा का 'मानक हिन्दी-व्याकरण' तो वि० सं० २०१८ (सन् १९६१ ई०) में चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित हुआ, किन्तु इसके पूर्व उनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ—'अच्छी हिन्दी' और 'हिन्दी-प्रयोग' क्रमशः वि० सं० २००१ (सन् १९४४ ई०) और वि०सं० २००३ (सन् १९४६ ई०) में

१. सत्यजीवन वर्मा : 'हिन्दी के विराम-चिह्न', पृ० ७।

साहित्य-रत्नमाला-कार्यालय, बनारस से प्रकाशित हो चुके थे। ये दोनों ग्रन्थ, व्याकरण की परम्परागत व्यवस्थित प्रणाली पर नहीं लिखे गये होने पर भी, हिन्दी-भाषा के स्वरूप, प्रकृति एवं प्रवृत्ति के विवेचन की दृष्टि से न केवल छात्रों के लिए, अपितु विद्वानों के लिए भी सुमार्गदर्शक प्रमाणित हुए थे। खासकर 'अच्छी हिन्दी' से तो अनेक अच्छे हिन्दी लेखकों ने भी अधिक अच्छी हिन्दी लिखने की शिक्षा पायी थी।

'अच्छी हिन्दी' की प्रस्तावना में बाबू विष्णुराव पराड़कर ने लिखा था कि 'अच्छी हिन्दी' न व्याकरण है, न रचना-पद्धति। वह साहित्य की शिक्षा नहीं देती, लेखन-कला भी नहीं सिखाती। कैसे लिखना चाहिए, यह भी वह नहीं बताती। वह केवल उन गड्ढों को दिखा देती हैं, जो नवीन लेखकों के मार्ग में प्राय: पड़ते हैं और जिनसे उन्हें बचना चाहिए। अर्थात्, वर्माजी ने वह भूलें दिखा दी हैं, जो नये और पुराने, पर असावधान लेखक प्राय: करते दिखाई देते हैं। इन भूलों का विश्लेषण करके आपने इन्हें भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँट दिया है। जैसे—'उत्तम रचना', 'अर्थ, भाव और ध्वनि', 'शब्द-प्रयोग', 'वाक्य-विन्यास', 'क्रियाएँ और मुहावरे', 'लिंग और वचन', 'छाया-कलुषित भाषा', 'समाचार-पत्रों की हिन्दी', 'अनुवाद की भूलें', 'फुटकर बातें' और 'हमारी आवश्यकताएँ।' इन शीर्षकों से ही विषय का ज्ञान होता है। 'भाषा की परिभाषा' विषय-प्रवेश है। इस ग्रन्थ की उपयोगिता को प्रायः सभी विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया था; साथ ही, सबने इसकी प्रशंसा भी मुक्त कण्ठ से की थी। इसके प्रथम प्रकाशन-वर्ष से आज-तक, लगभग २८ वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु इसकी लोकप्रियता आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है; यही इसके महत्त्व एवं उपयोगिता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

'हिन्दी-प्रयोग' की रचना मुख्यत: छात्रों के उपयोग के लिए की गयी थी। इसकी भूमिका में लेखक ने स्वयं स्वीकार किया था कि "यह पुस्तक ऐसे विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है, जिन्हें व्याकरण का साधारण ज्ञान हो चुका हो; अर्थात् आजकल के स्कूलों के नवें-दसवें दरजों के विद्यार्थियों या उनके समान योग्यता रखनेवाले अन्य विद्यार्थियों के हित के लिए यह पुस्तक लिखी गई है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि और लोग इससे लाभ नहीं उठा सकते। इसमें भाषा की शुद्धता से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी ऐसी बातें बतलाई गई हैं, जो अच्छे-अच्छे लेखकों के लिए भी बहुत अधिक

उपयोगी हो सकती हैं।" इसमें शब्दों के प्रकार शब्दों के रूप, शब्दों के अर्थ, शब्दों का चुनाव, शब्दों के स्थान, हिन्दी ढङ्ग, वाक्यों की बनावट, संज्ञाएँ, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाएँ, वचन, लिङ्ग, विभक्तियाँ तथा निबन्ध लिखने की कला पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया था। सरल तथा रोचक होने के कारण इस ग्रन्थ का भी खूब प्रचार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप कुछ ही वर्षों में इसके अनेक संस्करण छपे; किन्तु आकार और प्रकार दोनों ही में 'अच्छी हिन्दी' की अपेक्षा हीन होने के कारण विद्वानों के बीच इसकी उतनी ख्याति नहीं हुई।

'मानक हिन्दी-व्याकरण' भी 'हिन्दी-प्रयोग' की तरह ही एक सामान्य छात्रोपयोगी ग्रन्थ है। यद्यपि वर्माजी जैसे महान भाषामर्मज्ञ से यह अपेक्षा की जाती थी कि जब वे हिन्दी-भाषा का व्याकरण लिखेंगे, तब वह न केवल हिन्दी के यथार्थ स्वरूप, प्रकृति एवं प्रवृत्ति को पूर्णतः स्पष्ट करनेवाला, उसके सभी अङ्गों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों पर प्रकाश डालनेवाला एवं स्वतन्त्र चिन्तन की विशेषताओं से युक्त ग्रन्थ होगा, अपितु उसके द्वारा पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के सभी ज्ञात-अज्ञात दोषों का परिमार्जन भी हो सकेगा; किन्तु, सम्भवतः समयाभाव तथा वृद्धावस्था की अशक्तता के कारण, वर्माजी इस दिशा में अपेक्षित श्रम नहीं कर सके और उन्होंने एक सामान्य छात्रोपयोगी व्याकरण लिखकर ही सन्तोष धारण कर लिया।

ग्रन्थ के 'निवेदन' में उसके उद्देश्य तथा विशेषताओं की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "इस व्याकरण का उद्देश्य विद्यार्थियों को बहुत सहज में और नये मनोरंजक ढंग से व्याकरण की जटिल तथा शुष्क बातों से परिचित कराता है। इसमें अनेक शब्दभेदों की बिलकुल नई प्रकार की व्याख्या दी गई है और विषय-विभाजन भी बहुत कुछ नये ढंग से किया गया है। यही इस व्याकरण की ऐसी विशेषता है, जिससे इसके अधिक उपयोगी तथा उपादेय सिद्ध होने की आशा है।"

ग्रन्थ में कुल मिलाकर १२ प्रकरण हैं। पहले प्रकरण में व्याकरण के महत्त्व पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए उसे भाषा-सम्बन्धी नियमों का सङ्कलन कहा गया है। भाषा के मुख्य दो अवयव माने गये हैं—एक शब्द और दूसरे विराम-चिह्न। व्याकरण के तीन महत्त्व माने गये हैं—(१) "यही एक ऐसा श्रेष्ठ साधन है जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि वक्ता या लेखक का आशय क्या है। (२) व्याकरण के ज्ञान से ही शुद्धतापूर्वक लिखा तथा बोला जा

सकता है। (३) व्याकरण का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि यह भाषा का स्वरूप विगड़ने नहीं देता।"[१]

दूसरे प्रकरण में वर्णभेद का विवेचन है। इसमें पहले ध्वनियों के उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्नों की संक्षिप्त चर्चा है। फिर, स्वर और व्यञ्जन के स्वरूप एवं उनके भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे प्रकरण में लिपि पर विचार किया गया है। देवनागरी की चर्चा करते हुए वर्माजी ने लिखा है कि "हमारी देवनागरी लिपि संकेत-चिह्नों की दृष्टि से बहुत कुछ पूरी भी है और बहुत कुछ व्यवस्थित भी। हिन्दी-भाषा-भाषी जिन वर्णों का उच्चारण करते हैं या करते आ रहे है, उन सबके लिए इसमें संकेत-चिह्न हैं। इधर कुछ शताब्दियों से फारसी, अरबी तथा अँगरेजी भाषाओं से अधिक सम्पर्क होने के कारण हिन्दी-भाषा-भाषी कुछ नये वर्णों का भी उच्चारण करने लगे हैं, परन्तु हिन्दी वालों ने अभी तक इन नये वर्णों के लिए नये चिह्न नहीं बनाये हैं। नये वर्णों से मिलते-जुलते जो वर्ण हमारे यहाँ पहले से हैं, उन्हीं के संकेत-चिह्नों से इन नये वर्णों का भी अंकन होने लगा है। फल यह हुआ है कि कुछ संकेत एक से अधिक वर्णों का बोध कराने लगे हैं।"[२]

वर्माजी ने आदर्श लिपि के चार अनिवार्य गुण माने हैं—(१) उसमें उतने ही संकेत चिह्न होने चाहिए, जितने उसमें लिखी जानेवाली भाषा के वर्ण होते हैं। (२) संकेत-चिह्न सुन्दर और सरल हों, साथ ही एक से दूसरे का भ्रम न उत्पन्न हो। (३) लिखने में कम स्थान लगे और (४) सभी चिह्न विना बार-बार कलम उठाये एक ही प्रवाह में लिखे जा सकें।[३] उनके अनुसार देवनागरी में प्रथम दो गुण हैं, किन्तु अन्तिम दो नहीं और रोमन में अन्तिम तीन गुण हैं, केवल पहला गुण नहीं। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि वर्माजी के ये विचार सर्वमान्य नहीं हैं।

चौथे प्रकरण में शब्द-भेद के विवेचन में उन्होंने शब्द से पद का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "हम शब्दों का प्रयोग प्रायः वाक्यों में करते हैं।

---

१. रा० व० : 'मानक हिन्दी-व्याकरण', पृ० २।

२. उपरिवत्, पृ० १५।

३. उपरिवत्, पृ० १९।

वाक्य में प्रयुक्त होने पर शब्द की पद संज्ञा हो जाती है।"[१] उन्होंने शब्दों को विकारी तथा अविकारी दो व्यापक वर्गों में बाँटा है।

पाँचवें प्रकरण में संज्ञा का विवेचन है। संज्ञा के सात भेद माने गये हैं— जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, समूहवाचक, द्रव्यवाचक, भाववाचक, क्रियावाचक और गुणवाचक। इनमें से प्रथम चार को मूर्त्त संज्ञाएँ और अन्तिम तीन को अमूर्त्त संज्ञाएँ कहा गया है। संज्ञा का यह वर्गीकरण नया प्रतीत होने पर भी नया और तर्कसम्मत नहीं है। नया तो यह इसलिए नहीं है कि ये सारे नाम पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों में यत्र-तत्र आ चुके हैं। वर्माजी ने केवल सबको बटोर कर एक साथ ढेर लगा दिया है। फिर, तर्कसम्मत यह इसलिए नहीं है कि इसके कई भेद अन्य भेदों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं; जैसे, समूहवाचक और द्रव्यवाचक जातिवाचक के अन्तर्गत और गुणवाचक तथा क्रियावाचक भाववाचक के अन्तर्गत।

छठे प्रकरण में सर्वनाम की चर्चा है। सर्वनाम के वर्गीकरण में कोई मौलिकता नहीं प्रदर्शित की गयी है। इसके प्रायः वे ही ६ भेद माने गये हैं, जो गुरुजी आदि वैयाकरणों ने माने थे। इसी प्रकार, सातवें प्रकरण में विशेषण तथा आठवें प्रकरण में क्रिया तथा क्रियाविशेषण की सामान्य और संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

क्रियाविशेषण के सम्बन्ध में वर्माजी ने एक नयी और बहुत ही युक्तिसङ्गत बात यह लिखी है कि "हिन्दी में क्रियाविशेषण का कोई स्वतन्त्र वर्ग नहीं है। संज्ञाएँ, विशेषण और अव्यय जब क्रियाओं की विशेषता बतलाने लगते हैं तब वही क्रियाविशेषण कहलाने लगते हैं।"[२] इस प्रकार, अँगरेजी व्याकरण से गृहीत इस भ्रामक शब्दभेद की नकली स्वतन्त्रता का रहस्योद्घाटन कर वर्माजी ने हिन्दी के वैयाकरणों की एक बड़ी पुरानी भूल का परिमार्जन किया है।

नवें प्रकरण में अव्यय का विवेचन किया गया है। इसमें अव्यय को क्रियाविशेषण से भिन्न प्रमाणित करते हुए वर्माजी ने लिखा है कि "क्रियाविशेषण के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी क्रिया (अथवा विशेषण) की

---

१. रा० व० : 'मानक हिन्दी-व्याकरण', पृ० २१।

२. उपरिवत्, पृ० ५२।

विशेषता बतलाता हो अथवा उसके प्रकार, स्वरूप आदि को मर्यादित तथा स्पष्ट करता हो, परन्तु अव्यय क्रिया (या विशेषण) की विशेषता नहीं बतलाते। वे केवल विशिष्ट स्थितियों के द्योतक होते हैं। इसीलिए क्रियाविशेषण और अव्ययों को बहुत कुछ एक नहीं मानना चाहिए।"[1] अपनी इस स्थापना को उन्होंने उपयुक्त उदाहरणों से पुष्ट किया है। दोनों में एक और भिन्नता उन्होंने यह भी मानी है कि "अव्ययों के साथ विभक्तियाँ भी प्रयुक्त होती हैं परन्तु क्रियाविशेषणों के साथ नहीं होतीं।"[2] उन्होंने प्रयोग के विचार से अव्ययों के ६ भेद माने हैं—स्थिति-सूचक, परिमाण-सूचक, रीति-बोधक, अवधारक, विधि-सूचक, विस्मयादि-बोधक या भाव-बोधक, सम्बोधक, समुच्चय-बोधक और सम्बन्ध-सूचक। उन्होंने 'विस्मयादि-बोधक' के स्थान पर 'भावबोधक' कहना अधिक उपयुक्त माना है।

दसवें प्रकरण में शब्द-विकार का विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत यह समझाया गया है कि उपसर्ग और प्रत्यय के योग से किस प्रकार एक शब्द, रूप एवं अर्थ दोनों ही दृष्टियों से, दूसरा शब्द बन जाता है। इसी प्रकरण के अन्त में तद्धित और कृदन्त का भी परिचय दिया गया है।

ग्यारहवें प्रकरण में कारक और विभक्तियों पर प्रकाश डाला गया है। वर्माजी के अनुसार "कारक संज्ञा या सर्वनाम की उस स्थिति को कहते हैं, जिसके फलस्वरूप क्रिया का रूप-साधन होता है।"[3] उन्होंने सम्बन्ध और सम्बोधन को कारक नहीं माना है; क्योंकि ये क्रियाओं का रूप-साधन नहीं करते। इस प्रकरण में 'विभक्तियों के कुछ विचित्र प्रयोग' की चर्चा के प्रसङ्ग में उन्होंने एक कारक की विभक्ति को दूसरे कारकों में प्रयुक्त होने की विचित्रता का सोदाहरण विवेचन किया है। फिर, विभक्तियों के लगने पर कारकों के रूपों में होनेवाले विकार की चर्चा की है।

बारहवें और तेरहवें प्रकरण में क्रमशः लिङ्ग और वचन की सामान्य चर्चा की गयी है। इन प्रकरणों में कहीं कोई ऐसी बात नहीं कही गयी है जो नयी हो।

चौदहवें और पन्द्रहवें प्रकरण में क्रमशः क्रियापद और क्रियापदों की रचना का विवेचन किया गया है। इनमें पुरुष, लिङ्ग, वचन, वाच्य, काल

---

२. रा० व० : 'मानक हिन्दी-व्याकरण', पृ० ५४।

१. उपरिवत्, पृ० ५५।

३. उपरिवत्, पृ० ७९।

और अर्थ का क्रियापदों से सम्बन्ध बताते हुए उनके कारण क्रियापदों के रूप में होनेवाले परिवर्त्तनों की चर्चा की गयी है। वाच्य का विवेचन वर्माजी ने पं० किशोरीदास वाजपेयी के विवेचन के आधार पर किया गया है। काल के विवेचन में सरलता लाने के लिए उन्होंने प्रत्येक काल के सामान्य, पूर्ण और अपूर्ण तीन उपभेद किये हैं। किन्तु, यह वर्गीकरण हिन्दी-क्रियापदों के रूपों की विविधता और अर्थ की सूक्ष्मताओं की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। इसके कई प्रमाण उनके ही ग्रन्थ में उपस्थित हैं। उदाहरणार्थ; चौदहवें प्रकरण में 'राम गया है' को उन्होंने पूर्ण वर्त्तमान का उदाहरण माना है और पन्द्रहवें प्रकरण में 'वह आया है' को आसन्नभूत-कालिक क्रियापद कहा है, जबकि भूतकाल के उपभेदों मे आसन्नभूत को उन्होंने स्थान ही नहीं दिया है। इसी प्रकार, 'राम जाता होगा' को उन्होंने अपूर्ण भविष्य कहा है, जबकि इससे वर्त्तमान की सन्दिग्धता सूचित होती है, भविष्य की अपूर्णता नहीं।

सोलहवें प्रकरण से उन्नीसवें प्रकरण तक क्रमशः वाक्य-विचार, सन्धि और समास, पद-परिचय तथा विराम-चिह्न का विवेचन गुरुजी के व्याकरण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इन प्रकरणों में कहीं कोई मौलिकता या उल्लेखनीय विशेषता नहीं हैं।

अन्त में, संक्षिप्त निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्माजी का 'मानक हिन्दी-व्याकरण' किसी भी दृष्टि से हिन्दी-व्याकरण के मानक रूप को प्रस्तुत नहीं करता। अतः, उसमें प्रयुक्त 'मानक' शब्द हिन्दी व्याकरण का एक अर्थहीन विशेषण ही माना जाना चाहिए। इस ग्रन्थ का अधिकांश, गुरुजी और पं० किशोरीदास वाजपेयी के ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। जहाँ-कहीं इसमें मौलिकता-प्रदर्शन का थोड़ा बहुत प्रयास किया भी गया है, वहाँ सूक्ष्म चिन्तन के अभाव के कारण केवल असफलता ही लेखक के हाथ आयी है। एकमात्र क्रियाविशेषण और अव्यय के प्रसङ्ग में कुछ ऐसी बातें अवश्य कहीं गयी हैं, जिनको विचारणीय कहा जा सकता है, अन्यथा पूरे ग्रन्थ में वर्माजी के उस विवेचक रूप का दर्शन कहीं नहीं होता, जिसने 'अच्छी हिन्दी' जैसे अच्छे ग्रन्थ की रचना की थी।

ए० एच्० हार्ली :

हार्ली की 'कोलोकिअल हिन्दुस्तानी' नामक पुस्तक सन् १९४४ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुई थी। इसकी भूमिका जे० आर० फर्थ ने लिखी थी,

जो लन्दन के 'स्कूल ऑव ओरियण्टल ऐण्ड अफ्रिकन स्टडीज' में सामान्य भाषाविज्ञान के प्रोफेसर थे। उन्होंने भूमिका में बताया था कि "उत्तरी भारत की अन्यान्य भाषाओं की तरह हिन्दुस्तानी का विकास भी संस्कृत से सम्बद्ध प्राकृत से हुआ है। हिन्दू इसे देवनागरी लिपि में लिखते हैं और हिन्दी के नाम से पुकारते हैं तथा मुसलमान इसे अरबी-फारसी लिपि में लिखते हैं और उर्दू कहते हैं। इस प्रकार हिन्दी और उर्दू वास्तव में हिन्दुस्तानी के ही दो भिन्न नाम हैं। हिन्दुस्तान के लाखों लोगों के दैनिक व्यवहार की भाषा होने पर भी हिन्दुस्तानी की अपनी अलग से कोई स्वतन्त्र लिपि नहीं है; यही कारण है कि लोग इसे एक स्वतन्त्र भाषा स्वीकार करने में हिचकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक तथा इस जैसी कई अन्य पुस्तकों में हिन्दुस्तानी को रोमन लिपि के माध्यम से सिखाने का प्रयास किया गया है। चूँकि हिन्दुस्तान बहुत शीघ्र ही एशिया के महान देशों में अग्रणी होने जा रहा है, अतः हमारे लिए कल के हिन्दुस्तान के साथ अच्छा सम्बन्ध बनाये रखने के लिए इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि अभी जितने लोग हिन्दुस्तानी जानते हैं, उससे अधिक संख्या में लोग इसके जानकार बनें।"[1]

१. "Hindustani, like Bengali, Marathi, Gujrati, and most other Indian languages except those of south-eastern Part of the peninsula has its ancient origin in the Prakrits or 'Vernaculars' associated with Sanskrit. The widespread common language Hindustani is closely associated with two specialised literary languages, Hindi and Urdu. Still, Urdu and Hindi are of one languages with Htndustani and other Sanskritic language of India. The truth is that the basic common language of many millions of Indians of Hindustani speech has no written form common to all. That is why people hesitate to recognise Hindustani as a language. This little book, and certain others make a small beginning espcially in the matter of roman spelling. In what I hope will be a thorough going overhaul of our text books in Indian languages; for history now moves at five hundred miles an hour, and India, already a pro-gressive modern state of enormous potentialities, is dis-

फर्थ महोदय ने रोमन को हिन्दुस्तान की समस्त भाषाओं की सर्व-सामान्य लिपि बनाने के उद्देश्य से ध्वनिवैज्ञानिक लिपि-पद्धति के आधार पर, उसका एक विशिष्ट ढाँचा तैयार किया था। हार्ली ने अपनी पुस्तक में उसी का उपयोग किया था। इसकी सूचना देते हुए पुस्तक के प्राक्कथन में उन्होंने लिखा था कि "इस पुस्तक का उद्देश्य हिन्दुस्तानी सीखना प्रारम्भ करनेवालों को केवल उसके व्याकरण के नियमों से परिचित कराना या व्यवहारोपयोगी वाक्यों का ज्ञान देना नहीं, अपितु फर्थ के द्वारा समस्त भारतीय भाषाओं के लिए प्रस्तावित रोमन वर्णमाला में हिन्दुस्तानी शब्दों को लिखने और उनका उच्चारण सीखने में सहायता पहुँचाना भी है।"[१]

यह एक सामान्य कोटि की पुस्तक थी, जो इङ्गलैण्डवासियों को हिन्दुस्तानी की शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखी गयी थी।

वासुदेव पिल्लै :

वासुदेव पिल्लै का 'हिन्दी-व्याकरण' सन् १९४५ ई० में त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हुआ था। वह दक्षिण के हिन्दी-छात्रों के लिए लिखा गया एक अच्छा छात्रोपयोगी व्याकरण था।

ई० बी० ईस्टविक :

ईस्टविक का 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' सन् १९४७ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। इसमें 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग, उर्दू के अर्थ में किया गया था। हिन्दी और हिन्दुस्तानी के वास्तविक स्वरूप और इतिहास का

---

tined to step again into the front rank in Asia tomorrow. To get on well with the Hindustan of tomorrow, we shall need more speakers of Hindustani than we have ever had."

—J.R. Firth. (Colloquial Hindostani)—Introduction.

१. "Colloquial Hindustani is intended to supply the beginner in the lanuage not only with common rules of grammar and their exemplification, with a phonetic system of spelling as a part of an All India system of romance orthography, by Prof. J. R. Firth."

—Ibid. (Preface)

यथार्थ ज्ञान नहीं होने के कारण, ग्रन्थ के 'प्राक्कथन' में लेखक ने कई प्रकार की भ्रामक बातें लिख दी थीं। उदाहरणार्थ, कोलब्रुक का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा था कि 'हिन्दुस्तानी और हिन्दी दोनों का विकास व्रजभाषा से हुआ है।'[१] इतना ही नहीं, आगे चलकर, उसी प्राक्कथन में उन्होंने हिन्दी को व्रजभाषा से अभिन्न मानते हुए, बिहारीलाल को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया था।[२]

यह अँगरेजी-व्याकरण की नकल पर लिखा गया एक अत्यन्त सामान्य कोटि का ग्रन्थ था, जो आद्यन्त लेखक की अल्पज्ञता के प्रमाणों से भरा था।

नरदेव विद्यालङ्कार :

नरदेव' विद्यालङ्कार द्वारा लिखित 'राष्ट्रभाषा का सरल व्याकरण' भाग एक और दो, सन् १९४७ ई० के आसपास राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा से प्रकाशित हुआ था। इसका द्वितीय संस्करण सन् १९४९ ई० में छपा था। इस ग्रन्थ की वर्त्तनी काका कालेलकर-समिति के प्रस्तावों के अनुरूप रखी गयी थी। ग्रन्थ की भूमिका में अपने विचार रखते हुए लेखक ने यह स्पष्ट किया था कि "भाषा सीखने का अुपर्युक्त तरीका हर अेक के लिये सुलभ नहीं है। न हर अेक व्यक्ति दूसरी जगह जा सकता है, न हर जगह वह वातावरण तैयार मिलता है। अिसीलिए, पर-भाषा को—चाहे वह देशी हो, या परदेशी हो, या प्राचीन भाषा हो—सीखते हुअे व्याकरण की अत्यन्त आवश्यकता बनी रहती है। वैसे तो मातृभाषा के अच्छे अध्ययन में भी

---

१. "The ground work, both of Hindi and Hindustani, is, without doubt, as stated by Mr. Colebrook in the 7th volume of the Asiatic Researches, the Hindawi, the language of Canoj, the ancient metropolis of Northern India. It is still spoken in the district of Braj, in the neighbourhood of Mathura. Hence it is also called Braj Bhakha."

—E. B. Eastwick : 'Hindustani grammar', Preface.

२. "Many works have been written in Hindi, espcially poetry. Among the best specimens may be mentioned the seven hundred couplets of Behari lall."—Ibid

अुसके संस्कार के लिये व्याकरण जान लेना आवश्यक होता है। किन्तु राष्ट्र-भाषा को (जिनकी वह मातृभाषा नहीं है, अुनके लिये) सीखते हुअे व्याकरण बड़ा सहायक सिद्ध होता है—हुआ है। हाँ, अुसको जटिल नियमों में न बाँध-कर, प्रयोगों और अभ्यास-पाठों द्वारा सरल बना देना पड़ेगा। व्याकरण के व्यापक और सरल नियम परभाषा को सीखने में बड़ी मदद देते हैं। राष्ट्र-भाषा सिखानेवाले अनेक व्याकरण प्रान्तीय भाषाओं में तैयार हुअे हैं, जो मातृ-भाषाओं के द्वारा राष्ट्रभाषा सिखाने के अुद्देश्य से लिखे गये हैं। और हिन्दी में तो छोटी-बड़ी व्याकरण की कअी पुस्तकें हैं। परन्तु, समस्त अहिन्दी-प्रान्तों के लिये—हिन्दी-भाषा में राष्ट्रभाषा हिन्दी का कोई अच्छा व्याकरण तैयार नहीं हुआ है। हिन्दीभाषियों के लिये लिखे गये हिन्दी-व्याकरण हिन्दी न जानने वालों के लिए कम अुपयोगी होते हैं, अैसा अनुभव से देखा गया; विशेषकर प्रारम्भिक कक्षाओं में। अहिन्दी भाषियों के लिये भाषा-रचना या प्रत्ययों की जो जानकारी जरूरी होती है, वह हिन्दी व्याकरण में अुस रूप में नहीं दी गयी होती; क्योंकि अुसे तो हिन्दीवाले अपनी मातृभाषा के नाते बोलना शुरू करने के साथ ही सीख लेते हैं।"[१]

लेखक ने अपने ग्रन्थ में निम्नाङ्कित चार विशेषताओं का उल्लेख किया था : (१) जबतक एक नियम सिखा न दिया जावे तबतक उस नियम का वाक्यों में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। राष्ट्रभाषा पढ़ाने के दस वर्षों के अनुभव के बाद जो क्रम अधिक सरल और सहायक मालूम हुआ है, उसी के आधार पर इसकी रचना की गयी है। (२) भाषा सिखाने के मुख्य सिद्धान्त के अनुसार उदाहरणों और प्रयोगों के द्वारा नियम पर पहुँचा गया है। (३) जिन सरल नियमों को बताया गया है, उनके अभ्यास के लिए अभ्यास-पाठ भी विस्तार से दिये गये हैं। (४) पुस्तक के दोनों भागों के अन्त में दिये गये अत्यधिक उपयोगी परिशिष्ट।

विषय विवेचन की दृष्टि से यह एक अत्यन्त सामान्य ग्रन्थ था।

---

१. नरदेव विद्यालङ्कार : रा० भा० स० व्या० भूमिका।

नवचेतना-काल

(सन् १९४७ ई० के पश्चात्)

सामान्य परिचय :

हिन्दी व्याकरण के क्षेत्र में पं० किशोरी दास वाजपेयी नवीन चेतना का अग्रदूत बन कर आये। वे इस बात की घोषणा करने वाले प्रथम वैयाकरण थे कि 'हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है, वह संस्कृत से अनुप्राणित अवश्य है, जैसे अन्य भारतीय भाषाएँ; परन्तु वह अपने क्षेत्र में सार्वभौम सत्ता रखती है।'[1] 'यहाँ उसके अपने नियम-कानून लागू होते हैं। संस्कृत का सब कुछ आँखें बन्द करके हिन्दी न ले लेगी। उसमें संस्कृत या अन्य भाषाओं से आने वाले शब्द, उसकी अपनी प्रजा हैं। उन पर वह अपने नियमों से शासन करेगी।'[2] किसी अन्य भाषा के व्याकरण का हठात् शासन या अपने ऊपर उसके नियमों का आरोपित किया जाना उसे सह्य नहीं; चाहे वह संस्कृत या लैटिन का ही व्याकरण क्यों न हो। 'हिन्दी ही नहीं, सभी भाषाओं की अपनी प्रकृति होती है। उसे कोई व्याकरण क्या, महाव्याकरण भी बदल नहीं सकता।'[3]

भाषा और व्याकरण के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि जैसी भाषा है, उसका ज्यों का त्यों रूप व्याकरण में आना चाहिए। भाषा की चाल को व्याकरण बदल न देगा। यह उसकी शक्ति के बाहर की बात है। व्याकरण लक्ष्यप्रधान शास्त्र है। जैसा लक्ष्य (शब्द-प्रयोग) लोकप्रचलित है, उसका वैसा ही लक्षण बनाना पड़ेगा—उसका वैसा ही निरूपण करना होगा। यदि कोई वैयाकरण अपने पाण्डित्य के दर्प से व्याकरण कुछ का कुछ बना देगा, तो भाषा की प्रकृति उसकी अवज्ञा कर देगी—उसे मानेगी नहीं।[4] परन्तु हाँ, व्याकरण भाषा का नियमन तब अवश्य कर सकता है, जबकि उसके पास अनुकूल तर्क हो और वह तर्क भाषा की प्रकृति

---

१. कि० दा० वा०, हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ५६।

२. उपरिवत्, पृ० ३।

३. उपरिवत्, पृ० ५७।

४. उपरिवत्, पृ० ६८।

के विरुद्ध न हो। 'प्रमाणवत्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ?' उस प्रवाह को कौन रोक सकता है, जिसे प्रमाण का बल भी प्राप्त है।[1]

वाजपेयी जी के उक्त विचार नये न होकर भी नये थे; क्योंकि उनमें एक ईमानदार साधक के स्वानुभूत सत्य की ताजगी थी। वाजपेयी जी के पूर्व सैकड़ों वैयाकरण हिन्दी व्याकरण की रचना कर चुके थे, किन्तु उनमें से किसी ने भी उक्त मान्यताओं को अपने व्याकरण में पूर्णतः चरितार्थ करने की प्रवृत्ति नहीं दिखलायी थी। यहाँ तक कि गुरु जी जैसे मेधावी, गम्भीर एवं जागरूक वैयाकरण ने भी हिन्दी व्याकरण को अँगरेजी और संस्कृत व्याकरण के शासन से मुक्त करने का पूरा प्रयास नहीं किया था। उन्होंने न केवल रचना-प्रणाली में, अपितु परिभाषा-निर्माण तथा वर्ग-विभाजन से लेकर नियम-निर्धारण तथा तथ्य-निरूपण तक में उपर्युक्त भाषाओं के व्याकरणों की छाया-ग्रहण की थी। यही कारण था कि उनके व्याकरण में अनेक दोष रह गये थे, जिनकी ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने वालों में पं० किशोरी दास वाजपेयी प्रथम थे।

स्पष्ट है कि वाजपेयी जी के साथ हिन्दी व्याकरणेतिहास में नवीन चेतना से संवलित एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिसे हमने 'नव चेतना काल' की संज्ञा दी है। यों तो वाजपेयी जी सन् १९२४–२५ ई० से ही विविध लेखादि लिखकर हिन्दी भाषा एवं व्याकरण सम्बन्धी अपने विस्तृत ज्ञान तथा रुचि का परिचय देते जा रहे थे; किन्तु सन् १९४३ ई० में जब उनका 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका में उन्होंने गुरु जी तथा अन्यान्य वैयाकरणों की भूलों पर विस्तार से प्रकाश डाला था, तो पहली बार देश के विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। तदनन्तर, सन् १९४८ ई० में 'अच्छी हिन्दी का नमूना' और सन् १९४९ ई० में 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' तथा 'हिन्दी निरुक्त' के प्रकाशन ने सम्पूर्ण हिन्दी-जगत में उन्हें एक श्रेष्ठ वैयाकरण के रूप में विख्यात कर दिया, किन्तु अपने अक्खड़ स्वभाव, कटुसत्यवादी नीति तथा धक्कामार आलोचना-शैली के कारण वे उस समय भी हिन्दी विद्वानों की उपेक्षा-नीति का शिकार बने रहे। सन् १९५४ ई० में जब पं० राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि उनकी कृतियों पर पड़ी तथा उन्हें उनकी दयनीय आर्थिक स्थिति का पता चला, तो वे द्रवित हो उठे और

---

१. कि० दा० वा० हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ८३।

उन्होंने तुरत एक लेख लिख कर 'नया समाज' में प्रकाशित कराया। उसमें वाजपेयी जी की अद्‌भुत प्रतिभा एवं पाण्डित्य की प्रशंसा तथा हिन्दी विद्वानों की उपेक्षा-नीति की निन्दा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "क्या यह दुनिया एक क्षण के लिए भी बर्दाश्त करने के लायक है, जिसमें अनमोल प्रतिभाओं को काम करने का अवसर न मिले और ऐरेगैरे-नत्थूखैरे गुलछर्रे उड़ाते राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मंच पर अपना नाच दिखलाएँ ?"[१] इस लेख की विद्वानों के बीच अपेक्षित प्रतिक्रिया हुई; फलतः 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने उसी वर्ष वाजपेयी जी को एक बृहत् हिन्दी व्याकरण लिखने का भार सौंपा, जो लगभग चार वर्षों में लिख-छप कर सन् १९५८ ई० में 'हिन्दी शब्दानुशासन' के नाम से प्रकाशित हुआ। उसके प्रकाशित होते ही वाजपेयी जी हिन्दी-संसार में युगप्रवर्त्तक वैयाकरण के रूप में विख्यात हो गये। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसकी भूमिका में लिखा था कि "मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिंदी व्याकरण को एक नई दिशा प्राप्त होगी। अभी तक जो व्याकरण लिखे गये हैं, वे प्रयोग-निर्देश तक ही सीमित हैं। इस व्याकरण में पहली बार व्याकरण के तत्त्वदर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।"

इस प्रकार हिन्दी व्याकरण के क्षेत्र में नवचेतना का उन्मेष यद्यपि सन् १९४३ ई० में 'ब्रजभाषा का व्याकरण' के प्रकाशन के साथ ही हो चुका था, किन्तु उसका व्यापक रूप एवं प्रभाव तबतक स्पष्ट नहीं हुआ, जबतक सन् १९४९ ई० में 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' और सन् १९५८ ई० में 'हिन्दी शब्दानुशासन' प्रकाशित नहीं हो गया। इसी बीच सन् १९४७ ई० में हमारा देश भी स्वतन्त्र हो गया। उक्त सभी स्थितियों में सामञ्जस्य स्थापित करने के उद्देश्य से हमने सन् १९४७ ई० से नवचेतना काल का प्रारम्भ माना है।

नवचेतना काल में हिन्दी की स्थिति और
व्याकरण-रचना पर उसका प्रभाव :

नवचेतना काल में हिन्दी की सबसे बड़ी उपलब्धि भारतीय सङ्घ की राजभाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता की प्राप्ति थी। स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय संविधान के निर्माणार्थ डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में सङ्गठित संविधान-सभा १४ सितम्बर, सन् १९४९ ई० को पर्याप्त वाद-विवाद के

---

१. नया समाज, सितम्बर, १९५४ ई०।

पश्चात् देवनागरी लिपि के साथ हिन्दी को सम्पूर्ण देश की राजभाषा बनाये जाने के प्रस्ताव का बहुमत से समर्थन किया था। तदनुसार, संविधान के ३५६वें अनुच्छेद में हिन्दी को भारतीय सङ्घ की राजभाषा का, तथा उक्त अनुच्छेद की अष्टम अनुसूची में हिन्दी के साथ अन्य तेरह भाषाओं—असमी, बँगला, उड़िया, तेलुगू, तमिल, कन्नड़, मलयालयम, मराठी, गुजराती, पञ्जाबी, कश्मीरी, संस्कृत तथा उर्दू—को राष्ट्रभाषा का स्थान प्रदान किया गया। जहाँ तक अङ्कों का सवाल था, संविधान में हिन्दी अङ्कों को मान्यता नहीं देकर, अङ्कों के तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय रूप, अर्थात् अँगरेजी में प्रचलित अङ्कों को स्वीकार किया गया। संविधान २६ जनवरी, सन् १९५० ई० से लागू हुआ।

संविधान में राजभाषा हिन्दी के रूप-निर्णय एवं प्रचार के सम्बन्ध में निम्नलिखित उपबन्ध स्वीकृत हुआ था—'हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम सूची में उल्लेखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करते हुए तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्द-भाण्डार के लिए मुख्यत: संस्कृत से और गौणत: अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा।''

हिन्दी को राजभाषा स्वीकार करने के साथ एक शर्त यह भी जोड़ दी गयी थी कि 'संविधान के लागू होने की तिथि से १५ वर्षों तक अँगरेजी ही राज के सभी कार्यों में व्यवहृत होगी, जब तक कि राष्ट्रपति विशेष राजकीय प्रयोजनों में राजभाषा को व्यवहृत करने की स्वीकृति न दें। राष्ट्रपति संविधान लागू होने के पाँचवें और दसवें वर्ष में राजभाषा-आयोग की नियुक्ति करेंगे, जो राजभाषा के क्रमश: प्रयोग एवं संवर्धन पर अपना विवरण प्रस्तुत करेगा। उस विवरण पर संसद्-सदस्यों की एक उपसमिति विचार करेगी, फिर संसद् के विचार के पश्चात् राष्ट्रपति जिस-जिस क्षेत्र में, जिस-जिस सीमा तक राजभाषा के प्रयोग की अनुमति देंगे, उस-उस क्षेत्र में, उस-उस सीमा तक राजभाषा का प्रयोग इस तरह क्रमश: किया जायगा कि संविधान लागू होने के १५वें वर्ष, हिन्दी अँगरेजी का स्थान पूर्णत: ग्रहण कर ले।

उन्हीं दिनों राजभाषा हिन्दी के हित को ध्यान में रखकर इस बात की आवश्यकता समझी गयी कि एक ऐसी अखिलभारतीय संस्था की स्थापना की जाय, जो संविधान के निर्णय को पूरा-पूरा मानकर राजभाषा के प्रचार और विकास में सरकार की सहायता करे। फलतः, २ नवम्बर, सन् १९४९ ई० को अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी-प्रचार का काम करने वाली संस्थाओं के प्रतिनिधियों, संसद्-सदस्यों और हिन्दी-विद्वानों का एक सम्मेलन डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में दिल्ली में हुआ। उसी सम्मेलन में 'अखिलभारतीय हिन्दी-परिषद्' की स्थापना दिल्ली में की गयी। आगे चलकर उक्त परिषद् ने अहिन्दी प्रदेशों में काम करने वाली संस्थाओं के कार्यों में समन्वय लाने के उद्देश्य से प्रमुख संस्थाओं के प्रतिनिधियों के दो सम्मेलन किये। पहला सम्मेलन सितम्बर, सन् १९५० ई० में बम्बई में हुआ और दूसरा मार्च, सन् १९५१ ई० में दिल्ली में। उक्त सम्मेलनों के प्रस्तावों के आधार पर शिक्षा-मन्त्रालय ने भावी कार्य-योजना बनाने के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा, मद्रास तथा अखिलभारतीय हिन्दी-परिषद्, दिल्ली के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन १३-१४ जून, सन् १९५१ ई० को दिल्ली के 'गवर्मेंट हाउस' में किया, जिसमें राष्ट्रपति भी सम्मिलित हुए थे। उक्त सम्मेलन में निश्चय किया गया कि अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार-कार्य को बढ़ाने के उद्देश्य से आवश्यक उपाय करने के लिए एक केन्द्रीय हिन्दी-शिक्षा-समिति, तथा विभिन्न अहिन्दी प्रान्तों के लिए अलग-अलग क्षेत्रीय शिक्षा-समितियाँ बनायी जायँ। इसी प्रकार, एक-एक कर अनेक सम्मेलन होते रहे तथा प्रत्येक सम्मेलन में नयी-नयी समितियों की स्थापना होती रही; किन्तु उनके द्वारा हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार की कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। इसके अनेक कारण थे, जिन पर हम आगे प्रकाश डालेंगे।

१४ अगस्त, सन् १९५१ ई० को शिक्षामन्त्री अबुल कलाम आज़ाद ने संसद्-सदस्यों के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि "राष्ट्रभाषा हिन्दी को १५ वर्षों के भीतर राजभाषा के तौर पर काम में लाने के उपयुक्त बनाने के लिए सरकार के सामने निम्नलिखित कार्यों के प्रस्ताव हैं—(१) हिन्दी में वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों का कोश तैयार करना, जिसमें प्रशासकीय और सामाजिक विज्ञानों के तथा सरकार के भिन्न-भिन्न विभागों के लिए उपयोगी शब्द होंगे। (२) केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों को हिन्दी

सिखाने के लिए एक हिन्दी-विद्यालय खोलना। (३) केन्द्र में हिन्दी-पुस्तकों के एक सुसम्पन्न पुस्तकालय की स्थापना करना। (४) अहिन्दी भाषियों में हिन्दी का प्रचार करने के लिए एक हिन्दी-शिक्षा-समिति की स्थापना करना तथा हिन्दी-साहित्य की समृद्धि को प्रोत्साहन देना।"[1] शिक्षा-मन्त्री की उक्त घोषणा से हिन्दी-प्रेमियों एवं कार्यकर्त्ताओं को तो प्रसन्नता हुई ही, साथ ही प्रत्येक अहिन्दी भाषी प्रान्त की जनता में भी हिन्दी पढ़ने का उत्साह बढ़ा। सर्वत्र यह आशा की जाने लगी कि सरकार यदि अपनी नीति पर अटल रही तथा उसके द्वारा हिन्दी-प्रचार-कार्य को आवश्यक सहायता एवं प्रोत्साहन मिलता रहा तो १५ वर्ष के पहले ही ऐसी स्थिति आ जायगी कि राजभाषा हिन्दी सभी क्षेत्रों में अँगरेजी को अपदस्थ कर अपना उचित स्थान प्राप्त कर लेगी। किन्तु, देश के दुर्भाग्य से वैसा सम्भव नहीं हुआ।

७ जून, १९५५ ई० को राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के द्वारा पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार एक राजभाषा-आयोग नियुक्त किया गया, जिससे हिन्दी की स्थिति तथा विभिन्न क्षेत्रों में उसके उपयोग के सम्बन्ध में अनेक विषयों पर सुझाव माँगे गये। आयोग ने अपनी पहली बैठक १५–१६ जुलाई, १९५५ ई० को बम्बई में बुलायी और उसमें उसने एक प्रश्नावली तैयार की, जो देश भर की सभी संस्थाओं एवं गण्यमान्य व्यक्तियों के पास भेजी गयी। उसके उत्तर में १०९४ लिखित स्मरण-पत्र आयोग को प्राप्त हुए। ३१ जुलाई, १९५६ ई० को आयोग ने ४९५ पृष्ठों का अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को सुपुर्द किया। उसमें भारत की भाषा-समस्या के सभी रूपों पर पर्याप्त विचार करने के पश्चात् राष्ट्रपति के समक्ष जो कतिपय सुझाव प्रस्तुत किये गये थे, उनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं[2] :—

१. संविधान द्वारा स्वीकृत निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा देश की राष्ट्रभाषाओं में ही दी जा सकती है, इसलिए राज्यों में वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं को उचित स्थान मिलना चाहिए। अन्तःप्रान्तीय सम्बन्धों के लिए किसी एक ही भाषा को मान्यता प्रदान करना

---

१. पी० के० केशव नायर, 'दक्षिण के हि० प्र० आ० का समीक्षात्मक इतिहास,' पृ० २७२।

२. कामेश्वर शर्मा, 'हिन्दी की समस्याएँ', पृ० ९१–९२।

व्यावहारिक है और उसके लिए हिन्दी इसलिए ठीक है कि वह देश के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा बोली और समझी जाती है।

२. राजभाषा के पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में स्पष्टता, संक्षिप्तता और सरलता पर ध्यान देना वाञ्छनीय होगा। इस क्षेत्र में भाषा-शुद्धता का नारा देना अहितकर होगा। विभिन्न कला-कौशलों के क्षेत्र में प्रादेशिक भाषाओं में जो पारिभाषिक शब्द बन चुके हैं और व्यवहृत होते हैं, उन पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। कतिपय विषयों में अन्तरराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्द भी लिये जा सकते हैं और उनका भारतीयकरण भी किया जा सकता है। प्रयत्न हो कि ये पारिभाषिक शब्द सभी राष्ट्रभाषाओं में समान रूप से गृहीत हों।

३. देश के सभी माध्यमिक स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य रूप से इस तरह लागू की जाय कि चौदह वर्ष का होते-होते प्रत्येक छात्र तीन-चार वर्ष तक हिन्दी पढ़ चुका रहे। अँगरेजी की पढ़ाई 'ज्ञानवर्द्धक भाषा' के रूप में हो, 'साहित्यिक भाषा' के रूप में नहीं, और वह भी माध्यमिक स्तर से ही। आयोग हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में किसी दूसरी भारतीय भाषा की अनिवार्य पढ़ाई को आवश्यक नहीं मानता, पर यदि ऐसी सुविधाएँ दी जायँ, तो देश की भावात्मक एकता के लिए वे लाभकर सिद्ध होंगी। विश्वविद्यालय स्तर पर स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए अँगरेजी और हिन्दी, दोनों ही स्वीकृत की जायँ, पर सभी विश्वविद्यालयों में इसकी सुविधा हो कि हिन्दी के माध्यम से परिक्षार्थी सम्मिलित हो सकें।

४. शासन-कार्यों में सभी सरकारी नियमों, आदेशों, पर्चों आदि का अनुवाद निश्चित पारिभाषिक शब्दों के साथ हिन्दी में हो; शासकीय कर्मचारियों के लिए हिन्दी का ज्ञान अपेक्षित हो और तत्सम्बन्धी सभी यान्त्रिक व्यवस्था की जाय। उसके लिए एक निश्चित अवधि दी जाय और जो उस अवधि में आवश्यक ज्ञान न प्राप्त करे, उसे दण्डित करने की व्यवस्था हो। अहिन्दीभाषी कर्मचारियों के लिए हिन्दी-ज्ञान का स्तर कुछ नीचा किया जा सकता है। फिर भी, एक-ब-एक अँगरेजी का प्रचलन न रोका जाय और जहाँ वह

आवश्यक हो, उसका व्यवहार चले; पर उसके साथ हिन्दी में अनुवादित प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

५. सर्वोच्च न्यायालय में सारे कार्य राजभाषा हिन्दी में ही हों; इसकी व्यवस्था आवश्यक है। आवश्यकता पड़ने पर अन्य प्रादेशिक भाषाओं में उसके आदेशों और कार्यकलापों की विश्वसनीय अनुवादित प्रतिलिपि भी तैयार की जाय।

६. प्रतियोगिता की परीक्षाओं की भाषा वही, और उसी प्रकार की हो, जैसी कि शिक्षा के क्षेत्र में लागू की जाय। अखिलभारतीय स्तर की प्रतियोगिताओं में निश्चित सूचना के पश्चात् हिन्दी का एक अनिवार्य पत्र लागू किया जाय। अहिन्दीभाषी परीक्षार्थियों के लिए उसका स्तर नीचा रखा जाय और पहले उसमें सिर्फ पास करना ही आवश्यक माना जाय, फिर आगे चल कर उसे धीरे-धीरे अन्य पत्रों के स्तर पर लाया जाय।

राजभाषा-आयोग के उपर्युक्त सुझाव न केवल भावात्मक एकता की दृष्टि से, अपितु देश के बहुविधि विकास की दृष्टि से भी कितने हितकर एवं उपादेय थे, इसका अनुमान कोई भी निष्पक्ष राष्ट्रहितैषी सहज ही कर सकता है। किन्तु, देश के दुर्भाग्य से वे कुछेक स्वनामधन्य प्रख्यात महानुभावों को बिलकुल ही पसन्द नहीं आये और उन लोगों ने अपनी अदूरदर्शिता के कारण सङ्कीर्ण प्रान्तीयता तथा क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों की वेदी पर समग्र राष्ट्रहित का वलिदान करते हुए उनके विरुद्ध अपने विमति-टिप्पण के ऐसे आक्षेप-वाण छोड़े, जिनसे सम्पूर्ण देश का वातावरण विषाक्त हो गया।

यह एक कटु, किन्तु अप्रच्छन्न सत्य है कि स्वतन्त्रता के पूर्व अधिकांश अहिन्दीभाषी नेताओं और विद्वानों का दृष्टिकोण हिन्दी के प्रति जितना ही अधिक उदार और राष्ट्रीय था; स्वतन्त्रता के बाद उसके राजभाषा घोषित होते ही, उतना ही अधिक अनुदार और अराष्ट्रीय बन गया। राष्ट्र के व्यापक हित तथा प्रोन्नति का हिन्दी से अनिवार्य सम्बन्ध मानते हुए प्रारम्भ में जिन अनेक अहिन्दी प्रान्तीय नेताओं ने गाँधी जी के स्वर में स्वर मिला कर मुक्त कण्ठ से उसे राष्ट्रभाषा घोषित किया था तथा मनसा-वाचा-कर्मणा उसके विकास एवं देशव्यापी प्रचार में योगदान दिया था; आगे चल कर उन्हीं में से कई इसके प्रबल विरोधी बन गये। उन सिद्धान्त-परिवर्तनवादियों में

राष्ट्रविख्यात भाषाशास्त्री डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी तथा जन्मना राजनीतिज्ञ चक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी के नाम हिन्दी के इतिहास-लेखकों को सदा विस्मित करते रहेंगे।

सुनीति बाबू सन् १९२१ ई० से सन् १९४६ ई० तक हिन्दी के प्रबल समर्थकों में से थे। सन् १९२१ ई० में उन्होंने अपने प्रबन्ध 'बङ्गाली भाषा का उद्भव और विकास' में लिखा था कि 'निस्सन्देह हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी ही भारत की वह एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषा है, जो यहाँ की वास्तविक राष्ट्रभाषा कही जा सकती है।'[१] फिर 'भारत की भाषा-समस्याएँ' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा था कि 'अनेक व्यक्ति अन्तर्प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय या जातीय भाषा के रूप में अँगरेजी को ही स्वीकार करने का अनुमोदन करते हैं। किन्तु, मेरा विचार है कि यह पूर्णतया असंभव है।'[२] इसी प्रकार 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' में उन्होंने लिखा था कि "बोलने वालों एवं व्यवहार करने तथा समझने वालों की दृष्टि से हिन्दुस्तानी का स्थान जगत् की महान् भाषाओं में तीसरा है। इस प्रकार हिन्दी या हिन्दुस्तानी आज के भारतीयों के लिए बहुत बड़ी रिक्थ है। यह हमारे भाषा-विषयक प्रकाश का एक महत्तम साधन तथा भारतीय एकता एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक रूप है। वास्तव में हिन्दी ही भारत की भाषाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है।"[३] सन् १९४६ ई० में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कराँची-अधिवेशन के सभापति-पद से भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि "निखिल भारत के जीवन में हिन्दी की व्यापक प्रतिष्ठा केवल आजकल के प्रोपेगेंडा या प्रचार का फल नहीं है; यह स्मरणातीत काल से उपलब्ध भाषा-विषयक परम्परा की देन है। हिन्दी के पीछे कम-से-कम ढाई हजार वर्षों के अन्तःप्रान्तीय मेलजोल का इतिहास है। अन्तःप्रान्तीय हिन्दी हमारे हिन्दू युग के पूर्वजों से ही प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण रिक्थ है। भारत की प्रतिभू भाषा हिन्दी है। इस खंड-छिन्न तथा विक्षिप्त

१. "Hindi or Hindustani is unquestionably the most important language of India and the only speech which can be said to be really national for all India."—S. K. Chatterjee, 'The origin and development of Bengali Language.'

२. 'हिन्दी की समस्याएँ', का० शर्मा, पृ० ९५।

३. 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी', सु० कु० च०, पृ० १६१।

भारत के लिए हिन्दी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संयोगसूत्र है। कालीघटा के अन्तराल में, घने अंधकार में मार्ग दिखाने वाली यह एक बिजली की रेखा है। विभिन्नता रहते हुए भी सम्पूर्ण भारत जड़ से एक और अखंड है। भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में इस सत्य का प्रतीक हिन्दी ही है। 'संगच्छध्वम् संवदध्वम्' आधुनिक भारत के जीवन में इस मन्त्र को सार्थक करने का साधन हिन्दी ही है। समग्र भूमंडल की तीसरी भाषा, चालीस करोड़ मानवों की, विश्व की मानव-संतान के पंचमांश की होनहार राष्ट्रभाषा, ऋषिप्रोक्त और निषाद-द्रविड़-किरात-आर्य की मिलित चेष्टा के फलस्वरूप हमारी प्राचीन संस्कृतिवाहिनी, संस्कृत भाषा से संग्रथित, आधुनिक भारत की प्रतिभू हमारी हिन्दी भाषा, जिसके गले में अरब और ईरान के शब्द-भांडारों से लिये हुए मणिहार हमने लटकाये हैं, और जिसकी शक्ति और सौन्दर्य को हमने बढ़ाया है, ऐसी भाषा पर हम क्यों न गर्व करें और इस अनमोल देन के लिए क्यों न हम ईश्वर की स्तुति करें।"[१]

कभी हिन्दी के प्रति ऐसे उदात्त विचार रखने वाले सुनीति बाबू ने संविधान के द्वारा उसके राजभाषा घोषित होते ही अपनी नीति में एकाएक परिवर्त्तन लाकर ऐसा प्रतिक्रियावादी रूप धारण किया कि उनके द्वारा व्यक्त विचारों ने न केवल हिन्दी, अपितु सम्पूर्ण देश की अखण्डता के भविष्य को खतरे में डाल दिया। इसका प्रमाण राजभाषा-आयोग के प्रतिवेदन के साथ संलग्न भेजा गया उनका ४० पृष्ठों का वह विमति-टिप्पण है, जिसमें उन्होंने हिन्दी के सम्बन्ध में सन् १९२१ ई० से सन् १९४६ ई० तक व्यक्त अपने विचारों के सर्वथा विपरीत बातें लिखी थीं और जिसके प्रकाशित होते ही सम्पूर्ण देश में हिन्दी-विरोधी आन्दोलन की सोयी हुई सर्वभक्षी आग भड़क उठी। उनके विमति-टिप्पण के मुख्य तर्क निम्नलिखित हैं—

हिन्दी संविधान-सभा द्वारा राजभाषा के रूप में स्वीकृत हुई, निर्वाचित संसद् द्वारा नहीं। अतः, उसका औचित्य अमान्य है। हिन्दी के राजभाषा होने से भारत में दो श्रेणियों के नागरिक बनेंगे—एक तो हिन्दी-भाषी, जो प्रथम श्रेणी के नागरिक होंगे और जिन्हें अनन्त विशेषाधिकार उपलब्ध रहेंगे, दूसरे अहिन्दी-भाषी, जो द्वितीय श्रेणी के नागरिक होंगे और सदा गौण स्थिति में

१. 'हिन्दी की समस्याएँ', [illegible], पृ० [illegible]।

रहेंगे। हिन्दी किसी भी अर्थ में भारत की दूसरी भाषाओं से श्रेष्ठ नहीं है। दूसरी भाषाएँ सुनिर्मित हैं और उनका एक हजार वर्षों का अविच्छिन्न साहित्यिक इतिहास है। हिन्दी के राजभाषा होने से भारत की अन्य भाषाएँ अपने ही क्षेत्रों में गौण स्थान की अधिकारिणी बन जायँगी। अभी हिन्दी को राजभाषा बनाना अवांछनीय है; क्योंकि न तो हिन्दी उसके योग्य है और न अहिन्दी भाषा-भाषी उसके लिए प्रस्तुत हैं, अभी हिन्दी निर्माणावस्था में है और अभिव्यंजना के समर्थ माध्यम के रूप में उसमें अनेक त्रुटियाँ हैं। हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य नाममात्र का है। हिन्दी का सांस्कृतिक एवं बौद्धिक महत्त्व इतर भाषा-भाषियों के लिए नगण्य है। सूचना और शक्ति की भाषा के रूप में हिन्दी अँगरेजी के सामने टिक नहीं सकती। हिन्दी-भाषी प्रधानतः अपने लाभ के लिए ही भारतीय संघ की भाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने को उत्सुक हैं। अखिलभारतीय सेवाओं की प्रतियोगिता-परीक्षाओं में हिन्दी-भाषियों की स्थिति अधिक सुविधाजनक रहेगी और अहिन्दीभाषी सदा घाटे में रहेंगे। हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकृत करसे से प्रादेशिकता की भावना में वृद्धि हुई है। हिन्दी बनायी गयी थी राजभाषा, किन्तु अब उसके समर्थक उसे राष्ट्रभाषा घोषित करते चल रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत की एकमात्र राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है, जो इतर भाषा-भाषियों को स्वीकार्य नहीं है। हिन्दी के विकास के लिए समग्र देश को त्याग करने को कहा जा रहा है, जिसका बौद्धिक महत्त्व या मूल्य नहीं के बराबर है। अहिन्दी-भाषियों द्वारा दिये गये कर से हिन्दी का विकास किया जायगा और उसके पुरस्कार-स्वरूप अहिन्दीभाषियों की भाषा, संस्कृति और भौतिक लाभ सदा के लिए हिन्दी के, और स्वभावतः हिन्दीभाषियों के अधीन डाल दिये जायँगे। सरकार ने हिन्दी के विकास के लिए प्रबल अभियान आरम्भ किया है, जिसका सारा आर्थिक लाभ हिन्दीभाषियों को ही हो रहा है। इस प्रकार, सार्वजनिक निधि का उपयोग केवल एक भाषा की उन्नति के लिए किया जा रहा है। भारतीय संघ के राजकीय कार्यों में हिन्दी का प्रयोग तत्काल रोक दिया जाय। राष्ट्रीय एकता, शासकीय दक्षता और भारतीय विज्ञान, प्रविधि एवं मानविकी की प्रगति के हित में हिन्दी का कार्यान्वयन रोक देना वांछनीय होगा।"[१]

---

१. 'राष्ट्रभाषा हिन्दी, समस्याएँ और समाधान'—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १६३–६५।

उक्त विमति-टिप्पण में सुनीति बाबू ने अँगरेजी के समर्थन में जो हास्यास्पद तर्क दिये थे, उनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—"यदि अँगरेजी शासन बादल के समान था, जिसने भारत को तिमिराच्छन्न कर दिया है, तो अँगरेजी भाषा उस बादल के बीच विद्युत् की रजत-रेखा के समान थी।"[१] "अँगरेजी का महत्त्व भौतिक और बौद्धिक ही नहीं, आध्यात्मिक भी है। भारतीय भाषाओं के लिए अँगरेजी का पोषक महत्त्व है, अर्थात् उससे सभी भाषाएँ पोषण प्राप्त करती हैं। अँगरेजी के कारण ही इस देश में राष्ट्रीयता की भावना जगी। यह कहना गलत है कि अँगरेजी-शिक्षा जन-साधारण से पार्थक्य और बिलगाव की भावना उत्पन्न करती है। अँगरेजी हमें सच्चा भारतीय बनायेगी और उसकी सहायता से हम अपनी सभ्यता को अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे। अँगरेजी हम पर लादी नहीं गयी, हमने स्वेच्छा से उसे अपनाया। अँगरेजी हमारे ज्ञान का सबसे मूल्यवान माध्यम है और उसने भारत में राजनीतिक एकता उत्पन्न करने में सहायता की है।"[२]

सुनीति बाबू के उपर्युक्त तर्कों, मान्यताओं एवं सुझावों का निष्पक्ष एवं सम्यक् परीक्षण करते हुए देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि "वस्तुतः वह पूरा टिप्पण हेत्वाभासों और विरोधाभासों का पिटारा है।"[३] "अँगरेजी और हिन्दी के पक्ष-विपक्ष में दिये गये इन तर्कों को देखने पर सम्भ्रम उत्पन्न हो जाता है और लगता है कि ये तर्क अकाट्य हैं। किन्तु, इनमें किसी में कोई तथ्य या सार नहीं है। किसी को भी आश्चर्य हो सकता है कि जिस व्यक्ति ने स्वाधीनता के पहले सर्वतोभावेन हिन्दी का समर्थन किया और उसे राष्ट्रभाषा के योग्य घोषित किया, वही आज हिन्दी के विपक्ष में इतनी उग्रता से क्यों बोल रहा है। तो यह सब राजनीति की माया है। जब सुनीति बाबू ने हिन्दी का समर्थन किया था, तो वह भाषाशास्त्री थे। इसलिए, उनकी दृष्टि शास्त्रीय और वैज्ञानिक थी, उस समय उन्होंने जो कुछ कहा वह वास्तविकता और निस्सङ्गता से प्रेरित होकर। बाद में उन्होंने जो कुछ कहा है, वह पश्चिमी

१. "If English rule was the cloud which has plaeed India under a shadow. The English language was the silver living to this cloud."

२. 'राष्ट्रभाषा हिन्दी-समस्याएँ और समाधान'—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १६५-६६ से।

३. उपरिवत्, पृ० १६३

बङ्गाल की विधान परिषद् के अध्यक्ष के रूप में। राजनीति की दृष्टि शास्त्र की तटस्थ दृष्टि से भिन्न हुआ करती है, यह सभी जानते हैं।"[१]

सुनीति बाबू की ही तरह चक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी भी प्रारम्भ में हिन्दी के कितने बड़े समर्थक थे, इसकी संक्षिप्त चर्चा हम 'उत्कर्ष-काल' के विवेचन-क्रम में कर आये हैं। सन् १९२७ ई० में जब मद्रास-सरकार ने पहले-पहल पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान दिया था, तो उस समय कुछ लोगों ने उसका विरोध किया था। उन दिनों राजगोपालाचारी दक्षिण-हिन्दी-प्रचार-सभा के उपाध्यक्ष थे। उन्होंने हिन्दी विरोधियों को कड़ी फटकार सुनाते हुए जनवरी, सन् १९३० ई० के 'हिन्दी प्रचारक' में छात्रों के नाम जो प्रस्तावना प्रकाशित की थी, उसमें यहाँ तक लिखा था कि "हिन्दी का अध्ययन स्कूलों में अनिवार्य विषय के रूप में लागू किया जाना चाहिए। किन्तु, छात्रों को तब तक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, जब तक शिक्षाधिकारी राष्ट्रभाषा हिन्दी के महत्त्व को समझ कर उसे स्कूलों के लिए अनिवार्य विषय बनाते हैं, प्रत्युत उन्हें अभी से अपने रिक्त समय को हिन्दी सीखने के उपयोग में लगाना शुरू कर देना चाहिए।"[२] तब से लेकर सन् १९५६ ई० तक वे बराबर हिन्दी का समर्थन करते रहे। सन् १९३७ ई० में उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप मद्रास के स्कूलों में हिन्दी अनिवार्य विषय बन सकी। उस समय उन्होंने अनेक हिन्दी-विरोधियों को जेल भेजने में भी सङ्कोच नहीं किया।[३] २७ अक्टूबर, सन् १९५६ ई० को प्रकाशित अपने एक निबन्ध में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि राष्ट्रभाषा हिन्दी ही एक दिन भारत की एकमात्र राजभाषा बनेगी।[४] किन्तु,

---

१. 'राष्ट्रभाषा हिन्दी-समस्याएँ और समाधान'—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १६६।

२. "Every student can and should utilise his spare time to learning the national language. It should be a compulsory part of the school courses, but we should not wait till the Educational Authorities realise their duty. Self help is best until our educational authorities see how wrong it is not to make the common language of India, a compulsory part of the school course of boy and girls in all provinces in India."—C. Rajgopalacharya, 'Hindi Prachark'. Jan. 1930.

३. 'राष्ट्रभाषा हिन्दी, समस्याएँ और समाधान'—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १५९।

४. 'हिन्दी की समस्याएँ', का० शर्मा, पृ० ९९।

उसके बाद राजभाषा-आयोग के प्रतिवेदन के साथ सुनीति बाबू का विमति-टिप्पण प्रकाशित होते ही अचानक उन्होंने भी अपना सिद्धान्त बदल दिया। १४ सितम्बर, सन् १९५७ ई० के अपने निबन्ध में उन्होंने लिखा कि 'हिन्दी और अँगरेजी दोनों को एक साथ भारत की राजभाषा बनाने से अधिक सरल दूसरा कोई समाधान सम्भव नहीं है।'[१] फिर ३ जनवरी, सन् १९५८ ई० को उन्होंने लिखा कि 'सरकारी कार्यालयों में अँगरेजी का स्थान हिन्दी को देने से तमिल लोगों की बड़ी क्षति होगी',[२] और १२ सितम्बर, सन् १९५९ ई० के एक निबन्ध में उन्होंने सरकार से स्पष्ट माँग की कि 'वह किसी नयी राजभाषा के सम्बन्ध में सोचना-विचारना तक छोड़ दे और यह स्वीकार करे कि जैसे पिछले डेढ़ सौ वर्षों से अँगरेजी का राजभाषा के रूप में अबाध प्रयोग होता आया है, वैसे ही आगे भी होता रहेगा।'[३]

सुनीति बाबू तथा राजगोपालाचारी के उपर्युक्त हिन्दी-विरोधी विचारों से देश के अहिन्दी भाषियों के बीच बड़ी दूषित प्रतिक्रिया हुई। २६-२७ दिसम्बर, सन् १९५७ ई० को बङ्गाली लेखकों का एक सम्मेलन कलकत्ते में हुआ, जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये—(१) आयोग के सुझाव हिन्दी को छोड़ अन्य सभी भारतीय भाषाओं के लिए हानिकर सिद्ध होंगे, इसलिए उन्हें कभी स्वीकार न किया जाय। (२) अँगरेजी को भी भारत की एक राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जाय। (३) पश्चिम बङ्गाल के सभी माध्यमिक स्कूलों में हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा रोक दी जाय। (४) अन्तःप्रान्तीय पत्राचार आदि में अँगरेजी का ही व्यवहार हो और (५) पश्चिम बङ्गाल-सरकार बँगला को अविलम्ब राज्यभाषा घोषित करे तथा सन् १९६१ ई० के रवीन्द्र-शती-समारोह तक सभी क्षेत्रों में उसके समुचित प्रयोग की व्यवस्था करे। उक्त सम्मेलन में भाषण करते हुए प्रसिद्ध उपन्यासकार ताराशङ्कर बनर्जी ने कहा कि 'यह केवल बङ्गाल के लिए ही नहीं, अपितु सारे भारतवर्ष के लिए जीवन-मरण की समस्या है।' उन्हीं दिनों बङ्गाल-विधान-सभा में भी इस पर बहस हुई, जिसमें मुख्यमन्त्री विधानचन्द राय ने कहा कि 'राजभाषा आयोग की यह धारणा रही है कि उसका कर्त्तव्य हिन्दी के पक्ष में विशिष्ट

---

१. 'हिन्दी की समस्याएँ', का० शर्मा, पृ० ९९।
२. Hindustan times, Delhi, 3rd January, 1958.
३. 'हिन्दी की समस्याएँ', का० शर्मा, पृ० ९९-१००।

तर्कों को उपस्थित करना है, ताकि अहिन्दीभाषी प्रान्तों को वह अप्रत्यक्ष रूप से अपने दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर सके।' इसी प्रकार राजस्वमन्त्री विमलचन्द्र सिन्हा ने कहा कि 'हमारी शासन-प्रणाली अँगरेजी ढर्रे पर है, हम ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्य हैं; जब हमें इसमें लज्जा का अनुभव नहीं होता तो फिर अँगरेजी को राजभाषा बनाये रखने में ही ऐसा कौन-सा राष्ट्रीय अपमान है ?'[१]

बङ्गाल की ही तरह मद्रास में भी सन् १९५७ ई० के दिसम्बर महीने में 'युनियन लैङ्ग्वेज कन्वेंशन ऑफ साउथ इण्डिया' का एक 'हिन्दी-विरोधी अधिवेशन डॉ० सी० पी० रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में आयोजित किया गया, जिसमें राजगोपालाचारी का इस आशय का प्रस्ताव एकमत से पारित किया गया कि भारत की राजभाषा अँगरेजी ही बनी रहे और संविधान में तदनुकूल संशोधन किया जाय। फिर ३१ दिसम्बर, सन् १९५७ ई० को महाबलीपुरम् में आन्ध्र, मद्रास और मैसूर के मुख्यमन्त्रियों ने सम्मिलित रूप से इस पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् यह विज्ञप्ति प्रकाशित की कि सन् १९६५ ई० से अँगरेजी को भारत की राजभाषा नहीं रखने की योजना नितान्त अव्यावहारिक है। ३ जनवरी, सन् १९५८ ई० को मद्रास के शिक्षा-मन्त्री ने केन्द्रीय सरकार के पास १४ पन्नों का एक स्मृति-पत्र प्रेषित किया जिसमें राजभाषा आयोग के सुझावों को बिल्कुल अस्वीकार करते हुए अँगरेजी को राजभाषा बनाये रखने की माँग की गयी थी तथा हिन्दी के लिए अधिक-से-अधिक इतनी छूट देने की इच्छा प्रकट की गयी थी कि अँगरेजी के साथ-साथ गौण रूप से उसका भी व्यवहार किया जा सकता है।

हिन्दी-विरोधियों में ऐंग्लोइण्डियन नेता फ्रैंक ऐंन्थोनी का स्वर किसी अन्य की अपेक्षा कम उग्र नहीं था। उन्होंने ३० जनवरी, सन् १९५८ ई० को संसद् भवन में भीषण भाषण करते हुए कहा कि 'भारत के तीन-चौथाई अहिन्दीभाषी लोगों के लिए हिन्दी भाषा अँगरेजी की तुलना में अधिक विदेशी है। अँगरेजी का महत्त्व न केवल राजनैतिक क्षेत्र में अपितु भावनात्मक क्षेत्र में भी इतना अधिक है कि उसके अभाव में जो भावनात्मक रिक्तता उत्पन्न होगी, उसकी पूर्त्ति हिन्दी के द्वारा कभी भी सम्भव नहीं हो सकेगी। यदि हिन्दी 'अखिलभारतीय सेवाओं' का माध्यम बना दी गयी तो

---

१. 'हिन्दी की समस्याएँ', का० शर्मा, पृ० १०१-२।

'सेवाओं' की सारी एकरूपता या रौनक ही चली जायगी। इससे न केवल वैधानिक अखण्डता को क्षति पहुँचेगी, अपितु उसके साथ अराजकता भी उत्पन्न होगी।'[1]

दिसम्बर, १९५७ ई० के अन्तिम सप्ताह में विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के तत्त्वावधान में डॉ० कुँजरू की अध्यक्षता में सङ्गठित अँगरेजी-समिति के जो सुझाव प्रकाशित हुए, उनका सारांश यह था कि 'अँगरेजी से भारतीय भाषाओं में शिक्षा के माध्यम-सम्बन्धी जो भी परिवर्त्तन हों, उनमें शीघ्रता नहीं की जानी चाहिए। यदि शिक्षा के माध्यम में परिवर्त्तन हो भी तो विश्वविद्यालय के सभी छात्रों के लिए अँगरेजी का पठन-पाठन चालू रहना चाहिए। इसके लिए माध्यमिक स्तर पर ही अँगरेजी-ज्ञान की समुचित नींव रखने की व्यवस्था की जाय, जिससे विश्वविद्यालयों में प्रवेश के समय उनका अँगरेजी-ज्ञान काफी परिपक्व रहे।' समिति के इन सुझावों को स्वीकार करते हुए उक्त आयोग ने जो मन्तव्य दिये, उनका सारांश इस प्रकार है—
'१. प्राथमिक स्तर से ही अँगरेजी की पढ़ाई शुरू कर देनी चाहिए, जो कम-से-कम छह वर्षों तक चले। मद्रास में अभी जो सात वर्षों तक के अँगरेजी पठन-पाठन की व्यवस्था है, वह ठीक है और सभी राज्यों को उसका अनुसरण करना चाहिए। २. शिक्षा के माध्यम में तत्काल कोई परिवर्त्तन लाने के सम्बन्ध में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए अर्थात् अभी अँगरेजी ही शिक्षा का माध्यम रहे। ३. अँगरेजी के अध्ययन-अध्यापन तथा प्रादेशिक भाषाओं या हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन में कोई विरोध या संघर्ष नहीं है। बल्कि सत्य तो यह है कि अँगरेजी के अध्ययन-अध्यापन से मातृभाषाओं के समुचित अध्ययन-अध्यापन में भरपूर सहायता मिलेगी।'[2]

---

१. "For threefourths of the People of India who constitute the non-Hindi speaking people, Hindi is more a foreign language than English. The replacement of English would create an emotional vacuum that Hindi would never be able to fill up......If Hindi is introduced as the medium for All India Services, immediately all semblance of services will disappear.......It will lead not only the legal disintegretion but to chaos."
—Frank Anthony, Ibid, P. 100.

२. 'हिन्दी की समस्याएँ', का० शर्मा, पृ० १०२-३।

इस प्रकार, सन् १९५७ ई० का अन्त आते-आते सङ्कीर्ण प्रान्तीयता एवं क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों की सीमाओं में आबद्ध—कुछ मुट्ठी भर प्रतिक्रियावादी अहिन्दी भाषी नेताओं तथा उनके सङ्केतों पर चलने वाले अँगरेजी-वेतन-भोगियों ने हिन्दी-विरोध और अँगरेजी-समर्थन का ऐसा घटाटोप समाँ बाँधा कि सरकार भी चकमे में पड़ गयी। फलतः, १६ जनवरी, १९५८ ई० को प्राग्ज्योतिषपुर में हुए काँग्रेस के तिरसठवें अधिवेशन में आन्ध्र के मुख्य मन्त्री सञ्जीव रेड्डी के द्वारा उपस्थापित यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया कि अँगरेजी को सन् १९६५ ई० तक की निश्चित अवधि के बाद भी बनाये रखने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

उक्त प्रस्ताव से केवल हिन्दी भाषियों को ही नहीं, अहिन्दी भाषी राष्ट्रवादियों को भी मर्मान्तक आघात लगा। फलतः, उनका हिमालयोपम धैर्य भी विचलित होता दिखाई पड़ा। उनके सम्मुख प्रश्न केवल हिन्दी की स्वत्व-रक्षा का ही नहीं, राष्ट्र की सम्मान-रक्षा का भी था। पहले तो लोगों ने उक्त प्रस्ताव के विरुद्ध छिटपुट रूप से आक्रोश व्यक्त किये। किन्तु, जब उससे कोई परिणाम नहीं निकला, तब ११-१२ अगस्त, १९६२ ई० को "हिन्दी-समर्थक राष्ट्रवादियों का एक अखिलभारतीय सम्मेलन, दिल्ली में किया गया। उसमें देश भर के साहित्यकारों, भाषा-शास्त्रियों एवं राष्ट्रहितैषी नेताओं ने एकत्र होकर अँगरेजी को अधिक दिनों तक भारत की राजभाषा बनाये रखने के सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयत्नों की निन्दा की और आवश्यकता पड़ने पर देश के कोने-कोने में सङ्गठित रूप से धर्मयुद्ध छेड़ने की घोषणा करते हुए कहा कि 'अँगरेजों की दासता केवल राजनैतिक दासता थी; किन्तु अँगरेजी दासता सांस्कृतिक दासता है, जो राष्ट्र के अस्तित्व को ही मिटाती चली जा रही है; लेकिन हम अपना अस्तित्व मिटने नहीं देंगे।' यह थी वह भावना, जो हिन्दी ही नहीं; बल्कि मराठी, गुजराती, बँगला, असमी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम आदि अनेक भाषाओं के प्रतिनिधियों ने एक-एक कर बड़ी निर्भीकता एवं दृढ़ता के साथ व्यक्त की।"[१]

उक्त सम्मेलन ने एक स्वर से यह माँग की कि "यदि देश की भावात्मक एकता को बनाये रखना है, तो सबसे पहले अँगरेजी को राजभाषा-पद से

---

१. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २६ अगस्त, १९६२ ई०।

हटाना होगा।" सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए मराठी के सुप्रसिद्ध राष्ट्रवादी साहित्यकार मामा बरेरकर ने सारे देश का आह्वान करते हुए कहा—'सारे देशवासियों ने निश्चय और सङ्कल्प करके इस देश से अँगरेजों को भगाया, उसी निश्चय और सङ्कल्प के साथ आज हमें अँगरेजी को भगाना होगा। इस कार्य में हम किसी भी प्रकार पीछे हटने या समझौता करने को तैयार नहीं हैं। यह तो राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न है।' सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए काका कालेलकर ने कहा कि 'अँगरेजी का महत्त्व चाहे कितना भी हो; परन्तु अपने राज में यदि प्रजा का तनिक भी महत्त्व है तो राज-काज का सारा काम प्रजा की भाषा में चलना चाहिए।' इसी प्रकार वयोवृद्ध नेता श्री माधव श्री हरि अणे ने कहा कि 'अँगरेजी को सहभाषा बनाने का प्रस्तावित विधेयक हिन्दी के विरुद्ध षड्यन्त्र है। यह उनलोगों का षड्यन्त्र है, जो अँगरेजी को हमेशा-हमेशा के लिए बनाये रखना चाहते हैं। उनका नारा है—इङ्गलिश एवर, हिन्दी नेवर'। तमिल के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रिंसिपल पी० महादेवन ने कहा कि 'गत डेढ़ सौ वर्षों से हमारी शिक्षा-पद्धति विक्षिप्त आदर्शों, भ्रमित उद्देश्यों और घोर विफलताओं का ताना-बाना मात्र रही है।' आन्ध्र के प्रतिनिधि श्री टी० लक्ष्मीनारायण ने कहा कि 'हिन्दी किसी एक विशेष क्षेत्र की भाषा नहीं है, हिन्दी राष्ट्रभाषा है और वह प्रत्येक भारतवासी की भाषा है।'[1] इस प्रकार सम्मेलन में उपस्थित प्रायः सभी प्रान्तों, धर्मों, जातियों, पेशों और श्रेणियों के विद्वान् साहित्यकारों और राष्ट्रवादी नेताओं ने काँग्रेस के उक्त प्रस्ताव के प्रति तथा प्रधान मन्त्री नेहरू के द्वारा लोक-सभा में की गयी इस घोषणा के प्रति कि (एक प्रस्तावित होने वाले विधेयक के अनुसार) 'अँगरेजी सन् १९६५ ई० के बाद भी राजभाषा बनी रहेगी और अहिन्दी प्रान्तों पर हिन्दी तब तक नहीं 'थोपी' जायगी, जब तक वे स्वयं उसे स्वीकार न करें', हार्दिक क्षोभ एवं विरोध व्यक्त किया। किन्तु, हमारी बहुसंख्योपेक्षी सरकार पर राष्ट्र की आत्मा की उस पुकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और सन् १९६३ ई० के अप्रिल में नेहरू जी की प्रेरणा से गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा उपस्थापित यह विधेयक पारित कर दिया गया कि 'अँगरेजी, सन् १९६५ ई० के बाद भी, सखी भाषा के रूप में अनिश्चित काल तक के लिए राजभाषा बनी रहेगी।' उस समय सेठ गोविन्द दास ही एकमात्र ऐसे

१. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २ सितम्बर, १९६२ ई०।

काँग्रेसी सदस्य थे, जिन्होंने राजभाषा-विधेयक के विपक्ष में अपना मत दिया था।'[1]

उक्त विधेयक ने अनिश्चित काल तक के लिए हिन्दी के भाग्याकाश को घटाच्छन्न कर दिया। फलतः, सन् १९६५ ई० के बाद भी अहिन्दी-प्रान्तों को कौन कहे, हिन्दी प्रान्तों की राज्य-सरकारें भी हिन्दी के प्रति प्रायः उदासीन ही बनी हुई हैं। शिक्षा-विभाग की भी यही स्थिति है। सन् १९६६ ई० के शिक्षा-आयोग ने यह सुझाव दिया कि कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों की शिक्षा का मुख्य माध्यम अँगरेजी ही रहे, साथ ही स्कूली शिक्षा के लिए भी मुख्यतः उसी को प्रश्रय देना हितकर है। इस आयोग ने निस्सङ्कोच भाव से अँगरेजी को भारत की राजभाषा और सम्पर्क भाषा घोषित करते हुए यह सिफारिश की कि इसके व्यापक प्रचार का प्रयत्न होना चाहिए तथा स्कूल के पाठ्यक्रम में इसे अनिवार्य स्थान मिलना चाहिए। आयोग के प्रतिवेदन में अँगरेजी के साथ क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के लिए भी सुझाव दिये गये; किन्तु हिन्दी की यथासाध्य उपेक्षा की गयी। इस प्रकार, संविधान में सैद्धान्तिक रूप में हिन्दी भले ही राजभाषा स्वीकृत हो गयी, किन्तु वह कार्यान्वित न हो, इसके लिए प्रयत्न आज भी जारी है। हिन्दी का विरोध ऊपर से देखने में बहुत सीधा-सादा लगता है, किन्तु वस्तुतः यह एक गम्भीर और उलझन से भरा प्रश्न है, जिसका निराकरण तभी सम्भव हो सकता है, जब उसका सम्यक् विश्लेषण हो जाय। सूक्ष्मता से विचार करने पर हिन्दी के विरोध के पीछे वैसे तत्त्व दिखाई देते हैं, जो सामान्यतः दृष्टि में नहीं आते।[2]

हिन्दी-विरोधी तत्त्वों का सूक्ष्म एवं सम्यक् विवेचन करने के लिए उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—आन्तरिक और बाह्य। निम्नलिखित प्रथम चार आन्तरिक और शेष दो बाह्य विरोधी तत्त्व हैं :—

१. 'हिन्दी के विरोध का प्रधान कारण है आर्थिक। भारत-सरकार की विभिन्न सेवाओं में अहिन्दीभाषियों का बाहुल्य है। बात यह है कि अँगरेजी का प्रचार आरम्भ में अहिन्दी-क्षेत्रों में ही हुआ। स्वभावतः अँगरेजी के ज्ञान के आधार पर जब नौकरियाँ मिलने लगीं, तो उन क्षेत्रों के लोगों को सुविधा हुई और वह सुविधा आज भी विद्यमान है। उन्हें इस बात की आशङ्का है कि यदि अँगरेजी का स्थान हिन्दी

१. 'हिन्दी की समस्याएँ', का० शर्मा, पृ० १०६।

२. 'राष्ट्रभाषा हिन्दी समस्याएँ और समाधान', देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १५७।

ले लेती है, तो उस सुविधा से वे वञ्चित हो जायँगे। चूँकि अँगरेजी पर उनका जितना अधिकार है, उतना हिन्दी पर नहीं है और होने में समय लगेगा; इसलिए वे चाहते हैं कि अँगरेजी बनी रहे। किसी भी सिद्धान्त या नियम का कार्यान्वयन कार्यालयों के अधिकारियों द्वारा ही होता है। वे यदि चाहें तो कोई काम आसानी से और अविलम्ब हो जाता है और यदि नहीं चाहें, तो नहीं हो सकता। हिन्दी के राजभाषा के रूप में कार्यान्वित न होने का सबसे बड़ा कारण यही वर्ग है, जो आर्थिक घाटे की आशङ्का से बाधा उपस्थित कर रहा है।[1]

२. "हमारे देश में सामाजिक श्रेष्ठता का आधार भी अँगरेजी रही है। यद्यपि देश को स्वाधीन हुए अब लगभग २० वर्ष हो गये, फिर भी अँगरेजी का वह प्रभाव मिटा नहीं है और अँगरेजी जानने वाला, अँगरेजी न जानने वाले की अपेआ अपने को श्रेष्ठ, सभ्य और सुसंस्कृत समझता है। अँगरेजी शासकों की भाषा रही है, इसलिए इसमें रोब और आतङ्क का भी थोड़ा अंश रहा है और यह परम्परा इतनी बद्धमूल रही है कि उसके मिटाने में अभी कई दशक लगेंगे। डेढ़ सौ वर्षों का संस्कार पन्द्रह वर्षों में मिटाना सम्भव नहीं, खास कर तब, जब उसके मिटाने का कोई प्रयास न हो रहा हो।'[2]

३. 'आज देश के बुद्धिवादी और प्रभावशाली वर्ग में वे ही लोग अधिक संख्या में हैं, जो धड़ल्ले से अँगरेजी बोल सकते हैं। ये लोग जिस खूबी और खूबसूरती से अँगरेजी बोल पाते हैं, वैसी अपनी भाषाएँ नहीं। एक प्रकार से उनकी महत्ता की आधारशिला अँगरेजी ही है। उस आधारशिला को नष्ट करना उन्हें कहाँ तक अभिमत हो सकता है ? इस वर्ग की नीति दुहरी रही है। अँगरेजी पढ़ने से इनकी विचार-सरणि अँगरेजी से नियन्त्रित है और उच्च वर्ग के सामने सञ्चार का माध्यम भी अँगरेजी है। दूसरी ओर जनता से भी सम्पर्क रखना आवश्यक रहा है, चूँकि स्वाधीनता-संग्राम बिना जन-जागरण के सफल नहीं होता। इसलिए, इतने भर के लिए इन्होंने देशी भाषा को

---

१. राष्ट्रभाषा हिन्दी, समस्याएँ और समाधान', देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १५७-५८।

२. उपरिवत्, पृ० १५८।

भी अपनाया, मगर केवल इतने भर के लिए। और, इन दोनों में इनका सहज सद्भाव, स्नेह और आकर्षण अँगरेजी के प्रति ही रहा, देशी भाषा का प्रयोग तो अनिवार्य आवश्यकता के लिए करना पड़ा, क्योंकि उसके बिना नेतृत्व-प्राप्ति ही सम्भव नहीं होती। आज भी इस वर्ग के मन में अँगरेजी का महत्त्व अक्षुण्ण है, यों मंचों से जनभाषा के प्रति मौखिक सहानुभूति तो व्यक्त करनी ही होती है, क्योंकि उसके बिना लोकप्रियता कायम नहीं रह सकती। तात्पर्य यह कि यह वर्ग ऊपर से भारतीय भाषा का और भीतर से अँगरेजी का समर्थक है।'[१] इसीलिए इसके वचन क्रियावाचक नहीं होते।

४. 'कुछ लोग अपनी नेतागिरी कायम रखने के लिए भी अँगरेजी का समर्थन और हिन्दी का विरोध कर रहे हैं। ऐसा प्रायः अहिन्दी-क्षेत्रों में हो रहा है। मनुष्य देश, धर्म, भाषा, जाति—सबको प्यार करता है, किन्तु सबसे पहले और सबसे अधिक अपने को प्यार करता है और अपनी महत्ता में कमी आने की उसे जहाँ सम्भावना दीखती है, वहाँ सारे आदर्शों को एक ओर रख छोड़ता है। हिन्दी के विरोध का यह एक प्रमुख कारण है।'[२]

५. 'इङ्गलैण्ड और अमेरिका से प्रतिवर्ष जैसे करोड़ों के दूसरे सामान आते हैं, वैसे ही करोड़ों की पुस्तकें भी आती हैं। ये पुस्तकें वहाँ के लेखकों, मुद्रकों और प्रकाशकों की आर्थिक समृद्धि का साधन हैं और राष्ट्र की आय का महत्त्वपूर्ण अङ्ग। स्वभावतः, वे देश बड़े प्रच्छन्न रूप से इसके लिए प्रयत्नशील हैं कि भारत से अँगरेजी न हटे, क्योंकि अँगरेजी के हटने का अर्थ है करोड़ों का व्यापार बन्द हो जाना, जिससे अपूरणीय आर्थिक हानि होगी। वे यह भी जानते हैं कि अँगरेजी-भाषी देशों के अतिरिक्त अँगरेजी के प्रति जितना आग्रह और अनुराग भारत में है, उतना किसी दूसरे देश में नहीं। इसलिए, वे हर तरह से चाहते हैं कि भारत में अँगरेजी बनी रहे, क्योंकि इसी में उनका लाभ है। इसके लिए उन देशों की सरकारें काफी रुपये खर्च कर अनुकूल वातावरण तैयार करती हैं। अवसर पड़ने पर किसी

---

१. 'राष्ट्रभाषा हिन्दी-समस्याएँ और समाधान' देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १५९।

२. उपरिवत्।

देश के प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने पक्ष में करने के लिए अनेक साधन काम में लाये जाते हैं। भारत की भाषा-समस्या को इस परिप्रेक्ष्य में रख कर देखना आवश्यक है।'[1]

६. 'अँगरेजों ने भारत को स्वाधीनता दे दी, क्योंकि वे जानते थे कि स्वाधीनता-पराधीनता की अपने आप में कोई सार्थकता नहीं है। किसी देश को स्वाधीनता देकर भी उससे वे सारे कार्य कराये जा सकते हैं, जो पराधीन रखकर कराये जा सकते थे और सम्भवतः अधिक सद्भावना के साथ। वे यह भी जानते हैं कि राजनीतिक स्वाधीनता का कोई महत्त्व नहीं है, जबतक सांस्कृतिक और वैचारिक स्वाधीनता भी उपलब्ध न हो। मात्र राजनीतिक स्वाधीनताप्राप्त देश उस भारवाही पशु के समान है, जिसे जिधर चाहें हाँक दें, किन्तु उस देश को हाँकना सम्भव नहीं होता, जो सांस्कृतिक या वैचारिक दृष्टि से स्वाधीन होता है। वह अपनी बुद्धि से सोचता है, अपनी दृष्टि से देखता है और तब कार्य-अकार्य का निर्णय करता है। भारत राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन हो गया है, पर दूसरी दृष्टि से अभी वह सर्वथा पराधीन है। वैचारिक स्वाधीनता तभी आ सकती है, जब हम अपनी भाषा में सोचना-विचारना आरम्भ करें। किन्तु, अबतक हमारे सामने अँगरेजी खड़ी है, हम उन्हीं विचारों को ग्रहण करते हैं जो अँगरेजी-पुस्तकों के द्वारा हमारे पास पहुँचते हैं। वे विचार हमारे न होकर दूसरों के होते हैं। स्वभावतः, हम उसी रास्ते से सोचने को बाध्य हो जाते हैं। यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य है कि अध्ययन के अनुरूप ही चिन्तन होता है। अँगरेजी को बनाये रखने का अर्थ है अपनी चिन्तन-शक्ति को विकसित न होने देना; कारण कि हम तो हमेशा दूसरों के चिन्तन का फल अँगरेजी के माध्यम से अनायास पाते रहेंगे। इस छोटे तथ्य को हम भले न समझें, परन्तु कूटनीति-विशारद अँगरेजी-भाषी देश इसे भली भाँति समझते हैं और वे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील हैं कि इस देश से अँगरेजी न हटे।"[2]

---

१. 'राष्ट्रभाषा हिन्दी-समस्याएँ और समाधान', देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १६०-६१।

२. उपरिवत्, पृ० १६०।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त, देश में कुछ ऐसी स्थितियाँ भी उत्पन्न होती रही हैं, जिनसे हिन्दी-विरोध को बढ़ावा मिलता रहा है। वैसी स्थितियों में निम्नलिखित तीन विशेष उल्लेखनीय हैं :—

(१) हिन्दी को राजभाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता प्राप्त कराने में महात्मा गाँधी का अप्रत्यक्ष रूप में बहुत अधिक हाथ था। अपनी दूरदर्शिता के कारण उन्होंने बहुत पहले से उसके लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण प्रारम्भ कर दिया था। अहिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी के व्यापक प्रचार के मुख्य प्रेरक कर्त्ता वे ही थे और उसमें उनका मुख्य उद्देश्य देश की भावी राजभाषा से सभी भारतीयों को सुपरिचित कराना ही था। किन्तु, दुर्भाग्यवश उनके आकस्मिक देहावसानोपरान्त देश में उनके समान सर्वमान्य, सर्वप्रिय, सर्व-विश्वासी, स्वार्थत्यागी एवं सम्यक् दृष्टिसम्पन्न राष्ट्रवादी कोई दूसरा ऐसा नेता नहीं रह गया, जो राष्ट्र के व्यापक हित को ध्यान में रखकर विरोधियों को अँगरेजी के अन्धमोह से मुक्त करते हुए उनके द्वारा सर्वतोभावेन हिन्दी को राजभाषा के रूप में समर्थित कराने में समर्थ होता। यह एक ऐसी स्थिति रही है, जो हिन्दी-विरोध को अबाध रूप से बढ़ते रहने का अवसर देती आयी है।

(२) हिन्दी-विरोधी स्थिति को जिलाये रखने में सरकार की शिथिल नीति तथा लचर शासन ने भी पर्याप्त योगदान दिया है। यह एक निसर्ग-सिद्ध सत्य है कि अपनी माता एवं मातृभूमि के समान ही अपनी मातृभाषा के प्रति भी मनुष्य का हृदय मोहातिरेक से भरा होता है। ऐसी स्थिति में यदि उसे अपने मोह पर समुचित नियन्त्रण रखने के लिए उचित शिक्षा एवं यथोचित मार्ग-निर्देश न मिले, तो उसका वह मोह राष्ट्र के व्यापक हित के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है; जैसा कि भारत में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। संसार का इतिहास साक्षी है कि किसी राष्ट्र के सम्मान तथा हित के मार्ग में रोड़े अटकाने वाली ऐसी उलझन भरी समस्याओं के सम्यक् समाधान के लिए वहाँ की सरकार को सदा अपने ही उचित निर्णय, दृढ निश्चय, अविचल नीति तथा कठोर शासन का अवलम्ब लेना पड़ता है। किन्तु, स्वाधीन भारत की काँग्रेसी सरकार ऐसी समस्याओं के समाधानार्थ प्रारम्भ से ही इसके विपरीत नीति अपनाती आयी है, जिसके परिणामस्वरूप स्थितियाँ सुधरने की अपेक्षा बिगड़ती ही गयी हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण देश के पवित्र संविधान द्वारा

राजभाषा के रूप में सम्मानित वह भाषा (हिन्दी) है, जो मुट्ठीभर लोगों के अनुचित विरोध के कारण आजतक उपेक्षित और अपमानित होती आयी है।

(३) इसी प्रकार, सरकार द्वारा भाषाधार प्रान्तों के पुनर्गठन के कुविचारित-अव्यावहारिक-सिद्धान्त के असमय कार्यान्वयन ने भी हिन्दी-विरोधी स्थिति के लिए अप्रत्यक्ष रूप से आग में घी का काम किया है। काँग्रेस ने पहले-पहल सन् १९१७ ई० के कलकत्ता अधिवेशन में श्रीमती एनीबेसेण्ट की अध्यक्षता में भाषाधार प्रान्तों के पुनर्गठन का प्रस्ताव पारित किया था। उसी समय उक्त सिद्धान्त के आधार पर अलग-अलग प्रादेशिक काँग्रेस-समितियों की स्थापना भी की गयी थी। लोग यह आशा करते थे कि भाषाधार प्रान्तों की स्थापना होने पर सभी प्रान्तवाले अपनी-अपनी भाषा का अधिकाधिक विकास करेंगे। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् नेहरू जी की प्रेरणा से उक्त सिद्धान्त के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन-कार्य प्रारम्भ हुआ, जो अभी तक समाप्त नहीं हुआ है और सम्भवतः कभी समाप्त भी नहीं होगा; क्योंकि जिस देश में सैकड़ों भाषाएँ हैं, वहाँ उक्त सिद्धान्त के अनुसार प्रान्त भी तो उतने ही होने चाहिए। जो हो, इतना स्पष्ट है कि अभी तक जिन प्रान्तों का पुनर्गठन हुआ है, उनमें से किसी में भी अपनी भाषा के विकास के लिए कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है, उल्टे वहाँ अँगरेजी की जड़ को अधिक मजबूत बनाने के प्रयास ही अधिक हुए हैं। इसके अतिरिक्त पड़ोसी प्रान्तों में मनो-मालिन्य की वृद्धि, देश की भावात्मक एकता का ह्रास, विभिन्न भाषा-भाषी दलों में परस्पर सङ्घर्ष आदि उसके मुख्य परिणाम हैं। इन सारी स्थितियों का एक सामूहिक प्रभाव यह पड़ा है कि अहिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी के प्रति द्वेष का भाव बढ़ता ही गया है।

उपर्युक्त विरोधी-तत्त्वों एवं स्थितियों के कारण विवेच्य काल में हिन्दी का विकास बहुविध बाधित हुआ है; जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी व्याकरण का भी विकास बाधित हुए बिना नहीं रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि देश में भाषा-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का पर्याप्त प्रचार होने पर भी उसकी नवीन शोधगत उपलब्धियों को ध्यान में रखकर आजतक नवीन वैज्ञानिक प्रणाली पर हिन्दी का एक भी बृहत् व्याकरण नहीं लिखा गया। आजतक हिन्दी के पास न तो उसका कोई प्रामाणिक एवं सर्वमान्य ऐतिहासिक व्याकरण है और न वैज्ञानिक पद्धति से लिखा गया कोई सुव्यवस्थित वर्णनात्मक व्याकरण ही।

व्याकरण एवं भाषा सम्बन्धी शोधकार्य :

इस काल की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमें हिन्दी-भाषा एवं व्याकरण से सम्बद्ध विविध विषयों पर विभिन्न विद्वानों के द्वारा अनेक शोध प्रबन्ध एवं शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें शिवनाथ, एम० ए० का 'हिन्दी कारकों का विकास' (सन् १९४८ ई०), ऋषिगोपाल का 'हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन' (सन् १९५० ई०), डॉ० उदयनारायण तिवारी का 'हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास' (सन् १९५५ ई०), नानकशरण निगम का 'हिन्दी भाषा का ध्वनिमूलक अनुसन्धान' (सन् १९५९ ई०), मुरारीलाल उप्रैति का 'हिन्दी में प्रत्यय विचार' (सन् १९६१ ई०), रघुवीरशरण का 'हिन्दी भाषा का रूप वैज्ञानिक और अर्थ वैज्ञानिक अध्ययन' (सन् १९६२ ई०), गेन्दालाल शर्मा का 'व्रजभाषा और खड़ी बोली के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन' (सन् १९६५ ई०), डॉ० रमेशचन्द्र जैन का 'हिन्दी समास रचना का अध्ययन' (सन् १९६४ ई०), डॉ० अम्ब्राप्रसाद सुमन का 'हिन्दी भाषा, अतीत और वर्त्तमान' (सन् १९६५ ई०), डॉ० भोलानाथ तिवारी का 'हिन्दी भाषा' (सन् १९६६ ई०), डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया का 'हिन्दी भाषा में अक्षर तथा शब्द की सीमा' (सन् १९७१ ई०) आदि अनेक ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस काल के प्रसिद्ध वैयाकरणों में पं० किशोरीदास वाजपेयी के अतिरिक्त डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, दुनीचन्द, डॉ० भोलानाथ तिवारी तथा डॉ० दीमशित्स ने सर्वाधिक ख्याति पायी है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानों ने भी सैकड़ों छोटे-मोटे व्याकरण तथा हिन्दी भाषा सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से प्रमुख ग्रन्थों की चर्चा आगे की जायगी।

नवचेतना-काल के प्रमुख वैयाकरण

पं० किशोरीदास वाजपेयी :

हिन्दी व्याकरण को सही अर्थ में हिन्दी का व्याकरण बनानेवालों में पं० किशोरीदास वाजपेयी का नाम सर्वथा विशिष्ट स्थान रखता है। यों तो हिन्दी व्याकरणों में प्रचलित दोषों के निराकरण का प्रयास वे सन् १९२४-२५ ई० से ही पत्र-पत्रिकाओं में निबन्धादि लिखकर करते आ रहे थे, किन्तु इस दिशा में ग्रन्थ-रचना का प्रथम प्रयास उन्होंने वि० सं० २००० (सन् १९४३ ई०) में किया, जिस वर्ष उनका 'व्रजभाषा का व्याकरण' हिमालय एजेन्सी, कनखल (हरिद्वार) से प्रकाशित हुआ। वह ग्रन्थ, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, व्रजभाषा का व्याकरण था; किन्तु उसकी भूमिका में उन्होंने खड़ी हिन्दी के रूप एवं प्रकृति के सम्बन्ध में भी अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण मौलिक सूचनाएँ दी थीं, जिनसे प्रचलित व्याकरणों के अनेक दोषों पर पहली बार प्रकाश पड़ा था। इस दृष्टि से वह ग्रन्थ ऐतिहासिक महत्त्व का अधिकारी माना जा सकता है।

उक्त ग्रन्थ की भूमिका में व्याकरण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था कि "व्याकरण उस शास्त्र का नाम है, जिसमें भाषा के अंग-प्रत्यंग का पूर्ण विवेचन किया जाता है।"[१] उन्होंने प्राचीन हिन्दी वैयाकरणों के द्वारा दी गयी परिभाषाओं का खण्डन करते हुए लिखा था कि "भाषा का शुद्ध बोलना तो माँ से या घर के दूसरे लोगों से सीखा जाता है और शुद्ध लिखना गुरु से। परन्तु माँ-बाप या गुरुजन आदि 'व्याकरण' नहीं हैं। हाँ, जो जिसकी मातृभाषा नहीं है, वह उसके सीखने में और उसका शुद्ध प्रयोग करने में अवश्य व्याकरण का सहारा लेगा। सारांश यह कि व्याकरण भाषा के विवेचन का नाम है।"[२] उसमें हिन्दी की उत्पत्ति की भी उन्होंने संक्षिप्त चर्चा की थी, जिसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर 'हिन्दी शब्दानुशासन' में प्रस्तुत किया।

---

१. कि० दा० वा०; 'व्रजभाषा का व्याकरण', भूमिका, पृ० २।

२. उपरिवत्, पृ० २-५।

'शब्दों का स्वागत, शुद्धि और शासन' शीर्षक अनुच्छेद में उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि "प्रत्येक जीवित भाषा, अपनी समृद्धि एवं पोषण के लिए अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करती है। इसी तरह हमारी भाषा में या किसी भी दूसरी भाषा में, तीन तरह के शब्द होते हैं—निज, तत्सम और तद्भव। कुछ लोगों ने 'अर्द्धतत्सम' शब्द भी एक तरह के बतलाये हैं, जिनमें बहुत कम परिवर्त्तन होता है। परन्तु, यों भेद बढ़ाना ठीक नहीं है। इन तीन भेदों के अतिरिक्त रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़, ये तीन भेद और हैं। उक्त निज, तत्सम और तद्भव शब्दों में प्रत्येक के रूढ़ आदि तीन-तीन भेद करने से नौ शब्द-भेद हुए। इन सबका अनुशासन उसी भाषा के द्वारा होगा, जिसमें ये प्रयुक्त हों।"[1] फिर उन्होंने 'वाक्य-विन्यास', 'सन्धियाँ तथा ह्रस्व बिधान'', 'वर्णलोप', 'सन्धि की अनिवार्यता' आदि पर क्रम से प्रकाश डाला था।

कारक की परिभाषा के सम्बन्ध में, उन्होंने पं० कामताप्रसाद गुरु के द्वारा दी गयी परिभाषा का समर्थन नहीं कर संस्कृत व्याकरणों में दी गयी परिभाषा को ही सदर्थ माना था और लिखा था कि "क्रिया के साथ जिसका सम्बन्ध हो उसे कारक कहते हैं।"[2] इसी आधार पर उन्होंने 'सम्बन्ध' और 'सम्बोधन' को कारक की कोटि से अलग करते हुए हिन्दी में केवल छह कारक माने थे। 'विभक्ति सटाकर या हटाकर' के प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष दिया था कि "हिन्दी में ये दोनों विकल्प हैं। चाहे जैसे लिखो। परन्तु सटाकर लिखने की अपेक्षा हटाकर लिखने में सुविधा अधिक है।"[3]

उन्होंने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में हिन्दी क्रियाओं के वाच्य के सम्बन्ध में हिन्दी व्याकरणों में प्रचलित भ्रम का निराकरण सर्वाधिक विस्तार से किया था। इस सम्बन्ध में गुरुजी की भ्रान्ति का स्पष्ट उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा था कि "ऐसा जान पड़ता है कि गुरुजी हिन्दी के स्वरूप को ठीक-ठीक समझे विना ही इसका व्याकरण लिखने बैठ गये और इसीलिए 'रग पर नश्तर' लग गया। बात यह है कि उन्होंने हिन्दी का व्याकरण

१. कि० दा० वा०; 'व्रजभाषा का व्याकरण', भूमिका, पृ० २२-२३।
२. उपरिवत्, पृ० ३३।
३. उपरिवत्, पृ० ४१।

बनाने में संस्कृत, अँगरेजी तथा मराठी आदि के व्याकरणों पर ध्यान रखा; हिन्दी के स्वरूप पर नहीं, इसीलिए ऐसी भयंकर गलतियाँ हो गयीं हैं। संस्कृत भाषा में अकर्मक क्रियाओं के कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य में प्रयोग होते हैं। सकर्मकों के कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य में होते हैं। अकर्मक क्रिया में कर्म होता ही नहीं, इसलिए उनका कर्मवाच्य प्रयोग कहाँ से हो? सकर्मक क्रिया का वहाँ भाववाच्य प्रयोग नहीं होता। था तो यह संस्कृत भाषा के विषय में; पर गुरुजी ने शायद संसार भर की भाषाओं के बारे में उसे समझ लिया। इसीलिए, हिन्दी भाषा के व्याकरण में भी उसे लिख दिया।"[१]

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही डॉ० बाबूराम सक्सेना की भूल की ओर सङ्केत करते हुए उन्होंने लिखा था कि "डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अपने 'भाषा-विज्ञान' में हिन्दी के वर्त्तमान स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—"क्रिया में कर्मवाच्य के अलग रूप बिल्कुल गायब हो गये हैं और 'जाना' सहायक क्रिया से उसका काम चला लिया जाता है।" स्पष्ट है कि 'राम ने पुस्तक पढ़ी' इत्यादि भूतकाल की कर्मवाच्य क्रियाओं को डॉ० सक्सेना ने कर्तृवाच्य समझ रखा है, जैसा कि प्रचलित हिन्दी व्याकरणों में पढ़ा था। उन्होंने इसका कर्मवाच्य में यह रूप भी पढ़ा था—'राम से पुस्तक पढ़ी गयी।' इस विकृत वाक्य को कर्मवाच्य और उस कर्मवाच्य को कर्तृवाच्य समझ लेने का परिणाम यह हुआ कि 'भाषा-विज्ञान' जैसे ग्रन्थ में उन्होंने लिख दिया—"क्रिया के कर्मवाच्य के रूप बिल्कुल गायब हो गये हैं।" सो यह सब हिन्दी में प्रचलित व्याकरण-पुस्तकों का प्रभाव है, जिनके पढ़ने से देश के करोड़ों छात्रों का करोड़ों घंटे प्रतिदिन समय नष्ट होता है और करोड़ों रुपये पुस्तकें खरीदने में व्यर्थ जाते हैं।"[२]

'प्रेरणा तथा कर्मकर्तृ प्रयोग' की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी व्याकरणों में प्रेरणा तथा 'कर्मकर्तृ' प्रयोग समझने में गलती की गई है और 'कटना' का 'काटना' तथा 'कटाना' आदि प्रेरणार्थक रूप लिखे गये हैं। सो यह सब भूल है। देखना यह चाहिए कि मूल धातु क्या है। साधारण क्रिया प्रेरणा में जब आती है, तब स्वरूप-विस्तार होकर उसके दो 'कर्त्ता' हो

१. कि० दा० वा०; 'व्रजभाषा का व्याकरण', भूमिका, पृ० ५४–५५।
२. उपरिवत्, पृ० ६०–६१।

जाते हैं—प्रयोज्य और प्रयोजक। इसी तरह साधारण क्रिया जब 'कर्मकर्तृ' प्रक्रिया में प्रयुक्त होती है, तब उसका असली कर्त्ता ही उड़ जाता है। जब वक्ता अपनी इच्छा से 'कर्त्ता' का उच्चारण नहीं करता है, तब 'कर्मकर्तृ' प्रयोग होता है (कर्मवाच्य नहीं)। 'काटना' एक मुख्य क्रिया है, 'कटना' नहीं; क्योंकि इस क्रिया का कोई 'कर्त्ता' चाहिए।'[1] 'कर्मकर्तृ प्रयोग में जब सकर्मक क्रिया का 'कर्म' 'कर्त्ता' बन जाता है, तब वह (कर्म न रहने से) अकर्मक हो जाती है।'[2]

उपर्युक्त पद्धति से ही 'विशेषण तथा उसके भेद' पर स्वतन्त्र चिन्तन करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा था कि "जिससे किसी की विशेषता मालूम हो, वह 'विशेषण'। इस प्रकार 'विशेषण' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही इतना स्पष्ट है कि इसका लक्षण आदि करना आवश्यक नहीं। विशेषता व्यक्तियों में, जाति में, गुण में, भावना में और क्रिया में, सर्वत्र हो सकती है। जो जिसकी विशेषता प्रकट करे, वह उसका विशेषण। शब्दार्थ में अभेद होने से यही विशेषण संज्ञा-विशेषण कहलाते हैं। ये संज्ञा-विशेषण दो तरह से प्रयुक्त होते हैं—(१) उद्देश्यात्मक और (२) विधेयात्मक। "अच्छे लड़के पढ़ते हैं' में 'अच्छा' शब्द उद्देश्यात्मक विशेषण है; क्योंकि वाक्य में 'पढ़ने' का विधान है, 'अच्छेपन' का नहीं। परन्तु 'यह लड़का अच्छा है' इस वाक्य में 'अच्छा' विधेयात्मक विशेषण है, क्योंकि 'अच्छेपन' का विधान है। इसी विधेयात्मक विशेषण को हिन्दी व्याकरणों में 'पूरक' कहा गया है। 'पूरक' की अपेक्षा 'पूरक विशेषण' कह दिया जाय तो स्पष्टता आ जाती है। वस्तुतः तो विधेयात्मक विशेषण ही इसका अन्वर्थ नाम है।"[3] इसके अतिरिक्त विशेषण की विशेषता प्रकट करनेवाले विशेषण को उन्होंने 'अन्तर्विशेषण' कहा था।

क्रियाविशेषण के प्रसङ्ग में गुरुजी के मत की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था कि "पं० कामताप्रसाद गुरु ने तथा उनके अनुसार चलकर हिन्दी के अन्यान्य सभी व्याकरणकारों ने क्रियाविशेषण के सम्बन्ध में भी बहुत गड़बड़ पैदा कर दी है। इन्होंने क्रियाविशेषण का लक्षण तो ठीक

---

१. कि० दा० वा०; 'ब्रजभाषा का व्याकरण', भूमिका, पृ० ६४।
२. उपरिवत्, पृ० ६६।
३. उपरिवत्, पृ० ६८।

लिखा है, परन्तु उदाहरण देने में सब बिगाड़ दिया है, गुरुजी ने तथा अन्यान्य व्याकरणकारों ने 'जब', 'तब', 'अभी', 'इधर', 'उधर', 'यहाँ', 'वहाँ' आदि सभी अव्ययों को क्रियाविशेषण मान लिया है और बड़े विस्तार से इनका निरूपण किया है। यह सब भ्रम है और अँगरेजी व्याकरण के अन्धानुकरण का फल है। जो अव्यय हो, वह क्रियाविशेषण भी जरूर हो, यह कोई नियम नहीं है। यदि कोई अव्यय क्रिया की विशेषता वतलाता है, तब वह अवश्य क्रियाविशेषण होगा; अन्यथा हर्गिज नहीं। 'जब', 'तब' आदि समयसूचक अव्यय क्रियाविशेषण नहीं हैं। इनसे क्रिया में कोई विशेषता नहीं मालूम होती। तब क्रियाविशेषण इन्हें कैसे कहा जाय?"[१] फिर 'प्रयोग-भेद से शब्द-भेद' को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया था कि एक ही शब्द भिन्न-भिन्न प्रयोग-भेद के कारण भिन्न-भिन्न शब्द-भेद बन जाता है।

'कुछ फुटकर बातें' प्रकरण में उन्होंने प्रचलित हिन्दी व्याकरणों के अन्त में पाये जाने वाले 'व्याकरण की कुछ अनियमित बातें' शीर्षक प्रसङ्ग की भ्रामकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "भाषा में अनियमितता नहीं रह सकती। वहाँ जो कुछ है, नैसर्गिक नियम से है। व्याकरण उसी का अनुसरण करके संज्ञा-परिभाषा आदि के द्वारा समझाता है। हमारी भाषा हिन्दी पूर्ण वैज्ञानिक नियमों से घटित है। इसमें जरा भी अनियमितता नहीं है। ऐसी दशा में यदि कोई इसका व्याकरण बनावे और उसे नियमों से समलंकृत न कर सके, 'अनियमितता' बनी रहे, तो यह खुद उसका दोष है; भाषा या उसके व्याकरण का नहीं। इस तरह की वातें लिखकर लोग अपनी भाषा का महत्त्व कम करते हैं।"[२] इस प्रसङ्ग में चन्द्रमौलि शुक्ल के 'भाषा-व्याकरण बोध' में दी गयी 'अनियमित' बातों की अयथार्थता सिद्ध की गयी थी और वैयाकरणों की इस प्रवृत्ति को 'अज्ञान विजृम्भण' का परिणाम बताया गया था।

'क्रिया किसके अधीन' शीर्षक अनुच्छेद में अनेक कर्त्ता वाले वाक्य की क्रिया के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ ऐसे प्रयोग के उदाहरण दिये थे, जिनमें अन्तिम कर्त्ता के स्त्रीलिङ्ग रहने पर भी क्रिया पुल्लिङ्ग रहती है। उन्होंने लिखा था कि "इसका कारण यह है कि वाक्य-प्रयोग में पुलिंग ही प्रधान होता है और इसीलिए कभी-कभी वह स्त्रीलिंग कारकों का प्रतिनिधित्व भी

१. कि० दा० वा०; 'व्रजभाषा का व्याकरण', भूमिका, पृ० ७०।
२. उपरिवत्, पृ० ७१।

करता है। 'वन में हिरन घूमते हैं' यहाँ 'हिरन' से 'हिरन-हिरनी' दोनों का मतलब है। इसी को व्याकरण में 'एकशेष' कहते हैं; अर्थात् स्त्रीलिंग का लोप हो गया।"[१] इसी प्रकार 'लिङ्गनिर्णय' के अनुच्छेद में उन्होंने लिखा था कि "हिन्दी में शब्दों के लिंग प्राय: उनकी बनावट पर हैं; जैसे, ईकारान्त शब्द प्राय: स्त्रीलिंग होते हैं और आकारान्त 'डंडा' आदि प्राय: पुल्लिग। इसके अपवाद भी हैं; जो व्यवहार से झट समझ में आ जाते हैं। व्याकरण में शब्दों के लिंग-निर्णय पर ज्यादा जोर नहीं दिया गया है और संस्कृत व्याकरणकारों ने तो यहाँ तक लिख दिया है—"लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य।"[२]

इस प्रकार, 'व्रजभाषा व्याकरण' की भूमिका में पहली बार हिन्दी के प्रचलित व्याकरणों में पाये जानेवाले दोषों के व्यापक विवेचन का प्रयास किया गया था; यों, इसमें व्यक्त स्वयं वाजपेयी जी की भी सभी मान्यताएँ अदोष नहीं थीं। उनकी सदोष मान्यताओं की समीक्षा हम आगे चलकर उनके अन्य ग्रन्थों की समीक्षा के प्रसङ्ग में करेंगे, क्योंकि उन्होंने अपनी बाद की कृतियों में अन्य मान्यताओं के साथ इस ग्रन्थ में विवेचित मान्यताओ का भी विस्तार-पूर्वक पुन:-पुन: विवेचन किया है। उक्त ग्रन्थ ने हिन्दी व्याकरण के भावी स्वरूप के साथ-ही-साथ स्वयं वाजपेयी जी के भावी वैयाकरण-रूप को भी बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया था।

'व्रजभाषा व्याकरण' के पश्चात् वाजपेयी जी की दूसरी पुस्तक, 'अच्छी हिन्दी का नमूना' नाम से वि० सं० २००५ (सन् १९४८ ई०) में, जनवाणी-प्रकाशन, कलकत्ता से प्रकाशित हुई। उसकी रचना रामचन्द्र वर्माजी की 'अच्छी हिन्दी' के दोषों की ओर सङ्केत करने के उद्देश्य से हुई थी। उसमें वाजपेयी जी ने वर्मा जी की शब्द-प्रयोग सम्बन्धी भूलों तथा कुछ व्याकरण सम्बन्धी भूलों पर भी अपने मत दिये थे; किन्तु अनेक स्थलों पर दोष-प्रदर्शन के क्रम में स्वयं उनके अपने ही मत दोषग्रस्त हो गये थे। फिर भी, उस ग्रन्थ में अधिकांश बातें, निश्चय ही ऐसे पते की कही गयीं थीं, जिनसे उनका जागरूक वैयाकरण रूप प्रत्यक्ष होता था। उस ग्रन्थ के द्वारा शब्द-प्रयोग तथा व्याकरण सम्बन्धी अनेक भ्रान्त धारणाओं का निरसन हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसमें

१. कि० दा० वा० : 'व्रजभाषा का व्याकरण', भूमिका, पृ० ७९।
२. उपरिवत्, पृ० ७९।

मुख्य रूप से भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और संशोधन, हिन्दी के व्याकरण और कोष, अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति, भाषा का इतिहास, वाक्य-विन्यास, मुहावरों के सही स्वरूप तथा विराम-चिह्नों के प्रयोग पर प्रकाश डाला गया था।

बाजपेयी जी का 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' वि० सं० २००६ (सन् १९४९ ई०) में जनवाणी-प्रकाशन, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। उसके पूर्व ही हिन्दी, भारतीय संविधान में, राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। वाजपेयी जी ने सम्भवतः इसीलिए, इसके नाम में 'हिन्दी' के स्थान पर 'राष्ट्रभाषा' शब्द का प्रयोग अधिक उचित समझा था। इसके अतिरिक्त, उनके मतानुसार, यह हिन्दी का पहला निर्दोष व्याकरण था; इसीलिए उन्होंने इसे 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' नाम दिया था। किन्तु, उनकी यह मान्यता पूर्ण समीचीन नहीं कही जा सकती। यह सच है कि हिन्दी के सभी पूर्ववर्त्ती व्याकरणों में कुछ-न-कुछ दोष थे; किन्तु वाजपेयी जी का व्याकरण दोषों से सर्वथा मुक्त ही हो, ऐसी बात नहीं। फिर भी, इतना स्वीकार करना ही होगा कि उन्होंने इसमें पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के अनेक दोषों का, जिनमें से कई की चर्चा वे अपने 'व्रजभाषा का व्याकरण' की भूमिका में पहले भी कर चुके थे, पहली बार समुचित परिमार्जन किया, जिससे हिन्दी का प्रकृत स्वरूव पूर्वापेक्षया अधिक शुद्धता एवं स्पष्टता से लोगों के सामने आया तथा उसकी प्रकृति एवं प्रवृत्तियों को समझने में सहायता मिली।

इसकी रचना मुख्य रूप से अहिन्दी भाषियों को दृष्टि में रखकर की गयी थी। इस सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने भूमिका में लिखा था कि "इससे हिन्दी का सरलतम रूप स्पष्ट होगा, अहिन्दी भाषीजन बहुत जल्दी शुद्ध हिन्दी लिखना-बोलना सीखेंगे और इस छोटे से व्याकरण के द्वारा हिन्दी-भाषी विद्वानों को भी बहुत कुछ लाभ पहुँचेगा; क्योंकि इसमें हिन्दी व्याकरण के मौलिक तथा आधारभूत सिद्धान्तों की उद्‌भावना हुई है।"

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में 'हिन्दी की अपनी विशेषता' की चर्चा के प्रसङ्ग में वाजपेयी जी ने एक शङ्का उठायी थी कि खड़ी बोली हिन्दी की उत्पत्ति अपभ्रंश-विशेष से और उस (अपभ्रंश) की उत्पत्ति प्राकृत-विशेष से बतलायी गयी है, किन्तु क्या कारण है कि एक ओर अपभ्रंश तथा प्राकृत के समस्त उपलब्ध साहित्य में, साथ ही खड़ी बोली हिन्दी से इतर अन्य आधुनिक

आर्य-भाषाओं में भी सर्वत्र तिङन्त क्रियाओं का प्राधान्य है, जिनमें कर्त्ता या कर्म के अनुसार लिङ्ग-भेद नहीं होता; दूसरी ओर खड़ी बोली हिन्दी में केवल सामान्य क्रिया 'है' तथा अन्यान्य क्रियाओं के आज्ञा, विधि आदि रूपों को छोड़कर, सर्वत्र कृदन्त क्रियाओं की प्रधानता है, जिनमें कर्त्ता या कर्म के अनुसार लिङ्ग-भेद होता है ? खड़ीबोली हिन्दी की कृदन्त क्रियाओं के समानान्तर रूप अपभ्रंश एवं प्राकृत के उपलब्ध साहित्य में क्यों नहीं मिलते, जबकि संस्कृत में तिङन्त और कृदन्त दोनों ही रूप मिलते हैं ?

वाजपेयी जी की उपर्युक्त शङ्का स्वाभाविक एवं समीचीन थी, किन्तु इसका समाधान भी बहुत सहज था, जिसकी ओर उस समय सम्भवतः उनका ध्यान नहीं जा सका था। वास्तव में खड़ीबोली हिन्दी के पूर्वस्रोत से सम्बन्ध रखनेवाली अपभ्रंश तथा प्राकृत या तो अन्य अपभ्रंशों और प्राकृतों के समान इतनी समुन्नत नहीं थीं कि उनमें साहित्य लिखा जाता या उनमें जो साहित्य लिखा गया, वह अविज्ञात कारणों से सम्भवतः नष्ट हो गया। जिन अपभ्रंश या प्राकृत भाषाओं का साहित्य उपलब्ध है, वे खड़ीबोली से भिन्न उन अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं के पूर्वस्रोत से सम्बद्ध भाषाएँ थीं, जिनमें क्रियाओं के तिङन्त रूप की ही प्रधानता है। ऐसी स्थिति में, उनमें खड़ीबोली की क्रियाओं के कृदन्त रूप के समानान्तर रूप का नहीं पाया जाना, कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

संस्कृत में तिङन्त और कृदन्त दोनों प्रकार की क्रियाओं की उपस्थिति से इस बात की स्पष्ट सूचना मिलती है कि प्राचीन युग में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जो प्राकृत या लोकभाषाएँ प्रचलित रही होंगी, उनमें से कुछ तिङन्त क्रियाओं की और कुछ में कृदन्त क्रियाओं की प्रधानता रही होगी। कालान्तर में तिङन्त क्रियाओं की प्रधानता रखनेवाली भाषाओं में जो साहित्य लिखा गया; वह सौभाग्य से आज भी उपलब्ध है, जिसके आधार पर आधुनिक तिङन्त प्रधान भाषाओं के पूर्वस्रोतों का परिचय सहज ही प्राप्त हो जाता है; किन्तु कृदन्त प्रधान प्राकृत तथा तज्जन्य अपभ्रंश में साहित्य नहीं लिखे जाने के कारण या लिखित साहित्य के दैवदुर्विपाक से नष्ट हो जाने के कारण, आधुनिक कृदन्त प्रधान भाषाओं के पूर्वस्रोत का प्रामाणिक परिचय प्राप्त करने का कोई साधन ही नहीं बच गया है। खड़ी बोली हिन्दी ऐसी ही भाषाओं में से एक है, इसलिए इसके पूर्वस्रोत के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ बता सकना

असम्भव है। इसकी इस स्थिति का सम्यक् ज्ञान नहीं रहने के कारण ही कुछ विद्वानों ने भ्रमवश इसका सम्बन्ध शौरसेनी से तथा कुछ ने पैशाची आदि से जोड़ने का असफल प्रयत्न किया है।

उपर्युक्त विवेचन से वाजपेयी जी की शङ्का का समाधान तो हो ही जाता है, साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत और खड़ी बोली को परस्पर जोड़नेवाले मध्यवर्त्ती स्रोत का पता नहीं होने के कारण खड़ी बोली की पूर्व परम्परा में सबसे निकटवर्त्ती ज्ञात भाषा संस्कृत ही है। ऐसी स्थिति में खड़ी बोली की कृदन्त क्रियाओं के ऐतिहासिक विवेचन के लिए, संस्कृत की कृदन्त क्रियाओं के अतिरिक्त और कोई दूसरा आधार सम्भव ही नहीं है। इसीलिए वाजपेयी जी ने भी अपने ग्रन्थ में संस्कृत के आधार पर ही इसका विवेचन किया था, जो सर्वथा उपयुक्त था।

दूसरे अध्याय में उन्होंने हिन्दी की संज्ञा-विभक्तियों पर प्रकाश डाला था। कर्त्ता के 'ने' चिह्न के प्रयोग तथा व्युत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "ने विभक्ति हिन्दी में केवल कर्ताकारक में लगती है; जबकि क्रिया भूतकाल में हो; कर्मवाच्य या भाववाच्य प्रयोग हो। हिन्दी में भूतकाल की क्रिया कृदंन्त है। संस्कृत में कृदन्त भूतकालिक क्रिया जब कर्मवाच्य या भाववाच्य होती है, तब कर्ता में तीसरी विभक्ति लगती है। संज्ञा में सबसे पहला स्थान है अकारान्त का, 'अ' प्रथम स्वर है न! संस्कृत में ऐसी संज्ञा के एकवचन में 'बालकेन' जैसे रूप को हिन्दी ने देखा और इसके 'एन' को निकाल कर 'वर्णव्यत्यय' से 'ने' बना लिया। इस 'ने' का प्रयोग भी कर्ता कारक में ठीक उसी जगह होता है, जहाँ संस्कृत में भूतकालिक कृदन्त क्रिया होने पर, कर्त्ता कारक में वह 'एन'।"[१] जैसे बालकेन ग्रन्थः पठितः—बालक ने ग्रन्थ पढ़ा। बालकेन संहिता पठिता—बालक ने संहिता पढ़ी आदि। जहाँ संस्कृत के कृदन्त भूतकाल में तृतीया नहीं लगती, हिन्दी भी वहाँ 'ने' नहीं लगाती है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही वाजपेयी जी ने 'ओं' विकरण की चर्चा करते हुए उसका परिचय इस प्रकार दिया था—"संज्ञा या सर्वनाम से परे जब कोई विभक्ति आती है और बहुवचन प्रयोग करना होता है, तब बीच में यह 'ओं' विकरण आता है।"[२] 'विकरण' से उनका तात्पर्य, संस्कृत वैयाकरणों के समान

१. कि० दा० वा०, 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण', पृ० १०–११।
२. उपरिवत्, पृ० १५।

ही प्रकृति और प्रत्यय के बीच में आने वाले शब्दांश से था। इस दृष्टि से हिन्दी संज्ञाओं के बहुवचन रूपों के अन्त में विभक्तियों (परसर्गों) के पूर्व आने वाले 'ओं' को विकरण मानना कहाँ तक तर्कसम्मत है; यह एक विवादग्रस्त विषय है। किन्तु, यदि वाजपेयी जी का समर्थन करते हुए 'ओं' को विकरण मान भी लिया जाय, तो प्रश्न उठता है कि आकारान्त संज्ञाओं के एकवचन रूपों के अन्त में विभक्ति (परसर्ग) से पूर्व आने वाले 'ए' को विकरण नहीं मानने में क्या तुक है? वाजपेयी जी ने 'ओं' की चर्चा तो विकरण के रूप में की थी, किंतु 'ए' की नहीं।

इस प्रसङ्ग में वाजपेयी जी से दूसरी भूल यह हुई थी कि उन्होंने भिन्न-भिन्न 'अन्त' वाली संज्ञाओं के सविभक्तिक बहुवचन में 'ओं' को मिलाने के लिए जो नियम दिये थे उन पर सूक्ष्मता से विचार नहीं किया था। उन्होंने भ्रम से यह समझ लिया था कि 'ओं' संज्ञा के एकवचन रूप में जुड़ता है, इसलिए भिन्न-भिन्न अन्त वाली संज्ञाओं के लिए उन्हें अलग-अलग अनेक नियम बनाने पड़े थे; जैसे, अकारान्त तथा आकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञाओं के अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है और तब वह स्वर रहित व्यञ्जन 'ओं' से जा मिलता है"; "इकारान्त और ईकारान्त संज्ञाओं के अन्त्य स्वर का 'इय्' और उकारान्त तथा ऊकारान्त के अन्त्य स्वर का 'उव्' हो जाता है और 'ओं' में 'व्' स्पष्ट श्रुत न होने के कारण लुप्त हो जाता है" तथा "संस्कृत के तत्सम आकारान्त शब्द 'ओं' विकरण आने पर ज्यों के त्यों रहते हैं" आदि। इन नियमों की राशि से विषय का विवेचन स्पष्ट होने की अपेक्षा और अधिक जटिल बन गया था।

इस सम्बन्ध में वास्तविकता केवल इतनी है कि कारक-चिह्न का प्रयोग होने पर संज्ञाओं के मूल बहुवचन रूप के अन्त्य स्वर के स्थान पर 'ओं' आदेश हो जाता है; किन्तु जिन संज्ञाओं के एकवचन और बहुवचन रूप समान ही रहते हैं, उनके अन्त्य स्वर दीर्घ रहने पर ह्रस्व हो जाते हैं और आगे 'ओं' जुड़ जाता है। तत्सम आकारान्त शब्दों में अन्त्य स्वर ज्यों-का-त्यों रहता है और आगे 'ओं' जुड़ जाता है। इतनी सी बात को स्पष्ट करने के लिए वाजपेयी जी ने जो अनेक टेढ़े-मेढ़े नियम बनाये थे, उनको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय पर उन्होंने यथोचित सूक्ष्मता से विचार नहीं किया था।

वाजपेयी जी ने भिन्न-भिन्न कारक-चिह्नों के परस्थानीय प्रयोगों का जो विवेचन किया था, उसमें भी असावधानी या भ्रम के कारण पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के अनेक दोषों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया था। ऐसे दोषों में सर्वाधिक उल्लेखनीय है 'को' को सम्प्रदान कारक का चिह्न मानना। हिन्दी के सभी वैयाकरणों ने संस्कृत के 'दाने सम्प्रदानम्' का अन्धानुकरण करते हुए हिन्दी में 'देना' क्रिया के साथ आने वाले प्राणिवाचक कर्म को सम्प्रदान कारक मान लिया है। इस सम्बन्ध में किसी ने भी स्वतन्त्र और तटस्थ दृष्टि से कुछ सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझी है। हिन्दी को बार-बार संस्कृत से स्वतन्त्र तथा एक नितान्त वैज्ञानिक भाषा घोषित करने वाले वाजपेयी जी भी इस सम्बन्ध में पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के चक्कर में पड़ गये और बिना सोच-विचार किये ही उन्होंने भी लिख दिया कि "सम्प्रदान में भी 'को' का प्रयोग होता है और आवश्यक रूप से होता है—(१) राम को मा ने दूध दिया। (२) हम सबको ईश्वर ने विवेक-बुद्धि दी है। (३) बच्चों को फल अवश्य देने चाहिए। सर्वत्र सम्प्रदान में 'को' का प्रयोग है। ऐसी जगह यदि कर्म में भी 'को' का प्रयोग हो, तो अच्छा न लगेगा।"[१] यहाँ सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं भी सम्प्रदान कारक का प्रयोग नहीं हुआ है। उनमें सम्प्रदान के स्थान रिक्त हैं और यदि हम उन रिक्त स्थानों की पूर्त्ति करें, तो उनका रूप क्रमशः इस प्रकार होगा—राम को मा ने पीने के लिए दूध दिया, हम सबको ईश्वर ने सोचने-समझने के लिए विवेक-बुद्धि दी है और बच्चों को स्वास्थ्य के लिए फल अवश्य देने चाहिए। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'राम को', 'हम सबको' और 'बच्चों को' प्राणिवाचक गौण कर्म हैं और 'दूध', 'विवेक-बुद्धि' तथा 'फल' अप्राणिवाचक मुख्य कर्म हैं। वाजपेयी जी ने अन्य वैयाकरणों की तरह प्राणिवाचक गौण कर्म को भ्रमवश सम्प्रदान मान लिया।

हिन्दी वैयाकरणों के उपर्युक्त भ्रम के मूल में कई कारण हैं। पहला कारण तो संस्कृत व्याकरण का अन्धानुकरण है, जिसकी ओर ऊपर भी सङ्केत किया जा चुका है। संस्कृत में दान के अर्थ में सम्प्रदान का प्रयोग होता है, जिसे हिन्दी के वैयाकरणों ने 'देना' के अर्थ में ही सत्य मान लिया। 'देना' क्रिया द्विकर्मक है, इसीलिए उसके साथ दो कर्म रहेंगे ही, जिनमें से प्राणिवाचक

१. कि० दा० वा०, 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण', पृ० १२१

गौण कर्म के साथ 'को' का प्रयोग होगा और अप्राणिवाचक मुख्य कर्म के साथ शून्य का, अर्थात् कारक-चिह्न नहीं रहेगा। ऐसी स्पष्ट स्थिति में अकारण संस्कृत व्याकरण के नियम को जबरन घसीट कर ले आना तथा विभक्तियुक्त गौण कर्म को सम्प्रदान सिद्ध करना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

वैयाकरणों के उपर्युक्त भ्रम का दूसरा कारण है कर्म के 'को' चिह्न के प्रयोग के स्पष्ट नियम का अज्ञान। हिन्दी में कर्म के 'को' चिह्न की यह विशेषता है कि वह प्रायः प्राणिवाचक कर्म के ही साथ आता है। इसके विपरीत, जहाँ कहीं वह अप्राणिवाचक शब्द के साथ प्रयुक्त होता है, वहाँ वह कर्म का चिह्न न रह कर किसी अन्य कारक के चिह्न का प्रतिनिधित्व करता है या वह प्रयोग ही भाषा की प्रवृत्ति के विरुद्ध होता है। वाजपेयी जी ने अधिकरण कारक में 'को' के प्रयोग के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें प्रारम्भिक तीन ऐसे ही हैं, जिनमें 'को' अप्राणिवाचक शब्द के साथ प्रयुक्त होने के कारण कर्म का चिह्न नहीं रह कर अधिकरण का चिह्न बन गया है; जैसे—'रात को आठ बजे सभा होगी, ता० १६ को हम लखनऊ पहुँचेंगे, सन्ध्या को सात बजे आना।'[1] किन्तु, प्राणिवाचक शब्द के साथ जहाँ कहीं भी 'को' आता है, वह कर्म कारक ही होता है। इस दृष्टि से वाजपेयी जी के द्वारा दिये गये अधिकरण में 'को' के प्रयोग के ये निम्नलिखित उदाहरण किसी भी प्रकार अधिकरण के उदाहरण नहीं कहे जा सकते; जैसे—'राम को भूख लगी है, लड़कियों को प्यास लगी है, तुमको क्रोध आ गया, बच्चे को दस्त आ रहे हैं।' इन उदाहरणों में 'राम को', 'लड़कियों को', 'तुमको' और 'बच्चे को' कर्म कारक हैं, अधिकरण नहीं; जैसा कि वाजपेयी जी ने माना है, क्योंकि ये सब-के-सब क्रिया के फल के भोक्ता या आधार हैं, क्रिया के आधार नहीं। इन उदाहरणों में अधिकरण के स्थान रिक्त ही पड़े हैं और यदि उनकी पूर्त्ति की जाय, तो इनके रूप इस प्रकार हो सकते हैं—राम को जङ्गल में (या पेट में या घर पर आदि) भूख लगी है। लड़कियों को पाठशाला में (या ट्रेन में आदि) प्यास लगी है, तुमको वहाँ पर (या मुझ पर आदि) क्रोध आ गया, बच्चे को घर पर (या धोती में आदि) दस्त आ रहे हैं। इन वाक्यों के साथ वाजपेयी जी के वाक्यों को मिला कर देखने से यह स्वतः स्पष्ट हो जायगा कि उन्होंने जिसे अधिकरण में प्रयुक्त 'को' माना था, वह

१. कि० दा० वा०, 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण', पृ० [illegible]।

वस्तुतः कर्म में प्रयुक्त हुआ है। इससे सिद्ध है कि प्राणिवाचक शब्द के साथ आने पर 'को' सदा कर्म का ही चिह्न रहता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी वाक्य में यदि दो प्राणिवाचक कर्म आते हैं, तो 'को' प्रथम गौण कर्म के साथ आता है और मुख्य कर्म के आगे कोई चिह्न नहीं आता; जैसे—जनक ने राम को अपनी पुत्री दी।

हिन्दी संज्ञाओं में कारक-चिह्न हटा कर लिखे जाते हैं, इस कारण वाजपेयी जी ने उन्हें 'विशिष्ट विभक्तियाँ' कहा था। इसके पश्चात् उन्होंने 'हिन्दी की संश्लिष्ट विभक्तियाँ' नामक एक प्रकरण लिखा था, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि 'हिन्दी की तीन-चार संश्लिष्ट विभक्तियाँ भी हैं, जिनकी ओर सहसा ध्यान ही नहीं जाता। व्याकरणकारों ने भी ध्यान नहीं दिया है।'[१] इस प्रकरण के अन्तर्गत उन्होंने सर्वप्रथम स्त्री० संज्ञाओं के मूल निर्विभक्तिक बहुवचन में प्रयुक्त होने वाले 'एँ' और 'आँ' की चर्चा करते हुए लिखा था कि 'ध्यान रखना चाहिए कि यह 'एँ'—'आँ' हिन्दी की प्रथमा विभक्ति ही हैं, जो बहुवचन में केवल स्त्रीलिङ्ग में ही लगती हैं।' किन्तु, इन वचन-सूचक प्रत्ययों को विभक्ति मानना तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि हिन्दी में वचन सूचक प्रत्ययों से कारक की सूचना नहीं मिलती। उसके लिए वचन सूचक प्रत्ययों के बाद परसर्ग आते हैं, जिनके रूप प्रत्यक्ष (यथा—ने, को आदि) या अप्रत्यक्ष (शून्य), दोनों होते हैं।

वाजपेयी जी ने हिन्दी आकारान्त संज्ञाओं के अन्त्य स्वर 'आ' को हिन्दी की पुं० विभक्ति मानते हुए उसका विकास संस्कृत की प्रथमा एकवचन के विसग से सिद्ध करने का विलक्षण, किन्तु असफल प्रयास किया था। वास्तव में वह 'आ' न तो विभक्ति है और न उसका विकास ही उस विसर्ग से हुआ है। यदि विसर्ग से 'आ' का विकास हुआ रहता, तो हिन्दी के तद्भव पुल्लिग शब्दों में सभी शब्द आकारान्त ही होते, लेकिन यथार्थ स्थिति इससे भिन्न है। इस प्रकार, वाजपेयी जी ने जिन प्रत्ययों को संश्लिष्ट विभक्ति सिद्ध करने का प्रयास किया था, उन्हें विभक्ति मानने में बहुत सारी अड़चनें सामने आती हैं।

वाजपेयी जी ने लिङ्ग के अर्थ में 'व्यक्ति' शब्द का प्रयोग करते हुए उसकी पुष्टि में साहित्य दर्पणकार पं० विश्वनाथ के मत (व्यक्तिः स्त्रीपुन्न-पुंसकादिः) का उल्लेख किया था। किन्तु, हिन्दी में 'लिङ्ग' शब्द का प्रचार

१. कि० दा० वा०, राष्ट्रभाषा की प्रथम व्याकरण, पृ० ३३।

इतना अधिक है कि उसकी जगह कोई दूसरा पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त करना व्यर्थ की उलझन बढ़ाना ही माना जायगा। इसके अतिरिक्त, साहित्य के पारिभाषिक शब्द को व्याकरण का पारिभाषिक शब्द बनाना समीचीन भी नहीं है।

इसके पश्चात् वाजपेयी जी ने विस्तारपूर्वक यह समझाया था कि संस्कृत के स्त्री० और पु० शब्द क्रमशः, हिन्दी में भी प्रायः स्त्री० एवं पु० होते हैं तथा नपुंसक शब्द अधिकांशतः पु० होते हैं। इस प्रसङ्ग में उन्होंने कुछ अपवादों की भी चर्चा की थी। फिर पु० से स्त्री० बनाने के नियमों तथा प्रत्ययों की चर्चा की थी।

तृतीय अध्याय में सर्वनाम और विशेषण का विवेचन किया गया था। वाजपेयी जी ने सर्वनाम और क्रियापद को भाषा का प्राण बताते हुए यह स्पष्ट किया था कि ये दोनों सभी भाषाओं में सदा अपने रहते हैं। "हिन्दी में अपने सर्वनाम हैं और उनके रूप स्त्रीलिंग पुल्लिंग में समान ही रहते हैं।"[1]

विशेषण के प्रसङ्ग में उन्होंने यह बताया था कि हिन्दी में विशेषण के साथ अलग विभक्ति लगाने का बखेड़ा नहीं है। किन्तु, आकारान्त विशेषणों में विशेष्य के लिङ्ग-वचन के अनुसार विकार होता है।

चतुर्थ अध्याय में अव्यय की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा था कि "हिन्दी में कुछ तो अपने अव्यय हैं और कुछ संस्कृत से भी लिये हुए (तत्सम या तद्भव) चलते हैं। परन्तु, जिस अर्थ को देनेवाला अव्यय हिन्दी में अपना है, उस अर्थ को प्रकट करने के लिए किसी अन्य भाषा का कोई अव्यय प्रायः नहीं लिया जाता।"[2] किन्तु बात ऐसी नहीं है। हिन्दी में एक अर्थ देनेवाले कई-कई अव्यय पाये जाते हैं, जो भिन्न-भिन्न भाषाओं से गृहीत हैं, जबकि उन अर्थों के अपने अव्यय भी हिन्दी में हैं; जैसे, जो—यदि—गरचे—अगर, तोभी—तथापि आदि। इस तरह के उदाहरण स्वयं वाजपेयी जी ने भी दिये थे, जिनसे उनकी उपर्युक्त स्थापना की निस्सारता स्वतः सिद्ध हो जाती थी।

वाजपेयी जी ने उन पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की कटु आलोचना की थी, जिन लोगों ने अव्यय-मात्र को क्रियाविशेषण माना था। उन्होंने इस भ्रम को अँगरेजी

---

१. कि० दा० वा०, 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण', पृ० ६४।

२. उपरिवत्, पृ० ७१।

के अन्धानुकरण का परिणाम बताया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि "अंग्रेजी में अव्यय के लिए कदाचित् कोई शब्द है ही नहीं और इसी कारण उसके लिए 'ऐडवर्ब' शब्द का ही प्रयोग 'उपादान लक्षणा' (अजहत्स्वार्था लक्षणा) से होता है। वहाँ कुछ ऐसे अव्यय होंगे, जिनसे क्रियागत विशेषता प्रकट होती होगी। इसलिए, उन्हें 'ऐडवर्ब' कहा गया, 'ऐडजेक्टिव' के ढङ्ग पर। परन्तु, चूँकि वे 'ऐडवर्ब' अव्यय-जातीय थे; इसलिए वैसे सभी शब्दों को 'ऐडवर्ब' कहने की चाल पड़ गयी होगी। अपने यहाँ व्याकरण में 'अव्यय' शब्द पृथक् है। इसलिए 'ऐडवर्ब' की नकल पर सभी अव्ययों को 'क्रियाविशेषण' कहना ठीक नहीं। जो अव्यय क्रिया की विशेषता प्रकट करें, वे ही 'क्रियाविशेषण' कहलायेंगे; सब नहीं।"[1]

वाजपेयी जी के उपर्युक्त मत का यह अंश तो बिलकुल सही है कि हिन्दी में अव्यय केवल क्रियाविशेषण का ही कार्य नहीं करते कि हम अव्यय-मात्र को क्रियाविशेषण कहें; किन्तु, उनका यह कहना कि अँगरेजी में अव्यय का कोई पर्याय नहीं है या कि उसमें सब अव्यय 'ऐडवर्ब' ही कहे जाते हैं, ठीक नहीं है। अँगरेजी में भी अव्यय शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं, साथ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने वाले अव्ययों के नाम भी अलग-अलग हैं। केवल 'ऐडवर्ब' से ही सभी अव्ययों का बोध वहाँ भी नहीं होता।

पाँचवें अध्याय में 'क्रियाप्रकरण' के प्रारम्भ में वाजपेयी जी ने प्रायः उन्हीं बातों को दुहराया था, जिनकी ओर वे इस ग्रन्थ की तथा 'व्रजभाषा-व्याकरण' की भूमिका में सङ्केत कर चुके थे। क्रिया-विवेचन की उलझन का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "कोई व्याकरण अंग्रेजी के आधार पर लिखा गया है और कोई संस्कृत के आधार पर। हिन्दी के आधार पर हिन्दी का व्याकरण बना ही नहीं। तब उलझन तो होगी ही।"[2] उनके इस कथन में सत्य का पर्याप्त अंश वर्त्तमान था। वास्तव में, हिन्दी-व्याकरण की अधिकांश उलझनों के मूल में वे ही कारण थे, जिनकी ओर वाजपेयी जी ने सङ्केत किया था।

इसके पश्चात् उन्होंने हिन्दी क्रियाओं के तिङन्त एवं कृदन्त रूपों को स्पष्ट करते हुए वाक्यों के स्वरूप पर सम्यक् रूप से प्रकाश डाला था जैसा कि

---

१. कि० दा० वा०, 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण', पृ० ७४।

२. उपरिवत्, पृ० ८३।

'व्रजभाषा का व्याकरण' की भूमिका में वे पहले भी कर चुके थे। इसी प्रकार ग्रन्थ के छठे अध्याय से बारहवें अध्याय तक क्रमशः संयुक्त क्रियाएँ, 'प्रेरणा' के रूप, 'कर्म-कर्त्तृ' प्रकरण, नामधातु, पूर्वकालिक तथा क्रियार्थक क्रिया, कृदन्त प्रकरण तथा सन्धिप्रकरण थे, जिनमें उन्होंने प्रायः 'व्रजभाषा का व्याकरण' की भूमिका में व्यक्त किये गये तथ्यों को ही कुछ अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया था। आगे चलकर उन्होंने उपर्युक्त सभी विषयों का अपने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में और अधिक व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया, जिनकी चर्चा यथास्थान आगे की जायगी। यहाँ आवृत्ति से बचने के लिए उनकी ओर सङ्केतमात्र किया गया है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि वाजपेयी जी का 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' हिन्दी का प्रथम व्याकरण नहीं है और न वाजपेयी जी हिन्दी के प्रथम वैयाकरण, किन्तु इतना स्वीकार करना ही होगा कि वाजपेयी जी ऐसे पहले व्याकरणकार थे, जिन्होंने हिन्दी का व्याकरण सिद्धान्ततः संस्कृत और अँगरेजी के आधार पर नहीं लिखकर, हिन्दी के आधार पर लिखने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उन्हें यदि हिन्दी का प्रथम वैयाकरण कहा जाय तो सम्भवतः अनुचित नहीं होगा। वाजपेयी जी ने इसी तथ्य की प्रच्छन्न सूचना देने के लिए ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया था—

इन्द्रादयोऽपि गीर्वाण्याः, व्याकरणे कृतकौशलाः।
तथापि पाणिनीयं हि प्रथमं व्याकरणं स्मृतम्॥

उपर्युक्त ग्रन्थ के बाद वि० सं० २००६ (सन् १९४९ ई०) में 'जनवाणी प्रकाशन' से वाजपेयी जी का 'हिन्दी निरुक्त' प्रकाशित हुआ। इसमें शब्दों के विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने हिन्दी के अनेक शब्दों के विकास-क्रम को अपने ढङ्ग से स्पष्ट करने का प्रयास किया था। प्रथम अध्याय में ग्रन्थ के विषय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि "निरुक्त शास्त्र में भाषा के विकास पर विचार किया जाता है। जीवित या प्रचलित भाषा में परिवर्तन हुआ करता है। देश, काल तथा पात्र के भेद से शब्दों के उच्चारण में अन्तर आया करता है; क्योंकि उच्चारण-यंत्रों की भिन्नरूपता शब्दों की स्वरूप-भिन्नता में कारण है। हमलोग जिस सिक्के को 'पैसा' कहते हैं, उसी को पंजाब में 'पैहा' कहते हैं। स्पष्ट है कि 'पैसा' से 'पैहा' भिन्न शब्द नहीं है; फिर भी भिन्न है, स्वरूप-भेद है। अँगरेजों के देश में जो प्रतिष्ठा-सूचक शब्द

'सर' है, वह हमारे 'श्री' शब्द का ही घिसा-घिसाया रूपान्तर हो, तो क्या अचरज की बात है ? वैसे 'सर' हमारे यहाँ भी बहुत पहले से है, जो पंचों में 'सरपंच' से स्पष्ट है। वही 'सर' जर्मनी में जाकर 'हर' हो गया। हमारे देश का 'सन्त' ईरान में 'हन्त' हो जाता है और हमारा 'सम' वहाँ 'हम' बन जाता है। एक ही देश में और एक ही काल में भी, एक ही भाषा के एक शब्द में अनेकरूपता हम देख सकते हैं। संस्कृत का 'दश' हिन्दी में 'दस' बन गया और यही 'दस' फिर 'दहाई' तथा 'दहले' में अपने 'स' को 'ह' बनाये हुए है। काल-भेद से भी भाषा में इसी तरह परिवर्तन होता है। जिस शब्द को हम पहले 'पृष्ठ' बोलते थे, उसे हिन्दी में आज 'पीठ' बोलते हैं। देश, काल तथा ऐसे ही अन्य कारणों से शब्द में जो परिवर्तन होता है, अर्थ में जो विकास होता है, उसी के विचार को 'निरुक्त' कहते हैं। पात्र-भेद से जो शब्द-भेद होता है, उस पर यहाँ विचार नहीं होता। छोटा बच्चा 'सब' को 'छब' कहता है और 'रोटी' को 'लोती' कहता है, पर यह शब्द-भेद भाषा-विकास नहीं कहला सकता और इसीलिए निरुक्त में इस श्रेणी के शब्दों पर विचार नहीं किया जाता। कारण, वह उच्चारण-भेद स्थायी नहीं है। संक्षेप यह कि देश, काल या प्रयोग-भेद से शब्दों के रूप में या अर्थ में जो विकास होता है, वही निरुक्त शास्त्र का अभिधेय है।

शब्द का परिवर्तन मुख्यतः चार तरह से हो सकता है—(१) वर्ण का आगम, (२) वर्ण का विपर्यय या व्यत्यय, (३) वर्ण का विकार, (४) वर्ण का नाश या लोप। सो, चार तरह का शब्द-परिवर्तन और पाँचवाँ अर्थ-परिवर्तन निरुक्त शास्त्र में विचारणीय है। इसी को पूर्वाचार्यों ने संक्षेप में कह दिया है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौचापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगः तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥[1]

पुस्तक के शेष अध्यायों में उपर्युक्त प्रकारों को एक-एक कर स्पष्ट करते हुए हिन्दी के अनेक शब्दों के विकास-क्रम का परिचय दिया गया था। विषय-विवेचन में मुख्यतः संस्कृत के प्राचीन भाषाशास्त्रियों के द्वारा स्थापित सिद्धान्तों को ही आधार बनाया गया था। भाषाशास्त्र के आधुनिक

---

१. कि० दा० वा०, हिन्दी निरुक्त, पृ० १-३।

अनुसन्धानों की स्थापनाओं से प्रायः अपरिचित होने के कारण वाजपेयी जी ने अनेक स्थलों पर ऐसी बातें भी लिख दी थीं, जिनके सम्बन्ध में आधुनिक धारणाओं में अन्तर आ गया है। उदारणार्थ; अक्षर के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि 'अक्षर शब्द का वह अंश, जिसके टुकड़े न हो सकें।'[१] इसी प्रकार वर्गीय द्वितीय तथा चतुर्थ महाप्राण व्यञ्जनों को उन्होंने संयुक्त व्यञ्जन कहा था।[२] 'हिन्दी की 'का' विभक्ति पंजाबी की 'दा' विभक्ति का ही रूपान्तर है—क् को द् वर्ण-विकार।'[३] आदि। किन्तु, इन कुछेक दोषों के रहते हुए भी, पुस्तक में हिन्दी-शब्दों के निर्वचन के प्रसङ्ग में अनेक ऐसे तथ्यों का भी उद्घाटन किया गया था, जिनकी ओर पहले के विद्वानों का ध्यान नहीं जा सका था।

हिन्दी-शब्दानुशासन :

वाजपेयी जी का यह अभिनव पाण्डित्यपूर्ण व्याकरण वि० सं० २०१४ (सन् १९५८ ई०) में नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। गुरु जी के 'हिन्दी-व्याकरण' की तरह ही वाजपेयी जी के इस व्याकरण की रचना तथा प्रकाशन का भी अपना एक उल्लेख्य इतिहास है, जिस पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाल देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

यों तो, वाजपेयी जी सन् १९२३-२४ ई० से ही हिन्दी-भाषा और व्याकरण की एकान्त साधना और निःस्वार्थ सेवा करते आ रहे थे, जिसके फलस्वरूप उनसे हिन्दी-जगत् को एतद्विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्धादि के अतिरिक्त कई अनुपम उपादेय पुस्तकों की भी प्राप्ति हुई थी, जिनका संक्षिप्त परिचय पहले दिया चुका है; किन्तु, अनुकूल अवसर तथा यथेष्ट साधन के अभाव में, वे उस समय तक, अपने व्यापक पाण्डित्य तथा अद्भुत् सूक्ष्मेक्षिका के अनुरूप किसी बृहत् ग्रन्थ की रचना, इच्छा रखते हुए भी, नहीं कर पाये थे। इसी बीच (सन् १९५४ ई०) में सौभाग्य से पण्डितश्रोत्रिय राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि उनकी कृतियों पर पड़ी। वे वाजपेयी जी के पाण्डित्य तथा विलक्षण सूझ-बूझ से अतिशय प्रभावित हुए, साथ ही उनकी दैन्यस्थिति से दुखी भी।

१. कि० दा० वा०, 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण', पृ० ९।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्, पृ० ५७।

फलतः, उन्होंने तुरत 'आचार्य किशोरीदास वाजपेयी' शीर्षक एक प्रभावशाली परिचयात्मक निबन्ध लिख कर कलकत्ता के 'नया समाज' में प्रकाशित कराया, जिसका कुछ अंश नीचे उद्धृत है।

"आज की दुनिया में कितना अन्धेर है, विशेषकर हमारे देश का सांस्कृतिक तल कितना नीचा है, इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण हमें पण्डित किशोरीदास वाजपेयी के साथ हुए और हो रहे बर्ताव से मालूम होता है। प्रतिभाएँ सभी क्षेत्रों में एवरेस्ट-शिखर नहीं होतीं; परन्तु जब किसी क्षेत्र में किसी पुरुष का उत्कर्ष साबित हो गया, तो उसकी कदर करना और उससे काम लेना समाज का कर्त्तव्य है। आज बहुत थोड़े लोग हैं, जो पं० किशोरी दास जी को समझते हैं। उनमें भी बहुतेरे उनके अक्खड़ स्वभाव या अपनी ईर्ष्या से नहीं चाहते कि लोग इस अनमोल हीरे को समझें, इनकी कदर करें। इसका परिणाम यह हो रहा है कि हिन्दी उनकी सर्वोच्च देनों द्वारा परिपूर्ण होने से वंचित हो रही है। यह सभी जानते हैं कि पुराने अकाट्य नियमों का भी प्रयोग नई परिस्थिति में करना साधारण आदमी का काम नहीं है। पर वाजपेयी जी केवल पुराणों की देनों से ही सन्तुष्ट रहने वाले पुरुष नहीं हैं। 'अवधी' के वे सुपुत्र हैं तथा 'व्रज' और 'कौरवी' की भूमि में चिर और एकान्त निवास के समय उन्होंने जन-मुख से निकले शब्दों को साधारण श्रोता के तौर पर नहीं सुना। उनके मनन का ही परिणाम है कि वे हिन्दी के शब्दों की सात पीढ़ी तक की नब्ज पहचानते हैं। पुराने शास्त्रवाक्यों और आज की जीवित शब्द-राशि की सहायता के बिना हिन्दी का व्याकरण और निरुक्त पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं हो सकते। व्याकरण और निरुक्त दोनों ही बड़े नीरस विषय हैं; पर वाजपेयी जी के हाथों में पहुँच कर वे कितने रोचक हो जाते हैं, इसे उनके ग्रन्थों को पढ़ने वाले भली भाँति जानते हैं। क्या यह दुनिया एक क्षण के लिए भी बर्दाश्त करने लायक है, जिसमें अनमोल प्रतिभाओं को काम करने का अवसर न मिले और ऐरेगैरे-नत्थूखैरे गुलछर्रे उड़ाते राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मंच पर अपना नाच दिखलाएँ ?"[1]

राहुल जी के उपर्युक्त निबन्ध की, हिन्दी-जगत् पर, अपेक्षित प्रतिक्रिया हुई। डॉ० अमरनाथ झा ने, जो उन दिनों ना० प्र० सभा, वाराणसी के सभापति थे, उस लेख से प्रभावित होकर सभा की प्रबन्ध-समिति को तुरत

१. 'नया समाज', कलकत्ता, सन् १९[illegible] ई०।

यह सुझाव दिया कि पं० किशोरीदास वाजपेयी से 'हिन्दी-शब्दसागर' के संशोधन अथवा व्याकरण-निर्माण का कार्य लिया जाय । फलतः, २४ सितम्बर, सन् १९५४ ई० को सभा की साहित्योपसमिति ने वाजपेयी जी से 'एक सुविचारित योजनानुसार हिन्दी-व्याकरण-निर्माण' कराने का निश्चय किया । प्रस्तावित व्याकरण की सामान्य रूप-रेखा का निर्धारण करने के लिए एक मण्डल सङ्घटित किया गया, जिसके सदस्य श्रीकृष्णानन्द, श्री करुणापति त्रिपाठी, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी और श्री चन्द्रदली पाण्डेय मनोनीत हुए । श्री करुणापति त्रिपाठी संयोजक बनाये गये । १५ अक्टूबर, सन् १९५४ ई० को सभा के व्याकरण-योजना-मण्डल ने निम्नाङ्कित तीन प्रस्ताव रखे :—(१) श्री पं० किशोरीदास वाजपेयी को सूचित किया जाय कि प्रस्तावित व्याकरण लगभग ६०० पृष्ठों (डबल डिमाई सोलहपेजी) का हो । (२) यह व्याकरण हिन्दी के आधुनिक स्वरूप और उनकी प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए संस्कृत का आवश्यक आधार ग्रहण करके आधुनिक पद्धति पर लिखा जाय । यदि इस विषय की कोई योजना उन्होंने बनाई हो, तो उसे विचारार्थ मँगा लिया जाय । इस बीच वे अपना लेखन-कार्य चालू रखें । (३) व्याकरण में जो उदाहरण दिये जायँ, वे हिन्दी के मान्य लेखकों के ग्रन्थों से ही लिये जायँ ।"[१]

'व्याकरण-परामर्श-मण्डल' में कुल दस सदस्य मनोनीत किये गये—श्री करुणापति त्रिपाठी (संयोजक), श्री कृष्णानन्द, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री चन्द्रबली पाण्डेय, डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, श्री काका कालेलकर, पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, श्री राहुल सांकृत्यायन और श्री श्रीकृष्ण लाल । वाजपेयी जी के अथक परिश्रम, संयोजक श्री करुणापति त्रिपाठी की तत्परता तथा व्याकरण-परामर्श-मण्डल के सदस्यों की सम्मतियों और सुझावों से व्याकरण-निर्माण का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा और दो साल में ही पूरा व्याकरण लिख कर तैयार हो गया । परन्तु, इस व्याकरण के छपने में जो एक साल का विलम्ब हो गया, उसका कारण यह था कि व्याकरण-परामर्श-मण्डल के सदस्य और पं० किशोरीदास जी वाजपेयी कुछ बातों में सहमत न हो सके । मण्डल के सदस्यों ने वाजपेयी जी को इस विचार-पूर्ण रचना के लिए साधुवाद देते हुए भी कुछ बातों में

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ० १३–१४ ।

अपनी असहमति प्रकट की। ८ अगस्त, सन् १९५७ ई० को व्याकरण-परामर्श-मण्डल ने 'हिन्दी-शब्दानुशासन' को सर्वसम्मत और सर्वमान्य बनाने के उद्देश्य से वाजपेयी जी के सम्मुख कुछ अपने सुझाव रखे थे, जो इस प्रकार हैं :—(१) भाषा-पक्ष :—(क) भाषा अधिक सन्तुलित और शास्त्रानुरूप गम्भीर होनी चाहिए। (ख) अप्रासङ्गिक उक्तियाँ और हलके मुहावरे न रखे जायँ तो उत्तम हो। (२) विषय-पक्ष :—(क) व्याकरण-शास्त्र का मेल भाषा के ऐतिहासिक विकास तथा भाषाविज्ञान से होना आवश्यक है। ऐसे वक्तव्य इसमें न रखे जायँ, जो उपर्युक्त दृष्टियों से सन्दिग्ध और विवादास्पद हों। (ख) वैयक्तिक प्रसङ्ग (अपने या अन्य लेखकों के सम्बन्ध में) जहाँ तक सम्भव हो, न आने चाहिए। सावधानी से केवल सिद्धान्तों का ही आवश्यक विवेचन और विश्लेषण हो।"[१] किन्तु, उपर्युक्त बातों के सम्बन्ध में वाजपेयी जी और मण्डल के सदस्यों में पूर्ण सहमति न हो सकी। यह असहमति शैली, सिद्धान्त और वर्तनी तीनों ही क्षेत्रों में कुछ-कुछ बनी रह गयी। अन्त में, ४ नवम्बर, सन् १९५७ ई० को व्याकरण-परामर्श-मण्डल ने यह निश्चय किया कि 'हिन्दी-शब्दानुशासन' का प्रकाशन वाजपेयी जी की शैली, सिद्धान्त और वर्तनी के ही अनुरूप किया जाय और 'प्रकाशकीय वक्तव्य' में इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया जाय। इस प्रकार, यह ग्रन्थ सन् १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ।

'हिन्दी-शब्दानुशासन' के प्रारम्भ में सर्वप्रथम राहुल जी का वह ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाला निबन्ध है, जो पहले 'नया समाज' में प्रकाशित हुआ था और जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। फिर, 'लेखक का निवेदन है', जिसमें वाजपेयी जी ने उक्त व्याकरण के निर्माण-काल में व्याकरण-परामर्श-मण्डल के भिन्न-भिन्न सदस्यों के द्वारा मिलने वाले परामर्शों एवं सम्मतियों की चर्चा की है। उसमें अपने ब्रजभाषा-व्याकरण की भूमिका को इस व्याकरण की नींव बताते हुए उन्होंने लिखा है कि "इस व्याकरण में आपको हिन्दी की 'सिद्ध' और 'साध्य' क्रियाओं का स्पष्टीकरण भी मिलेगा। इससे पता चलेगा कि हिन्दी का विकास कितना वैज्ञानिक है; यह आप स्वयं इस पुस्तक का अध्ययन करके कहेंगे।"[२]

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी-शब्दानुशासन', प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ० १४-१५।

२. उपरिवत्, 'लेखक का निवेदन', पृ० ४।

इसकी भूमिका पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखी है, जिसमें ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार की मुख्य विशेषता की ओर सङ्केत करते हुए उन्होंने यह बताया है कि वाजपेयी जी संस्कृत-व्याकरण के सुपण्डित हैं, पर संस्कृत के अधिकांश विद्वानों की भाँति हिन्दी को संस्कृत की पूर्ण अनुयायिनी मानने का आग्रह उनमें नहीं है। वे हिन्दी की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं। इस पुस्तक में उन्होंने हिन्दी की इस प्रकृति का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। सब लोग उनके निष्कर्षों से सहमत नहीं होंगे, किन्तु उन्होंने निष्कर्षों तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया बता दी है और विचारशील पाठक को स्वयं सोचने-समझने को स्वतन्त्र छोड़ दिया है। यह इस पुस्तक की बड़ी भारी विशेषता है। इसका पाठक वाजपेयी जी की विचार-पद्धति को उसके समग्र रूप में देख सकता है।"[१] भूमिका के अन्त में उन्होंने लिखा है—"मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी व्याकरण को एक नई दिशा प्राप्त होगी। अभी तक जो व्याकरण लिखे गए हैं वे प्रयोग-निर्देश तक ही सीमित हैं। इस व्याकरण में पहली बार व्याकरण के तत्त्वदर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।"[२] भूमिका के पश्चात् 'प्रकाशकीय वक्तव्य' है, जिसमें श्रीकृष्ण लाल ने हिन्दी व्याकरण के विकास-क्रम की स्थूल रेखाएँ स्पष्ट करते हुए 'हिन्दी-शब्दानुशासन' की रचना तथा प्रकाशन की मूलभूत स्थितियों का परिचय दिया है। इसके पश्चात् मूल ग्रन्थ का प्रारम्भ हुआ है।

'हिन्दी-शब्दानुशासन' के मुख्य खण्ड तीन हैं—'पूर्वपीठिका', 'पूर्वार्द्ध' और 'उत्तरार्द्ध'। इनके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में 'परिशिष्ट' भी है, जिसमें हिन्दी की कुछ बोलियों के अतिरिक्त पञ्जाबी आदि का सामान्य परिचय देने के पश्चात् 'व्याकरण तथा भाषाविज्ञान' का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

'पूर्वपीठिका' ७५ पृष्ठों की है। उसमें वाजपेयी जी के द्वारा जिन तथ्यों की स्थापना की गयी है, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं:—

१. जिस भाषा में वेदों की रचना हुई, साधारणतः 'वही संसार की मूलभाषा' थी। इसके सम्बन्ध में वाजपेयी जी का तर्क है कि "संसार

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी-शब्दानुशासन', 'लेखक का निवेदन', भूमिका, पृ० १।

२. उपरिवत्, पूर्वपीठिका, पृ० १–२।

में सबसे पहले मानवता ने विकास कहाँ प्राप्त किया, यह प्रश्न होने पर कोई भी कह देगा कि जहाँ भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु भाषा का प्रादुर्भाव कहाँ हुआ, यह भी तो पूछा जाएगा न। इसका भी उत्तर है। जहाँ का साहित्य सबसे पुराना है, वहीं भाषा ने सबसे पहले कृपा की। संसार भर के विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि ऋग्वेद मानव की प्राचीनतम साहित्य-रचना है। तो, साहित्य जहाँ बना वहीं सभ्यता ने और उसे वहन करने वाली भाषा ने सर्वप्रथम जन्म लिया।"[१]

२. "एक ही भाषा के (व्यवहार भेद से) कई रूप हो जाते हैं—साधारण भाषा, शिष्ट भाषा, साहित्यिक भाषा।"[२]

३. "प्राकृत जनों की भाषा एक उद्दाम नदी की तरह अपनी स्वतन्त्र गति से चलती रहती है; इसलिए मार्ग बदलती रहती है। साहित्यिक भाषा को एक बड़ी नहर समझिए, जो कि व्यवस्था में चलती है। इसके मार्ग आदि में वैसा परिवर्तन नहीं होता। परन्तु फिर भी, बहुत लम्बे काल में कहीं कुछ परिवर्तन सम्भव है।"[३]

४. साहित्यिक भाषा में होने वाला परिवर्तन कृत्रिम होता है, किन्तु जनभाषा का परिवर्तन अकृत्रिम (स्वाभाविक) होता है।[४]

५. "जब 'मूलभाषा' में वेद-जैसे उत्कृष्ट साहित्य की रचना होने लगी, तो उसका रूप संस्कृत हो चला। साधारण जनों की भाषा वही प्राकृत रही। सो, मूलभाषा के दो रूप हो गए—वेदों की 'संस्कृत भाषा और लोकव्यवहार की साधारण 'प्राकृत भाषा'।"[५] वाजपेयी जी ने वेदों की भाषा को 'प्रथम संस्कृत' और वैदिक युग की साधारण जनभाषा को 'प्रथम प्राकृत' कहा है।

६. " 'मूलभाषा' का नाम तब 'प्राकृत भाषा' कहलाने लगा। वैदिक काल की प्राकृत का कुछ आभास (वेद के) 'गाथा' छन्दों में मिलता है, ऐसा

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० ३।
२. उपरिवत्, पृ० ३।
३. उपरिवत्, पृ० ३।
४. उपरिवत्।
५. उपरिवत्, पृ० ५।

मानां जाता है। सम्भव है, उस समय प्राकृत में भी सामान्य साहित्य-रचना होती हो और उसके लिए कोई विशेष छन्द निर्धारित हो गया हो और वही 'गाथा' हो।" [१]

७. बुद्ध और महावीर के समय तक आते-आते 'प्रथम प्राकृत' का रूप बिलकुल परिवर्तित हो गया। यह प्राकृत की दूसरी अवस्था थी। इसे ही वाजपेयी जी ने 'दूसरी प्राकृत' कहा है। भगवान् बुद्ध के कई शताब्दियों पहले से कई शताब्दियों बाद तक इस प्राकृत का बोल-बाला रहा।[२]

८. देश-भेद से प्राकृत के अनेक भेद थे। "जिन प्राकृतों में साहित्य-रचना होती थी, उनके नाम हैं—मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि। परन्तु जिन प्राकृतों में वैसा साहित्य नहीं बना, उनके नामों का निर्देश प्राकृत-व्याख्याताओं ने नहीं किया है। बङ्गाल, उत्कल, पञ्जाब तथा उत्तरप्रदेश के पश्चिमोत्तर भाग में जो प्राकृत-रूप चल रहे थे, उनके नामों का कोई उल्लेख नहीं है। जिसके पास कोई सम्पत्ति नहीं, उसका नाम कौन ले।"[३]

९. 'पाली' ऐसी प्राकृत है, जिसे न मागधी कह सकते हैं, न महाराष्ट्री और न 'शौरसेनी' ही। बुद्धवचन देशभर की सम्पत्ति बन गये, तब वे 'मागधी' जैसी किसी प्रादेशिक भाषा में ही कैसे बँधे रहते? ऐसा जान पड़ता है कि प्रदेश-भेद से विभिन्न प्राकृत भाषाएँ होने पर भी कोई एक पुराना साहित्यिक रूप (प्राकृत का) ऐसा भी था, जिसे देश भर में स्थान प्राप्त था—देश के सभी भागों में जो समझी जाती थी। उसी राष्ट्रीय प्राकृत में 'त्रिपिटक' आदि लिखे गये और आगे चलकर वह अन्तरराष्ट्रीय चीज बन गई—तिब्बत, चीन, लंका, स्याम, बरमा, काबुल आदि न जाने कहाँ-कहाँ बुद्धवचन 'पाली' को ले गये।"[४]

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० ६।

२. उपरिवत्, पृ० ७।

३. उपरिवत्, पृ० ७।

४. उपरिवत्, पृ० ७।

१०. कालान्तर में दूसरी प्राकृत के रूप भी बदल गये। "इन तीसरी प्राकृतों को, या प्राकृत की तीसरी अवस्था के रूपों को, लोग 'अपभ्रंश' कहते हैं, जो ठीक नहीं। 'तीसरी प्राकृत' कहना ठीक है।"[१]

११. "देश भर में जो तीसरी प्राकृत के विविध रूप चल रहे थे, उनका आगे विकास हुआ और ये पूर्ण विकसित रूप ही आज की हमारी प्रान्तीय या प्रादेशिक भाषाएँ हैं।"[२]

१२. "उत्तरप्रदेश के मुरादाबाद से लेकर पंजाब के अम्बाला जिले तक की लम्बी पट्टी में जो प्राकृतें बोली जाती थीं, उसका नाम निर्देश भी नहीं किया गया है। इसी प्रदेश के मध्य भाग की तीसरी प्राकृत 'अपभ्रंश' से हिन्दी का प्रादुर्भाव हुआ, जो आज राष्ट्रभाषा है, हिन्द की भाषा है, तत्त्वतः 'हिन्दी' है, जिस भाषा में ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं।"[३]

१३. "कुरुजनपद की प्राकृत का नाम 'कौरवी' होना चाहिए। परन्तु कोई नाम मिलता नहीं है। लोगों ने समझ लिया कि जिन प्राकृतों के नाम मिलते हैं, वे ही उस समय थीं और बस समझ लिया गया कि 'मागधी' ही बिहार में तथा बंगाल-उड़ीसा में बोली जाती थी। परिणामतः यह भी लिख दिया गया कि मागधी के अपभ्रंश (तीसरी प्राकृत) से मगही, मैथिली, भोजपुरी, बँगला तथा उड़िया भाषाएँ बनीं। इसी तरह शौरसेनी अपभ्रंश से व्रजभाषा तथा 'खड़ी बोली' (राष्ट्रभाषा) का विकास हुआ। इसी भ्रम से आगे चलकर यह भी लिख दिया गया कि 'व्रजभाषा' से खड़ी बोली निकली है। यह सब प्रमाद है।"[४]

१४. दूसरी प्राकृत के जो रूप साहित्य में उपलब्ध हैं, वे नितान्त कृत्रिम हैं। "वर्णविकार और अन्धाधुन्ध व्यंजन-लोप ने उसे कर्णकटु बना दिया है। निश्चय ही तीसरी प्राकृत (अपभ्रंश) में वह कृत्रिमता बहुत कुछ बनी रही। परन्तु वर्त्तमान लोक-भाषाओं से वह एकदम उड़ गई। ऐसा जान पड़ता है कि दूसरी अवस्था की प्राकृतों में

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० ८।
२. उपरिवत्, पृ० ९।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्, पृ० ८–९।

साहित्यिक लोग कृत्रिम प्रयोग करते रहे; परन्तु जनता उसे अपने सहज सुलभ रूप में ही बोलती रही। वही सहज रूप तीसरी अवस्था की जनभाषाओं में आया और वही अधिक विकसित होकर आज हमारी भाषाओं के रूप में उपलब्ध है।"[१]

१५. "अपभ्रंश का जो रूप हमें साहित्य में दिखाई देता है, बोलचाल की भाषा भी वैसी ही होगी; नहीं कहा जा सकता।"[२] "और, यदि यह मान लिया जाए कि उपलब्ध प्राकृत-काव्यों में जो भाषा है, वही उस समय की जनभाषा थी, तो कहना पड़ेगा कि वैसी किसी प्राकृत से हिन्दी का कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उस प्राकृत की अपेक्षा तो संस्कृत ही हिन्दी के अधिक समीप है या फिर कोई प्राकृत होगी, जिसमें वर्ण-संहार वैसा न हुआ होगा। परन्तु उसका रूप आज हमारे सामने नहीं है। इस प्राकृत में साहित्य न रचा गया होगा। परन्तु गोरख आदि की वाणी में कुछ झलक जरूर मिल रही है। उसी प्राकृत से हिन्दी की उत्पत्ति समझिए। निश्चय ही वह कुरुजनपद की प्राकृत (या जनभाषा) संस्कृत से बहुत दूर न हटी होगी। उसी का विकसित रूप हिन्दी है।"[२]

१६. "प्राकृत के (दूसरी या तीसरी अवस्था के) जो भी रूप साहित्य में उपलब्ध हैं, उनसे हिन्दी की पटरी बैठती नहीं है। इन सभी प्राकृतों में वर्तमान काल की क्रियाएँ तिङन्त हैं; जिनमें कर्त्ता के अनुसार पुल्लिग-स्त्रीलिंग में कोई रूप-परिवर्तन नहीं होता। हिन्दी में रूप बदलता है। हिन्दी की यह विशेषता किसी भी प्राकृत में दिखाई नहीं देती। जिस (कुरुजनपद) प्राकृत में यह बात थी, उसका कोई रूप हमारे सामने है नहीं। कई कड़ियाँ टूटी हैं। कुछ भी हो, साहित्य में उपलब्ध प्राकृतों में से कोई भी ऐसी नहीं है, जिससे हिन्दी (खड़ीबोली) का उद्गम माना जा सके। हाँ, अवधी आदि का सम्बन्ध उनसे जरूर है।"[३]

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० १०।

२. उपरिवत्, पृ० ११।

३. उपरिवत्, पृ० १३–१४।

१७. "कुरुजनपद की 'बोली' व्रज की 'बोली' से बहुत मिलती-जुलती है। दोनों पास-पास हैं न। परन्तु दोनों में आधारभूत भेद है और वह भेद इसके 'खड़ीबोली' नाम से ही प्रकट हो जाता है।"[१]

१८. "कुरुजनपद (उत्तरप्रदेश के मेरठ-डिवीजन) की बोली को 'खड़ीबोली' नाम भाषाशास्त्रियों ने नहीं, साधारण साहित्यिकों ने दिया। परन्तु इसकी व्युत्पत्ति के बारे में लोग भटकते रहे। प्रारम्भ में तो 'खड़ी-बोली' नाम इसलिए पड़ा कि इसमें कवियों को मधुरता न जान पड़ी। परन्तु 'खड़ीबोली' नाम भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी खरा उतरता है। 'मीठा', 'जाता', 'खाता' आदि में जो खड़ी पाई (अन्त में) देखते हैं, वह हिन्दी के अतिरिक्त इनकी किसी भी दूसरी 'बोली' में न मिलेगी। सो, इस खड़ी पाई के कारण इसका नाम 'खड़ीबोली' बहुत सार्थक है।"[२]

१९. "यह (खड़ी पाई) संस्कृत के विसर्गों का विकास है। ऐसा जान पड़ता है, जान पड़ने की बात नहीं, निश्चय है कि संस्कृत के पुंल्लिग एकवचन (बालकः) आदि के विसर्गों का विकास हिन्दी ने 'आ' (ा) के रूप में किया है। हम इस 'आ' विभक्ति को 'पु० प्रत्यय' भी कहते हैं। हमने इसे 'पु० विभक्ति' नाम दिया; क्योंकि यह एक संस्कृत विभक्ति का विकास है।"[३]

२०. "संस्कृत से सीधे ही हिन्दी ने यह खड़ी पाई निकाल ली हो, ऐसा नहीं है। प्राकृत की दूसरी-तीसरी अवस्था में कोई-न-कोई रूप ऐसा होगा, जो हमारे सामने इस समय नहीं है। जिस प्राकृत का विकास हिन्दी है, उसका साहित्यिक रूप हमारे सामने नहीं है। इसलिए नहीं कह सकते कि इसका प्रयोग कहाँ किस तरह होता था।"[४]

२१. "हिन्दी अपनी यह पु० विभक्ति संस्कृत के तद्रूप (तत्सम) शब्दों में नहीं लगाती। परन्तु 'अपने' तथा संस्कृत के रूपान्तरित करके अपनाए हुए (तद्भव) शब्दों में जरूर यह पुं० विभक्ति लगा देती है।"[५]

---

१. कि० दा० वा० 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० १४।
२. उपरिवत्, पृ० १४।
३. उपरिवत्, पृ० १४–१५।
४. उपरिवत्, पृ० १५–१६।
५. उपरिवत्, पृ० १७।

२२. 'आ' को हिन्दी ने 'अपने' शब्दों में 'पु० प्रत्यय' के रूप में ग्रहण किया है जबकि संस्कृत ने 'आ' को स्त्री० प्रत्यय के रूप में अपनाया है।[१]

२३. खड़ीबोली, अवधी, व्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगला तथा उड़िया के धातु प्रायः समान ही हैं, अन्तर केवल प्रत्ययों में है। यों, कहीं-कहीं प्रत्ययों में भी एकरूपता है।[२]

२४. हिन्दी की अन्य बोलियों से खड़ी बोली को पृथक् करनेवाली कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(क) ''विभक्ति तथा अव्ययों के 'ह्' का लोप 'खड़ीबोली' की एक प्रमुख विशेषता है। यह लोप कहीं नित्य होता है, कहीं वैकल्पिक और कहीं होता ही नहीं।'[३] जैसे,—चारो, तीनो, छहो, इसी, उसी, हमीं आदि। (ख) 'हिन्दी ने उपसर्गों का भी स्वतन्त्र प्रयोग किया है।'[४] जैसे, 'इस पुस्तक की चार प्रतियाँ हमें देना।' (ग) 'राष्ट्रभाषा में एक और बड़ी विशेषता है, इसके 'अभी, कभी, तभी' आदि प्रयोग। अन्यत्र 'अबहीं, तबहीं' आदि चलते हैं।'[५] (घ) 'ने' विभक्ति तथा कृदन्त क्रियाओं का बाहुल्य राष्ट्रभाषा की अपनी विशेषता है।'[६] (ङ) 'हिन्दी में एक और भी विशेषता है, जो इसकी विभिन्न बोलियों में भी देखी जाती है। यहाँ अनुनासिक स्वरों का बाहुल्य है—दाँत, आँत, गाँव, पूँछ आदि अनेक शब्दों में अनुनासिक स्वर देखे जाते हैं। संज्ञाओं तथा क्रियाओं के बहुवचन बनाने में भी स्वरों को अनुनासिक कर देने की व्यापक प्रवृत्ति है। संस्कृत में वर्गीय पंचमाक्षरों का प्रयोग देखा जाता है—'पठति-पठन्ति'।'[७]

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० १८।

२. उपरिवत्, पृ० २१।

३. उपरिवत्, पृ० २२।

४. उपरिवत्, पृ० २५।

५. उपरिवत्, पृ० २६।

६. उपरिवत्, पृ० २९।

७. उपरिवत्, पृ० ३०।

२५. खड़ी बोली के सर्वमान्य शिष्ट या साहित्यिक रूप का निर्माण उसके क्षेत्रीय रूप में परिष्कार लाने से सम्भव हुआ है, इसीलिए दोनों में पर्याप्त अन्तर आ जाने पर भी मौलिक समानता है।[१]

२६. 'हिन्दी ने अपने शब्दों की विकास-पद्धति में संक्षेप, औचित्य तथा स्पष्टता का पूरा ध्यान रखा है। कभी-कभी संस्कृत के तद्रूप शब्दों में भी अपनी पु० विभक्ति लगाकर विशिष्ट शब्द बना लिया है।'[२] जैसे, रस—रसा, प्रहर—पहर—पहरा—पहरेदार आदि। स्वरलाघव—सं० भगिनी—अ० बहिनी—हि० बहन आदि। स्पष्ट प्रतिपत्ति--पत्र—पत्ता (वृक्ष आदि के पत्र के अर्थ में), पत्र (चिट्ठी) के अर्थ में। शृंखला के रूप में बने शब्द—'मा' की द्विरुक्ति करके 'मामा' और फिर उसी की नकल पर 'काका', चाचा' आदि। कहीं-कहीं हिन्दी ने संस्कृत शब्दों का रूपान्तर न करके उसी ढंग पर अपनी अलग चीज बनायी है, जैसे, सं० 'उन्मूलन' के स्थान पर हिन्दी का 'उजड़ना' शब्द। विकास में अर्थ-भेद स्पष्ट करने पर सबसे ज्यादा ध्यान रहा है।'[३]

२७. 'संस्कृत की सभी धातुएँ प्राकृत-पद्धति से हिन्दी में आकर स्वरान्त हो गयी हैं। हिन्दी मे एक भी धातु व्यंजनान्त नहीं है।'[४]

२८. 'हिन्दी प्राकृत-परम्परा की भाषा है और इसका 'अपना' विपुल शब्द-भाण्डार है। संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध अनन्त शब्द-राशि भी इसकी 'अपनी' ही सम्पत्ति है और संस्कृत की 'धातु' तो अटूट शब्द-स्रोत के रूप में इसे प्राप्त हैं। परन्तु तो भी, हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है और किसी भी भाषा के मूल शब्द या उसका 'मूलधन' होते हैं—१. क्रियापद, २. अव्यय, ३. विभक्तियाँ तथा ४. सर्वनाम। ये चार मुख्य स्तम्भ हैं, जिनपर किसी भी भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व टिका रहता है। ये शब्द कभी बदलते नहीं, कभी भी किसी दूसरी भाषा से कोई भाषा नहीं लेती है।'[५]

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० ३१-३२।
२. उपरिवत्, पृ० ३३।
३. उपरिवत्, पृ० ३४-३७।
४. उपरिवत्, पृ० ३८।
५. उपरिवत्, पृ० ४०।

२९. 'संस्कृत के शब्द हिन्दी में कई तरह से चल रहे हैं। बहुत अधिक शब्द ऐसे हैं, जो तद्रूप चलते हैं; जैसे, प्रभाव, प्रभु, प्रेम आदि। तद्भव शब्दों का तो अटूट भाण्डार है और इनकी जगह संस्कृत के तद्रूप शब्द चल ही नहीं सकते, जैसे दस, बीस आदि। संख्यावाचक—'एक' को छोड़ शेष सब शब्द हिन्दी के 'अपने' हैं; चाहे ये जिस तरह बने हों। कुछ शब्द उभयथा चलते हैं—तद्रूप भी और तद्भव भी; जसे, सूरज—सूर्य, सँदेश—सन्देश, बिक्री—विक्रय आदि। हिन्दी ने संस्कृत शब्दों को जो तद्भव रूप दिया है, उसमें उच्चारण-सौकर्य्य ही नहीं, औचित्य का भी ध्यान रखा गया है। 'प्रिय' से स्त्रीसुलभ 'पिय' शब्द बना, पु० विभक्ति से 'पिया' भी। परन्तु 'प्रिया' सदा इसी रूप में रहा है।'[१]

३०. 'एशिया तथा योरप में हिन्दी ने भेद किया है। एशिया की भाषाओं से संज्ञाएँ ही नहीं, विशेषण भी हिन्दी ने ले लिए हैं—'ताजी खबर है' हिन्दी में चल सकता है, परन्तु 'एक न्यू खबर आज है' ऐसा न चलेगा। कोई भी विशेषण योरप की किसी भी भाषा का हिन्दी ने नहीं लिया; संज्ञाएँ जरूर ली हैं।'[२]

३१. 'किसी भी दूसरी भाषा का शब्द कोई भाषा ले, उसे अपने व्याकरण पर, अपने नियमों पर जरूर चलाएगी।'[३]

३२. 'हिन्दी ने संस्कृत की प्रायः सब सन्धियाँ ज्यों की त्यों अपना कर भी 'रो रि' तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः'—वाली संस्कृत-सन्धि ग्रहण नहीं की है। संस्कृत के 'ज्ञानेन्द्र', 'सुधोपम' आदि शब्द-प्रयोग यहाँ बराबर चलते आए हैं, चल रहे हैं और प्रलय पर्यन्त चलते रहेंगे, परन्तु 'पुनारचना' या 'अन्तारमण' यहाँ न चलेंगे। हिन्दी सर्वत्र संस्कृत-नियमों से बँधी नहीं है। संस्कृत में जहाँ 'दीनबन्धु' चलता है, हिन्दी ने वहाँ 'दीनानाथ' भी स्वीकार किया है। संस्कृत में जैसे

---

१. कि० दा० वा०. 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० ४४।

२. उपरिवत्, पृ० ४५।

३. उपरिवत्, पृ० ४६।

'विश्वामित्र' बन गया, उसी तरह हिन्दी में 'दीनानाथ' तथा 'मूसलाधार' बन गए।'[१]

३३. 'हिन्दी में फारसी आदि के जो शब्द खप गए हैं, वे हिन्दी उच्चारण में ही चलते हैं।'[२] 'ज' 'फ' आदि के नीचे बिन्दी लगाकर फारसी आदि के तद्रूप शब्द हिन्दी में चलाने का उद्योग व्यर्थ, हानिकर तथा उपहासास्पद भी है। हिन्दी वालों का उच्चारण ही वैसा नहीं।'[३]

३४. 'जैसी भाषा है, उसका ज्यों का त्यों रूप व्याकरण में आना चाहिए। भाषा की चाल को व्याकरण बदल न देगा। यह उसकी शक्ति से बाहर की बात है। व्याकरण लक्ष्यप्रधान शास्त्र है। जैसा लक्ष्य (शब्द-प्रयोग) लोकप्रचलित है, उसका वैसा ही लक्षण बनाना पड़ेगा—उसका वैसा ही निरूपण करना होगा।'[४]

३५. 'व्याकरण भाषा का नियमन तब अवश्य कर सकता है, जबकि उसके पास अनुकूल तर्क हो और वह तर्क भाषा की प्रकृति के विरुद्ध न हो। प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ? उस प्रवाह को कौन रोक सकता है, जिसे प्रमाण का बल भी प्राप्त है।'[५]

३६. 'हिन्दी का यह ऐसा व्याकरण बन रहा है, जिसे संक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता और 'पूर्ण' भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अभी और कुछ सोचने-करने की गुंजाइश है। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इसे हिन्दी का पहला व्याकरण लोग अवश्य कहेंगे। व्याकरण के मूल तत्त्वों का इसमें उद्घाटन हुआ है। ये तत्त्व मेरी अन्य पुस्तकों में भी पहले आ चुके हैं; परन्तु यहाँ सब समवेत हो गए हैं; कुछ नए भी प्रकट हुए हैं।'[६]

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वपीठिका, पृ० ५९।

२. उपरिवत्, पृ० ५८।

३. उपरिवत्, पृ० ६१।

४. उपरिवत्, पृ० ६२।

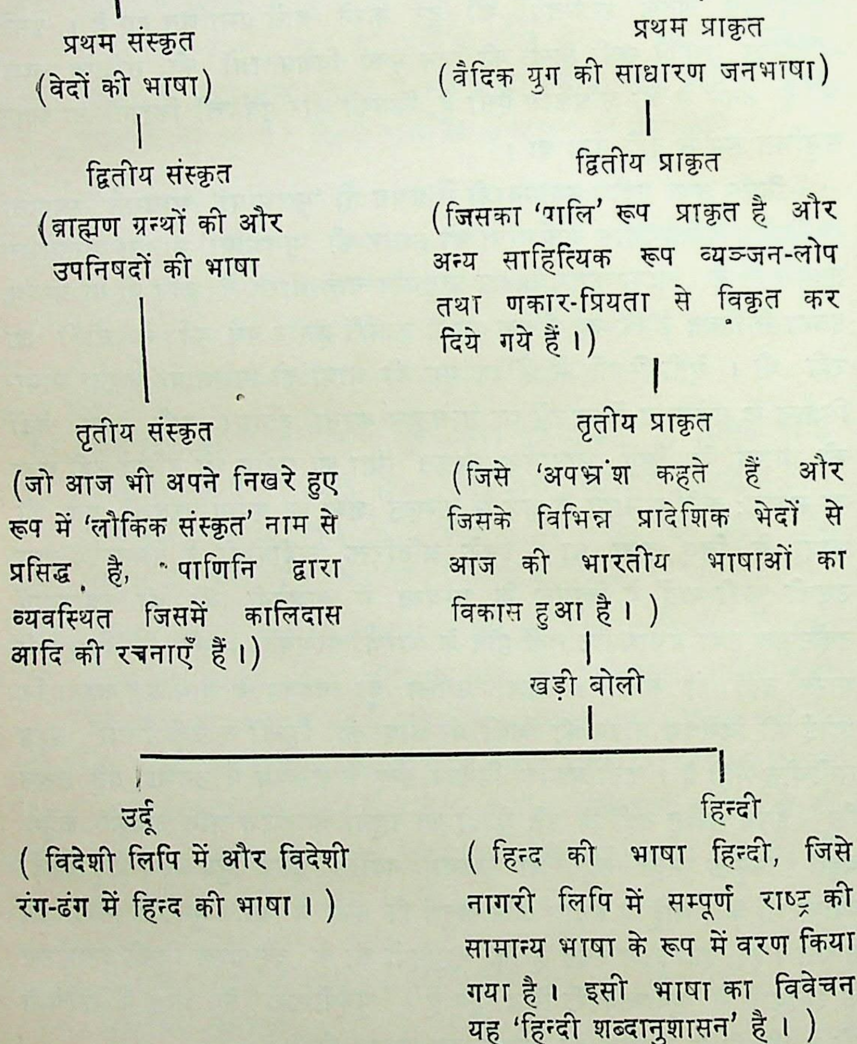
५. उपरिवत्, पृ० ६३।

६. उपरिवत्, पृ० ७०।

वाजपेयी जी की उपर्युक्त स्थापनाओं में से कुछेक को छोड़ कर अधिकांश नवीन, निर्दोष, सबल तथा नितान्त उपयोगी हैं। मुख्यतः खड़ीबोली की उत्पत्ति तथा उसके पूर्वस्रोत के सम्बन्ध में उनके द्वारा व्यक्त विचार एतद्विषयक अनेक भ्रान्तियों को दूर करने वाले प्रमाणित हुए हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने खड़ी हिन्दी की जिन मुख्य विशेषताओं की संक्षिप्त चर्चा की है, उनमें से भी अधिकांश ऐसी हैं, जिनकी ओर पूर्ववर्त्ती विद्वानों का ध्यान समुचित रूप से नहीं गया था।

निर्बल तथा सदोष स्थापनाओं में प्रथम तो 'मूलभाषा' सम्बन्धी स्थापना आती है। वैदिकयुगीन आर्यभाषा को संसार की 'मूलभाषा' मानना युक्तिसङ्गत तथ्य नहीं है। भाषा का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव चाहे भारत में हुआ हो या अन्यत्र, इतना निश्चित है कि वह वैदिक युग से हजारों हजार वर्ष पूर्व से बोली जा रही थी। ऐसी स्थिति में वैदिक युग की भाषा को 'मूलभाषा' कहना भाषा-विज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों का उल्लङ्घन करना होगा। इसी तरह, वेदों की भाषा के लिए भाषार्थक 'संस्कृत' संज्ञा का प्रयोग भी उचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग परवर्त्ती युग की भाषा के लिए हुआ था। इसके अतिरिक्त, 'खड़ीबोली' के नामकरण तथा उसकी 'खड़ी पाई' के विकास के सम्बन्ध में वाजपेयी जी की स्थापनाएँ तर्कसङ्गत तथा प्रमाणपुष्ट नहीं होने के कारण, सम्भवतः किसी के लिए भी मान्य नहीं हो सकतीं। फिर, उनका दृढ़ निश्चय के साथ यह कहना कि 'कोई भी विशेषण योरप की किसी भी भाषा का हिन्दी ने नहीं लिया' बहुत समीचीन नहीं है। इसी प्रकार, विवेच्य ग्रन्थ के सम्बन्ध में उनका यह कथन कि 'इसमें सन्देह नहीं कि इसे हिन्दी का पहला व्याकरण लोग अवश्य कहेंगे' बहुत उपयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके पूर्व लिखे गये सैकड़ों व्याकरणों को, चाहे वे सदोष और अपूर्ण ही क्यों न हों, भुलाया नहीं जा सकता। हाँ, इतना निश्चित है कि वाजपेयी जी के व्याकरण हिन्दी व्याकरण के इतिहास में युगान्तकारी सिद्ध हुए हैं। 'पूर्वपीठिका' के अन्त में वाजपेयी जी ने 'हिन्दी के विकास की सारणी इस प्रकार दी है :—

(देखें पृ० ६१४)



'पूर्वार्द्ध' के प्रथम अध्याय में 'शब्दानुशासन' और 'व्याकरण' के आर्थिक साम्य और वैषम्य की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "हिन्दी के शतशः प्रचलित व्याकरणों से यह एक पृथक् चीज है, यह ध्वनित करने के लिए ही हम इस कृति को 'शब्दानुशासन' नाम दे रहे हैं, क्योंकि इससे पूर्व

इस नाम का कोई ग्रन्थ इस विषय का हमने देखा-सुना नहीं।"[१] यहाँ इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि किसी ग्रन्थ के नाम की नवीनता से यह प्रमाणित नहीं होता कि उसमें विवेच्च विषय का विवेचन भी सर्वथा नवीन ही होगा। इस दृष्टि से वाजपेयी जी का अपने ग्रन्थ के नाम की नवीनता को विशेष महत्त्व देना कोई अर्थ नहीं रखता

उपर्युक्त प्रसङ्ग के पश्चात् वाजपेयी जी ने भारतीत परम्परानुसार इन्द्र को संसार का प्रथम वैयाकरण मानते हुए संक्षेप में 'प्रथम व्याकरण' की रचना की कथा लिखी है। फिर, 'व्याकरण' और 'शब्दानुशासन' शब्द की व्युत्पत्ति, व्याकरण का उद्देश्य, वैयाकरण के कर्त्तव्य आदि पर संक्षेप में प्रकाश डालने के पश्चात् 'वर्णविचार' का प्रारम्भ किया है।

'वर्णविचार' के प्रारम्भ में भाषा की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार दी है—'भाषा सार्थक शब्दों का समूह है।'[२] 'सार्थक' से उनका तात्पर्य है—'परम्परा-प्राप्त सङ्केत-व्यवस्था से युक्त शब्द।' किन्तु, इस स्पष्टीकरण के पश्चात् भी उक्त परिभाषा में भाषा के सभी लक्षण नहीं घटते। जिस प्रकार, सुगन्धयुक्त फूलों के समूह मात्र को माला नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अर्थ सङ्केतित शब्दों के समूह मात्र को भाषा नहीं कह सकते। भाषा के अन्तर्गत शब्दों की एक सुनिश्चित व्यवस्था होती है, साथ ही उसका सामाजिक उद्देश्य एवं उपयोगिता होती है। इन बातों पर उक्त परिभाषा के द्वारा कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अतः, इसे अपूर्ण कहा जा सकता है।

आगे वाजपेयी जी ने यह स्पष्ट किया है कि भाषा की रचना वाक्यों से, वाक्यों की पदों (या शब्दों) से और पदों की वर्णों (या अक्षरों) से होती है। पद और शब्द के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"किसी अर्थ के वाचक शब्द को 'पद' कहते हैं। 'पद' इसलिए संस्कृत नाम कि ये चलते हैं। भाषा में जो चलते नहीं, वे पद नहीं। अप्रयोगार्ह सङ्केतित शब्द (संस्कृत में) 'पद' नहीं, 'प्रातिपदिक' या 'धातु' कहलाते हैं। इसी 'पद' को व्याकरणों में 'शब्द' भी कहा गया है।"[३] इसी प्रकार वर्ण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है— "पद या शब्द के उस अंश को 'वर्ण' कहते हैं, जिनके खण्ड नहीं किए जा

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ७७।

२. उपरिवत्, पृ० ८०।

३. उपरिवत्, पृ० ८२।

सकते ।"[१] फिर, वर्ण के दो प्रमुख भेदों—स्वर और व्यञ्जन की परम्परागत परिभाषा को ही मान्यता प्रदान करते हुए उन्होंने लिखा है कि "जो वर्ण स्वयं स्थित रहते हैं—'स्वयं राजन्ते', वे स्वर कहलाते हैं। जो वर्ण उच्चारण में वैसे समर्थ नहीं हैं, जिनका उच्चारण करने में स्वर की सहायता लेनी पड़ती है, वे व्यंजन कहलाते हैं।"[२]

उन्होंने अ, इ, उ, ऋ इन चार स्वरों को हिन्दी के मूल स्वरों में परिगणित किया है, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि "ऋ स्वर हिन्दी के गठन में नहीं है। संस्कृत (तद्रूप) शब्दों में ही वह यहाँ रहता है। इसका बहिष्कार वैसे शब्दों में सम्भव नहीं है।"[३] उनके अनुसार ऋ, ॠ, ऌ, और ॡ का स्वर के रूप में उच्चारण लोग 'द्वितीय संस्कृत' युग में ही भूल चुके थे, इनमें से अन्तिम तीन के प्रयोग तो संस्कृत के लिखित साहित्य में भी बहुत कम ही हुए हैं, किन्तु 'ऋ' का प्रयोग संस्कृत में खूब है—संज्ञाओं में, धातुओं में, अव्ययों में। परन्तु, हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का गठन ऐसा है कि यहाँ ऋ का एकान्त अभाव है।"[४] फिर, उन्होंने आगे लिखा है कि "हिन्दी का सम्पूर्ण शब्द-स्रोत संस्कृत के हिमालय से निःसृत है। इसलिए, हिन्दी की वर्णमाला में ऋ की अनिवार्य सत्ता है। 'ऌ' में वह बात नहीं। इसीलिए यहाँ (वर्णमाला में) इसे नहीं रखा गया।"[५]

आ, ई, ऊ, ओ, ॠ को उपर्युक्त मूल स्वरों का दीर्घ रूप बताते हुए उन्होंने लिखा है कि "ये मूल स्वरों के ही (दीर्घ उच्चारण के) लिपि-सङ्केत हैं। ॠ का दीर्घ उच्चारण तो हिन्दी में है ही नहीं, पर शेष तीनों स्वरों का वैसा उच्चारण बहुत अधिक है।[६] आ, ई, ऊ, उन मूल स्वरों से पृथक् नहीं हैं। स्थान-भेद से वर्ण-भेद होता है। यहाँ वैसा नहीं है। अ—आ के उच्चारण में स्थान-भेद नहीं है : इसी तरह, इ—ई तथा उ—ऊ की बात समझिए।"[७] इसके

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ८२।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्, पृ० ८४।
४. उपरिवत्, पृ० ८३।
५. उपरिवत्, पृ० ८५।
६. उपरिवत् पृ० ८६।
७. उपरिवत्, पृ० ८७।

पश्चात् ए, ऐ, ओ और औ का परिचय संयुक्त स्वरों के रूप में दिया है: ए और ओ के ह्रस्व रूप की उपस्थिति हिन्दी की बोलियों में तो मानी है, किन्तु राष्ट्रभाषा में नहीं।

स्वर के अनुनासिक और अननुनासिक भेदों को स्पष्ट करने हुए उन्होंने 'अनुनासिक' शब्द के स्थान पर 'सानुनासिक' शब्द के प्रयोग को अनुपयुक्त ठहराया है। फिर, अनुनासिक और अनुस्वार के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि अनुस्वार एक पृथक् ध्वनि है, इसीलिए इसके उच्चारण की एक मात्रा गिन कर तदाश्रय स्वर 'गुरु' माना जाता है; किन्तु अनुनासिक की सत्ता स्वर से पृथक् नहीं। अनुनासिक का उच्चारण स्वर के साथ ही साथ होता है, किन्तु अनुस्वार का उच्चारण स्वर के अनन्तर होता है।[१] इसी प्रकार, अनुस्वार और विसर्ग का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि "ये ध्वनियाँ न तो स्वर हैं, न व्यंजन हैं। हाँ स्वरों के सहारे इन्हें चलते जरूर देखा जाता है। स्वतन्त्र गति नहीं, इसीलिए ये स्वर नहीं हैं और व्यंजनों की तरह ये स्वर के पूर्व नहीं, पश्चात् आते हैं, इसलिए व्यंजन नहीं। वर्णों की दो श्रेणियों में से किसी के भी साथ इनका जातीय योग नहीं है। इसलिए इन दोनों ध्वनियों को 'अयोगवाह' कहते हैं। न स्वरों से योग न व्यंजनों से; फिर भी अर्थ वहन करते हैं। इसीलिए 'अयोगवाह'।"[२]

विसर्ग के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "अनुस्वार की तरह विसर्ग भी स्वर के बाद आते हैं। संस्कृत में विसर्गों के बिना काम ही नहीं चल सकता। वहाँ अनेक कारकों की अभिव्यक्ति विसर्गों के बल पर ही है। हिन्दी के गठन में विसर्गों का कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, जो शिक्षित जन अपनी भाषा को संस्कृत के तद्रूप शब्दों से समृद्ध-गम्भीर करना चाहें करें। वे विसर्गों का यथा-स्थिति प्रयोग करें, करते ही हैं। परन्तु संस्कृत शब्दों में ही।"[३] ठेठ हिन्दी में विसर्ग का प्रयोग नही पाया जाता।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् व्यञ्जनों को संस्कृत व्याकरणानुसार अन्तस्थ, ऊष्म और वर्गीय, तथा अल्पप्राण, महाप्राण और अनुनासिक अल्पप्राण के वर्गों में विभक्त कर, सबका अलग-अलग सामान्य परिचय दिया गया है।

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन' पूर्वार्द्ध, पृ० ९१।

२. उपरिवत्, पृ० ९२।

३. उपरिवत्, पृ० ९३।

अनुनासिक अल्पप्राण अर्थात् वर्गीय पञ्चम व्यञ्जनों का परिचय देते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "हिन्दी के गठन में 'ङ', 'ञ' तथा 'ण' का कोई योग नहीं है। जो मिठास 'न' तथा 'म' में है, वह इन तीनों में नहीं है। इसीलिए हिन्दी ने 'न' तथा 'म' को ही अपनाया है। संस्कृत (तद्रूप) शब्द जो हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं, उनमें ही ये (ङ, ञ, ण) व्यञ्जन आते हैं :— 'वाङ्मय', 'चाञ्चल्य', 'पाण्डित्य' आदि। ङ तथा ञ की अपेक्षा ण अधिक आता है। 'ङ' संस्कृत में भी बहुत कम अन्त्य रूप से ('प्रत्यङ्' आदि में) आता है; पर 'ञ' तो (अन्त में) मिलेगा ही नहीं। आदि में तो कभी भी ये (ङ, ञ, ण) आएँगे ही नहीं। हाँ, प्राकृत में जरूर णकारादि शब्दों की भरमार है। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'म्' को प्रायः और 'न्' को कभी-कभी अनुस्वार हुआ करता है और अनुस्वार को भी यथास्थान ङ् ञ् ण् न् तथा म् हुआ करता है।"[१] अनुनासिक स्वरों की तरह अनुनासिक व्यञ्जन भी द्विस्थानीय हैं, साथ ही उन्हीं की तरह ये भी 'संयुक्त वर्ण' नहीं हैं।

ऊष्म महाप्राण श, ष, स, ह के प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी के गठन में तो 'स' मात्र काम में आता है। संस्कृत (तद्रूप) शब्द जो हिन्दी में चलते हैं, उनमें 'श' तथा 'ष' आता है। कुछ विदेशी शब्द भी हिन्दी में 'श' घटित चलते हैं—पेचिश, शाबाश, शेर, शोर आदि।"[२] इस प्रसङ्ग में उनसे एक भूल यह हुई है कि उन्होंने ए, ऐ, ओ और औ की तरह वर्गीय महाप्राण व्यञ्जनों को भी 'संयुक्त व्यञ्जन' मान लिया है।[३]

वाजपेयी जी ने वर्ण या ध्वनि विषयक उपर्युक्त विवेचन मुख्य रूप से संस्कृत व्याकरण के ही आधार पर किया है। दुर्भाग्य से आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा निष्कर्षों से अपरिचित होने के कारण वे एतद्विषयक अपनी उक्त मान्यताओं में तदनुरूप यथोचित सुधार लाने से वञ्चित रह गये हैं। एक विचित्र बात यह भी है कि उन्होंने इस प्रकरण में सभी व्यञ्जनों की तो चर्चा की है, किन्तु ड़ और ढ़ का कहीं उल्लेख भी नहीं किया है।

सन्धि-प्रसङ्ग में उन्होंने पहले हिन्दी के सन्धि-नियमों की और फिर संस्कृत-सन्धि की संक्षिप्त चर्चा की है। हिन्दी-सन्धि के विषय में उन्होंने

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ९६-९७।
२. उपरिवत्, पृ० ९८।
३. उपरिवत्, पृ० [illegible]

लिखा है कि "हिन्दी में प्रायः सभी संज्ञाएँ, सर्वनाम, विशेषण तथा धातु आदि स्वरान्त हैं। व्यंजनान्त शब्दों की कोई स्थिति यहाँ नहीं। इसलिए लोप तथा अन्य सन्धियाँ प्रायः स्वरों में ही देखी जाती हैं। कहीं स्वर का लोप होने पर व्यंजन मात्र जब रह जाता है, तब पास के दूसरे व्यंजन से उसकी सन्धि जरूर होती देखी जाती है। अब, जब, कब, तब अव्ययों से परे यदि 'ही' अव्यय आए, तो उन अव्ययों के अन्त्य 'अ' का वैकल्पिक लोप हो जाता है और तब अवशिष्ट 'ब्' तथा ('ही' का) 'ह्' मिलकर 'भ्' हो जाते हैं और यह 'भ्' अपने उसी पुराने आश्रय 'ई' में चिपट जाता है। तब रूप बन जाते हैं—अभी, जभी, कभी, तभी। यों व्यंजन-सन्धि भी देखी जाती है।"[1] इसी प्रकार व्यञ्जन-सन्धि के अन्य उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि "यह, वह, जो, कौन सर्वनामों से परे जब 'ने'—'को' आदि कोई विभक्ति हो, तो ये इस, उस जिस, किस, जैसे रूप ग्रहण कर लेते हैं—'इस के ही'। यह 'ही' जोर देने के लिए आता है और इतना जोरदार है कि प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में जबर्दस्ती घुस बैठता है। तब प्रकृति के अन्त्य स्वर 'अ' को लेकर यह छिप जाता है और अपने आश्रय 'ई' को सामने कर देता है। तब अवशिष्ट अन्त्य 'स्' इस 'ई' से जा मिलता है। रूप बन जाते हैं—'इसी के', 'उसी के' आदि। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'अभी से' तथा 'किसी को' आदि सन्धिरूपों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी इन 'को' 'ने' आदि विभक्तियों को प्रकृति से विभक्त (हटाकर) लिखने की प्रेरणा देती है।'[2] फिर, अन्य सन्धियों की चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है—"कभी-कभी दो स्वरों में ही सन्धि हो जाती है। विधि-अर्थ प्रकट करने के लिए हिन्दी में इ' प्रत्यय होता है, जो संस्कृत के 'इय' के 'य' को उड़ाकर बना-बनाया जान पड़ता है। धातु के अन्त्य 'अ' तथा प्रत्यय के 'इ' को मिलकर 'ए' (अवधी में 'ऐं') सन्धि हो जाती है और तब धातु का बचा हुआ (अन्त्य व्यंजन) इस 'ए' (या 'ऐं') में जा मिलता है। पढ़+इ—पढ़े, कर+इ—करे आदि। दीर्घ स्वरान्त धातुओं से परे यह विध्यर्थक 'इ' प्रत्यय स्वयं (अकेला ही) 'ए' बन जाता है। सो+इ—सोए, रो+इ—रोए आदि। यदि धातु दीर्घ ईकारान्त हो, तो (धातु के) ई को विकल्प से 'इय्' हो जाता है और इस 'इय्' के 'य्' का विकल्प से लोप

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० १०१।

२. उपरिवत्, पृ० १०१।

हो जाता है। जी+ए—जिय्+ए, जिये। 'य्' का लोप हो जाने पर रूप होगा—जिए, और 'ई' को जब 'इय्' होगा ही नहीं, तब जीए। प्रत्यय का (या प्रत्ययादेश का) 'य्' इ, ई तथा ए में मिलने पर विकल्प से लुप्त हो जाता है—सवर्ण प्रबल स्वर निर्बल व्यंजन को दबा देता है। इसीलिए गए—गये, आए–आये, लाये—लाए तथा गई–गयी, आई–आयी, लायी–लाई यों द्विविध रूप होते हैं। लोप हो जाने पर सवर्ण दीर्घ सन्धि भी हो जाती है–किया+ई–कि+ई=की, पिया+ई–पि+ई=पी आदि। यहाँ पुंविभक्ति 'आ' जब स्त्रीलिंग में 'ई' के रूप में परिवर्तित हो गई, तब 'य्' का नित्य लोप और नित्य सवर्ण–दीर्घ एकादेश। 'कियी' 'पियी' आदि प्रयोग नहीं होते, गलत हैं। 'गया' 'गयी' आदि में य् की स्पष्ट श्रुति है, असवर्ण स्वर में। इसीलिए लोप नहीं। यह-वह सर्वनामों से परे 'ही' अव्यय आ जाए, तो अपने सगे (सर्वनाम के) ह को समाप्त कर देता है। स्वर-सहित 'ह' उड़ जाता है। 'ह' तो महाप्राण है न। दो शेर एक जगह नहीं रहते। सो–वह+ही–वही, यह+ही–यही। यह लगभग 'नित्यलोप' है। इसी तरह 'यही' 'वही' आदि स्थानवाचक अव्ययों से परे 'ही' आ जाए, तो इनके 'ही' की भी वही दशा होती है; परन्तु अनुनासिकत्व 'ही' अव्यय छीनकर अपने पास रख लेता है। यहाँ+ही–यहीं, वहाँ+ही–वहीं, कहाँ+ही–कहीं। कभी-कभी विदेशी शब्द में भी वर्ण लोप आदि होता है। 'खरीदार' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। स्वर-लोप भी होता है—हर+एक–हरेक। यह वैकल्पिक लोप है। 'हरएक' भी लिखते-बोलते हैं। वर्णहानि ही नहीं, वर्णवृद्धि भी देखी जाती है। 'दीन' के सामने (समास में) 'नाथ' जब आ जाता है, तो 'दीन' के 'न' में स्थित 'अ' दीर्घ हो जाता है—दीन+नाथ—दीनानाथ। इसी तरह 'मूसल सी धार' के अर्थ में–मूसल+धार–मूसलाधार। कभी-कभी 'मू' का 'ऊ' ह्रस्व भी हो जाता है—'मुसलाधार'। संस्कृत में जैसे 'विश्वामित्र', उसी तरह हिन्दी में 'दीनानाथ' आदि हैं। अकारान्त धातुओं से भिन्न, अन्य स्वरान्त धातुओं से परे जब यह 'उ' प्रत्यय आता है, तब स्वयं (अकेला) ही 'ओ' बन जाता है–खा+उ–खाओ, जा+उ–जाओ, सो+उ–सोओ, पी+उ–पीओ। कभी-कभी धातु के 'ई' को 'इय्' कर देते हैं–'सियो' 'पियो'। यह 'इय्' संस्कृत के 'इयङ्' की ही प्रतिमूर्त्ति है। स्त्रीलिंग बहुवचन-सूचक 'आ' परे हो, तो भी 'इ' तथा ई को 'इय' हो जाता है—बुद्धि+आँ–बुद्धियाँ, नदी+आँ–नदियाँ आदि।

कोई अन्य स्वर स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त में हो, तो सामने का यह 'आँ' 'एँ' रूप में रहता है। यदि अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द है, तो अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है और व्यञ्जन आगे के 'ऐ' में जा मिलता है :—बहन + एँ—बहनें, टिकट + एँ—टिकटें, सड़क + एँ—सड़कें। यदि अन्य कोई स्वर शब्द के अन्त में हो, तो 'एँ' तदवस्थ बना रहता है—लता + एँ—लताएँ, माता + एँ—माताएँ, गौ + एँ—गौएँ, धेनु + एँ—धेनुएँ। यदि 'ऊ' अन्त में हो, तो 'उव्' होकर 'व्' का लोप हो जाता है :—बहू + एँ—बहुएँ।"[1]

हिन्दी में प्रचलित संस्कृत के तद्रूप शब्दों में होने वाली सन्धियों की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "हिन्दी की अपनी सन्धियाँ बहुत कम हैं और सो भी एकपदीय। अनेक पदों में सन्धि समास में ही होती है, जिसे हिन्दी ने प्रांयः दूर ही रखा है। हिन्दी का गठन स्पष्ट प्रतिपत्ति के सिद्धान्त को सामने रख कर हुआ है। समास में अर्थभ्रम की बहुत्र गुंजाइश है, इससे हिन्दी सावधान है। दूसरे, समास में पदों की विधेयता-शक्ति कुछ कुंठित सी हो जाती है—समास में बँध कर विधेय पद जोर खो बैठते हैं। इसीलिए, राष्ट्रभाषा का गठन ऐसा है कि समास को बहुत कम स्थान मिला है। और, समास होने पर भी संस्कृत की सन्धियाँ नहीं होतीं। 'घर-आँगन' को भले ही 'घरआँगन' कर दीजिए, पर 'घराँगन' कभी भी नहीं होगा। हिन्दी में 'मनोकामना' जैसा कोई पद अवश्य 'अपनी' सन्धि से मिल जाता है। यहाँ 'मन' से 'कामना' का गँठबन्धन है, 'मनः' से नहीं। आगे जो सन्धियाँ लिखी जाएँगी, उनका उपयोग हिन्दी के ठेठ 'अपने' या तद्भव शब्दों में नहीं किया जाता, विदेशी भाषाओं के शब्दों में भी नहीं। 'घराधीश', 'मकानाधीश', आदि प्रयोग कभी भी नहीं होते, परन्तु एक 'जिलाधीश' शब्द चल पड़ा है। जान पड़ता है, सन्धि में 'जिला' शब्द स्पष्ट रहने से सन्धि हो गई है। 'संहितैकपदे नित्या'—सन्धि एक पद में अवश्य होती है, इस नियम का पालन बहुत कुछ हिन्दी ने किया है। राष्ट्रभाषा में 'करउ' तथा 'करइ' जैसे सन्धि-रहित पद नहीं चलते—'करो', 'करे' जैसे सन्धियुक्त पद ही प्रयुक्त होते हैं। अवधी तथा ब्रजभाषा आदि दूसरे मार्ग पर है। हिन्दी में सन्धियाँ दो ही तरह की हैं, स्वर-सन्धि और व्यंजन-सन्धि, जिनके कुछ उदाहरण पीछे देख चुके हैं। संस्कृत में तीसरा भेद एक और हैं 'विसर्ग सन्धि'। यह 'विसर्ग सन्धि'

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० १०२–११०।

संस्कृत की अपनी विशेष चीज है। संसार की किसी भी दूसरी भाषा में 'विसर्ग' जैसी कोई चीज है ही नहीं, तब 'विसर्ग-सन्धि' की वहाँ बात ही क्या। ऐसा जान पड़ता है कि मानव की 'मूलभाषा' का यह नाम-निशान भारत के महान् अध्यवसायी, त्यागी और दृढ़संकल्प ब्राह्मण-पण्डितों ने अबतक बचाए-बनाए रखा, भले ही उसके उच्चारण में किंचित् अन्तर आ गया हो। संस्कृत की सन्धियाँ सार्वभौम स्थिति रखती हैं—वे जैसे हिन्दी में चलती हैं, उसी तरह अन्य सभी भारतीय भाषाओं में भी। संस्कृत की सभी सरल सन्धियाँ हिन्दी में चलती हैं। 'सवर्णदीर्घ-एकादेश' सन्धि ज्यों की त्यों गृहीत हैं—'रामाश्रम' आदि। एक अन्तर है। संस्कृत में ऐसी जगह सन्धि की अनिवार्यता अनुशासन-सिद्ध है, जिसे हिन्दी विकल्प से ग्रहण करती है। संस्कृत में 'समस्त' पद बिना सन्धि किए—'राम-आश्रम' यों लिखा जाए, तो गलत समझा जाएगा। 'नित्या समासे संहिता'—समास में सन्धि करना जरूरी है। परन्तु हिन्दी में ऐसी जगह सन्धि की अनिवार्यता नहीं है—'राम-आश्रम' भी चलेगा। जब किसी अन्य भाषा का शब्द संस्कृत शब्द के साथ समास-बन्धन में आता है, तो सन्धि नहीं होती। समास आवश्यक, परन्तु सन्धि का निषेध यह भाषा की स्वाभाविक स्थिति है। विसर्ग सन्धि में ही एकरूप (संस्कृत में) 'पुनारचना' 'अन्ताराष्ट्र' ऐसा बन जाता है। हिन्दी ने यह सन्धि स्वीकार नहीं की है। 'पुनः' तथा 'अन्तः' के विसर्गों को 'र' के रूप में देखने का अभ्यास हिन्दी को है—'पुनर्विचार' 'अन्तर्जगत्' आदि में शतधा यह रूप आँखों के सामने आता है, परन्तु 'पुनारचना' जैसे शब्द-रूप यहाँ नहीं चलते। संस्कृत के जो पण्डित हैं, उन्हें 'पुनर्रचना' जैसे शब्द-रूप अखरेंगे, खटकेंगे। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि यह हिन्दी का क्षेत्र है। यहाँ अपना स्वरूप है, अपनी गति है। संस्कृत के पण्डितों को हिन्दी में 'विस्तार से प्रतिपादन' भी अखरेगा। वे 'विस्तर से प्रतिपादन' पसन्द करेंगे। परन्तु हिन्दी उनकी पसन्दगी का ध्यान करके अपना सरल मार्ग कैसे छोड़ देगी? संस्कृत की 'रोरि' तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' वाली सन्धि हिन्दी में नहीं चलती; न चलेगी।"[1]

'षत्वविधान' के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने लिखा है कि "हिन्दी व्याकरण में इस विषय के नियम देने का बखेड़ा न किया जाएगा। हिन्दी वाले क्या जानें कि संस्कृत के किस धातु में मूलतः 'स' और किसमें 'ष' है। उन्हें

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ६१७-६१८।

क्यों इस चक्कर में डाला जाए कि 'सिद्ध' ही 'निषिद्ध' हो गया है। 'सम-विषम' प्रयोगों से समझ जाते हैं कि 'विषम' मे 'स' को 'ष' हो गया है। जो संस्कृतज्ञ हैं, उनके लिए हिन्दी में इन नियमों का विस्तार अनावश्यक है, उनके लिए व्यर्थ का सिरदर्द है।"[१]

उन्होंने आगे लिखा है कि "व्यंजन-सधि में संस्कृत शब्द 'म्' को अनुस्वार करके चलते हैं, यदि परे 'अन्तस्थ' अथवा स्वर हों—'संरक्षण' 'संहिता'। हिन्दी में भी यही है। परन्तु संस्कृत में 'एकपद' में पर-सवर्ण जरूरी है, जैसे 'अङ्कित', 'अङ्क', 'पर्य्यङ्क', 'अञ्चित' आदि। हिन्दी में यह अनिवार्यता नहीं है—अंकित, अंक, पर्य्यंक, अंचित आदि रूप भी चलते हैं और अधिकतर ये ही चलते हैं। इन्हें 'अङ्कित' आदि के तद्भव रूप कह सकते हैं। जो तद्रूप ही लिखना चाहें उनके लिए कोई रोक नहीं है। परन्तु 'सन्धि', 'सन्ध्या', 'गुम्फित', 'हिन्दी' आदि में 'न् म्' आदि ही रहेंगे, अनुस्वार न होगा, न होना चाहिए। कारण यह कि यहाँ न्—म् आदि की स्पष्ट श्रुति है। इसी तरह पम्प आदि दूसरी भाषाओं के शब्दों को समझिए। 'संधि', 'संध्या', 'दंत', 'पंप' आदि कर देने से हिन्दी के 'यथाश्रुत लेखन' का सिद्धान्त जाता रहता है और उच्चारण-सम्बन्धी एकता भी नष्ट होगी। हिन्दी में ङ, ञ, ण वर्णों की स्थिति नगण्य है; इसलिए इनका प्रतिनिधित्व अनुस्वार करता है। 'न्' तथा 'म्' का ही उच्चारण विशेष ध्यान देने की चीज है। तद्भव 'टंडन' आदि को पर-सवर्ण करके टण्डन' जैसा लिखना बेमजे है। इसी तरह डंडा, कंडा, कंधा, नंगा, लफंगा आदि अनुस्वार से ही चलते हैं। 'सुपरिंटेंडेंट' को 'सुपरिंटेण्डेण्ट' जैसा नही लिखा जाता। 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' जैसा उच्चारण लोग करते हैं। विकल्प समझ सकते हैं। 'ङ, ञ, ण' न ठेठ हिन्दी की चीजें हैं न अंग्रेजी आदि की ही। संस्कृत में जहाँ द्विविध सन्धि है, वहाँ सरल-मधुर शब्द ही हिन्दी ने ग्रहण किया है। 'बिम्बौष्ठ-बिम्वोष्ठ' तथा 'अधरौष्ठ-अधरोष्ठ' में से 'बिम्वोष्ठ' तथा 'अधरोष्ठ' हिन्दी ने लिए हैं। सारांश यह कि क्लिष्टता से बचने की प्रवृत्ति है। परन्तु संस्कृत के सामासिक 'अत्याचार' आदि (तद्रूप) शब्दों में कोई हेर-फेर नहीं कर सकता। वैसा करने पर अर्थ का अनर्थ हो सकता है। 'सञ्चित' का 'संचित' और 'पण्डित' का 'पंडित चलेगा ही। परन्तु 'वाङ्मय' ज्यों का त्यों रहेगा, यद्यपि 'शङ्कर'—'शंकर' दोनों चलेंगे।"[२]

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ११५।

२. उपरिवत्, पृ० ११४-१८।

उपर्युक्त सन्धि-विवेचन की अधिकांश बातें ऐसी हैं, जिन पर उक्त हिन्दी व्याकरण में पहले-पहल प्रकाश डाला गया है; किन्तु क्रमबद्धता तथा सम्यक् व्यवस्था का अभाव होने के कारण यह विवेचन शास्त्रानुरूप नहीं बन पाया है। इसके अतिरिक्त इसमें कतिपय मान्यताएँ ऐसी भी हैं, जो सर्वमान्य नहीं हो सकतीं; उदाहरणार्थ—१. जब हिन्दी में प्रकृति और प्रत्यय के बीच भी अव्यय के घुस आने का प्रचलन है ही, तब 'इसी के' की व्युत्पत्ति 'इस + ही के' से नहीं मान कर 'इसके ही' से मानने में क्या तुक है। २. पढ़े, करे आदि में 'ए' प्रत्यय है, जिसके साथ युक्त होने पर धातु के अन्त्य स्वर 'अ' का लोप हो जाता है, नकि 'इ' प्रत्यय है, जैसा वाजपेयी जी ने माना है। ३. सोए, रोए आदि में तो स्पष्ट ही 'ए' प्रत्यय है। इनमें 'इ' प्रत्यय मानने पर उसके 'ए' रूप में परिवर्तित हो जाने का कोई भी युक्तिसङ्गत कारण नहीं बताया जा सकता। ४. आये—आए, लाये—लाए आदि की रूप-भिन्नता में अर्थ-भिन्नता भी है, इसलिए इनके वैकल्पिक प्रयोग की बात ही नहीं उठती। 'वे आये' और 'उनके आए पाँच दिन हुए', इनमें 'आये' क्रियापद और 'आए' अव्यय है, इसलिए एक स्थान पर दूसरे का वैकल्पिक प्रयोग कभी उचित नहीं माना जायगा। ५. एकरूपता तथा औचित्य दोनों ही दृष्टियों से 'गये—गयी' ही ठीक है 'गए—गई' नहीं। ६. जब 'हरेक' और 'जिलाधीश' शब्द हिन्दी में चलते ही हैं, तो यह मानना कि हिन्दी में संस्कृत तद्रूप शब्दों के साथ विदेशी या ठेठ शब्दों की सन्धि नहीं होती, कहाँ तक युक्तिसङ्गत है; ७. खाओ, जाओ में 'ओ' प्रत्यय नहीं मान कर 'उ' प्रत्यय मानना उल्टे हाथ नाक छूने का प्रयास माना जायगा। ८. हिन्दी के 'यथाश्रुत लेखन' का सिद्धान्त जितना न् और म् के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग से नष्ट होता है, उतना ही ङ् ञ् और ण् के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग से भी, क्योंकि ये सभी समान रूप से भिन्न-स्थानीय ध्वनियाँ हैं।

किन्तु, इन कुछेक विवादग्रस्त मान्यताओं को यदि छोड़ भी दिया जाय, तब भी जितना कुछ बच रहता है, वह वाजपेयी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए तथा इस दिशा में हिन्दी की प्रकृति और प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

द्वितीय अध्याय में 'शब्द' और 'पद' का विवेचन करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "संस्कृत-व्याकरण में 'सुबन्त' और 'तिङन्त' शब्द 'पद'

कहलाते हैं—'सुप्तिङन्तं पदम् ।' 'रामः करोति' में 'रामः' तथा 'करोति' ये दो 'पद' हैं; एक 'सुबन्त' दूसरा 'तिङन्त' । जैसे निर्विभक्तिक 'राम' कर्त्ता कारक नहीं हो सकता, उसी तरह 'तिङ्-प्रत्यय-रहित 'कृ' धातु भी कुछ कर-धर नहीं सकता । इस अवस्था में एक शब्द 'प्रातिपदिक' कहलाता है, दूसरा 'धातु' । न 'प्रातिपदिक' का प्रयोग होता है, न 'धातु' का । जब विभक्तियाँ लग जाती हैं, तब दोनों 'पद' बन जाते हैं । संस्कृत के जैसा 'प्रातिपदिक' हिन्दी में नहीं है । कारण यह कि यहाँ विभक्ति-प्रयोग की अनिवार्यता नहीं है । यहाँ तो 'अर्थ सङ्केतित शब्द' ही 'पद' है, यदि वाक्य का अंश है । चाहे उसमें कोई विभक्ति हो या न हो । विभक्ति की अनिवार्यता नहीं है ।"[१] फिर उन्होंने यह बतलाया है कि 'पद' और 'अर्थ' को क्रमशः 'वाचक' और 'वाच्य' भी कहते हैं ।

'विभक्ति' शब्द की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कई तरह की बातें लिखी हैं—"कह सकते हैं कि 'राम ने' 'कृष्ण को' आदि में ये विभक्त रूप से (पृथक्) लिखी जाती हैं; इसलिए विभक्ति । अन्य प्रत्ययों में यह बात नहीं है । पता नहीं, क्या बात है । 'विभक्ति' परम्परा से इन 'चरम' प्रत्ययों को कहते चले आते हैं । प्रत्ययों की यह विशिष्ट श्रेणी है । एक विभक्ति के बाद दूसरी विभक्ति ही लग सकती है, कोई अन्य (साधारण) प्रत्यय नहीं । सो, इन चरम प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं, बस । 'विभक्ति' नाम यदि यौगिक है, तो इसके अवयवार्थ का पता नहीं; क्योंकि संस्कृत में (तथा हिन्दी के 'उसे' आदि पदों में) इनका विभक्त प्रयोग देखा नहीं जाता । सोचने से ऐसा लगता है कि संज्ञा-शब्दों तथा क्रिया-शब्दों को ये प्रत्यय कर्तृत्व-कर्मत्व आदि तथा विधि-आज्ञा आदि अर्थों में विभक्त करते हैं; इसीलिए शायद इन्हें 'विभक्ति' कहा गया हो । इनके बिना यह विशेष अर्थों में विनियोग-विभाजन सम्भव नहीं है । हो सकता है, इसी कारण इन्हें 'विभक्ति' कहा गया हो ।"[२]

उन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को 'विश्लिष्ट' और 'संश्लिष्ट' के दो वर्गों में विभक्त किया है । 'विश्लिष्ट विभक्तियों में ने, को, से तथा में-पर को स्थान दिया है तथा 'संश्लिष्ट' विभक्तियों में के, रे, ने और इ को । 'विश्लिष्ट'

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पृ० ११९–१२० ।

२. उपरिवत्, पृ० १२३–१२४ ।

विभक्तियों के भिन्न-कारकीय प्रयोगों के सम्बन्ध में उन्होंने प्रायः वे ही बातें लिखी हैं, जिनकी चर्चा 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' के एतद्विषयक प्रसङ्ग में की जा चुकी है। 'संश्लिष्ट' के, रे, ने विभक्तियों को उन्होंने 'कारक विभक्तियों' से भिन्न माना है तथा इन्हें 'सम्बन्ध विभक्तियाँ' कहा है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा है कि "इन तीनों विभक्तियों के प्रतिरूपक तीन सम्बन्ध-प्रत्यय पृथक् हैं—क, र, न। इन सम्बन्ध-प्रत्ययों को अबतक सम्बन्ध-विभक्ति समझा जाता रहा है। इनमें पुंविभक्ति (आ) लगा कर का, ना, रा, रूप होते हैं। क, न, र तद्धित प्रत्यय हैं, जिनमें पुल्लिङ्ग विभक्ति लगती है।"[१] तद्धित सम्बन्ध-प्रत्यय के रूप बदलते हैं। जैसे—तेरा, तेरे, तेरी। परन्तु विभक्ति का रूप नहीं बदलता। हिन्दी की ने, को, में, से आदि विभक्तियाँ सदा एकरूप रहती हैं। इसी तरह एकरूप रहने वाली हिन्दी की के, रे, ने ये तीन सम्बन्ध-विभक्तियाँ हैं। 'रे' केवल म० उ० सर्वनामों में लगती है और 'ने' केवल 'आप' शब्द में। 'के' विभक्ति (उपर्युक्त दोनों विभक्तियों के विषय को छोड़ कर) सर्वत्र चलती है।"[२] जैसे—राम के एक लड़का है, राम के एक लड़की है, राम के चार गौएँ हैं; तेरे एक लड़का है, तेरे एक लड़की है, तेरे चार गौएँ हैं। अपने तो भाई, एक ही लड़का है; अपने तो भगवान् की दया से चार लड़के हैं; अपने एक गाय है, चार भैंसें हैं। दिशावाचक शब्दों के योग में भी ये विभक्तियाँ लगती हैं—राम के दाहिनी ओर गोविन्द है। सावित्री के बाईं ओर उसका भाई है। राम के बगल में ही गोविन्द का घर है। 'बगल' शब्द यदि दिशावाचक न हो, तो विभक्ति नहीं, 'सम्बन्ध-प्रत्यय' लगेगा—राम की बगल में फोड़ा हो गया है। इस प्रकार उन्होंने इसे अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया कि "हिन्दी में सम्बन्ध-विभक्ति तथा सम्बन्ध-प्रत्यय के विषय पृथक्-पृथक् और सुव्यवस्थित हैं।[३]"

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही 'भेद्य' और 'भेदक' पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि "साधारणतः लोग 'भेद्य' कहते हैं 'विशेष्य' को और 'भेदक' कहते हैं 'विशेषण' को। 'विशेष्य' तथा 'विशेषण' शब्दों के रहते भी ये दो अन्य शब्द विशेष प्रयोजन से हैं। 'लाल फूल' में 'लाल' विशेषण है और 'फूल' विशेष्य।

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० १२७।

२. उपरिवत्, पृ० १२८।

३. उपरिवत्, पृ० १२० ।

परन्तु, जब किसी विशेष सम्बन्ध को लेकर यह विशेष्य-विशेषण भाव होता है, तब 'भेद्य-भेदक' इन्हें कहते हैं। 'पुष्प' निर्विशेष शब्द है। 'वन्यपुष्प' में 'वन्य' विशेषण है और इस विशेषण को भेदक कहते हैं। सभी विशेषण वस्तुतः 'भेदक' ही हैं। अन्यों से भेद करते हैं। परन्तु, तद्धितीय सम्बन्ध-विशेषण के लिए 'भेदक' शब्द रहना सुभीते की बात है। विभक्ति-प्रयोग से भी 'भेद्य-भेदक' भाव होता है। 'वनस्य फलानि' में 'वनस्य' भेदक है और 'फलानि' 'भेद्य' है। 'वन्यानि फलानि' और 'वनस्य फलानि' एक ही बात है। 'वन्यानि' की ही तरह 'वनस्य' भी 'भेदक' है, विशेषण है। एक जगह समानाधिकरण विशेषण या भेदक है—'वन्यानि फलानि'। दूसरी जगह व्यधिकरण विशेषण या भेदक है—'वनस्य फलानि'। हिन्दी भेदक (विशेषण) विभक्ति-प्रयोग से व्यधिकरण नहीं करती, सर्वत्र समानाधिकरण रखती है—जंगल के फूल, जंगल की जड़ी।"[१]

संश्लिष्ट विभक्ति 'इ' के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने लिखा है कि 'इ' विभक्ति यह, वह, जो, कौन सर्वनामों में वहाँ लगती है, जहाँ अन्य शब्दों में 'को' लगती है। इन सर्वनामों में भी इसका वैकल्पिक प्रयोग है। इसे-इसको, उसे-उसको, जिसे-जिसको यों द्विविध प्रयोग यथारुचि या यथावश्यक होते हैं। 'तू-तुम' तथा 'मैं-हम' में भी इसका प्रयोग उसी तरह होता है। विभक्ति लगने पर 'वह' आदि को 'उस' आदि रूप मिलता है, उसी तरह 'तू-मैं' को 'तुझ-मुझ' 'तुझे-तुझको' 'मुझे-मुझको'। 'उसे' तथा 'तुझे' आदि में गुण-संधि; 'अ' तथा 'इ' मिलकर 'ए'। बहुवचन में प्रकृति तथा इस 'इ' प्रत्यय के बीच में एक 'ह' विकरण आ जाता है। बहुवचन में, विभक्ति परे हो, तब 'यह-वह' आदि को 'इन-उन' आदि हो जाता है। 'तुम-हम' ज्यों के त्यों रहते हे। ऐसा जान पड़ता है कि अनुनासिक से बहुत्व-सूचन की प्रवृत्ति है। 'अस्ति-सन्ति', 'भवति-भवन्ति' आदि में 'न्' से बहुत्व सूचित होता है। 'है' 'हैं' जैसी हिन्दी क्रियाओं में (अनुनासिक व्यंजन की जगह) स्वर अनुनासिक दिए गए हैं। उसी तरह 'यह-वह' को 'इन-उन' कर दिया जाता है। 'तुम-हम' में 'म' पहले से ही है; इस लिए अन्य अनुनासिक की जरूरत ही नहीं। हाँ, इ को अनुनासिक रूप (इँ) अवश्य प्राप्त हो जाता है—'इन्हें-इनको', 'उन्हें-उनको', 'तुम्हें-तुमको', 'हमें-हमको'।"[२] इस 'इ' विभक्ति की उत्पत्ति का उन्होंने जो इतिहास दिया है, उसे

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० १३१-१३२।

२. उपरिवत्, पृ० १३३।

संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—वै० सं० एभिः (बालकेभिः) सं० ऐः (बालकैः) प्रा० एहिं (रामेहिं) अप० हि-हिं, हि० इ-इँ ।

अन्त में, उपर्युक्त सभी विभक्तियों को उन्होंने 'कारक-विभक्ति' तथा 'उपपद-विभक्ति' के दो वर्गों में बाँटते हुए लिखा है कि "जब किसी विभक्ति से कारकत्व प्रकट हो, तब 'कारक-विभक्ति' और उससे भिन्न स्थल में 'उपपद-विभक्ति' कहलाती है ।"[१]

उपर्युक्त विभक्ति-विवेचन में वाजपेयी जी ने अपनी अद्भुत सूक्ष्मेक्षिका का सुन्दर परिचय दिया है । इसमें 'सम्बन्ध-विभक्ति' तथा 'सम्बन्ध-प्रत्यय' का जो अन्तर उन्होंने स्पष्ट किया है, वह हिन्दी-व्याकरण के लिए एक अभिनव तथ्योपलब्धि है । इस प्रकरण में केवल दो बातें खटकती हैं :—एक तो यह कि विभक्तियों में उन्होंने सम्प्रदान की विभक्ति 'के लिए' की कोई चर्चा नहीं की है, तथा 'इसे-उसे' आदि में 'ए' विभक्ति नहीं मान कर, सन्धि-लोभ से 'इ' विभक्ति मान ली है ।

विभक्ति-विवेचन के पश्चात् उन्होंने कारकों का परिचय दिया है । उनके अनुसार 'क्रिया के साथ जिसका सीधा सम्बन्ध हो, उसे 'कारक' कहते हैं— "क्रियान्वयित्वं कारकत्वम् ।"[२] यह परिभाषा संस्कृत-व्याकरणानुरूप है, किन्तु गुरुजी की परिभाषा से भिन्न है । इसके आधार पर उन्होंने हिन्दी में कुल छह कारक माने हैं और 'सम्बन्ध' तथा 'सम्बोधन' को कारकों में परिगणित नहीं किया है । कारकों का विवेचन प्रायः उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' में, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है । इस प्रसङ्ग में उन्होंने कहीं-कहीं ऐसी बातें लिख दी हैं, जो नितान्त भ्रामक हैं; उदाहरणार्थ, उन्होंने गत्यर्थक सकर्मक क्रिया के साथ निर्विभक्तिक कर्त्ता के प्रयोग के जो उदाहरण दिये हैं, वे द्रष्टव्य हैं—'राम काशी गया', लड़की वृन्दावन गई' । इन उदाहरणों में उन्होंने 'गया-गई' को सकर्मक क्रिया तथा 'काशी' और 'वृन्दावन' को कर्म माना है,[३] जबकि एक साधारण छात्र भी यह बता देगा कि 'गया-गई' अकर्मक क्रिया है तथा 'काशी' और 'वृन्दावन' विभक्ति-

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी-शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० १३५ ।

२. उपरिवत्, पृ० १३६ ।

३. उपरिवत्, पृ० १४२ ।

रहित अधिकरण। इसी प्रकार 'लाना' क्रिया को 'ले-आना' का संयुक्त रूप मान लेना भी बहुत उपयुक्त नहीं है; क्योंकि दोनों में अर्थ की चाहे कम ही सही, किन्तु भिन्नता है अवश्य।

कारक-विवेचन के पश्चात् उन्होंने विभक्तियों के स्वरूप तथा प्रयोग का पुनः विवेचन किया है। तदनन्तर, उन्होंने कारक को 'सिद्ध' तथा क्रिया को 'साध्य' बताते हुए 'सिद्ध' एवं 'साध्य' का सामान्य परिचय दिया है और अध्याय के अन्त में 'विभक्ति' के स्थान पर 'परसर्ग' शब्द के प्रयोग-प्रचलन को अनुचित ठहराने का असफल प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में शब्दों के मुख्य वर्गों की चर्चा के प्रसङ्ग में वाजपेयी जी ने यास्क के मत (नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च) का उल्लेख करते हुए शब्द के मुख्य चार वर्ग ही माने हैं—नाम (संज्ञा); आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात (अव्यय)। इनमें से प्रथम दो को सर्वाधिक मुख्य और शेष दो को अपेक्षाकृत गौण मानते हुए उन्होंने लिखा है कि 'नाम' तथा 'आख्यात' स्वतन्त्र चलते हैं और उपसर्ग-निपात इन्हीं की सेवा में रहते हैं।"[1] 'नाम' शब्द को 'संज्ञा' शब्द की अपेक्षा अधिक उपयुक्त बताते हुए उन्होंने लिखा है कि 'नाम' को हिन्दी-व्याकरणों में 'संज्ञा' नाम दिया गया है। परन्तु 'नाम'—'सर्वनाम' सीधे है। पाणिनि-पद्धति में भी 'नाम' चलता है। 'नामधातु' का वर्णन हिन्दी-व्याकरणों में भी आता है। 'नाम' को 'संज्ञा' कहने पर 'सर्वनाम' को 'सर्वसंज्ञा' तथा 'नामधातु' को 'संज्ञाधातु' कहना ठीक होगा।"[2] उनकी यह मान्यता नितान्त उपयुक्त और तर्कसम्मत है; किन्तु इस पर जोर देने की अपेक्षा अपने स्वभाव के प्रतिकूल उन्होंने यह लिख कर छुट्टी ले ली है कि "हम इस झंझट में क्यों पड़ें? नाम में क्या रखा है? काम से मतलब। 'संज्ञा' ही कहते चलिए।"[3]

आगे उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि 'नाम' सत्त्वप्रधान और 'आख्यात' भावप्रधान होते हैं—'सत्त्वप्रधानानि नामानि', 'भाव प्रधानमाख्यातम्'। 'सत्त्व' का तात्पर्य उनके अनुसार 'सत्ता' से तथा 'भाव' का 'धात्वर्थ' से है। 'सत्त्व'

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी-शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध. पृ० १७३।

२. उपरिवत्, पृ० १७३।

३. उपरिवत्।

के लिए 'द्रव्य' शब्द का भी प्रयोग होता है। जिन शब्दों में संज्ञा-विभक्तियाँ लगती हैं, उन्हें 'द्रव्य' कहते हैं—'लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यम्'। क्रिया-मात्र प्रतीत होती है। इसी को 'भाव' कहते हैं। क्रिया में स्वतः लिङ्ग-संख्या आदि नहीं है। 'भावप्रधान' क्रियाशब्दों के रूप संज्ञा-शब्दों की ही तरह चलते हैं—

क्रियाभिनिर्वृत्ति वशोपजातः कृदन्त शब्दाभिहितो यदा स्यात्।
संख्याविभक्ति व्ययलिङ्ग युक्तः भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः॥

अर्थात् भाव (धात्वर्थ) जब सिद्ध अवस्था में कृदन्त शब्दों के द्वारा प्रकट होता है, तब उसमें 'द्रव्य' की ही तरह ('ने' 'को' आदि) विभक्तियाँ लगती हैं, वचन-भेद भी उसी तरह होता है और स्त्रीपुंभेद भी वैसा ही होता है।''[१] इसी को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'कृदभिहित भावो द्रव्यवद् भवति'—कृदन्त से कहा गया 'भाव' 'द्रव्य' की तरह प्रयुक्त होता है; उसमें लिङ्ग भेद होता है; संज्ञा-विभक्तियाँ लगती हैं। इसीलिए आना, जाना, आदि को 'भाववाचक' संज्ञा कहते हैं। परन्तु धातुओं से बने सभी शब्द संज्ञा-शब्दों में नहीं आ जाते। सत्त्वप्रधान शब्द तो 'नाम' हैं ही; किन्तु जहाँ 'भाव' प्रधान है, इन्हें संज्ञा-शब्द नहीं कह सकते। ऐसे शब्दों में 'ने' 'से' आदि विभक्तियाँ भी न लगेंगी; पुंस्त्री० भेद से रूप-भेद जरूर होगा और वचन-भेद भी—राम गया—सीता गई, लड़के गए—लड़कियाँ गईं। हिन्दी में 'आख्यात' या क्रिया शब्द कृदन्त ही अधिक हैं, जिनमें लिंग-भेद तथा वचन-भेद संज्ञा की ही तरह होते हैं। तिङन्त आख्यात बहुत कम हैं हिन्दी में। इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि तिङन्त ही आख्यात होते हैं, कृदन्त नहीं।''[२]

अव्यय की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि ''अव्ययों में भी पुरुष, वचन या लिंग का भेद नही होता; परन्तु विभक्ति कहीं लगती है— जब से, तब से आदि। संस्कृत में भी अव्ययों के आगे विभक्तियाँ आती हैं, जिनका 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र से लोप हो जाता है। तभी अव्यय पद कहलाते हैं।''[३]

अव्यय के संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् उन्होंने शब्दों के लिङ्ग-वचन का सामान्य किन्तु सविस्तर विवेचन किया है। फिर विशेषण तथा सर्वनाम पर

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी-शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० १७४।

२. उपरिवत्, पृ० १७५–१७६।

३. उपरिवत्, पृ० १७७।

प्रकाश डाला है। इन विषयों का विवेचन 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' के एतद्विषयक विवेचन पर ही आधारित है। इसमें कहीं कोई उल्लेखनीय मौलिक उद्घाटन नहीं है।

चतुर्थ अध्याय में अव्यय और उपसर्ग पर प्रकाश डाला गया है। अव्यय के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने लिखा है कि "न व्येति विविधं विकारं न गच्छतीत्यव्ययम्', तरह-तरह के विकार (रूप-परिवर्त्तन) जो नाम-सर्वनाम आदि में (प्रयोग-भेद से) होते हैं, वे इन (आह, ओह आदि) शब्दों में कभी नहीं देखे जाते; इसलिए इनका नाम 'अव्यय' रख लिया गया।"[1] इस प्रसङ्ग में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'क्रियाविशेषण' भी अव्यय होते हैं, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सभी अव्यय क्रियाविशेषण होते हैं। संस्कृत में अव्यय से परे विभक्ति का लोप हो जाता है, किन्तु हिन्दी में लोप नहीं होता। इसके अतिरिक्त अव्यय में विभक्ति लगने पर भी उसके रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, उसका अव्ययत्व ज्यों-का-त्यों बना रहता है। किन्तु, एक अव्यय से दूसरे अव्यय की कभी सन्धि अवश्य देखी जाती है, जैसे—अभी, तभी आदि में। तद्धित की ही तरह वे कृदन्त शब्द अव्ययों में ही गिने जाते हैं, जो सदा एकरस रहते हैं। संस्कृत के अव्यय भी हिन्दी में चलते हैं; परन्तु जहाँ अपने अव्यय स्थिर कर लिए गए हैं, वहाँ किसी भी दूसरी भाषा—संस्कृत का भी—कोई अव्यय नहीं चलता। संस्कृत की कोई-कोई संज्ञा हिन्दी में अव्यय बन गयी है; उदाहरणार्थ 'श्री'।

उपसर्ग का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी में लंस्कृत के उपसर्ग भी चलते हैं और हिन्दी ने अपने भी दो-एक उपसर्ग बनाये हैं। इन उपसर्गों के बँधे-बँधाए प्रयोग हैं। संस्कृत में उपसर्गों को अव्ययों में रख कर भी इनकी एक विशिष्ट श्रेणी मानी है। इनके विशिष्ट प्रयोग हैं। अव्यय होने पर भी प्रयोगों पर अच्छी तरह ध्यान देने से ऐसा लगता है कि इनकी एक पृथक् श्रेणी माननी ही चाहिए; भले ही फिर अव्ययों की एक विशिष्ट श्रेणी कहें। परन्तु स्वतन्त्र इनका प्रयोग नहीं होता। अव्ययों का स्वतन्त्र प्रयोग अबाध गति से होता है। हिन्दी में एकाध उपसर्ग संज्ञा या क्रिया के रूप में जरूर चलता है। पर ऐसी स्थिति में उसे उपसर्ग न कह कर 'संज्ञा' या 'क्रिया' ही कहेंगे। परन्तु साधारणतः सभी उपसर्ग किसी शब्द की मदद

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० २४९।

भर करते हैं, स्वतन्त्र रूप से पृथक् आकर काम नहीं करते। संस्कृत में 'प्रहार' 'विहार' आदि कृदन्त शब्दों में ही नहीं; 'प्रहरति' 'विहरति' आदि आख्यात (क्रिया) शब्दों में भी उपसर्ग लगते हैं—खूब लगते हैं। परन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं होता। क्रियाएँ हिन्दी की सब तद्भव हैं; इसलिए संस्कृत के उपसर्ग तो स्वभावतः लग ही नहीं सकते; पर हिन्दी के 'अपने' नि, उ जैसे उपसर्ग भी नहीं लगते।"[1]

इस प्रसङ्ग में उन्होंने पुनः एक बार इस तथ्य पर विस्तार से प्रकाश डाला है कि "हिन्दी में कोई भी अपना शब्द हलन्त नहीं है; सभी स्वरान्त हैं।"[2] इसके साथ ही उन्होंने 'विभक्ति' के स्थान पर प्रचलित 'परसर्ग' शब्द को नितान्त अनुपयुक्त सिद्ध करने का भी प्रयास किया है।

पञ्चम अध्याय में 'यौगिक शब्दों की प्रक्रियाएँ' बतलायी गयीं हैं। इस प्रसङ्ग में 'रूढ़' तथा 'यौगिक' के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "निरुक्त शास्त्र के कुछ आचार्यों का मत है कि भाषा के—उनके सामने संस्कृत भाषा के—सभी शब्द यौगिक हैं; यह अलग बात है कि उनमें से बहुतों का योगार्थ या व्युत्पत्ति हम भूल गए और इन्हें 'रूढ़' शब्द कहने लगे। सोचने पर व्युत्पत्ति मालूम हो सकती है। कुछ लोगों का कहना है कि भाषा में स्वभावतः दोनों तरह के शब्द पहले से ही चले आ रहे हैं। जो भी हो, हम यह मान लें कि जिस शब्द की व्युत्पत्ति शिष्टजनप्रसिद्ध है, वह यौगिक और जिसकी व्युत्पत्ति बहुत सोचने पर भी विद्वत्समाज के सामने नहीं, वह 'रूढ़' शब्द है। जब इसकी व्युत्पत्ति मालूम हो जाएगी, तब यह भी हमारे लिए 'यौगिक' हो जाएगा।[3]

योगार्थ की दृष्टि से व्याकरण में कृदन्त, तद्धित तथा समास नाम के तीन प्रमुख प्रकरण रखे गये हैं—यानी शब्दों की व्युत्पत्ति त्रिधा सम्भावित है। वाजपेयी जी ने इस अध्याय में इन्हीं तीनों का क्रमशः विवेचन किया है।

कृदन्त-प्रकरण में उन्होंने लिखा है कि 'कृदन्त' तथा 'तद्धित' शब्द हिन्दी व्याकरण में 'रूढ़' शब्द के रूप में गृहीत हैं। ये संस्कृत व्याकरण के शब्द हैं। वहाँ ये 'यौगिक' शब्द हैं। परन्तु हिन्दी में 'कृत्' जैसी कोई चीज नहीं है।

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० २५७-२५९।
२. उपरिवत्, पृ० २६१।
३. उपरिवत्, पृ० २८४।

इसलिए यहाँ यह रूढ़ शब्द है—उसी अर्थ में। जिस संज्ञा या विशेषण आदि में किसी क्रिया (धातु) का अर्थ झलक मारता हो, उसे 'कृदन्त' शब्द कहते हैं।''[१] इसके पश्चात् उन्होंने कृदन्त-प्रकरण के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने का यह कारण बताया है कि इसका सम्बन्ध संज्ञा-विशेषण आदि से होने के अतिरिक्त क्रिया-प्रकरण से विशेष है। इस अध्याय में उन्होंने संज्ञा-विशेषणादि से सम्बन्ध रखने वाले कृदन्तों की चर्चा की है। उनके अनुसार ''हिन्दी कृदन्त शब्दों में 'भाववाचक' संज्ञाएँ सबसे अधिक हैं। कृदन्त और तद्धित के 'भाव' पृथक्-पृथक् हैं। कृदन्त 'भाव' का मतलब है—'शुद्ध धात्वर्थ।' केवल धातु का अर्थ 'भाव' कहलाता है, जिसमें न कोई 'काल' और न कोई 'पुरुष' की प्रतीति। वचन-भेद भी नहीं, सदा एकवचन। यद्यपि शुद्ध भाव में लिंग-वचन का कोई सम्बन्ध नहीं होता; तो भी एकवचन केवल व्यवहार के लिए होता है। हिन्दी में पु० एकवचन सामान्य प्रयोग है—औत्सर्गिक है; जैसे संस्कृत में नपुंसकलिंग-एकवचन। पढ़ना, कतरना, जाना, आना आदि धातुज शब्दों से अन्य कोई भी अर्थ सामने नहीं आता—न पुरुष, न वचन, न लिंग, न कारक, न आज्ञा-प्रार्थना आदि। केवल धात्वर्थ की प्रतीति होती है। इसीलिए ऐसे शब्दों को 'भाववाचक संज्ञा' हिन्दी में कहते हैं। संस्कृत की 'अध्ययनम्, पठनम्, शयनम् आदि भाववाचक संज्ञाएँ हैं। यानी क्रिया के सामान्य रूप को 'भाव' कहते हैं और उसके लिए प्रयुक्त होने वाली संज्ञाएँ 'भाववाचक' संज्ञाएँ कहलाती हैं।''[२]

इस प्रसङ्ग में आगे उन्होंने स्पष्ट किया है कि जब किसी संज्ञा का उच्चारण होगा, तो कोई-न-कोई लिङ्ग-वचन जरूर ही बोलना पड़ेगा। सो, कृदन्त भाववाचक संज्ञाओं में कहीं पु० एकवचन रहता है और कहीं स्त्री० एकवचन। तद्धित भाववाचक संज्ञाएँ भी हिन्दी में एकवचन ही रहती हैं। परन्तु तद्धित का 'भाव' दूसरी चीज है। वहाँ 'धात्वर्थ' जैसी कोई बात ही नहीं। वह तो संज्ञा में संज्ञान्तर या विशेषण से संज्ञा बनाने का स्थल है। वहाँ भाव' का मतलब है—स्वरूपाख्यान। पण्डित का भाव 'पाण्डित्य' या 'पण्डिताई'। स्वरूपाख्यान में भी सदा एकवचन रहेगा और वर्ग-भेद भी न होगा, जैसे—राम का पाण्डित्य, सीता का पाण्डित्य, राम की चतुराई,

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० २६५।

२. वही, पृ० २६६-६७।

सीता की चतुराई आदि। कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ जब स्त्रीलिङ्ग होती हैं, तब 'न' प्रत्यय में पुंविभक्ति नहीं लगती—जलन, सूजन आदि। पुंविभक्ति लगा देने पर वे ही पुल्लिङ्ग बन जाती हैं—जलना, सूजना आदि। परन्तु दोनों में अर्थ-भेद है। कभी-कभी हिन्दी की भाववाचक कृदन्त पु० संज्ञाएँ पुंविभक्ति के बिना भी रहती हैं; जैसे—खान-पान। 'न' के अतिरिक्त अन्य कृदन्त-प्रत्यय भी 'भाव' प्रकट करने के लिए आते हैं; परन्तु अर्थ-भेद के लिए ही; जैसे 'बहाव'। यहाँ 'बह' धातु में 'आव' प्रत्यय है। भाववाचक संज्ञाएँ 'न्त' स्त्री० प्रत्यय से भी बनती हैं—भिड़न्त, रटन्त आदि। प्रत्ययरहित भाववाचक संज्ञाएँ भी स्त्री० होती हैं—देख-रेख, लूट, चमक, दौड़ आदि।

कृदन्त विशेषण की चर्चा करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि संज्ञाओं की तरह कृदन्त विशेषण भी हिन्दी में बनते-चलते हैं। 'त' प्रत्यय—कर्त्तृ-प्रधान वर्त्तमान काल के विशेषण बनाता है। त-प्रत्ययान्त विशेषण प्रायः द्विरुक्त हो जाते हैं; या फिर सामान्य (काल-निरपेक्ष) 'हुआ' साथ रहता है, जैसे—राम पुस्तक पढ़ता हुआ हमसे बातें भी कर रहा है, सीता पुष्प चुनती-चुनती कुछ गाने लगती है, लड़के विद्यालय जाते-जाते थक जाते हैं, आदि। 'त' प्रत्यय (काल-निरपेक्ष) भावप्रधान भी होता है; यानी सदा पु० एकवचन रहता है. जैसे—लड़कियाँ पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते हैरान हो गयीं। 'य' प्रत्यय भूतकाल का कर्त्तृप्रधान, कर्मप्रधान और कभी-कभी भावप्रधान भी होता है; जैसे काशी गये हुए लड़कों ने अपना काम कर लिया, यह काम सुभद्रा का किया हुआ है, आदि।

'त' प्रत्यय के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने लिखा है कि "यह 'त' प्रत्यय काल-निरपेक्ष है और स्थिति मात्र बतलाता है। काल-निरपेक्ष होने से सभी कालों में 'त' लग जाता है। 'है', 'था', 'गा', 'होगा' आदि के लगने से 'त' वर्त्तमान आदि प्रकट करता है, अकेला नहीं। इसलिए इसे वर्त्तमान काल का प्रत्यय न कहकर सामान्य-प्रत्यय कहना चाहिए—सर्वत्रनिर्बाध सहयोग-सामञ्जस्य।"[1]

हिन्दी में संस्कृत कृदन्तों के प्रयोग को स्पष्ट करते हुए वाजपेयी जी ने यह बताया है कि संस्कृत के कृदन्त शब्दों का प्रयोग हिन्दी में विविध रूप से

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० [illegible]

होता है। सभी कृदन्त शब्दों का हिन्दी में प्रयोग नहीं होता और जिनका होता है, वे भी सब एक ही पद्धति पर नहीं चलते हैं। उदाहरणार्थ; 'अनुसरण' के स्थान पर 'अनुसार' या 'अनुगमन' के स्थान पर 'अनुगम' का प्रयोग हिन्दी में नहीं हो सकता। इसी तरह 'संहार किया' के स्थान पर 'संहरण किया' जैसा प्रयोग हिन्दी के अनुकूल नहीं।

कृदन्त के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् 'तद्धित-प्रकरण' है। तद्धित का परिचय देते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "किसी संज्ञा से, विशेषण से, या अव्यय से शब्दान्तर बनाने की पद्धति को 'तद्धित' कहते हैं। तद्धित प्रत्यय भाषा में नए बनते रहे हैं; पुराने लुप्त होते रहे हैं और रूपान्तरित भी होते रहे हैं। यानी भाषा के अन्यान्य अवयवों की तरह प्रत्ययों का भी उद्भव, तिरोभाव तथा रूपान्तर होता है।"[1] इसके उदाहरण में उन्होंने वैदिक प्रत्यय 'ताति' (शिवतातिः) से 'ता' (मधुरता, सुन्दरता), 'आई' (चतुराई, निठुराई) तथा 'ई' (सावधानी, होशियारी) प्रत्ययों के विकास की कल्पना की है। आगे उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि तद्धित प्रत्यय विविध अर्थों में होते हैं। उनके योग से होनेवाले शब्दों के रूपान्तर विविध सम्बन्धित अर्थ प्रकट करते हैं।

हिन्दी में गृहीत संस्कृत के तद्धित-प्रत्ययों की चर्चा के प्रसङ्ग में उन्होंने बताया है कि संस्कृत के प्रत्यय अधिकांशतः संस्कृत के तद्रूप शब्दों में ही लगते हैं, किन्तु हिन्दी संस्कृत के सभी विधि-निषेधों को ज्यों-का-त्यों नहीं मानती। 'ईय' संस्कृत प्रत्यय है, जो संस्कृत शब्दों में ही लगता है। अन्यत्र 'ई' का प्रयोग होता है, जो 'ईय' का ही घिसा हुआ रूप है। 'ईय' तद्धित प्रत्यय तो है ही; जैसे राष्ट्रीय, विवेचनीय आदि। तद्धित का 'ईय' सम्बन्ध बताता है और कृदन्त का 'ईय' विधि आदि। कृदन्त 'ईय' कभी-कभी तद्भव शब्द में भी लगता है, जैसे—'सराहनीय; किन्तु सर्वत्र नहीं। हिन्दी का 'वाला' भी ऐसा ही प्रत्यय है, जो कृदन्त तथा तद्धित दोनों प्रत्ययों के रूप में व्यवहृत होता है; यथा टाँगेवाला, जानेवाला। हिन्दी की यौगिक प्रक्रियाओं (तद्धित, समास, प्रेरणा आदि) में मूल का प्रथम दीर्घस्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता है, जैसे—ढीठ–ढिठाई, लोन–लुनाई। किन्तु, 'ऐ' और 'औ' प्रायः ज्यों-के-त्यों रहते हैं, जैसे—चौड़ा-चौड़ाई। संस्कृत के 'त्व' 'ता' आदि तद्धित-प्रत्यय संस्कृत शब्दों में ही लगते हैं, संस्कृत-व्याकरण के ही अनुसार; किन्तु 'महानता'

---

१ कि० दा० वा०, 'हिन्दी-शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० २८५।

शब्द अपवाद है। संस्कृत के तद्धित-प्रत्ययों को कुछ रूपान्तरित करके तद्भव रूप में हिन्दी अपने या संस्कृतेतर शब्दों में लगाती है। ऐसे तद्भव प्रत्यय संस्कृत शब्दों में नहीं लगते। 'दयालु' 'कृपालु' आदि के 'आलु' का 'आलू' बनाकर हिन्दी 'झगड़ालू' आदि शब्दों में लगाती है, इसी तरह 'धनवान्' आदि के 'वान्' का 'वान' बनाकर 'गाड़ीवान' 'पीलवान' आदि बनाती है। इसी 'वान' से वाजपेयी जी ने 'वाला' की व्युत्पत्ति भी सिद्ध की है—'न' का 'ल' और उसमें पुंविभक्ति 'आ' का योग। 'वान' का प्रयोग सर्वत्र संश्लिष्ट रूप में होता है, किन्तु 'वाला' का विशिष्ट रूप में भी।

वाजपेयी जी के अनुसार एक ही प्रत्यय जब अनेक प्रकार से अनेक अर्थ प्रकट करता है तो उसे एक ही प्रत्यय मानना ठीक नहीं है—'अर्थ-भेदात् शब्द भेदः—जितने अर्थ, उतने शब्द; जितने अर्थ, उतने प्रत्यय। रंग-रूप एक होने से क्या? असली चीज अर्थ है।'[१] इसी आधार पर उन्होंने 'बोझा', 'प्यासा', 'प्यारा', 'बजाजा' आदि के 'आ' प्रत्यय को भिन्न-भिन्न माना है।

उन्होंने 'बिक्री' को 'विक्रय' तथा 'पता' को 'पत्ता' का विकास मानते हुए लिखा है कि 'तद्धित-प्रत्ययों से शब्दों का रूपान्तरित होना और उनसे अर्थान्तर का निकलना एक बात है; किन्तु शब्द-विकास दूसरी चीज है। कभी-कभी शब्द-विकास की ही कोई चीज व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय रूप से विभाजित की जाती है; परन्तु 'बिक्री' या 'पता' जैसे शब्दों में वह बात नहीं।"[२]

इसी प्रसङ्ग में आगे उन्होंने बताया है कि "हिन्दी-व्याकरणों में 'सा' को तद्धित प्रत्यय मानकर 'ऐसा' आदि को तद्धितान्त शब्द लोगों ने बताया है; जो गलत है। कारण, यहाँ उभय अंश सार्थक दिखाई देते हैं। 'ऐसा' में 'यह' और 'सा' साफ दिखाई देते हैं।[३] यह हो सकता है कि 'ईदृशः' 'कीदृशः' आदि के विकास 'ऐसा' 'कैसा' आदि शब्द हों। परन्तु हिन्दी के व्याकरण में इन्हें पूर्वोक्त पद्धति पर 'सामासिक' पद बतलाना अधिक अच्छा; क्योंकि 'यह' और 'सा' आदि रूप पृथक्-पृथक् हिन्दी में चल रहे हैं। हिन्दीवाले झट समझ लेंगे। 'ईदृशः' सभी हिन्दीवाले जानते समझते हों; सो तो है ही नहीं।[४] हाँ, इधर,

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी-शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० २९३।

२. उपरिवत्, पृ० २९२।

३. उपरिवत्, पृ० २९४।

४. उपरिवत्, पृ० २९५।

उधर, किधर शब्दों को यह, वह, और कौन से 'धर' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न माना जाएगा; क्योंकि 'धर' शब्द दिशा के अर्थ में (हिन्दी में) प्रचलित नहीं, कहीं देखा-सुना नहीं। इसी तरह यहाँ, वहाँ, कहाँ शब्द तद्धितान्त हैं, और 'इधर' 'उधर' आदि की तरह ये भी अव्यय हैं। हिन्दी के व्याकरणों में 'यहाँ' आदि में 'आ' प्रत्यय लोगों ने माना-लिखा है, जो ठीक नहीं। 'आँ' प्रत्यय होने पर 'कौन' से 'कहाँ' कैसे बनेगा? वस्तुतः यहाँ 'अहाँ' प्रत्यय है। नियम यह बनेगा कि 'यह-वह' आदि सर्वनामों से अधिकरण-प्रधान 'अहाँ' प्रत्यय होता है और प्रत्यय परे होने पर उन सर्वनामों के आद्य व्यंजन मात्र शेष रहते हैं; और आगे का सब कुछ अंश लुप्त हो जाता है। फिर वह 'शेष व्यंजन' प्रत्यय के अ में मिलकर 'यहाँ', 'जहाँ', 'कहाँ' रूप बन जाते हैं।"[1] इसी प्रकार उन्होंने यह + ओं = 'यों', तथा शेष सर्वनामों में 'यों' लगाकर 'ज्यों', 'त्यों', 'क्यों' के रूपों को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में वाजपेयी जी का यह विचार कि चूँकि हिन्दी वाले संस्कृत के 'ईदृशः', 'कीदृशः' आदि से अपरिचित हैं, इसलिए 'ऐसा', 'कैसा' को उन शब्दों से विकसित नहीं बताकर 'यह + सा', 'कौन + सा, के रूप से व्युत्पन्न सामासिक पद बताना ही उचित है; नितान्त अनुचित एवं अनुपयुक्त है। इस तरह के विचार किसी वैयाकरण या भाषवैज्ञानिक को शोभा नहीं देते, क्योंकि उनका कार्य भाषा सम्बन्धी वास्तविक तथ्यों और सत्यों का उद्घाटन करना होता है। हिन्दी भाषा भाषी जिस बात को नहीं जानते हैं, उसके सम्बन्ध में उन्हें गलत सूचना देना या सत्य को छुपा कर कोई कामचलाऊ व्याख्या दे देना, यह वैयाकरण या भाषावैज्ञानिक के धर्म के विरुद्ध है। अतः इस तरह का विचार व्यक्त कर वाजपेयी जी ने स्वयं ही अपनी हँसी उड़ाई है। उन्होंने सम्भवतः यह सोचा है कि हिन्दी वाले हिन्दी के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानते या जान सकते हैं, केवल उन्हीं के माध्यम से। अपने महत्त्व के सम्बन्ध में ऐसी धारणा तथा अपने कर्त्तव्य के प्रति ऐसी बेरुखी, किसी भी व्यक्ति के लिए मात्र आत्म-प्रवञ्चना ही कही जा सकती है।

तद्धित-प्रकरण में आगे चलकर किसी एक शब्द के वजन पर बनने वाले अन्य शब्दों में उन्होंने प्रत्यय-भेद को आवश्यक माना है। 'यह' के साथ 'ओं'

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० २९५।

प्रत्यय के योग से 'यों' को निष्पन्न मानते हुए उन्होंने लिखा है कि "जब 'यों' बन गया, तब 'जो' आदि से भी उसी तरह के रूप बने। परन्तु 'ओं' प्रत्यय करने पर 'जों' 'कों' आदि रूप बनते—'यों' का मेल बिगड़ जाता। इसलिए शेष सर्वनामों से 'यों' प्रत्यय हुआ—ज्यों, क्यों। 'तौन' से 'त्यों' भी; परन्तु 'ज्यों' का साथ देने के लिए ही।[१]" फिर उन्होंने 'दूज' 'तीज' में 'ज', 'दूसरा' 'तीसरा' में 'सर', 'दुहरा' 'तिहरा' में 'हर' तथा 'दुगुना' 'तिगुना' में 'गुन' प्रत्यय को तद्धित प्रत्यय माना है। विदेशी प्रत्ययों में 'दार' 'बाज' आदि का उल्लेख है।

कभी-कभी एक ही प्रत्यय कृत् तथा—तद्धित दोनों प्रकार के होते हैं, जैसे—'इत'। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने 'हर्षित' 'पुष्पित' 'पल्लवित' आदि को तद्धितान्त तथा 'अर्जित', 'वर्जित' को कृदन्त के उदाहरण में रक्खा है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने 'एकत्रित' शब्द को जो संस्कृत व्याकरण के अनुसार अशुद्ध माना जाता है, हिन्दी में शुद्ध प्रमाणित किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी 'पहला' को उन्होंने संस्कृत 'प्रथमः' से विकसित सिद्ध किया है।

सम्बन्ध-विभक्ति 'के' 'रे' 'ने' तथा सम्बन्ध प्रत्यय 'क' 'र' 'न' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनकी मान्यता यह है कि सं० कः (यथा-राजनीतिकः पन्थाः) से सम्बन्ध-प्रत्यय 'क' की और सम्बन्ध-प्रत्यय 'क' से सम्बन्ध-विभक्ति 'के' की उत्पत्ति हुई। फिर सं० 'एर्' (यथा-हरेर्गृहम्, कवेर्वार्ता) से सम्बन्ध-विभक्ति 'रे' और फिर इसी 'रे' से सम्बन्ध-प्रत्यय 'र' का विकास हुआ। इसी प्रकार सं० 'नः' (यथा-आत्मनः) से सम्बन्ध-प्रत्यय 'न' का और इसी 'न' से सम्बन्ध विभक्ति 'ने' का जन्म हुआ। इस मान्यता में एक प्रत्यक्ष दोष यह दीखता है कि कहीं पहले सम्बन्ध-प्रत्यय की उत्पत्ति होती है तब उससे सम्बन्ध-विभक्ति की और कहीं पहले सम्बन्ध-विभक्ति की और तब उससे सम्बन्ध-प्रत्यय की। भाषा के विकास में ऐसी अनियमितता विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती।

समास की चर्चा वाजपेयी जी ने बहुत संक्षेप में की है। समास के भेदों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "समझने-समझाने के लिए समास को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है—१. अव्ययीभाव, २. तत्पुरुष, ३. बहुव्रीहि और ४. द्वन्द्व। कर्मधारय समास 'तत्पुरुष' का ही एक प्रकार—भेद है और कर्मधारय का भेद 'द्विगु' है। परन्तु समास का विषय इतना व्यापक है

---

१. कि० दा० वा० 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० २९६।

कि इन व्यापक भेदों से बाहर कुछ और समास रह ही जाते हैं और स्वयं पाणिनि ने 'सहसुपा' सूत्र से ऐसे समासों का विधान किया है, जो कि पूर्वोक्त श्रेणियों में नहीं आते। इसीलिए संस्कृत के वैयाकरणों ने कहा है—'समासश्चतुर्विध इति तु प्रायोवादः'—समास चार प्रकार के होते हैं, यह प्रायोवाद है। प्रायः बहु-तायत से—जो समास होते हैं, वे चार श्रेणियों में आ गए हैं। यह मतलब नहीं कि जो समास इन श्रेणियों में न आएँ, वे समास ही नहीं।"[१] फिर उन्होंने उदाहरणों के द्वारा सिद्ध किया है कि समास में पूर्वोत्तर पदों की प्रधानता-अप्रधानता का जो निर्देश किया जाता है, वह संस्कृत में भी 'प्रायोवाद' ही है, जैसे; 'उन्मत्तगङ्गम् देशः' में अव्ययीभाव है, किन्तु प्रधानता अन्य पद की है, जो बहुव्रीहि का लक्षण है। 'अतिमालः पुरुषः' में 'अतिमालः', तत्पुरुष है, किन्तु प्रधानता अन्य पद की है। इसी प्रकार 'द्वित्राः पुरुषाः' तथा पञ्चषाणि फलानि में 'द्वित्राः' तथा 'पञ्चषाणि' दोनों बहुव्रीहि हैं किन्तु, प्रधानता अन्यपद की न होकर दोनों पदों की है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। हिन्दी में भी 'राह' के स्त्री० होने पर भी द्विगुसमाहार 'चौराहा' पुलिल्ङ्ग है।

वाजपेयी जी ने 'आज्ञानुसार' तथा 'इच्छानुसार' को अव्ययीभाव सिद्ध करते हुए यह बताया है कि 'अनुसार' अव्यय है और इसका परप्रयोग होता है; इसलिए उपर्युक्त शब्द तत्पुरुष नहीं अव्ययीभाव हैं तथा स्त्रीलिङ्ग हैं। फिर उन्होंने 'अन्तरदेशीय' और 'अन्तर्देशीय' के 'अन्तर' और 'अन्तर्' के अर्थ की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए 'अन्ताराष्ट्रिय' तथा 'आन्तर-राष्ट्रीय' जैसे प्रयोगों को अशुद्ध बताया है। प्रकरण के अन्त में समास तथा द्विरुक्ति के अन्तर को स्पष्ट करने के पश्चात् सामासिक प्रत्यय 'आ' तथा 'ई' का सोदाहरण विवेचन किया है।

उपर्युक्त अध्याय में वाजपेयी जी ने कृदन्त, तद्धित तथा समास का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह न तो पूर्ण है और न व्यवस्थित ही। इसे स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है कि "यह पुस्तक वास्तव में हिन्दी-व्याकरण की मोटी रूपरेखा ही प्रस्तुत करने के लिए है। जब हिन्दीव्याकरण के 'पाठ्य ग्रन्थ' बनेंगे, तब व्योरे से कृदन्त, तद्धित तथा समास आदि का अपने-अपने स्वतंत्र प्रकरणों में विस्तार होगा।"[२]

१. की० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ३०६-७।

२. उपरिवत्, पृ० ३१५।

षष्ठ अध्याय क्रियाविशेषण का है। इसमें विवेच्य विषय पर बहुत ही सामान्य ढङ्ग से प्रकाश डाला गया है; साथ ही, कहीं-कहीं स्वतोव्याघातपूर्ण बातें भी कही गयी हैं। उदाहरणार्थ—प्रारम्भ में तो उन्होंने क्रियाविशेषण का प्रयोग अव्यय के समान मानते हुए लिखा है कि "संस्कृत में नपुंसक लिंग एकवचन सामान्य प्रयोग में आता है, हिन्दी में पुल्लिग एकवचन।"[१] किन्तु आगे चलकर उन्होंने एक नयी स्थापना यह दी है कि "यदि क्रिया का फल—'विशिष्ट' क्रिया का फल—कर्म पर पड़ता हो, तो क्रियाविशेषण कर्म के अनुसार ही रूप ग्रहण करेगा—लिंग-वचन आदि कर्म के अनुसार ही चलेंगे।"[२] जैसे—'राम खम्भे टेढ़े गाड़ रहा है', 'धोबी कपड़े अच्छे धोता है'। यदि वाजपेयी जी की इस दूसरी स्थापना और इन उदाहरणों को सही मान लिया जाय, तो इसके साथ ही यह मानने को भी बाध्य होना पड़ेगा कि हिन्दी में क्रियाविशेषण सदा अविकारी अर्थात् अव्यय के रूप में ही नहीं प्रयुक्त होते, अपितु वे कभी-कभी विकारी भी होते हैं। किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं। हिन्दी में क्रियाविशेषण सदा अविकारी अर्थात् अव्यय के रूप में ही बने रहते हैं। इसलिए 'राम खम्भे टेढ़े गाड़ रहा है' तथा 'धोबी कपड़े अच्छे धोता है' जैसे प्रयोग शिष्ट भाषा में कहीं नहीं पाये जाते। इनका शुद्ध रूप होगा—'राम खम्भों को टेढ़ा गाड़ रहा है' तथा 'धोबी कपड़े अच्छा धोता है'। फिर 'खम्भे टेढ़े गड़े हैं', 'कपड़े अच्छे धुले हैं' जैसे कर्मकर्तृक वाक्यों में 'टेढ़े' और 'अच्छे' क्रियाविशेषण नहीं, प्रविशेषण हैं, जो क्रमशः 'गड़े' और 'धुले' विधेयविशेषणों की विशेषता प्रकट करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वाजपेयी जी की उपर्युक्त मौलिक स्थापना कि 'विशिष्ट' क्रिया का फल कर्म पर पड़ता हो, तो क्रियाविशेषण कर्म के अनुसार ही रूप ग्रहण करेगा' नितान्त भ्रामक है। फिर उनका यह कहना कि ''सीता पुस्तक अच्छा पढ़ती है' बोलने में अच्छा नहीं लगता''[३], बेतुकी बात है। भाषा की व्यवस्था तथा व्याकरण के नियम व्यक्तिविशेष के (चाहे वह वैयाकरण ही क्यों न हो) अच्छा लगने पर निर्भर नहीं करता। जो परम्परा से व्यापक प्रयोग में शुद्ध माना जाता रहा है, उसे कोई वैयाकरण अपनी नापसन्दगी से अशुद्ध नहीं बना सकता। 'पन्त' जी को

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ३२०।
२. उपरिवत्, पृ० ३२१।
३. उपरिवत्, पृ० ३२३।

'प्रभात' का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में ही अच्छा लगता है, इससे क्या कोषकार उक्त शब्द को स्त्रीलिङ्ग लिख देगा ?

सप्तम अध्याय में वाजपेयी जी ने वाक्य के गठन सम्बन्धी बातों का विवेचन किया है। इसमें उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी की वाक्य-योजना सम्बन्धी सरलता की ओर सङ्केत करते हुए लिखा है कि "अंग्रेजी आदि की तरह हिन्दी और संस्कृत में पदों का विन्यास-क्रम नियमों की बेड़ियों से ऐसा जकड़ा हुआ नहीं है कि हिलडुल न सके। यहाँ तो भाषा का स्वरूप ही ऐसा है कि पद-प्रयोग में अक्रम होने पर भी साधारणतः अर्थबोध में कोई गड़बड़ी नहीं पड़ती है।"[1] इसके पश्चात् उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि हिन्दी के वाक्य-विन्यास में प्रारम्भ में कर्त्ता और अन्त में क्रिया को स्थान देने का सामान्य नियम है। अन्य कारकीय पद, जैसे—कर्म, करण, सम्प्रदान आदि कर्त्ता और क्रिया के मध्य प्रयुक्त होते हैं। वाजपेयी जी के अनुसार हिन्दी की यह प्रवृत्ति है कि इसमें वाक्य के जिस अंश या पद पर अधिक जोर देना होता है, उसका परप्रयोग किया जाता है। सामान्यतः वाक्य में क्रिया ही मुख्य या विधेय होती है, इसीलिए उसका परप्रयोग हुआ करता है। किन्तु क्रिया की अपेक्षा यदि किसी अन्य पद को मुख्य बनाना होता है तो उसी का परप्रयोग किया जाता है। इस मान्यता भो स्पष्ट करने के लिए उन्होंने सभी कारकों के परप्रयोग के उदाहरण दिये हैं।

फिर वाक्य के उद्देश्य और विधेय की सामान्य चर्चा करते हुए उन्होंने यह बताया है कि वाक्य में उद्देश्य अर्थात् अनुवाद्य का पूर्व-प्रयोग इसलिए होता है कि वह ज्ञात रहता है। विधेय का परप्रयोग होता है, क्योंकि वह अज्ञात रहता है या बाद में ज्ञात होता है। किन्तु वाजयेयी जी का यह यर्क युक्ति-सङ्गत नहीं प्रतीत होता। वाक्य-योजना के लिए नियमतः उद्देश्य और विधेय दोनों का एक साथ ही ज्ञात होना अनिवार्य है। दोनों में से किसी एक के भी अज्ञात रहने पर वाक्य बन ही कैसे सकता है ? इस प्रसङ्ग में भी उन्होंने यह बताया है कि उद्देश्य और विधेय में से जिस पर अधिक जोर देना होता है, उसका परप्रयोग हुआ करता है।

वाक्य में पद-क्रम के जिन अन्य निर्धारक तत्त्वों की ओर सङ्केत किया किया गया है, वे निम्नलिखित हैं :—

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ३३०।

१. "पदों की अपनी बनावट से भी पूर्वापर प्रयोग भाषा ग्रहण करती है। 'स्त्री' में एक ही स्वर है, 'पुरुष' में तीन हैं। 'लघु' का पूर्वप्रयोग होता है, 'गुरु' का उसके अनन्तर। वाक्य में द्वन्द्व आदि समासों में 'स्त्री' का पूर्वप्रयोग होगा—'क्या स्त्री क्या पुरुष।' यहाँ 'क्या पुरुष क्या स्त्री' ठीक न रहेगा। अन्वय-बोध में कोई बाधा पड़ती हो, या अर्थ-भ्रम होता हो; सो बात नहीं है। केवल बोलने में अच्छा नहीं लगता। लघुता से गुरुता की ओर जाए, तो अच्छा लगता है; पर गुरुता से लघुता की ओर जाना भला नहीं। 'नर' तथा 'नारी' में (स्त्री-पुरुष का) व्यतिक्रम है। नर में दो ही मात्राएँ हैं; 'नारी' में चार। इसलिए पहले 'नर' का प्रयोग होगा, फिर 'नारी' का। 'स्त्री-पुरुष' की तरह 'नारी-नर' न होगा। 'अमीर' और 'गरीब' में समान स्वर हैं, वजन भी बराबर है। परन्तु 'गरीब' के 'ग' में एक व्यञ्जन है, एक स्वर है; जबकि 'अमीर' का आद्य अक्षर 'अ' केवल स्वर है। इसीलिए 'अमीर-गरीब' होगा, 'गरीब-अमीर' नहीं। 'अमीर' के पूर्वप्रयोग में और कारण (श्रेष्ठता आदि) यहाँ हो सकते हैं।"[1]

२. "स्वरों का आपस में भी ध्यान रखा जाता है। पहले कंठ तथा ओष्ठ का नंबर है। 'इधर-उधर' में भी वही बात है। य, र, ल, व, यों वर्णमाला है। इसलिए 'यहाँ-वहाँ' होता है। 'जहाँ-तहाँ' में 'ज' के बाद 'त' का क्रम है। 'देखभाल' में 'भा' की स्थिति बाद में है; पर 'लड़ना-झगड़ना' में 'ल' का पूर्वयोग होता है, इसलिए कि 'झगड़ना' में वर्जन बहुत ज्यादा है। 'पिता' और 'माता' में माता का दर्जा बहुत ऊँचा है; इसलिए 'माता-पिता' 'जननी-जनक' प्रयोग होते हैं।"[2]

३. "पदों का पूर्वापर-प्रयोग करने में अर्थ पर भी ध्यान रखना होता है। 'सोना-चाँदी' में 'सोना' अभ्यर्हित होने के कारण पूर्वप्रयुक्त है।"[3]

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ३३४।

२. उपरिवत्, पृ० ३३५।

३. उपरिवत्, पृ० ३३५।

४. "व्याकरण की दृष्टि से 'वचन' आदि का भी ध्यान पदों के पूर्वापर-प्रयोग में नियामक होता है—'वहाँ आज हत्याओं तथा नजरबन्दी का जोर है', इसमें बहुवचन का प्रयोग अन्त में होना चाहिए।"[१]

५. "भेदक और भेद्य का सह-प्रयोग चाहिए।"[२]

वाक्य में पदक्रम सम्बन्धी नियमों के विवेचन के साथ-साथ वाजपेयी जी ने कुछ अन्य आवश्यक सुझाव भी दिये हैं; जैसे—वाक्य में केवल आवश्यक पदों का ही प्रयोग होना चाहिए, 'भेदक' के प्रयोग में सावधानी बरतनी चाहिए, अशक्त शब्दों के प्रयोग से बचना चाहिए, ग्राम्य तथा अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, 'समस्त' विशेषण देने में सन्धि सोच-समझ कर करनी चाहिए, विशेषण एवं विशेष्य का सहप्रयोग करना चाहिए, विशेषण में जातीयता का भी ध्यान रखना चाहिए, पदों की पुनरुक्ति नहीं करनी चाहिए, शब्दों के शुद्ध रूप का ही प्रयोग करना चाहिए, आदि। इसके पश्चात् उन्होंने अनेककर्तृक तथा अनेककर्मक क्रियाओं के लिङ्ग-वचनादि, उद्देश्य और विधेय की भिन्न-लिङ्गता, सर्वनामों के प्रयोग, संस्कृत शब्दों के ग्रहण में विवेक, विभक्तियों का प्रयोग, विराम-चिह्न, आदि का अत्यन्त संक्षिप्त तथा अव्यवस्थित विवेचन किया है।

अध्याय के अन्त में वाक्य के प्रकार की औपचारिक चर्चा करते हुए उन्होंने उसके 'साधारण' तथा 'सयुक्त' दो ही प्रकार माने हैं। संयुक्त वाक्य के विवेचन-प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा है कि "संयुक्त वाक्य में कोई अंश प्रधान या अप्रधान नहीं होता। 'मैंने कहा कि तुम चले जाओ' ऐसे वाक्यों को लोग 'मिश्रवाक्य' कहते हैं और यहाँ प्रधान-अप्रधान भाव बतलाते हैं। वस्तुतः ये सब 'संयुक्त' वाक्य हैं और इनमें प्रधानता-अप्रधानता जैसी कोई चीज नहीं होती। अनेक वाक्य चाहे जिस रूप में और चाहे जिस शब्द के द्वारा संयुक्त होकर आएँ——'संयुक्त वाक्य' कहलाएँगे और उनकी प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन व्यर्थ का गोरखधन्धा है। हाँ, कर्मभाव, हेतुभाव आदि उन्हे अवश्य प्राप्त होता है। यही देखने की चीज है।"[३] इस कथन से स्वतः स्पष्ट है कि

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पृ० ३३६।
२. उपरिवत्, पृ० ३४२।
३. उपरिवत्, पृ० ३८७।

उक्त विषय पर वाजपेयी जी ने गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया है। प्रकरण के अन्त में उन्होंने लिखा है कि "छात्रों को अनावश्यक 'जटिल' वाक्य देकर उनका व्यर्थ विश्लेषण कराना एक खिलवाड़ भर है। इससे दिमागी परेशानी बढ़ती है और भाषा सम्बन्धी कोई विशेष ज्ञान मिलता नहीं है।"[१]

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में 'क्रिया-प्रकरण' है। इसमें 'होना', 'बढ़ना', 'घटना' आदि के समान रूप वाले शब्दों को क्रिया बताते हुए वाजपेयी जी ने इसके 'सिद्ध' तथा 'साध्य' दो रूप माने हैं। उनके अनुसार 'क्रियाएँ कहीं 'सिद्ध' रूप होती हैं, कहीं 'साध्य' रूप। 'सिद्ध' ज्ञात होता है और 'साध्य' अज्ञात। 'सिद्ध' को उद्देश्य बना सकते हैं। क्रिया का विधेय अंश 'साध्य' कहलाता है।"[२] इसके पश्चात् क्रिया-पदों के मूलरूप को 'धातु' बताते हुए उन्होंने लिखा है कि सभी 'धातु' स्वरान्त हैं, एक भी व्यंजनान्त नहीं।"[२] उनके अनुसार 'उठना, बैठना, सोना, जागना' आदि कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ हैं। यहाँ 'भाव' का अर्थ है 'शुद्ध धात्वर्थ'। 'शुद्ध' का अर्थ यह है कि धात्वर्थ के साथ कोई कारक, काल या पुरुष आदि की प्रतीति नहीं। क्रिया का स्वरूपमात्र प्रकट है। क्रिया-सामान्य के वाचक इन ('उठना' आदि) शब्दों से यदि प्रत्यय 'ना' हटा लें, तो अवशिष्ट अंश, धातु भर रह जाता है। परन्तु 'धातु' का यह लक्षण नहीं, एक मोटी पहचान है। कारण, हिन्दी में कालविशेष प्रकट करने के लिए और किञ्चित् अर्थ-भेद लेकर—'ह' तथा 'ग' धातुएँ ऐसी चलती हैं, जिनसे भाववाचक संज्ञाएँ या क्रिया के सामान्यरूप नहीं बनते।"[२]

हिन्दी की 'हो' तथा 'ह' धातुओं को क्रमशः सं० 'भू' तथा 'अस्' का विकास मानते हुए उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी की 'ह' तथा 'हो' धातुओं का विषय-विभाजन संस्कृत की 'अस्' तथा 'भू' के जैसा ही है। कहीं अन्तर भी है। 'अस्' और 'भू' दोनों के प्रयोग वर्त्तमान काल में 'तिङ्' प्रत्यय से होते हैं, जब कि हिन्दी में 'हो' से 'य' कृदन्त और 'ह' से तिङन्त 'इ' प्रत्यय होकर 'होता है' रूप बनता है। 'अस्' के भूत और भविष्यत् में प्रयोग नहीं होते, 'भू' के ही रूप चलते हैं। हिन्दी में भी 'हो' से सामान्य भूतकालिक 'य'

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पृ० ३८८।

२. उपरिवत्, पृ० ३८९।

प्रत्यय होता है; पर लुप्त हो जाता है । पंजाबी में 'सोया है' 'रोया है' की तरह 'होया है' भी चलता है । परन्तु हिन्दी में 'य्' का लोप हो जाता है और 'ओ' को 'उ' हो जाता है—'हुआ है' ।''[१]

'धातुओं की उत्पत्ति और उनके प्रयोग' की चर्चा के प्रसङ्ग में वाजपेयी जी ने लिखा है कि 'भाषा' में धातु का बड़ा महत्त्व है। भाषा का उद्भव ही धातुओं से हुआ है। प्रयोग में भी क्रिया की ही प्रधानता रहती है—विधेयता उसी पर रहती है । इसीलिए वाक्य या भाषा को 'क्रिया प्रधान' कहते हैं ।''[२] इसके पश्चात् तिङन्त और कृदन्त क्रियाओं के विकास पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि हिन्दी में तिङ् या कृत् प्रत्यय यद्यपि संस्कृत के तद्रूप नहीं हैं; परन्तु संस्कार स्पष्टतः वे ही हैं । हिन्दी में कृदन्त और तिङन्त क्रियाओं की पहचान यह है कि कृदन्त क्रियाएँ तो संज्ञाओं की तरह चलती हैं और तिङन्तों की अपनी अलग पद्धति है । तात्पर्य यह है कि कृदन्त क्रियाओं में लिंग के कारण विकार होता है किन्तु तिङन्त में नहीं । हिन्दी की क्रियाएँ कृदन्त अधिक हैं, तिङन्त बहुत कम । दोनों के सम्मिलित प्रयोग भी खूब चलते हैं । वर्त्तमान काल की तो प्रायः सभी क्रियाएँ कृदन्त-तिङन्त हैं । 'पुरुष'-प्रतीति केवल तिङन्त क्रियाओं से होती है । वचन-भेद कृदन्त एवं तिङन्त दोनों में होता है और लिंग विकार केवल कृदन्त में । कृदन्त का रूप 'सिद्ध' का तथा तिङन्त का रूप 'साध्य' का माना जाता है—हिन्दी में वर्त्तमान तथा भूतकाल की क्रिया 'सिद्ध' अर्थात् कृदन्त होती है और आज्ञा, विधि, सम्भावना, आशीर्वाद, प्रार्थना, निमंत्रण तथा भविष्यत् की क्रिया 'साध्य' अर्थात् तिङन्त होती है ।'[३]

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् वाच्य-प्रकरण है । इसमें प्रायः वे ही बातें दुहरायी गयी हैं, जिनकी चर्चा (वाजपेयी जी के) पूर्ववर्ती ग्रन्थों के एतद्विषयक प्रसङ्ग में हो चुकी है । फिर उन प्रत्ययों का सामान्य विवेचन किया गया है, जिनके योग से क्रिया के विभिन्न कालों के रूप बनते हैं । काल की चर्चा नाम मात्र के लिए की गयी है। उसके भेदादि के सम्बन्ध में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है । संस्कृत से हिन्दी की काल-व्यञ्जना की पद्धति को भिन्न बताते हुए

---

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दीशब्दानुशासन', पूर्वार्द्ध, पृ० ३९५ ।

२. उपरिवत् , पृ० ३९८ ।

३. उपरिवत्, पृ० ४०४ ।

वाजपेयी जी ने इसके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, उसका सारांश निम्न-लिखित है:—(क) संस्कृत में भूतकाल और भविष्यत् काल को जैसे 'अद्यतन' और 'अनद्यतन' कालों में विभक्त किया गया है, वैसी कोई बात यहाँ नहीं है। (ख) संस्कृत में 'अद्य' की अवधि आधी रात से आधी रात तक मानी गयी है, जैसा कि अँगरेजी में है; किन्तु हिन्दी में सुबह से सुबह तक। (ग) भूत और भविष्यत् की आसन्नता और विप्रकृष्टता (दूरी) प्रकट करने के लिए हिन्दी की अपनी स्वन्तत्र पद्धति है। 'था' के प्रयोग से विप्रकृष्टता और 'है' के प्रयोग से आसन्नता प्रकट की जाती है। (घ) बहुत अधिक आसन्नता प्रकट करने के लिए लाक्षणिक प्रयोग किये जाते हैं, जैसे—'(कब जाओगे?)—बस, जा रहा हूँ।' कभी-कभी 'वाला' प्रत्यय के प्रयोग से—जैसे, 'गाड़ी जाने ही वाली है।' (ङ) हिन्दी की यह पद्धति है कि मूल धातु की तरह उसके भाववाचक कृदन्त रूप में भी सहायक क्रियाएँ लगती हैं, जैसे—गिर पड़ा, गिरना पड़ा। इनमें पहले से आकस्मिकता और दूसरे से विवशता प्रकट होती है। तात्पर्य यह कि हिन्दी में मूल धातुओं की ही तरह उसके भाववाचक कृदन्त रूप भी काम में लाये जाते हैं। (च) संस्कृत में कृदन्त के साथ फिर दूसरा कृदन्त प्रत्यय नहीं आता, किन्तु तद्धित के साथ फिर दूसरा तद्धित प्रत्यय लगता है,— यथा, समर्थ-सामर्थ्य-सामर्थ्यवान्। हिन्दी में कृदन्त के साथ भी फिर कृदन्त लग सकता है, जैसे—'जाने वाला।'

द्विकर्मक क्रियाओं की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने एक नयी बात कही है कि सकर्मक क्रियाओं के भी अकर्मक प्रयोग होते हैं, यदि कर्म की विवक्षा न हो; जैसे—'गोविन्द काशी में पढ़ रहा है'। उनके अनुसार यहाँ 'पढ़' का अकर्मक प्रयोग है। इसी प्रकार अकर्मक के सकर्मक रूप में प्रयोग का उदाहरण 'राम को ज्वर है' देते हुए, उन्होने 'है' को मूलत: अकर्मक मानते हुए यहाँ उसका प्रयोग सकर्मक रूप में माना है।

पूर्वकालिक क्रिया की अति सामान्य चर्चा की गयी है। 'क्रियार्थक क्रिया' के लिए एक दूसरा नाम 'उत्तर कालिक क्रिया' प्रस्तावित किया गया है। 'वचन' के विवेचन में 'अनेक' का अर्थ 'दो' सिद्ध करते हुए 'अनेकों' के प्रयोग को शुद्ध ठहराया गया है। तदनन्तर 'हिन्दी धातुओं का विकास-क्रम' बतलाया गया है। वाजपेयी जी के अनुसार हिन्दी धातुओं में से अधिकांश संस्कृत-प्राकृत धारा से, कुछ प्राकृत से, कुछ सीधे मूल भाषा से तथा कुछ अन्य स्रोत एवं पद्धति

से विकसित हैं। इस प्रसङ्ग में उन्होंने 'उपविष्ट' से 'बैठ', 'प्रविष्ट' से 'पैठ' 'परिधान' से 'पहन', 'प्रत्यभिज्ञान' से 'पहचान', 'ऊढ' से 'ओढ़', इसी तरह अनेक अन्य धातुओं की व्युत्पत्ति बतलायी है। फिर उन्होंने 'धातु, और 'नाम-धातु' का अन्तर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार जहाँ क्रियांश स्पष्ट हो वह धातु और जहाँ ऐसी बात न हो वह नामधातु होता है।

द्वितीय अध्याय में उपधातुओं के दो भेदों और उनके प्रयोगों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "मूल धातुओं से कुछ उपधातुएँ बन जाती हैं और फिर इन (उपधातुओं) के प्रयोग उसी तरह होते हैं, जैसे कि मूल धातुओं के। उसी तरह सब काल और उसी तरह कृदन्त-तिङन्त तथा उभयात्मक पद्धतियाँ। जो कुछ उन धातुओं से बनता-चलता है, वही सब इन उपधातुओं से। परन्तु स्वरूप-भेद तो है ही। इस भेद के ही कारण तो 'उपधातु' इन्हें हम कहते हैं। इन उपधातुओं की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी को तो हम मूल धातुओं का विकसित रूप कह सकते हैं और दूसरी को संकुचित रूप। विकसित रूप 'उपधातु' से बनी क्रियाएँ 'प्रेरणा'-प्रक्रिया में आती हैं और संकुचित-रूप 'उपधातु से बनी क्रियाएँ 'कर्मकर्तृक क्रियाएँ' कहलाती हैं। प्रेरणा-क्रियाओं को हम 'द्विकर्तृक क्रियाएँ' भी कह सकते हैं और 'कर्मकर्तृक क्रियाएँ' 'कर्मादिकर्तृक' क्रियाएँ भी कही जा सकती हैं और 'अकर्मक क्रियाएँ' भी।"[१] फिर उन्होंने इन सबका सोदाहरण संक्षिप्त विवेचन किया है।

'प्रेरणा' के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती वैयाकरणों के एक भ्रम का निराकरण करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "कभी-कभी 'प्रेरणा' तथा 'कर्मकर्तृक' के रूप एक ही तरह के हो जाते हैं और तब भ्रम से लोग 'कर्मकर्तृक' को 'प्रेरणा' समझ बैठते हैं। 'राम ने वही बात श्याम से कहला दी' प्रेरणा-रूप है। 'कहने' का 'तात्विक कर्त्ता' श्याम है और 'प्रेरक कर्त्ता राम। परन्तु 'ऐसे ही सज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं', 'कर्मकर्तृक' प्रयोग है। कर्म जब कर्त्ता-सा जान पड़ता है, तो क्रिया अपने-आप अकर्मक जान पड़ेगी। इसी 'कर्मकर्तृक' प्रयोग को 'हिन्दी-व्याकरण' में प्रेरणा का रूप समझ कर लिखा गया है— 'कहना' के प्रेरणार्थक रूप अपूर्ण अकर्मक भी होते हैं। जैसे—'ऐसे ही सज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं।' यह भ्रम है। ये प्रयोग प्रेरणार्थक नहीं कर्मकर्तृक हैं।

---

१. कि० दा० वा० 'हिन्दी-शब्दानुशासन, पूर्वार्द्ध, पृ० ४५६।

दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। 'प्रेरणा' में भी 'कहना' का रूप 'कहलाना' या 'कहाना' होता है; परन्तु 'देना' सहायक क्रिया साथ आती है— 'माँ बच्चे से सब कहला देती है।'[१] प्रेरणा में वास्तविक कर्त्ता 'गौणकर्म' के रूप में प्रयुक्त होता है और उसके साथ 'को' या 'से' चिह्न प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही वाजपेयी जी ने 'त्रिकर्मक क्रिया' की भी चर्चा की है और 'माँ नौकर से बच्चे को दूध पिलवाती है' में 'नौकर', 'बच्चे' और 'दूध' तीनों को कर्म मान लिया है। किन्तु इसमें 'नौकर' वास्तव में 'कर्म' न होकर 'करण' है। अतः इस प्रकार के उदाहरण को द्विकर्मक नहीं मानकर त्रिकर्मक मानना अनुचित है। आगे उन्होंने कर्म-कर्तृक की ही तरह करणकर्तृक क्रिया की कल्पना की है। उनके अनुसार जब 'करण' 'कर्त्ता' का स्थान ले लेता है तो वहाँ करणकर्तृक प्रयोग माना जाना चाहिए: जैसे—'तलवार शत्रुओं के सिर काट रही है'।

तृतीय अध्याय में संयुक्त क्रियाओं का विवेचन करते हुए वाजपेयी जी ने यह स्पष्ट किया है कि हिन्दी में इनका अत्यधिक प्रयोग होता है। इनके 'संश्लिष्ट' तथा 'विश्लिष्ट' दो रूप होते हैं। हिन्दी में अधिकतर 'विश्लिष्ट' रूप का ही प्रयोग होता है, किन्तु एकाध संश्लिष्ट रूप के उदाहरण भी मिलते हैं; जैसे—'लाना'। तदनन्तर उन्होंने यह बताया है कि संयुक्त क्रियाओं में सहायक क्रिया कभी स्वार्थ एकदम छोड़ देती है और कभी बनाए भी रखती है। इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने जाना, करना, लेना, देना, पड़ना, लगना, मरना आदि अनेक सहायक क्रियाओं के योग से बननेवाली विभिन्न संयुक्त क्रियाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने 'पूर्वकालिक' तथा 'क्रियार्थक' क्रियाओं को 'संयुक्त क्रिया' से भिन्न माना है।

चतुर्थ अध्याय में 'नामधातु' तथा पाँचवें अध्याय में 'क्रिया की द्विरुक्ति' पर सामान्य रूप से विचार किया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट—१ में हिन्दी की कुछ बोलियाँ (राजस्थानी, ब्रजभाषा, कन्नौजी या पाञ्चाली, अवधी, भोजपुरी, मगही तथा मैथिली) की सामान्य चर्चा है, परिशिष्ट—२ में पञ्जाबी की तथा परिशिष्ट—६ में 'व्याकरण और भाषाविज्ञान' की। 'व्याकरण और भाषा-विज्ञान' के प्रसङ्ग में वाजपेयी जी ने अनेक हिन्दी विद्वानों की भाषा सम्बन्धी कतिपय भ्रान्त स्थापनाओं की ओर सङ्केत किया है। ग्रन्थ के अन्त में स्वरचित

१. कि० दा० वा०, 'हिन्दी शब्दानुशासन', पूर्वोद्धृ, पृ० ४६०।

एक दोहा में उन्होंने अपने आपको हिन्दी-भाषा के बाग का माली बताया है,[1] जिसका काम 'झाड़-झंखाड़' को 'उखाड़' कर बाग को मोहक बनाना है।

इसमें सन्देह नहीं कि वाजपेयी जी ने हिन्दी-वाटिका को सुधार कर सजाने-सँवारने में एक निपुण माली का कार्य किया है। एक ओर उनके पाण्डित्यपूर्ण विवेचन की खाद पाकर जहाँ वाटिका की भूमि अधिक उर्वर बनी है, वहाँ उनकी सूक्ष्मेक्षिका की कतरनी ने अनेक अनुपयोगी झाड़-झङ्खाड़ को काट कर अलग कर दिया है। किन्तु, 'हिन्दी शब्दानुशासन' के रूप में उन्होंने हिन्दी का जो व्याकरण प्रस्तुत किया है, वह अनेक दृष्टियों से मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण होने पर भी असन्तुलित भाषा, अप्रासङ्गिक उक्तियाँ, वैयक्तिक प्रसङ्गोल्लेख, अनावश्यक आवृत्तियाँ, तथ्यों की अस्तव्यस्तता, विवेचन सम्बन्धी अव्यवस्था तथा शास्त्रानुरूप गम्भीर एवं मर्यादित शैली के अभाव के कारण उपवन नहीं बन कर, वन ही बना रह गया है। फिर भी यह वन ऐसा है, जिस पर पुराने सैकड़ों उपवन न्योछावर किये जा सकते हैं।

'हिन्दी शब्दानुशासन' के पश्चात् वि० सं० २०१५ (सन् १९५८ ई०) में वाजपेयी जी की 'हिन्दी मीमांसा' हिमालय एजेंसी, कनखल से प्रकाशित हुई। इसमें शब्दों की एकरूपता तथा वाक्य में शब्दों के सही प्रयोगों का निदर्शन किया गया है। इसके पाँच अध्यायों में क्रमशः 'हिन्दी की प्रकृति', 'हिन्दी के अपने शब्द', 'संस्कृत के शब्द ग्रहण करने की पद्धति', 'हिन्दी में विदेशी भाषाओं के शब्द' तथा 'वाक्य विन्यास' का विवेचन है। परिशिष्ट में 'अर्थ सम्बन्धी भ्रम' पर विचार किया गया है।

उपर्युक्त पुस्तक के पश्चात् सं० २०१५ वि० (सन् १९५९ ई०) में 'सभा' ने 'सरल शब्दानुशासन' नाम से 'हिन्दी शब्दानुशासन' का एक संक्षिप्त छात्रोपयोगी संस्करण प्रकाशित किया। उसी वर्ष (सन् १९५९ ई० में ही) चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से 'भारतीय भाषा विज्ञान' का भी प्रकाशन हुआ। इसमें उन्होंने 'भारतीय पद्धति पर भारतीय भाषाओं का संक्षेप में विश्लेषण-विवेनन' किया है। राजधानी ग्रन्थागार, दिल्ली से, मार्च सन् १९६८ ई० में प्रकाशित उनका 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण' अपने विषय की हिन्दी में सम्भवतः पहली पुस्तक है। उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी जगत को और भी कई पुस्तकें दी हैं, जिन सबका उल्लेख यहाँ आवश्यक

१. "अनुशासन के मार्ग में, उचित उखाड़-पखाड़।
माली कैसे बाग में, सहे झाड़-झंखाड़?

नहीं। हिन्दी के सौभाग्य से उन्होंने आज भी अपनी लेखनी से संन्यास नहीं लिया है, अतः हिन्दी को अभी उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

आचार्य शिवपूजन सहाय :

आचार्य शिवपूजन सहाय का 'व्याकरण दर्पण' सम्भवतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रकाशित हुआ था। उसका संशोधित संस्करण सन् १९५० ई० में अशोक प्रेस, पटना-६ से प्रकाशित हुआ। 'लेखकीय वक्तव्य' में पुस्तक के आधार, उद्देश्य तथा विशेषता की चर्चा करते हुए सहाय जी ने लिखा था— "व्याकरण दर्पण के लिखने में अनेक प्रामाणिक व्याकरणों से सहायता ली गई है।........इसके लिखने में इसी बात का ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थियों को सभी आवश्यक नियम स्पष्टता और सरलता से मालूम हो जायँ।........ विश्वास है कि अध्ययनशील विद्यार्थी यदि एकाग्रता से इनका मनन करेंगे और तदनुसार लिखने-बोलने का अभ्यास नियमित रूप से करते रहेंगे तो यह पुस्तक उनके लिए घरेलू शिक्षक का काम देगी और सदा-सर्वत्र सच्चे सलाहकार मित्र के समान उपयोगी सिद्ध होगी।"

यों, 'व्याकरण दर्पण' है तो छात्रोपयोगी व्याकरण ही, किन्तु इसमें अन्य छात्रोपयोगी व्याकरणों की तरह पूर्व प्रकाशित व्याकरणों का मात्र सार संक्षेप तथा अन्धानुमोदन नहीं, इसमें यत्र-तत्र एक स्वतन्त्रचेता आचार्य के मौलिक चिन्तन की भी छाप है। उदाहरणार्थ; अँगरेजी की पद्धति से हिन्दी में वाच्य का विवेचन करने वाले वैयाकरणों की भर्त्सना करते हुए सहाय जी ने लिखा है—"कुछ गलत नियमों के अंधाधुंध अनुकरण के फलस्वरूप हिन्दी व्याकरण कितना सदोष हो गया है। किसी ने कोई बात लिख दी कि सबके सब वैसा ही लिखने लगते हैं, उसकी विवेचना और समीक्षा किये बिना। भाषा कभी व्याकरण के नियमों का अन्धानुकरण नहीं करती, उसकी अपनी ही गति है, उसका अपना स्वाभाविक प्रवाह है; वह बरबस रुक कर व्याकरण के नियमों की ओर नहीं देखती, पर कुछ लोगों ने भाषा को ही व्याकरण के सामने गौण बना दिया है।"[१]

'व्याकरण दर्पण' में कुछेक त्रुटियाँ भी हैं, उदाहरणार्थ; इसमें आसन्नभूत एवं पूर्णवर्त्तमान को पृथक्-पृथक् काल माना गया है, जबकि दोनों के उदाहरण

१. आचार्य शिवपूजन शहाय', व्याकरण दर्पण, सन् १९५० ई०, पृ० १३०।

समान ही दिये गये हैं, आदि । किन्तु, इसकी सबसे बड़ी विशेषता है इसकी भाषा । इतनी शुद्ध, संयत एवं सरल भाषा में इसके पूर्व कोई दूसरा छात्रोपयोगी व्याकरण नहीं लिखा गया था ।

दुनीचन्द :

होश्यारपुर गवर्नमेण्ट कॉलेज के योग्य प्राध्यापक दुनीचन्द जी का 'हिन्दी व्याकरण' वि० सं० २००७ (सन् १९५० ई०) में होश्यारपुर से ही प्रकाशित हुआ । इसका परिचय इसकी भूमिका में लेखक ने इस प्रकार दिया है—'प्रस्तुत व्याकरण में मुख्यतया आधुनिक हिंदी या खड़ीबोली का विवेचन किया गया है; परन्तु कहीं-कहीं पुरानी हिंदी तथा व्रज और अवधी आदि के संबंध में भी कुछ जानने योग्य बातें बताई गई हैं । यद्यपि यह व्याकरण वर्णनात्मक (विवरणमूलक) है, तथापि जहाँ उचित जान पड़ा, वहाँ कई एक विषयों पर ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक दृष्टि से भी विचार किया गया है ।'

उन्होंने आगे लिखा है कि 'हरएक भाषा की अपनी ही प्रकृति होती है । उसकी बनावट, उसके व्याकरण के तत्त्व तथा तथ्य भी अपने ही होते हैं । किसी भी भाषा को किसी दूसरी भाषा के मापदंड से मापना ठीक नहीं । जैसे यूरोपीय भाषाओं के व्याकरणों के तैयार करने के लिए लातीनी व्याकरण का अंधानुकरण भूल थी, उसी प्रकार संस्कृत अथवा अंग्रेजी के ढाँचे पर हिंदी व्याकरण का बनाना ठीक नहीं । इस व्याकरण का निर्माण करते समय लेखक ने तटस्थ रह कर हिंदी भाषा का समीक्षण करने की चेष्टा की है । खोज के फलस्वरूप जो तत्त्व तथा तथ्य जान पड़े हैं, वही इसमें दिये गये हैं ।'

'यह व्याकरण वर्षों के परिश्रम तथा चिन्तन का फल है । इसके निर्माण के लिये यथासम्भव भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी खोज से भी लाभ उठाया गया है । साथ ही दूसरी देशी आर्य भाषाओं से तुलना करने के लिए यथा-अवसर मराठी, गुजराती, बङ्गाली, उर्दू तथा पंजाबी के प्रसिद्ध व्याकरणों को भी ध्यान में रखा गया है । हिंदी भाषा के विकास को जानने के लिए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों पर भी यथोचित दृष्टि रखी गयी है । रूप-भेद ही प्रायः शब्द-भेद का आधार माना गया है, परंतु कहीं-कहीं आवश्यकता के अनुसार अर्थ और प्रयोग के आधार पर भी शब्द-भेद किया

गया है। इस व्याकरण को लिखते समय लेखक ने भारतीय और यूरोपीय भाषाओं के उत्तम व्याकरणों के गुणों को भी अपनाने का भरसक यत्न किया है। फलतः यह व्याकरण दूसरे प्रचलित हिंदी-व्याकरणों से बहुत सी बातों में मिलता हुआ भी कई एक बातों में उनसे भिन्न है।'

इसमें लेखक ने मुख्य रूप से सन्धि, बलाघात, विभक्ति, धातु, काल, कृदन्त, वाच्य आदि के विवेचन में अपनी स्वतन्त्र-चिन्तनशक्ति का विशेष उपयोग किया है; किन्तु ग्रन्थ के अन्त में साहित्य, शैली, वाच्य, पद, छन्द, अलङ्कार, शब्दशक्ति जैसे अप्रासङ्गिक विषयों के विवेचन को स्थान देकर व्यर्थ ही उसका कलेवर बढ़ा दिया है। यह व्याकरण पूर्व प्रचलित अधिकांश छात्रोपयोगी व्याकरणों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है।

डॉ० आर्येन्द्र शर्मा :

भारतीय संविधान में हिन्दी को जब राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया, तब सरकार के शिक्षा-विभाग का ध्यान एक ऐसे व्याकरण की रचना कराने की ओर भी गया, जो सब प्रकार से भाषा के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ हो; साथ ही, भाषा सम्बन्धी नवीनतम गवेषणाओं के भी अनुरूप हो। फलतः, इस उद्देश्य से सन् १९५४ ई० में एक समिति का गठन किया गया। डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, श्री एम० सत्यनारायण, डॉ० बाबूराम सक्सेना तथा श्री जी० पी० नेने उस समिति के सदस्य मनोनीत हुए। सरकार के आदेश पर उक्त समिति ने व्याकरण-निर्माण सम्बन्धी रीति एवं नीतियों की एक रूपरेखा लगभग वर्ष भर में तैयार कर, तदनुरूप व्याकरण-रचना का कार्य डॉ० आर्येन्द्र शर्मा को सौंप दिया। डॉ० शर्मा ने बड़ी दक्षता, निष्ठा एवं परिश्रम पूर्वक समिति-सदस्यों के मनोनुकूल व्याकरण की रचना की, जो सबकी सहमति से भारत सरकार के शिक्षा विभाग के द्वारा सन् १९५८ ई० में 'ए बेसिक ग्रामर ऑफ मोडर्न हिन्दी' (आधुनिक हिन्दी का प्रारम्भिक व्याकरण) के नाम से अँगरेजी में प्रकाशित हुआ। यह सरकार की प्रेरणा एवं सहयोग से प्रकाशित होने वाला हिन्दी का पहला व्याकरण है।

इसमें पाँच खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में कई-कई अध्याय हैं। पहले खण्ड में वर्ण एवं ध्वनि; दूसरे में संज्ञा, सर्वनाम एवं विशेषण; तीसरे में क्रिया; चौथे

में क्रियाविशेषण, परसर्ग, समुच्चयबोधक और विस्मयादि बोधक तथा पाँचवें (परिशिष्ट) में उपसर्ग-प्रत्यय, लिङ्ग, समास तथा कतिपय फुटकल बातों का विवेचन है।

वर्णमाला प्रकरण में, हिन्दी में ११ स्वर और १५ व्यञ्जन माने गये हैं। स्वरों में 'ऋ' को इस तर्क के आधार पर स्थान दिया गया है कि इसका प्रयोग संस्कृत के तद्रूप शब्दों में होता है। प्रश्न है कि क्या संस्कृत के तद्रूप शब्दों में 'ॠ' और 'लृ' का प्रयोग नहीं होता? यदि ध्वनिवैज्ञानिक आधार अपनाया जाय तो 'ऋ' का उच्चारण हिन्दी में स्वर के समान नहीं होता; इसलिए उसे स्वरों के साथ स्थान देना उचित नहीं, और यदि (लिखित) प्रयोग को आधार माना जाय, तो 'ऋ' के साथ 'ॠ' और 'लृ' का उल्लेख भी अनिवार्य है, क्योंकि संस्कृत के तद्रूप्र शब्दों में इन सबका प्रयोग भी होता आया है।

डॉ० शर्मा ने व्यञ्जन वर्णों के साथ 'ड़' और 'ढ़' को स्वत्तन्त्र ध्वनियों के रूप में परिगणित करके निश्चय ही अनेक वैयाकरणों की त्रुटि का परिमार्जन किया है। इसी तरह, 'स्थान' एवं 'प्रयत्न' दोनों ही आधारों पर ध्वनियों का स्पष्ट परिचय देकर उन्होंने हिन्दी-व्याकरणों में पाये जाने वाले एक बड़े अभाव की पूर्त्ति की है। किन्तु, इस प्रकरण में कुछ सूक्ष्म ध्वनिवैज्ञानिक तथ्यों पर उनका ध्यान नहीं गया है; उदाहरणार्थ—अनुस्वार, जिसका उच्चारण और प्रयोग नियमतः स्वरों के पश्चात् और अन्तःस्थ तथा ऊष्म व्यञ्जनों के ही पूर्व होना अपेक्षित है, वास्तव में 'ङ्—ञ्—ण्—न्—म्' का प्रतिनिधि नहीं है, अपितु एक विशिष्ट ध्वनि है। इसी प्रकार 'क्ष' और 'ज्ञ' वास्तव में क्+ष और ज्+ञ के संयुक्त रूप नहीं, अपितु सहोच्चरित रूप हैं। संयुक्त ध्वनियों के उच्चारण में पूर्वापर सम्बन्ध होता है, जैसे 'क्ह' में 'क्' पहले और 'ह' बाद में उच्चरित होगा, किन्तु सहोच्चरित में दोनों का एक ही साथ, जैसे 'ख' आदि में। 'क्ष' और 'ज्ञ' के साथ यही स्थिति है, इसलिए इन विशिष्ट ध्वनियों को वर्णमाला में स्थान नहीं दिया जाना अनुचित है। हाँ, 'त्र' निश्चय ही संयुक्त ध्वनि है, उसे छोड़ा जा सकता है।

अनुस्वार एवं अनुनासिक व्यञ्जनों के सम्बन्ध में भी सूक्ष्मतापूर्वक विचार नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ; अनुनासिक व्यञ्जनों का स्ववर्गीय व्यञ्जनों के पूर्व प्रयोग तथा अनुस्वार का अन्तःस्थ और ऊष्मवर्गों के वर्णों के पूर्व प्रयोग

करने की जो व्यवस्था संस्कृत वैयाकरणों ने दी है, वह ध्वनिवैज्ञानिक अनिवार्यता है। उस नियम का सम्बन्ध केवल संस्कृत भाषा से नहीं समझ कर, भाषा मात्र से समझना उचित है। उक्त नियम का देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता से भी गहरा सम्बन्ध है। उसकी उपेक्षा करके तथा अनुस्वार को सभी अनुनासिक व्यञ्जनों का प्रतिनिधि मान कर वैयाकरणों ने देवनागरी की वैज्ञानिकता के मूल में ही कुठाराघात किया है। इससे न केवल देवनागरी की वैज्ञानिकता पर आँच आयी है, अपितु इसके कारण अनेक ऐसी जटिलताओं का भी जन्म हुआ है, जिनका समाधान सिवा 'अपवाद' कहने के, वैयाकरणों के पास दूसरा कुछ नहीं। उदाहरणार्थ; डॉ० शर्मा का ही एक नियम लें। उनके अनुसार संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों में अनुनासिक व्यञ्जनों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होना चाहिए।[1] जैसे—पङ्खा के स्थान पर 'पंखा', 'भङ्गी' के स्थान पर 'भंगी', 'बम्बई' के स्थान पर 'बंबई' आदि। ऐसी स्थिति में 'मुन्ना' के स्थान पर 'मुंना', 'अम्मा' के बदले 'अंमा' तथा 'तुम्हारा' के बदले 'तुंहारा' क्यों न लिखा जाय? एतद्विषयक संस्कृत के उपर्युक्त नियम को हिन्दी के लिए नहीं स्वीकार करने के कारण ही उन्हें उसके बदले अनेक भ्रामक और काम चलाऊ नियम बनाने पड़े हैं, जिनसे भाषा और लिपि दोनों का ही निश्चित रूप से अपकार हो रहा है।

इसी प्रकार अनुस्वार तथा स्वरों की अनुनासिकता का चिह्न चन्द्रविन्दु के सम्बन्ध में उनका यह कहना कि दोनों की ध्वनियाँ समान हैं,[2] बिल्कुल भ्रामक बात है। अनुस्वार 'अयोगवाह' होने पर भी एक व्यञ्जन है, जबकि चन्द्रविन्दु स्वर की अनुनासिकता या नासिक्यीकरण का चिह्न है, जिसकी स्वतन्त्र ध्वनि के रूप में कोई सत्ता नहीं है। ऐसी स्थिति में दोनों का समान उच्चारण कैसे हो सकता है? इसलिए उचित तो यह है कि प्रत्येक स्थिति में अनुस्वार के स्थान पर अनुस्वार के चिह्न तथा स्वरों की अनुनासिकता के स्थान पर चन्द्र-विन्दु का प्रयोग हो। किन्तु लेखन में, जहाँ अनुनासिक स्वर की मात्रा व्यञ्जन के ऊपर लगती है, वहाँ चन्द्रविन्दु के 'चन्द्र' अंश को छोड़कर केवल 'विन्दु' मात्र का प्रयोग किया जाता है, जो अनुस्वार के समान ही होता है; किन्तु अन्यत्र पूरे

१. 'ए बेसिक ग्रामर ऑफ मोडर्न हिन्दी', डॉ० आ० शर्मा, पृ० ११।

२. ''...........Since the sounds represented by them are similar''- Ibid, p. 12.

चन्द्रविन्दु का प्रयोग होता है। जो लोग चन्द्रविन्दु के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार-चिह्न का ही प्रयोग करते हैं, वे भाषा और लिपि की वैज्ञानिकता से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं।

हिन्दी-शब्दों में पाये जाने वाले स्वराघात का विवेचन डॉ० शर्मा ने बड़ी स्पष्टता से किया है। इसी प्रकार उनका हिन्दी की सन्धियों का विवेचन, अपर्याप्त एवं अपूर्ण होते हुए भी अन्य पूर्ववर्ती वैयाकरणों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं स्पष्ट है। किन्तु, शब्दान्त तथा शब्दमध्यान्तर्गत अन्तर्निहित 'अ' के अन्तर्धान या अश्रुत होने की जो बात उन्होंने कही है, वह सर्वमान्य नहीं हो सकती। उन कतिपय स्थानों में 'अ' का ह्रस्वार्द्ध या अतिह्रस्व उच्चारण अवश्य होता है। ऐसी स्थिति में भला हम वहाँ उसे बिल्कुल अनुपस्थित कैसे मान लें? 'अभी', 'तुम्हीं' जैसे उदाहरणों में 'अ' का लोप सन्धि का परिणाम माना जायगा। हिन्दी की प्रवृत्ति व्यञ्जनान्तता की ओर है ही नहीं, इसीलिए तो 'जगत्', 'महान्' आदि हलन्त शब्द भी हिन्दी में 'जगत', 'महान' के रूप में बदल गये हैं।

शब्दों की व्याकरणिक कोटियों के निर्धारण तथा विवेचन में अधिकांशतः अँगरेजी व्याकरण का अन्धानुकरण किया गया है। यदि कहीं कुछ भिन्न बातें कही भी गयीं हैं तो वे पूर्ववर्ती वैयाकरणों की स्थापनाओं के अन्वाख्यान मात्र हैं। कहीं-कहीं तो ऐसी भूलें भी दुहरायी गयी हैं, जिनका निराकरण बहुत पहले ही हो चुका था। उदाहरणार्थ वाच्य-प्रकरण को लिया जा सकता है, जिसमें 'उसने मुझे बुलाया' तथा 'मैं ने राम को देखा' को कर्तृवाच्य का एवं 'मुझे बुलाया गया' को कर्मवाच्य का उदाहरण बतलाया गया है। जब कोई वैयाकरण विवेच्य भाषा के स्वरूप एवं प्रयोग पर ध्यान नहीं देकर अन्य भाषा के व्याकरण से सामग्री उधार लेता है तो प्रायः ऐसे ही हास्यास्पद परिणाम हुआ करते हैं। डॉ० आर्येन्द्र शर्मा की ही तरह पं० कामता प्रसाद गुरु ने भी वाच्य का विवेचन अँगरेजी की नकल पर किया था; जिसके परिणाम-स्वरूप, आगे चलकर, वे पं० किशोरी दास वाजपेयी की कटु आलोचना के पात्र बने। वाजपेयी जी ने उनकी भूलों का परिमार्जन करते हुए हिन्दी वाक्य के शुद्ध एवं व्यवस्थित रूप को अपने विभिन्न ग्रन्थों के माध्यम से पहले पहल लोगों के सामने रक्खा। आश्चर्य है कि डा० शर्मा की दृष्टि उनके उन पूर्वप्रकाशित ग्रन्थों, जैसे—'व्रजभाषा का व्याकरण' 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' आदि के एतद्विषयक विवेचन पर क्यों नहीं

पड़ी। यदि पड़ी होती तो उनका वाच्य-विवेचन ऐसा दूषित नहीं होता और न उन्हें 'वाच्य' तथा 'प्रयोग' का अलग-अलग विवेचन ही करना पड़ता।

शर्मा जी का काल का विवेचन भी वाच्य-प्रकरण की तरह ही सदोष है। उन्होंने हिन्दी कालों की संख्या ६ मानी है, जिनमें एक पूर्ण वर्त्तमान भी है। कहना न होगा कि यह पूर्णवर्त्तमान अँगरेजी से लिया गया है, क्योंकि हिन्दी में वैयाकरणों ने बहुत पहले ही पूर्णवर्त्तमान को आसन्नभूत घोषित कर दिया था। इस प्रकार सुविचारित योजना के अनुसार देश के एक प्रसिद्ध विद्वान के द्वारा लिखित तथा अन्य चार विद्वानों के द्वारा परीक्षित होकर प्रकाशित होने वाले इस सरकारी ग्रन्थ में ऐसी भूलों की आवृत्ति, जिन्हें साधारण छात्र भी भूल समझता हो, आश्चर्य-चकित कर देने वाली बात है।

'विधि' 'कृदन्त, 'प्रेरणार्थकक्रिया' 'संयुक्तक्रिया' 'नामधातु' 'क्रियाविशेषण' 'निपात' 'परसर्ग' 'समुच्चयबोधक' आदि विषयों का विवेचन अति सामान्य एवं अपर्याप्त होने पर भी, जितना है स्पष्ट है। अन्य छूटे हुए विषयों पर परिशिष्ट के विभिन्न खण्डों में सामान्य रूप से प्रकाश डाल दिया गया है। इस प्रकार भाषा के अति सामान्य ज्ञान के लिए व्याकरण के जितने अंश का जितना परिचय अनिवार्य कहा जा सकता है, उतना दे देना ही लेखक का प्रधान उद्देश्य रहा है।

ग्रन्थ को आद्यन्त पढ़ जाने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना अँगरेजी पढ़े-लिखे अहिन्दी भाषी भारतीयों तथा विदेशियों को हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से हुई है। फलतः इसमें व्याकरण सम्बन्धी सूक्ष्म एवं जटिल विषयों के सम्यक् विवेचन की ओर ध्यान नहीं देकर सामान्य विषयों को संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। संक्षिप्तता तथा स्पष्टता ग्रन्थ की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। विदेशियों के द्वारा जिस उद्देश्य से हिन्दी-व्याकरण लिखने की परम्परा चलायी गयी थी, उसकी पूर्त्ति की दिशा में इसे एक महत्त्वपूर्ण अत्याधुनिक कड़ी कहा जा सकता है। इसका प्रचार हिन्दी-भाषी क्षेत्र में बिल्कुल ही नहीं है। केवल अहिन्दी भाषी क्षेत्र के लोग ही इसे पढ़ा-सुना करते हैं, क्योंकि यह उन्हीं को ध्यान में रखकर लिखा भी गया है।

डॉ० ज० म० दीमशित्स :

रूसी विद्वान डॉ० ज० स० दीमशित्स की 'हिन्दी-व्याकरण की रूपरेखा' सन् १९६६ ई० में 'राजकमल प्रकाशन', दिल्ली से प्रकाशित हुई।

हिन्दी व्याकरण के निर्माण की दिशा में यह, सर्वतोभावेन, एक मौलिक प्रयास है। इसमें डॉ० दीमशित्स ने हिन्दी के अन्यान्य विदेशी वैयाकरणों से भिन्न दृष्टिकोण, पद्धति, आधार एवं उद्देश्य का अवलम्ब ग्रहण किया है। एक ओर उनके तटस्थ चिन्तन ने हिन्दी भाषा के विविध पक्षों से सम्बद्ध अनेक सूक्ष्म तथ्यों को पहले-पहल प्रकाश में लाया है, तो दूसरी ओर व्याकरण-सम्बन्धी तथ्यों के स्वतन्त्र विवेचन ने उनके ग्रन्थ को परम्परागत व्याकरणों से नितान्त भिन्न रूप प्रदान किया है।

ग्रन्थ की 'प्रस्तावना' की प्रारम्भिक पंक्ति में ही, हिन्दी के महत्त्व की ओर सङ्केत करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'भारत की राजभाषा हिन्दी, संसार में सबसे अधिक व्यवहार में आनेवाली भाषाओं में से है।' इसके पश्चात् भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास का अति संक्षिप्त उल्लेख करते हुए उन्होंने हिन्दी के स्वरूप एवं व्याकरणिक ढाँचे पर किञ्चित् विस्तार से प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'अर्वाचीन उत्तर भारतीय भाषाओं के विकास की प्रक्रिया केवल १५वीं सदी में पूर्ण हुई है, जब आधारभूत विभक्ति-चिह्नों तथा अर्वाचीन उत्तर भारतीय भाषाओं की क्रियाओं के विश्लेषणात्मक रूपों का पूर्ण विकास हुआ। लगभग इसी समय एक विश्लेषणात्मक ढाँचेवाली भाषा पूर्ण रूप से विकसित हुई, जिसको ही बाद में जाकर हिन्दी नाम दिया गया। हिन्दी भाषा में अधिकांश क्रिया सम्बन्धी रूप विश्लेषणात्मक ढंग से कृदन्तों तथा विभिन्न सहायक क्रियाओं के रूपों के संयोजन द्वारा बनते हैं। वाक्य में शब्दों के सम्बन्ध विभक्ति-चिह्नों द्वारा व्यक्त होते हैं, जो नामिक शब्दों या सर्वनामों के असामान्य कारक के साथ जुड़े होते हैं।"[1]

आगे उन्होंने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि कोई भी भाषा शुद्ध विश्लेषणात्मक या शुद्ध संश्लेषणात्मक नहीं होती। 'भाषा में शब्दों के व्याकरण-विषयक कार्यों तथा वाक्य में शब्दों के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति के किन्हीं निश्चित प्रकारों की बहुलता के अनुसार ही भाषाएँ विश्लेषणात्मक-प्रधान या संश्लेषणात्मक-प्रधान समझी जाती है। संस्कृत में भी संशोधन-प्रधान रूपों के साथ कुछ थोड़े-से विश्लेषणात्मक रूप देखने में आते हैं। हिन्दी का व्याकरण-सम्बन्धी ढाँचा भी शुद्ध विश्लेषणात्मक नहीं है। विश्लेषणात्मक रूपों के साथ-साथ, भाषा में जिनका बाहुल्य है तथा इसीलिए हिन्दी-भाषा की परिगणना

१. डा० ज० म० दीमशित्स, 'हिन्दी-व्याकरण की रूपरेखा; 'प्रस्तावना', पृ० ३।

विश्लेषण-प्रधान भाषाओं में की जाती है, संश्लेषण के तत्त्व भी विद्यमान हैं। ये तत्त्व हिन्दी भाषा के विकास के भिन्न-भिन्न कालों से सम्बन्धित हैं। जैसे, मध्ययुगीन भाषाओं के अवशेष 'मुझे', 'तुझे' तथा नये संश्लेषणात्मक रूप जो विश्लेषणात्मक ढाँचे के विकास के समय में उत्पन्न हुए हैं—'लड़कियाँ' 'बोलतीं' इत्यदि। हिन्दी में विश्लेषणात्मक रूप क्रिया विशेषणों को छोड़कर अन्य सभी प्रधान शब्द-भेदों में विद्यमान होते हैं।"[1] इसके उपरान्त प्रादुर्भाव की दृष्टि से हिन्दी के शब्द-भाण्डार पर और फिर शब्द-निर्माण के नियमों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तावना के अन्त में, रूस में हो रहे हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन एवं शोधकार्यों की जानकारी दी गयी है। अन्तिम पंक्तियों में अपने ग्रन्थ की चर्चा करते हुए लेखक ने बताया है कि "हिन्दी भाषा के व्याकरण का हमारा यह प्रस्तुत ग्रन्थ अनेक वर्षों की सतत एवं कठोर साधना का फल है। सोवियत संघ में जो हिन्दी के विविध अंगों पर सुनियोजित रूप से ध्यान दिया जाता है, हमारी यह पुस्तक उसी का एक छोटा-सा भाग है।"[2]

इस ग्रन्थ में 'ध्वनि और वर्णविचार', 'शब्दविचार तथा पद-रचना' 'प्रधान शब्द-भेद', 'विशेषण', 'संख्याशब्द', 'सर्वनाम', 'क्रियाविशेषण', 'सहायक शब्द-भेद', 'निपात', 'विस्मयादि बोधक', 'शब्द-निर्माण एवं शब्द समुदाय' तथा 'वाक्य-रचना' नाम से कुल १३ प्रकरण हैं।

'ध्वनि और वर्ण' के प्रकरण में स्वर-व्यञ्जनादि पारिभाषिक शब्दों की ध्वनिविज्ञान-सम्मत परिभाषाएँ दी गयी हैं तथा भिन्न-भिन्न आधारों पर किये गये उनके वर्गीकरणों में, प्रधानतः संस्कृत व्याकरण का अनुसरण किया गया है। हिन्दी के अन्य अधिकांश वैयाकरणों की तरह ध्वनि और वर्ण को पर्याय नहीं मानकर दोनों की अलग-अलग परिभाषाएँ दी गयीं हैं। इस प्रकरण की एक बहुत बड़ी कमी है सन्धि-विवेचन का अभाव। इसके अतिरिक्त विवेच्य विषय सम्बन्धी अन्य कोई भी उल्लेख्य सूचना प्रायः छूटने नहीं पायी है। किन्तु इस प्रकरण में कुछ ऐसी भी बातें आ गयीं हैं, जो विवादग्रस्त होने के कारण सर्वमान्य नही हैं; उदाहरणार्थ—हिन्दी शब्दों में कभी-कभी 'अ' के अनुच्चरित रहने की बात।

---

१. डा० ज० म० दीमशित्स, हिन्दी-व्याकरण की रूपरेखा; 'प्रस्तावना', पृ० ३।

२. उपरिवत्, पृ० १२।

'शब्द-विचार तथा पद-रचना' के प्रकरण में हिन्दी शब्दों की व्याकरणिक श्रेणियों के निर्धारण में कुछ मौलिकता बरती गयी है। सर्वप्रथम शब्द-भेदों की तीन कोटियाँ निर्धारित की गयी हैं—(१) प्रधान शब्द-भेद, (२) सहायक शब्द-भेद तथा (३) विस्मयादिबोधक शब्द-भेद। प्रधान शब्द-भेद वाक्य के विभिन्न अङ्ग होते हैं, जो वस्तुओं को, उनकी विशेषताओं, उनकी संख्या, उनके व्यापारों और अवस्थाओं तथा उन व्यापारों और अवस्थाओं की विशेषताओं को बताते हैं। अर्थात् वे शब्द-भेद वस्तुस्थिति को उसकी वस्तुओं, व्यापारों और विशेषताओं में प्रतिबिम्बित कर देते है।"[1] इस वर्ग के अन्तर्गत संज्ञा, विशेषण, संख्या, क्रिया और क्रियाविशेषण को स्थान दिया गया है। सर्वनाम भी इसी में आते हैं, किन्तु वे वस्तुओं और उनकी विशेषताओं को नहीं बता कर वस्तुओं का निर्देश मात्र करते हैं। सहायक शब्द-भेद शब्दों और वाक्यों के बीच विभिन्न सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं अथवा किन्हीं शब्दों या पूरे वाक्यों का भावार्थ सूचित करते हैं। वे वाक्य के स्वतन्त्र अङ्ग नहीं होते। इस वर्ग में विभक्ति-चिह्नों, संयोजक शब्दों तथा निपातों का परिगणन किया गया है। विस्मयादिबोधक शब्द केवल मानसिक भावों को व्यक्त करते हैं। अन्य शब्द-भेदों की तरह न तो वे वस्तुओं और उनकी विशेषताओं को बताते, न शब्दों के बीच सम्बन्ध प्रकट करते हैं और न शब्दों का भावार्थ व्यक्त करते हैं। वाक्य से उनका कोई व्याकरण-विषयक सम्बन्ध नहीं होता।

शब्द-भेदों का उपर्युक्त श्रेणी-विभाजन अभिनव होने के साथ ही उपयोगी भी है, किन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण के लिए अपेक्षाकृत अधिक ठोस भाषा वैज्ञानिक आधार तथा अधिक उपयुक्त नामकरण की आवश्यकता है। प्रधान शब्द-भेद के अन्तर्गत आने वाले शब्द-वर्ग अधिकांश में 'अर्थसूचक', तथा सहायक शब्द-भेद के अन्तर्गत आने वाले शब्द वर्ग अधिकांश में 'सम्बन्ध-सूचक' हैं। भाषा में दोनों ही वर्गों के शब्दों का महत्त्व समान ही मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में एक को 'प्रधान' और दूसरे को 'सहायक' कहना बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार, 'संख्या' को विशेषण के अन्तर्गत नहीं रख कर अलग वर्ग में रखने से वर्गों की संख्या बढ़ने के अतिरिक्त अन्य कोई लाभ नहीं दीखता।

१. डॉ० ज० म० दीमशित्स, 'हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा', पृ० २७।

प्रकरण के अन्त में उपर्युक्त तीनों कोटियों के अन्तर्गत आने वाले शब्द-वर्गों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। फिर, इस तथ्य की ओर सङ्केत किया गया गया है कि "हिन्दी भाषा में विभिन्न शब्द-भेद एक दूसरे से पृथक् नहीं होते है प्रत्युत् वे एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। शब्द-भेद अर्थात् शब्द-वर्गीकरण की सीमाएँ बहुत अस्थायी होती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि एक प्रकार के शब्द-भेद का समावेश दूसरे में हो जाता है या एक शब्द-भेद के शब्द दूसरे शब्द-भेद का कार्य कर रहे होते हैं। उदाहरणार्थ, बहुत-सी संज्ञाएँ और शब्द-समुदाय क्रियाविशेषण हो जाते हैं और अविकारी बन जाते हैं, मानों उन्होंने एकरूप धारण कर लिया हो। जैसे कि 'सुबह', 'रोज', 'दबे पाँव', 'दिन चढ़े', 'इसप्रकार' 'किसी न किसी तरह' इत्यादि।"[1] यह स्थिति स्वतः इस बात का प्रमाण है कि शब्दों के वर्गीकरण के लिए जिस ठोस वैज्ञानिक आधार की आवश्यकता है, वह अभी तक नहीं ढूँढ़ा जा सका है।

तीसरे प्रकरण में संज्ञा का व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें सर्वप्रथम संज्ञा का, वाक्यान्तर्गत, जितने रूपों में प्रयोग होता है, इस पर प्रकाश डाला गया है। संज्ञा के इस सामर्थ्य को उसका 'वाक्य-रचना विषयक स्वरूप चिह्न' कहा गया है। इस प्रसङ्ग में यह बताने के साथ ही साथ कि संज्ञा का प्रयोग कितनी स्थितियों में होता है, यह भी स्पष्ट किया गया है कि उसका प्रयोग कहाँ नहीं होता है।

संज्ञा के वर्गीकरण में भी लेखक ने अपने स्वतन्त्र-चिन्तन के कुछ प्रमाण दिये हैं। सर्वप्रथम 'भावार्थ तथा इससे सम्बन्धित व्याकरण विषयक विशेषताओं की दृष्टि से' संज्ञाओं के 'जातिवाचक' और 'व्यक्तिवाचक' दो वर्ग किये गये हैं। 'समूहवाचक' को 'जातिवाचक' के अन्तर्गत ही परिगणित माना गया है। फिर, संज्ञा को 'प्राणीवाचक' तथा 'अप्राणीवाचक' नाम से दो अलग वर्गों में बाँटा गया है। इस वर्गीकरण की व्याकरण-गत सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया है कि "प्राणीवाचक तथा अप्राणीवाचक संज्ञा शब्दों की व्याकरण विषयक भिन्नता प्रधान कर्म के कार्य में सामान्य कारक के रूप में प्रयुक्त होते समय प्रकट होती है। अप्राणीवाचक संज्ञा-शब्द विशेषण के साथ प्रयुक्त होते हुए भी प्रधान कर्म के कार्य में सामान्य कारक के रूप में

१. डॉ० ज० म० दीमशित्स, हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, पृ० २९।

प्रयुक्त हो सकते हैं। जैसे—'मैं यह किताब पढ़ता हूँ।' जबकि प्राणीवाचक संज्ञा-शब्द, विशेषण के बिना प्रयुक्त होते हुए भी, प्रधान कर्म के कार्य में सामान्य कारक के रूप में प्रायः प्रयुक्त नहीं होते। जैसे—'मैं लड़कों को देखता हूँ।'"[१] संज्ञा का तीसरे प्रकार से वर्गीकरण गणनीयता के आधार पर किया गया है। इस आधार पर उसके 'गणनीय' तथा 'अगणनीय' दो वर्ग किये गये हैं। गणनीय संज्ञा-शब्दों में मूल संज्ञाएँ आ जाती हैं। वे गिनी जाती हैं और गणनावाचक संख्याओं के साथ प्रयुक्त होती हैं। उनकी व्याकरण विषयक विशेषता यह है कि उनके वचन बदलते हैं। जैसे—मेज—मेजें, लड़का—लड़के, पाँच लड़कियाँ। अगणनीय संज्ञाओं में पदार्थवाचक तथा भाववाचक संज्ञा-शब्द गिने जाते हैं। व्याकरण की दृष्टि से पदार्थवाचक तथा भाववाचक संज्ञा-शब्दों की विशेषता यह है कि उनका एकवचन होता है और वे गणनावाचक संख्याओं के साथ प्रयुक्त नहीं होते हैं। बहुवचन में कुछ पदार्थवाचक तथा भाववाचक संज्ञा-शब्दों का प्रयोग उनके स्पष्टीकरण पर निर्भर करता है। पदार्थवाचक संज्ञा-शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं, जब वे उस पदार्थ के विभिन्न प्रकार को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे—तेज शरावें, मीठी शरावें। भाववाचक संज्ञा-शब्द भी तब बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं, जब उनकी अमूर्तता के सूचक अर्थ कम हो जाते हैं। जैसे—स्वतन्त्रता—जनवादी स्वतन्त्रताएँ, शक्ति—शान्ति की शक्तियाँ"[२] आदि।

हिन्दी-संज्ञाओं के लिङ्ग-विवेचन को भी लेखक ने सामान्य वैयाकरणों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया है। यद्यपि उनके द्वारा प्रस्तावित नियम भी पूर्णतः निरपवाद नहीं बन पाये हैं, किन्तु अपवादों की संख्या में कमी अवश्य हुई है। उक्त विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें अनियमितता को अनियमितता कह कर छोड़ नहीं दिया गया है, अपितु उसके कतिपय मूल कारणों का पता लगाकर उसे भी नियमित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रसङ्ग में अन्य भाषाओं से गृहीत हिन्दी शब्दों के लिङ्ग-निर्धारण की पद्धति और आधार उद्घाटित किये गये हैं, उनसे तत्सम्बन्धी वस्तुस्थिति को समझने में प्रभूत सहायता मिलती है।

---

१. डॉ० ज० म० दीमशित्स, 'हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा', पृ० ३४।

२. उपरिवत्, पृ० ३४–३५।

वचन का विवेचन सामान्य ढङ्ग से किया गया है। इसमें कुछ ऐसी भी बातें लिख दी गयीं हैं, जो सही नहीं हैं; उदाहरणार्थ: 'केवल बहुवचन में प्रयुक्त' कही जानेवाली संज्ञाओं के निम्नलिखित उदाहरण लिये जा सकते हैं—प्राण, दर्शन, होश आदि। ये शब्द वास्तव में एकवचन और बहुवचन दोनों ही में प्रयुक्त होते हैं। 'दादा' शब्द समस्त पदों के बहुवचन में 'दादे' रूप ग्रहण कर लेता है—बाप-दादे। 'धुएँ' 'धुआँ' का विकारी रूप है, बहुवचन का रूप नहीं। कुछ ऊन-वाचक संज्ञाएँ, जैसे बुढ़ियाँ, पुड़ियाँ, डिबियाँ जैसे रूपों की कल्पना करना व्यर्थ है।

संज्ञा-प्रकरण में कारक के विवेचन में लेखक सर्वाधिक असफल रहा है। इसका पहला कारण तो यह है कि उससे कारक के स्वरूप को समझने में ही भूल हो गयी है और दूसरा यह कि उसने संज्ञा के अविकारी और विकारी रूपों को ही भ्रम से सामान्य तथा असामान्य कारक मान लिया है। पुस्तक में कारक की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"कारक नामिक शब्दों का वह रूप होता है, जो शब्द-समुदाय में तथा वाक्य में अन्य शब्दों के प्रति नामिक शब्दों के सम्बन्ध व्यक्त करता है।"[१] यह परिभाषा 'गुरु' जी के द्वारा दी गयी परिभाषा के आधार पर बनी प्रतीत होती है, जो स्वयं दोषग्रस्त थी। कारक का कार्य किसी शब्द का सम्बन्ध बताना नहीं होता, क्योंकि वह कार्य तो सम्बन्ध प्रत्ययों का है। कारक वस्तुत: वाक्य में प्रयुक्त पदों की क्रिया से अन्विति प्रकट करने का कार्य करता है। इस तथ्य को नहीं समझने के कारण लेखक द्वारा विवेचित सम्पूर्ण कारक-प्रकरण ही दोषग्रस्त बन गया है।

उक्त प्रकरण के अन्त में 'संज्ञा शब्दों की पुनरुक्तियाँ' तथा संज्ञा शब्दों की निश्चितता तथा अनिश्चितता की अभिव्यक्ति का संक्षिप्त किन्तु उपयोगी विवेचन किया गया है।

चौथे प्रकरण में विशेषण की चर्चा है। इसमें सर्वप्रथम विशेषण द्वारा सूचित होने वाली संज्ञा की विशेषताओं की सूची दी गयी है, जो निश्चय ही अपूर्ण है। इसका कारण भी स्पष्ट है। संज्ञा की विशेषताएँ अनन्त हुआ करती हैं, जो विभिन्न विशेषणों से केवल आंशिक रूप में प्रकट हुआ करती हैं। उन सबका परिगणन सहज रूप से सम्भव नहीं। फिर भी वैयाकरणों के द्वारा

१. डा० ज० म० दीमशित्स, "हिन्दीव्याकरण की रूपरेखा", पृ० ५८।

इस दिशा में किये गये प्रयत्नों का अपना महत्व तो होता ही है। इस प्रकार के प्रयत्न पूर्ववर्ती वैयाकरणों के द्वारा भी होते आये हैं और डॉ० दीमशित्स ने निश्चय ही उनसे लाभ उठाया है, मुख्यरूप से गुरु जी के 'हिन्दीव्याकरण' से। इस प्रसङ्ग में सबसे अधिक खटकने वाली बात यह है कि उन्होंने 'संख्या-वाचक' शब्दों को विशेषणों की कोटि में परिगणित नहीं किया है। इस सम्बन्ध में यह सोचना कि संख्यावाचक शब्द से संज्ञा की कोई विशेषता प्रकट नहीं होती, सही नहीं हैं। संख्यावचक शब्द अन्य रूपों में भी प्रयुक्त होते हैं यह सही है, किन्तु उनका मुख्य रूप विशेषण का ही है, जैसे—'जिस कार्य को लाखों सैनिक नहीं कर सकते थे, उसे गाँधी जी ने अकेला कर दिखाया', 'भारत के स्वतन्त्र हुए १८ साल बीत गये, किन्तु उसकी स्थिति अभी भी नहीं सुधरी' आदि।

विशेषण के वर्गीकरण में मी लेखक ने पर्याप्त चिन्तन-मनन से काम नहीं लिया है। उन्होंने विशेषण के दो ही वर्ग माने हैं–गुणवाचक और सम्बन्धवाचक। इस वर्गीकरण का पहला दोष यह है कि उपर्युक्त दो वर्गों में सभी प्रकार के विशेषण-शब्दों को समाविष्ट नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ; मात्रावाचक शब्दों को लें–'थोड़ा दूध', 'बहुत पानी' आदि। इनमें 'थोड़ा' और 'बहुत' न तो अपने विशेष्यों के गुण बताते हैं न किसी सम्बन्ध का द्योतन करते हैं; इस कारण इन्हें निश्चित रूप से गुणवाचक तथा सम्बन्धवाचक से भिन्न वर्ग के विशेषणों में स्थान देना होगा। इसी प्रकार संख्यावाचक तथा और भी कई अन्य प्रकार के विशेषतावाचक शब्द उक्त दो वर्गों में नहीं रक्खे जा सकते। इससे स्पष्ट है कि विशेषणों का उपर्युक्त वर्गीकरण सदोष है। एक दूसरी बात यह भी है कि संज्ञा की विशेषता के अन्तर्गत गुण एवं दोष दोनों आते हैं। जिनमें से गुण का प्रकटीकरण तो 'गुणवाचक' से हो जाता है, किन्तु दोष का अर्थ उससे स्पष्ट ध्वनित नहीं होता। कुछ प्राचीन वैयाकरणों ने विशेषण के लिए 'गुणवाचक' शब्द का ही प्रयोग किया था, जो इसीलिए नहीं चल पाया कि उससे 'विशेषता' के सभी अर्थ ध्वनित नहीं होते थे और उसके स्थान पर विशेषण शब्द चल निकला।

पाँचवें प्रकरण में संख्यावाचक शब्दों का, प्रधान शब्द-भेद की श्रेणी के एक स्वतन्त्र शब्द-भेद के रूप में विवेचन है। लेखक के अनुसार "संख्या ऐसे शब्द-भेद को कहते हैं जिसमें ऐसे शब्दों का समावेश होता है जो अंकों तथा अंकों से

सूचित मात्रा एवं परिमाण को व्यक्त करते हैं।"[१] इस परिभाषा से संख्या शब्दों के स्वरूप का परिचय तो मिलता है, किन्तु उनकी व्याकरणिक उपयोगिता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसा लगता है मानों लेखक ने संख्या शब्दों पर व्याकरणिक उपयोगिता की दृष्टि से विचार ही नहीं किया है, अन्यथा वे उन्हें प्रधान शब्द-भेद की श्रेणी का स्वतन्त्र शब्द-वर्ग नहीं मानकर विशेषण का ही उपवर्ग मानते।

गठन के आधार पर संख्या-शब्दों के सामान्य, जटिल और संयुक्त तीन वर्ग बनाये गये हैं तथा अर्थ के आधार पर गणनावाचक तथा क्रमवाचक दो वर्ग। खण्डवाचक तथा आवृत्तिवाचक विशेष वर्ग के रूप में स्वीकार किये गये हैं। समुदायवाचक को गणनावाचक की श्रेणी का ही मान लिया गया है। कुल मिलाकर संख्या शब्दों के वर्गीकरण का जो रूप सामने आता है, उसे व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता।

छठे प्रकरण में सर्वनाम का विवेचन है। लेखक के अनुसार "सर्वनाम ऐसे शब्द हैं जो संज्ञा-शब्दों, विशेषणों तथा संख्याशब्दों के स्थानपर प्रयुक्त होते हैं। संज्ञा शब्दों, विशेषणों तथा संख्या शब्दों से सर्वनामों का यह भेद है कि वे वस्तुओं तथा उनकी विशेषताओं और निश्चित मात्राओं को साक्षात् नहीं बताते हैं, केवल उनका निर्देश करते हैं। सर्वनामों का अपना कोई स्थायी अर्थ नहीं होता है, वे उस शब्द का अर्थ ग्रहण कर लेते हैं, जिसके स्थान पर वे प्रयुक्त होते हैं।"[२]

अर्थ के आधार पर सर्वनामों के आठ भेद किए गये हैं--पुरुषवाचक, निर्देशवाचक, प्रश्नवाचक, स्वामित्ववाचक, निजवाचक, सम्बन्धवाचक, निश्चयवाचक और अनिश्चयवाचक। इनमें से निर्देशवाचक (यह, वह आदि) तथा स्वामित्ववाचक (मेरा, तेरा आदि) को पुरुषवाचक के उपभेदों के रूप में भी परिगणित किया जा सकता है, क्योंकि उनमें पुरुष का अर्थ प्रत्येक स्थिति में जुड़ा ही रहता है। उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त सर्वनाम का एक और भेद 'संयुक्त सर्वनाम' के नाम से स्वीकार किया गया है, जिसमें एक से अधिक शब्द

१. डा० ज० म० दीमशित्स, 'हिन्दीव्याकरण की रूपरेखा', पृ० ६०।

२. उपरिवत्, पृ० ७६।

हों; जैसे—जो कोई, हर कोई, कोई भी आदि। फिर वाक्य में अपने कार्यों के अनुसार सर्वनाम के तीन भेद किये गये हैं—संज्ञासर्वनाम, विशेषणसर्वनाम और संख्यासर्वनाम। इनमें दो को अन्य वैयारणों ने सार्वनामिक विशेषण कहा है, जो अधिक उपयुक्त है। प्रकरण के उत्तरार्द्ध में सभी प्रकार के सर्वनामों के विकारी रूपों पर प्रकाश डाला गया है।

सातवें प्रकरण में क्रिया का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रकरण के प्रारम्भ में क्रिया से सम्बन्धित निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है—'क्रिया व्यापार या अवस्था को व्यक्त करती है। वाक्य में यह मुख्यरूप से विधेय का कार्य करती है। प्रकार (मूड), काल, विधि (ऐसपेक्ट), वचन, पुरुष आदि इसके विधेय सम्बन्धी विशेष रूप होते हैं। क्रिया के चार 'प्रकार' होते हैं–निश्चयार्थक, आज्ञार्थक, सम्भावनार्थक तथा सङ्केतार्थक। इनके साथ क्रिया के काल का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। काल क्रिया के व्यापार के समय के साथ उस के व्यापार या अवस्था का सम्बन्ध व्यक्त करता है। निश्चयार्थक के १५, सम्भावनार्थक के ४, सङ्केतार्थक के ४ तथा आज्ञार्थक के २ क्रियापरक भेद होते हैं। क्रिया के दो वचन तथा प्रत्येक वचन के तीन पुरुष होते हैं। व्यापार के कर्म की दृष्टि से क्रिया अकर्मक या सकर्मक होती हैं। प्रधान कर्म उस वस्तु को व्यक्त करते हैं, जिस पर व्यापार का प्रभाव होता है। उन क्रियाओं के साथ प्रधान कर्म नहीं आता है, जो ऐसे व्यापार या अवस्था को व्यक्त करती हैं, जिनका प्रभाव दूसरी वस्तु पर नहीं होता है। हिन्दी में सकर्मकता तथा अकर्मकता क्रिया के अर्थ पर निर्भर होती हैं। क्रिया के अर्थ बदलने पर सकर्मक क्रिया अकर्मक क्रिया की तरह प्रयुक्त हो सकती है। जैसे—मैं एक पुस्तक पढ़ता हूँ (सकर्मक), वह मेरे साथ पढ़ी थी (अकर्मक)। इसी तरह अकर्मक क्रियाएँ भी कभी-कभी सकर्मक क्रियाओं की तरह प्रयुक्त होती हैं, जैसे खेल-खेलना, लड़ाई-लड़ना आदि। हिन्दी में क्रिया के दो वाच्य होते हैं—कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य। हिन्दी में सब क्रियापरक रूपों के दो बड़े भेद होते हैं—अपुरुषवाचक और पुरुषवाचक। अपुरुषवाचक रूप में क्रिया के सामान्य रूप, धातु, कृदन्त तथा पूर्वकालिक कृदन्त आते हैं। क्रिया के सामान्य रूपों तथा कृदन्तों में एक साथ क्रियापरक तथा नामिक विशेषताएँ होती हैं। पूर्वकालिक कृदन्तों में क्रियापरक विशेषताओं के साथ-साथ क्रियाविशेषण की भी विशेषताएँ होती हैं। क्रिया के पुरुषवाचक रूप लिङ्ग, वचन, काल, प्रकार, वाच्य तथा

विधि व्यक्त करते हैं। क्रिया के अधिकतर पुरुषवाचक रूपों का निर्माण विश्लेषणात्मक ढङ्ग से होता है। अर्थात् सामान्य वर्त्तमानकालिक तथा सामान्य भूतकालिक कृदन्तों के साथ विभिन्न सहायक क्रियाओं के संयोजन से होता है। हिन्दी-व्याकरण में क्रिया सबसे अधिक जटिल शब्द-भेद है। किसी भी शब्द-भेद में क्रिया जितने नाना प्रकार के रूप नहीं हैं। किन्तु उन रूपों से भाषा की, सूक्ष्मभावाभिव्यक्ति में बड़ी सहायता मिलती है तथा उसमें स्पष्टता आती है।'[१] इसके पश्चात् उपर्युक्त विषयों में से प्रत्येक का एक-एक कर निम्नलिखित रूप से परिचय दिया गया है।

सर्वप्रथम, क्रिया के अपुरुषवाचक रूप के अन्तर्गत आने वाले क्रिया के सामान्य रूप धातु तथा कृदन्त का विवेचन किया गया है। क्रिया के सामान्य रूप के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि 'वह व्यापार या अवस्था की प्रक्रिया का केवल निर्देश करता है; क्रिया के प्रकार, काल तथा पुरुष को व्यक्त नहीं करता। वाक्य में उसकी क्रियापरक, संज्ञापरक तथा विशेषणपरक तीनों ही व्यवस्थाएँ देखने में आती हैं।' इसके पश्चात् उक्त तीनों रूपों की विशेषताओं की चर्चा की गयी है।

'धातु' की चर्चा अत्यधिक संक्षेप में की गयी है। उसके अव्युत्पन्न तथा व्युत्पन्न दो वर्ग माने गये हैं। स्वतन्त्र मूल धातुओं को पहली और शेष को दूसरी कोटि में रक्खा गया है। उनका विवेचन अपर्याप्त होने के साथ ही अव्यवस्थित भी है। उसमें केवल स्थूल बातों की सामान्य चर्चा है।

'कृदन्त' का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से किया गया है। अन्य वैयाकरणों की तरह उसकी परिभाषा व्युत्पत्ति के आधार पर न देकर उसकी विशेषता के आधार पर दी गयी है। यथा—'कृदन्त क्रिया का ऐसा रूप होता है जिसमें एक साथ क्रिया तथा विशेषण दोनों की विशेषताएँ होती हैं, इसलिए कृदन्त को कभी-कभी क्रियार्थक विशेषण कहते हैं।'[२] फिर, उसके सम्बन्ध में अन्य तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि उसके 'प्रकार' और 'पुरुष' नहीं होते। वे अकर्मक एवं सकर्मक दोनों ही प्रकार के होते हैं।

---

१. डॉ० ज० म० दमशित्स, 'हिन्दीव्याकरण की रूपरेखा', पृ० ९५–९७।

२. उपरिवत् पृ० १००।

सकर्मक कृदन्तों के कर्तृवाचक और कर्मवाचक दो रूप होते हैं। इसके पश्चात् कर्तृवाचक और कर्मवाचक कृदन्तों के निर्माण पर प्रकाश डालने के पश्चात् 'कृदन्त-विकार' की और फिर कृदन्तों के प्रयोग की चर्चा की गयी है। कृदन्त के स्वतन्त्र प्रयोग की विशेषताओं की चर्चा के प्रसङ्ग में सामान्य वर्त्तमान-कालिक, सामान्य भूतकालिक, संयुक्त वर्त्तमानकालिक, संयुक्त भूतकालिक, 'वाला' प्रत्ययान्त, सातत्यबोधकालिक, तथा पूर्वकालिक कृदन्तों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

काल की परिभाषा देते हुए लेखक ने बताया है कि "हिन्दी में काल क्रियापरक रूपों का ऐसा समवाय है, जो भाषा में प्रत्यक्ष एवं वास्तव में विद्यमान समय को प्रतिबिम्बित करता है और क्रिया से अभिव्यक्त व्यापार या अवस्था के सम्बन्ध का कथन के क्षण के प्रति निर्देश करता है। ऐतिहासिक वर्णनों में काल पूर्वकालिकता, अनुपूर्विता तथा समकालीनता का निर्देश करता है।"[१] काल के वर्त्तमान, भूत तथा भविष्यत् तीन मुख्य भेद माने गये हैं। फिर, निश्चयार्थक प्रकार के अन्तर्गत वर्त्तमान काल के सामान्य, जटिल, सातत्यबोधक और जटिल सातत्यबोधक, चार भेद; भूतकाल के सामान्यअपूर्ण, जटिलअपूर्ण, सातत्यबोधक, जटिल सातत्य बोधक, सामान्य आसन्न तथा पूर्ण, सात भेद एवं भविष्यत् काल के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा सातत्यबोधक, चार भेद माने गये हैं। उत्तम पुरुष एकवचन पुल्लिङ्ग में उपर्युक्त कालों के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

वर्त्तमान—१. सामान्य वर्त्तमान—मैं पढ़ता हूँ।
२. जटिल वर्त्तमान—मैं पढ़ता होता हूँ।
३. सातत्यबोधक वर्त्तमान—मैं पढ़ रहा हूँ।
४. जटिल सातत्यबोधक वर्त्तमान—मैं पढ़ रहा होता हूँ।

भूतकाल—१. सामान्य अपूर्ण भूतकाल—मैं पढ़ता था।
२. जटिल अपूर्ण भूतकाल—मैं पढ़ता होता था।
३. सातत्यबोधक भूतकाल—मैं पढ़ रहा था।
४. जटिल सातत्यबोधक भूतकाल—मैं पढ़ रहा होता था।

५. सामान्य भूतकाल—अकर्मक क्रिया—कर्तृवाच्य—मैं पहुँचा।
सकर्मक क्रिया—कर्मवाच्य—मैंने चिट्ठी लिखी है।
सकर्मक क्रिया—भाववाच्य—मैंने चिट्ठी को लिखा।

६. आसन्न भूतकाल—अकर्मक क्रिया—कर्तृवाच्य—मैं पहुँचा हूँ।
सकर्मक क्रिया—कर्मवाच्य—मैंने चिट्ठी लिखी है।
सकर्मक क्रिया—भाववाच्य—मैंने चिट्ठी को लिखा है।

७. पूर्ण भूतकाल—अकर्मक क्रिया—कर्तृवाच्य—मैं पहुँचा था।
सकर्मक क्रिया—कर्मवाच्य—मैं ने चिट्ठी लिखी थी।
सकर्मक क्रिया—भाववाच्य—मैंने चिट्ठी को लिखा था।

भविष्यत्काल—१. प्रथम भविष्यत् काल—मैं पढ़ूँगा।
२. द्वितीय भविष्यत् काल—मैं पढ़ता हूँगा।
३. तृतीय भविष्यत् काल—अकर्मक क्रिया—कर्तृवाच्य—मैं पहुँचा हूँगा।
सकर्मक क्रिया—कर्मवाच्य—मैंने चिट्ठी लिखी होगी।
सकर्मक क्रिया—भाववाच्य—मैंने चिट्ठी को लिखा होगा।
४. सातत्यबोधक भविष्यत् काल—मैं पढ़ रहा हूँगा।

काल के उपर्युक्त वर्गों में लेखक ने अर्थ तथा प्रयोग दोनों ही दृष्टियों से क्रिया के अधिक रूपों को समाहित कर देने का प्रयास किया है; किन्तु उदाहरण, वर्ग-निर्धारण तथा नामकरण सम्बन्धी कुछ दोषों के कारण उपर्युक्त वर्गीकरण का सर्वमान्य होना सम्भव नहीं है। वे दोष निम्नलिखित हैं—(१) लेखक ने ततीय भविष्यत् काल के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें से कर्मवाच्य और भाव-

वाच्य के उदारणों से भविष्यत् का अर्थ नहीं प्रकट होकर सन्दिग्धभूत का अर्थ प्रकट होता है; इसलिए उन्हें भविष्यत् मानकर लेखक ने गलती की है। पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने उन्हें सन्दिग्ध भूत माना भी है। कर्तृवाच्य के उदाहरण में भी 'होना' क्रिया के रूप से भविष्यत् का अर्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता। वहाँ उसके स्थान पर यदि 'करना' या 'रहना' क्रिया के रूप को सहायक क्रिया बनाकर रक्खा जाय तो वह दोष दूर हो सकता है, जैसे—मैं पहुँचा रहूँगा, मैं पहुँचा करूँगा, मैं चिट्ठी लिखे रहूँगा, मैं चिट्ठी लिखा करूँगा आदि। इस विवेचन से दो बातें सामने आती हैं। पहली यह कि सन्दिग्ध भूत को भूतकाल के भेद के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य है, जो लेखक ने नहीं किया है। दूसरी यह कि तृतीय भविष्यत् में रहना, सकना, चुकना आदि को सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त करने से कर्तृवाच्य का रूप बन सकता है। किन्तु उसका कर्मवाच्य या भाववाच्य रूप सम्भव नहीं है। (२) काल-विवेचन का दूसरा दोष यह है कि लेखक ने सामान्य, आसन्न तथा पूर्णभूत कालों के भाववाच्य के जो उदाहरण दिये हैं, वे शिष्ट प्रयोग के नहीं हैं। सामान्य स्थिति में अप्राणीवाचक मुख्य कर्म के साथ 'को' चिह्न का प्रयोग नहीं होता। (३) उक्त विवेचन का तीसरा दोष नामकरण सम्बन्धी है। लेखक ने वर्त्तमान तथा भूतकाल के सभी भेदों के लिए जिस प्रकार सार्थक नाम दिये हैं, उस प्रकार भविष्यत् के सभी भेदों के लिए नहीं। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भविष्यत् कहने से उन भेदों की किसी विशेषता की जानकारी नहीं होती। शास्त्रीय विवेचन में ऐसे नामकरण उपयोगी नहीं माने जा सकते।

निश्चयार्थक प्रकार के विवेचन के पश्चात् आज्ञार्थक प्रकार का परिचय देते हुए लेखक ने बताया है कि "आज्ञार्थक प्रकार क्रिया के ऐसे व्यापार की प्रेरणा व्यक्त करता है, जो अन्य व्यक्ति को सम्पादित करना होता है।"[१] उसके द्वारा आज्ञा, प्रार्थना, चेतावनी, परामर्श, अनुमति आदि व्यक्त किये जाते हैं। वह सदा मध्यमपुरुष के एक या बहुवचन से सम्बन्धित होता है। उसके साधारण तथा आदर सूचक दो भेद होते हैं। साधारण में 'जा-जाओ' और आदर सूचक में 'जाइए' जैसे रूप होते हैं।

१. डॉ० ज० म० दीमशित्स, 'हिन्दी-व्याकरण की रूपरेखा', पृ० १५४।

सम्भावनार्थक प्रकार के सामान्य, अपूर्ण जटिल, पूर्ण जटिल तथा सातत्य बोधक, चार भेद बताये गये हैं। उसमें क्रिया कोई काल नहीं प्रकट करती। वह मात्र ऐसे व्यापार का निर्देश करती है, जिसका सम्पादन असन्दिग्ध नहीं होता, अपितु वह वाञ्छनीय, सम्भावित या किसी निश्चित स्थिति में शक्य होता है। उसके भेदों के उत्तमपुरुष एक वचन में क्रमशः निम्नलिखित रूप दिये गये हैं—मैं पढ़ूँ, मैं पढ़ता हूँ, (होऊँ), मैंने चिट्ठी लिखी हो, मैं पढ़ रहा हूँ (होऊँ)। इन रूपों के दूसरे तथा चौथे उदाहरणों में 'हूँ' के स्थान पर 'होऊँ' रूप ही शुद्ध है।

सङ्केतार्थक प्रकार के भी सामान्य, अपूर्ण जटिल, पूर्ण जटिल तथा सातत्य बोधक चार भेद माने गये हैं। उन भेदों में क्रिया के अभिहित व्यापार का वर्त्तमान, भूत तथा भविष्यत् में से किसी भी काल से सम्बन्ध हो सकता है, जिसका पता प्रसङ्ग या समय-विशेषता-बोधक से चलता है। उसके भेदों के रूपों के उत्तमपुरुष एक वचन पुलिङ्ग के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार दिये गये हैं—मैं पढ़ता, मैं पढ़ता होता, मैंने चिट्ठी लिखी होती, मैं पढ़ रहा होता।

विधि को स्पष्ट करते हुए लेखक ने बताया है कि 'हिन्दी में विधि, क्रिया का ऐसा रूपान्तर है, जो यह निर्देश करती है कि क्रिया का व्यापार किस तरह सम्पादित होता है, अर्थात् वह उस व्यापार की नित्यता, प्रक्रमण या अभ्यास का बोध कराती है। हिन्दी में व्यापार के नैरन्तर्य की मात्रा व्यक्त करने के लिए क्रिया के तीन विधिपरक पुरुषवाचक रूप होते हैं—नित्यताबोधक, प्रक्रमण-बोधक और अभ्यासबोधक। विधि काल से सम्बन्धित तथा उसके आश्रित होती है, जिससे वाक्य में काल और विधि दोनों के रूपों का प्रयोग एकसाथ होता है। ऐसे प्रयोग क्रिया को स्पष्टता तथा सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति-क्षमता प्रदान करते हैं।" विधि के नित्यताबोधक रूप का प्रयोग सातत्यबोधक कालों को छोड़कर सब कालों तथा प्रकारों में होता है। वह वर्त्तमानकालिक कृदन्त तथा 'रहना' के रूपों के संयोजन से बनता है; यथा—वह लिखता रहता है। प्रक्रमण बोधक रूप वर्त्तमानकालिक कृदन्त तथा 'आना', 'जाना' और 'चलना' क्रियाओं के रूपों के संयोजन से बनता है; जैसे—हम यह काम तीन साल से करते आते हैं। वह आसन्नभूत को छोड़कर प्रायः सब कालों तथा प्रकारों में होता है। विधि का अभ्यासबोधक रूप क्रिया के अपरिवर्तित सामान्य भूत-कालिक कृदन्त तथा करना क्रिया के रूपों के संयोजन से बनता है, जैसे—वह

यहाँ आया करता है। उससे व्यापार की प्रायिकता, नियमितता तथा आवृत्ति का निर्देश किया जाता है। उसका प्रयोग केवल अपूर्ण कालों तथा प्रकारों के भेदों में होता है।

क्रिया के वाच्य की चर्चा के प्रसङ्ग में लेखक ने उसके कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य दो ही भेद माने हैं; किन्तु, चर्चा भाववाच्यपरक वाक्यरचना की भी की है। इससे स्पष्ट है कि वह क्रिया के वाच्य से सम्बन्धित सभी निर्धारकों अर्थात् कर्त्ता, कर्म तथा भाव के सहयोग तथा क्रिया पर पड़ने वाले उनके प्रभाव को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहा है। इस दोष के कारण उसका वाच्य-विवेचन अपूर्ण तथा अव्यवस्थित रह गया है।

आठवें प्रकरण के पूर्वार्द्ध में क्रियाविशेषण का और उत्तरार्द्ध में सहायक शब्द-भेद के रूप में विभक्ति-चिह्नों का विवेचन किया गया है। अर्थ के आधार पर क्रियाविशेषण के विशेषताबोधक और निर्धारणबोधक, दो भेद किये गये हैं। लेखक के अनुसार विशेषताबोधक अपने विशेष्य के अर्थ में बिना परिवर्त्तन लाये क्रिया के व्यापार का स्थान या समय, क्रिया के कारण या उद्देश्य इत्यादि निर्धारित करते हैं और निर्धारणबोधक अपने विशेष्य की अतिरिक्त विशेषताओं का सङ्केत करते हुए, उसके अर्थ को अधिक निश्चित या परिवर्त्तित कर देते हैं। विशेषताबोधक के कालवाचक, स्थानवाचक, कारणवाचक तथा सहार्थवाचक, चार भेद और निर्धारणबोधक के रीति तथा परिमाणवाचक, दो भेद किये गये हैं।

रचना की दृष्टि से क्रियाविशेषण के व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न दो वर्ग किये गये हैं। सार्वनामिक क्रियाविशेषणों को अव्युत्पन्न क्रियाविशेषणों की विशेष श्रेणी में स्थान दिया गया है। सामान्य रूप से उसके निश्चयवाचक, प्रश्न-वाचक, अनिश्चयवाचक तथा सम्बन्धवाचक, चार भेद और अर्थ के आधार पर स्थानवाचक, कालवाचक, रीतिवाचक तथा कारणवाचक, चार भेद माने गये हैं। अव्युत्पन्न तथा व्युत्पन्न क्रियाविशेषणों की विशेषताओं तथा भेदों का अलग-अलग विवेचन किया गया है। अन्त में, विशेषणों तथा संख्याओं से बनने वाले क्रियाविशेषणों की संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

क्रियाविशेषण के पश्चात् विभक्ति-चिह्नों का विवेचन किया गया है। 'विभक्ति-चिह्न' शब्द का प्रयोग 'परसर्ग' के अर्थ में करते हुए लेखक ने बताया है कि "हिन्दी में विभक्ति-चिह्न (पोस्ट पोजीशन) ऐसे सहायक शब्द

होते हैं, जो संज्ञाओं, संज्ञाओं के अर्थ में प्रयुक्त विशेषणों, संख्याओं, सर्वनामों, क्रिया के सामान्य रूपों और कभी-कभी क्रियाविशेषणों के साथ व्यहृत होते हैं तथा वाक्य में अन्य शब्दों के प्रति उनके वाक्य-रचना विषयक सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं।'[1] इस सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि हिन्दी के परसर्ग स्वरूप, कार्य एवं प्रयोग, तीनों ही दृष्टियों से संस्कृत विभक्तियों से किञ्चित् भिन्न हैं; ऐसी स्थिति में उन्हें विभक्ति या विभक्ति-चिह्न मानना कहाँ तक उचित होगा। दूसरी बात यह है कि परसर्ग (का, के, की, को छोड़ कर, जो वास्तव में सम्बन्ध प्रत्यय हैं, परसर्ग नहीं) वाक्य में प्रयुक्त अपने से सम्बद्ध शब्दों की अन्विति क्रिया से—केवल क्रिया से प्रकट करते हैं, जिसकी ओर सम्भवत: लेखक का ध्यान नहीं गया है।

विभक्ति-चिह्नों के सामान्य, जटिल तथा संयुक्त, तीन वर्ग किये गये हैं। सामान्य विभक्ति-चिह्नों को अव्युत्पन्न तथा जटिल एवं संयुक्त विभक्ति-चिह्नों को व्युत्पन्न की श्रेणी में रक्खा गया है। तदनन्तर, सबका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। अन्त में, विभक्ति-चिह्न-वाचक शब्द-समुदाय की चर्चा की गयी है, जो विभक्ति-चिह्नों के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और जिनका मुख्य भाग संज्ञा शब्द, क्रियाविशेषण तथा पूर्वकालिक कृदन्त होता है, जैसे—'के सम्बन्ध में', 'के दोनों ओर', 'से होकर' आदि।

नवें प्रकरण में 'योजक शब्द' का विवेचन है। लेखक के अनुसार, 'शब्द के अन्तर्गत 'योजक' ऐसे सहायक शब्द हैं, जो वाक्य के अङ्गों, संयुक्त वाक्य के खण्डों तथा स्वतन्त्र वाक्यों को जोड़ते हैं और उनके बीच अर्थपूर्ण सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं।'[2] फिर, उनके अव्युत्पन्न तथा व्युत्पन्न दो व्यापक वर्ग किये गये हैं। पदरचना की दृष्टि से जो अविभाज्य होते हैं, उन्हें अव्युत्पन्न, जैसे—पर, कि, या, लेकिन आदि, और जो अन्य शब्दों से बने होते हैं, उन्हें व्युत्पन्न कहा गया है, जैसे—मानो ('मानना' क्रिया से), चाहे (चाहना से), क्योंकि ('क्यों' क्रियाविशेषण और 'कि' योजक के संयोजन से) आदि। व्युत्पन्न के सरल और जटिल दो भेद किये गये हैं।

वाक्य-रचनापरक कार्यों के अनुसार योजक शब्दों के समानाधिकरण और व्यधिकरण दो भेद किये गये हैं। फिर, समानाधिकरण के संयोजक, विरोध-

---

१. डॉ० ज० म० दीमशित्स, हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, पृ० १९९।

२. उपरिवत्, पृ० २५०।

बोधक, विभाजक तथा परिमाणबोधक चार भेद तथा व्यधिकरण के व्याख्या-बोधक, कारणबोधक, मनोरथबोधक, स्थानबोधक, तुलनाबोधक, सङ्केतबोधक तथा सति-अर्थबोधक, आठ भेद माने गये हैं।

दसवें प्रकरण में निपात का विवेचन करते हुए बताया गया है कि 'निपात (पार्टिकल) ऐसा सहायक शब्दभेद है, जिसमें वे शब्द आते हैं, जिनके प्रायः अपने शब्दावली सम्बन्धी तथा वस्तुपरक अर्थ नहीं होते हैं। उनका प्रयोग निश्चित शब्द, शब्द-समुदाय या पूरे वाक्य को अतिरिक्त भावार्थ प्रदान करने के लिए होता है। वे सहायक शब्द होते हुए भी वाक्य के अङ्ग नहीं हो सकते हैं, परन्तु वाक्य में उनके प्रयोग से उस वाक्य का समग्र अर्थ प्रभावित होता है। उनके द्वारा प्रश्न, अस्वीकृति, विस्मयादिबोधक तथा बलप्रदायक का कार्य किया जाता है। पूरे वाक्य को निपात जो अर्थ प्रदान करते हैं, उसके अनुसार उनके स्वीकारार्थक, नकारार्थक, निषेधबोधक, प्रश्न-बोधक, विस्मयादिबोधक, बलप्रदायक व सीमाबोधक, तुलनाबोधक व बल-प्रदायक, अवधारणाबोधक तथा आदरसूचक, नौ भेद किये गये हैं। फिर, सबका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

ग्यारहवें प्रकरण में विस्मयादिबोधक (मनोभावद्योतक) शब्दों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लेखक के अनुसार वे वस्तुओं और उनकी विशेषताओं को न बताते हुए केवल सम्बन्धित मानसिक भावों को व्यक्त करते हैं। उनके लिङ्ग, वचन, कारक, पुरुष, काल, प्रकार, विधि, वाच्य आदि कुछ नहीं होते। उनके प्रत्यय भी नहीं होते और न वे वाक्य के अङ्ग होते हैं। उनके उच्चारण में विशेष ध्वनि प्रयुक्त होती है। अन्य शब्द-भेदों से असम्बन्धित विस्मयादिबोधक शब्दों को अव्युत्पन्न तथा शब्दभेदों से सम्बन्धित को व्युत्पन्न माना गया है। फिर, भाषा में उनके विभिन्न कार्यों के आधार पर उनके अलग-अलग भेद किये गये हैं। लेखक ने अनुकरणवाचक शब्दों को भी विस्मयादि बोधक से सम्बन्धित मान लिया है।

बारहवें प्रकरण में शब्द-निर्माण की पद्धति एवं विशेषता पर विस्तारपूर्वक, प्रकाश डाला गया है। लेखक के अनुसार "हिन्दी में शब्द-निर्माण की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इनमें उल्लेखनीय यह है कि संज्ञाशब्दों तथा विशेषणों का निर्माण क्रियाओं के निर्माण से भिन्न होता है। नामिक शब्दों के निर्माण में प्रत्ययों तथा धातु-संयोजनों के प्रयोग की प्रधानता रहती है, किन्तु क्रियाओं के निर्माण में प्रत्ययों

का प्रयोग गौण रहता है। क्रिया में प्रत्यय सकर्मक तथा प्रेरणार्थक क्रियाओं के निर्माण के लिए प्रयुक्त होते हैं। क्रिया में प्रत्ययों के प्रयोग के साथ-साथ प्रायः धातु में ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं। इसके अतिरिक्त क्रियापद्धति में महत्त्वपूर्ण स्थान है संयुक्त क्रियाओं का। इन संयुक्त क्रियाओं में पूर्व अंग के रूप में कोई एक प्रधान शब्द-भेद प्रयुक्त होते हैं तथा उत्तर अंग के रूप में कोई क्रिया। नामिक शब्दों के निर्माण क्रियापरक शब्दों के निर्माण से इस बात में भिन्न हैं कि नामिक शब्दों के निर्माण की पद्धति में प्रत्ययाभास शब्द (अर्द्धप्रत्यय) तथा उपसर्गाभास (अर्द्धउपसर्ग) समाविष्ट होते हैं, जो अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार स्वतन्त्र शब्द होते हैं, किन्तु अन्य शब्दों की धातुओं के साथ मिलकर बहुधा प्रयुक्त होते हुए अपना स्वतन्त्र अर्थ खो देते हैं। हिन्दी के शब्द-भाण्डार में व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्दावली-विषयक विभिन्न स्तर हैं। इसी कारण से शब्द निर्माणकारी प्रत्यय भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से विभिन्न स्तरों वाले होते हैं। अन्य भाषाओं से गृहीत निर्माणकारी प्रत्यय प्रायः भाषाओं से गृहीत कतिपय प्रत्यय तथा प्रत्ययाभास हिन्दी के शब्दों के साथ भी प्रयुक्त होकर नये शब्दों का निर्माण करते हैं। जैसे—बेसमझ, घूँसेबाज। आधुनिक हिन्दी भाषा में ऐसे भी बहुत से शब्द देखने में आते हैं, जो शायद मूलतः संस्कृत या अन्य भाषा के हैं, किन्तु उनके साथ प्रत्यय इतर भाषाओं के लगे हुए हैं। जैसे—भाषावार, पुलिसवाला, गैर-पार्टी, बेभूमिका।"[1]

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् विभिन्न प्रकार की संज्ञाओं, विशेषणों तथा क्रियाओं के निर्माण पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

तेरहवें प्रकरण में शब्द-समुदाय तथा वाक्य-रचना का विवेचन है। 'शब्द-समुदाय' का प्रयोग लेखक ने वाक्य के स्वतन्त्र खण्डांशों के अर्थ में किया है। उनके अनुसार "हिन्दी में शब्द-समुदाय एक से अधिक स्वतन्त्र शब्दों का ऐसा समुदाय होता है जिसका निर्माण व्याख्यात्मक शब्दों द्वारा मुख्य शब्द के विस्तार से होता है।"[2] उन्होंने शब्द-समुदाय के सरल तथा जटिल दो भेद किये हैं।

वाक्य-विवेचन के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'वाक्य में शब्दों के सम्बन्धों के प्रकार' पर प्रकाश डाला गया है। लेखक के अनुसार व्याकरण की दृष्टि से वाक्य में शब्दों तथा शब्द-समुदायों में दो प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं—समानाधिकरण

१. डॉ० ज० म० दीमशित्स, "हिन्दी-व्याकरण की रूपरेखा", पृ० २२७।
२. उपरिवत्, पृ० २७१।

सम्बन्ध और व्यधिकरण सम्बन्ध । समानाधिकरण सम्बन्ध के अनुसार वाक्य में शब्द तथा शब्द-समुदाय स्वतन्त्र होते हैं और एक दूसरे के अधीन नहीं होते हैं, जैसे—'उस दिन से नीला और रफी दोनों खेलने लगे ।' व्यधिकरण सम्बन्ध के अनुसार एक शब्द शब्द-समुदाय के मुख्य शब्द की व्याख्या करता है । इसके तीन प्रकार माने गये हैं—'अन्वय', 'संचालन' तथा 'संयोजन' । अन्वय के अनुसार व्याख्याकारी शब्द का रूप मुख्य शब्द के लिङ्ग, वचन तथा कारक पर निर्भर करता है, जैसे—अच्छा लड़का, अच्छी लड़की, मैं जाऊँगा, हम जाएँगे । सञ्चालन के अनुसार व्याख्याकारी शब्द-रूप मुख्य शब्द की शब्दावली सम्बन्धी व्याकरण-परक विशेषताओं पर निर्भर होता है, उसके रूप के परिवर्त्तन पर नहीं, जैसे—'मैं छुरे से रोटी काटता हूँ', 'वह छुरे से रोटी काटता है ।' संयोजन के अनुसार आश्रित शब्द की निर्भरता शब्दक्रम तथा ध्वनि से सूचित होती है, जैसे—'आज पहुँचना', 'चिढ़कर बोलना', 'शान्ति-आन्दोलन', बिल्कुल बच्चा' आदि ।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् वाक्य के मुख्य अङ्गों—उद्देश्य और विधेय की चर्चा की गयी है । लेखक के अनुसार "उद्देश्य वाक्य का ऐसा स्वतन्त्र मुख्य अंग है, जो वाणी तथा विचार की मुख्य वस्तु सूचित करता है तथा विधय से सम्बन्धित होता है ।"[1] और "विधेय वाक्य का ऐसा उद्देश्याश्रित मुख्य अंग है जो उद्देश्य से निर्दिष्ट किसी वस्तु या घटना के लक्षण के स्वीकरण या अस्वीकरण को सूचित करता है ।"[2] ये परिभाषाएँ परम्परागत परिभाषाओं से भिन्न तथा मौलिक तो हैं, किन्तु उनके समान स्पष्ट और पूर्ण नहीं हैं । आगे चलकर लेखक ने उद्देश्य पर संक्षेप में किन्तु विधेय पर प्रभूत विस्तार से प्रकाश डाला है । विधेय के भेदोपभेद किये गये हैं और सबका मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकरण की खास विशेषता है । तदनन्तर वाक्य के सहायक अङ्गों की चर्चा करते हुए लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि वाक्य के सहायक अङ्ग वाक्य के मुख्य अङ्गों के आश्रित होते हैं और उनके और उन मुख्य अङ्गों के अर्थों की व्याख्या, स्पष्टीकरण तथा पूर्त्ति करते हैं । वाक्य के सहायक अङ्ग आपस में भी एक दूसरे पर आश्रित हो सकते हैं, ऐसी दशा में आश्रित अङ्ग अर्थात् गौण अङ्ग अपने से सम्बन्धित प्रधान अङ्ग का स्पष्टीकरण करता होता है ।"[3] वाक्य के

१. डॉ० ज० म० दीमशित्स, 'हिन्दी-व्याकरण की रूपरेखा', पृ० २७४ ।
२. उपरिवत् , पृ० २७५ ।
३. उपरिवत्, पृ० २८४ ।

सहायक अङ्ग तीन प्रकार के माने गये हैं—कर्म, गुणनिर्देशक और विशेषता-बोधक। तीनों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। तदुपरान्त 'विधेय का वाक्य के उद्देश्य तथा प्रधान कर्म से अन्वय प्रदर्शित करने के क्रम में कर्तृ, कर्म तथा भाव वाच्य परक वाक्य-रचना का विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् एक अङ्ग वाले वाक्य के रूप में उद्देश्य-रहित वाक्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसके तीन भेद किये गये हैं—निश्चित पुरुष वाचक, अनिश्चित पुरुषवाचक और अपुरुषवाचक। तदनन्तर बाध्यतामूलक वाक्य तथा अपूर्ण वाक्य पर संक्षेप में प्रकाश डालने के पश्चात् 'वाक्य में शब्द-क्रम' का विवेचन है। प्रकरण के अन्त में संयुक्त वाक्य के भेदोपभेदों का व्यवस्थित परिचय एवं 'प्रत्यक्षकथन तथा परोक्षकथन' का सामान्योल्लेख करके ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

संक्षेप में, इस व्याकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—(१) इसमें हिन्दीभाषा के व्याकरणिक गठन को स्वतन्त्र तथा तटस्थ दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है। (२) तथ्यों के विवेचन में पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों की मान्यताओं का अन्धानुकरण नहीं किया गया है। (३) व्याकरणिक श्रेणियों के निर्माण में परम्परा की लीक नहीं पीटी गयी है, अपितु स्वतन्त्र चिन्तन का सहारा लिया गया है। (४) परिभाषाएँ नयी गढ़ी गयी हैं। (५) अनेक नये और उपयोगी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। (६) उदाहरणों में यथासम्भव नवीनतम प्रयोगों का आकलन किया गया है। (७) इसमें हिन्दीभाषा सम्बन्धी कतिपय तथ्यों का पहली बार उद्घाटन हुआ है। (८) इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें आद्यन्त हिन्दी के ही स्वरूप पर ध्यान रखा गया है, किसी अन्य भाषा के व्याकरण के नियम उस पर आरोपित नहीं किये गये हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त ग्रन्थ में कई भ्रान्तियाँ भी हैं, जिनकी ओर विवेचन के क्रम में स्थान-स्थान पर सङ्केत किया जा चुका है। लेखक के विदेशी होने पर भी ग्रन्थ की भाषा प्रायः स्वच्छ एवं व्यवस्थित है; यों, कहीं-कहीं वाक्य-रचना सम्बन्धी दोष अवश्य हैं। सब मिला कर यह ग्रन्थ हिन्दी के वर्णनात्मक व्याकरण के निर्माण की दिशा में एक सर्वथा मौलिक और स्तुत्य प्रयास है।

कुछ अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ :

नवचेतना-काल में हिन्दी भाषा तथा व्याकरण सम्बन्धी उपरिविवेचित ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी अनेकानेक ग्रन्थों की रचना हुई है, जिनमें निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं :—शिवप्रसाद अग्रवाल, शुद्ध हिन्दी, आगरा बुकडिपो, आगरा, सन् १९५२ ई०; शिवप्रसाद भारद्वाज, हिन्दीशब्दानुशासन, माधव पुस्तकालय, दिल्ली, सन् १९५४ ई०; अविनाशचन्द्र, हिन्दी : मूल और शाखा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सन् १९५५ ई०; कृष्णनारायण लाल, हिन्दी दर्शन, अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९५७ ई०; आत्माराम सखाराम कडू, हिन्दी भाषा प्रकाश, क्रान्ति बुकडिपो, कोल्हापुर, सन् १९६२ ई०; सेठ गोविन्द दास, राजभाषा हिन्दी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन् १९६३ ई०; भगीरथ मिश्र, अच्छी हिन्दी कैसे लिखें, प्रभांत प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६३ ई०; कामेश्वर शर्मा, हिन्दी की समस्याएँ, नोवेल्टी एण्ड कम्पनी, पटना, सन् १९६३ ई०; नायर एस० राजप्पन, राष्ट्रभाषा-शिक्षण, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, सन् १९६४ ई०; शम्भुनाथ सिंह, हिन्दी का स्वरूप और उसका विकास, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सन् १९६४ ई०; देवेन्द्रनाथ शर्मा, हिन्दी : समस्याएँ और समाधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६५ ई०; गुणानन्द जुयाल, हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सन् १९६५ ई०; विश्वनाथ टण्डन, अच्छी हिन्दी, रामा प्रकाशन, लखनऊ, सन् १९६६ ई०; लोकनाथ द्विवेदी 'शिलाकारी', हिन्दी व्याकरण कौमुदी, साथी प्रकाशन, सागर, सन् १९६६ ई०; अम्मा एन० सरस्वती, हिन्दी व्याकरण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सन् १९६६ ई०; भाईदयाल जैन, हिन्दी शब्द-रचना, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् १९६६ ई०; परमहंस निगमानन्द, राष्ट्रभाषा का शुद्ध रूप, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९६७ ई०; बालमुकुन्द, हिन्दी कृदन्तज रूपों का विकास, आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी, सन् १९६८ ई०; विनय मोहन शर्मा, हिन्दी का व्यावहारिक रूप, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६८ ई०; सरनाम सिंह शर्मा, हिन्दी की तद्भव शब्दावली, कॉलेज बुकडिपो, जयपुर, सन् १९६८ ई०; शिवशङ्कर प्रसाद वर्मा, हिन्दी भाषा की भूमिका, भारती भवन पटना, सन् १९६९ ई०; मुरलीधर श्रीवास्तव, हिन्दी-धातुकोश, शब्दलोक प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६९ ई०; रमेशचन्द्र मेहरोत्रा, हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, मुंशीराम मनोहर लाल, नयी दिल्ली, सन् १९७० ई०;

बालमुकुन्द, हिन्दी क्रिया : स्वरूप और विश्लेषण, आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी, सन् १९७० ई०; मनमोहन गौतम, हिन्दी भाषा विज्ञान, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९७१ ई०; सुधा कालरा, हिन्दी वाक्य-विन्यास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९७१ ई०; करुणापति त्रिपाठी, हिन्दी धातु और क्रियापद, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; देवेन्द्रनाथ शर्मा : रामदेव त्रिपाठी, हिन्दी भाषा का विकास, राधाकृष्ण प्रकाशन, सन् १९७१ ई०, आदि।

छात्रोपयोगी व्याकरण :

उपरिविवेचित व्याकरणों के अतिरिक्त विवेच्य काल में भिन्न-भिन्न विद्वानों के अनेक छोटे-मोटे छात्रोपयोगी व्याकरण हिन्दी तथा अँगरेजी में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें आचार्य शिवपूजन सहाय का 'हिन्दी व्याकरण', नरदेव विद्यालङ्कार का 'राष्ट्रभाषा का सरल व्याकरण' (सन् १९४८ ई०), ईश्वरानन्द श्रेष्ठाचार्य का 'हिन्दी नेपाली व्याकरण' (सन् १९४८ ई०), प्रो० डबराल शास्त्री का 'राष्ट्रभाषा व्याकरण' (सन् १९४९ ई०), एम० एन० शर्मा का 'हिन्दी ग्रामर ऐण्ड ट्रांसलेशन' (सन् १९५० ई०), रामप्रसाद त्रिपाठी का 'नवीन हिन्दी व्याकरण' (सन् १९५० ई०), शिवप्रसाद अग्रवाल–राजेश्वर चतुर्वेदी की 'शुद्ध हिन्दी' (सन् १९५५ ई०), अलेक्जेण्डर फॉकनर का 'द ओरिएण्टेलिस्ट्स ग्रामेटिकल वादेमेकम' (सन् १९५३ ई०), देवशर्मा श्यामसुन्दर का 'नवीन राष्ट्रभाषा व्याकरण' (सन् १९५५ ई०), जीवनाथ का 'सुगम हिन्दी व्याकरण' (सन् १९५५ ई०), एन० आर० चौधरी का 'एसेंशियल्स ऑफ हिन्दी ग्रामर' (सन् १९५६ ई०), श्रीधरनाथ मुखर्जी की 'संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण तथा रचना' (सन् १९५७ ई०), दयाराम शास्त्री की 'सुमेर हिन्दी व्याकरण तथा रचना' (सन् १९५७ ई०), आदितेश्वर कौशिक का 'हिन्दी व्याकरण विनोद' (सन् १९५७ ई०), अमृतलाल दूबे का 'व्याकरण प्रवेश' (सन् १९५७ ई०), गोपाल लाल खन्ना की 'हिन्दी रचना की शिक्षा' (सन् १९५७ ई०), व्रजकिशोर अवस्थी का 'हिन्दी-रचना-विधान' (सन् १९५७ ई०), जी० एन० साठे का 'राष्ट्रभाषा का अध्ययन' (सन् १९५७ ई०), विमलेश भारद्वाज–पुष्पा कुमारी शर्मा की 'राज हिन्दी-शिक्षा' (सन् १९५७ ई०), शिवराज की 'मनोरम हिन्दी व्याकरण तथा रचना' (सन् १९५७ ई० ई०), श्रीधरनाथ मुखोपाध्याय की 'राष्ट्रभाषा की शिक्षा' (सन्

१९५७ ई०), भोलानाथ तिवारी का 'हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण' (सन् १९५५ ई०), एम० सी० सहगल का 'मोडर्न हिन्दी ग्रामर' (सन् १९५८ ई०), रामनाथ सिंह पीयूष का 'व्याकरण रचना सुधांशु' (सन् १९५८ ई०), शात्री और आप्टे का 'हिन्दी ग्रामर' (सन् १९५८ ई०), हेमलता देवी का 'हिन्दी व्याकरण संग्रहम्' (सन् १९५८ ई०), नलिनविलोचन शर्मा और केसरी कुमार का 'हिन्दी व्याकरण-रचना-कोश', श्यामबिहारी विरागी का 'हिन्दी व्याकरण' (सन् १९५८ ई०), विश्वनाथ राहुल की 'अरुण व्याकरण तथा रचना' (सन् १९५८ ई०), वासुदेव नन्दन प्रसाद की 'हिन्दी व्याकरण और रचना' (सन् १९५९ ई०), शिवप्रसाद का 'आदर्श हिन्दी व्याकरण' (सन् १९५९ ई०), वेदप्रकाश का 'मेरा हिन्दी व्याकरण' (सन् १९५९ ई०), ए० सवा का 'हिन्दी व्याकरण' (सन् १९६० ई०), राय चौधुरी का 'फस्ट स्टेप टु हिन्दी' (सन् १९६१ ई०), निरञ्जन कुमार का 'हिन्दी भाषा-शिक्षण' (सन् १९६१ ई०), फूलचन्द्र जैन सारङ्ग का 'सुबोध हिन्दीव्याकरण' (सन् १९६२ ई० ई०), प्रो० नन्दकिशोर प्रसाद का 'हिन्दी व्याकरण-रचना-सार' (सन् १९६३ ई०), डॉ० हरदेव बाहरी की 'शुद्ध हिन्दी' (सन् १९६५ ई०), प्रो० अर्जुन सिंह की 'हिन्दी-रचना-मञ्जूषा', डॉ० वचनदेव कुमार का 'भाषाभास्कर', श्यामनन्दन शास्त्री का 'प्रामाणिक हिन्दी व्याकरण', आदि ग्रन्थ विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं। इस काल में और भी अनेक वैयाकरण हुए हैं, उन सबका नामोल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है।

उपसंहार :

यह हर्ष की बात है कि वर्त्तमान युग में देश के अनेकानेक विद्वान तथा साहित्यिक एवं शिक्षण-संस्थाओं के साथ-ही-साथ सरकार भी हिन्दी के शास्त्रीय अध्ययन को सर्वाङ्गीण एवं प्रामाणिक रूप देने की दिशा में प्रयत्नशील है। आये दिन हिन्दी-व्याकरण के विविध पक्षों पर नये-नये शोध ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। इधर कई वर्षों से काशी विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरण के प्रणयन का कार्य चल रहा है। भारत सरकार भी इस दिशा में अनेक योजनाओं को कार्यान्वित करने का प्रयास कर रही है। यह सब देखते हुए हम सहज ही यह आशा कर सकते हैं कि वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी-व्याकरण को भी ऐसा रूप प्राप्त हो जायगा, जो सभी दृष्टियों से अधिक पूर्ण, निर्दोष एवं प्रामाणिक होगा।

परिशेष–१

समीक्षित हिन्दी व्याकरण

(क) हिन्दी में लिखे गये हिन्दी व्याकरण :

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी—हिन्दी कौमुदी, वि० सं० १९७६; अभिनव हिन्दी व्याकरण, १९५३ ई० ।

अम्बिका दत्त व्यास—विभक्ति विलास, १८९० ई० ।

अमृतलाल दूबे—व्याकरण प्रवेश और रचना, भाग १, १९५७ ई० ।

अमृतलाल दास गुप्त—सरल हिन्दी और हिन्दुस्तानी शिक्षा, १९२१ ई० ।

अयोध्या प्रसाद खत्री—हिन्दी व्याकरण, १८७७ ई० ।

अवधनन्दन—रोजमर्रा हिन्दी, १९५० ई० ।

आत्माराम—विभक्ति संवाद, १९४२ ई० ।

आदम—हिन्दी व्याकरण, १८२९ ई० ।

आदितेश्वर, कौशिक तथा अन्य—हिन्दी व्याकरण-विनोद, १९५७ ई० ।

ईश्वरानन्द श्रेष्ठाचार्य—हिन्दी नैपाली व्याकरण, १९४८ ई० ।

उमराव सिंह—सवाल जवाब हिन्दी व्याकरण ।

एथरिङ्गटन साहब—भाषाभास्कर, १८७१ ई० ।

कन्हैयालाल त्रिपाठी—बालचन्द्रिका, १८९० ई० ।

कन्हैयालाल उपाध्याय—हिन्दी भाषा का सुलभ व्याकरण, १९१२ ई० ।

,, ,, हिन्दी व्याकरण प्रवेशिका, १९१० ई० ।

कपिलदेव द्विवेदी—रचनानुवाद कौमुदी ।

कामता प्रसाद गुरु—संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण, वि० सं० १९८० ।

,, ,, ,, सहज हिन्दी रचना, १९११ ई० ।

,, ,, ,, हिन्दी व्याकरण, (ड्राफ्ट), १९२० ई० ।

,, ,, ,, हिन्दी व्याकरण, संशोधित वि० सं०, सं० १९८४ ।

,, ,, ,, सरल हिन्दी रचना, पहला भाग, १९२७ ई० ।

,, ,, ,, सरल हिन्दी रचना, दूसरा भाग, १९२८ ई० ।

कामता प्रसाद गुरु मध्य हिन्दी व्याकरण, वि० सं० १९८० ।
,, ,, ,, भाषा वाक्य पृथक्करण, भाग १, १९०० ई० ।
,, ,, ,, प्रथम हिन्दी व्याकरण, वि० सं० १९७२ ।
,, ,, ,, हिन्दी बालबोध व्याकरण, १९०० से १९११ ई० के बीच ।
काली प्रसाद त्रिपाठी—भाषा व्याकरण दर्पण, १८९२ ई० ।
काशीनाथ स्वामी चच्चय स्वामी सारङ्गमठ—'ने' दिव्यास्त्र, १९५८ ई० ।
किशोरीदास वाजपेयी—हिन्दी शब्द मीमांसा, १९५८ ई० ।
,, ,, ब्रजभाषा व्याकरण, वि० सं० २०० ।
,, ,, अच्छी हिन्दी का नमूना, १९४८ ई० ।
,, ,, राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण, १९४९ ई०
,, ,, हिन्दी शब्द निर्णय, १९५५ ई० ।
,, ,, हिन्दी शब्दानुशासन, वि० सं० २०१५ ।
,, ,, सरल शब्दानुशासन, वि० सं० २०१५ ।
,, ,, हिन्दी निरुक्त, १९४९ ई० ।
कुँवर कृष्ण सुखिया—हिन्दी भाषा की ध्वनियाँ या उसकी शिक्षा, १९६१ ई० ।
केदारनाथ शर्मा—राष्ट्रभाषा सरल हिन्दी व्याकरण, १९४१ ई० ।
दूसरा संस्करण, १९५३ ई० ।
पं० केशवराम भट्ट—हिन्दी व्याकरण, सं० १९६० ।
केशव प्रसाद—भाषा लघुव्याकरण, दूसरा भाग, १८७८ ई० ।
कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार—हिन्दी व्याकरण, दूसरा संस्करण, १९४० ई० ।
गङ्गा प्रसाद उपाध्याय—नवीन हिन्दी व्याकरण, १९३० ई० ।
,, ,, हिन्दी व्याकरण, १९०७ ई० ई० ।
गणपतिलाल चौबे—व्याख्या विधि, १८८७ ई० ।
गणेश प्रसाद द्विवेदी—आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना, १९४२ ई० ।
गदाधर प्रसाद शर्मा—व्याकरण दर्पण, १९१२ ई० ।
गिरिजा प्रसाद शर्मा—व्याकरण भूषण, १९६१ ई० ।
गुरुदयाल शर्मा—लौकिक स्वर सन्धि, १९२३ ई० ।
डॉ० गेंदालाल शर्मा—ब्रजभाषा और खड़ी बोली के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन, १९६५ ई० ।

गोकुल प्रसाद—भाषा मार्तण्ड, १८९३ ई० ।
गोपाललाल खन्ना—हिन्दी रचना की शिक्षा, १९५७ ई० ।
गोपाल शास्त्री—हिन्दी दीपिका, सं० १९९६ ।
गोविन्द नारायण मिश्र—विभक्ति विचार, १९११ ई० ।
गोविन्द नारायण कुमारीय—विभक्ति विचार, १९११ ई० ।
गोविन्ददेव शास्त्री—बालबोध, १८७९ ई० ।
गौरीशङ्कर गङ्गोपाध्याय—आदर्श हिन्दी व्याकरण, सं० १९५२ ।
गङ्गा प्रसाद—हिन्दी व्याकरण, १९०७ ई० ।
चन्द्रमुखी ओझा—भाषा व्याकरण, १९१२ ई० ।
चन्द्रमौलि शुक्ल—भाषा व्याकरण १९१२ ई० ।
छत्रधारी सिंह—लेख नियम, १८८४ ई० ।
डॉ० ज० म० दीमशित्स—हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, १९६६ ई० ।
जङ्गबहादुर मिश्र—वाक्य विश्लेषण, वि० सं० १९९० ।
जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी—हिन्दी लिङ्गविचार, सं० १७७६ ।
जीवनाथ—सुगम हिन्दी व्याकरण, १९५५ ई० ।
जी० एन० साठे—राष्ट्रभाषा का अध्ययन, १९५७ ई० ।
जोसफ, वी० पी०—हिन्दी उस्ताद, १९४४ ई० ।
डबराल शास्त्री—राष्ट्रभाषा व्याकरण, १९४९ ई० ।
दयाराम शास्त्री—सुमेर हिन्दी व्याकरण तथा रचना, १९५७ ई० ।
दामोदर शास्त्री—भाषादर्श बाल व्याकरण, १८८३ ई० ।
दुनीचन्द—हिन्दी व्याकरण, १९५० ई० ।
देवशर्मा श्यामसुन्दर—नवीन राष्ट्रभाषा व्याकरण, १९५६ ई० ।
देवीप्रसाद वर्मा—व्याकरण कौमुदी (उच्च), भाग ३–४, वि० सं० १९८४ ।
देवीदयाल—भाषा शब्द-निरूपण, १८९२ ई० ।
द्वारका प्रसाद शर्मा चतुर्वेदी—हिन्दी व्याकरण और रचना, भाग १–३ ।
,, ,, ,, ,, हिन्दी व्याकरण शिक्षा, १९१२ ई० ।
धरणीधर शास्त्री आसोपा—पद्य व्याकरणसार, वि० सं० १९९९ ।
धीरेन्द्र वर्मा और बाबूराम सक्सेना—नवीन हिन्दी व्याकरण, १९३३ ई० ।
,, ,, ग्रामीण हिन्दी, १९३३ ई० ।
,, ,, ब्रजभाषा का व्याकरण, १९५४ ई० ।

नलिनविलोचन शर्मा और केसरी कुमार—हिन्दी रचना, १९६३ ई० ।
नन्दकिशोर प्रसाद—हिन्दी व्याकरण रचनासार, १९६३ ई० ।
नरदेव विद्यालङ्कार—राष्ट्रभाषा का सरल व्याकरण, १९४७ ई० ।
नवीनचन्द्र राय—नवीन चन्द्रोदय, १८६८ ई० ।
नागप्पा, ना०—व्यावहारिक हिन्दी, १९४१ ई० ।
नारायण शास्त्री पटवर्द्धन—भाषा चन्द्रिका, १८९७ ई० ।
नारायण राव—हिन्दी व्याकरण प्रकाश, दूसरा संस्करण, १९५७ ई० ।
नारायण चतुर्वेदी—नवीन हिन्दी व्याकरण, १९२४ ई० ।
नानकशरण निगम—हिन्दी भाषा का ध्वनिमूलक अनुसन्धान, १९५९ ई० ।
निरञ्जन कुमार—हिन्दी भाषा शिक्षण, १९६१ ई० ।
पी० एन० दर्याव सिंह—हिन्दी भाषा का व्याकरण सार, १९०१ ई० ।
पन्नालाल वाकलीवाल—लिङ्गबोध, १९०४ ई० ।
फूलचन्द्र जैन सारङ्ग—सुबोध हिन्दी व्याकरण, १९६२ ई० ।
बद्रीनारायण सिंह—भाषा दिवाकर, १९१० ई० ।
बलदेव प्रसाद भगवानदीन—सरल हिन्दी व्याकरण, १९२८ ई० ।
बिहारीलाल चौबे—पदवाक्यबोध, १८८५ ई० ।
" " मूलसूत्र बोध व्याकरण, १९०४ ई० ।
बी० एन० जैन चैतन्य—संस्कृत हिन्दी व्याकरण-शब्दरत्नाकर, १९२५ ई० ।
बालमुकुन्द गुप्त एम० ए० एवं रामावतार शुक्ल—हिन्दी व्याकरण और रचना प्रवेश, सं० १९४० ।
भगवान प्रसाद—हिन्दी व्याकरण, भाग १, १९१३ ई० ।
भगवान दास—हिन्दी व्याकरण, भाग १, १९१४ ई० ।
बाबू भगवान प्रसाद—भाषा सुधार अर्थात् व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ, १९१७ ई० ।
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—प्रथम हिन्दी व्याकरण, १८८४ ई० ।
भुवनेश्वर मिश्र—हिन्दी व्याकरण बोध, वि० सं० १९९१ ।
भैरव—हिन्दी भाषा तथा लिपि, १९५९ ई० ।
भैरव प्रसाद मिश्र—हिन्दी लघुव्याकरण, दूसरा संस्करण, १८७२ ई० ।
भोलानाथ तिवारी—हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण, १९५८ ई० ।
मथुरानाथ—अशु० व्याकरण प्रवेश, १९६८ ई० ।

माणिक्यचन्द जैन—हिन्दी व्याकरण, १९०७ ई० ।

पं० माधव प्रसाद पाठक—हिन्दी बालबोध व्याकरण, १६०१ ई० ।
(गुरु के अनुसार शुक्ल)

पं० माधव प्रसाद पाठक—शिशुबोध हिन्दी व्याकरण, १६०७ ई० ।

" " " हिन्दी व्याकरण के मुलसूत्र, १९०७ ई० ।

" " " हिन्दी व्याकरण तत्त्वबोध, १६०१ ई० ।

मुरारीलाल उप्रैति—हिन्दी में प्रत्यय विचार, १९६४ ई० ।

मुंशी करीमुद्दीन—कवायदुल मुब्तदी, १८४५ ई० ।

मोहनलाल—भाषाप्रदीप, भाग १, १६०१ ई० ।

" " भाषाप्रदीप, भाग ३, १६०३ ई० ।

मा० मु० इब्राहिम—तोहफ़ए अनफिंस्टन, १८२३ ई० ।

रमापति शुक्ल—हिन्दी में संयुक्त क्रियाएँ (ना० प्र० प०, भा० १४),
वि० सं० १६६० ।

रघुनाथ—भाषा वाक्य पृथक्करण, १६३६ ई० ।

रघुनाथ—व्याकरण प्रवेशिका, भाग १, १६३८ ई० ।

पं० रमानाथ उपाध्याय और पं० विष्णुदत्त उपाध्याय—हिन्दी व्याकरण
तत्त्व प्रकाश, १६३४ ई० ।

डा० रमेशचन्द्र जैन—हिन्दी समास रचना का अध्ययन, १९६४ ई० ।

राजा रामजी—भाषाप्रदीप, १९०२ ई० ।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द—हिन्दी व्याकरण, १८७५ ई०, १८८६ ई० ।

राजेन्द्र सिंह गौड़—अपठित भाषाबोध, द्वि० सं०, सं० २००१ ।

रामकर्ण शर्मा—हिन्दी व्याकरण, सं० १६६८ ।

रामकृष्ण शुक्ल—अपठित हिन्दी और रचना-तत्त्व, १६४३ ई० ।

रामचन्द्र झा—हिन्दी भाषा विहार, भाग २, १६५६ ई० ।

रामचन्द्र वर्मा—शब्द साधना, १६५५ ई० ।

" " मानक हिन्दी व्याकरण, १६६१ ई० ।

" " अच्छी हिन्दी, वि० सं० २००१ ।

" " हिन्दी प्रयोग, वि० सं० २००३ ।

रामगरीब चौबे—भाषा विज्ञानांकुर वा कुछ वयान अपने देश की
जबान में, १८६६ ई० ।

ठाकुर रामचरण सिंह—भाषा प्रभाकर, १८८५ ई० ।
बाबू रामचरण सिंह (पं० अम्बिकादत्त व्यास) कृत—भाषा प्रभाकर, १८८५ ई० ।
रामजसन पंडित—भाषा तत्व बोधनी, १८५८ ई० ।
रामजी लाल शर्मा—बालहिन्दी व्यकरण, १९११ ई० ।
रामदहिन मिश्र—प्रवेशिका हिन्दी व्याकरण, १९१८ ई० ।
रामदास राय—वाक्यबोध व्याकरण, १९०५ ई० ।
रामनाथ सिंह पीयूष—व्याकरण-रचना सुधांशु, १९५८ ई० ।
राम नरायण सिंह—हिनी व्याकरण, १८९७ ई० ।
राम प्रताप त्रिपाठी—नवीन हिन्दी व्याकरण, वि० सं० २००७ ।
राम लोचन शरण—हिंन्दी व्याकरण चन्द्रोदय, १९१८ ई० ।
रामरत्न अध्यापक—वाक्य-विश्लेषण और पद-परिचय, १९१४ ई० ।
रामरत्न अध्यापक—चिह्न विचार, वि० सं० १९७१ ।
पं० रामावतार शर्मा—हिन्दी व्याकरण सार ।
राम प्रताप त्रिपाठी—नवीन हिन्दी व्याकरण, वि० सं० २००७ ।
राय नवीन चन्द्र जगन्नाथ पुच्छरत—नवीनचन्द्रोदय, १९१५ ई० ।
राय नवीन चन्द्र दुर्गा शास्त्री—नवीनचन्द्रोदय, १८८८ ई० ।
ललित चन्द्र रैना—सन्धि-समास-विचार, १९३८ ई० ।
लल्लू जी लाल—हिन्दी कवायद, १८-४ ई० ।
—व्रजभाषा व्याकरण, १८११ ई० ।
वंशीलाल—हिन्दी व्याकरण-भाग १, १८७९ ई० ।
वासुदेव नन्दन प्रसाद—हिन्दी व्याकरण और रचना, १९५९ ई० ।
वासुदेव पिल्लै-हिन्दी व्याकरण १-३, १९४५ ई० ।
विनायक राव—व्याख्याविधि, १८८२ ई० ।
विश्वनाथ द्विवेदी —हिन्दी कारकों का विकास, १९४९ ई० ।
विश्वनाथ राहुल —अरुण हिन्दी व्याकरण तथा रचना, १९५८ ई० ।
विश्वेश्वर दत्त—हिन्दी व्याकरण प्रवेशिका सं० १९७१ ।
वेद-प्रकाश—मेरा हिन्दी व्याकरण, १९५९ ई० ।
व्रज किशोर अवस्थी—हिन्दी रचना-विधान, १९५७ ई० ।

व्रजनन्दन मिश्र—सुलभ हिन्दी व्याकरण, १९३१ ई० ।

शंभूलाल कालूराम—भाषा चन्द्रिका, १८८४ ई० वि० सं० १९४१ ।
शिवदयाल उपाध्याय—हिन्दी व्याकरण सार' १८८१ ई० ।
शिवनाथ एम० ए०—हिन्दी कारकों काविकास, १९४८ ई० ।
शिवनारायण झा—व्यावहारिक भाषापरिचय, १९२७ ई० ।
शिवपूजन सहाय—व्याकरण दर्पण (सं० सं०), १९५० ई० ।
शिवप्रसाद अग्रवाल—राजेश्वर चतुर्वेदी, शुद्ध हिन्दी, १९५२ ।
शिव प्रसाद शास्त्री—हिन्दी शब्दानुशासन ।
शिव प्रसाद सिंह—आदर्श हिन्दी व्याकरण, १९५९ ई० ।
शिवराज —मनोरम हिन्दी व्याकरण तथा रचना, १९५७ ई० ।
शींतल प्रसाद गुप्त—शब्द प्रकाशिका, १८७० ई० ।
श्याम विहारी विरागी—हिन्दी व्याकरण, १९५८ ई० ।
श्यामसुन्दर दास—हिन्दी और उर्दू भाषा का व्याकरण, १९०६ ई० ।
श्यामजी शर्मा—हिन्दी शिक्षक व्याकरण,१९१६ ई० ।
श्रीधरनाथ मुकर्जी—संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण तथा रचना, १९५७ ई० ।
पं० श्रीलाल—भाषा चन्द्रोदय, १८५५ ई० ।
श्रीनारायण चतुर्वेदी—नवीन हिन्दी व्याकरण, १८५६ ई० ।
सत्यजीवन वर्मा—हिन्दी के कारक चिह्न ।
सत्यजीवन वर्मा—हिन्दी के विराम चिह्न, १९४३ ई० ।
सत्य प्रकाश—हिन्दी व्याकरण, १९३३ ई० ।
सद्‌गुरुशरण अवस्थी—हिन्दी व्याकरण रत्नाकर ।
सिंहासन राय सिद्धेश—आदर्श हिन्दी व्याकरण और रचना ।
सीताराम शास्त्री—सरल हिन्दी व्याकरण, भाग १, ६ठा सं०, १९५८ ई० ।
सीताराम शास्त्री—एस० आर० हरि आप्टे, भालचन्द—हिन्दी व्याकरण, १९५७ ई० ।
सीताराम चतुर्वेदी और शिवप्रसाद मिश्र—भाषा की शिक्षा, १९५५ ई० ।
म० म० सुधाकर द्विवेदी—हिन्दी भाषा का व्याकरण, १८९० ई०, १८९० ई० ।
सुरेश्वर पाठक—व्याकरण मयङ्क, १९२९ ई० ।
सूर्य प्रसाद मिश्र—भाषा कुमुद बान्धव, प्रथम कला, १९५९ ई० ।
सैयद इंशा अल्ला खाँ—दरियाए लताफत—१८०२ ई० ।

स्वामी सत्यभक्त—व्याकरण मानव भाषा, १९५० ई० ।

हरिमोहन लाल श्रीवास्तव—हिन्दी की योग्यता कैसे बढ़ावें, १९५१ ई० ।

हरिगोपाल पाध्ये—भाषातत्त्वदीपिका अर्थात् हिन्दी भाषा का व्याकरण, १८७१ ई० ।

पं० हरिगोपालोपाध्याय, पं० देवीप्रसाद कृत—भाषातत्त्वदीपिका, १८८१ ई० ।

हरिहरचरण लाल—हिन्दी शब्द की बनावट, १८९० ई० ।

हीरानाथ—व्याकरण शब्द चन्द्रिका, भाग १, १८८७ ई० ।

हेमलता देवी—हिन्दी व्याकरण संग्रहम्, १९५८ ई० ।

(ख) विदेशी भाषाओं में लिखे गये हिन्दी व्याकरण :

Akbar Khan Haidari Mohammad—A Standard Hindustani Grammar, 7th ed., 1927.

Aryendra Sharma—(Govt. of India publication) A basic Grammar of Modern Hindi, 1958.

Alexander Faulkner—The Orientalist grammatic vademecum, 1853.

Ballantyne J. R.—A grammar of the Hindustani language, Lond., 1842.

Beams John—Comparative grammar of Modern Aryan languages of India, 1872 to 1870.

Chapman, Major F. R. H.—How to learn Hindustani, Lond., 1907.

Conclusions arrived at by the Nagari Pracharini Sabha—Benaras, 1902.

Dinesh Chandra Dutta—Hindustani simplified in Persian character, Call., 1194,

Dinanath Deva—A Hindustani and Persian grammar, Cal., 1904.

Dawson. J.—A grammar of the Urdu or Hindustani language, Lond., 1872.

Dinanath Deva—Hindustani grammar, 1886,

D. Forbes.—A grammar of the Hindustani language in the oriental and Roman character, Lond., 1846.

Etherington, Rev. W.—The students grammar of the Hindi language, Benaras., 1870.

Eastwick, Lieutinent. E. B.—A concise grammar of the Hindustani language. Lond., 1847.

Edwin Greaves—Grammar of Modern Hindi. 1855,

Edwin Greaves—Hindi grammar, 1919.

Faulkner. Alexander—The Orientalists grammatical vade-mecum, being an easy introduction to the rules and princples of the Hindustani, Persian and Gujrati languages. 1953.

Ferguson, John—A dictionary of the Hindustani language to which is prefixed a grammar of the Hindustani language, 1773.

Ghulam Muhammad Munshi—Colloquial dialogues in Hindustani to which is annexed a short grammar of the language, Bombay, 1865.

Greaves. E.—A grammar of Modern Hindi. Benaras., 1896, 1908, 1921.

Garsan de Tassy—Grammar de la langue Hindovi.

Garsan de Tassy—Cours de. Hindoustani, 1868.

Gilchrist, John B.—The Hindustani grammar, 1790, The Oriental Linguist, 1798, The Stranger's East India guide to Hindustani, 1802.

Greerson—Seven grammars of Behari languages, 1893, 1887.

Haider Jung—Key to Hindustani, Lond., 1861.

Hadby G.—A Compendians grammar of the corrupt dialect of the jargon of Hindustani, commonly called Moor's with a vocabulary to which are added familiar phrases and dialogues. 7th, 1809, Lond.

Hoernle A. F. R.—A grammar of the Eastern Hindi compared with the other Gaudian languages, Lond. 1883.

Hadley G.—Grammatical remarks on the practical and vulgar dialect of the Indostan language commonly called moors, Lond. 1774.

Harley Alexander Hamilton—Colloquial Hinustani, 1882, 1955.

Hira Lal—A grammar of Chhatiagarhi dialect.

Hiralalr kavyopadhyay—A grammar of the Chhattiagarhi dialect of Eastern Hindi translated by George A Greerson and enlarged by Lochan Prasad Kavya vinod, Cal., 1921.

Holroyd. W. R. M.—Hindustani for every day, 1906.

John Joshua Ketler—Hindustani grammar, 1698.

(Grierson Commemoration volume. The oldest grammar of Hindustani, Dr. S. K. Chatterjee.)

Kempson. M.—The syntax and idioms of Hindustani, Lond. 1890.

Kellog Rev. S. H.—A grammar of the Hindi language (with notes on pronunciation by J. Graham Baily) 3rd. ed. 1938.

K. A. Hamid—What is Hindi, 1956.

Levedef—A grammar of Pure and mixed East Indian dialect, 1801.

Lyall. C. J.—A Sketch of the Hindustani language, Edin. 1880.

Lallulal—The grammatical principles of Brajbhasha, 1810.

Mohiuddin Quadri S. G.—Hindustani phonetics, 1930.

Monier Williams—Introdnction to Hindustani.

Mohammad Akhtar Khan Haidar—A standard Hindustani grammar, 1917.

M. C. Sahagal & p. C. Sahagal—Hindnstani grammar 11 Edn., 1942.

M. C. Sahagal—Modern Hindi grammar, 1958.

Mani Roy Chaudhary—A first step to Hindi, 1961.

N. R. Chaudhary—Essentials of Hindi grammar & composition, 1956.

Nagari Pracharini Sabha—Conclusions arrived at by the Nagari Pracharini, 1903.

Pezzoni Vicario—Grammatice 1taliana Indostana, 1874.

Platts, John Thompson—A grammar of the Hindustani or Urdu language, 1874.

Phillot, Doughlas Graven—Hindustani Stumbling blocks, being difficult points to the syntax and idiom of Hindustani explained and exemplified, 1939.

Palmer, Edward Henary—Simplified grammar of Hindustani, Persian and Arabic, 1882.

Pincott, Frederick—Hindi mannual.

Platts—Hindustani grammar.

Phillot, Doughlas Gıaven—Domestic Hindustani, 1919.

Radhika Prasanna Mukherjee—Few notes on Hindi, 1880.

R. P. De.—Hindustani at a glance, 1904.

Ramking, George S. A.—A guide to Hindustani, 1895.

Roy Chaudhary—The first step to Hindi, 1961.

Rudolf Hoernle—Grammar of the Eastern Hindi, 1880.

Roabuck—An English and Hindustani Dictionary with a grammar prefixed, 1809.

Scholburg—Concise Hindi grammar, 1940.

Shakespear, John—An introduction to the Hindustani language. Comprising a grammar etc., 1774-1848.

Sirdel, August—Theoretish Practische garmmatik der Hindustani Sprach, 1910.

Schulz. Benjamin—Grammatica Hindostanica, 1745.

S. N. Sharma—Hindi grammar and translation, 1950.

Sandford Arnot--A grammar of the Hindustani tongue, 1844.

Shyamsundar Das—An elementary grammar of Hindi and Urdu, 1906.

Shimanarayan—Mannual of Higher Hindi grammar, 1920.

Tlsdall Rev. Wsc.—Grammar of the Hindustani language.

Tagliabne C.—Grammatica dellalingua Indostana or Urdu, 1892.

Whalley, Paul—Notes on etymology of Hindi rural words., 1904.

W. **B.** Yeats—Hindustani grammar, 1824.

परिशेष–२

सहायक-ग्रन्थ

Allen, W. S.—Phonetics in Ancient India, 1953.

Armfield N.—General Phonetics, 1930.

Ambika Prasad Bajpayee—Persian influence on Hindi. 1936.

Beams, John—Comparative grammar of the Modern Aryan languges, Part. I.–1872, Part. II.–1875, Part. III.–1879.

Belvalkar, S. K.—Systems of Sanskrit grammar.

Bhandarkar, R. G.—Wilson Philological Lecturers, 1214.

Bloomfield, L.—Language, (Motilal Banarsidas) 1963.

Breal, M.—Semantics, 1900.

Buhlar, G.—On the origin of the Indian Brahma Alphabet, 1898

B. Bloch & G. L. Trager—Outline of Linguistic Analysis, 1960.

Bhagwan Dayal—The Development of Modern Education.

Carroll, John. B.—The study of language, 1965.

Carpenter Freis, Charles—American English grammar, 1940.

De Sanssure Ferdinand—Course in General Linguistics (Translated by Wade Baskin), 2939.

Graff, W.—Language and Languages, 1932.

Grierson, G. A.—Linguistic Survey of India, vol. IV, Part. I. 1916.

Gune, P. D.—An Introduction to comparative philology.

Gleason, H. A. Jr.—An Introduction to descriptive linguis tics, 1955, Linguistics and English grammar, 1965.

Gray, L. H.—Foundation of Language.

Hockett, C. F.—A course in Modern Linguistics, 1958.

Harris, Z. S.—Methods in Structural Linguistics, 1951.

Jesperson, O.—Lenguage, its Nature, Development and Origin, 1922. The philosophy of grammar, 1951. Logic and grammar, 1924.

Jones, D.—An outline of English phonetics, 1956. The phoneme, its nature and use, 1650.

Kshitish Chandra Chatterji—Technical terms and technique of Sanskrit grammar, 1948.

Mario A. Pai and Frank Gaynor—A Dictionary of linguistics, 1954.

Monier Williams—Snaskrit grammar.

Mohiuddin Qadri—Hindustani phonetics, 1930.

Nida, E. A.—Morphology, 1957.

Nurulla, S. & J. P. Nayak—History of education in India during the British period, 1943.

Pike, Kenneth L.—Phonemics, 1956.

Prabhat Chandra Chakravarty—The Philosophy of Sanskrit grammar, 1930.

P. L. Vaidya—Prakrit grammar of Trivikram Deva.

R. R. Bhatnagar—The Rise and Growth of Hindi Journalism.

Saksena, B. R.—The Evolution of Awadhi, 1938.

Sapir, E.—An Introduction to the study of Speech, 1921.

Sturtevant, E. M.—An Introduction to Linguistic Science, 1956.

Sonneuschein, E. A.—The Soul of grammar, MCMXXVII.

Sidheshwer Verma—Critical studies in the Phonetic observations of Indian grammar.

S. K. Chatterji—The Origin and development of Bengali language.

Tagare, G. U.—Historical grammar of Apabhransa, 1948.
T. Burrow—The Sanskrit language.
Trump—Grammar of the Sindhi.
Waterman, John T.—Perspective in Linguistics, 1953.
Word—The Views of the Hindus.
W. Nelson Francis—The Structure of American English.
अम्बा प्रसाद सुमन—हिन्दी भाषा, अतीत और वर्त्तमान, १९६५ ई० ।
आचार्य रामदेव द्विवेदी—व्याकरण का इतिहास, सं० २००० ।
उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, सं० २०१२ ।
भाषा शास्त्र की रुपरेखा, सं० २०२० ।
एहतिशाम हुसेन, सैयद—उर्दू साहित्य का इतिहास, १९५४ ई० ।
कपिलदेव सिंह—ब्रजभाषा वनाम खड़ी बोली, १९५६ ई० ।
कपिलदेव द्विवेदी—अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, १९५२ ई० ।
किशोरी दास वाजपेयी—भारतीय भाषा विज्ञान, १९५९ ई० ।
कामेश्वर शर्मा—हिन्दी की समस्याएँ, १९६३ ई० ।
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—प्राचीन भारतीय लिपिमाला, १८९४ ई० ।
गार्डन एच० फेयरबैंक्स—हिन्दी में कारक (अनूवाद), हिन्दी अनुशीलन धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक, प्रयाग, १९६० ई० ।
जगन्नाथ राय शर्मा—अपभ्रंश दर्पण ।
तेस्सितोरी—पुरानी राजस्थानी (अनु० नामवर सिंह), सं० २०१२ ।
देवेन्द्र नाथ शर्मा—भाषा विज्ञान की भूमिका, १९६६ ई० ।
राष्ट्रभाषा हिन्दी, समस्याएँ और समाधान, १९६५ ई० ।
धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास-(चौथा सं०), १९५३ ई० ।
ब्रजभाषा, १९५४ ई० ।
नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, १९६५ ई० ।
न० चि० जोगलेकर तथा भगवानदास तिवारी—देवनागरी लिपि, स्वरूप, विकास और समस्याएँ, सं० २०१९ ।
नरेन्द्रनाथ आचार्य—प्राकृत भाषाओं का रूपदर्शन, १९१२ ई० ।
पद्मसिंह शर्मा—हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, सं० १९९१ ।

पी० के० केशवन नायर—दक्षिण में हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास, १९६३ ई० ।
पिशल, आर०—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी), १९५८ ई० ।
बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषाविज्ञान, (सातवाँ सं०), १९६५ ई० ।
दक्खिनी हिन्दी, १९५२ ई० ।
भगवद्दत्त—भाषा का इतिहास, सं० २०१४ ।
भोलाशङ्कर व्यास—संस्कृत भाषा का शास्त्रीय अध्ययन ।
भोलानाथ तिवारी—भाषा विज्ञान, १९५१ ई० ।
हिन्दी भाषा, १९६६ ई० ।
मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'—हिन्दी तद्भव शास्त्र, १९६१ ई० ।
युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, सं० २००७ ।
रघुवीर शरण—हिन्दी भाषा का रूप वैज्ञानिक और अर्थवैज्ञानिक अध्ययन, १९६२ ई० ।
रामगोपाल—वैदिक व्याकरण, १९६५ ई० ।
रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल—बुन्देली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, १९६३ ई० ।
रामचन्द्र वर्मा—अच्छी हिन्दी, सं० २०१८ ।
रामविलास शर्मा—भाषा का इतिहास, १९६१ ई० ।
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—भारतीय आर्यभाषा (ज्यूलब्लाखकृत), १९६३ ई० ।
फोर्ट विलियम कॉलेज, सं० २००४ ।
विश्वनाथ प्रसाद—भाषा विज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोष, १९५५ ई०
वीरेन्द्र श्रीवास्तव—अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, १९६५ ई० ।
वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, सं० २०१२ ।
शितिकण्ठ मिश्र—खड़ी बोली का आन्दोलन—सं० २०१३ ।
सुनीतिकुमार चटर्जी—भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५७ ई० ।
ऋतम्भरा ।

संस्कृत के प्रमुख व्याकरण :

अष्टाध्यायी, पाणिनि—अ० पा० ।
महाभाष्य, पतञ्जलि—म० प० ।
वार्तिक, कात्यायन—वा० का० ।

वाक्यपदीय, भर्तृहरि—वा० भ० ।

निरुक्त, यास्क—नि० या० ।

सिद्धान्त कौमुदी—भट्टोजि दीक्षित ।

परिभाषेन्दु शेखर—नागेश भट्ट ।

शब्देन्दु शेखर—नागेश भट्ट ।

वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा—नागेश भट्ट ।

ऋक् प्रतिशाख्य, शौनक—ऋ० प्रा० ।

शुक्लयजुः प्रतिशाख्य, कात्यायन—शु० प्रा० ।

मैत्रायणी प्रातिशाख्य—मै० प्रा० ।

वाजसनेयी प्रातिशाख्य—वा० प्रा० ।

अथर्व प्रातिशाख्य—अ० प्रा० ।

परिशेष—३

पारिभाषिक शब्द

अकर्मक क्रिया	Intransitive verb.
अक्षर	Syllable.
अग्रागम	Prothesis.
अघोष	Voiceless, Breathed.
अतीत काल	Past tense.
अधिकरण कारक	Locative case.
अनाक्षरिक	Non Syllabic.
अनिश्चय कारक	Indefinite.
अनुक्रम	Sequence.
अनुनासिक	Nasal.
अनुनासिकता	Nasalijzation.
अनुलेखन	Transliteration.
अन्त: प्रत्यय	Infix.
अन्त:स्थ	Sonant, Semivowel.
अन्त्य	Final.
अन्य पुरुष	Third person.
आपादान कारक	Ablative case.
अपूर्ण	Imperfect.
अर्थविज्ञान	Semantics.
अर्ध विवृत	Half open.
अर्ध संवृत	Half closed.
अर्ध स्वर	Semi vowel.
अयोगात्मक	Isolating.
आसन्न घटक	Immediate constituent.
उपसर्ग	Preposition, Prefix.

उदात्त	Acute.
उत्तम पुरुष	First person.
उपालिजिह्वा	Pharynx.
उच्चारण स्थान	Place or point of articulation.
उच्चारणावयव	Vocal organ.
ऊष्म	Sibilant, Spirant.
ऊष्मीकरण	Assibilation.
एक वचन	Singular.
एकाक्षर	Mono Syllable.
कर्म	Object.
कर्म कारक	Accusative case.
कर्त्ता कारक	Nominative case.
क्लीव लिङ्ग	Neuter gender.
कर्तरि प्रयोग	Active use.
कर्मणि प्रयोग	Passive use.
कण्ठ्य	Guttural:
कृत् प्रत्यय	Primary sulftfix.
कृदन्त	Participle.
करण	Articulator.
करण कारक	Instrumental case.
कारक	Case.
काल	Tense.
काकल्य	Glottal.
क्रिया	Verb.
क्रिया विशेषण	Adverb.
कौआ	Uvula.
खण्डीय स्वनिम (या ध्वनिग्राम)	Segmental phoneme.
गठन	Structure.
घटमान वर्त्तमान	Present Progressive.
घोष	Voiced.

जिह्वाग्र	Front of the tongue.
जिह्वान्त	Tip of the tongue.
जिह्वा फलक	Blade of the tongue.
जिह्वा मूल	Root of the tongue.
ढाँचा	Structure.
तालव्य	Palatal.
तुमन्त	Infinitive.
तुलनात्मक भाषाशास्त्र	Comparative philology.
दन्त्य	Dental.
दन्त्योष्ठ्य	Labio Dental.
द्वयोष्ठ्य	Bilabial.
द्रव्यवाचक संज्ञा	Material noun.
द्वित्व	Reduplication.
दीर्घता	Length.
धातु	Root.
ध्वनिग्राम (या स्वनिम)	Phoneme.
ध्वन्यात्मक शब्द	Phonetic word.
ध्वनिविज्ञान	Phonetics.
नव्य वैयाकरण	Neo grammarian.
नपुंसक लिङ्ग	Common gender.
नाम	Noun.
नाम धातु	Nominal root, Denominative.
नासिक्य ध्वनि	Nasal sound.
निश्चयवाचक सर्वनाम	Definite Pronoun.
निपात	Particle.
पदग्राम या पदिम	Morpheme.
पदविज्ञान	Morphology.
परसर्ग	Postposition.
पद-क्रम	Word order.
पार्श्विक	Lateral.

परस्पर विनिमय	Metathesis.
पारिभाषिक शब्द	Technical terms.
परिपूरक वितरण	Complimentary distribution.
पुरुष	Person.
पुनर्निर्माण	Reconsituction.
पुल्लिङ्ग	Masculine.
पुराघटित वर्तमान	Present perfect.
प्राग्भारोपीय	Proto IndoEuropean.
प्रत्यय	affix, suffix.
प्रयत्नलाघव	Economy of efforts.
प्रेरणार्थक	Causative.
पुरुषवाचक सर्वनाम	Personal pronoun.
बलाघात	Stress.
बहुवचन	Plural.
बोली	Dialect,
बोलीशास्त्र	Dialectology.
भविष्यत् काल	Future tense.
भाषा विज्ञान	Linguistics.
भाषाशास्त्र	Philology.
भाषाविद्	Linguict, philologist.
भाषा-सर्वेक्षण	Linguistic survey,
भाववाचक संज्ञा	Abstrast Noun.
भोजन-नलिका	Food pipe.
महाप्राण	Aspirate.
मात्रा	Length, Guantity.
मानस्वर	Cardinal vowel.
मिश्रस्वर	Diphthong.
मुखविवर	Mouth cavity, Buccal cavity, oral cavity.
मुक्त रूप	Free form.

मुक्त परिवर्तन	Free variation.
मुहावरे	Idioms.
मूर्धन्य	Retrofiex, Ceribral.
मूर्धा	Cerebrum,
योगात्मक	Agglutinative.
रूप	Form.
रूपरचनाशास्त्र	Morphology.
रूप-साधन	Inflection.
लघुतम इकाई	Minimum unit.
लिपि	Script.
लुण्ठित	Rolled.
लिङ्ग	Gender.
लोप	Ilision.
वचन	Number.
वर्गीकरण	Classification.
वर्ण	Letter.
वर्णमाला	Alphabet.
वर्त्स्य	Alveolar.
वर्तमानकाल	Present tense.
व्यञ्जन	Consonant.
व्यातिरेक	Contrast.
व्यतिरेकी वितरण	Contrastive distribution.
व्युत्पादक	Derivational.
व्यवच्छेदक ध्वनि	Disjunctive Sound.
वाक्	Speech
वाक्य	Sentence.
वाक्यांश	Phrase.
वाक्य-विन्यास	Syntax.
वागिन्द्रिय	Vocal organ.
वाग्ध्वनि	Speech sound.

विशेषण	Adjective.
व्युत्पत्ति	Etymology.
वृत्ति, प्रकार, अर्थ	Mood.
विषमीकरण	Dissimilation.
विस्मयादिबोधक	Interjection, Exclamation
विभक्ति	Inflexion.
शब्द-रूपावली	Paradigm.
श्वास नलिका	Wind pipe, Tracheca.
शून्य रूप	Zero morph.
शिक्षा	Phonetics.
श्लिष्ट	Infiexional.
स्वन	Phone.
स्वर	Vowel.
स्वरतन्त्री	Vocal chord.
स्वरयन्त्र	Larynx.
स्वरयन्त्रावरण	Epiglottis.
स्वर-लहर	Intonation.
स्वर-क्रम	Vowel sequence.
सर्वनाम	Pronoun.
सकर्मक क्रिया	Transitive verb.
सम्प्रदान कारक	Dative case.
समानाधिकरण	Apposition.
सम्बन्ध कारक	Genitive case.
सम्बोधन कारक	Vocativc case.
सजातीय कर्म	Cognate object.
सहायक क्रिया	Auxiliary verb.
समापिका क्रिया	Finite verb.
समास	Compound.
समीकरण	Assimilation.
समूहसूचक	Collective.

स्पर्श, स्पृष्ट	Plosive, Stop, occlusive.
स्पर्श सङ्घर्षी या घर्षी	Affricate.
सहपद	Allomorph.
सहस्वन	Allophone.
संरचना	Construction.
सङ्घर्षी	Fricative.
सन्धि	Morphophonemics.
सन्धि-विवृति	Juncture.
संयोजक	Conjunction.
संज्ञा	Noun.
संवृत	Close.
सार्थ इकाई	Meaning fui unit.
सुर	Pitch.
संयुक्त वाक्य	Compound sentence.
संयुक्त क्रिया	Compound verb.
समुच्चय बोधक	Conjunction.
सम्प्रसारण	Extension.
सार्वनामिक विशेषण	Pronominal adjective.
स्वर भक्ति	Anadtyxis.
स्वराघात	Accent.
